श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितायां

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्ध-

सुबोधिन्यां

पञ्चमं तामसफलप्रकरणम्

श्रीटिप्पण्यादिसकलटीकोपेतं

स्वतन्त्रलेख-परिशिष्टादियुतं च

श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्ध-तामसफलप्रकरण-सुबोधिनी

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता.

वि.सं. २०५४, श्रीवल्लभाब्दः ५२१.

१००० प्रति.

प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव को-ऑपरेटिव्ह सोसायटी,
पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र.

मुद्रक :
फॉन्टसी
३०५, महाडकर चेम्बर्स,
१२७/३ए, कर्वे रोड,
पुणे– ४११ ०२९.

सम्पादकीय

पृथक्-पृथक् प्रकाशित मूल श्रीसुबोधिनी और टीकाओं को एककायतया पुनःप्रकाशित करनेकी शृंखलामें यह तामसफलप्रकरण तीसरी कड़ी है. इसके अलावा इसमें यह वैशिष्ट्य है कि मुद्रित संस्करणोंकी प्राप्य हस्तलिखित प्रतियोंसे तुलना करके हम यथावसर संशोधन एवं पाठभेद भी इस संस्करणमें दे रहे हैं.

इस ग्रन्थके प्रकाशनकार्यके आरम्भके पूर्व करीब तीन-चार वर्ष पहले गो. श्रीचन्द्रगोपालजी(बड़ोदरा)ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था कि उनके पास स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजीके हस्ताक्षरोंमें लिखित प्रतिके रूपमें श्रीसुबोधिनीके जो पाठ हैं वे कुछ अंशमें मुद्रित पाठोंसे भिन्न हैं और उनकी तुलना करनी आवश्यक है. तभीसे यह सोचा गया कि इस बार इस दिशामें भी कुछ प्रयत्न करना चाहिये. कई सहृदय महानुभावोंके उत्साहजनक सहयोगवश कुछ हस्तलिखित प्रतियां भी हमें प्राप्त हुयी और इस प्रकरणका तुलनात्मक संस्करण सम्पादित हो पाया. यह वस्तुतः आचार्यचरण महाप्रभुकी हमपर महती कृपावृष्टि हुयी हम मानते हैं. वैसे जो हस्तलिखित प्रतियां हमें प्राप्त हुयी इनमेंकी कईओंके स्रोत तथा प्राचीनता के बारेमें हमें कुछ विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हो पायी, फिरभी हमने पाया कि उनमेंके पाठभेद काफी उपयुक्त हैं. और एक ध्यानाकर्षक बात इन हस्तलिखित प्रतियोंमें यह भी मिली कि वे उस कालकी हैं जब सम्प्रदायानुगामियोंके जीवनमें श्रीसुबोधिनीका अवगाहन एक नित्यक्रमानुष्ठेय दिनचर्या थी. अतः इन प्रतियोंमें उनके अध्येताओंके द्वारा पांक्तालापनमें उपयोगी पादटिप्पणी जगह-जगह बिखरी हुयी मिली, जिनके प्रकाशित होनेपर उनका लाभ आधुनिक अध्येताओंको भी मिल सकता है. एतदर्थ हमने मुद्रित पाठोंको मूल पाठतया प्रकाशित किया है और उनमें इन हस्तप्रतोंके आधार पर संशोधन किये हैं; जिसकी सूचना पार्श्वटिप्पणीमें

दी है.

हमें गो.श्रीचन्द्रगोपालजीने उनके दिग्गज पूर्वज प्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजीकी रासपञ्चाध्यायीसुबोधिनी-टिप्पणीजीकी अध्ययनकी हस्तप्रतके कुछ बिखरे पन्ने उपलब्ध करवायें, जिनमें मूल श्रीरासपञ्चाध्यायीसुबोधिनीजी तथा टिप्पणीजी किसी अनुलिपिकारके हस्ताक्षरमें हैं और उनका पांक्तालापन करते श्रीपुरुषोत्तमजीने अपनी पार्श्वटिप्पणी अपने ही हस्ताक्षरमें लिखी है. ऐसे एक पन्नेका छायाचित्र हम यहां दे रहे हैं. सम्भवतः ये पार्श्वटिप्पणी प्रकाश लिखनेके पूर्व लिखी गई हैं. इनका स्वरूप भी काफी आरम्भिक कक्षाका है, परन्तु प्रकाशमें किसी कारणसे इनका संकलन श्रीपुरुषोत्तमजीने नहीं किया है. इस हस्तलिखित प्रतिमें उपलब्ध श्रीसुबोधिनी-टिप्पणीजीके पाठोंसे हमने मुद्रित पाठोंकी तुलना की तथा इसमें उपलब्ध होती पादटिप्पणियां प्रकाशमें कोष्ठकतया निविष्ट की हैं. इसे हमने बड़ौदापाठ या संक्षेपमें 'ब.पाठ'के रूपमें निर्दिष्ट किया है.

श्रीटिप्पणीजी, प्रकाश एवं योजना की एक-एक हस्तप्रत मुंबई विद्यापीठके ग्रन्थागारसे हमें प्राप्त हुई हैं. ये मूलतः सौ-सवासौ वर्ष पूर्व काशीके नेत श्रीरामकृष्ण भट्टके संग्रहकी प्रतियां हैं, जो बादमें गुजराती प्रेसकी लाईब्रेरीके संग्रहमेंसे मुंबई विद्यापीठको भेंट की गई हैं. इन्हें हमने मुंबई विद्यापीठ पाठ या संक्षेपमें 'मुं.वि.पाठ'के रूपमें संकेतित किया है. इनकी ज़ेरोक्स प्रतिकी प्रदानानुमति देनेवाले विद्यापीठके ग्रन्थपाल श्रीमान् एस.आर.गनपुलेके हम हृदयसे आभारी हैं. इनमेंकी रासपञ्चाध्यायीप्रकाशकी प्रति गुजराती प्रेसके श्रीइच्छाराम देसाईने उस वक्त श्रीधैर्यलाल सांकलीयाको उपलब्ध करवाई थी जिसके आधार पर उन्होंने उसे मुद्रित किया था. योजनाकी प्रतिमें श्रीसुबोधिनी एवं योजना पर कुछ उपयुक्त पार्श्वटिप्पणियां हैं जिन्हें हमने प्रथम परिशिष्टमें निविष्ट किया है.

इसके अलावा गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी महाराजने अपने जूनागढ़के संग्रहमेंसे एवं चि.गो.श्रीशरद्बावाने अपने मांडवीके संग्रहमेंसे हमें प्रकाशकी एक-एक प्रति उपलब्ध करवाई हैं, जिन्हें हमने क्रमशः 'जू.पाठ' एवं 'मांड.पाठ'

के रूपमें संकेतित किया है.

लेखकी एक हस्तलिखित प्रति हमें राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुरके संग्रहमेंसे प्राप्त हुई है. इसे हमने 'जो.पाठ'के रूपमें संकेतित किया है.

एक अद्भुतरसप्रचुर कथाके चरमके रूपकी भांति हालहीमें हमें जयपुरनरेशने उनके संग्रहमेंसे श्रीलालूभट्टजीके स्वयंके हस्ताक्षरमें योजनाकी वह हस्तप्रत उपलब्ध करवाई है जो श्रीलालूभट्टजीने उनके समकालीन विद्याप्रेमी जयपुरनरेशको दी थी. इसे हमने 'जय.पाठ'के रूपमें संकेतित किया है. इसे प्राप्त कर पानेके पूर्व ही ग्रन्थके प्रकाशनका प्रारम्भ हो चुका था. फिरभी जहां इदम्प्रथमतया जो पाठभेद मिले उन्हें तो हमने समाविष्ट कर लेनेका भरसक प्रयास किया है. जहां, किन्तु, मुद्रितपाठको हमने मांड./जू./मुं.वि. पाठोंके आधारपर सुधार ही दिया था और जय.पाठ भी हमें संशोधितपाठसा ही मिला वहां हमने जय.पाठका उल्लेख नहीं किया है. पाठकगण इन संशोधितपाठोंको जय.पाठद्वारा समर्थित मान कर चलेंगे.

इस हार्दिक सहयोगके लिये हम इन सभी महानुभावोंके अतीव आभारी हैं.

हमारी यह दृढतम धारणा है कि श्रीलालूभट्टजीने जब रासपंचाध्यायीके अतिरिक्त शंखचूडवधनिरूपक ३१वें अध्यायके श्रीसुबोधिनीजीपर योजना लिखी है तो युगलगीतनिरूपक ३२वें अध्यायपर भी अवश्य ही वह लिखी ही होगी परन्तु न तो वह श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाको प्राप्त हुई थी और न ही हम उसे प्राप्त कर पायें!

इन टीकाओंके आद्य मुद्रित संस्करणोंके सम्पादकोंकी प्रस्तावनाएं हमने द्वितीय परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं.

लेखोपेत तामसफलप्रकरणसुबोधिनी श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला और धैर्यलाल

सांकलीयाने विक्रम संवत् १९८०में प्रकाशित की थी, जो कि सम्प्रदायमें आदर्श सम्पादनका कीर्तिमान है. आद्य और शुद्ध मुद्रणके अतिरिक्त सहायक सामग्रीरूप सम्बद्ध साहित्य —— स्वतन्त्रलेख, कारिकासूचि, श्लोकसूचि, उपन्यस्तवाक्यसूचि, भागवतार्थनिबन्ध, त्रिविधनामावली, श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम —— का निवेश अपने आपमें तब भी एक मिसाल था और वही स्थिति आजभी है. इस संस्करणमें भी इन सभीका यथापूर्व निवेश करते हुवे हम उन आद्यसम्पादकोंके प्रति अपनी चिरकृतज्ञता व्यक्त करते हैं. इनमेंसे स्कन्धाध्यायप्रकरणार्थरूप भागवतार्थनिबन्ध, प्रकरणाध्यायार्थरूप या लीलानुक्रमणि-कार्थरूप त्रिविधनामावलि श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम तथा दशमस्कन्धार्थानुक्रमणिका को वाक्यार्थ-पदार्थनिरूपिका श्रीसुबोधिनीसे पूर्व ही देना उचित माना है. प्रकाशित स्वतन्त्रलेख प्रथम परिशिष्टके रूपमें दिये गये हैं. प्रकीर्णदीपिका आद्य संस्करणमें परिशिष्टमें दी गयी थी सो हमने पाठकोंकी सुविधार्थ २९वे अध्यायमें पादटिप्पणीतया प्रकाशित कर दी है. कारिका-श्लोक-उपन्यस्तवाक्य-सूचियां हमने तृतीय परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं.

कृपारसवर्षणकी एक अद्भुत बौछार यह और हुयी कि हमें मुंबईविद्यापीठके ग्रन्थागारसे सहसा एक स्वतन्त्रलेखसंग्रह प्राप्त हुआ, जिसमें श्रीहरिरायजीके स्वतन्त्रलेख क्रमबद्ध संकलित थे. इनमेंके ८ लेख तो हम यहां पहली बार ही प्रकाशित करने जा रहे हैं! इन ८ लेखोंको हमने * यों तारांकित किया है. इनमेंसे "सोऽम्भस्यलम्" (भा. १०।३०।२४) पर जो स्वतन्त्रलेख है उसका उल्लेख श्रीपुरुषोत्तमजी प्रकाशमें वहीं "अत्र श्रीहरिरायाः..." कहकर करते हैं. इस उल्लेखका तात्पर्य हमें प्राप्त लेखसा ही है. यह इस बातकी पुष्टि करता है कि इन लेखोंके लेखक स्वयं श्रीहरिरायजी हैं. श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाने भी अपने सुबोधिनीके सम्पादकीयमें अनुमान किया है कि जो स्वतन्त्रलेख उन्हें मिल पाये उनके अलावा भी श्रीहरिरायजीके अनेक अप्रकाशित लेख विद्यमान हैं (द्र. पृ.५६४). इन दो बातोंको ध्यानमें रख कर हमने इन लेखोंका समावेश श्रीहरिरायजीके लेखोंमें किया है. पूर्वप्रकाशित लेखोंको इस संग्रहसे मिलानेपर कई पाठभेद भी सामने आये, जिन्हें हमने पादटिप्पणीमें समाविष्ट किये हैं.

श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधैर्यलाल सांकलीया ने टिप्पणीजीकी प्रथमावृत्ति वि.सं. १९७७में तथा द्वितीयावृत्ति वि.सं. २००७में गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीके सर्वविध सहयोगसे प्रकाशित की थी. रासपञ्चाध्यायीप्रकाशकी प्रथमावृत्ति वि.सं. १९७७में तथा द्वितीयावृत्ति वि.सं. २००८में श्रीधैर्यलाल सांकलीयाने प्रकाशित की थी. फलप्रकरणयोजना श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाने वि.सं. १९८१में प्रकाशित की थी. कारिकार्थविवरण श्रीधैर्यलाल सांकलीयाने वि.सं. १९९३में छपवाया था. इनमेंके टिप्पणीजी तथा कारिकार्थविवरणकी प्रस्तावनाएं हम श्रीप्रमाणप्रकरणसुबोधिनीमें प्रकाशित कर ही चुके हैं, अवशिष्ट यहां द्वितीय परिशिष्टमें पुनःप्रकाशित की जा रही हैं. इन प्रकाशक सहयोगप्रदायक तथा सम्पादक महानुभावोंके हम निरतिशय कृतज्ञ हैं.

प्रमाणप्रकरणकी हमारी शैलीको यथावत् निभाते हुए हमने हमारे द्वारा प्रस्तावित पाठ (!) रूपमें दिये हैं; तथा, श्रीसुबोधिनीपाठके अनुसार श्रीभागवतके श्लोकोंके संशोधनका भी प्रयास किया है.

चतुर्थ परिशिष्टमें हमने प्रमाणप्रकरणसुबोधिनीका अवशिष्ट शोधपत्र प्रकाशित किया है, जो कि 'अनुग्रह' नामिका मासिक पत्रिकाके वि.सं. १९९७के १२वे आश्विन मासके एवं वि.सं. १९९८के १ले कार्तिक मासके अंकमें प्रकाशित हुआ था. इससे पूर्व भाद्रपद मासके अंकमें छपा शोधपत्र हम पहले ही प्रमेय-साधनप्रकरणसुबोधिनीमें परिशिष्टतया प्रकाशित कर ही चुके हैं. इसे चतुर्थपीठाधीश गो.श्रीदेवकीनन्दनजीने हमें उपलब्ध करवाया है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं.

इनके अलावा सुबोधिनीके निरन्तराभ्यासी कतिपय महानुभाव भगवदीयोंसे हमें कुछ रेखाकृतियां एवं लेख भी प्राप्त हुवे, जिनसे कि गोपीगीतादिका प्रारूप समझनेमें पर्याप्त सुविधा होती है, इन्हें प्रथम परिशिष्टमें योजित किया गया है.

यहां जिनका समावेश नहीं हो पाया ऐसे कुछ प्रकीर्ण स्वतन्त्रलेख हैं, जिनमेंके कुछ अप्रकाशित तो कुछ प्रकाशित भी. उन्हें आगामी

ग्रंथखंडमें प्रकाशित करनेका हमारा मनोरथ है. पाठकोंसे यह अनुरोध है कि वे अपने संग्रहमेंके स्वतन्त्रलेखोंकी ज़ेरोक्स कॉपी हमें उपलब्ध करायें.

इस ग्रन्थके सम्पादन-मुद्रणकार्यमें हमारे सहयोगी श्रीरसिकभाई शाह, श्रीधर्मेन्द्र झाला तथा श्रीमधुभाई भाटिया, मुद्रक फॉन्टॅसी टाईपसॅटर्सके श्रीप्रसाद धवलीकर के भी हम कृतज्ञ हैं. नि.ली.गो.श्रीगोकुलनाथजी महाराजद्वारा स्वमार्गमें दीक्षित तथा उनके आत्मज एवं हमारे न्यासके संस्थापक नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी महाराजके सुबोधिनीप्रवचनोंके श्रवणार्थ नियमित उपस्थित रहनेवाले श्री... भाईने इस संस्करणके प्रकाशनार्थ अपेक्षित सम्पूर्ण आर्थिक भार स्वेच्छया वहनकर हमें सहयोग दिया है, उन्हें भी हम साधुवादद्वारा अभिनन्दित करना अपना कर्तव्य समझते हैं; परन्तु, स्वयं उन्हें अनभीष्ट होनेसे नामोल्लेख नहीं किया जा रहा है.

श्रीवल्लभाब्द ५२१
रामनवमी

गोस्वामी श्याममनोहर
असित शाह



अपर्युन्नमनामाह॥ तदिति॥ शारत्कालीनाश्चन्द्रांशवः तेषां संदोहः समूहः तेर्ध्वस्तं दोषाया रात्रेस्तमो यत्र॥ तेन त्पतं शिवं कल्याणरूपं॥ अथ कारणं निविड-

ददपि एवं सत्येनाह कुन्दादिसंबंधित्वेनोक्तत्वादनिलादयोप्युक्ता एव परं तत्रानपूर्वमपीति ज्ञेयं स्वनं तत्तयापि सौरभ्यप्रतीत्यर्थं सुरभिरनिलस्तदुक्तः॥ एवं परितः जलं परितः सुगंधाः परितः पुष्पाणि परितो वायुः परितो नाद इति निरूपितं॥ निर्विघ्नमग्रिमेष्टकार्यसंपादकत्वज्ञापनाय च परितश्च निरूष्टः पदार्थानोपर्यधश्च॥ अधस्तस्य पुलिनस्य गुणेनाह॥ कृष्णायाः इति॥ सापि भगवत्सनाम्नी न्यसंस्कारं तत्तवती भगवद्रमणार्थं॥ कृष्णाया हस्तरूपाः तरलाः तरंगाः तैः चिताः कोमलवालुका यत्र॥ अन्यथा हस्तरूपतानावसमतानस्यात्॥ तेनत्रि

॥ तद्दर्शनाह्लादविधूततद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः॥
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुंकुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबंधवे॥ १३॥

त्यं कोमलत्वं समतां चोक्ता॥ नाहं त्रं पुलिनं निर्विश्य तत्र गत्वा वास्थितः उपवेशनमग्रे वक्ष्यति॥ भावेनैवोपवेशनं॥ ततो गोपिकानां कृत्यमाह॥ १३॥ तद्दर्शनाह्लादेति॥ शोकेन गोपिकामस्तापात्मकावर्तते एवं संबंधस्याजातत्वात्॥ यदा पुनस्तां हृत्स्थाने तदर्थं गतस्तदा तद्दर्शनं [illegible] [illegible] मापन्नस्य दर्शनेयो [illegible] यमाह्लादः भावार्थनिश्चयात् तेन विधूता रुजो [illegible] [illegible] लासायुज्जातं तदाह॥ मनोरथान्तं ययुरिति॥ तानि यथा कथंचित् संबोधो [illegible] नंतगुणसामर्थ्यसहितः अतो मनोरथस्याप्यंतो यत्र तो हंसा ययुः [illegible] तत्राह॥ श्रुतयो यथेति॥ ॥१३॥ ॥ श्रुतयो हि निरंतरं भगवद्गुणवर्णनपराः तेन धर्मेण वाच्य [illegible]

(सुबोधिनी १०।२९।१३, श्रीपुरुषोत्तमजीकी पार्श्वटिप्पणोंके साथ).

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

तामसफलप्रकरणीय लीलाओंका औपनिषद सन्दर्भ

:: विषयवाक्य ::

आत्मैव इदम् अग्र आसीत् पुरुषविधः. सो अनुविक्ष्य नान्यद् आत्मनो अपश्यत्. सो "अहम् अस्मि" इति अग्रे व्याहरत्. ततो 'अहं' नामा अभवत्. तस्मादपि एतर्हि आमन्त्रितो "अहम् अयम्" इत्येव अग्रे उक्त्वा अन्यत् नाम प्रब्रूते यद् अस्य भवति. स, यत् पूर्वो अस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मात्, 'पुरुषः'. ओषति ह वै स, तं यो अस्मात् पूर्वो बुभूषति... स वै नैव रेमे; तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्—स ह एतावान् आस... तद् ह इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत्. तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत : "असौनाम अयम् इदंरूपः" इति. तद् इदमपि एतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते : "असौनाम अयम् इदंरूपः" इति. सः एषः इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यो, यथा क्षुरः क्षुरधाने अवहितः स्यात्; विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये. तं न पश्यति अकृत्स्नो हि सः. प्राणन्नेव 'प्राणो'नाम भवति, वदन्नेव वाक्, पश्यन् चक्षुः, शृण्वन् श्रोत्रं, मन्वानो मनः. तानि एतानि कर्मनामान्येव. स यो अतः एकैकम् उपास्ते न स वेद अकृत्स्नोहि एषो, अतः, एकैकेन भवति. 'आत्मा' इत्येव उपासीत, अत्र हि एते सर्वे एकं भवति. तद् एतत् पदनीयम् अस्य सर्वस्य यद् अयम् आत्मा. अनेनहि एतत् सर्वं वेद (बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१-७).

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसम्भवो, यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः, कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवं, तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्. एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यो, अघायुर् इन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति. यस्त्वात्मरतिरेव स्याद् आत्मतृप्तश्च मानवः, आत्मन्येव च सन्तुष्टस् तस्य कार्यं न विद्यते, नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन, नचास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः (श्रीमद्भगवद्गीता : ३।१४-१८).

'आत्मा' इति तु उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च. न प्रतीके—न हि सः. ब्रह्मदृष्टिः उत्कर्षात् (ब्रह्मसूत्र: ४।१।३-५).

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं, सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं, प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्, देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षुन्. यत् "पत्यपत्यसुहृदाम् अनुवृत्तिर्", अङ्ग!, "स्त्रीणां स्वधर्म" इति धर्मविदा त्वयोक्तम्, अस्त्वेवम् एतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुर् आत्मा. कुर्वन्तिहि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिर् आर्तिदैः किम्! तन्नः प्रसीद परमेश्वर! मा स्म छिन्द्या आशां भृतां त्वयि चिराद् अरविन्दनेत्र! (श्रीमद्भागवत: १०।२९।३१-३३).

....●....

:: उपक्रम ::

बृहदारण्यकोपनिषद्का उपर्युद्धृत वचन इस सृष्टिके आत्माद्वैतमूलक आत्मोपादानक एवं आत्मरमणात्मक होनेके तथ्यका अतीव सुस्पष्ट शब्दोंमें उद्घोष है :—

इस सृष्टिके प्रकट होनेसे पहले केवल पुरुषविध आत्मा ही एकमेवाद्वितीयतया विद्यमान थी. उसने "मैं ही केवल हूं" ऐसा सोचते-कहते हुवे अपनी आत्मचेतनाको मुखरित किया. तबसे वह 'अहं' नामा बन गया. अतएव आज भी आमन्त्रित किये जानेपर हर कोई "यह रहा मैं" ऐसे बोलनेके बाद ही अपना अन्य जो कुछ नाम हो उसे बोलता है. स्वरूपविस्मरण या आत्मासम्प्रत्यय मूलक अन्य सभी पापोंकी सम्भावनाको क्षीण करते हुवे वह सर्वप्रथम आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त हुवा था अतएव उसे 'पुरुष:' कहा जाता है. अतएव आज भी जो कोई आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त होता है, वह आत्मस्वरूपविस्मरणमूलक अविद्याके सम्भावित सभी पापात्मक पर्वोंको भस्मसात् कर देता है... एकाकी, परन्तु, वह रमणशील न हो पाया अतएव आज भी एकाकी कोई रमणशील नहीं हो पाता. उसे अपने अलावा दूसरे किसीकी कामना हुयी और वही यह दृश्यमान् सब कुछ बन गया...

यह सृष्टि तब अव्याकृत=अप्रकट थी. इसे उसने ही अनेक नामों और रूपों में व्याकृत=प्रकट किया : "मेरे इस अंशका यह नाम हो - मेरे इस अंशका ऐसा रूप हो." आज भी, अतएव, सब कुछ तत्तत् नामरूपोंके साथ ही व्याकृत=प्रकट किया जाता है : "ऐसे नामवाली यह है - इस वस्तुका ऐसा कोई रूप होना चाहिये." वह परमात्मचैतन्य स्वयं यहां इस सृष्टिमें हमारे नखोंके अग्रभाग तक प्रविष्ट हुवा भासित होता है, जैसे छुरा म्यानेमें रखा हुवा रहता है; अथवा जैसे विश्वंभर अग्नि अपने नीड़रूप काष्ठमें प्रविष्ट रहती है. जो उसे जान-समझ नहीं पाता, वह सब कुछ जाननेके बाद भी सारी हक़ीकत जान नहीं पाता है. श्वासोछ्वासकी क्रिया करता होनेपर उसे ही 'प्राण' कहा जाता है, बोलनेकी क्रिया करनेपर उसे ही 'वाणी' कहा जाता है, देखनेकी क्रिया करनेपर 'चक्षु', सुननेकी क्रिया करनेपर 'कान', मननकी क्रिया करनेपर 'मन'. ये सारेके सारे उसीके अनेकविध कर्मनाम (एवं रूप) हैं. अतः उसके इन अनेकविध कर्म-नाम-रूपोंमेंसे जो किसी एक ही कर्म या नाम या रूप की उपासना करता है, उसे अज्ञानी और अपूर्ण समझना चाहिये. अतः इन अनेकविध कर्म-नाम-रूपोंको आत्मतया जान लेना चाहिये, क्योंकि आत्माके ही साथ ये सभी एकवद्भावापन्न रहते हैं. वह आत्मा पदनीय है. अर्थात् ये सारेके सारे कर्म-नाम-रूप उस एकमेवाद्वितीय आत्माके अनेकविध पदचिह्नोंके जैसे हैं. इनका अनुसरण करते हुवे हमें पहुंचना तो है उस पदनीय आत्मा तक ही. उस आत्माको जान लेनेपर या उसतक पंहुच जानेपर इन कर्म-नाम-रूपोंकी समग्रता या अद्वैत का ज्ञान हमें मिल जाता है. हमारा साराका सारा अधूरापन दूर हो जाता है!

यह सृष्टि उस आत्मरमणशील परमात्माकी एक लीला ही है. इस लीलारूपा सृष्टिमें उस परमात्मामेंसे अंशतया व्युच्चरित होनेवाली जीवात्मा अपने अन्तर्यामी परमात्माको पहचाने बिना स्वरूपविस्मृतिरूप अविद्याके अन्यतम पर्वसे ग्रस्त हो कर आत्मलीलाभावसे विपरीत इन्द्रियविषयोंके साथ रमण करनेवाली बन जाती है. चेतनाके द्वारा किये जाते इस आत्मरमण और विषयरमण के द्विविध प्रकारोंको लक्ष्यमें रख कर इसी विचारसूत्रको आगे गूंथते हुवे श्रीमद्-भगवद्गीता हमें यह समझाती है—

सारे प्राणी जिस अन्नसे पैदा होते हैं, वह अन्न पैदा होता है पर्जन्यसे, जलवर्षी पर्जन्य जिन यज्ञोंसे पैदा होते हैं वे यज्ञयागादिरूप धर्म पैदा होते हैं शास्त्रविहित कर्मोंके अनुष्ठानसे, वे विहितकर्म पैदा होते हैं कर्मविधायक शास्त्रोंसे; और वे कर्मोपदेशक शास्त्र प्रकट होते हैं स्वयं अक्षरब्रह्मसे, यों सर्वगत अक्षरब्रह्म ही स्वयं यज्ञोंमें सर्वदा प्रतिष्ठित रहता है. यही तो इस सृष्टिमें निरन्तर चलते चक्रके जैसी एक लीला है. जो लोग इस लीलाचक्रका निरन्तर लीलात्मक अनुचालन नहीं करते, वे तो केवल इन्द्रियोंके विषयोंमें ही रमण करनेवाले पापायुः हो कर अपना जीवन व्यर्थ ही गंवा देते हैं.

यह है औत्सर्गिक मर्यादालीला. इसका आपवादिक मर्यादातीत स्वरूपवैलक्षण्य भी श्रीमद्-भगवद्गीतामें वर्णित हुवा है:—

जो मानव आत्मामें ही रत होनेके कारण आत्मामें ही तृप्त और सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये करने-धरने जैसा इस जगत्में कुछ भी नहीं बच जाता, वह कुछ करे या न करे एतावता उसे किसी तरहकी लाभ-हानि नहीं होती. अतएव सृष्टिगत किसीभी आधिदैविक आध्यात्मिक या आधिभौतिक प्रयोजनोंके वश किसी भी तरहके कर्मबन्धनसे उसे बंधना नहीं पड़ता है.

इस तरह हम देख सकते हैं कि आत्मरमणशील चेतनाके सामने तो नाम-रूप-कर्मात्मिका यह सृष्टि भी लीलारसके मूलभावको ही प्रकट करती है, जबकि सृष्टिमें प्रकट हुवे नाम-रूप-कर्मोंमें ही केवल यदि कोई चेतना रमणशील बन जाती है, तब स्वरूपविस्मरणवशाद् विषयद्वैतजन्य शोक-मोहादि भावोंसे वह त्रस्त एवं ग्रस्त हो जाती है.

भगवज्ज्ञानावतार महर्षि बादरायणने ब्रह्ममीमांसासूत्रोंके चार अध्यायोंमें, क्रमशः, ब्रह्मके बारेमें प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल या समन्वय-अविरोध-साधन-फल की जिज्ञासा की है. एतदन्तर्गत अन्तिमाध्यायके प्रथम द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ पादोंमें क्रमशः जीवित, म्रियमाण, परलोकगमन करते हुवे और प्राप्तफल ब्रह्मज्ञानीको होती फलानुभूतियोंकी विवेचना की है. यहां उसे

भी भाष्यनिर्दिष्ट दिशाके अनुसार देख लेना भी उपकारक होगा—

> विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण ब्रह्ममें जैसे देश-काल-स्वरूपतः अनुभवातीत अपरिच्छिन्नता इत्यादि गुणधर्म रहते हैं, वैसे ही परमात्मता या सर्वात्मता आदि गुणधर्म भी रहते ही हैं. और ब्रह्मविद्को, चाहे वह भक्तिमार्गीय हो या फिर ज्ञानमार्गीय हो, अपनी जीवन्मुक्तावस्थामें ऐसा स्फुरित होता ही है. इस ब्रह्मतादात्म्यका वे दोनों न केवल अनुभव करते हैं परन्तु योग्याधिकारीके उपसन्न होनेपर शिष्येषणारहित लीलाभावसे ही वे उपदेश भी कर पाते हैं. ज्ञानमार्गीय जीवन्मुक्तको देहपातके बाद ब्रह्मप्रवेशात्मिका सायुज्यमुक्ति प्राप्त होती है जबकि भक्तिमार्गीय जीवन्मुक्तको देहपातके बाद नित्यलीलाप्रवेशात्मिका वैकुण्ठादि लोकोंमें दिव्य भगवत्सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति होती है. ऐसा "'आत्मा' इति तु उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" सूत्रमें निरूपण किया गया है.

द्वितीय "न प्रतीके—न हि सः" सूत्रके भाष्यमें "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" श्रुतिसिद्ध वस्तुमात्रकी ब्रह्मात्मकताके बावजूद जीवात्माकी ब्रह्मप्रतीकतया उपासनाके बारेमें विचार किया है—

> ज्ञानमार्गीय अभेदबुद्ध्या ब्रह्मकी निजात्मतया उपासना करता है. भक्तिमार्गीय निजात्मा और परमात्मा के बीच तादात्म्यभाव रखता होनेसे परमात्माकी भक्ति अपनी आत्माकी भी आत्माके रूपमें करता है. इस सुसूक्ष्म अन्तरके सन्दर्भमें सूत्रकार कहते हैं कि प्रतीकोपासक, परन्तु, अपनी परिमित उपासनाके अनुरूप यथायथोपदिष्ट फल ही पाता है. प्रतीकोपासक ब्रह्मप्रवेशात्मिका सायुज्यमुक्ति या नित्यलीलाप्रवेशात्मिका पुष्टिभक्ति नहीं पाता है. उपासनाभेदवशात् फलभेदके सिद्धान्तकी तरह, उपास्यभेदवशात् फलभेदका भी सिद्धान्त क्योंकि सर्वथा अभिमत ही है. परमात्मस्वरूपके एकमेवाद्वितीय होनेपर भी उत्पत्ति स्थिति मुक्ति या लय आदि रूपोंमें अनेकविध लीलाओंके अन्तर्गत सृष्टिलीलामें जैसे नाम-कर्म-रूपोंके भेद प्रकट हुवे हैं, उसी तरह मुक्तिलाभ या मुक्तिदान भी लीला ही है; अतः उसमें भी अनकेविधता सिद्धान्ततः सर्वथा मान्य ही है.

तृतीय "ब्रह्मदृष्टिर् उत्कर्षात्" सूत्रके भाष्यमें ये शङ्का-समाधान अभिप्रेत हैं—

ऐसा स्वीकारनेपर तो "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" सदृश औपनिषद सिद्धान्त भी जागतिक सभी वस्तुओंमें केवल उपासनार्थ ब्रह्मकल्पनाका ही उपदेश कहीं सिद्ध न हो जायें! यहां ज्ञातव्य यह है कि वस्तुमात्रके ब्रह्मात्मक होनेकी दृष्टि साधनाके रूपमें उपदिष्ट नहीं हुयी है किन्तु उत्कृष्ट ब्रह्मविद्, चाहे वे ज्ञानमार्गीय हों या भक्तिमार्गीय, उन्हें सिद्धदशामें सम्पन्न होती विलक्षण प्रकारकी लीलाविशिष्ट ब्रह्मस्वरूपकी एक वास्तविक अनुभूति ही होती है.

रासलीलास्थलीसे पुनः व्रज लौट कर जानेका उपदेश देनेवाले परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके समक्ष प्रतिवादके रूपमें श्रुति-स्मृति-सूत्रोंके नेपथ्यमें गूंजते हुवे ऐसे इस सिद्धान्तको ही व्रजगोपिकाओंने भी प्रतिध्वनित किया था. यह श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धान्तर्गत तामसफलप्रकरणके प्रारम्भमें ही स्पष्ट हो जाता है. एतदर्थ प्रस्तुत कारिकाओंमें अभिप्रेत रस-भावोंका सुबोधिन्यनुसारी अवगाहन करना पड़ेगा :—

हे विभु! आप सब कुछ करने समर्थ हो सो आप ऐसे दयारहित वचन बोल नहीं सकते. हम तो ग्यारहकी ग्यारह इन्द्रियोंकी अपने-अपने विषयोंमें रही आसक्तिको छोड़ कर आपके ही चरणतलको पाने आप तक पहुंची हैं, हृदयमें आपके प्रति जारभाव रख कर नहीं. अतः साधारण जीवात्मा जैसे भगवद्भजनके अलावा अनेक कामोंमें उलझी रहती हैं, वैसी दुष्टाग्रहवाली बात हमें मत समझाओ और न हमें लौट जानेकी सलाह दो! देवता तो सभी, चाहे पूर्वकाण्डीय हों उत्तरकाण्डीय, अपने भजन करनेवालोंका प्रतिभजन करते ही हैं. आप तो जबकि आदिपुरुष देव हो! आपका भजन कभी व्यभिचाररूप हो ही नहीं सकता. लोकमें भी प्रथम भर्ता, अपनी भार्या किसी अन्यपुरुषका भजन करे, इसे कभी सहन नहीं कर पाता है. अतः आप हमें लौकिक भर्ताओंको भजनेकी प्रेरणा कैसे दे सकते हो? भगवान् तो जो भी मुमुक्षु आत्मा हो उसे अपना आत्मीय बना कर - उसके आत्मतया

स्फुरित हो कर निजानन्दका दान करते हैं. सो आप भी हमारा उसी तरह भजन करो.

"अपने पारिवारिक जनोंका ही भजन करना स्त्रियोंके लिये श्रेष्ठ कर्तव्य है" ऐसा धर्मोपदेश जो आपने हमें दिया वह तो ठीक ही है क्यों कि धर्मशास्त्रीय सारी विधियां देहात्मभाववालोंको अपना उद्देश्य बना कर ही धर्मोपदेश करती हैं. विवेच्य यहां, परन्तु, यही है कि धर्मके दो प्रभेद समझमें आते हैं: एक तो कर्तव्यरूप और दूसरा ज्ञातव्यरूप. कर्तव्यरूप धर्मके निमित्त वे होते हैं कि जिनके प्रति हमारा कुछ कर्तव्य नियत होता है. लोकमें वे निमित्त स्वयं न तो धर्मरूप होते हैं और न धर्मिरूप ही. अतएव वे केवल निमित्तमात्र सिद्ध होते हैं. आप तो स्वयं धर्मरूप भी हो और धर्मिरूप भी. अतः आपकी भजनीयतमताकी तुलनामें लौकिक निमित्तरूप कोई भी सम्बन्धी या व्यक्ति भजनीयतर सिद्ध नहीं हो पाता. जहांतक ज्ञातव्यरूप धर्मकी बात हो तो उसका निमित्त तो धर्मोपदेशक गुरु ही होता है. अतः अपनी धर्मोपदेशक-गुरुरूपता आप प्रकट करना चाहते हो तो धर्मज्ञानप्राप्त्यर्थ भी आप स्वयं ही हमारेलिये प्रथम भजनीय सिद्ध हो जाते हो. गुरुसेवाके बिना केवल उपदेशश्रवणमात्रसे धर्मबोध जो शक्य होता तो, लौट जानेकी आज्ञा सुनते ही, हम कबकी लौट ही न गयी होती! धर्म तो धर्मिमूलक होता है. अतः धर्मीसे विरुद्ध न जानेवाला ही फलप्रद धर्म अनुष्ठेय होता है. अतएव धर्मशास्त्रोक्त सारे धर्म प्राकृत देहमें हमारे प्रियत्वाध्यासको लक्ष्यमें रख कर दिये गये उपदेश होते हैं. ऐसी स्थितिमें यह आवश्यक नहीं कि सबको केवल प्राकृत देह ही प्रिय लगता हो. किसीको देह तो किसीको निजात्मा तो किसीको परमात्मा तो किसी देहनिर्वाहक बन्धु-बाधव भी प्रिय लग सकते हैं. हमारेलिये तो देहधारक आत्मतया देहदाता परमात्मतया तथा देहनिर्वाहक-बन्धुतया भी आप ही केवल प्रिय हो. अतः सर्वरूप और धर्मिरूप होनेसे हमारेलिये तो आप ही सर्वथा भजनीयतम हो!

इसके अलावा जो देहेन्द्रियके हितार्थी न हो कर आत्माके हितार्थी होते हैं वे तो आपके साथ ही अपनी रति जोड़े रखते हैं. क्योंकि स्नेह स्वयं आपकी आत्मरति ही तो है, जो जीवात्माके द्वारा देहेन्द्रियादि तथा बन्धु-बान्धवादि में संक्रमण करती हुयी अन्तमें गृह-धनादि विषयोंतक संक्रान्त हो जाती है. सो अन्तमें

तो इनके सेवनका फल भी आत्मगामी ही होता है. अतः वह आत्मा भी यदि मूलभूत पारमात्मिक रतिके वश ही प्रिय लगती हो तो परमात्मामें ही रति क्यों न निभाये रखनी चाहिये! प्रवृत्तिकी अपेक्षा निवृत्ति उत्तम मानी गयी है. फिर भी इन्द्रियदमनका सामर्थ्य न हो तो उसे शास्त्रनिन्दित विषयोंमें तत्पर बनानेके बजाय शास्त्रोपदिष्ट विषयोंकी ओर प्रेरित करना चाहिये. क्योंकि इस तरह संयत इन्द्रियां ही अन्तमें कभी आत्मगामी बन पाती हैं. अतः जो कोई अपने इन्द्रियग्रामको भगवद्भजनोपयोगी बना पाता है तो उसकेलिये अपने इन्द्रियग्रामको आत्मगामी बनाना सरल हो जाता है. जो इस विषयमें कुशल हैं वे तो इस रहस्यको भलीभांति जानते ही हैं. इसके अलावा हमारे दैहिक कर्तव्य या धर्म के निमित्तरूप लौकिक पतिपुत्रादि, यदि, वस्तुतः धर्महेतु होते तो कभी आर्तिप्रद न हो पाते! कोई धर्मनिमित्त भी हो और आर्तिरूप संसारजनक भी, यह तो स्वतोविरुद्ध कथा है. अतः ऐसे स्वतोविरुद्ध निमित्तोंके अनुरूप धर्मको निभानेसे भी क्या लाभ! देवगण तपःक्लेशहारी होते हैं, आप तो देवोंमें भी परमेश्वररूप देवाधिदेव हो, अतः दृष्टिमात्रसे सर्वविध तापोंको हरनेवाले अरविन्दनेत्र हो. सो हमारे असह्य सांसारिक तापक्लेशको हर लेनेको आप भी हमपर प्रसन्न हों. हम आपसे केवल यही वरदान चाहती हैं कि आप हमें अपना भजन करने दो — हमारी चिरकालिक आशाको तोड़े बिना!

:: संशय ::

भगवान्‌के साथ की जानेवाली रासलीलाको यहां व्रजगोपिका 'भगवद्भजन' के रूपमें निरूपित कर रही रही हैं परन्तु भगवद्भजनके ऐसे प्रकारका प्रतिपादन शास्त्रोंमें तो कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता! ऐसा संशय स्वाभाविकतया किसीके भी हृदयमें उभर सकता है. इसके समाधानार्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकी ये पंक्तियां सावधानतया अवलोकनीय हैं:—

भगवान्‌के स्वरूपके रहस्यको जाना जाता है — भक्ति और ज्ञान के उपदेशक शास्त्रोंके आधारपर ही. स्वतः ही प्रकट हो जानेपर, स्वयं भगवत्स्वरूपके कारण भी कभी-कभी भगवत्स्वरूपका

निगूढ़ रहस्य समझमें आ पाता है. कृपाके सागर भगवान् जब स्वत: ही पूर्णरूपेण सच्चिदानन्दतया मुक्तिदानार्थ प्रकट हो जाते हैं, तबतो जो कोई जिस-किसी उपायसे भगवान्के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ पाता है, वह उसी उपायके द्वारा मुक्त हो जाता है. अन्तमें तो भगवान्को आविर्भूत करनेकेलिये ही तो ज्ञान या भक्ति की आवश्यकता पड़ती है. वह आविर्भाव यदि इन साधनोंकी अपेक्षा रखे बिना स्वत: ही भगवदिच्छावश हो गया हो तब तो ज्ञान-भक्तिका कोई विशेष प्रयोजन रह नहीं जाता. श्रीकृष्णका तो भूतलपर प्राकट्य ज्ञानी-अज्ञानी, भक्त-विरोधी, रागी-द्वेषी, चलाचलजीव, मानव-पशुपक्षीआदि, देव-दानव, स्त्री-पुरुष आदि सभीको मुक्तिदानार्थ ही हुवा है, क्योंकि मोक्षप्रतिपादक शास्त्रोंके नियमोंके बन्धनमें कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवती ईश्वरेच्छाको तो कभी बांधा नही जा सकता है. अत: भगवान्का आविर्भाव भगवान्की स्वयं निजेच्छा, भक्ति अथवा ज्ञान इन तीनोंमें से किसी भी एकके कारण सम्भव है. जब भगवान्का अवतारकाल न हो तब तो ज्ञान और भक्ति दोनों ही भगवान्को प्रकट करनेमें द्वारभूत उपाय बनते हैं. अवतारदशामें, किन्तु, इनकी प्रयोजकता समाप्त हो जाती है. वर्षाऋतुमें जल सर्वत्र सुलभ रहता है. एतावता कूप तलाव या नदिओं को अनुपयोगी नहीं माना जा सकता... भगवान्के साथ द्वेष रखनेवाला शिशुपाल तो सी गाली दे कर भी सायुज्यमुक्तिका लाभ पा गया. अन्यथा द्वेष रखना सामान्यतया मोक्ष पानेमें प्रतिबन्धरूप दोष ही होना चाहिये था! फिरभी, द्वेषपूर्वक ही सही, भगवत्स्मरणको निमित्त बना कर उसके सारे पाप हर लिये गये और उसे भगवान्में सायुज्य मिल गया. वैसे तो दोष भी स्वयं उस बिचारेका कैसे माना जा सकता है! सर्वान्तर्यामी परमात्माने ही उसके हृदयमें अपने प्रति द्वेष न जगाया होता तो और कोई कैसे जगा सकता था? ग्यारहकी ग्यारह इन्द्रियोंके प्रेरक तो स्वयं भगवान् ही होते हैं. मूलत: तो भगवान्के द्वारा ही यथासुख जगाये हुवे भाव हमारे हृदयमें अंगड़ाई लेते रहते हैं. अब जब द्वेष भी यदि मोक्षका साधक बन सकता हो तो अधोक्षज भगवान्की प्रेमिकायें क्या मुक्ति भी नहीं पा सकती? वस्तुत: तो मुक्तिसे भी श्रेष्ठ भजनानन्दकी

प्राप्ति गोपिकाओंको होने जा रही है (सुबो.१०।२६।१३).

:: रासलीला=आत्मरतिका ही नामरूपकर्मात्मक विलक्षण विस्तार ::

इस तरह हम देख सकते हैं कि शिशुपालसे सौ गाली खा कर उसे निजस्वरूपमें सायुज्यमुक्ति प्रदान करना जैसे भगवान्के क्षमाभावको प्रकट करनेवाली एक लीला है, उसी तरह व्रजगोपिकाओंके साथ मधुरभाववाली लीलाओंके द्वारा उन्हें स्वरूपानन्दसे भी श्लाघ्यतर भजनानन्द प्रदान करना भी एक भागवती लीला है. मूलतः तो यह ब्रह्मके आत्मरमणके ही रंगमें उभरी कोई विलक्षण झांई या आभाभेद है. अतएव अन्न-प्राण-मनो-विज्ञानमयके बाद आते आनन्दमय तत्त्वके परमात्मा होनेकी उपपत्तिमें 'अभ्यास'को जैसे लिङ्गतया स्वीकारा गया है, वैसेही उसी अभ्यासलिङ्गके आधारपर रासलीलाको भी आत्मरमणतया ही स्वीकारना पड़ता है. इन अधोनिर्दिष्ट श्लोकोंमें यही सुस्पष्टतया निरूपित हुवा है:—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीर् *आत्मारामोऽप्यरीरमत्*॥
(भाग.१०।२९।४२)

रेमे तया चात्मरत *आत्मारामोऽप्यखण्डितः*।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं..................॥
(भाग.१०।३०।३४)

कृत्वा तावन्तम् आत्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिर् *आत्मारामोऽपि* लीलया॥
(भाग.१०।३३।२०)

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः
स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव *आत्मन्यवरुद्धसौरतः*
सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः॥
(भाग.१०।३३।२६)

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
(भाग.१०।३३।३६)

करते हुवे कहते हैं:—

> भगवान्का यह रमण निजात्मरमण ही है. इससे सिद्ध होता है कि स्वयं निष्काम भगवान्ने ही गोपिकाके कामको यथेच्छ पूर्ण किया. इस अवस्थामें भी भगवान् स्वयं तो आत्मरत ही रहे. रसका आलम्बन बनाने अपना आत्मभाव भगवान्ने गोपिकामें स्थापित किया. भगवान्की रति निजात्मामें ही मुख्यतया रहती है, क्योंकि इन्द्रियों, अन्तःकरणों अथवा विषयों से भगवान्की आत्मरति खण्डित नहीं हो पाती है. स्वानन्द यदि अन्यत्र जा सकता होता तो तो भगवान् अन्यत्र कहीं अनुरत हो पाते!

औपनिषदिक शब्दोंमें यदि कुछ कहना हो तो इस रासलीलाको भी हम "आत्मरमणका ही नाम-कर्म-रूपात्मक व्याकरण" कह सकते हैं.

:: पूर्वपक्ष ::

आत्मरमणके ऐसे द्वैतघटित प्रकारको मान्य न कर पानेके कारण श्रीशंकराचार्य उपर्युद्धृत बृहदारण्यकोपनिषद्के भाष्यमें कई ऐसे विचारबिन्दु उपस्थापित करते हैं कि जिनपर ध्यान दिये बिना आगे बढ़ना इस सन्दर्भमें प्रायः दिग्भ्रमणा पैदा कर सकता है.

श्रीशंकराचार्य कहते हैं:—

> यहां अनेक विप्रतिपत्तियां सामने आती हैं : कुछ लोग कहते हैं कि यहां हिरण्यगर्भतया परम तत्त्वका ही प्रतिपादन अभिप्रेत है. दूसरे कुछ कहते हैं कि यहां संसारी आत्माका प्रतिपादन अभिप्रेत है. तीसरे कुछ लोग कहते हैं कि "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः" मन्त्रवर्ण, "एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः" इस श्रुति; और "एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्" स्मृतिवचन के अलावा "योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः,

सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः सएव स्वयमुद्बभौ'' श्रुतिवचनके आधारपर भी यहां परतत्त्वको ही अभिप्रेततया स्वीकारना चाहिये.

वैसे प्रस्तुत सन्दर्भमें [१]''उसने सारे पापोंको भस्मसात् कर दिया'' इस श्रौत उल्लेखके कारण यहां संसारी आत्माका ही प्रतिपादन अधिक उचित लगता है. क्योंकि किसी असंसारीके यहां विवक्षित होनेपर पापोंके दहनका निरूपण अप्रासङ्गिक ही बन जायेगा; इसी तरह [२]इस आत्माके भीतर भय एवं रति के भावोंको निरूपित किया गया होनेसे भी यह संसारी ही लगता है. [३]इसी निरूपणमें इस आत्माके मर्त्य होनेका उल्लेख भी मिलता है कि ''यों मर्त्य हो कर भी उसने अमृतोंका सृजन किया;'' [४]और इसी तरह इस आत्माके जनमनेका भी उल्लेख मिलता है कि ''जनमते हुवे इस हिरण्यगर्भको देखो'' इस मन्त्रवर्णमें. [५]कर्मविपाककी प्रक्रिया समझाते हुवे स्मृतिमें भी ऐसा उपलब्ध होता है कि ज्ञानियोंकी इतनी गतियां— विराट् ब्रह्मा बन जाना, मन्वादि बनना, धर्म या धर्माभिमानी यमदेव बनना, अव्यक्त प्रकृति बनना या महत् तत्त्व बनना — उत्तम तथा सात्त्विक मानी जाती हैं, अतः इस आधारपर भी यहां परम तत्त्वका प्रतिपादन अभिलषित नहीं माना जा सकता है.

यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि [६]ऐसे परस्परविरुद्धार्थके निरूपणवश श्रुतिका प्रामाण्य ही कहीं खण्डित न हो जाये! क्योंकि विरुद्धवचनोंके समन्वयार्थ कुछ कल्पनायें कर लेनेमात्रसे ऐसे सारे तर्कविरोधोंका उपशम सम्भव है ही... जैसे कि [६/क]जगत्सृष्टाकी संसारिता औपाधिकी ही होती है पारमार्थिकी नहीं. स्वतः तो वह असंसारी ही रहता है. [६/ख]इसी तरह हिरण्यगर्भ एक है या अनेक है इस विषयमें भी उभरते परस्पर विरोधाभासके बारेमें एकत्वको अनौपाधिक और अनेकत्वको औपाधिक मान लेनेपर सारे विरोधाभास शान्त हो जाते हैं... [६/ग]यहां यह और लक्ष्यमें रखने लायक बात है कि हिरण्यगर्भकी उपाधिके अतिशय शुद्ध होनेके कारण प्रायः 'हिरण्यगर्भ' पदसे परम तत्त्वका ही निरूपण अभिप्रेत होता है जबकि उसकी संसारिता तो अपवादरूपेण कभी-कहीं दिखलायी जाती है. जीवात्माओंके बारेमें तो, ''तत्त्वमसि'' जैसे वचनोंके अपवादोंको छोड़ दें तो, उपाधिके अतिशय अशुद्ध होनेके कारण उसे संसारीके रूपमें ही श्रुति-स्मृतियोंमें निरूपित किया जाता है. [६/घ]श्रुति-स्मृतियोंमें, जब शुद्ध या अशुद्ध किसी भी

उपाधिकी अपेक्षा रखी नहीं जाती, तब तो सभीका परतत्त्वतया निरूपण अभिप्रेत होता है.

यों श्रुतिवचनोंमें ऐसे विरोधाभास खोजते रहनेवाले तार्किकोंके पास आगमबल तो होता नहीं है सो "अस्ति-नास्ति — कर्ता-अकर्ता" आदि अनेकविध विरोधोंका चिन्तन करते रहनेके कारण वे शास्त्रार्थको इतना आकुल-व्याकुल बना देते हैं कि शास्त्रवचनोंका अर्थनिर्धारण दुष्कर हो जाता है. इसके विपरीत जो तार्किकताके दर्पको छोड़ कर केवल शास्त्रोंका ही अनुसरण करना चाहते हैं, उन्हें तो देवताविषयक शास्त्रार्थ भी किसी प्रत्यक्षके विषय जितना निश्चित ही लगता है.

:: उत्तरपक्ष ::

श्रीशंकराचार्यके प्रथम हेतु — [१] "'उसने सारे पापोंको भस्मसात् कर दिया' इस श्रौत उल्लेखके कारण यहां संसारी आत्माका ही प्रतिपादन अधिक उचित लगता है." — की उन्हींके अन्य विधानोंसे तुलना करनेपर ही हेतुबलका आकलन सम्भव होनेसे उन्हें देख लेना उपकारक होगा :—

यह जगत्, जो नामरूपोंमें व्याकृत है, अनेक कर्ता तथा भोक्ता से संयुक्त है, किसी निश्चित देशमें किसी निश्चित क्रियाका कोई निश्चित फल ही होता है ऐसी प्रतिनियतिवाला है, इसकी रचनाका रूप मनमें भी उभर नहीं पाता है. इसके जन्म स्थिति और भंग जिस सर्वज्ञ और सर्वशक्ति रूप कारणसे होते हैं उसे 'ब्रह्म' कहा जाता है (ब्र.सू.भा.१।१।२).

जगत्का जैसा स्वरूप हमने दिखलाया है ऐसे इस जगत्की उत्पत्ति आदिकी, ईश्वरका जैसा रूप दिखलाया है ऐसे ईश्वरके अलावा, अन्य किसीके द्वारा... या संसारीके द्वारा सम्भावना भी शक्य नहीं है (ब्र.सू.भा.१।१।२).

वेदान्तशास्त्रद्वारा ही जगत्के उत्पत्ति स्थिति और लय के कारण सर्वज्ञ सर्वशक्ति ऐसे ब्रह्मको जाना जा सकता है. ऐसा क्यों? समन्वयके कारण — सारे ही वेदान्तवाक्यों — "वह एकमेव और अद्वितीय है," "पहले तो यह आत्मा ही अकेली केवल थी"... आदि — का तात्पर्य ऐसे अर्थके प्रतिपादनमें स्वीकारनेपर उनका समन्वय सिद्ध हो जाता है. इन वाक्योंमें प्रयुक्त पदोंका

ब्रह्मस्वरूपके बारेमें निश्चित समन्वय दिखलायी देता होनेपर भी किन्हीं दूसरे अर्थोंकी कल्पना करना कभी उचित बात नहीं हो सकती है, क्योंकि ऐसा करनेपर जो श्रुतिमें कहा जा रहा है उसे छोड़ कर और जो श्रुतिमें कहा ही न गया हो ऐसे अर्थोंकी कल्पना करने जैसी बात होगी (ब्र.सू.भा.१।१।४).

जो जीवात्मा सगुणब्रह्मकी उपासना करके ईश्वरके साथ समनस्क सायुज्य प्राप्त कर लेती है..., उस मुक्तात्मामें अणिमादि ऐश्वर्य तो प्रकट हो जाते हैं परन्तु जगत्‌के उत्पत्ति आदि व्यापारकी सामर्थ्य प्रकट नहीं हो पाते. जगत्‌के उत्पत्ति आदि व्यापार तो ईश्वरके ही होते हैं क्योंकि ईश्वरके नित्यसिद्ध होनेसे, श्रुतिवचनोंमें ईश्वरके ही सन्दर्भमें सृष्टिनिर्माणका निरूपण किया गया मिलता होनेसे. ईश्वरके अन्वेषण या विजिज्ञासन के कारण ही ईश्वरेतर जीवात्माओंमें अणिमादि दिव्य ऐश्वर्य प्रकट होना वर्णित हुवा होनेसे जगत्‌की उत्पत्तिके समय स्वयं प्रकट नहीं हो पाये हों तो जगत्‌को कैसे प्रकट कर पायेंगे? इसके अलावा समनस्क मुक्तात्माओंकी अनेकताका विचार करनेपर यह सहज सम्भव है कि किसीका मन जगत्‌को उत्पन्न करनेका हो और किसीका मन उसके संहारका हो तो फिर जगत्‌का क्या होगा — उत्पत्ति या विनाश! किसी एकके संकल्पके अनुसार ही दूसरेको संकल्प करनेको बाधित होना पड़ता हो तो सिद्ध हो गया कि सर्वथा स्वतन्त्र परमेश्वरके संकल्पके आधीन ही अन्य कोई कर्ता इस सृष्टिमें कुछ कर सकता है (ब्र.सू.भा.४।४।१७).

"जो अपहतपाप्मा आत्मा है उसका अन्वेषण करना चाहिये उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये," "उसकी उपासना आत्माके रूपमें करनी चाहिये"... "ब्रह्मको जान लेनेवाला ब्रह्म ही हो जाता है" इत्यादि अनेक विधानोंके रहते "वह आत्मा कौन है? — वह ब्रह्म क्या है?" ऐसी आकांक्षा होनेपर उस आत्माके स्वरूपको समझानेको सारे वेदान्त प्रवृत्त होते हैं — वह नित्य है, वह सर्वज्ञ है, वह सर्वगत नित्यतृप्त नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाववाला है, विज्ञान आनन्द रूप ब्रह्म है इत्यादि (ब्र.सू.भा.१।१।४).

हम स्पष्टतया देख सकते हैं कि प्रथम वचनमें ब्रह्ममीमांसाके उपक्रममें ही श्रीशंकराचार्यने यह स्वीकार रखखा है कि नाम-कर्म-रूपोंमें व्याकृत

इस जगत्का कारण होना सर्वज्ञ-सर्वशक्ति ब्रह्मके लक्षणतया अभीष्ट है, सो वह लक्षण संसारीको कारणतया मान्य करनेपर दोषग्रस्त हो जायेगा.

द्वितीय वचनमें तो स्वयं श्रीशंकराचार्यने संसारीके जगत्कारण होनेकी जिस धारणाको निरस्त किया है, उसे ही यहां पुनः उन्हें स्वीकारनी पड़ी है.

तृतीय वचनके आधारपर यह प्रश्न उठता है कि यदि सारे उपनिषदोंके वचन एक ब्रह्मको कारणतया स्वीकारनेपर समन्वित हो पाते हों, तब भी अर्थान्तरकी जगत्कारणतया कल्पना करना श्रुतहानि और अश्रुतकल्पना करनेका दोष माना जाता हो तो, इस बृहदारण्यकोपनिषद्के वचनको भी असमन्वित रहनेका दण्ड क्यों देना चाहिये? "आत्मावा इदमेकएव अग्र आसीत्" (ऐत.उप.२।१।१।१) "आत्मैव इदम् अग्र आसीत् पुरुषविधः सो अनुवीक्ष्य नान्यद् आत्मनो अपश्यत्" (बृह.उप.१।४।१) इन दो वचनोंमें निरूपित आत्मकैवल्य या आत्माद्वैत तो सर्वथा समान ही है. अन्तर यदि कुछ है तो ऐतेरयके वचनमें उसका पुरुषविध होना उल्लिखित नहीं जबकि बृहदारण्यकके वचनमें उसका पुरुषविध होना घण्टाघोषपूर्वक कहा गया है. अतएव "आत्मगृहीतिः इतरवद् उत्तरात्" (ब्र.सू.३।३।१६) के भाष्यमें श्रीशंकराचार्यने इस तारतम्यकी विवेचना करते हुवे कहा है कि यद्यपि इन दोनों ही वचनोंमें आदिम भूतसृष्टिके निर्माणकी चर्चा नहीं है. क्योंकि दोनोंमें ही लोकसृष्टिके निर्माणका निरूपण है. तथापि ऐतरेयवचनमें विशेषणरहित 'आत्म' पदका प्रयोग हुवा है जबकि बृहदारण्यकवचनमें 'पुरुषविध' विशेषणके सहित. अतः ऐतेरयवचनमें मुख्येश्वर लेना चाहिये जबकि बृहदारण्यकवचनमें अवान्तरेश्वर. भामतीकार भी यहां, अतएव, यही निष्कर्ष देते हैं कि जैसे श्रुतियोंमे कभी ब्रह्मने सर्वप्रथम आकाशको रचा ऐसा कहा जाता है तो कभी तेजको. ऐसे दोनों वचनोंका समन्वय करनेपर आकाशको रच कर तेजको रचा ऐसे एक-दूसरे वचनके अर्थोंको एकदूसरेके साथ जोड़ समग्र अर्थकी पूर्ति करनी पड़ती है, ऐसे ही यहां ऐतरेयवचनमें आगे आनेवाले विशेषणोंका विचार करनेपर स्वयं परमात्माने महाभूतोंका सृजन करके लोकसृजन भी किया ऐसे समग्र अर्थकी कल्पना आवश्यक है. औपनिषद ज्ञानको किसी एक शाखाके वचनोंके आधारपर नहीं प्रत्युत

सभी शाखाओंके वचनोंके आधारपर प्राप्त करना चाहिये. इसके अलावा स्वाध्यायाध्ययनकी विधिके वश प्रारब्ध वेदराशिके अध्ययनमें आते हुवे वचनोंका सप्रयोजन होना भी आवश्यक है. सो इस ऐतरेयवचनको ब्रह्मविषयक स्वीकारनेपर परमपुरुषार्थोपयोगिता इस वचनकी सिद्ध होगी, अन्यविषयक स्वीकारनेपर वह सम्भव नहीं. अतः लोकसर्गको भी हिरण्यगर्भ (प्रजापति या मनु)का व्यापार माननेके बजाय तदनुप्रविष्ट परमात्माका ही व्यापार मानना चाहिये. अतः ''आत्मैव...'' उपक्रम, 'ईक्षणपूर्वक-सृष्टि' के मध्यभागमें आते परामर्श तथा अन्तमें समग्र भेदजातोंके ब्रह्माधिष्ठित होनेके उपसंहारवश प्रस्तुत वचनको ब्रह्मपरक ही स्वीकारना उचित है. जहां पुरुषविधताका निरूपण हो वहां गत्यन्तर न होनेसे ब्रह्मेतर पदार्थकी कारणतया कल्पना उचित होती है.

चतुर्थ वचनमें जीवात्माओंके मुक्त होनेपर, अन्य अनेक दिव्य ऐश्वर्योंके प्राप्त होनेपर, भी सृष्टिके उत्पत्ति-स्थिति-लयादिकी सामर्थ्य उसे प्राप्त नहीं होती है—ऐसा स्वीकारा गया होनेसे; तथा प्रस्तुत बृहदारण्यकवचनमें नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टिकी उत्पत्तिका ही निःसन्दिग्ध निरूपण मिलता होनेसे, ईश्वरकर्तृत्वसे अनिरूपित मुक्त जीवात्माका कर्तृत्व मान्य नहीं हो पाता है.

पञ्चम वचनके आधारपर इतना तो स्पष्ट ही है कि परमेश्वरके अलावा दूसरे किसीको जगत्कर्ताके रूपमें मान्य करनेपर श्रुतिके सृष्टिप्रकरणमें प्रकृत परमेश्वरका त्याग और अप्रकृतको स्वीकार करनेका व्याख्यानदोष उत्पन्न हो ही जायेगा.

ऐसी स्थितिमें मुख्यतया विचारणीय अब यही रह जाता है कि बृहदारण्यकवचनमें भी गत्यन्तर सम्भव है कि नहीं?

''अन्तर उपपत्तेः'' (ब्र.सू.१।२।१३) के भाष्यमें, उदाहरणतया ही केवल क्योंकि ऐसे तो अनेकानेक विधान उपलब्ध होते ही हैं, श्रीशंकराचार्य स्वयं ''य एषो अक्षिणि पुरुषो...'' श्रुत्यर्थविवेचना करते हुवे प्रतिपादन

करते हैं कि इस वचनमें आंखोंके भीतर परमेश्वर पुरुषका ही उपदेश है... आत्मता, क्योंकि, मुख्यवृत्तिसे तो परमेश्वरमें ही उपपन्न होती है... 'अपहतपाप्मा' के रूपमें निरूपित होनेके कारण परमेश्वर जैसे सर्वदोषोंसे अलिप्त होता है, वैसे ही आंखोंका भी यहां सर्वलेपरहित होना निरूपित हुवा है. इससे सिद्ध होता है कि 'पुरुष' पदको विशेषणतया जोड़नेमात्रसे ही सारे अनर्थ प्रकट हो जाते हों ऐसा तो कहा नहीं जा सकता.

ईक्षत्यधिकरण (ब्र.सू.१।१।५-११) में नामरूपोंकी व्याकृतिरूपा यह सृष्टि परमेश्वरके द्वारा किये गये ईक्षणवश हुयी है, ऐसा स्वीकार कर, सांख्यमताभिप्रेत प्रकृति या संसारी पुरुष की कारणता निरस्त की गयी है. सो परमेश्वरको परमकारणतया स्वीकार कर अवान्तरकारणतया तो परमेश्वरके किसी अवान्तररूपकी भी कारणता स्वीकार्य हो सकती है. वेदान्तके, परन्तु, किसी वचनमें परमेश्वरकी कारणताका अस्वीकार तो निश्चय ही वेदान्तके अप्रामाण्यमें पर्यवसित होगा. यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि भागत्यागात्मिका लक्षणावृत्तिकी कल्पनाद्वारा जब अनित्य अशुद्ध अज्ञानी संसारी ऐसे 'त्वं' पदवाच्य देहधारी जीवको 'तत्' पदवाच्य अप्रतिघ ज्ञान वैराग्य तथा ऐश्वर्य आदि दिव्यगुणोंसे युक्त परमेश्वरसे अभिन्न माना जा सकता हो तो प्रकृत बृहदारण्यकवचनमें हिरण्यगर्भ प्रजापति या मनु जो भी प्रतिपाद्य हो उसे परमेश्वराभिन्नतया लेनेमें अद्वैतवादको क्या आपत्ति होनी चाहिये?

अतः ऐसे अनेक गत्यन्तरोंके रहते व्यर्थ ही नामरूपात्मिका सृष्टिके निर्माताको परमेश्वरसे भिन्न संसारी क्यों मानना चाहिये! यह यहां विचारणीय बनता ही है.

यहां निरूपित सृष्टिनिर्माताके संसारी होनेकी उपपत्तिके रूपमें जहांतक 'पापदहन' रूप हेतुका प्रश्न है तो चतुर्थ वचनमें हम सुस्पष्टतया देख सकते हैं कि "नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव विज्ञान आनन्द रूप" जिज्ञास्य ब्रह्मको भी अपहतपाप्मा माना ही गया है. ऐसी स्थितिमें कारणब्रह्म क्यों अपहतपाप्मा नहीं हो सकता?

यदि कहा जाये कि पारमार्थिकतया वैसे तो पापप्रसक्तिके अप्रसक्त ही होनेपर भी 'अपहत' रूप भूतकृदन्तके प्रयोगमें मिथ्याकल्पनाप्रयुक्त प्रसक्तिके शक्य होनेसे; तथा, जिज्ञास्यब्रह्मरूप उद्देश्यकोटीके विशेषण होनेके कारण भी, उसमें गौणी विवक्षा भी मान्य हो ही सकती है. ऐसा, किन्तु, कारणब्रह्मके बारेमें स्वीकार पाना शक्य नहीं, क्योंकि वहां तो 'पाप्मन्' पद विधेयकोटीरूप 'औषत्' क्रियापदके कर्मतया उल्लिखित है. अतः वहां तो गौणी भी विवक्षा मान्य नहीं हो पायेगी. सृष्टिसे पूर्व पापोंके प्रसक्त ही न होनेके कारण, न तो परमार्थतः और न व्यवहारसत्य या प्रतिभाससत्य के रूपमें ही कल्पना शक्य होनेसे, पापोंके दहनकी कोई प्रासंगिकता ही सिद्ध नहीं होती है. इस विषयमें यह पूछा जा सकता है कि अल्पज्ञान अल्पवैराग्य तथा क्षुद्रैश्वर्य वाली जीवात्मामें आत्मैकत्वानुसन्धान सिद्ध होनेपर समस्त द्वैतप्रपञ्च बाधित हो जाता हो तो यहां स्वयं श्रीशंकराचार्यने इस सृष्टिनिर्माताके बारेमें "ज्ञानम् अप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्" (बृह.उप.भा.१।४।२) इस स्मृतिवचनके आधारपर उसे ऐसा स्वीकारा है. अतः ऐसे अप्रतिघ ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य आदि शुभगुणोंसे युक्त प्रजापति या मनु, जो कोई हो, प्रपञ्चनिर्माणके बजाय निजमुक्तिसम्पादनार्थ क्यों प्रवृत्त नहीं हो जाता? यदि कहा जाये कि ज्ञानसे सञ्चित क्रियमाण और प्रारिप्सित कर्मोका ही केवल निरसन होता है प्रारब्ध कर्मोका नहीं तो, जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानीकी तरह इस सृष्टिनिर्माताको भी प्रारब्ध कर्मफलके भोगतया लब्ध केवल दिव्यशरीर ही धारण किये हुवे "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्" आदर्शके अनुरूप संन्यासधर्मोमें प्रवृत्त होना चाहिये था. अरति भय स्त्रीपुरुषात्मिका रतिद्वारा सृष्टिनिमार्णके सांसारिक झमेलेमें तो कथमपि फंसना नहीं चाहिये था. श्रीशंकराचार्यने जो शंका-समाधान यहां दिये हैं कि अप्रतिघ ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य आदि सहज गुणोंसे युक्त होनेपर भी प्राक्तन जन्मोंमें किये कर्मोके निमित्तवशात् एकाकितामें अरति और अज्ञानमूलक भय सम्भव हैं; अथवा, श्रद्धा-प्रणिपात(गुरूपसत्ति)के अभावमें या वेदान्तवचनोंके श्रवण मनन और निदिध्यासन के अभावमें सहजसिद्ध अद्वैतज्ञान भी अज्ञान या द्वैतज्ञान का निवर्तक नहीं हो पाता है, जैसेकि लोकमें भी अनेकविध निमित्तोंके भेदवशात् नैमित्तिक कार्योमें अनेकविधता दिखलायी देती ही है. तब तो

सृष्टिनिर्माताकी स्वनिर्मित सृष्टिसे भी दुस्तर दुरवस्था स्वीकारनी पड़ेगी! ऐसे निमित्तभेदोंकी आशंकाके रहते कोई अद्वैतज्ञान पानेकेलिये प्रवृत्त ही नहीं होगा. किसी भी हेतुके आधारपर निःशंक प्रवृत्तिकी उपपत्ति देने-खोजनेपर उससे सृष्टिनिर्माता स्वयं क्यों लाभान्वित न हो पाया? सो उस बेचारेकी स्वनिर्मित सृष्टिसे भी दुस्तर दुरवस्था सिद्ध हो जाती है! ऐसे ज्ञान वैराग्य या ऐश्वर्य को कौन अप्रतिघ स्वीकारेगा कि जिनका प्राक्तन कृत या अकृत कर्मोंके कारण प्रतिघात भी हो पाता हो! "नास्त्यकृतः कृतेन" (मुण्ड.उप.१।२।१२) "एतं ह वाव न तपति—'किम् अहं साधु न अकरवं-किम् अहं पापम् अकरवम्!' इति" (तैत्ति.उप.२।९) वचनोंमें दिया गया आश्वासन भी व्यर्थ ही चला जायेगा. श्रद्धा गुरूपसत्ति प्रणिपात वेदान्तवाक्योंके श्रवण मनन या निदिध्यासन जैसे प्राक्तन जन्ममें न जाने किस या किन कृताकृत कर्मोंके कारण अप्रतिघ ज्ञान-वैराग्यसे सम्पन्न होनेपर भी स्वयं सृष्टिनिर्माता प्रजापति भी अरति भय तथा मैथुनपूर्वक सृष्ट्युत्पादन के कर्मबन्धनसे अपने-आपको छुड़ा नहीं पाता. तब ऐसे प्रजापतिकी सृष्टिमें रहा क्षुद्र ज्ञान-वैराग्यवाला कोई जीव अपने प्राक्तन जन्मके कृताकृत कर्मोंके बन्धनोंसे अपने-आपको कैसे छुड़ा पायेगा!

यदि इस सृष्टिनिर्माणको भी पूर्वकल्पके अभुक्त प्रारब्धकर्मोंके भोगतया लेनेकी बात सोची जाये, तो ऐसी सृष्टिमें ब्रह्मज्ञानीके रूपमें प्रकट हुयी जीवात्माकी भी वर्णाश्रमधर्ममें प्रवृत्तिको प्रारब्धकर्मोंके ही भोगतया स्वीकारनी चाहिये थी. श्रीशंकराचार्यने वह, किन्तु, स्वीकारे बिना शमदमादि ही ब्रह्मज्ञानीकेलिये आवश्यक माने हैं "विधिर्वा धारणवत्" ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें "परिव्राजकको तो सभी कर्मोंके संन्यास कर देनेपर भी अननुष्ठानजन्य प्रत्यवाय नहीं लगता है. ब्रह्मसंस्थ होनेके कारण शमदमादि धर्म तो उसकेलिये उपोद्बलक ही होते हैं विरोधी नहीं. शमदमादिके बलपर ब्रह्मनिष्ठ रहना ही परिव्राजकोंकेलिये स्वाश्रमविहित कर्म होता है; और यज्ञयागादि अन्योंकेलिये, शम-दमादिका त्याग करके ब्रह्मनिष्ठासे च्युत होना परिवाज्रककेलिये भी प्रत्यवायरूप होता है..." (ब्र.सू.भा.३।४।२०). अतः अप्रतिघ ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य आदि गुणधर्मोंवाले प्रस्तुत सृष्टिनिर्माताका शमदमादिमें प्रवृत्त होनेके बजाय मैथुनरतिपूर्वक सृष्टिनिर्माणमें प्रवृत्त होना या तो उसके उत्कृष्ट ज्ञान-वैराग्यसे सम्पन्न होनेकी बातको या तो संसारी होनेकी बातको

झुठला ही देता है.

पापोंको भस्मसात् करनेका उल्लेख भी वैसे तो प्रकृत कल्पारम्भकी कथाके रूपमें तो उपपन्न नहीं हो पाता, सो पूर्वकल्पकी कथाके रूपमें ही उसे स्वीकारना पड़ा है. यों जिस कल्पमें उसने साधारण जीव होनेके कारण पाप किये होंगे तब वह प्रजापति या मनु बन नहीं पाया था; और, जब वह प्रजापति या मनु बन कर सृष्टिनिर्माता बना होता है तब तो उसने कोई पाप किये ही नहीं होते हैं. प्राक्तन जन्म या कल्प में किये हुवे किसी कर्मके कर्ताका प्रकृत जन्म या कल्प में फलभोक्ता होना तो माना जा सकता है. उदाहरणतया प्राक्तन जन्ममें पातित्यजनक किसी अभुक्तफल कर्मका फलभोग प्रकृत जन्ममें सम्भव होनेसे भोक्ता होना मान्य होनेपर भी पातित्यजनक कर्मका कर्ता भी माननेपर इस जन्ममें जो पतित न हो उसे भी पतित मानना पड़ेगा. इसी तरह प्राक्तन कल्पीय पापदहनका फलभोग तो प्रजापतिके उदाहरणमें भी सम्भव है परन्तु पापदहनरूप कर्मका कर्ता होना तो मान्य नहीं हो सकता. यह दोहराना तो अनावश्यक ही है कि प्रजापतिका पापदहनरूप कर्ममें कर्तृत्व यहां निरूपित हो रहा है. सो पापोंके दहनपूर्वक नामरूपात्मिका सृष्टिके निर्माणमें प्रवृत्त होनेकी बात भी पुनः उतनी ही असमञ्जस ही ठहरती है.

केवलाद्वैतवादके अनुसार सारे पापोंकी मूल तो अविद्या मानी गयी है. इस अविद्याको नित्य भी माना गया है, "जीव ईशो विशुद्धा चिद् विभागस्तवनयोर् द्वयोः अविद्या तत्कृतो बन्धः षड् अस्माकम् अनादयः" सिद्धान्तके अनुसार. अतः अविद्याके रहते सृष्टिके प्रारम्भमें भी पापोंकी विद्यमानता और तब ऐसे विद्यमान पापोंके दहन में भी कोई विसंगति रहनी नहीं चाहिये थी. फलतः इस सृष्टिका निर्माण तब अविद्याप्रयुक्त माननेके बजाय भगवदिच्छाप्रयुक्त ही मान लेना उचित होगा. भागवतके "श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्" (भाग.१०।३९।५५) श्लोकमें भगवान्की द्वादशविध शक्तियोंमें 'शक्त्या' पदसे सत्यसंकल्प परमेश्वरकी इच्छाशक्ति विवक्षित है. इसी तरह सर्वभवनसमर्थ

परमेश्वरकी, अविद्यासे भिन्न, सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्ति 'माया' पदसे विवक्षित है. इन दोनों शक्तियोंके द्वारा भी सृष्टिनिर्माणकी कल्पना करना एक सम्भव गत्यन्तर है ही. यह गत्यन्तर, किन्तु, तभी सम्भव है जब इस सृष्टिको अप्रतिघज्ञानशक्ति सर्वज्ञ सर्वभवनसमर्थ सत्यसंकल्प परमेश्वरकी लीलाके रूपमें स्वीकार लिया जाये. अर्थात् अविद्योपाधिप्रतिबद्ध कुण्ठितज्ञानशक्ति असमर्थ अनीश्वरके मिथ्यासंकल्पकी निर्मिति न माने तो. परमेश्वरने सृष्टिनिर्माणार्थ प्राक्कल्पीय जीवात्माओंके आविद्यक कर्मोंके बन्धनोंको भस्मसात् करके सृष्टि रची है, ऐसा मानना आवश्यक है. अर्थात् अनीशतया कर्मबन्धनवश हो कर नहीं प्रत्युत केवल निजलीलास्वभाववश सृष्टिको प्रकट किया है, ऐसी कल्पनाओंके द्वारा गत्यन्तर सम्भव हो जाता है. अतः व्यर्थमें ही परमेश्वरेतरको सृष्टिनिर्माताके पदपर क्यों आसीन होने देना चाहिये? कामदेवके दहनके बाद श्रीमहादेवका पार्वतीके साथ रमण जैसे, कामात्मक न हो कर लीलात्मक ही होता है और महादेवेतर क्षुद्र जन्तुओंके रमण अनङ्गभावापन्न कामद्वारा जन्य होते ही हैं. ऐसे ही अनीश जीवात्माओंके कर्तृत्व-भोक्तृत्वको अविद्याप्रयुक्त भी स्वीकारा जा ही सकता है. यह एक गत्यन्तर सर्वथा सम्भव ही है.

यद्यपि उपर्युद्धृत ब्रह्मसूत्र (४।१।५) के भाष्यमें श्रीशंकराचार्यने यह स्वीकारा है कि "शुक्तिकां रजतम् इति प्रत्येति" जैसे वाक्यप्रयोगोंमें 'शुक्ति' पदका अर्थ शुक्तिका ही होती है और 'इति' शब्दपरक 'रजत' पद स्वयं रजत वस्तुका वाचक न हो कर रजतबुद्धिका वाचक बन जाता है. फिर भी यहां कारणभूत आत्माके निरूपणके बाद उपास्यरूप जिस आत्माके निरूपणार्थ "आत्मा इत्येव उपासीत्" वचन आता है, वहां श्रीशंकराचार्य इसके असंसारी ब्रह्मपरक होनेकी चर्चा करते हैं. इस विषयमें उल्लेखनीय यही है कि उपक्रान्त पुरुषविध आत्माके परित्याग और अनुपक्रान्त अपुरुषविध आत्माके परिग्रह का भी कोई प्रबल हेतु सामने नहीं आ रहा है.

अतएव श्रीशंकराचार्यके दूसरे हेतु [२]"इस आत्माके भीतर भय एवं रति के भावोंको निरूपित किया गया होनेसे भी यह संसारी ही लगता है." इस विषयमें भी यह कहा जा सकता है कि परमेश्वरका सृष्ट्यर्थ ईक्षण

या काम लौकिक पुरुषोंके ईक्षण या काम जैसा तो हो नहीं सकता. इसी तरह यहां वर्णित अरति भीति मैथुनरति आदि भी लौकिक अरति भीति या मैथुनरति आदि जैसी स्वीकारनेके बजाय दिव्य प्रकारकी मान लेनी चाहिये. संसारमें भी एक परस्पर कलहरत दम्पतीकी पारस्परिक अरति और गार्हस्थ्यत्यागी संन्यासीकी अरति एक ही तरहकी नहीं होती. एक सांसारिक धनिककी सम्भावित धनहानिकी भीति और दूसरे वैराग्यधन संन्यासीकी शमदमादिमें सम्भावित प्रमादवश विषयासक्तिकी भीति भी एक ही तरहकी नहीं हो सकती. इसी तरह एक मनुष्य दम्पतीकी मैथुनरतिद्वारा प्रजोत्पत्ति और शंकर-पार्वतीकी मैथुनरतिद्वारा कार्तिकेय पुत्रकी उत्पत्ति भी एक ही तरहकी हो नहीं सकती हैं. स्वयं श्रीशंकराचार्यने भी "येतु केवलशास्त्रानुसारिणः शान्तदर्पाः तेषां प्रत्यक्षविषय इव निश्चितः शास्त्रार्थो देवतादिविषयः" विधानमें यही भाव प्रकट किया है.

यद्यपि श्रीशंकराचार्य "अतएव प्रजापति होना यहां संसारविषयक ही है क्योंकि 'उस प्रजापतिकेलिये तब रमण शक्य नहीं था, वह अरतिके मनोभावसे ग्रस्त था' ऐसा अर्थ हमारे जैसे ही किसीकी कथा लगती है" (बृह.उप.भा.१।४।३) ऐसा कहते हैं किन्तु आगे चल कर "तब इस तरह स्त्रीरूप विषयकी लालसा रखनेवाले उस प्रजापतिने अपने-आपको ऐसा बना लिया, मानों स्त्रीका सहचारी हो. उसके सत्येप्सु होनेके कारण ही वह यह सारी सृष्टिके रूपमें इतना सब कुछ बन गया" (वहीं) इस निरूपणमें श्रीशंकराचार्य जहां सत्येप्सुकी सृष्टिभावापन्नता वर्णित करते हैं तो यह बहुभवन तो सर्वथा लोकविसदृश निरूपण बन जाता है. लोकमें कोई भी केवल संकल्पवशात् अपने-आपमेंसे दूसरे किसीको प्रकट कर नहीं सकता है; और न मनुष्यभावापन्न जीव केवल संकल्पवशात् गाय-बैल घोड़ा-घोड़ी गधा-गधी या चींटी-चींटा ही कभी बन सकता है. इससे सिद्ध होता है कि मैथुनार्थ प्रकट भी यह मिथुनसृष्टि लौकिक मैथुनकी प्रकियासे भिन्न ही किसी प्रक्रियासे प्रकट हुयी होगी. अतएव सृष्टिनिर्माताके वर्णित मनोभाव— "उसने सोचा कि 'सृष्टि स्वयं मैं ही बना हूं. मैंने ही यह सृष्टि बनायी है' और इस तरह वह स्वयं ही सृष्टि बन गया" (बृह.उप.१।४।५)— को श्रीशंकराचार्यद्वारा वर्णित "पुत्र या भार्या आदिके विकल या अविकल होनेपर 'मैं विकल या अविकल हो गया हूं', इस तरहके बाह्यधर्मोंको

आत्माके साथ भ्रान्तिवश जोड़ लेता है... इसी तरह अन्तःकरणके काम संकल्प विचिकित्सा अध्यवसाय आदि धर्मोंको भी." (ब्र.सू.भा.१।१।१) प्रकारतया तादात्म्याध्यासके रूपमें तो मान्य किया ही नहीं जा सकता है. फलतः कर्तृत्वके लौकिक तथा अलौकिक प्रकारोंमें परस्पर भेद तो मानना ही पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें कर्तृत्वप्रेरक अरति भय या मैथुनादि कर्मों को भी भिन्न प्रकारोंका ही मानना चाहिये था. फलतः प्रजापति या मनु को, इनका संसारी होना अनिवार्य हो तो, सृष्टिनिर्माताके रूपमें मान्य करनेके बजाय साक्षात् परमेश्वरको ही सृष्टिकर्ता मानना युक्ततर लगता है.

यहां वर्णित सृष्टिनिर्माताके जन्म-मरणशील संसारी होनेकी श्रीशंकराचार्यके द्वारा प्रदत्त तृतीय तथा चतुर्थ उपपत्तियां यों हैं: [३]इसी निरूपणमें इस आत्माके मर्त्य होनेका उल्लेख भी मिलता है कि "यों मर्त्य हो कर भी उसने अमृतोंका सृजन किया;" [४]और इसी तरह मन्त्रवर्णमें इस आत्माके जनमनेका भी उल्लेख मिलता है कि "जनमते हुवे इस हिरण्यगर्भको देखो."

इस सन्दर्भमें सर्वप्रथम [३]मर्त्यताके हेतुके विमर्शमें यह कथनीय है कि इसी उपनिषद्में आगे चल कर "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे... मर्त्यं च अमृतं च..."के भाष्यमें श्रीशंकराचार्यने स्वयं यह तो स्वीकारा है कि "ब्रह्मणः परमात्मनो रूपे — रूप्यते याभ्याम् अरूपं परं ब्रह्म..." (बृह.उप.भा.२।३।१). सो यहां 'मर्त्य होना' अब अपरमात्मा होनेके अव्यभिचारी हेतुके रूपमें मान्य नहीं हो पायेगा. वैसे प्रकृत सन्दर्भमें "ततो मनुष्या अजायन्त" (बृह.उप.१।४।३) निरूपणमें पहले उस प्रजापतिने जो मरणशील मनुष्योंका रूप धारण किया और बादमें "यच्छ्रेयसो देवान् असृजत्. अथ यन् मर्त्यः सन् अमृतान् असृजत, तस्माद् अतिसृष्टिः..." (बृह.उप.१।४।६) वचनोक्त प्रकारसे अमर देवताओंका भी रूप धारण किया. अतः उसी अभिप्रायवश मर्त्य और अमृत की बात कही जा रही है, ऐसा स्वीकारनेपर इस मर्त्यताको सृष्टिनिर्मातापर लागू करनेका कोई समुचित हेतु रह नहीं जाता है. अतः "प्रजापति स्वयं स्वरूपतः मर्त्य न होनेपर भी लीलया मर्त्यरूप धारण करता है" यही अभिप्राय स्वीकारना उचित लगता है.

[4]जन्मके उल्लेखके कारण इस सृष्टिनिर्माताको परमात्मतया स्वीकार नहीं करनेकी बातको माण्डूक्योपनिषद्की श्रीगौड़पादकी "स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते सदसत्सदसद् वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते" कारिकाके भाष्यके सन्दर्भमें देखा जाये तो परमात्माकी बात तो दूर किसी भी वस्तुका जन्म ही सिद्धान्ततः असम्भव कथा बन जाती है. वह भाष्यवचन यों है :—

> अतएव कुछ भी पैदा हो ही नहीं सकता है... स्वयं अपने-आपको तो कोई पैदा कर ही नहीं सकता, स्वयंके ही उत्पन्न न होनेके कारण. कोई भी घड़ा स्वयं अपने-आपको उत्पन्न कर नहीं सकता. न ही एक घड़े या कपड़े से दूसरा घड़ा या कपड़ा ही कभी उत्पन्न हो सकता है. परस्पर विरुद्ध होनेके कारण ही घड़ा और कपड़ा, दोनों मिल कर भी, कोई दूसरा घड़ा या कपड़ा उत्पन्न कर नहीं पाते हैं. फिर भी मिट्टीसे घड़ा और पितासे पुत्र भी पैदा होते समझमें तो आते ही हैं! यह तो सच है कि मूढ़ लोग ऐसे बोलते-समझते हैं कि "यह पैदा हुवा—वह पैदा हुवा" परन्तु विवेकी पुरुषोंका यह काम है कि ऐसी समझ और शब्दप्रयोग की परीक्षा करे कि क्या ऐसी समझ सच्ची समझ होती है कि गलत? परीक्षा करनेपर तो ऐसी समझ और शब्दप्रयोग के विषय घड़ा या पुत्र आदि केवल बोलनेभरकी ही बातें रह जाते हैं, "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" श्रुतिवचनके आधारपर (माण्डु.उप.भा.२-२।४).

यों इसे पारमार्थिक सिद्धान्त मान कर चलें तब तो प्रजापति या मनु की कथा तो दूर, किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति स्वीकारी नहीं जा सकती है. फिर भी परमार्थतः यही अभिप्रेत होनेपर भी व्यवहारमें मिथ्या जन्मको भी सम्भव मान कर चलें तब तो भगवद्गीताभाष्यमें स्वयं श्रीशंकराचार्यने जो स्वीकार रखा है उसके साथ इस विधानकी तुलना करनी पड़ेगी :—

> मूर्ख लोगोंके मनमें भगवान् वासुदेवके अनीश्वर या असर्वज्ञ होनेकी जो शंका-कुशंका उठती हैं उन्हें दूर करनेको श्रीभगवान्

कहते हैं—"मैंने बहोत सारे जनम लिये हैं... जिन्हें मैं जानता हूं... मैं क्योंकि सर्वदा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाला ही हूं. मेरी ज्ञानशक्ति कभी आवृत नहीं होती..." फिर तो नित्येश्वर होनेके कारण न तो धर्म और न अधर्म का ही कोई सम्पर्क सम्भव होनेसे भगवान्‌को जन्म क्यों लेना पड़ता है? इस बारेमें भगवान्‌का उत्तर यह है कि वे अज अर्थात् जन्मरहित होनेपर भी जन्म लेते हैं. इसी तरह भगवान् ऐसे अव्ययात्मा भी हैं कि उनकी ज्ञानशक्ति कभी क्षीण न हो पाती है. ऐसा होनेपर भी... अपनी वैष्णवी, त्रिगुणात्मिका माया कि जिसके वशमें यह सारा जगत् रहता है..., ऐसी उस अपनी प्रकृतिको अपने वशमें रख कर भगवान् प्रकट हो जाते हैं. मानों देहवान् जैसे बन जाते हैं. यह भगवान्‌की अपनी माया है कि जिससे वे ऐसे बन जाते हैं. परमार्थतः लोकमें जैसे साधारण जीवात्मा जन्म लेती हैं, भगवान् वैसे नहीं जनमते हैं" (भ.गी.भा.४।६).

यों इस वचनका सावधानतया अवलोकन करनेसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि 'जन्म होना' अनीश्वर होनेके अव्यभिचारी हेतुतया स्वयं श्रीशंकराचार्यको भी सर्वदा स्वीकार्य नहीं है. अतः "जनमनेके व्यावहारिक मिथ्या उल्लेखवशात् प्रकृतमें 'प्रजापति' पदसे परमात्माको अभिहित माना नहीं जा सकता," यह विधान भी उपपन्न तो नहीं होता है.

इसके बाद "'कर्मविपाककी प्रक्रिया समझाते हुवे स्मृतिमें भी ऐसा उपलब्ध होता है कि ज्ञानियोंकी इतनी गतियां—विराट् ब्रह्मा बन जाना, मन्वादि बनना, धर्म या धर्माभिमानी यमदेव बनना, अव्यक्त प्रकृति बनना अथवा महत् तत्त्व बनना—उत्तम तथा सात्त्विक मानी गयी हैं, अतः इस आधारपर भी यहां परम तत्त्वका प्रतिपादन अभिलषित नहीं माना जा सकता है." उपपत्ति बहोत विचारणीय नहीं रह जाती. क्योंकि सर्वप्रथम तो यह स्मृतिवचन जीवकी शुभगतियोंका निरूपण करता है, बृहदारण्यकोपनिषद्‌के प्रस्तुत वचनमें विवक्षित परमेश्वर है या प्रजापतिभावापन्न जीव इस बारेमें इदमित्थतया यहां कुछ भी कहना अभिप्रेत नहीं लगता है.

इसके बाद श्रीशंकराचार्यने श्रुतिनिरूपणमें परस्परविरुद्धताकी शंकाके

समाधानार्थ कैसी कल्पनायें करनी चाहिये इस बारेमें कुछ दिशानिर्देश दिये हैं :—

> यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि "ऐसे परस्परविरुद्धार्थके निरूपणवश श्रुतिका प्रामाण्य ही खण्डित हो जायेगा, क्योंकि विरुद्धवचनोंके समन्वयार्थ कुछ कल्पनायें कर लेनेमात्रसे ऐसे सारे तर्कविरोधोंका उपशम सम्भव है ही... श्रुतिवचनोंमें ऐसे विरोधाभास खोजते रहनेवाले तार्किकोंके पास आगमबल तो होता नहीं है सो "अस्ति-नास्ति—कर्ता-अकर्ता" आदि अनेकविध विरोधोंका चिन्तन करते रहनेके कारण वे शास्त्रार्थको इतना आकुल-व्याकुल बना देते हैं कि शास्त्रवचनोंके अर्थका निर्धारण दुष्कर हो जाता है. इसके विपरीत जो तार्किकताके दर्पको छोड़ कर केवल शास्त्रोंका ही अनुसरण करना चाहते हैं, उन्हें तो देवताविषयक शास्त्रार्थ भी किसी प्रत्यक्षके विषय जितना ही निश्चित लगता है.

इस विषयमें वैसे तो विशेष कुछ भी कथनीय हो नहीं सकता, क्योंकि यह तो श्रुतिप्रामाण्यरक्षणार्थ मायावादको अभिमत श्रुतिव्याख्यानके आदर्शभूत निकषोंका ही केवल निरूपण है. इसका प्रकृत विषयसे कोई सम्बन्ध नहीं है, फिरभी, इस विषयमें भी ब्रह्मवादके दृष्टिकोणको समझ लेनेको कुछ मुद्दे ध्यानमें रख लेने उपकारक होंगे. श्रुतिप्रामाण्यके रक्षणार्थ, या परस्परविरुद्धतया प्रतीत होते श्रुतिवचनोंके परस्परसमन्वयार्थ; अथवा तर्कविरोधोंके उपशमनार्थ किसी भी तरहकी कल्पना करलेसे पहले यह निर्धारित कर लेना आवश्यक है कि वह कल्पना परस्परविरुद्धतया प्रतीत होती श्रुतियोंके दो वचनोंमेंसे किसी एक श्रुतिके साथ पक्षपात तो कहीं नहीं कर रही है! अर्थात् ऐसी कल्पनाद्वारा दूसरी श्रुतिको बाधितार्थ या गौणार्थ की निरूपिका सिद्ध करने तो कहीं हम नहीं जा रहे हैं! अतएव महाप्रभुने अणुभाष्यमें यह एक मननीय स्पष्टीकरण दिया है :—

> ...तबतो अन्योन्यविरोधका बहाना बना कर किसी एक श्रुतिवचनके मुख्यार्थको बाधित मान कर चलना पड़ेगा. यों स्वरूपके बजाय कार्यके गौण होनेसे प्रपञ्चप्रतिपादक वचनोंको बाधितार्थ मान लेनेकी कल्पना करनी पड़ेगी. ऐसा करना, किन्तु, उचित नहीं होता,

इसीलिये ब्रह्मसूत्रकार इस जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-लयादिमें ब्रह्मकी अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता प्रतिपादित करनेको उसे समवायी या उपादान भी सिद्ध करना चाहते हैं. इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म जैसे "अस्थूल अनणु अह्रस्व..."आदि श्रुतिवचनोंके आधारपर अविश्व रूप होता है ऐसे ही अविक्रिय ब्रह्म विश्वकर्ता एवं विश्वात्मक भी हो सकता है. मायाको विरुद्धधर्माश्रय माननेके बजाय ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय स्वीकार लेना ब्रह्मकी श्रौत एकमेवता और अद्वितीयता के सिद्धान्तके अधिक उपयुक्त होता है (ब्र.सू.भा.१।१।३).

अर्थात् तार्किकताके दर्पको शान्त करके श्रुतार्थाबाधक श्रौततर्क और श्रुतार्थबाधक शुष्कतर्क का विवेक रखनेपर जैसे तात्पर्यनिर्वाहक ऊहोंकी कल्पना श्रीशंकराचार्य करते हैं यथा— "[६/क]जगत्सृष्टाकी संसारिता औपाधिकी ही होती है पारमार्थिकी नहीं. स्वतः तो वह असंसारी ही रहता है." इस विषयमें वाल्लभ दर्शन यह कहना चाहेगा कि सर्वप्रथम तो जगत्सृष्टा स्वयंमेंसे संसारी जीवोंको लीलया प्रकट करता है स्वयमेव संसारी बने बिना ही. दूसरे ऐसी दुर्घटना उसमें उसके किसी उपाधिसे ग्रस्त होनेके कारण घटित नहीं हो जाती प्रत्युत सर्वभवनसामर्थ्य सत्यसंकल्प और लीलास्वभाववश ही प्रकट होती है. [६/ख]"इसी तरह हिरण्यगर्भ एक है या अनेक है इस विषयमें भी उभरते परस्पर विरोधाभासके बारेमें एकत्वको अनौपाधिक और अनेकत्वको औपाधिक मान लेनेपर सारे विरोधाभास शान्त हो जाते हैं..." इस विषयमें वाल्लभ दर्शनकी धारणा यह है कि एकत्व स्वाभाविक होता है तथा अनेकत्व ऐच्छिक, स्वेतरोपाधिवश औपाधिक नहीं. क्योंकि किसी सद् या सदसद्विलक्षण भी अब्रह्मात्मक उपाधिकी कल्पना करनेसे ब्रह्मका एकमेवाद्वितीय होना बाधित हो जायेगा. अनेकताके हेतुको ब्रह्मात्मक स्वीकारनेपर उसे 'इच्छा' कहो 'माया' कहो 'उपाधि' कहो 'प्रकृति' कहो 'शक्ति' कहो कुछ भी विशेष अन्तर नहीं पड़ता. [६/ग]"यहां यह और लक्ष्यमें रखने लायक बात है कि हिरण्यगर्भकी उपाधिके अतिशय शुद्ध होनेके कारण प्रायः 'हिरण्यगर्भ' पदसे परतत्त्वका ही निरूपण अभिप्रेत होता है जबकि उसकी संसारिता तो अपवादरूपेण कभी-कहीं दिखलायी जाती है. जीवात्माओंके बारेमें तो, 'तत्त्वमसि' जैसे वचनोंके अपवादोंको छोड़ दें तो, उपाधिके अतिशय अशुद्ध होनेके कारण उसे संसारीके रूपमें

ही श्रुति-स्मृतियोंमें निरूपित किया जाता है." हिरण्यगर्भका संसारी होना एक बात है और संसारमूल होना दूसरी बात. अतः हिरण्यगर्भकी सृष्टिमूलताको समझानेकेलिये बहोत सारे सांसारिक भावोंसे युक्त सा उसे दिखलाया जाता है, एतावता उन मूलभूत भावोंको आविद्यक या अज्ञानजन्य मान लेना आवश्यक नहीं. कुशल अभिनेता किसी चरित्रके अभिनयार्थ हर्ष शोक मोह मद मात्सर्य आदि अनेक भावोंको प्रकट करता है, एतावता उस अभिनेय चरित्रवाले व्यक्तिकी तरह अभिनेताका भी उन भावोंसे ग्रस्त होना किसी अरसिक दर्शककी ही भ्रमणा हो सकती है! औपाधिकद्वैतका सिद्धान्त तो ब्रह्मवादका त्याग कर मायावाद अपनानेकी कथा होनेसे कुछ भी कथनीय ही नहीं है. ६/घ"श्रुति-स्मृतियोंमें, जब शुद्ध या अशुद्ध किसी भी उपाधिकी अपेक्षा रखी नहीं जाती, तब तो सभीका परतत्त्वतया निरूपण अभिप्रेत होता है." इस विषयमें वाल्लभ दर्शन यह कहना चाहेगा कि शुद्धि या अशुद्धि के पारमार्थिक द्वैत ब्रह्मने अपनी लीलामें प्रकट किये हैं. अतः रमणार्थ प्रकट इस द्वैतका भान लीलाविशिष्ट ब्रह्मके बारेमें आसक्तिवाले जीवको तो ब्रह्माद्वैतके भानको गौण बना कर भी हो ही जाता है; अथवा, ब्रह्माज्ञानीको होता है. ब्रह्मज्ञानीकी चित्तवृत्ति लीलानुरूपा होनेके बजाय ब्रह्मस्वरूपानुरूपा होती है. अतः स्वयं चित्तवृत्तिके अद्वैताकारिका हो जानेके कारण ब्रह्मज्ञानीको द्वैतकी स्फूर्ति हो नहीं पाती. तो ऐसे सारे द्वैत ब्रह्मकी लीलाके रूपमें मान्य होनेके कारण ये निकष वाल्लभ दर्शनको स्वीकार्य नहीं हैं.

अतएव महाप्रभु कहते हैं:—

"ब्रह्मके जगत्कर्तृत्वको श्रुतिविरुद्ध नहीं माना जा सकता है. जैसे सत्यत्व ज्ञानरूपत्व आनन्दरूपत्व आदि स्वरूपात्मक धर्म होते हैं, ऐसे ही कर्तृत्व भी स्वरूपात्मक धर्म क्यों नहीं हो सकता? ब्रह्मको सर्वथा निर्धर्मक माननेपर तो सत्यत्वादि धर्मोंका सामानाधिकरण्य भी उपपन्न नहीं हो पायेगा. "सत्यं ज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म" जैसे वचनोंमें भिन्न-भिन्न धर्मोंके विवक्षित होनेपर ही इन पदोंका सामानाधिकरण्य उपपन्न हो पाता है. देहाध्यासप्रयुक्त होनेके कारण कर्तृत्वको संसारिधर्म ही मान लेना भी उचित नहीं है, क्योंकि

प्रापञ्चिक कर्तृत्व देहाध्यासप्रयुक्त होता है एतावता अलौकिककर्तृत्वको देहाध्यासप्रयुक्त माना नहीं जा सकता (अन्यथा लौकिक वस्तुओंकी सत्ता व्यावहारिकी या प्रातिभासिकी होती एतावता ब्रह्मकी भी सत्ता व्यावहारिकी या प्रातिभासिकी माननी पड़ेगी)... प्रपञ्चमें सत्ताका भान ही नहीं होता ऐसा तो कहा नहीं जा सकता है. अतएव उसे व्यावहारिक सत्त्वके रूपमें स्वीकारना पड़ा है. यदि कहा जाये कि वह तो अधिष्ठानसत्ता ही तादात्म्याध्यासतया आरोपित नामरूपोंमें भी भासित होती है. तब तो ब्रह्मगत कर्तृत्व ही तादात्म्याध्यासापन्न जीवभावके आरोपमें भी भासित होता है, ऐसा भी स्वीकार लेनेमें भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये थी... अतः अंशिरूप ब्रह्मगत कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्म ही जीवात्माओंमें अंशतया प्रकट होते हैं, परमात्माके कारयितृत्व-भोगप्रदत्व आदि होनेके कारण" (ब्र.सू.भा.१।१।२).

:: सच्चिदानन्द ब्रह्मकी आत्मक्रीड़ा सृष्टिक्रीड़ा और रासक्रीड़ा ::

अतएव सृष्टिवृक्षके पुनःपल्लवन-फलनमें प्रवृत्त होनेसे पूर्व आदिबीजरूप भगवान्‌की जो स्तुति ब्रह्माजीने की है, उसके भागवतसुबोधिन्यनुसारी निरूपणमें यह स्पष्टतया उपलब्ध होता है कि जनकब्रह्मा पालकविष्णु संहारकमहादेव प्रजापति और मनु आदि अवान्तरकर्ता तथा अव्यक्तमहदादि अवान्तरोपादानकारण रूपी शाखा-प्रशाखाओंके द्वारा अनेकविध नामरूपोंमें यह सृष्टि प्रकट हुयी है. अतः आदिबीजरूपतया भगवान् ही स्वयं भुवनद्रुमरूप बने हैं. अतः इन अवान्तरकर्ताओंके चित्त यदि भगवत्पर न रह पाते हों तो अहंकारवश उन्हें गर्व होने लगेगा तथा ऐसे प्रमादके कारण इस पुण्य-पाप सुन्दरासुन्दर शुभाशुभ सुख-दुःख आदि अनेक रूपोंवाली सृष्टिमें वैषम्य प्रकट करनेके कारण सृष्टिरचनामें अवान्तरकर्ताओंको प्रमाद पक्षपात निर्दयता आदि दोषोंके अपराधी मानना पड़ेगा. अतः इस सृष्टिको भगवान्‌की निज आत्मरमणात्मिका शक्तिद्वारा ही प्रकट की हुयी स्वीकार लेनी चाहिये (द्रष्टव्य : सुबो.३।९।१६ – २३).

सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके आत्मरमणके प्रमुख दो रूपों — [१]देश-काल-स्वरूपमें अपरिच्छिन्न आनन्दात्मक नाम-रूप-कर्मोंके द्वारा किये जाते रमण; तथा, [२]आनन्दांशके निगूहनद्वारा

देश-काल-स्वरूपमें परिच्छिन्न नाम-रूप-कर्मोंमें प्रकट हो कर किये जाते रमण—के अलावा एक तीसरे और प्रकार [3]सदंशके भी निगूहनद्वारा केवल चेतनामें भासित होते नाम-रूप-कर्मोंको प्रकट कर किये जाते रमणको इस सन्दर्भमें जान लेना अत्यावश्यक है. अन्यथा श्रीमद्भागवतवर्णित रासलीलाके स्वरूपका यथार्थ बोध शक्य नहीं हो पाता.

अतएव अपने तत्त्वार्थदीपनिबन्धके आद्य शास्त्रार्थ प्रकरणके आरम्भमें ही महाप्रभु कहते हैं:—

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे।
रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः ॥

अपने इस मङ्गलाचरणमें वर्णित भगवान्‌की त्रिविध क्रीड़ा या रमण की व्याख्या स्वयं महाप्रभुने यों की है—"[1]रूपनामविभेदेन यः क्रीडति, [2]रूपनामविभेदेन यो जगत् (भूत्वा क्रीडति), [3]रूपनामविभेदेन यतो जगत् (क्रीडति)." यहां हम देख सकते हैं कि क्रीड़ाके प्रथम "यः-क्रीडति" प्रकारमें सच्चिदानन्द श्रीकृष्णका सर्वांशमें आत्मक्रीड़ामें कर्तृत्व निरूपित हुवा है. रासक्रीड़ा भी आत्मक्रीड़ाका ही एक विलक्षण प्रकार है, यह आगे स्पष्ट किया जायेगा. क्रीड़ाके द्वितीय "यो जगद् भूत्वा क्रीडति" प्रकारमें एकमेवाद्वितीय अखण्ड सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्म, अपने आनन्दांशके निगूहनद्वारा, अनेक सदंशों एवं चिदंशों के खण्डोंमें अनेकवद्भावापन्न हो कर की जाती सृष्टिक्रीड़ा करता है. क्रीड़ाके तृतीय "यतो जगत् क्रीडति" प्रकारमें सदानन्दांशके निगूहनद्वारा अर्थात् ब्रह्म अपने सदंशके साथ नामरूपोंमें अन्वित हुये बिना उन अनेकविध नामरूपोंका अपने चिदंशोंके भीतर केवल आभास प्रकट करनेकी संसारक्रीड़ा भी करता है, ऐसा विवक्षित है. महाप्रभुका कहना है कि क्रीड़ाके इन तीनों ही प्रकारोंको, वैसे तो अन्य भी अनेक प्रकार हो सकते हैं, स्वीकारनेपर ही ब्रह्मका स्वातन्त्र्य अक्षुण्ण रहेगा. अन्यथा ब्रह्मका स्वरूप, चाहे जैसा क्यों न हो परन्तु, सृष्टिनिर्माणमें उसे या तो जीवात्माके प्राक्तन कल्पके कर्मोंके आधीन या फिर मायाविद्या जैसी उपाधिके आधीन होनेसे सृष्टिनिर्माणार्थ विवश होता स्वीकारना पड़ेगा. जिज्ञास्य ब्रह्मके लक्षणतया ब्रह्मसूत्रकारने

भी सर्वप्रथम उसे इस सृष्टिका उपादान-कर्ता स्वीकारा है. यह इस बातका प्रमाण है कि अन्यथा रीतिसे ब्रह्मको जाननेपर, कमसे कम स्वतो-अप्राकट्यके उदाहरणमें तो, मुक्ति सम्भव ही नहीं है.

:: "इन्द्रो <u>मायाभिः</u>, नतु मायया, पुरुरूप ईयते!" ::

भगवत्क्रीड़ाके इन तीन प्रकारोंमें "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृह.उप.२।५।१९) वचनमें निरूपित अनेकविध माया साधन या करण बनती हैं. भागवतके पूर्वोदाहृत वचनमें इनके जो बारह-तेरह प्रमुख भेद गिनाये गये: श्री पुष्टि गी कान्ति कीर्ति तुष्टि इला ऊर्जा विद्या अविद्या इच्छा(सत्यसंकल्परूपा) माया आदि. इनमेंसे भगवान्ने किस रूपको धारण करते समय या कैसी लीला करते समय कौन सी शक्तिका उपयोग किया है, इसे भगवल्लीलाके समीचीन बोधकेलिये जान लेना आवश्यक होता है. अन्यथा 'माया' शब्द सुनते ही, "जो कुछ मायिक होता है वह मिथ्या होता है" जैसी प्राग्धारणाओंके वश भगवत्स्वरूप या भगवल्लीला को भी मिथ्या मान लेनेकी धांधल हो ही जाती है. और यह पुनः इस ब्रह्ममीमांसाको भागवती मीमांसासे अनुपबृंहित रखनेकी ही धांधलमें पर्यवसित हो जाती है.

भागवती मीमांसासे अनुपबृंहित ब्रह्ममीमांसा करनेपर सच्चिदानन्द(= 'सत्+चित्+आनन्द')रूप ब्रह्मकी सदंशात्मिका शक्ति, चिदंशात्मिका शक्ति या आनन्दांशात्मिका शक्ति के प्रमुखतम भेदोंकी भी अक्षम्य उपेक्षा करनेका अपराधी होना पड़ता है.

स्वयं शांकर दर्शनमें भी मूलाविद्या-तूलाविद्या, जीवाश्रिता-ब्रह्माश्रिता, आवरणरूपा-विक्षेपरूपा आदि अनेक भेद माया-अविद्याके स्वीकारने ही पड़े हैं. आत्यन्तिक अद्वैतका सिद्धान्त ब्रह्मके बारेमें कारगर हो भी जाये परन्तु अविद्याके बारेमें वह सारेके सारे व्यवहारों या प्रतिभासों की समुचित व्याख्या दे नहीं पाता. क्योंकि ब्रह्मज्ञानके बाद भी देहाध्यासकी शक्यताका वृत्तान्त आवरणशक्तिके निवृत्त होनेपर भी विक्षेपशक्तिकी अनुवृत्तिकी कल्पनाद्वारा

ही उपपन्न हो पाता है. ऐसी स्थितिमें शक्तिभेदको न स्वीकारनेपर भागवतवर्णित प्रमुख द्वादशविध शक्तियोंके विशिष्ट स्वरूपोंको जान पानेकी तो दुराशा दूरापास्त ही ठहरती है.

एक गुलाबके फूलमें उसकी वर्णाकृति कोमलस्पर्श तथा सुगन्ध खण्डशः नहीं रहते हैं फिर भी कागज़ या चित्र में स्पर्श-गन्धरहित वर्णाकृतिके खण्ड प्रकट हो सकते हैं. सुगन्धरहित गुलाबके फूलोंमें वर्णाकृति तथा कोमलस्पर्श भी खण्डशः प्रकट होते ही हैं. इसी तरह रूहे-गुलाबमें वर्णाकृति तथा कोमलस्पर्श के बिना ही सुगन्ध भी खण्डशः प्रकट हो ही जाती है. इसी तरह ब्रह्ममें सत् चित् तथा आनन्द के अखण्डैकरस हो कर रहनेके बावजूद सृष्टिगत जड़वस्तुओंमें सदंशके तथा जीवात्माओंमें चिदंशके खण्डोंमें प्राकटचको उपपन्न मानना चाहिये. फलतः असंख्य अपरिमित शक्तियां तथा शक्तिमान् बह्म भी अखण्डैकरस होनेपर भी सृष्टिनिर्माणार्थ द्वैतखण्डोंमें प्रकट होते हैं.

जैसा कि स्पष्टतया देखा जा सकता है कि इला अविद्या ऊर्जा शक्तियां ब्रह्मके सदंशमें रही विविध प्रकारकी सामर्थ्य हैं. गी विद्या व्यामोहकमाया आदि ब्रह्मके चिदंशमें रही शक्तियां हैं. इच्छा श्री पुष्टि तुष्टि सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया आदि ब्रह्मके आनन्दांशमें रही शक्तियां हैं. आत्माराम आप्तकाम परमात्मामें प्रकट होती इच्छाशक्ति साधारण जीवात्माओंके भीतर पैदा होती इच्छाकी तरह मानी नहीं जा सकती. सर्वरूप सर्वसम सर्वात्मा भगवान्‌की किसी विशेष जीवात्मापर कृपाके रूपमें प्रकट होती पुष्टिशक्ति भी साधारण मनुष्यमें पैदा होती सहानुभूति या दया की तरह नहीं मानी जा सकती है. इसी तरह एकमेवाद्वितीय होनेपर भी अपने किसी स्वरूप या सामर्थ्य को तिरोहित तो दूसरी किसीको आविर्भूत रखते हुवे अनेकानेक नामरूपोंको धारण कर लेना उस ब्रह्मकी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्तिका कार्य है. इसके शास्त्रीय उदाहरण कल्पवृक्ष कामधेनु कायव्यूहयोग आदि भी हो सकते हैं, केवल एक जादुगरके अनेक ऐन्द्रजालिक रूप ही नहीं. ये सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया जैसी शक्तियां यदि आनन्दात्मिका शक्तियां न हों तो ब्रह्मका परमात्मा भगवान् या पुरुषोत्तम होना ही

अनुपपन्न हो जायेगा. ठीक वैसे ही जैसे हम साधारण जीवात्मायें अपनी आत्मिक एकरसतामें अज्ञानवश पुत्र भ्राता पति या पिता होनेके अनेकविध अध्यास पैदा कर लेते हैं.

वैसे कहनेको तो कहा जाता है कि उपासनार्थ शास्त्रोपदिष्ट रूपकल्पनाद्वारा अरूप ब्रह्म भी इष्टफल प्रदान कर सकता है, यह विद्याशक्तिका रहस्य है. जैसे अंशांशिभावरहितं शुद्धचेतनामें अविद्याशक्तिके वश अंशकल्पना होनेपर अन्तःकरणाध्यास प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यास देहाध्यास और स्वरूपविस्मृति जैसी असम्भव दुर्घटना भी घटित हो जाती हैं, ऐसे ही विद्याशक्तिके वश जिसका जो रूप न हो उसकी शास्त्रोपदिष्ट अन्यान्य रूपोंमें भी कल्पना करनेपर यथोपदेश इष्टफलोंकी भी प्राप्ति शक्य ही है.

ऐसा कहनेवाले, परन्तु, एक अन्य मुद्देकी यह बात तो भूल ही जाते हैं कि उपासनार्थ रूपकल्पना जैसे साधक कर सकते हैं वैसे ही उपासकानुग्रहार्थ रूपधारण करनेकी भगवान्‌की भी कोई पुष्टिशक्ति क्यों नहीं हो सकती है? "तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति" (मुद्.उप.३); या इसे भागवतके शब्दोंमें कहना हो तो, "यद्-यद्-धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्-तद्-वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय" (भाग.३।९।११) वचन भी मननीय हो सकता है. इस साधकानुग्रहार्थ धारण किये रूपको यदि दिव्य न मानें तो पुष्टिशक्ति और व्यामोहकशक्ति का पार्थक्य ही व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा. अतः शुद्धचेतनामें अविद्यामूलक देहाद्यध्यास जैसा ही "'आदित्यो ब्रह्म' इति आदेशः" (छान्दो.उप.३।१९।१) वचनोपदिष्ट ध्यान भी यदि अध्यास ही हो तो उसे भी अनर्थरूप क्यों नहीं माना जाता? फलतः अविद्यामूलक अध्यास और विद्यारूप उपासना के बीच कुछ न कुछ अन्तर तो शास्त्रप्रामाण्यवादियोंको स्वीकारना ही पड़ेगा. इसी तरह विद्यामूलक उपासनार्थ रूपकल्पना और उपासकानुग्रहार्थ दिव्यरूपधारण के बीच भी कुछ न कुछ तारतम्य तो स्वीकारना ही पड़ेगा. अन्यथा साधारण प्राणीके आविद्यक कर्मोंके बन्धनमूलक जन्म और परमेश्वरके आत्ममायामूलक जन्म के बीच भी "आत्मनो मायया न परमार्थतो लोकवत्" (गी.शां.भा.४।७) ऐसा स्वयं श्रीशंकराचार्यद्वारा स्वीकृत पार्थक्य भी उपपन्न नहीं हो पायेगा. अतः शास्त्रोपदिष्ट उपासनांग रूपकल्पनाद्वारा इष्टफलदायिनी

विद्याशक्तिसे पृथक् ही, उपासक या अनुपासक आदि जो भी निजानुग्रहभाजन हों ऐसी, जीवात्माओंके समक्ष अपने दिव्यरूपद्वारा मुक्ति या भक्ति प्रदायक रूपोंको भगवान् अपनी पुष्टिशक्तिद्वारा ही प्रकट करते हैं. यह भी स्वीकारना ही पड़ेगा.

इसी तरह अज्ञान रजतसंस्कार सादृश्य और अन्धकार के कारण शुक्तिपर प्रकट होते रजतके विवर्तकी तरह ही यदि ब्रह्ममें भी सृष्टिके विवर्तको स्वीकारना हो तो परमेश्वरके सत्यसंकल्प होनेकी शक्तिकल्पना भी अनावश्यक ही ठहरती है. अतएव सृष्टि, यदि परमेश्वरके सत्यसंकल्पवश यथाश्रुत रूपमें प्रकट हुयी हो तो, अविद्या या व्यामोहिका माया से अतिरिक्त एक सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाको भी स्वीकारना ही पड़ेगा. यदि सर्वभवनसामर्थ्यवश तथा सत्यसंकल्पवश परब्रह्म परमात्मा सृष्टिके अनेकानेक रूप धारण कर सकता हो तो, "उसने कामना की, 'मैं अनेक बन जाऊं'. उसने...यह सब कुछ रचा, यह जो भी कुछ है, उसे रच कर वह इसमें प्रविष्ट हो गया. इस तरह प्रविष्ट हो कर वह सत् और त्यत् भी बन गया..." (तैत्ति.उप.२।६) न्यायानुसार जैसे आनन्दांशके निगूहनद्वारा आत्मोपादानक नाम-रूपोंको उसने सिरजा वैसे ही उनके बीच सच्चिदानन्दात्मक नाम-रूपोंको भी वह क्यों प्रकट नहीं कर सकता?

इन्हीं सच्चिदानन्दात्मक नाम-रूपोंके भक्ति/मुक्ति प्रदायक स्वभावके निरूपणार्थ सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायासे पृथक् योगमाया भी स्वीकारी गयी है, 'ब्राह्मण-परिव्राजक' न्यायेन.

इन त्रिविध मायाओंका निरूपण इन शास्त्रवचनोंमें भी देखा-परखा जा सकता है:—

सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मूल तथा उसकी अवान्तररूपा अव्यक्तप्रकृति माया: ...मायी सृजते विश्वम् एतत्...मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता.उप.४।९-१०), "भिन्ना प्रकृतिरष्टधा...प्रकृतिं विद्धि मे पराम्...दैवी ह्येषा गुणमयी

मम माया...मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (गीता.४।४-५-१४—९।१०), "प्रकृतिर्ह्यस्योपादानम् आधारः पुरुषः परः सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत् त्रितयं त्वहम्" (भाग.११।२४।१९).

योगमाया : परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वेता.उप.६।८), "मायाविग्रहधारिणः" (कृष्णोप.१९), "सम्भवाम्यात्ममायया"—"रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्" (गीता.४।६—११।४७), "यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलम्" (भाग.३।२।१२).

व्यामोहकमाया : तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः" (श्वेता.उप.४।६), "न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः माययापहृतज्ञानाः" (गीता.७।१५) "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां (भाग.२।९।३३).

इन सूक्ष्म प्रभेदोंको भलीभांति समझ लेनेपर भागवतके दशमस्कन्धमें आते फलप्रकरण (अध्याय : २९-३२) में वर्णित भगवल्लीलाका भी वास्तविक स्वरूप समझनेमें कोई कठिनाई नहीं रह जाती. सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशात्मना नाम-रूप-कर्मोंके व्याकरणवाली सृष्टिलीलाके प्रकारसे पृथक् ही किसी प्रकारसे स्वयं श्रीकृष्णका भूतलपर प्राकट्य होता है. सत् चित् या आनन्द में से किसी भी अंशके निगूहनके बिना ही श्रीकृष्णके निज दिव्य नाम-रूप-कर्मोंके व्याकरणके रूपमें इसे समझा भी जा सकता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं—"उसी परमकाष्ठापन्न वस्तुके कभी जगदुद्धारार्थ अखण्ड पूर्णतया प्रादुर्भूत होनेपर उसे 'कृष्ण' कहा जाता है" (त.दी.नि.१।१) तथा —"'कृष्ण' शब्दद्वारा परम तत्त्वकी बात कही जा रही है. क्योंकि 'मुझे अपने भीतर रहा परमसौन्दर्य प्रकट करना है' ऐसी इच्छाके साथ जब कभी वह साकार प्रकट हो जाता हो तो उसे 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है" (त.दी.नि.३।१।१).

:: दशमस्कन्धोक्त लीलाका यथार्थ स्वरूप ::

अतएव दशमस्कन्धके मुख्य वर्ण्यविषयके बारेमें प्रचलित मतभेदोंकी

विवेचना करते हुवे महाप्रभुका कहना है कि न तो दशमस्कन्धीय लीलाओंको (क)सर्गादि नवलक्षणोंसे लक्ष्य आश्रयरूप श्रीकृष्णकी लीला होनेके कारण, आश्रयलीलाके रूपमें स्वीकारा जा सकता है; और न ही (ख)भगवान्‌ने अवतीर्ण हो कर दुष्ट राजाओंका जो निरोध(निग्रह) किया था इस अर्थमें निरोधलीलाके रूपमें ही.

(क)शांकर सम्प्रदायानुगामी भागवतव्याख्याकार श्रीश्रीधरस्वामी दशमस्कन्धका वर्ण्य-विषय आश्रयलीला मानते हैं. इसे महाप्रभु स्वीकारते नहीं हैं और इस अस्वीकारके वाल्लभ हेतु ये हैं:—

[1]दशमस्कन्धमें वर्णित सर्वाश्रयरूप परमात्माका केवल स्वरूप ही लीलाके अर्थभूत स्वरूपका निर्धारक नहीं हो सकता है. क्योंकि आश्रयका स्वरूप लक्ष्य है तथा सर्ग आदिके निरूपक तृतीयस्कन्धादिसे ले कर मुक्तिके निरूपक एकादशस्कन्ध पर्यन्तकी लीलायें लक्षणरूपा हैं. सो नवविध लक्षणोंकी अपेक्षा रखनेवाले आश्रयरूप लक्ष्यका वर्णन लक्षणनिरूपणसे पूर्व अर्थात् एकादशस्कन्धसे पहले दशमस्कन्धमें कर देना सर्वथा असमञ्जस ही होगा. [2]यदि दशममें ही आश्रयका निरूपण स्वीकार लिया जाता है तो अग्रिम एकादश और द्वादश स्कन्धोंकी कथायें फलसिद्ध हो जानेके कारण निरर्थक सिद्ध होंगी. [3]तृतीयादि स्कन्धोंसे प्रारम्भ करके उत्तरोत्तर आते स्कन्धोंमें प्रतीयमान कार्य-कारणभाव खण्डित हो जायेगा, यदि बीचमें आते दशमस्कन्धमें अन्तिम आश्रयभावापत्तिकी लीलाकी कल्पना कर ली जाती है तो. [4]जिन श्रीकृष्णके वर्णनके कारण दशमस्कन्धका वर्ण्यविषय आश्रयलीला माना जा रहा है, उनका वर्णन तो एकादशस्कन्धमें भी उपलब्ध होता ही है, तो वहां भी आश्रयलीला क्यों नहीं मानी जाती? [5]शाब्द क्रमसे आर्थ क्रमके बलवान् होनेकी बात ठीक होनेपर भी दशमस्कन्धके अर्थका गम्भीरताके साथ विचार करनेपर शाब्द और आर्थ दोनों ही क्रम सुरक्षित रह सकते हों तो व्यर्थ शाब्द क्रमको गौण क्यों बनाना चाहिये? दशमस्कन्धमें वर्णित भगवच्चरित्रकी एक विशेषता या अपूर्वता, जो भारपूर्वक निरूपित हुयी है वह, तो यही है कि भगवान्‌की विविध लीलाओंके कारण लीलान्तःपाती जीव कैसे प्रापञ्चिक विषयोंको भूल कर

निरन्तर भगवान्के चिन्तनमें अथवा कैसे विषयासक्तिसे निवृत्ति पा कर भगवान्के स्वरूपमें या लीलानन्द में कितने तन्मय हो गये! इससे सिद्ध होता है कि दशमस्कन्धार्थ निरोधलीला ही है कि जिसका अभिप्राय अपने अनुग्रहभाजनोंके बीच प्रकट हो कर भगवान्के द्वारा की गयी ऐसी लीला है कि जिससे लीलान्तःपाती जीवोंमें अनायास भक्ति प्रकट हो जाये. [६]वैसे 'आश्रय' शब्दका अर्थ तो वही है जो "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते(=सर्ग-विसर्ग), येन जातानि जीवन्ति(=स्थान-पोषण-ऊति-मन्वन्तर-ईशानुकथा-निरोध), यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति(=मुक्ति-लय), तद्...ब्रह्म(=आश्रय)," (तैत्ति.उप.३।१) वचनमें कहा गया है. ऐसी स्थितिमें आश्रयके जैसा स्वरूप यहां श्रीकृष्णलीलाके अन्तर्गत लीलानायकका निरूपित नहीं हुवा है. वह तो द्वादशस्कन्धमें ही प्रलयाधिष्ठान या प्रलयशेषतया निरूपित होता स्वीकारा जा सकता है.

(ख)श्रीबोपदेव दशमस्कन्धका वर्ण्य-विषय भूभाररूप दुष्ट राजाओं या असुरों का दमन मानते हैं. महाप्रभु दशमस्कन्धार्थभूत निरोधकी यह व्याख्या भी स्वीकारते नहीं हैं. क्योंकि :—

[१]दशमस्कन्धकी शुरुआत या अन्त में तो दुष्टदमनलीला मिलती नहीं है. [२]केवल दुष्टोंके निग्रहको इस स्कन्धका वर्ण्यविषय माननेपर तो निरोधका जो लक्षण स्वयं भागवताभिमत है—"शक्तिभिः सह अस्य आत्मनः अनुशयनं निरोधः" वह भी उपपन्न नहीं हो पायेगा. [३]स्वीकृत लक्षणविशिष्ट लीलाके न होनेपर यहां वर्णित लीला दशविधलीलासे अतिरिक्त ही कोई सिद्ध हो जायेगी. [४]प्रथमस्कन्धमें मिलती कुन्तिस्तुति (भाग.१।१०।१९) के अनुसार भगवान्का प्राकट्य भक्तियोगवितानार्थ वर्णित हुवा है, वह भी असंगत हो जायेगा. [५]पूर्वोत्तर स्कन्धोंके बीच रहा कार्य-कारणभाव खण्डित हो जायेगा. [६]केवल दुष्टदमनको दशमस्कन्धका मुख्य वर्ण्यविषय माननेपर उल्लिखित लक्षण भी संगत नहीं होगा. अतः दुष्ट जीवोंके निरोधके अलावा सुष्ठु जीवोंके निरोधको भी दशमका वर्ण्यविषय मान लेनेपर केवल कुन्तिस्तुतिकी ही नहीं प्रत्युत उल्लिखित निरोधलीलाके लक्षणकी भी संगति बैठ जाती है. नवमस्कन्धका वर्ण्यविषय भक्ति है. ऐसे भक्त्यर्ह जीवोंकी

भक्तिको प्रापञ्चिक विषयोंकी आसक्तिसे रहित बना कर स्वयं अपनेमें निरुद्ध कर लेनेवाली श्रीकृष्णलीला दशमस्कन्धमें निरूपित हुयी है. विषयासक्तिरहित भगवद्भक्ति शुद्धा भक्ति होती है. अतएव दशमस्कन्धमें सर्वत्र मुख्यतया प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का ही निरूपण मिलता है. सो उसे मुख्य वर्ण्यविषयतया मान्य करना चाहिये. अपने लीलान्तःपाती जीवोंकी तामसता राजसता और सात्त्विकता के अनुरूप भगवान्ने भी ऐसे ही रूपोंमें ऐसी ही लीलायें की.

:: महाप्रभुको अभिमत भगवत्प्राकट्यका प्रयोजन ::

महाप्रभुने यह भी स्पष्ट किया है कि श्रीकृष्णका भूतलपर प्राकट्य चार प्रयोजनोंको पूर्ण करने हुवा है : [१]भूभारहरणार्थ, [२]साधुजनरक्षणार्थ, [३]दुष्टदमनार्थ; तथा [४] भक्तियोगवितानार्थ अर्थात् भक्तियोगप्रवर्तनार्थ (सुबो.१०।४७।९-१०). इनमें प्रथम द्वितीय तथा तृतीय क्रमशः राजस सात्त्विक और तामस प्रयोजन हैं; जबकि अन्तिम प्रयोजन निर्गुण है. किसी भी सूरतमें किसी भी एक प्रयोजनको किसी दूसरे प्रयोजनका आनुषङ्गिक नहीं मान लेना चाहिये.

इस तरह हम देख सकते हैं कि दशमस्कन्धकी लीला — अपनी भक्ति करने लायक या मुक्ति देने लायक जीवोंके बीच "फलं वा साधनं यत्र" न्यायसे भगवान्का प्रकट हो जाना है. अर्थात् स्वयं उपेयका उपेताओंके बीच स्वप्राप्त्युपायतया निरुद्ध हो जाना है. इसे साम्प्रदायिक परिभाषाके अनुसार 'साधननिरोध' कहा जाता है. इसके बाद फलरूपतया 'फलनिरोध' उसे कहते हैं, जब इस तरह की जाती लीलाओंमें अन्तःपाती जीवात्मा यथायथ स्वस्वभावानुपाती भगवद्भावोंमें तन्मय हो जाती हैं. दशमस्कन्धमें वर्णित भगवच्चरित्रकी यह एक वस्तुतः महती अपूर्वता या विशेषता है. सो इसे ही वर्ण्यविषयके रूपमें मान्य रखना उचित होगा. भक्तोंका भगवान्में निरुद्ध हो जाना ही क्रमशः पहले लीलातन्मयता है तथा अन्ततः भक्तितन्मयता है. इन दोनों प्रकारके निरोधोंको यहां 'निरोधलीला' कहा जा रहा है. अतएव महाप्रभु भगवत्प्राकट्यके प्रकार एवं हेतु की विवेचना यों करते हैं :—

भक्तोंपर अनुग्रह करनेकेलिये भगवान् भक्तोंके समान रूपवाला

विग्रह प्रकट करते हैं; क्योंकि, विजातीय रूपवाले विग्रहमें कदाचित् उन्हें रुचिकर विश्वास न भी जम पाये, (जैसे अर्जुनको दिदृक्षित विराट् स्वरूप भी रुचिकर नहीं लगा!) अतः जैसे मनुष्योंपर अनुग्रह करनेकेलिये भगवान् मानुषविग्रह प्रकट करते हैं; ऐसे ही, गोपिकाओंको निजानन्द-प्रदानरूप अनुग्रह करनेकेलिये ही भगवान्ने अपना वैसा स्वरूप और वैसी लीलायें गोकुलमें प्रकट की(सुबो.१०।३०।३७).

जहां उपायावलम्बन देना होता है वहां दोषावेश पहले दूर किया जाता है और भगवदावेश बादमें सिद्ध होता है. जहां, परन्तु, उपेयावलम्बन प्रदान करना होता है वहां भगवदावेश पहले सिद्ध हो जाता है और दोषनिराकरण भगवदावेशके यथायथ वृद्धिंगत होनेकी प्रक्रियाद्वारा. पूर्वोदाहृत सुबोधिनीका अभिप्राय कि भगवत्प्राकट्यकेलिये ज्ञान-भक्तिरूप उपायोंकी जो आवश्यकता होती है वह भगवान्के स्वतः ही प्रकट हो जानेपर तो निलम्बित सी हो जाती है. जैसे वर्षा ऋतुमें जल सर्वत्र उपलब्ध होता है, तब छतपर बरसते जलको भी एकत्रित किया जा सकता है. एतावता नदी कूप तलाव आदि सर्वथा निरुपयोगी तो नहीं बन जाते. इन्हें साम्प्रदायिक परिभाषाके अनुसार क्रमशः 'प्रमेयबल' और 'प्रमाणबल' कहा जाता है. स्वतःप्राकट्य अथवा ज्ञान या भक्ति के द्वारा प्राकट्य रूप दोनों प्रकारके प्राकट्योंमें परमात्माके प्रति जीवात्माओंका स्नेह साध्य नहीं प्रत्युत सर्वदा सिद्ध ही माना गया है. परमात्माके आत्माराम और जीवात्माओंके तदंशरूप होनेके कारण निजात्मा निजदेह निजगेह आदिमें संक्रमणप्रणालीसे विषयासक्ति पर्यन्त परमात्मप्रेम ही आत्मरमणके क्षुद्रांशोंके रूपोंमें विकृत या विलसित हो रहा है, जैसा कि "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो विजिज्ञासितव्यो...आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितं भवति. ब्रह्म तं परादाद् यो अन्यत्र आत्मनो ब्रह्म वेद" (बृह.उप.२।४।५-६) वचनमें सुस्पष्ट शब्दोंमें उद्घोष किया गया है.

::आत्मरति पुष्टिभक्ति और निरोधलीला::

आत्मरति तो प्राणिमात्रमें सर्वत्र सर्वदा स्वतःसिद्ध ही होती है.

भगवानूके स्वतःप्रकट न होनेपर भगवन्माहात्म्यके ज्ञानद्वारा ऐसी आत्मरतिका अपनी आंशिक क्षुद्रतासे उभर कर अंशी परमात्माके प्रति अभिमुख हो जाना 'मिश्रपुष्टिभक्ति' कहलाती है. वैसे ही कभी-कहीं भगवानूके स्वतःप्रकट हो जानेपर, भगवत्स्वरूप और भगवल्लीला में निरुद्ध या तन्मय हो जाना 'शुद्धपुष्टिभक्ति' या 'निरोधलीला' कहलाती है. इस तरह पुष्टिभक्तिके प्रमाणबलसे प्राकट्य और प्रमेयबलसे प्राकट्य यों दो सम्भावित रूप हो सकते हैं. अपने प्रमेयबलसे भगवानूके स्वतःप्रकट होनेपर ऐसे स्वरूपके बारेमें पनपी स्वरूपासक्ति या लीलासक्ति के रूपोंमें भगवदभिमुख होनेवाली आत्मरति, जब माहात्म्यज्ञानसे भी मण्डित हो जाती है तो उसे 'शुद्धपुष्टिभक्ति' कहा जाता है. यह उपेयप्रयत्नात्मिका होती है, रामानुजी परिभाषाके अनुसार. स्वतो-अप्राकट्यके उदाहरणोंमें वर्णाश्रमियोंको तो यावद्देहाभिमान भगवदाज्ञानुपालनार्थ एवं भगवत्प्रीत्यर्थ स्ववर्णाश्रमाचारोंके निर्वाहके साथ ही, अन्यथा वर्णाश्रमबाह्योंको उक्ताचारोंसे निरपेक्षतया भी, सत्संग गुरूपसत्ति शरणागति आत्मसमर्पण भगवत्सेवा भगवत्कथा भगवत्स्थलयात्रा आदिके उपायावलम्बनोंसे माहात्म्यज्ञान प्राप्त करके इस आत्मरतिको भगवदभिमुखीभूत बनाना पड़ता है. इसे 'मिश्रपुष्टिभक्ति' कहा जाता है. षोड़शग्रन्थान्तर्गत 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' (श्लो.१४-१६) नामक ग्रन्थमें इस मिश्रपुष्टिभक्तिके पुनः तीन रूप गिनाये गये हैं— [१]पुष्टिपुष्टिभक्ति, [२]मर्यादापुष्टिभक्ति; तथा [३]प्रवाहपुष्टिभक्ति. अपने चारों ही रूपोंमें पुष्टिभक्तिमें रहा स्नेहांश तो सिद्धोपाय ही होता है अर्थात् फलरूपा ही होता है. इसे प्रकट करने या भगवदभिमुख बनानेके उल्लिखित उपाय साध्यरूप हो सकते हैं, वैसे साधनाभिमान या साधननिष्ठा से बचनेकेलिये इन उपायोंको भी भगवदनुग्रहरूप मानना पुनः एक भक्तिभावोपयोगी दैन्योचित अभिमत भावनात्मक उपायावलम्बन ही है. अतएव महाप्रभु कहते हैं: "जितने भी साभिमान मार्ग हैं वे पुनरावृत्तिके हेतु बनते हैं. अतः निरभिमान मार्गको अपनाना चाहिये. ऐसा मार्ग तो भगवन्मार्ग ही हो सकता है अन्यथा... अहंकारकी निवृत्ति कभी भी सम्भव ही नहीं है. भगवान् तो सब कुछ करते ही हैं परन्तु भगवान् भी भजनके अभावमें भक्तिका दान नहीं करते. अतः भजन तो हमें अवश्य करना ही चाहिये" (सुबो.३।३२।२२).

इससे सिद्ध होता है कि सत्संग गुरूपसत्ति शरणागति आत्मसमर्पण

भगवत्सेवा भगवत्कथा या नवधा भक्ति आदि सभी साध्योपाय ही होते हैं. प्रेमलक्षणा भक्ति अकृतक सिद्धोपायरूपा होती है. आद्यतम उपादान-कारण होनेके रूपमें भगवान् न्यूनाधिक्यतया सभी जड़-जीवोंसे जुड़े हुवे ही हैं. फिरभी, चिदानन्दांशके तिरोधानवश केवल सदंशात्मना प्रकटे जड़ पदार्थोंकी तुलनामें, केवल आनन्दांशके तिरोधानवश प्रकटे चिदंश जीवोंके साथ भगवन्नैकट्य अधिक होता है. अतः भगवान्की आत्मरति या प्रियता ही जीवात्माओंमें अनुगत होती है, ऐसा अर्थ "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृह.उप.४।५।१५) श्रुतिवचनका स्वीकारना चाहिये. क्योंकि "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" (छान्दो.उप,७।२३।१) वचनके आधारपर परमात्मा ही सुखरूप होता है. प्रिय ही तो सुखरूप या सुखजनक हो सकता है. "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्. एष ह्येव आनन्दयाति" (तैत्ति.उप.२।६) जैसे वचनोंके आधारपर यह सुख भी मूलतः तो ब्रह्मसे ही मिलता होता है (द्र.: ब्र.सू.वा.भा.१।४।१९). इस भगवन्निष्ठ जीवानुगत सहज प्रियता या प्रेम पर विषयासक्तिके आवरण-विक्षेप, यदि शांकरपरिभाषाके अनुसार बोलना हो तो, चढ़े हुवे रहते हैं. अन्यथा पुष्टिमार्गीय परिभाषामें कहना हो तो विषयासक्ति भी आत्माराम परमात्माके क्षुद्र चिदंश जीवात्माओंकी तरह ही उसी मूल आत्मरमणकी क्षुद्रांशोपमा होती है. भगवान्के स्वतःप्राकट्यके समय उसका उपेयावलम्बनरूपा भगवत्स्वरूपासक्ति या भगवल्लीलासक्ति द्वारा भगवदभिमुखीकरण होता है. स्वतो-अप्राकट्यके समय इस ऐसी विषयासक्तिका उल्लिखित सत्संग गुरूपसत्ति शरणागति आदि साध्योपायोंके अवलम्बनद्वारा भगवदभिमुखीकरण होता है. षोड़शग्रन्थान्तर्गत 'भक्तिवर्धिनी' (श्लो.१-२) नामक ग्रन्थमें महाप्रभु कहते हैं कि जिस भक्तात्माके भीतर भक्तिका बीजभाव दृढ़ हो तो वह तो गृहत्याग करके भगवल्लीलाके श्रवण-कीर्तन-स्मरणद्वारा अपनी भक्तिको वृद्धिंगत कर सकता है. जिसका बीजभाव दृढ़ न हो ऐसेको अपने वर्णाश्रमधर्मके निर्वाह करते हुवे घरमें रह कर भगवत्सेवा और भगवत्कथा अर्थात् नवधा भक्तिके साध्योपायोंका अवलम्बन करके अपना बीजभाव दृढ़ करना चाहिये. तभी भक्ति सुदृढ़-सर्वतोधिक स्नेहरूपा, प्रेमलक्षणा, मानससेवारूपा, सर्वात्मभावरूपा अथवा अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें फलित हो पाती है. एतावता आत्मरमणैकस्वभावानुपाती परमात्मासक्तिको

कथमपि साध्योपाय या कृतकोपाय माना नहीं जा सकता है. आत्मरति आत्माद्वैतस्वभावानुपाती होती है; परन्तु, भगवच्छक्तिरूपा पुष्टि तथा उस पुष्टिसे आविर्भूत होती भगवत्स्वरूपासक्ति, भगवल्लीलासक्ति या भगवद्भक्ति तो लीलार्थप्रकट ऐच्छिकद्वैतसामर्थ्यानुपाती या भगवानूके द्वारा निज-निर्हेतुक-भक्त्यर्थ किये गये वरणरूप बीजभावके अनुरूप भगवत्सामर्थ्यानुपाती ही होती है. परमात्मासे जीवात्माकी दिशामें निर्हेतुक निजभक्तिप्रकटनार्थ व्यापारित होती आत्मरति 'पुष्टि' कहलाती है. जिस जीवात्माका पुष्टिमार्गार्थ परमात्माने वरण किया हो उसके भीतर नित्य विद्यमान आत्मरति ऐसे पुष्टिव्यापारके कारण जब परमात्माकी दिशामें व्यापारित होने लगे तो उसे 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है.

विषयोपभोगार्थ अपेक्षित चैतन्य या कर्तृत्व अथवा विषयत्यागार्थ अपेक्षित चैतन्य या कर्तृत्व अलग-अलग अपेक्षित नहीं होते. एक ही चैतन्य या एक ही कर्तृत्व के द्वारा परस्पर अत्यन्त विरुद्ध दो कार्योमें से जिसे भी निभाना हो निभाया जा सकता है. इसी तरह धर्म या अधर्म के अनुष्ठानार्थ दो अलग-अलग शरीर अपेक्षित नहीं होते—एक ही शरीरसे अन्यतरका अनुष्ठान शक्य होता ही है. तरह विषय या भगवान् के बारेमें आसक्ति भी दो अलग-अलग अपेक्षित नहीं होती. इस तथ्यको भलीभांति हृद्गत कर लेनेपर जो धर्म अर्थ काम या मोक्ष रूपी पुरुषार्थचतुष्टयीके सन्तुलनकी साधनासे असंस्कृत विषयासक्ति जीवात्माओंके भीतर रहती हैं, वे ही आत्मोद्धारके शास्त्रविहित विभिन्न साधनाओं (कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोग सांख्य अष्टांगयोग दान व्रत तप स्वाधाय आदि)की मर्यादाओंकी ओर अभिमुख हो जानेपर साधकको मर्यादामार्गी बना देती हैं. इसी तरह जो विषयासक्ति इस तरहके शास्त्रीय संस्कारोंसे सुसंस्कृत नहीं हो पाती, वह तो सांसारिक विषयासक्ति ही केवल रह जाती है. एतावता वह आत्माराम परब्रह्म परमात्माके आत्मरमणका अंश ही न हो ऐसा तो कह पाना शक्य नहीं है.

प्रसंगोपात्त यहां यह स्पष्टीकरण भी जान लेना उचित ही होगा

कि भगवान्‌की अविद्याशक्तिके कारण जीवात्माको देहेन्द्रियादिके पञ्चविध अध्यास घटित हो जाते हैं. फिर भी भगवदासक्तिके साथ इन अध्यासोंका आत्यन्तिक विरोध नहीं होता है. ये ही अध्यास भी कथञ्चिद् भगवद्भक्तिमें साधक भी हो पाते हैं. अविद्याशक्तिकी जैसी ही, परन्तु, दूसरी व्यामोहिका माया शक्तिके प्रभावमें ये अध्यास विषयासक्तिकी अवस्थासे आगे बढ़ कर विषयव्यामोहका रूप ले लेते हैं. यह विषयव्यामोह भगवत्स्वरूपासक्ति या भगवद्भक्ति दोनों ही में प्रतिबन्धक ही होता है. भगवान्‌की विद्याशक्ति(द्र.:त.दी.नि.१।३१-३५ तथा ४५-४६)के पांच पर्वोंके रूपमें गिनाये गये साध्योपाय वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति(=मर्यादाभक्ति) के द्वारा मूल आत्मरति शास्त्रोंकी वाचनिकी मर्यादाओंके प्रति केवल अभिमुख होनेपर शास्त्रप्रशस्त स्वर्गापवर्गादि इष्टफलोंको पानेका अधिकारी जीवात्माको बना पाती है. इसे भी आत्मरतिका अपने मूलरूपमें अवस्थान तो माना नहीं जा सकता है. वह तो अपनी पुष्टिशक्तिका प्रयोग करके, किसी जीवात्माको अंशात्मना नित्योपलब्ध, आत्मरतिको जब भगवान् निजस्वरूपाभिमुख बनायें तभी शक्य होता है. अतएव तभी इसे 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है. अब यहां यह दोहराना आवश्यक नहीं कि कैसे स्वतःप्राकट्यके उदाहरणोंमें यह उपेयप्रयत्नात्मिका स्वरूपासक्ति एवं लीलासक्ति द्वारा सिद्ध होता है; और, कैसे यह स्वतो-अप्राकट्यके उदाहरणोंमें उपेतृप्रयत्नात्मिका सत्संगति गुरूपसत्ति भगवच्छरणागति आत्मसमर्पण भगवत्सेवा भगवत्कथा आदिकी प्रणालीद्वारा सिद्ध होता है.

जो वर्णाश्रमी हों उन्हें वर्णाश्रमधर्म भी देहाभिमानके रहते निभाना आवश्यक होता है. देहाभिमान निवृत्त होनेपर भक्तिभावके आवेशमें वर्णाश्रमनिर्वाह न हो पाना दोषावह नहीं होता. साथ ही साथ यह कभी भूलना नहीं चाहिये कि जो अवर्णाश्रमी हों उन्हें भी भक्तिमार्गमें भजनका तो उतना ही अधिकार है जितना कि किसी वर्णाश्रमीका. एतावता पुष्टिभक्तोंको वर्णाश्रमधर्म कर्तव्यतया अपेक्षित होता है या नहीं, ऐसी जिज्ञासाका समाधान यही है कि अपेक्षित भी हो सकता है और अनपेक्षित भी. क्योंकि कुलपरम्परासे जो वर्णाश्रमी हो उसे जब तक देहाभिमान हो तब तक

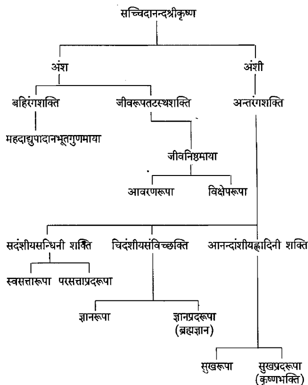
अपेक्षित होता है. भक्तिके भावावेशमें देहाभिमानके शिथिल होनेपर अथवा देश-कालके विपरीत हो जानेके कारण जिस वर्णाश्रमाचारका अनुष्ठान शक्य ही न रह गया हो तो वर्णाश्रमोचित कर्तव्यके न निभनेपर भी पुष्टिभक्तिके अधिकार या सिद्धि में कोई बाधा नहीं आ पड़ती. जो कुलपरम्परया वर्णाश्रमी न हो उसे पुष्टिभक्तिके अधिकार या सिद्धि केलिये वर्णाश्रमाचारोंको निभानेके मिथ्या दम्भका तो कोई प्रसंग ही नहीं है. अतएव भक्तिभावपूर्वक भजनके अधिकारको वर्णाश्रमधर्मके भी अनुष्ठान करनेके अधिकारके अर्थमें लेना अनावश्यक है. कर्तव्यतया प्राप्त वर्णाश्रमधर्मोका अज्ञान प्रमाद या मोह के वश उल्लंघन जैसे दोषरूप होता है, वैसे ही कर्तव्यतया अप्राप्त वर्णाश्रमधर्मोका पाषण्डपूर्ण अनुवर्तन भी दोषरूप ही होता है.

यह पुष्टिमार्गीय विवेक आज भूला दिया गया होनेसे पुष्टिमार्गमें वर्णाश्रमधर्मकी आवश्यकता है कि नहीं इस बारेमें ब्रह्म जितना ही व्यापक भ्रम चारों ओर दिखलायी देता है!

:: क्या रागानुगा भक्तिका ही दूसरा नाम 'पुष्टिभक्ति' है ? ::

भक्तिरसकी अमृतोपम दिव्य विवेचनाकेलिये प्रकट सिन्धुराज जैसे 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नामक ग्रन्थमें महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणके मित्र श्रील रूप गोस्वामीने पुष्टिमार्ग तथा मर्यादामार्ग के बारेमें कुछ विधान किये हैं. इनका थोड़ा-बहोत विमर्श कर लेना यहां उपकारक होगा. इस ग्रन्थपर 'दुर्गमसंगमनी' नामिका व्याख्या भी इन्हींके भतीजे श्रील जीव गोस्वामीकी उपलब्ध होती है. श्रील रूप गोस्वामीने रागानुगभक्ति और पुष्टिभक्ति, इसी तरह, वैधभक्ति और मर्यादभक्ति को एकरूप माना है. अतएव बहोत सारे आधुनिक लेखकोंकी धारणा भी ऐसी ही बंध गयी दिखलायी देती है. वस्तुतः दोनोंमें पर्याप्त अन्तर है. इसे, किन्तु, समझनेसे पूर्व भक्तिरसामृतसिन्धुकारकी विवेचनाके मूलमें रही तत्त्वदृष्टि तथा भक्तिके स्वरूप लक्षण एवं प्रकारों को सरसरी निगाहोंसे देखे बिना तारतम्यबोधकी कठिनाई दूर नहीं हो पायेगी.

अतः श्रीचैतन्यमताभिप्रेत भक्तिके स्वरूपको भलीभांति समझना हो तो एतदर्थ अतीव उपकारक ऐसे श्रीचैतन्यचरितामृत-मध्यपरिच्छेदान्तर्गत 'श्रीसनातनशिक्षा' नामक प्रकरणके आधारपर अचिन्त्यभेदाभेदवादमें मान्य तत्त्वतालिका कुछ यों समझमें आती है :—



अचिन्त्यभेदाभेद मान्य किया गया है.

यह अचिन्त्यभेदाभेद क्या है?

क्या 'चिन्तामणि-तल्लब्धवस्तु' न्यायेन उपादानतया सर्वथा कार्याननिवत होनेसे स्व-अनाश्रित, स्व-अचिन्त्यशक्तिसे उत्पादित होनेसे प्रागभावप्रतियोगी; तथा देश-काल-स्वरूप-भेदसहिष्णु, जगत्को उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मका स्वकार्यभूत जगत्से भेद होता है या अभेद इसमें से किसी भी एक कल्पका निरुक्तियोग्य न होना ही अचिन्त्यभेदाभेद है?

या 'सागर-तदन्तर्वर्तिजलबिन्दु' न्यायेन अंश्युपादानतया तथा अंशान्विततया अंश्यैक्यरूप ब्रह्माभेदमें देश-काल-स्वरूप-भेदासहिष्णु अंशतारूप भेद होना अचिन्त्यभेदाभेद है?

या 'सागर-तद्बहिर्भूतजलबिन्दु' न्यायेन देश-कालभेदसहिष्णु होनेपर भी स्वरूपैक्यरूप अभेदमेंसे प्रकट हुवे अंशोंका नाना होना अचिन्त्यभेदाभेद है?

या 'सागर-जलचर' न्यायेन स्वरूपतः अत्यन्त भिन्न दो धर्मिओंका देश-कालभेदासहिष्णु तदायत्त-उत्पत्तिस्थितिलयरूप आश्रयाश्रितभावैक्यरूप विशिष्टाभेद होना अचिन्त्यभेदाभेद है?

या 'प्रकाश-तदाश्रय' न्यायेन देश-कालभेदसहिष्णु धर्मधर्मिभाव-भेदसहिष्णु तथा धर्म्यैक्यरूप स्वाभाविकभेदाभेद अचिन्त्यभेदाभेद है?

अथवा तो 'सुवर्ण-कुण्डल' न्यायेन अवस्थाभेदसहिष्णु स्वाभाविकस्वरूपैक्यरूप अभेद तथा ऐच्छिक नानात्वरूप भेद होना अचिन्त्यभेदाभेद है?

इसी तरह यह 'अचिन्त्यता' क्या चिन्तनार्हताका अभाव है, या चिन्तनविरुद्धताका स्वभाव है, या अंशतः चिन्तनार्ह होनेपर भी पूर्णतया चिन्तनार्ह न हो पाना है?

'अचिन्त्यभेदाभेद' घटक भेद और अभेद के बीच अन्यतरकी या उभयकी अचिन्तनीयता विवक्षित है? 'अचिन्त्यभेद' में 'भेद' का अर्थ आत्यन्तिक भेद है, या स्वाभाविक भेद है, या औपाधिक भेद है, या द्वित्वसंख्याप्रकारक-ज्ञानविषयता केवल है; अथवा अन्य ही कुछ? इसी तरह 'अचिन्त्याभेद' में 'अभेद' का अर्थ भेदतुच्छत्वसाधक आत्यन्तिक अभाव है, या भेदात्यन्ताभाव है, या भेदका तादात्म्याभाव है, या भेदविरुद्धता है; अथवा अन्य ही कुछ?

यहां इस धारणाकी क्या व्युत्पत्ति स्वीकारी गयी है? क्या चिन्त्य भेदाभेदका अभाव अर्थात् "चिन्त्ययोः भेदाभेदयोः अभावो = अचिन्त्यभेदाभेदः"? अथवा अचिन्त्य परमेश्वरका अपने अंशों और शक्तियों के साथ भेद भी है और अभेद भी है, अर्थात् "अचिन्त्ये भगवति भेदाभेदयोः सामानाधिकरण्यम्"? अथवा तो अचिन्त्य भेदाभेदका समुच्चय अर्थात् "अचिन्त्ययोः भेदाभेदयोः समुच्चयः" है?

कुल मिला कर प्राचीन भेदाभेदवादका जो सिद्धान्त श्रीभास्कराचार्य श्रीनिम्बार्काचार्य एवं श्रीपतिभगवत्पादाचार्य को मान्य था वही श्रीचैतन्य महाप्रभुका भी मत है या अन्य कुछ?

इन प्रश्नोंके निश्चित समाधान मुझे ज्ञात नहीं हैं सो इस विषयमें इदमित्थतया कुछ भी कह पानेमें मैं असमर्थ हूं.

श्रील जीव गोस्वामिरचित 'तत्त्वसन्दर्भ' नामक ग्रन्थकी दो व्याख्यायें इस विषयमें एक-दूसरेसे कुछ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंका अवलम्बन करती सी प्रतीत होती हैं. 'राधामोहनी' व्याख्याका कहना है कि "भास्करीय द्वैताद्वैतमत, जिसमें जगत्‌को ब्रह्मकी स्वरूपशक्तिका परिणाम माना गया है, वही अपना भी मत है." मूलकार श्रील जीव गोस्वामी भी ऐसा ही कुछ कहते से प्रतीत होते हैं कि "दुर्घटघटनापटीयसी ऐसी अपनी स्वाभाविक अचिन्त्यशक्तिके कारण, सूर्य और सूर्यरश्मिओंके परमाणु जैसे स्वभावतः एक-दूसरेसे भिन्न भी होते हैं और अभिन्न भी इसी तरह, जीवात्मा और परमात्मा भी हैं. दोनोंके ही चिद्रूप

होनेसे श्रुतियोंमें मिलते अभेदनिरूपणका भी दोनोंमें रहे भेदसे कोई विरोध नहीं है" (षट्.सन्द.तत्त्व.वस्तुतत्त्वनिर्णय). इस प्रतिपादनके अवलोकन करनेपर 'प्रकाश-तदाश्रय' न्यायके अंगीकारका आभास होता है. इस प्रकरणमें, किन्तु, 'वैद्याभूषणी' व्याख्यामें—"जीव और ब्रह्म के बीच व्यक्तिभेद रहनेपर भी चिद्रूपतया दोनों समानजातिके हैं इस रूपमें दोनोंका केवल जात्यैक्य ही कहा जा रहा है" ऐसे स्पष्टीकरणको देखनेपर लगता है कि दोनोंमें स्वरूपैक्य मान्य न होनेसे 'सागर-तदन्तर्वर्तिजलचर' न्यायेन विशिष्टाभेदके सिद्धान्तको ही नामान्तरसे 'अचिन्त्यभेदाभेद' कहा जा रहा है! साथ ही साथ मूल तत्त्वसन्दर्भकारका यह विधान कि "सूर्य जैसे अपनी रश्मियोंका परमस्वरूप होता है ऐसे ही भगवान् भी सभी जीवात्माओंके परमस्वरूप होनेके कारण सभीके परमप्रेमयोग्य हैं" तो ऐसा प्रतीत होता है कि विभु-अंशी तथा अणु-अंशों के बीच उल्लिखित 'सागर-तदन्तर्वर्तिजलबिन्दु' न्यायेन जीवात्मा और परमात्मा के बीच कदाचित् स्वाभाविक भेदाभेदका सिद्धान्त मान्य होना चाहिये. इसके विपरीत, परन्तु, पुनः 'सिद्धान्तरत्न' नामक ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञा टिप्पणी में ब्रह्मसूत्रभाष्यकार श्रीबलदेवविद्याभूषणका कहना है कि"अपनी कल्पनाओंकी निर्मूलताको ढंकनेकेलिये श्रुतिके भेद और अभेद के प्रतिपादक वचनोंकी संगति बैठाना चाहनेवाले भट्टभास्करादि; और, अपनी कल्पनाओंकी निर्मूलताको छिपानेकेलिये अपने-आपको 'विष्णुस्वामीके मतका अनुयायी' कहने-माननेवाले दोनों ही मन्दमति हैं. अतः श्रुतिवचनोंके अर्थोंका अवगाहन करनेमें दोनों ही सक्षम नहीं हैं." (सि.र.टि.८।२७-२८).

अखण्डैकरस सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मका स्वाभाविकाद्वैत तथा उसके सर्वभवनसामर्थ्य तथा सत्यसंकल्प वश प्रकट हुवे नाम-रूप-कर्मोके द्वैत स्वीकारनेवाले महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणका जहां तक प्रश्न है तो उन्होंने तो श्रीविष्णुस्वामिसम्प्रदायमें कुलपरम्परागत श्रीगोपालमन्त्रकी दीक्षामें दीक्षित होनेके कारण अपने-आपका उस सम्प्रदायका अनुयायी होना स्वीकारा है. जैसे गायत्रीमन्त्रदीक्षाके कारण कोई अपने-आपका द्विज होना अमान्य किये बिना ही रामानुज माध्व या गौड़-माध्व होना भी स्वीकारता हो तद्वत्. एतावता उसे अपनी निर्मूलताके आच्छादानार्थ ऐसा विधान करनेका दोषभागी क्या माना जा सकता है? इसी तरह अपनी श्रीविष्णुस्वामिसम्प्रदायानुगामिताको अमान्य किये बिना अपना अतिरिक्त भी कुछ मत किन्हीं अंशोंमें श्रीविष्णुस्वामीसे

पृथक् भी है, ऐसा तृतीयस्कन्धकी सुबोधिनीमें स्पष्ट शब्दोंमें महाप्रभुने दरसाया ही है. एतावता उनके मतको कल्पित कह देना अतीव विस्मयजनक विधान लगता है. जैसे श्रीकृष्णदास कविराजके अनुसार:—

> प्रभु हासि कहे-"स्वामी ना माने येई जान, वेश्यार भीतरे तारे करिये गणन... श्रीधरस्वामी निन्दि निजटीका कर, श्रीधरस्वामी नाहि मान-एत गर्व धर. श्रीधरप्रसादे भागवत आमि जानि, श्रीधरस्वामी आमि जगद्गुरु करि मानी. श्रीधरउपरे जे किछु लिखिवे, अर्थव्यस्त लिखन सेइ लोके ना मानिवे" (चैत.चरि.:अ.ली.७।११७ तथा १३१-१३४).

इस तरहके सुस्पष्ट आदेशके बावजूद तथा जिस मायावादके बारेमें श्रीचैतन्य महाप्रभुका स्पष्टतम अभिप्राय यही था कि "जीवेर निस्तार लागि सूत्र कैल व्यास, मायावादिभाष्य शुनिले हय सर्वनाश" (चैत.चरि.:म.ली.६।१६९), फिरभी उसी मायावादका आरोप श्रीधरस्वामीके लेखनपर लगाते हुवे श्रीचैतन्य महाप्रभुके कठोर प्रतिबन्ध—"श्रीधरउपरे जे किछु लिखिवे अर्थव्यस्त लिखन" की भी उपेक्षा करके स्वतन्त्र व्याख्यान भी करनेकी छूट तत्त्वसन्दर्भकार लेना चाहते हैं कि "...तद्(माया)वादेन (द्र.: वै.भू. "तथापि क्वचित्क्वचिन्मायावादोल्लेखः") कर्बुरितलिपीनां...श्रीधरस्वामिचरणानां शुद्धवैष्णवसिद्धान्तानुगता चेत् तर्हि यथावदेव लिख्यते" (तत्त्व.सन्द.भागवतस्य श्रैष्ठ्यम्). तो ऐसी स्थितिमें श्रील जीव गोस्वामीकी व्याख्या क्या कल्पित मत बन जाती है? यदि नहीं तो इसी तरह श्रीविष्णुस्वामीके कुलपरम्परागत साम्प्रदायिकी मर्यादाका त्याग किये बिना श्रुति-सूत्र-गीता-भागवतादिके स्वारस्यके अनुरोधवश शुद्धाद्वैतवादमूलक अर्थात् साकारब्रह्माद्वैतवादमूलक स्वतन्त्र पुष्टिभक्तिमार्गका प्रवर्तन महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने भी किया. क्योंकि श्रुतिमें स्पष्टतया अनेकत्र "तस्माद् एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः", "सोऽकामयत—'बहु स्यां प्रजायेय' इति", "तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैत्ति.उप.२।१-६-७) ऐसे प्रतिपादनोंके उपलब्ध होनेसे इस सृष्टिको आत्मस्वरूपके परिणामतया वाल्लभ मत स्वीकारता है. अन्यथा 'आत्म' पदको लक्षणा वृत्तिसे आत्मशक्ति या आत्मसजातीय चिदचिदंश का वाचक मानना पड़ेगा. श्रुतिव्याख्यानकी ऐसी पद्धति तो स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुने भी उचित तो नहीं मानी है—"मुख्यार्थ छाड़िया

कर गौणार्थकल्पना, अभिधावृत्ति छाड़ि कर शब्देर लक्षणा. प्रमाणेर मध्ये श्रुतिप्रमाण प्रधान, श्रुति ये मुख्यार्थ कहे सेइ से प्रमाण'' (चैत.चरि.: म.ली.६।१३४-१३५). अतः यदि श्रीधराभिप्रेत अर्थके त्यागपूर्वक अन्य अर्थ करना 'अर्थव्यस्त' लेखन न बन जाता हो तो श्रीविष्णुस्वामीको अभिप्रेत भक्तिके प्रकारको अमान्य किये बिना अन्य भी कोई अतिरिक्त अर्थ प्रमाणचतुष्टयीके अनुरोधवश स्वीकारनेमात्रसे वाल्लभ मतपर अप्रामाणिक कल्पना होनेका दोष कैसे मढ़ा जा सकता है? भाष्यकारका यह अधिकार तो सर्वमान्य ही रहा है कि मूलवचनके अर्थोंका निरूपण करते हुवे तदनुसारी अपनी बात भी वह कह ही सकता है. अतः जब तक श्रुति गीता सूत्र या भागवत के महाप्रभुद्वारा किये जाते अर्थ मूलवचनानुसारी नहीं है, यह सिद्ध नहीं हो पाता तब तक ऐसे सारे दोषारोपण निरी बौखलाहट ही लगते हैं. कुलपरम्परागत मन्त्रदीक्षामूलक भक्तिसम्प्रदायमें पहले वह अर्थ किया नहीं गया था, इतनी सी क्षुद्र बातके आधारपर किसी मतपर कल्पित-मत होनेका आरोप स्वयं मीमांसापरम्परासे अपने अपरिचयका ही द्योतन है. अस्तु.

प्रकृत विषयके अनुसरणार्थ, जड़-जीवात्मक जगत्के साथ ब्रह्मका जो भेदाभेद है, उसमें दोनों ही स्वाभाविक हैं; या अभेद स्वाभाविक है परन्तु भेद सत्यसंकल्प परमेश्वरके द्वारा लीलार्थ प्रकट कृत्रिम? अथवा ब्रह्मकी उल्लिखित अनेक स्वरूपशक्तियोंका परिणामभूत होनेपर भी जगत् स्वयं शक्तिमान् ब्रह्मके स्वरूपका परिणाम नहीं हो सकता है. ऐसी विरुद्धधर्माश्रयता यहां अभिप्रेत हो तो; अथवा, सृष्ट्युपादानभूत शक्तियोंको स्वरूपात्मिका शक्ति होनेके अर्थमें नहीं परन्तु स्वरूपभिन्ना होनेपर भी केवल स्वरूपाश्रिता शक्तियां होनेके कारण 'स्वरूपशक्ति' कहा जा रहा हो, तो तटस्थजीवशक्ति भी स्वरूपाश्रिता है कि नहीं?

इसका श्रीचैतन्यमताभिप्रेत विवेचनसौक्ष्म्य अवगत न होनेसे अधिक विस्तारमें न जाना ही मेरेलिये श्रेयस्कर होगा. इस तात्त्विक सन्दर्भका 'स्थालिपुलाक' न्यायेन परिचय पा लेनेके बाद अब 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थका

अवगाहन सुखेन हो पायेगा.

मूलकार भक्तिके तीन मौलिक भेद—[१]साधनरूपा, [२]भावरूपा तथा [३]प्रेमरूपा दिखलाते हैं; परन्तु, व्याख्याकारके अनुसार मूलतः दो भेद होते हैं: [१]साधनरूपा और [२]साध्यरूपा. इनके अन्तर्गत, मूलकार तथा व्याख्याकार दोनोंके अनुसार, साधनरूपा भक्तिके पुनः दो उपभेद होते हैं—[१/क]वैधी और [१/ख]रागानुगा. इनमें रागानुगा भक्तिके मूलकारने दो प्रभेद और दिखलाये हैं—[१/ख/अ]कामानुगा और [१/ख/आ]सम्बन्धानुगा. इसी तरह [२]भावरूपा भक्तिके, मूलकारके अनुसार, दो उपभेद होते हैं—[२/क]वैधभावरूपा तथा [२/ख]रागानुगभावरूपा. इसी तरह [३]प्रेमरूपा भक्तिके भी मूलकारके अनुसार दो उपभेद होते हैं—[३/क]भावोत्था और [३/ख]अतिप्रसादोत्था. इनमें भावोत्थाके पुनः दो प्रभेद यों दिखलाये हैं—[३/क/अ]वैधभावोत्था और [३/क/आ]रागानुगभावोत्था. अतिप्रसादोत्था भक्तिके भी पुनः दो प्रभेद यों हैं—[३/ख/अ]माहात्म्यज्ञानसहिता तथा [३/ख/आ]केवला. व्याख्याकारके अनुसार [२]साध्यरूपा भक्तिके आठ उपभेद गिनाये गये हैं—[२/१]भाव, [२/२]प्रेम, [२/३]प्रणय, [२/४]स्नेह, [२/५]राग, [२/६]मान, [२/७]अनुराग तथा [२/८]महाभाव (तुलनीय: "साधनभक्ति हैते हय रतिर उदय, रति गाढ़ हैले तार 'प्रेम' नाम कय. प्रेम वृद्धिक्रमे नाम—स्नेह मान प्रणय, राग अनुराग भाव महाभाव हय." श्रीरूपशिक्षा: १५१-१५२). श्रील जीव गोस्वामीका कहना है कि मूलकारके द्वारा साध्यभक्तिके द्विविध मात्र होनेका उल्लेख उपलक्षणार्थ है.

वैसे व्याख्याकारद्वारा प्रस्तावित वर्गीकरण वस्तुतः उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रगाढ़भावापन्न होती एक ही भक्तिकी विभिन्न अवस्थाओंके भेद हैं या भक्तिस्वरूपके प्रकारोंके भेद हैं? इस विषयमें इदमित्थतया कुछ भी कह पाना मेरे सामर्थ्यके बाहरकी बात है. अस्तु, इस मीमांसामें उलझे बिना मूलकारके निरूपणका अनुसरण करते हुवे यहां यह उल्लेखनीय है कि श्रील रूप गोस्वामीकी धारणा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके द्वारा प्रतिपादित मर्यादाभक्ति और पुष्टिभक्ति क्रमशः [१/क]वैधी और [१/ख]रागानुगा वाले उपभेदों जैसे ही भेद हैं. जैसा कि वे कहते हैं—"शास्त्रमें उपदिष्ट तत्तत् प्रबल मर्यादाओंसे जुड़ी इसी वैधी भक्तिको कोई 'मर्यादामार्ग' कहते हैं" (भ.र.सि.१।२।५९) "कृष्ण और उनके भक्तों की केवल करुणाके कारण मिलनेवाली इस रागानुगा भक्तिको

कोई 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं" (वहीं.१।२।८९-९०).

वैसे हकीकतमें भक्तिके इन वैधी और रागानुगा प्रकारोंको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा प्रतिपादित मर्यादाभक्ति और पुष्टिभक्ति के स्वरूप या स्वभाव के साथ जोड़ा नहीं जा सकता है. क्योंकि भक्तिरसामृतसिन्धुकारके अनुसार जो प्रवृत्ति भगवद्रागमूलिका न हो कर केवल शास्त्राज्ञामूलिका हो उसे 'वैधभक्ति' कहा जाता है; और, व्रजवासी गोपिका आदि जनोंमें जो भगवान्के प्रति सहज रागात्मक परम आकर्षणके रूपमें जो वृत्ति प्रकट थी, तदनुसारिणी अर्थात् उनके रागोंसे प्रेरणा ले कर प्रकट होनेवाली भक्ति 'रागानुगा' कही जाती है (द्र.:भ.र.सि.१।२।३-४ तथा १।२।६०-६२).

वाल्लभ दृष्टिकोणको यहां समझना हो तो सर्वप्रथम षोड़शग्रन्थान्तर्गत 'संन्यासनिर्णय' नामक ग्रन्थमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणने जैसा निरूपण किया है वह अनुसन्धेय बन जाता है:—

> "(निजगृहमें भगवत्सेवा निभ न पाती हो और बीजभाव दृढ़ होनेके कारण भगवद्विरहानुभूतिकी तीव्रतामें खलल भी पड़ती हो तो) भगवान्की विरहानुभूतिकेलिये गृहपरित्याग प्रशंसनीय हो जाता है. इस तरह लिये गये संन्यासका हेतु भगवद्विरहानुभूतिके अलावा और तो कुछ होता ही नहीं है. सो परिवारके लोगोंका अपने बारेमें मोहभंग हो जाये केवल एतदर्थ ही संन्यासिओंका सा वेश धारण कर लेना उचित होता है. अतः इस विषयमें कौण्डिन्य ऋषिको या व्रजकी गोपिकाओंको अपना गुरु मानते हुवे, भगवदासक्तिकी जैसी सहजतासे उन्होंने गृहत्याग कर दिया था, वैसे ही उनके भावोंकी भावना करते हुवे गृहत्याग कर देना चाहिये. वैसा भाव स्वयं उनके ही भावोंकी भावना करनेसे सिद्ध हो सकता है" (षोड़.सं.नि.६-७).

इस वचनके अनुसार इतना तो स्पष्ट है कि अभिलषित पुष्टिभक्तिके भावोंके बारेमें कौण्डिन्य ऋषि तथा व्रजकी गोपिकाओं के भावोंको प्रेरक आदर्श ही केवल नहीं प्रत्युत गृहत्यागके समय उन्हें गुरु मान कर उनके भावोंको ही भावनीय भी माननेका यहां उपदेश है. वैसे यहां प्रतिपादनमें

मुख्य मुद्दा तो यही है कि जिनसे निजगेहमें भगवत्सेवा-कथा निभ न पाती हो उन्हें ही; और भक्तिका बीजभाव यदि दृढ़ हो गया हो तभी, भगवत्सेवामें प्रतिबन्धकीभूत घरका त्याग संन्यासग्रहणके व्याजसे कर देना चाहिये. यह शुष्क त्यागसाधना या शुष्क वैराग्यपोषण केलिये नहीं है और न यह संन्यासाश्रमधर्मके निर्वाहार्थ ही है. यह भक्तिरसात्मक संन्यासकी अनुज्ञा तो भगवद्विरहानुभूतिमें प्रतिबन्धकीभूत घरसे छुटकारा पानेकेलिये ही केवल है! अतः यह बात पुष्टिभक्तिके सकल प्रकारोंके बारेमें नहीं कही गयी है, जैसाकि असन्दर्भोपात्त उद्धरणोंसे बहुधा तात्पर्यभ्रम हो जाता है. अन्यथा व्रजगोपिकाओंकी तरह कौण्डिन्य ऋषिको भी पुष्टिमार्गमें गुरु क्यों नहीं माना जाता? उनका नाम तो गोपिकाओंसे भी पहले लिया गया है. फिरभी पुष्टिमार्गीय जीवात्माको निजगेहमें सेव्य भावात्मक भगवत्स्वरूपकी भावनाका प्रकार समझाते हुवे महाप्रभुने यह स्पष्ट किया ही है कि "हमारेलिये सर्वभावसे सर्वदा व्रजाधिप ही भजनीय होता है...अतः गोकुलेश्वरका सर्वात्मना भजन-स्मरण कभी भी छोड़ना नहीं चाहिये" (षोड़.चतु.१-४). इस भगवत्स्वरूपकी भावात्मिका सेवा करते समय करणीय भावनाका प्रकार भी पुनः ऐसा ही समझाया गया है— "गोचारणको जब भगवान् वनमें पधारते थे तब जैसा दुःख श्रीनन्द-यशोदाजी एवं गोपिकाओं को गोकुलमें होता था, वैसा दुःख भगवत्सेवाके अनवसरमें मुझे भी कभी होगा क्या! गोचारण करके सांझको भगवान्‌के पुनः गोकुलमें लोट कर आनेपर जैसा सुख गोपिकाओंको और सारे व्रजवासिओंको होता था, वैसा सुख सेवा करते समय भगवान् मुझे भी कभी प्रदान करेंगे क्या!" (षोड़.निरो.१-२) . इसी तरह जिससे भगवत्सेवा स्वगृहमें निभ न पाती हो, उसे भगवद्विप्रयोगकी भावना हृदयमें रखते हुवे भगवत्कथाके श्रवण कीर्तन स्मरण करने चाहिंये सो उसका प्रकार भी महाप्रभुने यों ही समझाया है— "भगवत्सन्देश ले कर उद्धवजीके व्रजमें आनेपर जैसा महान् उत्सव वृन्दावनमें और गोकुलमें हो गया था, वैसा भगवत्कथाके श्रवण कीर्तन या चिन्तन के समय मेरे मनमें कब होगा!" (वहीं.३). अतः "तद्भावो भावनया सिद्धो अन्यत् साधनं न इष्यते" उपदेशसे इस उपदेशका भी अन्वित होना ऊह्य ही है. अतः इन उपदेशोंके द्वारा जो बात पुरःस्फूर्तिकतया सामने आती है, वह यही कि व्रजभक्तोंके भगवद्रागपूर्ण भावोंकी भावनाके द्वारा पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवा-कथाके अनुष्ठानमें भक्तिका रागानुगात्व भी स्वीकारा तो जा सकता

है. यह, परन्तु, जैसा कि हम देख ही चुकें हैं एक साध्योपायतया दिया गया ऐसा निर्देश है कि जिससे सिद्धोपायरूपा पुष्टिभक्ति हमारे भी भीतर कथञ्चित् दशमोक्त निरोधका रूप धारण कर पाये. शुद्धपुष्टिभक्ति, भगवान्की आत्मरतिरूपा होनेके कारण, स्वतःप्राकट्यके उदाहरणोंमें प्रारम्भमें भगवत्स्वरूपासक्तिरूपा या भगवल्लीलासक्तिरूपा होनेपर भी अन्तमें उपेयप्रयत्नोंके द्वारा भगवद्भक्तिके या प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिके रूपमें भी फलित हो ही जाती है. ऐसे ही स्वतो-अप्राकट्यके उदाहरणोंमें परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी वह आत्मरति पूर्वोल्लिखित [१]सत्संग [२]स्ववर्णाश्रमधर्मानुरूपा गृहस्थिति (अथवा उपलक्षणविधया तदितरोंकी अन्यथा भी मानवीय सामान्यधर्मानुरूपा गृहस्थिति) [३]गुरूपसत्ति [४]शरणागति [५]आत्मनिवेदन [६]व्रजभक्तोंके भावोंकी भावनाके साथ की जाती [७]भगवत्सेवा-कथा (अथवा केवल भगवत्कथा भी) आदि अनेकविध उपेतृप्रयत्नोंके द्वारा सिद्ध, प्रकट या फलित हो पाती है. इस पुष्टिभक्तिके प्रकारमें शास्त्रोपदिष्टतया अवश्यानुष्ठेय वर्णाश्रमधर्म पूर्वकाण्डोक्तकर्म उत्तरकाण्डोक्त ज्ञान या स्मृति-पुराण-तन्त्रोक्त नवविधभक्तिसदृश अनेक अंगोंकी भी कुछ न कुछ उपयोगिता मान्य तो की ही गयी है. जैसे केवल देह-गेहासक्तिमें फंसी हुयी मूल आत्मरति 'सांसारिक-रति' कहला जाती है, वैसे ही शास्त्रोपदिष्टतया अनुष्ठेय कर्तव्योंमें उलझी हुयी रतिको ही 'मर्यादाभक्ति' कहा जा सकता है. वही मर्यादामार्गीय कर्म ज्ञान या नवधा भक्ति, परन्तु, पुष्टिभक्तिका अंग बन जानेपर मर्यादामार्गीय न रह कर 'पुष्टिभक्ति' ही कहे-माने जाते हैं. जैसे हमारे सांसारिक अहन्ता-ममतात्मक देह-गेहादि भी भगवत्समर्पणकी प्रक्रियाद्वारा भगवत्सेवाके अंग बननेपर भगवद्भक्त्यर्थ उपादेय बन जाते हैं, तद्वत्, अर्थात् सांसारिक देह-गेहादि उपादेय न भी माने जाते हों तबभी.

इस तरह हम देख सकते हैं कि वैधभक्तिकी धारणामें मर्यादाभक्तिके सारे भाव संकलित नहीं हो पाते. इसी तरह रागानुगभक्ति भी पुष्टिभक्तिके एक प्रमुख आयामको प्रकट करती होनेपर भी अन्यान्य विविध आयामोंको प्रकट नहीं करती है. अन्तमें आग्रहिलतया यदि कोई समानता इस वर्गीकरणमें कहीं खोजनी ही हो तो [२/क]वैधभावरूपा भक्ति मिश्रपुष्टिके अन्तर्गत प्रवाहपुष्टिरूपा भक्तिके समान कुछ हदतक स्वीकारी जा सकती है, क्योंकि महाप्रभु

कहते हैं—"प्रवाहेण क्रियारताः" (षोड़.पुष्टि.१५). वैसे इस समानताको स्वीकारनेके बावजूद ३/ख अतिप्रसादोत्था भक्तिके द्विविध प्रकारोंके अन्तर्गत जो ३/ख/अ माहात्म्यज्ञानोत्था प्रकार दिखलाया गया है, उसे महाप्रभुको अभिप्रेत मर्यादापुष्टिभक्ति या पुष्टिपुष्टिभक्ति में से किसके तुल्य मानना, यह दुर्निर्धारणीय ही रहता है, अन्य किन्हीं प्रकारोंसे तो तुलनाके सर्वथा अप्रसक्त ही होनेसे. ३/ख/आ केवला भक्तिकी विवेचना करते हुवे श्रील रूप गोस्वामी—"रागानुगा भक्तिका आश्रय लेनेवालोंको तो प्रायशः केवलभक्ति सिद्ध होती है" (भ.र.सि.१।४।५) विधान करते हैं परन्तु श्रीरूपशिक्षा प्रकरणमें—"पुनः कृष्णरति हय दुइ त प्रकार, ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा केवला भेद आर. गोकुले केवला रति ऐश्वर्यज्ञानहीन, पुरीद्वये वैकुण्ठाद्ये ऐश्वर्यप्रवीण...केवलार शुद्धप्रेम ऐश्वर्य ना जाने, ऐश्वर्य देखिलेओ निज-सम्बन्ध से माने" (श्रीरूपशिक्षा: १६५-१७२) श्रीचैतन्य महाप्रभुका ऐसा उपदेश भी उपलब्ध होता है. सो केवला भक्ति रागात्मिका ही है या रागानुगा भक्तिकी कोई विकसितावस्था? इस बारेमें सैद्धान्तिक निर्धारण या सम्प्रदायानुसारी ग्रन्थग्रन्थिविभेदकोंके द्वारा समन्वय क्या-कैसा दिखलाया गया है, वह मुझे अवगत नहीं है. ऐसी स्थितिमें इसे न तो 'शुद्धिपुष्टिभक्तिरूपा' कहा जा सकता है और न 'पुष्टिपुष्टिभक्तिरूपा' ही. क्योंकि पुष्टिपुष्टिभक्ति ऐसी कोई भक्त्यवस्था नहीं है जिसका शुद्धपुष्टिभक्तिमें विकास हो पाता हो और शुद्धपुष्टिभक्ति प्रारम्भमें माहात्म्यज्ञानोत्था न होनेपर भी बादमें माहात्म्यज्ञानसे संवलित हो ही जाती है. यह अन्य कथा है कि उसमें "ऐश्वर्य देखिलेओ निज-सम्बन्ध से माने" न्यायके अनुसार माहात्म्यज्ञान गौण ही रहता है, जबकि पुष्टिपुष्टिभक्तिमें माहात्म्यज्ञान एवं सुदृढ़सर्वतोधिकस्नेह परस्पर एक-दूसरेका उपमर्दन किये बिना ही एक विलक्षण भक्तिभावका रूप धारण कर लेते हैं. अतएव महाप्रभु कहते है—"पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः...शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः" (षोड़.पुष्टि.१५-१६). महाप्रभुने अतीव मननीय स्पष्टीकरण इस विषयमें यह भी दिया है कि "भगवान्की विद्याशक्तिके कारण जीवात्मा अपने स्वरूपमें अवस्थित हो पाती है; जैसेकि, अविद्याशक्तिके वश वह देहमें अवस्थित होती रहती है. (पुष्टिशक्तिजन्या) भक्तिका, परन्तु, कुछ ऐसा माहात्म्य है कि भगवान्की विद्या और अविद्या दोनों शक्तियां अपना प्रभाव दिखाना बन्द कर देती हैं" (त.दी.नि.१।३१) अर्थात् देहभाव इतना नहीं निवृत्त हो जाता कि भगवत्सेवा या भगवत्कथा भी न निभ पाये. न वह इतना अनुवृत्त ही रहता है कि भगवद्भक्तिमें भी वह

प्रतिबन्धक हो जाये. बिलकुल इसी तरह भगवन्माहात्म्यका ज्ञान भी इतना नहीं बढ़ जाता कि परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण हमें आत्मतया स्फुरित न हो पायें; और न ब्रह्मजीवतादात्म्यका ज्ञान ही कभी इतना तीव्र बन पाता है कि अंशीका माहात्म्य भी अंशरूपा चेतनामें स्फुरित न होने पाये! पुष्टिपुष्टिभक्तिमें ऐसी विलक्षणता रहती है जिसका सूत्रात्मक परिचय महाप्रभु "पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः" वचनमें दे रहे हैं. यहीं "शुद्धाः प्रेम्णा अतिदुर्लभाः" जो कहा है शुद्धपुष्टिभक्तिके बारेमें है परन्तु "भक्तिः शुद्धा स्वतन्त्रा च दुर्लभेति..." (त.दी.नि.२।१९६) वचन उभयसामान्य हो सकता है (द्र.: त.दी.नि.प्र.१।५०-५१ तथा २।१९६). विरुद्धधर्माश्रय भगवान्की पुष्टिपुष्टिभक्ति भगवद्भक्त जीवात्माओंको भी स्वयं भगवान्के ही जैसा विरुद्धधर्माश्रय सा बना देती है!

अपने उपक्रमोंमें अवर्गीकृत भक्तिके मूलरूपोंकी परिभाषा भक्तिरसामृतसिन्धुकार कुछ इस तरह देना चाहते हैं—[१]साधनरूपा="जो कृतिसाध्य हो और भावसाधिका हो", [२]भावरूपा="जो साधनोंसे जन्य न हो और कृष्ण या कृष्णभक्तों की कृपासे प्रकट होती हो" [३]प्रेमरूपा="जो कृष्णेतर विषयोंमें ममताराहित्यपूर्वक कृष्णमें प्रेमात्मकममतारूपा हो". इन परिभाषाओंके अनुसार प्रथममें पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवा और भगवत्कथा का समावेश किया जा सकता है. द्वितीयमें पुष्टिभक्तिके चारों ही प्रकारोंका समावेश विचारा जा सकता है. तृतीयमें पुष्टिभक्तिके निरोधावस्थामें विकासको खोजना ही हो तो खोजा जा सकता है.

ऐसा कहा जाता है कि श्रील रूप गोस्वामी जब इस ग्रन्थराजका लेखन कर रहे थे, तब महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणका यदृच्छया वृन्दावन पधारना हुवा था. ग्रन्थकारद्वारा निजलेखनको दिखलाये जानेपर महाप्रभुने ग्रन्थगत मङ्गलाचरणमें कुछ त्रुटियोंके बारेमें सूचना देनी चाही थी. सो उसके शोधनार्थ ग्रन्थकारने इसे महाप्रभुके श्रीहस्तमें सोंप दिया. इसपर ग्रन्थकारके भतीजे श्रील जीव गोस्वामी कुछ बुरा मान गये और अपने पितृव्यके निवासस्थलसे यमुनातटपर महाप्रभुके साथ-साथ गये. वहां जाकर उन्होंने शास्त्रार्थका आह्वान दिया कि "अनेकानेक शास्त्र मैंने भी पढ़ रखे

हैं. आओ मेरे साथ शास्त्रार्थ करो!" श्रीयमुनाजीमें स्नान करके श्रील रूपके समीप लौटनेपर महाप्रभुने इसका उल्लेख करते हुवे जीवप्रशंसा उनके पितृव्यके समक्ष की. इसपर श्रील रूप गोस्वामी अपने भतीजेपर इतने रुष्ट हो गये कि उन्हें घरसे बाहर ही निकाल दिया था*.

वैसे सहज सम्भव है कि वह त्रुटि भक्तिरसामृतसिन्धुके मङ्गलाचरणकी न हो कर ग्रन्थकारद्वारा किये गये वाल्लभमतोल्लेखके बारेमें ही श्रीमहाप्रभुको विवक्षित होगी; परन्तु, लगता है कि इस अवांछनीय घटनाके अकस्मात् घट जानेके कारण महाप्रभुने पुष्टिभक्ति तथा मर्यादाभक्ति के बारेमें निजाभिप्राय न तो ग्रन्थकारके समक्ष और न व्याख्याकार के ही समक्ष प्रस्तुत किया होगा. इसके अलावा अन्य कोई त्रुटि दृष्टिगोचर होती तो नहीं है! अतः स्व-स्वमतानुसारी भक्तिरसकी विवेचनाको सानन्द स्वीकारनेके बजाय त्रुटियोंके केवल निर्देशनार्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण आग्रहिल बनें ऐसा भी सम्भव नहीं लगता. क्योंकि महाप्रभु तो सुस्पष्ट शब्दोंमें यह कहते-मानते ही हैं:—

> ब्रह्म और जीवात्माओं के (स्वाभाविकाभेदमें लीलार्थ प्रकट पारमार्थिक ऐच्छिक) भेदपर भार देते हुवे पुरस्कृत भक्तिशास्त्रद्वारा तीन प्रकारके (दिव्य-सात्त्विक)गुणोंवाले भक्तियोगोंका उपदेश यहां भगवान्ने प्रदान किया है. इन्हीं उपदेशोंका अनुसरण करनेवाले सम्प्रति सात्त्विक-तामसभाववाली भक्तिके उपदेशक श्रीविष्णुस्वामी हैं, सात्त्विक-राजसभाववालीके भक्तिके उपदेशक श्रीरामानुजाचार्य हैं; तथा, सात्त्विक-सात्त्विकभाववाली भक्तिके उपदेशक श्रीमध्वाचार्य हैं. मेरा भार तो निर्गुणा भक्तिपर है. यों मूलतः भक्तिके ये चारों ही प्रकार भगवदुपदिष्ट ही हैं" (सुबो.३।३२।३७).

सो ऐसा कहने-माननेवाले महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण श्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायमें अभिमत भक्तिमीमांसाके बारेमें आग्रहिलतया दोषैकदिदृक्षु क्यों

*द्रष्टव्य : श्रीभक्तिविलासतीर्थ महाराज सम्पादित 'श्रीभक्तिसन्दर्भ ग्रन्थमें 'सम्पादकेर निवेदन'(पृष्ठ:६); तथा श्रीतत्त्वसन्दर्भ श्लोकसंख्या ५की श्रीभक्तिसिद्धान्तसरस्वतीकृत टिप्पणी (पृष्ठ:८).वैसे न जाने कैसी कल्पनाओंका अवलम्बन करके इन महानुभावने अन्य भी कई एक अनर्गल बातें लिखत्री हैं, यथा: "...श्रीभट्ट(महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण)...आज्ञा लईया श्रील गदाधर पण्डित गोस्वामीर शिष्यत्व वरण करेन." इत्यादि. यह तो श्रीकृष्णभक्तिके उपदेशके एकछत्राधिकारकी दुर्भावनापूर्ण मनोविकारकी ग्रन्थिसे ग्रस्त अपने साम्प्रदायिक मात्सर्यातिरेकदृष्ट स्वप्नका ही निरूपण होनेसे हास्यास्पद तथा उपेक्षणीय भी है.

बनना चाहेंगे? प्रसंगोपात्त यह स्पष्टीकरण दोहरा देना यहां आवश्यक हो जाता है कि स्वतो-अप्राकटचके उदाहरणोंमें महाप्रभु माहात्म्यज्ञानपूर्वक प्रकट हुवे स्नेहको ही 'पुष्टिभक्ति'तया मान्य करते हैं. स्वतःप्राकटचके उदाहरणोंमें स्वतोजात स्नेहको, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यविरचित सुबोधिनीके अनुसार, भगवान् अपनी विविध लीलाओंद्वारा माहात्म्यज्ञानसे शनैः-शनैः संवलित करते हैं. अतएव प्रकट स्वरूपकी प्रकट लीलाओंमें हृद्या तन्मयताके कारण वह बौद्धिक माहात्म्यज्ञान कभी भी स्नेहातिशायी नहीं हो पाता है. यह तब तककी कथा है कि जब तक शुद्धपुष्टिभक्तोंकी तामसभाववाली स्वरूपासक्ति और लीलासंक्ति राजसभाव सात्त्विकभाव और अन्तमें निर्गुणभावोंमें उदात्तीकरणार्थ अग्रसर होना शुरु नहीं कर देती. ये उभयविध आसक्ति शनैः-शनैः जैसे-जैसे निरोधरूपा बनती जाती हैं, वैसे-वैसे इनके भीतर भक्तिरूपता उभरती जाती है. अर्थात् प्रमाण प्रमेय साधन और फल की अवस्थाओंमें क्रमशः अग्रसर होती तामसभावात्मिका भक्ति, राजसभावात्मिका सात्त्विकभावात्मिका भक्ति और अन्तमें नित्यभजनानन्दप्रदायिनी(=भागवतोक्त मुक्ति+आश्रयभावापत्तिकी प्रदायिका) निर्गुणभावात्मिका भगवद्भक्तिमें भी फलित हो जाती हैं. अतः यद्यपि यह किसी भी ग्रन्थमें कण्ठोक्ततया निर्दिष्ट कथा नहीं है फिरभी कहनेको कहा जा सकता है कि इस अवस्थामें जाकर शुद्धपुष्टि और पुष्टिपुष्टि से प्रकट हुवे भक्तिके प्रकारोंमें कोई उल्लेखनीय तारतम्य नहीं रह जाता! सिवाय इसके कि प्रथम प्रकारके भक्तगण पुष्टिप्रभुकी अनितरसाधारणी कृपाके पात्र होनेसे भूतलपर स्वतःप्रकट स्वरूपद्वारा की जाती परमानन्दरूपा लीलाओंके अन्तःपाती भक्त या नित्यलीला-परिकर होते हैं. इसके विपरीत पुष्टिपुष्टिभक्तोंमें सभीका ऐसा नित्यलीलापरिकर होना अनिवार्य नहीं है. इसके अलावा इन पुष्टिपुष्टिभक्तोंको ऐसी स्पृहणीयतम भक्तिके सर्वगम्य उदाहरणतया भी मान्य नहीं किया जा सकता है. वह तो, क्योंकि, किसी भक्तकी नितान्त वैयक्तिक-भगवदनुभूति ही होती है.

शुद्धपुष्टिके अधिकारियोंकी भगवत्स्वरूपासक्ति और भगवल्लीलासक्ति को निभाते हुवे उन्हें माहात्म्यज्ञानसे संवलित करनेके अनेक उदाहरणोंमेंसे एक उदाहरण है—भगवन्मुखारविन्दमें ब्रह्माण्डके दर्शन कर लेनेके बाद भगवान्‌की वैष्णवी मायाके द्वारा श्रीयशोदाजीका पुनः 'प्रवृद्ध-स्नेह-कलिल-हृदया'

(भाग.१०।८।४४) बन जाना. अन्य भी सभी व्रजभक्तोंके समक्ष अनेकानेक प्रसंगोंमें दावानलपान गोवर्धनधारण सुदर्शनविद्याधरोद्धार आदि लीलाओंद्वारा भगवान्ने अपना माहात्म्य सभी व्रजवासियोंके समक्ष प्रकट जताया ही था. व्रजवासियोंने अपने अदम्य प्रेमभावमूलक तथा अलौकिक-ऐश्वर्यके साक्षात्कारमूलक अपना विस्मय भी श्रीनन्दरायके समक्ष प्रकट कर दिया था. इसपर श्रीनन्दरायने सभी व्रजवासियोंको गर्गोक्त रहस्यसे सूचित भी किया था. अतः 'ऐश्वर्य' कहो या 'माहात्म्य' कहो उससे सभी व्रजवासी परिचित तो हो ही गये थे. न केवल इतना अपितु जिन व्रजगोपिकाओंके स्नेहभावके स्वरूपके बारेमें यह कह जा रहा है कि ऐश्वर्यदर्शनके बाद भी वे उसे स्वीकार नहीं पाती थी सो उनके उदाहरणोंमें भी "प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा", "तन्नः प्रसीद परमेश्वरः", "तव पादतलं रमायाः दत्तक्षण" "श्रीर्यत्पादाम्बुजरजश्चकमे" (भाग.१०।२६ : ३२,३३,३६ तथा ३७) उद्गारोंके अवलोकन करनेपर भगवन्माहात्म्यकी परिचयपूर्विका स्वीकृति भी सुस्पष्ट ही झलकती है. तीव्रविरहकी दशामें अन्य सारे भान भूल जानेपर भी व्रजगोपिकाओंको "अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः", "यान् ब्रह्मेशो रमादेवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये", "रेमे तया चात्मरतः आत्मारामोऽप्यखण्डितः" (भाग.१०।२७ : २८,२९ तथा ३४) "न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनाम् अन्तरात्मदृक् विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले" (भाग.१०।२८।४) तथा "सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः कवय आनतकन्धरचित्ता कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः" (भाग.१०।३२।१५) इन माहात्म्यज्ञान और प्रेमकी पराकाष्ठासे छलकते उद्गारोंको देखते हुवे यह स्वीकारना अशक्यप्रायः ही लगता है कि सभी व्रजगोपिकायें भगवान्के देवादिगणसे प्रार्थ्य वन्द्य और सर्वविस्मापक अलौकिक ऐश्वर्य या माहात्म्य को जानती या मानती नहीं थी! अतः प्रतीत तो यही होता है कि कुछ व्रजभक्त सब कुछ जान-मान लेनेपर भी अपने प्रेमभावको छोड़ नहीं पाते थे. इसे ही महाप्रभु 'निर्गुणा-भक्ति' कहते हैं.

केवल लीलासक्तिको ही पर्याप्त माननेपर इन माहात्म्यज्ञानको प्रकट करनेवाली लीलाओंकी या तो अकिञ्चित्करता या फिर निरर्थकता स्वीकारनी पड़ेगी. दोनोंमेंसे प्रथम कल्पको ग्राह्य माननेपर — स्वतःप्राकट्यके उदाहरणमें अन्तमें उत्पन्न भी माहात्म्यज्ञान लीलासक्तिके सामने प्रभावहीन ठहरेगा.

सो यही पक्ष, निष्कर्षतया, अवलम्बनीय रह जाता हो तो न रागानुगा और न रागात्मिका ही भक्ति पुष्टिभक्तिके किसी भी प्रकारसे संगत हो पाती हैं. उल्लिखित विवरणमें रागात्मिका भक्तिके असंकलनद्वारा श्रील रूप गोस्वामी भी रागात्मिका भक्तिको प्रमेयबलजाता उपेयप्रयत्नात्मिका अर्थात् शुद्धपुष्टिभक्तिरूपा ही तो कहीं स्वीकारना न चाहते हों! यदि यह सच हो तब तो समन्वय अवश्य शक्य बन जाता है. वैसे रागात्मिका और केवला एक ही हैं या पृथक्-पृथक् इस बारेमें कुछ भी विधान करना मेरेलिये अनधिकारचेष्टा ही होगी. किसी भी स्थितिमें स्वयंको अभिप्रेत निर्गुणा पुष्टिपुष्टिभक्तिके अनुसन्धानमें महाप्रभुका यह डिंडिमघोष सर्वथा श्रवणीय ही है कि—"शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः भगवत्सेवने योग्याः नान्ये" (सुबो.१।१।३). "अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिः विधीयताम्" (सि.मु.१२) इसके विपरीत भक्तिरसामृतसिन्धुकार तो भक्तिकी सामान्य परिभाषामें ही—"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्, आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिर् उत्तमा" (भ.र.सि.१।१।११) निरूपण करते हैं. इस दृष्टिकोणसे उन्हें अभिप्रेत भक्तिका स्वरूप भी यत्किञ्चित् तो स्पष्ट होता ही है. जबकि वाल्लभ सम्प्रदायमें पूर्वकाण्डोक्त वैदिककर्मोंको तथा उत्तरकाण्डोक्त ब्रह्मविद्याओंको क्रमशः परब्रह्म-परमात्माकी क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति के रूपमें मान्य किया गया होनेसे (द्र.:ब्र.सू.भा.१।१।२ तथा त.दी.नि.२।१-३) तथा गीतोक्त भगवत्प्रपत्ति तथा भागवतोक्त भगवद्भजनासक्ति को भगवत्स्वरूपके माहात्म्य और/अथवा तादात्म्य की अनुभूतिके साथ लीलानन्दात्मिका पुष्टिशक्तिके जीवात्मामें प्रतिफलनतया माना गया होनेके कारण क्रिया-ज्ञान-शक्तियोंसे अनावृत ही होना या आवृत ही होना, ऐसी कोई भी स्वाभाविकी नियति स्वीकारी नहीं जा सकती है. लीलानियतिकी कथा तो ऐच्छिक भेदपर निर्भर करती है, स्वाभाविक अभेदपर नहीं (द्र.:त.दी.नि.२।८९-९०).

निष्कर्षतया इस सन्दर्भमें महाप्रभुविरचित षोड़शग्रन्थान्तर्गत पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थके पूर्वोदाहृत वचनकी महाप्रभुविरचित ही तत्त्वार्थदीपनिबन्धगत कुछ कारिकाओंके साथ संगति देख लेनी भी उपकारक होगी.

वे कारिकायें यों हैं:—

स्वमते यथा भजनं तथा संकलीकृत्य आह:—

(१)एवं "सर्वं ततः"-" सर्वं स" इति ज्ञान-
योगतो यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिः
उत्तमः(=पुष्टिपुष्टिभक्तः).
(२)प्रेमाभावे मध्यमः(=मर्यादापुष्टिभक्तः) स्याद्.
(३)ज्ञानाभावे तथा आदिमः(=प्रवाहपुष्टिभक्तः).
(४)उभयोरपि अभावे तु पापनाशः ततो भवेत्.

'एवं सर्वम्' इति, एवं सर्वं निश्चित्य— "[क]सर्वं भगवतएव"-"[ख]सएव च सर्वम्" इति वैदिक-[क]गौण-[ख]मुख्य-ज्ञानयुक्तः—प्रेम्णा श्रवणादिप्रकारेण यो भजते स भक्तिमार्गे उत्तमः. शास्त्रार्थज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजने मध्यमः. 'प्रेमाभावे मध्यमः' इति वा. "ज्ञानाभावे 'तथा'=मध्यमः" इति अर्थः; आदिमो वा. उभयोः अभावे श्रवणादीनां पापनाशकत्वं, धर्मत्वं वा, नतु भक्तिमार्गः इति अर्थः (त.दी.नि.प्र.१।१०१-१०२).

इसे सरलतासे समझना हो तो इन समीकरणोंको दृष्टिगोचर बना लेना चाहिये: य=गौणज्ञान, र=मुख्यज्ञान, ल=प्रेम, व=श्रवणादिक्रिया. अतः य+र+ल+व=उत्तमभक्ति, य+ल+व=मध्यमभक्ति, य+र+व=मध्यमभक्ति, ल+व= आदिमभक्ति और व=पापनाशकधर्मरूप कर्म.

तैत्तिरीयोपनिषद्में ब्रह्मके निरूपणमें ऐसा वचन उपलब्ध होता है कि—"रसो वै सः. रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति...एषह्येव आनन्दयाति" (तैत्ति.उप.२।७). इससे यह तो सिद्ध ही है कि ब्रह्म न केवल आनन्दरूप ही केवल है अपितु आनन्ददायक भी है ही. अतः "रसो वै सः" वचनके अनुरोधवश उसका आनन्दरूप होना उसकी आत्मरतिका प्रमाण है. "एष ह्येव आनन्दयाति" वचनके अनुरोधवश वह अपनी इसी आत्मरतिद्वारा यथायथ अपनी व्यामोहकशक्ति अविद्याशक्ति विद्याशक्ति पुष्टिशक्ति अथवा श्रीशक्ति का अपने अंशरूप जीवोंमें आवेश करा कर उन्हें भी आनन्दित करता है. इन अनेकविध शक्तियोंद्वारा क्रमशः प्रवाहिजीवोंको मर्यादाजीवोंको पुष्टिजीवोंको और नित्यलीलास्थ परिकरोंको एवं भूतलपर प्रकट अपने

लीलापरिकरोंको भी आनन्द प्रदान करता ही है. प्रवाहिजीवोंको क्षुद्र विषयानन्द, मर्यादाजीवोंको शास्त्रप्रशस्त पुरुषार्थचतुष्टयानन्द, पुष्टिजीवोंको भजनानन्द और अपने लीलापरिकरोंको स्वस्वरूपानन्द एवं लीलानन्द भी. इनमें जिसे श्रीचैतन्यसम्प्रदायमें 'ह्लादिनी-शक्ति' कहा जा रहा है. वह केवल नामान्तर होनेसे कभी वाल्लभ सम्प्रदायमें अमान्य हो नहीं सकती है. अतएव उसके दो रूप—सुखरूपा और सुखप्रदरूपा—भी सर्वथा स्वीकार्य ही विश्लेषण है. वस्तुतः पुष्टिरूप वरण ही जीवात्माके भीतर भक्तिके बीजभावतया आहित होता है, ऐसा स्वीकारनेके कारण परमात्माकी 'निजानन्दात्मिका आत्मरति' कहो, 'पुष्टिमार्गीय वरण' कहो, 'बीजभाव' कहो अथवा 'ह्लादिनी शक्ति' कहो यह तो सब कुछ "रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः" ही में पर्यवसित हो जाता है!

अन्य किसी मतैक्य या मतभेदों के सायास विश्लेषणोंको करते रहनेके बजाय इस पड़ावपर मिल रहे उभयाह्लादक स्वरूपसुषमाके निरायास विचारसुखार्थ इस विषयका उपसंहार यहां कर देना उचित होगा!

:: पूर्वसिद्ध आत्मरति ही उपेयप्रयत्नसे प्रकट होनेपर 'निरोधलीला' कहलाती है ::

शांकर वेदान्तके अनुसार प्रत्यक्चैतन्यके स्वभावतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होनेके कारण उसकी मुक्तता केवल ज्ञेय ही होती है—उत्पाद्य प्राप्य या संस्कार्य नहीं. क्योंकि ऐसा होनेपर वह नित्य नहीं रह पायेगी. अतएव कहा गया है—"नास्त्यकृतः कृतेन". रामानुज सम्प्रदायके अनुसार आत्मोद्धारोपाय कभी साध्य तो कभी सिद्ध भी हो सकते हैं. अतएव शरणागतिके सिद्धोपाय होनेकी धारणाके अनुरूप उसे उपेयावलम्बन माना गया है, उपायावलम्बन नहीं (द्र.: श्रीव.मीमां.भा.२।१२). वाल्लभ वेदान्तके अनुसार जीवात्माके भीतर प्रकट होती भगवद्रति ब्रह्मकी आत्मरतिका ही नाम-रूपात्मक व्याकरण है. महाप्रभु कहते हैं:—

(क)स्नेह तो एक विलक्षण पदार्थ ही होता है. स्नेह भगवान्‌के

भीतर रहनेवाला एक ऐसा धर्म है कि जिसके आदिम स्रोत तथा चरम विषय भी स्वयं भगवान् ही होते हैं. जैसे ज्ञान अथवा ऐश्वर्य मूलमें भगवान्के भीतर रहनेवाले धर्म ही होते हैं परन्तु भगवत्सम्बन्ध या भगवन्नैकट्य के कारण अन्यत्र भी उनका भास होता है तद्वत् स्नेह भी भगवान्के नैकट्यवशात् प्रकट होता है. उष्णता, जैसे, तेजका ही धर्म है परन्तु तैजस् वस्तुके सामीप्यवश अन्यत्र भी उष्णता अनुभूत होने लगती है. अतः जैसे-जैसे जीवात्मा भगवान्का नैकट्य पाती जाती है, वैसे-वैसे ही जीवात्माके भीतर स्नेह भी बढ़ता चलता जाता है. हमारे शरीरके भीतर रहनेवाली आत्माके बारेमें हमें अतिशय स्नेहका जो भाव रहता है उसका भी मूलकारण यही है कि हमारी आत्माके भीतर ही परमात्मा भी विद्यमान है. अतएव वह हमसे अतिशय निकटवर्ती होता है. ऐसी परमात्मान्तर्गर्भित इस शरीरस्थ आत्माके अध्यासके कारण देहादिमें भी स्नेह प्रकट हो जाता है. (ख)प्रीति तो एक भगवान्के भीतर रहनेवाला धर्म है. भगवान्ने सुखदानार्थ सभी जीवात्माओंमें इसे अंशतः या खण्डशः प्रकट रख्खा है. अतः जो जीवात्मा जिस किसी विषयको चाहने लग जाती है, उसे उस विषयसे सुख मिलने लग जाता है. अन्तमें तो स्वयं अपना ही सुख हमें मिलता रहता है!(सुबो.१।१९।१६-२।२।६).

इससे सिद्ध होता है कि इस निरोधमें, प्रपञ्चविस्मृतिरूप अंश तो भगवल्लीला एवं भगवत्स्नेह द्वारा उत्पाद्य या सम्पाद्य है, परन्तु, भगवदासक्ति अथवा भगवद्व्यसन के अंश तो ब्रह्मके पूर्वसिद्ध आत्मरमणके ही नामान्तर एवं रूपान्तर से केवल प्राकट्यमात्र हैं. अतः वे कृतक(=कृत्रिम) साध्य उत्पाद्य प्राप्य या संस्कार्य भाव नहीं हैं. किसी उपायके अवलम्बनद्वारा प्रकट हुवे भाव भी ये नहीं हैं प्रत्युत उपेयरूप स्वयं परमात्मा श्रीकृष्णके साधनान्तरकी अपेक्षा रखे बिना प्रकट हो जानेके कारण प्रकट हुवे ये उपेयावलम्बी भाव हैं. वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार कहना हो तो जीवन्मुक्ति तथा म्रियमाणमुक्ति के निरूपक ब्रह्मसूत्रचतुर्थाध्यायके प्रथम एवं द्वितीय पादोंमें प्रतिपादित विषयोंका ही यह भगवल्लीलात्मक निदर्शन है. अतः निरोधलीला लीलान्तःपाती जीवात्माओंके भीतर अपने ,लीलाविहार अर्थात्

उपेयप्रयत्नात्मिका लोकवेदातीत फलरूपा भक्तिका एक विलक्षण एवं मधुरतम रूप है. चतुर्विध या पञ्चविध विदेहमुक्ति अर्थात् स्वस्वरूपमें पुनरवस्थान दशमस्कन्धके बाद आनेवाले एकादशस्कन्धका वर्ण्यविषय है. इसी तरह मर्यादामार्गीय एवं पुष्टिमार्गीय सभी जीवात्माओंके भगवान्में मुक्त हो जाने तथा प्रवाहमार्गीय जीवात्मसृष्टि एवं जड़सृष्टि के ब्रह्ममें लीन हो जानेके बाद निखिल नाम-रूप-कर्मोंके आश्रयरूप ब्रह्मकी योगनिद्रा · प्रलय अथवा आश्रयकैवल्य बारहवें स्कन्धका वर्ण्यविषय है.

:: निरोधलीलाके अन्तर्गत जन्मप्रकरण और तामसप्रकरणान्तर्गत प्रमाण-प्रमेय-साधन रूपी अवान्तरप्रकरणोंका स्वरूप ::

इस निरोधलीलाके अन्तर्गत जो प्रथम जन्मप्रकरणके चार अध्याय हैं वे पूर्वोदाहृत—"उसी परमकाष्ठापन्न वस्तुके कभी जगदुद्धारार्थ अखण्ड पूर्णतया प्रादुर्भूत होनेपर उसे 'कृष्ण' कहा जाता है" तथा —"'कृष्ण' शब्दद्वारा परम तत्त्वकी बात कही जा रही है. क्योंकि 'मुझे अपने भीतर रहा परमसौन्दर्य प्रकट करना है' ऐसी इच्छाके साथ जब कभी वह साकार प्रकट हो जाता हो तो उसे 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है" वचनोंमें निरूपित उस परम तत्त्वकी अपनी अखण्डता एवं पूर्णता प्रकट रखते हुवे साकार प्रकट होनेकी कथा है. अपने ऐसे प्रकट सौन्दर्यद्वारा लीलान्तःपाती तामस राजस सात्त्विक; और अन्तमें निर्गुण भाववाले जीवोंकी विषयासक्तिको हठात् छुड़ा कर स्वस्वरूपानन्दके सौन्दर्यमें निरुद्ध कर लेना यह श्रीकृष्णके प्रकट होनेका प्रयोजन है ही. अतः जन्मप्रकरणके बाद महाप्रभुके अनुसार दशमस्कन्धमें मूलतया चार प्रकरण हैं: तामसनिरोध राजसनिरोध सात्त्विकनिरोध और निर्गुणनिरोध. इनके अवान्तर प्रकरण पुनः प्रमाणनिरोध प्रमेयनिरोध साधननिरोध और फलनिरोध की कथाओंके रूपमें अवस्थित हैं.

'निरोध' पद एक साकांक्ष पद है. अतः इस पदके साथ ये आकांक्षायें जुड़ी रहती हैं: [1]किसका निरोध?, [2]किससे निरोध?, [3]कहां निरोध?; और, [4]कैसा निरोध?

यों जन्मप्रकरणके बाद आते सात अध्याय तामसप्रमाणनिरोध लीलाके

निरूपणार्थ हैं. प्रस्तुत सन्दर्भमें हमें इसे यों समझना चाहिये — [1]भगवान्के अपने शिशु बाल एवं कुमार रूपोंद्वारा की जाती लीलामें उत्सव, भय, कौतुक, गर्गमुनिके विधानोंसे पैदा हुवा विस्मय, यमलार्जुनभंग; तथा, बकघातादिकी लीलाओंके अन्तःपाती भक्त्यर्ह तामसजीवोंका निरोध, [2]वह परम तत्त्व स्वतःप्रकट न होता हो तो अज्ञानमूलक या अन्यथाज्ञानमूलक श्रुत्यादि शास्त्रोंके वचनार्थनिश्चय या ऐसे भक्त्यादि भी उसे जान पानेके समुचित उपाय नहीं हो सकते. स्वतःप्रकट हो जानेपर, किन्तु, भगवत्स्वरूपासक्ति या भगवल्लीलासक्ति मूलक अज्ञान या अन्यथाज्ञान द्वारा भी उसे जाना जा सकता है. यह अप्राकट्यकालीन प्रमाणव्यवस्थासे प्राकट्यकालीन तामसप्रमाणका निरोध है. [3]स्वतःप्रकट प्रभुके शिशु-बाल-कुमारावस्थ स्वरूपमें एवं तामसलीलाओंमें निरोध, [4]प्रभुके शिशु बाल कुमार रूपोंके अनुरूप लीलान्तःपाती जीवात्माओंके भीतर वात्सल्य सख्य आदि तामसभावरूप बीजभावके भक्तिके रूपमें अंकुरित हो जानेवाला तामसप्रेमावस्थारूप निरोध.

तामसप्रमाणप्रकरणके बाद सात अध्यायोंमें, महाप्रभुके अनुसार, तामसप्रमेयनिरोधलीलाका वर्णन अभिप्रेत है. तदनुसार इस प्रकरणमें 'निरोध' पदकी आकांक्षाओंकी पूर्ति ऐसे होती है — [1]प्रभुकी पौगण्डलीलाओंके अन्तःपाती भक्त्यर्ह तामसप्रेमवालोंका निरोध, [2]उस परम प्रमेयरूप परमतत्त्वके लोकवेदप्रथित अनेकानेक रूप हो सकते हैं किन्तु उन अन्य सभी रूपोंसे स्वयं अपना निरोध अर्थात् लीलामें प्रकट तामसस्वरूपकी ही लोकवेदातीत प्रमेयतामें निरोध, [3]प्रकट प्रभुके तामस पौगण्डस्वरूप एवं तामसी पौगण्डलीलाओं में निरोध, [4]प्रभुके पौगण्ड आदि रूपोंके अनुरूप लीलान्तःपाती जीवात्माओंके भीतर वात्सल्य सख्य या माधुर्य आदि स्नेहकी तामस-आसक्तिरूपा अवस्थामें पल्लवित हो जानेवाला निरोध.

तामसप्रमेयप्रकरणके बाद सात अध्यायोंमें, महाप्रभुके अनुसार, तामससाधननिरोधलीलाका वर्णन अभिप्रेत है. तदनुसार इस प्रकरणमें 'निरोध' पदकी आकांक्षाओंकी पूर्ति ऐसे होती है: [1]पौगण्ड-किशोररूपोंमें भगवान्के द्वारा की जाती लीलाओंके अन्तःपाती भगवदासक्तोंका निरोध, [2]उस परम प्रमेयरूप परमतत्त्वकी प्राप्तिके लोकवेदप्रथित — वैराग्य सांख्य योग तप भक्ति व्रत

इतरदेवयजन इतरदेवपूजा आदि — अनेकानेक साधन हो सकते हैं, उन सबसे निरोध. अर्थात् निजस्वरूपके बारेमें रही लीलान्तःपाती जीवोंकी आसक्तिको लीलार्थ प्रकट स्वरूप जिन लीलोपदिष्ट उपायोंद्वारा स्नेहकी व्यसनदशामें विकसित करना चाहता हो, केवल उन्हीं उपायोंमें निरोध, [3]प्रकट प्रभुके किशोररूपमें एवं किशोरलीलाओं में निरोध, [4]प्रभुके किशोररूपके अनुरूप लीलान्तःपाती भगवदासक्तोंके भीतर प्रकटरूपके माहात्म्यज्ञानके साथ वात्सल्य सख्य या माधुर्य आदि तामसस्नेहको व्यसनावस्थामें पहुंचानेवाला निरोध.

तामससाधनप्रकरणके बाद सात अध्यायोंमें, महाप्रभुके अनुसार, तामसफलनिरोधलीलाका वर्णन अभिप्रेत है. तदनुसार इस प्रकरणमें 'निरोध' पदकी आकांक्षाओंकी पूर्ति ऐसे होती है — [1]किशोरलीलाओंके अन्तःपाती भक्त प्रपञ्चको सर्वथा विस्मृत कर भगवान्में पूर्णतया आसक्त हो जायें ऐसा निरोध, [2]उस परमतत्त्वकी प्राप्तिके लोकवेदप्रथित वैराग्य सांख्य योग तप या भक्ति आदि अनेकानेक साधनोंसे साध्य अनेकविध फल हो सकते हैं, उन सभी फलोंसे निरोध. अर्थात् लीलामें प्रकट स्वरूपके बारेमें रही कायिक वाचिक तथा मानसिक व्यसनभावापन्न रतिको निरोधलीलार्थ बाह्य या आभ्यन्तर, संयोगरसात्मिका या विप्रयोगरसात्मिका, जैसी भी अनुभूति भगवान् प्रदान करना चाहें उन फलात्मिका रसानुभूतियोंमें निरोध, [3]प्रकट प्रभुके किशोररूपमें एवं किशोरलीलाओं में निरोध, [4]प्रभुके किशोररूपके अनुरूप लीलान्तःपाती भगवत्स्वरूपव्यसनी एवं भगवल्लीलाव्यसनी भक्तोंके भीतर तामस वात्सल्य सख्य दास्य माधुर्य आदि अनेकविध रसभावोंमें निरोध (द्र. : त.दी.नि. ३।१०।१-११२).

इस तन्मयताके कारण भक्तोंके हृदयमेंसे विषयासक्ति सर्वथा निवृत्त हो जाती है और केवल भगवदासक्ति ही शेष रह जाती है. इसी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवद्व्यसनभावापन्ना भगवद्रतिके कारण जीवात्मा इतने आत्यन्तिक आत्मभावके साथ भगवदनुभूति करने लग जाती है कि परमात्माके आत्मरमणका वह इस भूतलपर प्रकट आदर्श या उदाहरण ही बन जाती है.

:: साधनप्रकरण और फलप्रकरण की पूर्वोत्तरभावसंगति ::

सर्वप्रथम उपसंहृत तामस-साधन-प्रकरणके बाद उपक्रान्त होनेवाले तामस-फल-प्रकरणकी पूर्वोत्तरभावसंगतिको संक्षेपमें दृष्टिगत कर लेना आवश्यक होगा.

प्रापञ्चिक विषयोंके बारेमें हमारे भीतर रहे व्यसन आसक्ति प्रेम और रुचि के भाव, व्युत्क्रमशः, भगवान्‌के स्वरूप-लीलाओंमें पनपते रुचि प्रेम आसक्ति एवं व्यसन भावोंके द्वारा निवृत्त होते जाते हैं. अर्थात् भगवद्रुचिसे विषयव्यसन, भगवत्प्रेमसे विषयासक्ति, भगवदासक्तिसे विषयप्रेम और भगवद्व्यसनसे विषयरुचि निवृत्त होती हैं. सो रुचिरहित होनेपर विषयस्मृति क्षीणतर होना शुरु कर देती है. अतः इस प्रक्रियाके अनुसार भगवदासक्तिवशात् विषयप्रेमरहित हो जानेके कारण साधन-प्रकरणके प्रारम्भमें यह निरूपित हुवा कि व्रजकी गोपिकायें सकल दैहिक भाव और दैहिकी लज्जा को छोड़ कर भगवत्प्राप्तिकेलिये जो भी लौकिक या वैदिक साधन हों उन्हें करने उद्यत थी यों भगवान्‌के बारेमें उनका व्यसनभाव सिद्ध हो गया था. यह दिखलानेकेलिये ही गोपकुमारिकाओंद्वारा किये गये कात्यायनीव्रतका प्रसंग निरूपित हुवा है. इस प्रसंगमें सारे लौकिक भावोंको छोड़ कर, जैसा कुछ करनेकी भगवान्‌ने उन्हें आज्ञा दी, तदनुसार गोपिकाओंने आज्ञानुसरण किया. बादमें गोपबालकोंको वृक्षोंकी तरह परोपकारनिरत जीवन जीनेका आदर्श समझाया गया. इसके बाद व्यसनदशा सिद्ध हो जानेपर भूख जैसी लौकिक आवश्यकताओंकी पूर्तिकेलिये भी भगवान्‌के अलावा अन्य कोई गोपबालकोंको याद नहीं आया, यों गोपबालकोंके भीतर भी व्यसनभावकी सिद्धि दिखलायी गयी. जैसे लौकिक विषयोंकी विस्मृति यहां दिखलायी गयी, वैसे ही वैदिक विषयोंकी विस्मृति विप्रपत्नियोंकी कथामें दिखलायी गयी है. निजपरिवारजनोंके द्वारा रोके-टोके जानेपर भी वृन्दावनमें विहार करते भगवान् और उनके सहचारी गोपबालकोंको यज्ञार्थ सम्भृत अन्न विप्रभार्याओंने खिला दिया था. यह विप्रभार्याओं, और अन्तमें उनके द्वारा विप्रपुरुषोंको भी, वैदिक द्रव्य-कर्मोंकी विधियोंके विषयकी विस्मृति एवं ऐसी स्मृतिकी क्षुद्रताके बोधद्वारा निरूपित हुवा है. इसके बाद अविहित

होनेसे अनावश्यक इन्द्रयागके निराकरणद्वारा इन्द्रदेवका आश्रय छुड़ा कर स्वयं भगवदाश्रयद्वारा सर्वाभीष्टसिद्धिकी कथा कही गयी है. वैष्णवशास्त्रविहित व्रत भी व्रताधिपति भगवान्के स्वयं प्रकट होनेपर अकिञ्चित्कर हो जाते हैं. अतः एकादशीव्रतरत श्रीनन्दकी वरुणापहरणसे मुक्ति तथा श्रीनन्दादि गोपोंको अपने सत्य-ज्ञान-अनन्तरूप अक्षरब्रह्मात्मक वैकुण्ठलोकके अचिन्त्य वैभवके प्रदर्शनद्वारा सभी व्रजजनोंमें माहात्म्यज्ञानकी सिद्धि दिखला दी गयी है.

संक्षेपमें इस साधनप्रकरणोपदिष्ट साधनोंका उपदेशसार यही है कि भगवान्के स्वतःप्रकट होनेपर, अन्यान्य लौकिक विषयोंमें रहे मायामोहसे छुटकारा पा कर तथा स्वयं धर्मकि प्रकट हो जानेके कारण धर्मोपदेशक शास्त्रोंके विधिविधानोंके बन्धनोंसे भी छुटकारा पा कर, केवल भगवदाज्ञाका अनुसरण ही प्रकट स्वरूपकी फलात्मिका अनुभूति पानेका एक अपेक्षित साधन बन जाता है. अतः परोपकार दान व्रत यज्ञयाग आदि सभी भगवान्के असाधारणमाहात्म्यको जान-मान कर भगवदिच्छाके आधीन करते रहने या छोड़ देने चाहिये. स्वतःप्रकट भगवान्के साथ सतत तत्पर हो कर रहना ही तामस-साधन-प्रकरणका सारभूत फलप्रापक उपदेश है.

:: षड्विधतात्पर्यलिंगोंके विमर्शद्वारा फलप्रकरणकी मीमांसा ::

इस तरहके तामस-साधन-प्रकरणके उपसंहारके बाद तामस-फल-प्रकरण प्रारम्भ होता है.

यही बात रासलीलाके प्रारम्भ मध्य और उपसंहार में अनेकरीतिसे निरूपित की गयी है. मीमांसाशास्त्रके अनुसार किसी भी शास्त्रीय प्रकरणके वास्तविक तात्पर्यके बोधार्थ छह अंग निर्धारित किये गये हैं: [1]उपक्रम-उपसंहार, [2]अभ्यास, [3]अपूर्वता, [4]फल, [5]अर्थवाद; तथा, [6]उपपत्ति. इन षड्विध अंगोंके आधारपर इस तामस-फल-प्रकरणके तात्पर्यकी मीमांसा भी कर लेनी आवश्यक है.

शास्त्रतात्पर्यनिर्धारक मीमांसाके षड्विध अंगोंमें सर्वप्रथम [1]उपक्रम-

उपसंहारका विमर्श करें तो प्रकरणारम्भमें ही "योगमायाको अपने साथ रख कर भगवान् रासलीलार्थ प्रवृत्त हुवे" यह उल्लेख (द्र.: भाग.१०।२६।१) मिलता है. यह योगमाया न तो सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्ति है, न अविद्याशक्ति, न व्यामोहकशक्ति; और न विद्याशक्ति ही. यह योगमाया तो परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी आनन्दात्मिका पुष्टिशक्ति जैसी एक शक्ति है. इन पुष्टिशक्ति तथा योगमायाशक्ति के द्वारा भगवान्ने अपनी आत्मरतिका नाम-रूप-कर्मात्मक अपूर्व तथा मधुरतम व्याकरण किया है. इसी तरह इस प्रकरणके उपसंहारमें केवल रात्रीलीलामें ही नहीं अपितु दिनमें भी की जाती भगवल्लीलाओंमें भी व्रजगोपिकाओंके, इसी तरहसे उपलक्षणविधिसे अन्य भी व्रजभक्तोंके, चित्तोंकी असाधारणी तन्मयताका निरूपण किया गया है. अन्यथा व्रजस्थित गोपिकाओंको वृन्दावनस्थित भगवान्की लीलाका साक्षात्कार स्वयं लीलात्मिका बने बिना कैसे सम्भव हो सकता है! अतः यह भगवान्की आत्मरतिका ही निरूपण है. साथ ही साथ यहां रासलीलाके उपक्रममें ही भगवान्के प्रति सगुण जारभावसे अभिसरण करनेवाली अनेक गोपिकायें रासलीलामें पहुंच न पायी. सो दुःसह प्रेष्ठविरहके तीव्रताप और ध्यानप्राप्त अच्युताश्लेषके सुखके कारण वे शुभाशुभ कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो कर भगवत्सायुज्यरूपा मुक्तिको प्राप्त हो गयी! यह कथा इस तथ्यका सुस्पष्ट संकेत है कि रासलीलामें पहुंचनेवाली गोपिकायें त्रिगुणातीत सर्वात्मभावसे सम्पन्न थी. इतना ही केवल नहीं प्रत्युत अग्रिमलीला सायुज्यमुक्तिसे भी श्लाघ्यतर है, यह सिद्ध हो जाता है.

[२]अभ्यासरूप अंगके ज्ञानार्थ रासलीलाके प्रारम्भ होनेसे पूर्व वहां पहुंच पानेवाली गोपिकाओंके ये वचन मननीय हैं—"सन्त्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलं प्राप्ताः"—"प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किल बन्धुरात्मा" (भाग.१०।२६।३१-३२). विषयासक्तिरहित सर्वात्मभाव, जो आत्मरतिका ही रूपान्तर है, के ही द्योतक ये वचन हैं. इसी तरह इसी अध्यायमें पुनः "...योगेश्वरेश्वर भगवान्ने आत्माराम होनेपर भी गोपिकाओंके साथ रमण किया" (भाग.१०।२६।४२) इस वचनमें भगवान्के आत्माराम होनेका निरूपण रासलीलाके आत्मरति होनेके तथ्यको ही उजागर करता है.

इसके बाद सत्ताईसमें अध्यायमें भगवान्‌के तिरोहित हो जानेपर गोपिकाओंकी जो 'कृष्णोऽहम्' की रसात्मिका प्रतीति वर्णित हुयी है, उसका वास्तविक अभिप्राय छान्दोग्योपनिषद्गत जिस भूमानिरूपणके आधारपर समझा जा सकता है वह वचन यों है:—

> जहां और कुछ दिखलायी न पड़ता हो, और कुछ सुनायी न देता हो, और न कुछ समझमें ही आता हो उसे 'भूमा' कहा जाता है...वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायें है, वही बांये है, वही सब कुछ है. ऐसी अनुभूति होनेके बाद 'अहं'तया उसकी अनुभूति होने लगती है कि मैं ही नीचे हूं, मैं ही ऊपर हूं, मैं ही पीछे हूं, मैं ही आगे हूं, मैं ही दायें हूं, मैं ही बांये हूं, मैं ही सब कुछ हूं. इसके बाद उसकी आत्मतया अनुभूति होने लग जाती है कि आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायें है, आत्मा ही बांये है, आत्मा ही सब कुछ है. जो कोई भी उसे इस तरह देख पाता है, स्वीकार पाता है या जान पाता है. वह आत्मरति आत्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्द स्वराड़् बन जाता है...(छान्दो.उप.७।२४-२५।१-२).

इस उपनिषद्वर्णित सर्वात्मभावके अनुरूप ही यहां भी—"एक कृष्णमना गोपी—'मैं कृष्ण हूं! मेरी ललित गतिको देखो!!' ऐसा बोलने लगी" (भाग.१०।२७।१९) इस वचनमें निजात्माभिन्नतया भगवान् श्रीकृष्णके प्रतिभान होनेका उल्लेख उपनिषद्वर्णित सर्वात्मभावका ही एक मधुरभाष्य है. अध्याय-समाप्तिगत यह श्लोक कि—"इस तरह ब्रजकी गोपिकायें भगवन्मनस्क बन कर भगवदालाप करती हुयी, भगवान्‌की चेष्टाओंको करती हुयी और भगवद्गुणोंका ही गान करती हुयी भगवदात्मिका बन जानेके कारण निजात्मगेहादि सभीको भूल गयीं" (भाग.१०।२७।४३) यह भी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूप निरोध या आत्मरति की ही अभ्यासोक्ति है.

इसके बाद आते गोपीगीतगत—"आप हमारी व्रजरानी श्रीयशोदाके पुत्र

नहीं हो! आप तो निखिल देहधारियोंके अन्तःकरणके साक्षी परमात्मा हो!" (भाग.१०।२८।४) वचनमें गोपिकायें भगवान्‌को जो अखिल देहधारियोंके भीतर रहनेवाले 'अन्तरात्मदृक्' कह रही हैं, वह भी शब्दान्तरमें भगवान्‌के आत्मरमणका ही निरूपण है.

उन्नतीसवें अध्यायकी—"नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्..." (भाग.१०।२९।२०) कारिकाके व्याख्यानमें भगवान्‌के आत्माराम होनेके कल्पका निराकरण जो महाप्रभुने किया है उसका तात्पर्य 'माहात्म्यज्ञान'न्यायेन उट्टंकित करना चाहिये. अर्थात् इस सृष्टिको प्रकट करना परब्रह्मके अचिन्त्य असीम सामर्थ्यके विचार करनेपर वस्तुतः कोई माहात्म्य जैसी बात बनती नहीं है. उदाहरणतया किसी राजाका राजसिंहासनपर आ कर बिराजमान होना कोई विशेष माहात्म्यकी बात नहीं प्रत्युत एक सहज बात ही होती है. फिरभी साधारणजनकी दृष्टिमें उसे राजाके माहात्म्यतया जाना-कहा जाता है. इसी तरह भगवान्‌का आत्माराम आप्तकाम आत्मरति आत्मक्रीड़ आदि होना जीवदृष्ट्या माहात्म्य बन जाता है. अतः विधान्तरसे यह भी इस रासलीलाके आत्मरमण या आत्मरति होनेके उपोद्बलक अभ्यासार्थ ही है. सो इस व्याख्यानको भी एक बार दृष्टिगत कर लेना यहां उपकारक ही होगा:—

> **मैं तो भगवान् हूं—जीव नहीं हूं. अतएव न तो मैं आत्माराम हो सकता हूं और न आप्तकाम ही. वस्तुतः तो मैं केवल राम ही हूं—आत्माराम भी हो नहीं सकता हूं. क्योंकि मेरेलिये आत्मभिन्न कोई-कुछ हो तो; और, उसके साथ मैं रमण न करता होऊं तो, मुझे 'आत्माराम' कहनेका कोई औचित्य हो सकता है. मेरे मूलस्वरूपका, अतः, कोई भलीभांति निरूपण करना चाहता हो तो उसे मुझे 'आत्माराम' भी नहीं कहना चाहिये. न मुझे 'आप्तकाम' ही कहा जा सकता है. क्योंकि कोई अपने कामकी पूर्ति अपनेसे अन्य किसी विषयसे न करके स्वतः ही कर लेता हो तो ऐसेको 'आप्तकाम' कहा जा सकता है. मेरे भीतर जब काम होता ही नहीं तो मुझे 'आप्तकाम' कैसे कहा-माना जा सकता है! ऐसे सारे शब्दप्रयोग जीवात्माके**

बारेमें प्रयुक्त होनेपर सार्थक हो सकते हैं, मेरे बारेमें प्रयोग किये जानेपर नहीं (सुबो.१०।२९।२०).

संक्षेपमें इसे हम यों समझ सकते हैं कि अखण्डसच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मके स्वाभाविक अद्वैतकी दृष्टिसे देखनेपर वह केवल राम ही होता है, आत्माराम भी नहीं. वही ब्रह्म जब सृष्ट्युपादान सृष्टिकर्ता और सृष्टिनियन्ता बनता है तब—"य आत्मनि तिष्ठन्... आत्मानम् अन्तरो यमयति..." (माध्यन्दिनशाखीयबृहदारण्यकोपनिषद्) श्रुतिवचनके आधारपर सर्वान्तर्यामी बन जाता है. इस ऐसे परमात्माके सर्वभवनसामर्थ्यद्वारा प्रकट ऐच्छिकद्वैतकी दृष्टिसे विचार करनेपर उसे 'आत्माराम' माना-कहा जा सकता है. यह आत्माराम होना परमात्माके ऊपर एक बन्धन या सीमित वृत्तकी परिधिके भीतर घिर जाने जैसी कथा नहीं होती. अतएव—"अजायमानो बहुधा विजायते" (तैत्ति.आर.३।१३।१) श्रुतिमें कहे प्रकारसे वे भगवान् जब साधुजन-परित्राणार्थ दुष्टजन-दमनार्थ या धर्मसंस्थापनार्थ अपनी सृष्टिमें स्वयं निजपुष्टिशक्तिद्वारा प्रकट भी हो जायें तो लीलाराम भी बन सकते हैं. इसी तरह वह पुष्टिप्रभु भगवान् साधननिरपेक्ष हो कर जब कभी अपनी पूर्णताके साथ अपने स्वरूपानन्दकी पूर्णतया रसानुभूति प्रदान करनेको जब श्रीकृष्णतया प्रकट हो जाते हैं तब तो गोपिकाराम भी बन ही सकते हैं. जैसे आत्माराम बननेपर रामत्व छूट नहीं जाता, ऐसे ही लीलाराम बननेपर आत्माराम होना निवृत्त नहीं हो जाता. ठीक इसी तरह अपने लीलाविहारमें गोपिकाओंके साथ रमणकी लीलामें भी भगवान्का स्वाभाविकाद्वैत और ऐच्छिकद्वैत दोनों ही अक्षुण्ण रहते हैं. ऐसे विरुद्धधर्माश्रयरूप सर्वात्मात्मरूप भगवान्में जब कोई विषयासक्तिको छोड़ कर अनन्यतया आसक्त हो पाता है, तब अंशतः वही विरुद्धधर्माश्रयता इस उदाहरणमें भी काम कर रही होती है. अर्थात् भगवान्में हमारी अनन्यतन्मयताको आत्मरति ही समझनी चाहिये.

अतएव तीसवें अध्यायकी—"जितनी गोपिकायें थी अपने-आपको उतने रूपोंमें प्रकट करके भगवान्ने आत्माराम रहते हुवे उन गोपिकाओंके साथ भी रमण करनेकी लीला की" (भाग. १०।३०।२०) इस कारिकाके व्याख्यानमें महाप्रभु

कहते हैं:—

> **जितनी गोपियां हैं, भगवान् उनके ही लिये प्रकट हुवे होनेसे, उतने ही रूप धारण करके उन गोपिकाओंके साथ रमण करने लगे. आत्माराम न होनेपर भी जैसे लीलया भगवान् आत्माराम बनते हैं, वैसे ही गोपिकाराम भी. एतावता भगवानूका आत्मारामत्व निरस्त नहीं हो जाता. अन्यान्य अवतारोंमें भगवानूने जैसे अनेकानेक रूप धारण किये वैसे ही इन गोपिकाओंकेलिये भगवानूने आत्माराम रहते हुवे ही गोपिकारमण होना भी लीलया स्वीकारा है.**

यह पुनः प्रस्तुत रासलीलाके आत्मरमण होनेकी ही निषेधके बावजूद दी जाती एक आलंकारिक विलक्षण उपपत्ति ही है. अतएव—"श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः"—'रेमे स्वयं स्वरतिर् आत्तगजेन्द्रलीलः" (भाग.१०।३०।२३-२४) वचनोंकी व्याख्या करते हुवे महाप्रभुने अतीव सरस विधान किया है:—

> **जलकी रक्षाकेलिये जो बांध बांधे जाते हैं उन्हें मदमत्त गजराज बहुधा तोड़ देते हैं. इस लीलामें भगवानूने भी न केवल अपनी ब्रह्ममर्यादा और आत्माराम होनेकी मर्यादाके बांधोंको ही प्रत्युत जीवोंके साधनमर्यादाके बांध भी सारे तोड़ देनेकी लीला की है...फिरभी भगवानूकी आत्मरति खण्डित नहीं हुयी! अर्थात् स्वरूपतः आत्माराम रहते हुवे ही भगवानूने सारी मर्यादाओंको तोड़ देनेकी भी लीला की!**

मध्यपाती अध्याय माहात्म्यज्ञापनार्थ है. साथ ही साथ फलावस्थामें प्रमाणतत्पर होनेमें विघ्नोंकी सम्भावना और अन्तमें स्वयं भगवान् ही उनका निवारण भी करते हैं, इस लीलाभिप्रायके प्रकटनार्थ भी होनेसे इस इकत्तीसवें अध्यायमें इस पहलुका निरूपण न मिलना स्वाभाविक ही है.

अन्तमें बत्तीसवें अध्यायके उपसंहारमें दिनमें भी व्रजगोपिकाओंकी भगवल्लीलाके श्रवण-कीर्तन-स्मरणमें तत्पर होनेकी कथा प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके निरूपणद्वारा निरोधलीलाके वर्णनार्थ ही है. सो वह भी आत्मरतिका ही सोपपत्तिक अभ्यास है.

तात्पर्यनिर्धारक तृतीय निकष [3]अपूर्वताके आधारपर इस प्रकरणकी मीमांसा करनी हो तो थोड़ा सिंहावलोकन करना पड़ेगा. अर्थात् इस प्रकरणके प्रथमाध्यायगत राजा परीक्षित एवं श्रीशुकदेवजी के शंका-समाधानका अवगाहन करने उद्यत होना पड़ेगा: कुछ गोपिकायें ब्रह्मभावसे भजनेके बजाय भगवान्‌को जारभावसे निहारती थी. उन्हें रासलीलामें पहुंचनेसे रोक दिये जानेपर रुकना पड़ा था. अतः प्रियतमके तीव्र विरहतापके कारण उनके त्रिगुणात्मक देह छूट गये और वे भगवान्‌में सायुज्यलाभ पा गयी. इस निरूपणके बारेमें राजाके मनमें यह आशंका उठी कि—"भगवान्‌में इस तरहकी सगुणबुद्धि रखनेवाली गोपिकाओंका त्रिगुणात्मक-प्रकृति-नियत जन्म-मरणप्रवाहका उपरम क्यों-कैसे हो गया?" समाधानतया श्रीशुकदेवजीने एक अतीव महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण यह दिया कि—"अव्यय अप्रमेय प्राकृतगुणरहित अप्राकृतगुणात्मा भगवान्‌का यह प्राकट्य तो निःश्रेयस् प्रदान करनेकेलिये ही हुवा है. सो स्त्रियोंको कामवश, शत्रुओंको क्रोधवश, दुष्टवध्योंको भयवश, सम्बन्धियोंको स्नेहवश, ज्ञानियोंको ऐक्यबुद्धिवश; और, भक्तोंको सौहृदवश—कुल मिला कर जिसका चित्त भगवान् श्रीहरिमें जिस किसी भी भावके कारण एकतान बन गया था उसे—भगवदात्मक हो जानेके कारण मुक्ति मिल गयी थी." ऐसे अश्रुतपूर्व भगवन्माहात्म्यके निरूपणार्थ ही यह लीला कही गयी है. सो साध्योपायद्वारा मोक्ष प्रदान करनेकी वेदादि शास्त्रोंमें पूर्वसिद्ध रीतिके बजाय किसी अपूर्वरीतिसे सिद्धोपायतया भगवान् स्वयं प्रकट हुवे थे. प्रापञ्चिक विषयासक्तिजन्य दुःखोंको दूर करके निजस्वरूपमें लीलान्तःपाती जीवात्माओंको निरुद्ध करनेकेलिये ही यह लीला की गयी है. आत्मोद्धारक इस अपूर्व उपायके स्वरूपका विमर्श करनेपर भी आत्मरतिका ही नाम-रूप-कर्मात्मक विलक्षण लीलात्मक व्याकरण यह सिद्ध होता है.

तात्पर्यनिर्धारक चतुर्थ निकष [4]फलका निरूपण एतत्प्रकरणगत तीसवें अध्यायके अन्तिम चालीसवें श्लोकमें उपलब्ध होता है:—

विक्रीडितं व्रजवधूभिर् इदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयाद् अथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगम् आश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥
(भाग.१०।३०।४०)

भावार्थ: अपने हृदयमें भक्तिभावके वृद्धयर्थ तथा विषयकामके निवृत्त्यर्थ जो कोई व्रजवधुओंके साथ भगवान्‌की इस विशेष क्रीड़ाको श्रद्धापूर्वक सुनता है और सुन कर उसका कीर्तन करता है तो शीघ्र ही उसके हृदयमें परा भक्ति प्रकट हो जाती है!

जिस लीलाके साभिप्राय श्रद्धापूर्वक श्रवण-कीर्तनसे परा भक्ति प्रकट हो पाती हो, वह लीला यदि आत्मरतिरूपा न हो तो ऐसी फलसाधकता उसकी अनुपपन्न हो जायेगी. अतएव तृतीयस्कन्धमें भी यही कहा गया है :—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एव 'भक्तियोगा'ख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

(भाग.३।२९।११-१४)

भावार्थ: भगवान्‌के गुणोंके श्रवणमात्रसे सभी प्राणियोंके भीतर रहनेवाले भगवान्‌में अविच्छिन्ना, बिना कहीं रुके-अटके जैसे गङ्गा सागरकी ओर बहती रहती है ऐसी, मनोगतिका सिद्ध हो जाना 'निर्गुणभक्तियोग' कहलाता है. किसी भी अन्य प्रयोजन या व्यवधान के बिना पुरुषोत्तमके बारेमें ऐसी भक्ति कि जिस भक्तिके कारण भगवत्सेवा न मिल पाती हो तो सालोक्यादि पञ्चविध मुक्ति भी भक्त स्वीकारना नहीं चाहता, उसे 'आत्यन्तिक-भक्तियोग' कहा जाता है. इस ऐसे भक्तियोगके कारण भक्त सात्त्विकादि तीनों गुणोंकी सीमाको लांघ कर स्वयं भगवदात्मक हो जाता है.

ऐसी ही भक्ति व्रजभक्तोंको सिद्ध हो गयी थी और उस ऐसी निर्गुणभक्तिजनिका लीलाकी फलश्रुतिके आधारपर भी इस रासलीलाको आत्मरतिका ही एक विलक्षण रूप मानना उचित होगा.

तात्पर्यनिर्धारक पांचवें और छठ्ठे अंग [५-६]अर्थवाद और उपपत्ति के अनेकविध रूपोंमेसे कुछ तो यहीं तीसवें अध्यायमें उपलब्ध हो जाते हैं. इन सोपपत्तिक निन्दार्थवाद और स्तुत्यर्थवाद के स्वरूप भी मननीय ही हैं. रासलीलाके वर्णनके पूर्ण होनेपर महाराजा परीक्षितने पुनः अपने हृदयकी एक आशंका श्रीशुकदेवजीके समक्ष यों प्रकट की कि धर्मके संस्थापन और अधर्मके प्रशमन केलिये अवतीर्ण होनेवाले तथा धर्ममर्यादाओंके वक्ता कर्ता और अभिरक्षिता आप्तकाम भगवान्ने परदारारमणके जैसा विरुद्ध आचरण क्यों किया? इस आशंकाके समाधानार्थ श्रीशुकदेवजीने जो कुछ कहा वह यों है :—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥
नैतत्समाचरेद् जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
ईश्वराणां वचस् तथ्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमान् तत् समाचरेत्॥
कुशलाचरितेनैषाम् इह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो:॥
किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः॥
यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ताः।
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः॥
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्।
तस्येच्छयात्तवपुषः कुतएव बन्धः॥
गोपिनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडेनेनेह देहभाक्॥
अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडाः याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥
(भाग.१०।३०।३०-३७)

भावार्थ : ऐश्वर्यशाली पुरुषोंके आचरणमें कई बार धर्मके व्यतिक्रमका भी ऐसा साहस दिखलायी देता है. इन्हें, परन्तु, ऐसे व्यतिक्रम करनेसे दोष नहीं लगता. जैसे सर्वदाहक-सर्वभक्षक अग्नि सबको

भस्मसात् कर देती है[(रासलीलादिव्यत्वोपपत्ति)]. ऐश्वर्यरहित पुरुषको ऐसी बात मनमें भी आने नहीं देनी चाहिये. अन्यथा नीलकण्ठ भगवान् रुद्रने समुद्रमन्थनमें प्रकटे विषका जो पान किया, उसका अनुकरण करने जानेपर दूसरे किसीका तो ध्रुव विनाश ही निश्चित समझ लेना चाहिये[(विषयासक्तपुरुषके ऐसे आचरणकी निन्दाका अर्थवाद)]. ऐश्वर्यशाली पुरुषोंके वचन कभी मिथ्या नहीं होते, परन्तु, आचरण ऐसे ऐश्वर्यशाली पुरुषोंके स्वयं उनके वचनोंके अनुरूप हों तभी सच्चे मानने चाहिये. अतः इनकी आज्ञा अनुसरणीय होती है परन्तु आचरण अनुकरणीय नहीं होता. यथाविधि कुशलाचरणके निभानेसे अहंता-ममता-राहित्यरूप ऐश्वर्यके धनी इन महापुरुषोंका कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता; और, न विधिविपरीत अकुशलाचरणसे इनके स्वार्थकी हानिकी ही कोई सम्भावना इन्हें रहती है[(निन्दार्थवादोपपत्ति)]. जो सभी ईशितव्य पशु-पक्षी मनुष्य और देवताओं के ईश्वर हैं उनकेलिये कौन सा कर्म कुशल या कौन सा कर्म अकुशल हो सकता है! जिनके चरणकमलोंकी परागसे परितृप्त होनेवाले, अपने योगप्रभावसे सारे कर्मबन्धनोंका प्रक्षालन कर देते हैं और स्वैराचरण करनेपर भी बंध नहीं पाते, वे भगवान् स्वयं अपनी लीलाभिलाषाके अनुरूप नरदेहका स्वरूप धारण करते हों तो किस कर्मका कैसा बन्धन उनपर लागू हो सकता है? गोपिकाओं और उनके पतियों के ही केवल नहीं प्रत्युत प्रत्येक देहधारीके भीतर अन्तरात्मतया बिराजमान अन्तर्यामी भगवान् स्वयं अनुग्रहार्थ लीलया नरदेहका सा स्वरूप धारण कर इस रासलीलाको कर रहे हैं कि जिसके श्रवणमात्रसे भगवान्में चित्त तत्पर हो जाता है[(सोपपत्तिक-स्तुत्यर्थवाद)].

इस तरह उपक्रमादि छहों अंगोंके विमर्श करनेपर, श्रीकृष्णप्राप्त्यर्थ व्रतरूपा साधना करनेवाली ऋषिरूपा कुमारिकाओंके साथ उनके व्रतफलरूप श्रीनन्दकुमारकी फलादपि कमनीयतर यह रासलीला है. इसी तरह श्रुतिरूपा व्रजवधूओंके साथ श्रुतिओंके परमतात्पर्यविषयीभूत उस परमप्रमेयमें अवान्तर-प्रमेयोंके विरोधाभासरहित परमसमन्वयरूपा यह रासलीला है. अतः परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके आत्मरमणका ही यह एक विलक्षण मधुर रूप है, यह सिद्ध होता है. इस तरह यदि तामस-फल-प्रकरणगत वर्णन औपनिषदिक आत्मविद्याका ही कुछ वैलक्षण्यसे निरूपण सिद्ध होता हो तो ब्रह्मसूत्रके

फलाध्यायमें एतत्प्रकरणगत वचनोंका विचार अथवा यहां ब्रह्मसूत्रके फलाध्यायकी संगतिका विचार भी अन्तमें एक ही सिक्केके दो पहलु सिद्ध होते हैं.

:: महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य: "कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुस्साध्या इति मे मतिः !" ::

आधुनिक पुष्टिमार्गमें न तो भलीभांति उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र-भाष्योंका ही व्यवस्थित अध्ययन करनेवाले और न श्रीमद्भागवत-सुबोधिनीकी ही बारहखड़ी जाननेवाले भी उपदेशकम्मन्य बहुधा प्रमाणवादके झंडाबरदार बन कर फलाध्यायपर भाष्यकारकी भागवतवचनानुसारिणी मीमांसाको भागवती भावुकताका अतिरेक मान कर निन्दा करते रहते हैं. इसी तरह प्रमेयबलकी झंडाबरदारी करनेके मोहमें कतिपय देवलक महानुभाव उपनिषदादि शास्त्रोंकी विचारणाके भी पुष्टिभक्तिसे विरुद्ध होनेका फतवा काढ़ते रहते हैं! इन्हें क्या कहना? "अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति"की नीतिका अनुसरण करते हुवे — "उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः, श्रुतिस्मृतिविरोधतः, कलौ तदादरो मुख्यः, फलं वैमुख्यतः तमः" इस श्रीमहाप्रभूक्तिके विषय होनेसे इन्हें उपेक्ष्य ही मानना चाहिये!!

:: प्रस्थानचतुष्टय नहीं किन्तु "एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं (सत्) प्रमाजनकम् इति अर्थः" ::

श्रीमध्वाचार्यने श्रीमद्भागवतके बारेमें गरुड़पुराणका एक सुन्दर वचन उद्धृत किया है:—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः। गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥
पुराणानां साररूपः साक्षाद् भगवतोदितः.....................................॥
(भाग.तात्प.नि.१।१।१).

मूलतः श्रीमद्भागवतके ऐसे स्वरूपके शास्त्रमान्य होनेके कारण ही महाप्रभुने तत्त्वार्थदीपनिबन्धके प्रथम प्रकरणमें इसे सर्वसन्देहवारकतया मान्य किया है.

न जाने कब किसने एक सर्वलेखकव्यापिनी भ्रान्ति ऐसी फैला रख्खी है कि प्रस्थानत्रयवादी अन्य आचार्योंसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी विलक्षणता प्रस्थानचतुष्टयवादी होनेमें है. महाप्रभुका इस विषयमें एक भी वचन कमसे कम मुझे तो आज तक कहीं दृष्टिगत नहीं हुवा है. महाप्रभुके जिस वचनको बहुधा उद्धृत किया जाता है—"वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्" (त.दी.नि.१।७) इसकी व्याख्या करते हुवे स्वयं ग्रन्थकारने यह स्पष्टीकरण दे ही रखा है कि—"एतत् चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं (सत्) प्रमाजनकम्" अर्थात् जिस तरहके तात्पर्यके ऊह करनेके कारण वेद गीता ब्रह्मसूत्र और भागवत इन चारों शास्त्रोंके वचनोंमें परस्पर एकवाक्यता स्थापित हो पाये उसे प्रमाणतया स्वीकारना चाहिये. यह निजमतको केवल चार ही प्रस्थानोंके आधारपर प्रस्तुत करनेकी अथवा तो स्वाभिमत प्रमेयके साधक पृथक्-पृथक् प्रमाणोंकी संख्याके चार होनेकी प्रतिज्ञा नहीं है. इन चारोंको परस्पर असमन्वित रखते हुवे इनमेंसे किसी भी एक प्रमाणवचनके व्याख्यानकी धांधलीसे बचनेकी चेतावनी है. लक्ष्यमें रखने लायक बात इसमें यह भी है कि यह व्यवस्था शास्त्रार्थजिज्ञासुको समझायी जा रही है—"त्रयम् एतद्(शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णय-भागवतार्थरूपप्रकरणत्रयम्) उपदेशन्यायेन कथयामि" (त.दी.नि.प्र.१।५)— शास्त्रविज्ञ व्याख्याताओंके समक्ष शास्त्रार्थविचारणाकी शर्तके रूपमें नहीं. यदि अलग-अलग प्रस्थान इन्हें आप स्वीकारते होते तो इन सभी प्रस्थानोंपर अलग-अलग भाष्य प्रस्तुत करना आपका उत्तरदायित्व हो जाता. वेदार्थनिरूपण आप पूर्वोत्तरमीमांसाभाष्योंसे गतार्थ मान कर चले थे तथा गीतार्थनिरूपण भागवतटीकासे. आज ये ग्रन्थ समग्रतया उपलब्ध नहीं होते वह दूसरी कथा है. पुराणोंको आप वेदवत् पूर्वसिद्ध स्वीकारते हैं. नित्य-काम्य-विकृतिरूप वैदिककर्मोंकी तरह नित्य-काम्य-विकृतिरूपा धर्मार्थकाममुक्तिके अलावा भक्तिको भी आपने पुराणोंके प्रमुख विषयतया स्वीकारा है. आपने यह भी खुलासा दिया है कि श्रौतधर्म देहस्थानीय होता है और स्मार्तधर्म गृहस्थानीय परन्तु पौराणिकधर्म उपकरणस्थानीय होता है. जीवनोपकरणोंके अभावमें केवल देह-गेहोंमें आत्मोपस्थिति शक्य नहीं रह जाती. पुराणोंके भलीभांति ज्ञानके अभावमें सर्वथा मूढ़ता ही प्रकट होती है, अतः वेदोक्तकर्मोंके गूढ़ाभिप्रायके उपदेशक पुराणोंको 'हृदय'वत् मान्य किया गया है. सभी तरहकी सृष्टिके पदार्थोंका

यथार्थज्ञान पुराणसे मिलता होनेके कारण वेदकी अनेक शाखाओंकी तरह पुराणोंके भी अनेक विभाग है...वेदके सर्वगोप्य अर्थको भगवान्ने स्वयं गीतामें प्रकट किया और भागवत उस गीताका ही विस्तार होनेके कारण इसमें उपदिश्यमान अर्थ वैदिक ही है. फिरभी श्रुतिमें उत्पत्ति-स्थिति-मुक्ति-लयका स्वरूप जैसी सूत्रात्मक शैलीमें किया गया है, उन्हीं सूत्रोंको यहां [१]सर्ग [२]विसर्ग [३]स्थान [४]पोषण [५]ऊति [६]मन्वन्तर [७]ईशानुकथा [८]निरोध [९]मुक्ति और [१०]आश्रय यों दशविधलीलाओंके विस्तृत लीलात्मक भाष्यद्वारा समझाया गया है. इसी तरह श्रुति-स्मृतिमें देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मके छह अंगोंवाले साध्योपायरूप द्विजाधिकारक धर्मकी फलसाधकता जो कही गयी है, वह कलियुगमें इन अंगोंके दुर्बल हो जानेके कारण निर्बल हो गयी है, एतदर्थ, गीता-भागवतमें सिद्धोपायरूपा सर्वाधिकारक प्रपत्ति-भक्तिरूप धर्मोंकी सर्वसाधकता प्राधान्येन क्रमशः प्रतिपादित हुयी है (द्र. : त.दी.नि.प्र.२।४८-६९). वेदोपनिषदोंमें जगत्का मुख्यत्वेन ब्रह्मकार्यके रूपमें निरूपण है जो मुख्यतया ब्रह्मज्ञानमें पर्यसित होता है. पुराणोंमें उसी कार्यका भगवल्लीलाके रूपमें निरूपण है जो मुख्यतया भगवद्भक्तिमें पर्यवसित होता है (द्र. : सुबो.१।१।४).

अतएव प्राधान्येन श्रीकृष्णप्रपत्तिकी प्रतिपादिका गीतामें तथा प्राधान्येन श्रीकृष्णभक्तिकी प्रतिपादिका भागवतमें भी प्रतिपाद्य विषय-वस्तुके सन्दर्भमें महाप्रभुकी सैद्धान्तिक निष्कर्षरूपा — "शास्त्रको भलीभांति समझ कर मन-वचन-तनसे श्रीकृष्ण ही हमारेलिये सेव्य होता है" (त.दी.नि.प्र.१।४) — उक्तिको जो हृदयंगत कर पाते हैं, उनकेलिये तो प्रमाण/साधन-बल अथवा प्रमेय/फल-बल इन दोनोंमे से किसी एककी झंडाबरदारी न केवल महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य चरणके हार्द या अभिप्राय की हास्यास्पद नासमझ है प्रत्युत निजाचार्यविद्रोह भी है.

इस अपरिहार्य विषयान्तरके बाद अब प्रकृत विषयके अनुसन्धानार्थ यह कहा जा सकता है कि व्रजमें सिद्धोपायतया प्रकट परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी व्रजगोपिकाओंके साथ की गयी रासलीला यदि आत्मरमण या आत्मरति का ही लीलात्मक भाष्य हो तो ब्रह्मसूत्रके फलाध्यायके साथ प्रस्तुत तामस-फल-प्रकरणवर्णित लीलाकी संगतिको ठीक तरहसे समझ

लेना भी अतीव उपकारक ही होगा. सो उसके विमर्शार्थ अब हमे प्रवृत्त होना चाहिये.

:: अर्थो अयं ब्रह्मसूत्राणाम्! ::

जैसा कि पहले निरूपण हो ही चुका है तदनुसार इस लीलाका मुख्यतया सम्बन्ध ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके प्रथमपादके साथ बहोत गहरा है. श्रीशंकराचार्यके अनुसार इस पादके चौदहमें से आरम्भके आठ अधिकरणोंमें तृतीयाध्यायमें अवशिष्ट रह गये विषयका विचार किया गया है—"तीसरे अध्यायमें परा विद्या तथा अपरा विद्याओं के बारेमें साधनाश्रित विचार प्रायशः पूर्ण हुवा. अब यहां इस चौथे अध्यायमें फलाश्रित विचार किया जायेगा. प्रसंगवशाद् अन्य भी कुछ विषयोंका चिन्तन किया जायेगा. प्रारम्भके कुछ अधिकरणोंमें तो साधनाविचारमें जो कुछ विषय छूट गया है उसे ही विचारा जा रहा है... यहां आ कर अब तीसरे अध्यायका विषय पूर्ण हुवा" (ब्र.सू.भा.४।१।१-१३).

वाल्लभ भाष्यके अनुसार—जैसे तामस-फल-प्रकरणमें भगवान्के छह गुणधर्मों एवं एक धर्मी के निरूपक सात अध्याय हैं, उसी तरह यहां फलाध्यायके प्रथमपादमें भी, चौदहके बजाय सात ही अधिकरण स्वीकारे गये हैं. अतएव शांकरादि भाष्योक्त पूर्वोत्तरसंगतिकी तरह ही इस पादमें अधिकरणोंकी चौदह संख्या भी वाल्लभ वेदान्तको स्वीकार्य नहीं है. स्वाभाविकतया यहां इस प्रथम पादके विचार्य-वस्तुकी विवेचना हमें भी सात अधिकरणोंमें ही करनी अभीष्ट है. इसे, किन्तु, सर्वमान्य नहीं मान लेना चाहिये. अतः सम्भावित भ्रान्तिके निवारणार्थ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है. अस्तु. ब्रह्मकी साक्षाद् अनुभूतिके बिना किये जाते श्रवण मनन या निदिध्यासन साधनरूप होते हैं. वे ही श्रवण मनन या निदिध्यासन अपरोक्ष ब्रह्मानुभूति हो जानेके बाद फलानुभूत्यन्तःपातितया भी स्पृहणीय बन जाते हैं. सो यहां चतुर्थाध्याय प्रथमपादके इन आरम्भिक एकसे ले कर ग्यारह सूत्रोंमें भी फलात्मक श्रवण मनन निदिध्यासन का निरूपण ही अभिप्रेत है. जिसे जीवितावस्थामें ब्रह्मानुभूति हो जाती है, ऐसा ब्रह्मविद् श्रवणादिका त्याग नहीं कर देता प्रत्युत उन्हें फलानुभूतिकी महनीयताके साथ अपनाये

रख कर उनका आवर्तन करता रहता है. कुछ साधन ऐसे होते हैं जिन्हें फललाभके बाद अपनाये रखना निरर्थक हो जाता है परन्तु सभी साधनोंके बारेमें यह बात खरी नहीं उतरती. उदाहरणतया चलना सीखना चाहते एक बालककेलिये अपने पैरोंपर खड़ा होना एक प्राथमिकी साधनाकी तरह ही होता है. बालकको जब चलना आ जाता है, तब वह अपने पैरोंपर खड़े होनेकी सामर्थ्यको निरर्थक मान कर पुनः भूल जानेकी कभी नहीं सोचता! अपितु खड़े रहनेकी साधना और चलनेकी सिद्धि का यथोचित आनन्द लेता है. ऐसे ही परमात्माके श्रवण मनन निदिध्यासन भी परमात्मसाक्षात्कारार्थ ही अपनाये गये होनेपर भी इन्हें परमात्मसाक्षात्कारके बाद भी करते रहना परमात्मप्रेमका ही एक रसानुभाव बन जाता है. अतएव शिष्येषणारहित होनेपर भी योग्य श्रवणाधिकारीके उपस्थित होनेपर ऐसे ब्रह्मविद्द्वारा इन श्रवणीय मननीय या निदिध्यासनीय विषयों का उपदेश या कीर्तन भी उस ब्रह्मविद्के परमात्मप्रेमकी ही अभिव्यक्ति होते हैं.

फलतः इस भिन्न परिप्रेक्ष्यमें देखनेपर ही इन अधिकरणोंके फलाध्यायान्तःपाती होनेकी संगति समझमें आ जाती है. साथ ही साथ लीलोपदेशमुखमें वर्णित भाष्यरूपा भागवती लीलाके ही ये सूत्रात्मक शैलीमें निरूपित सिद्धान्तोपदेशमुख वचन हैं, ऐसी संगति भी समझमें आ सकती है.

:: (१)आवृत्त्यधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता ::

[क]आवृत्तिर् असकृद् उपदेशात्. [ख]लिङ्गात् च(ब्र.सू.४।१।१-२).

(१)केवलाद्वैतवादी श्रीशंकराचार्यके अनुसार प्रस्तुत [क]सूत्रमें श्रवण मनन निदिध्यासन आदि विद्याके अंगोंका अनुष्ठान एक-एक बार कर लेना पर्याप्त नहीं होता. अतः आत्मदर्शन पर्यन्त इन अंगोंकी आवृत्ति करते रहना चाहिये. इस आवर्तनमें ऐसी कुछ तत्परता अभिप्रेत होती है, जैसी कि "गुरु या राजा की उपासना कर रहा है" अथवा "अपने परदेश गये

पतिका ध्यान लगाये बैठी है'' कहनेपर शिष्य सेवक या पत्नी की अपने-अपने गुरु राजा या पति के बारेमें जैसी तत्परता अथवा जैसी उत्कण्ठापूर्वक निरन्तर स्मृति का बोध होता है. [ख]अकेले आदित्यकी एक बार उपासना करनेवालेको एक ही पुत्र हुवा था. अतः अनेक रश्मिओंकी उपासना करनेकी आवश्यकता दिखलानेसे भी यह सिद्ध होता है कि आवर्तन करना ही चाहिये.

(२)औपाधिकद्वैताद्वैतवादी श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि [क]केवल एक ही बार श्रवण मनन या निदिध्यासन कर लेने मात्रसे आत्मसाक्षात्कारी ज्ञान हो जानेकी धारणा तो सर्वथा निर्मूल ही होती है. बहुत सारी बार सुन कर, सोचविचार कर ध्यान धरे बिना स्वयं श्वेतकेतुके भी अज्ञान और संशय दूर नहीं हो पाये, तो रागादियुक्त चित्तवाले आधुनिक मुमुक्षुओंको एक बार किये गये श्रवण मनन और निदिध्यासन से मुक्तिलाभ सम्भव है, ऐसा कौन मान सकता है! अतः ज्ञान वैसे तो अपने-आपमें दृष्टलाभकेलिये ही होता है फिरभी शास्त्रीय विधिके अनुसार औपासनिक प्रत्ययोंके आवर्तनद्वारा अदृष्टसामर्थ्य कोई ऐसा उत्पन्न होता है कि उससे अपुनर्जन्म सिद्ध हो जाता है. अन्यथा एक बारके ज्ञानसे निवृत्त हुयी अविद्या भी, सुषुप्ति या प्रलय की तरह, लौट-लौट कर पुनः-पुनः आती रहेगी ही. श्रीशंकराचार्यके अनुसार ब्रह्मज्ञानार्थ की जाती उपासना करनेवालेको आश्रमधर्मोंका निर्वाह अनिवार्य नहीं रह जाता. श्रीभास्कराचार्य इसे स्वीकारते नहीं हैं. उनके अनुसार अज्ञानस्वभाववश अनेक जन्मोंसे चली आ रही कर्मवासनाओंके कारण पैदा होते मलोंके नष्ट होनेपर मुक्ति मिलती है. इन्हीं रागात्मिका कर्मवासनाओंके कारण मुमुक्षु साधक स्नान आचमन या भोजन तो छोड़ नहीं देता. तब आश्रमकर्मोंको छोड़ देनेकी छूट उसे कैसे मिल सकती है? [ख]सूत्रमें शांकर धारणाकी आलोचना करते हुवे श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि ''ब्रह्म स्वयंप्रकाश है जबकि अन्य सभी कुछ ब्रह्मके प्रकाशनसे प्रकाशित होते हैं'' यह बात दो-एक बार सुन लेनेपर किसीके भी समझमें आ ही सकती है. ऐसी स्थितिमें, 'तत्' पद और 'त्वं' पदके अर्थोंको सुन लेनेके बाद भी, वाक्यावर्तनके कारण कभी वाक्यार्थज्ञान प्रकट हो जायेगा, ऐसा सोचना तो केवल दुराशा ही है.

(३)विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामानुजाचार्यके मतके अनुसार [क]"मुक्ति प्रदान करनेवाले ब्रह्मकी प्राप्तिके साधन असकृद् आवर्तनीय होते हैं, ध्यान-उपासनाके रूपमें उसे करनेका उपदेश किया गया होनेसे" ऐसी वाक्यरचना प्रस्तुत सूत्रकी स्वीकारते हैं. यहां ध्यान या उपासना को अविच्छिन्नस्मृतिके रूपमें स्वीकारा गया है. इस तैलधारा जैसी अविच्छिन्न स्मृतिको या एकाग्रचित्तवृत्तिकी निरन्तरताको ही भक्तिके रूपमें भी स्वीकारा गया है. द्वितीय [ख]सूत्रमें विष्णुपुराणके—"अन्यस्पृहारहित हो कर तद्रूपप्रत्ययकी एक अविच्छिन्न धाराको 'ध्यान' कहा जाता है" वचनको सन्दर्भोपात्त मान रहे हैं.

(४)द्वैताद्वैतवादी श्रीनिम्बार्काचार्यकृत सूत्रवृत्ति तथा श्रीश्रीनिवासाचार्यकृत भाष्य के अनुसार [क]वेदाध्ययनकी विधिके कारण ही एक बार तो वेदान्तवाक्योंका श्रवण पूर्वसिद्ध ही होता है; फिरभी, दुबारा श्रवण मनन और निदिध्यासन की विधिको निरर्थक न बनना हो तो यह आवश्यक है कि इन ब्रह्मदर्शनोपायोंके विधानका अभिप्राय आवर्तनार्थ स्वीकारना चाहिये. 'मनन' का अर्थ होता है तत्त्वचिन्तन और 'निदिध्यासन' का अर्थ होता है ध्यान. इस ब्रह्मध्यानरूप अन्तिम उपायके कारण ब्रह्मके अनुग्रहवशाद् ब्रह्मदर्शन हो पाता है. द्वितीय [ख]सूत्रमें गीताके—"अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय" वचनकी विवक्षा स्वीकारी गयी है.

(५)केवलद्वैतवादी श्रीमध्वाचार्य अपने अध्यायभाष्य पादभाष्य अधिकरणभाष्य तथा सूत्रभाष्य के क्रमशः 'अणुभाष्य' 'न्यायविवरण' 'अनुव्याख्यान' तथा 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' नामक पृथक्-पृथक् भाष्य प्रकट किये हैं. इनमें प्रथममें यह कहा है कि विष्णु ब्रह्म तथा दाता के रूपोंमें नित्य उपासना करते रहनेसे उसका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है(अणुभा.). उपनिषद्वचन और उसके तात्पर्य के श्रवण मनन और निदिध्यासन के आवर्तन किये बिना यदि अपरोक्षज्ञान शक्य होता तो सभी मुक्त हो गये होते. यह तो महाफल है अतः सभीको सुलभ न होना इसका गुण ही है, यह दोष नहीं है(न्या.वि.). ब्रह्मसूत्रके प्रथम और द्वितीय अर्थात् समन्वय और अविरोध साधक अध्यायोंके द्वारा उस परतत्त्वकी विरोधरहित सिद्धि की गयी. तृतीयमें उसकी प्राप्तिके अशेष साधनोंको निर्धारित किया

गया. यहां इस फलाध्यायमें नित्यशः आत्यन्तिकतया अवश्यकर्तव्यरूप साधनका चिन्तन किया जा रहा है. "तुम वह नहीं हो" जैसे वेदान्तवचनोंका श्रवण मनन और निदिध्यासन एक बार करके छोड़ नहीं देना चाहिये. उसे निरन्तर करते रहने चाहिये(अनुव्या.).

अतः इस अध्यायके चार पादोंमें से प्रथममें अनिष्टकर्मोंके नाशद्वारा अनिष्टकर्मोंके कारण होते दुःखानुषंगका भी नाश होनेपर मिलती जीवन्मुक्तिका प्रतिपादन अभिप्रेत है. द्वितीय पादमें दुःखरहित ब्रह्मविद्को यथेच्छ मिलनेवाली विदेहमुक्ति निरूपित हुयी है. तृतीय पादमें देहत्यागके कारण इहलोकसे विमुक्तिरूप उत्तरोत्तर अधिक सुखोंवाली अर्चिरादि देवोंके स्थानमें मिलनेवाली मुक्तिका वर्णन अभिप्रेत है. चतुर्थ पादमें लिङ्गशरीरसे भी विमुक्तिरूपा निःशेषदुःखोंकी निवृत्ति और परमसन्तोषरूपा सुखानुभूति की प्रदायिका मुक्ति प्रतिपाद्य है(तत्त्वदीपिका).

तदनुसार यहां इस पादके आदिम [क]सूत्रमें अग्निष्टोमादि कर्मोंकी तरह केवल एक बार ही नहीं अपितु निरन्तर सम्भावित सभी विघ्नोंके प्रतिकारद्वारा सकलनियामक सुसूक्ष्म विष्णुतत्त्वका और स्वयं साधकके तदधीन होनेका श्रवण मनन और निदिध्यासन करते रहने चाहिये. यह निरूपित किया गया है. [ख]कर्मनाशार्थ ही पहले भी वरुणपुत्र भृगुने पुनः-पुनः तपके आवर्तनद्वारा उपदेशका श्रवण मनन और निदिध्यासन किया था, ऐसा तैत्तिरीयोपनिषद्में भी वर्णन मिलता है. तन्त्रोंमें भी ऐसा ही उपदेश मिलता है कि श्रवणादि नित्यशः करने चाहिये(ब्र.सू.भा.).

(६)विशेषाद्वैतवादी श्रीपतिभगवत्पादाचार्य कहते हैं कि प्रस्तुत पादमें तृतीयाध्यायोक्त सभी विद्याओंके फलका निरूपण अभिप्रेत है. [क]केवल एक बार आवर्तन करनेसे बुद्धि शिवात्मिका नहीं हो पाती है. परिणामतः विस्मरणकी सम्भावना बनी रहती है. अतः सर्वदा शिवोपासनापरायण रहना चाहिये. जहां एक बार भी किसी मन्त्रके उच्चारणमात्रसे या एक बार भी भगवान्‌की शरणागति ले लेनेमात्रसे मुक्ति मिलनेके विधान उपलब्ध होते हैं वे, कर्तव्योपदेशार्थ वचन नहीं हैं. ऐसे वचन तो माहात्म्यप्रतिपादनार्थ ही हैं. [ख]"ऊर्ध्वाय...ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः" जैसे वचनोंमें शिवलिङ्गकी सर्वात्मकता निरूपित हुयी है. तदनुसार बाह्य भौतिक पदार्थोंमें तथा अपने शरीरमें

भी बाह्याभ्यन्तर शिवलिङ्गकी भक्तिमयी स्थापना करके शिवाराधनाके अनुवर्तनार्थ चलते-फिरते उठते-बैठते सर्वदा अनन्यभावके साथ श्रवण कीर्तन स्मरण ध्यान पूजन आदि करते रहनेकी रीतिके कारण भी असकृद आवर्तनकी बात पुष्ट हो पाती है.

(७)अविभागाद्वैतवादी श्रीविज्ञान भिक्षुके अनुसार तृतीयाध्यायकी समाप्तिमें जो यह कहा गया था कि विद्यालभ्य ज्ञानमें कई बार ऐहिक, अर्थात् शारीरिक या मानसिक आदि, प्रतिबन्ध अकस्मात् ही बीचमें आ पड़ते हैं. सो यहां इस पादमें [क]अब उन आकस्मिक प्रतिबन्धोंके निराकरणार्थ तथा असम्प्रज्ञातसमाधि जब तक सिद्ध न हो जाये तब तक, विद्याके सतत आवर्तन करते रहनेकी बात समझायी जा रही है. इसकी प्रमाणोपपत्तिके रूपमें "तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः", "एतद् ज्ञेयं नित्यमेव आत्मसंस्थम्", "तमेव एकं जानथ आत्मानम्" आदि वचनोंके आधारपर सतत आवर्तन की अपेक्षा कही जा रही है. इस ऐसे अभ्यासके बिना हमारे चित्तकी सकल वृत्तियोंका निरोध शक्य नहीं हो पाता. अतः [ख]ध्येयविषयक ध्यान-धारणा और तदितरविषयोंमें वैराग्य के सतत अभ्यासद्वारा ही समाधि ध्येयसाक्षात्कारजनिका हो पाती है.

इस पूर्वसन्दर्भोपात्त चिन्तनकी पृष्ठभूमिका विहगावलोकन करनेसे जो बात उभर कर सामने आती है वह यह है कि (१)केवलाद्वैतवादके अनुसार मुक्ति आत्यन्तिक निर्विशेषाद्वैतरूपा होनेसे उस अवस्था तक पहुंचानेवाले श्रवणादिका अनुवर्तन भी वहां अनावश्यक होनेके कारण ही इन्हें साधनाध्यायशेष विचारके रूपमें इस अधिकरणको लेना पड़ा है, अन्यथा फलाध्यायगत साधनमीमांसाकी प्रकरणोपात्त अपूर्वता उपेक्षणीय क्यों हो पाती? साधनाध्यायके सर्वापेक्षाधिकरणमें भाष्य भामती तथा वेदान्तकल्पतरु ने विशद् विमर्शद्वारा यह सिद्धान्तित किया है कि ब्रह्मज्ञान, अपने चतुर्विध—[१]श्रवण, [२]मनन, [३४]निदिध्यासन और [४]साक्षात्कारात्मकवृत्ति रूप—सोपानक्रमोंमें प्रथम-द्वितीय सोपानोंपर आरोहणसे पूर्व यज्ञ-दान-तपोरूप विद्याके बहिरङ्ग साधनरूप आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा रखता है. आरोहणके समय शम दम उपरम तितिक्षा और समाधिरूप साधनोंको सप्रयत्न किये जानेकी अपेक्षा रखता है. तृतीय

सोपानपर आरूढ़ होते ही अप्रयत्नसिद्धतया अर्थात् स्वभावसिद्धतया शमादि अन्तरङ्ग साधनोंकी अनुवृत्ति बनी रहती है—"तस्माद् यथैव शमदमादयो यावज्जीवम् अनुवर्तन्ते एवम् आश्रमकर्मापि इति असमीक्षिताभिधानं... शमदमादीनां तु विद्योत्पादाय उपात्तानाम् उपरिष्टाद् अवस्थास्वाभाव्याद् अनपेक्षितानामपि अनुवृत्तिः"(भामती) " 'परमशान्तं ब्रह्म अस्मि' इति पश्यतः स्वभावादेव शमादि स्याद् न यत्नसाध्यम्" (वेदा.कल्प.) (ब्र.सू.भा.३।४।२६-२७). चतुर्थ सोपानपर आरूढ़ होते ही सारे ही साधन स्वतोनिवृत्त हो कर आत्मकैवल्य सिद्ध हो जाता है. इस प्रक्रियामें यदि विदेहमुक्ति ही केवल सिद्धान्ताभिमत होती तो कथा सरल हो जाती परन्तु जीवन्मुक्ति—"जिसकी आत्मचेतनामें अविद्याका विक्षेप भी भासित न होता हो उसे ब्रह्मविद् नहीं माना जा सकता है, वह तो स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है. ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मादर्शन दोनोंसे परे जो स्वयंके कैवल्यमें अवस्थित हो जाता है वह तो ब्रह्म ही होता है ब्रह्मविद् नहीं" (पञ्चदशी:४।६१) जैसे वचनोंमें मान्य रखखी गयी है. इस जीवन्मुक्तिमें शमदमादिकी तरह श्रवण मनन ध्यान उपदेश आदिका अनुवर्तन भी आविक्षेप मान्य होनेसे उन्हें 'अवस्थास्वाभाव्यात्' होना चाहिये था. उसे यहां स्वीकारे जानेपर साधनाध्यायावशिष्ट चिन्तनकी बात प्रकरणानभिप्रेत सिद्ध हो जाती. (२)केवल वेदान्तवचनोंके आवर्तनमात्रसे नहीं अपितु कर्मसमुच्चित ज्ञानसे प्रकट हुवे अदृष्टके कारण, अर्थात् शब्दजन्य-अपरोक्षानुभववादके निरसनद्वारा, ब्रह्मदर्शन स्वीकारनेवाले श्रीभास्कराचार्यकी व्याख्यामें इससे अधिक विशेष कुछ उल्लेखनीय नहीं है. (३)श्रीरामानुजाचार्यकी व्याख्यामें तृतीय सोपान निदिध्यासनको ही, ध्रुवा या अविच्छिन्ना स्मृति होनेके कारण, भक्तिरूप माना गया है. यह वस्तुतः उल्लेखनीय तथ्य है. अर्थात् जीवन्मुक्त होना ज्ञानीका एकाधिकार नहीं क्योंकि भक्त भी जीवन्मुक्त हो सकता है. (४)श्रीनिम्बार्काचार्यके अनुसार श्रवणादिके अभ्यासके अलावा भगवदनुग्रहको भी दर्शनकारणतया मान्य किया जाना भी साधना तथा फलानुभूति की धारणामें एक उल्लेखनीय क्रोशस्तम्भ है. (५)अभेदभाव रख कर श्रवणादिका अभ्यास नहीं किन्तु 'अतत्त्वमसि'वचनोक्त भेदभावमूलक अभ्यासपर भार देनेवाले श्रीमध्वाचार्यसे ब्रह्म-जीवके स्वाभाविकाभेदमें ऐच्छिकभेद देखनेवाली शुद्धाद्वैतदृष्टि मान्य करनेकी अपेक्षा तो रखी ही नहीं जा सकती. फिरभी उनके द्वैताग्रहको ऐच्छिकद्वैतके रूपमें मान्य कर लेनेमें शुद्धाद्वैतवादको कोई विशेष कठिनाई अनुभूत नहीं हो सकती.

(६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके अनुसार शिवलिङ्गकी बाह्याभ्यन्तर भक्तिमयी स्थापनाके साथ-साथ अपने आराध्यके श्रवणकीर्तनपूजनादिके आजीवन आवर्तन तथा अपने आराध्यकी बाह्याभ्यन्तर भक्तिरूपा अनुभूतिकी महत्ता भी वस्तुतः अतिशय उल्लेखनीय अधिकरणाभिप्राय है. अन्तमें (७)श्रीविज्ञान भिक्षुद्वारा इस सारे सन्दर्भको इतरविषयोंसे व्यावृत्त चित्तवृत्तिकी अपने ध्येयविषयके बारेमें असम्प्रज्ञात समाधिके रूपमें देखनेका प्रतिपादन प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिके अर्थात् निरोधके समानान्तर हमें पहुंचा देता है.

(८)अतएव इस अंशपर शुद्धाद्वैतवादी भाष्य प्रकट करनेवाले महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य और तदात्मज श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण कहते हैं कि सभी श्रुतिवचनोंके परस्पर समन्वय एवं अन्यान्य प्रमाणाभासोंके कारण प्रतीत होते विरोधके निराकरण के सिद्ध हो जानेपर श्रौत साधनोंका आश्रय ले कर प्रकृत जीवनमें ही ब्रह्मविद् हो पानेवालेकी अग्रिम व्यवस्था इस पादमें दिखलायी जा रही है. [क]ऐसे जीवन्मुक्तके द्वारा किये जाते श्रवण मनन और निदिध्यासन, भगवद्दर्शनरूप दृष्टोपकारार्थ ही होनेसे, इनकी आवृत्ति करते रहनी चाहिये. वैसे तो यह फलप्रकरण है फिरभी साधनरूप भी श्रवणादि फलानुभूतिके अन्तरंग उपाय होते हैं अतः यह निरूपण किया जा रहा है. [ख]श्रवणादिके फलतया तो दर्शनको स्वीकारा गया है, सो फलाध्यायमें उस भगवद्दर्शनकी मीमांसा करनेके बजाय पुनः श्रवणादि साधनोंकी मीमांसा, इस तथ्यका द्योतन करती है कि परमात्माका परोक्षज्ञान भी अवान्तरफलरूप होता है (वैसे भक्तिमार्गकी दृष्टिसे अवलोकन करनेपर तो भगवद्दर्शन भी इतरविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके साथ न होता हो तो परमफलरूप नहीं होता). इतरविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके साथ किये गये होनेपर भगवद्दर्शनरूप परमफलसदृश होनेसे परमात्मसम्बन्धी श्रवण-मनन-निदिध्यासन भी फलमध्यपाती ही हो जाते हैं. फलप्रकरणमें साधनविचार इसी निगूढ़ाशयवश किया गया है. शाब्दक्रमकी तुलनामें आर्थक्रमको बलवान मान कर कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप तीनों ही मार्गोंके फलोंके विचारक्रमके अनुसार प्रथम कर्मफल जन्ममरणावृत्तिरूप होता है, ऐसा भी वर्णकान्तर भाष्यकारने प्रस्तावित किया है (सो. अर्थापत्तिद्वारा अवशिष्ट ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग जन्ममरणचक्रावृत्तिसे रहित होते हैं यह भी ध्वनित

हो ही जाता है).

<u>फलप्रकरणगत लीलोपदेश</u>: फलतः भगवान्के समीप गोपिकाओंका रासलीलार्थ अभिसरण कर्ममार्गीय न होनेसे जन्ममरणचक्रावृत्तिरहित हो जानेवाला है, ऐसा भी विचारा जा सकता है. तत्त्वार्थदीपनिबन्धके द्वितीय प्रकरणमें महाप्रभुने शास्त्रीय कर्मके तीन — [१]आधिभौतिक [२]आध्यात्मिक तथा [३]आधिदैविक — रूपोंका विवेचन किया है. इनमें प्रथमके दो अवान्तर-प्रकारोंके अन्तर्गत [१/क]काम्यकर्मोंका फल यथाकाम होता है परन्तु सकाम अधिकारीद्वारा भी अनुष्ठित [१/ख]नित्यकर्मोंका फल जन्म-मरण-चक्रावृत्तिके सहित लोकात्मक स्वर्गप्राप्ति माना है. द्वितीय ब्रह्मज्ञानरहित कर्मोंका फल जन्म-मरण-चक्रावृत्तिरहित आत्मसुख या आत्मानन्द स्वीकारा है. तृतीय ब्रह्मज्ञानसहित कर्मोंके दो उपभेदोंके अन्तर्गत मर्यादया क्रममुक्ति अथवा कृपया सद्योमुक्ति भी स्वीकारी है (द्र. : त.दी.नि.२।१-१९). अतः यहां जिस कर्ममार्गको आवृत्तिसहित निरूपित किया जा रहा है वह प्रथम प्रकारके कर्ममार्गके सम्बन्धी विधान है. शास्त्रविहित कर्मको महाप्रभु केवल भगवत्प्रीतिसाधक होनेके बजाय भगवद्रूपतया ही स्वीकारते हैं (द्र. : त.दी.नि.२।२). अतएव सकामकर्मोंके अनुष्ठानमें ब्रह्मानन्द स्वरूपेण अनुभूत होनेके बजाय आनन्दांशके तिरोधानद्वारा नाम-रूपात्मना परिणत वैषयिक क्षुद्रसुख अथवा आनन्दाभास के रूपमें ही प्रकट हो पाता है. अतएव "एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति" (बृह.उप.४।३।३२) जैसे वचन इसी तथ्यको प्रमाणित करते हैं. स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञानसहित कर्मफलका विचार ज्ञानफलके विचारसे विचारितप्रायः है तथा आत्मसुखरूप कर्मफलका विचार ज्ञानमार्गीय फलके अन्तर्गत क्रममुक्तिके विचारसे विचारितप्रायः है.

यहां तक पहुंच जानेपर अब रासलीलाके बारेमें वाल्लभ दृष्टिकोणको समझने हम प्रवृत्त हो सकते हैं.

तामस-प्रमेय-प्रकरणमें वेणुगीतके प्रसंगमें सुबोधिनीमें यह कहा गया है कि वृन्दावनमें किया गया वेणुकूजन गोकुलमें गोपिकाओंको जो श्रुतिगोचर हुवा वह कोई लौकिक प्रक्रियाद्वारा तो शक्य नहीं था. यह तो औपनिषदिक

विद्याओंके अभ्यासके कारण जैसे ब्रह्मका स्वरूप अधिकारीकी समझमें शनैः-शनैः आने लगता है, वैसे ही ब्रह्मविद्याके स्थानापन्न स्वस्वरूपबोधके जननार्थ स्वयं भगवान्‌द्वारा अभ्यासरूपेण अनुष्ठित वेणुवादनकी कोई अलौकिकप्रक्रिया थी. प्रतिदिन गोचारणके समय इस वेणुवादनाभ्यासके द्वारा सम्पन्न श्रवणाभ्यास मननाभ्यास और ध्यानाभ्यास व्रजभक्तोंको सिद्ध हुवे थे. इसे ही भागवती भाषामें कहना हो तो वेणुकूजनके श्रवण, वेणुगोपालकी लीलाके कीर्तन; तथा इसके कारण बने रहते अखण्ड भगवत्स्मरण आदि उपायोंद्वारा सभी व्रजभक्तोंके हृदयमें भगवत्स्वरूप एक स्थिर प्रमेयतया निरुद्ध हो गया था. अतः फलप्रकरणके प्रारम्भमें वर्णित वेणुनाद फलात्मक श्रवण ही था, यह सुनिश्चित हो जाता है. "इस वेणुवादनद्वारा भगवान् रासलीलार्थ आमन्त्रित कर रहे हैं" ऐसा झटिति समझमें आ जाना वस्तुतः लीलौपयिक फलात्मक मनन था. और "ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिः पुत्रबन्धुभिः गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः" (भाग.१०।२९।८) वचनमें दिखलाया गया सिद्धोपायरूप भगवान्‌के बारेमें गोपिकाओंका मोह श्रुतवेणुनादकी तात्पर्यमीमांसाद्वारा निर्धारित निर्विचिकित्स नादाभिप्रायबोध ही था. इसी तरह "मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्" (भाग.१०।२९।३१) वचनमें निरूपित प्रतिवाद भी निदिध्यासितार्थकी ही उपपत्ति थी!

रासलीलार्थ अपने घरसे निकल न पानेवाली अन्तर्गृहगता गोपिकाओंके वर्णनमें आता है कि वे जारभावसे भगवान्‌को चाहती थी. वे रासविहारी भगवान् तक सदेह उपगमन कर पानेके बजाय विदेह उपगमन करनेमें ही समर्थ हुयी. अर्थात् उन्होंने भगवान्‌में सायुज्य प्राप्त कर लिया. यह "मुक्तोपसृप्य ब्रह्मके स्वरूपमें रही आत्मरतिका ही अत्यद्भुत आधिदैविक नाम-रूप-कर्मात्मक विस्तार यह रासलीला है" इस तथ्यके द्योतनार्थ है. विद्यारूप वेणुनादका अनंगवर्धक श्रवण, समस्त अशुभकर्मफलोंका नाशक ऐसा जारभावात्मक तीव्रतापरूप मनन; तथा, अपने प्रियतमका ध्यानप्राप्त समस्तशुभकर्मफलातिशायी आश्लेष यानि निदिध्यासन प्रस्तुताधिकरणोक्त औत्सर्गिक नियमका अपवाद है. क्योंकि भागवत तो उपेयप्रयत्नरूपा लीलाओंका निरूपण करनेवाला एक भाष्य है.

आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश : आधुनिक पुष्टिमार्गीय इसी अनुभावनामें परायण हो पायें एतदर्थ उपदिष्ट प्रकरणग्रन्थोंमें श्रीयमुनाष्टक(कारि.७ तथा ९)में 'तनुनवत्व' तथा 'स्वभावविजय' पदोंके द्वारा भूतलपर विद्यमान पुष्टिभक्तकी फलानुभूतिका निरूपण किया गया है. इसी तनुनवत्वका सिद्धान्तमुक्तावली(कारि.१ तथा २)में "मानसी सा परा मता" द्वारा मुख्यफलके रूपमें निरूपण है; और "ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिः ब्रह्मबोधनम्" द्वारा अवान्तर फलोंका. पुष्टिप्रवाहमर्यादा (कारि.१७-२१)में इसे "भगवानेव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेद्" इन शब्दोंमें कहा गया है. भूतलके ऊपर स्वरूपप्राकटच स्वसेवाप्रदानार्थ और गुणप्राकटच स्वीय गुणोंके श्रवण कीर्तन एवं स्मरण करानेके लिये होता है. व्रजभक्तोंके सर्वात्मभाव जैसी ही हमारी भी भक्तिके विकासार्थ सर्वसमर्पणोपदेशक सिद्धान्तरहस्य(कारि.७ तथा ९)में "तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः" वचनोंद्वारा जीवितावस्थामें होती फलानुभूतिका निरूपण है. विवेकधैर्याश्रय(कारि.-१३)में "अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः" वचनमें 'अलौकिकमनःसिद्धिः' पदद्वारा इसी अवस्थाको भगवच्छरणागतिद्वारा चाहे-पाये जानेकी बात बतायी गयी है. यहां 'पारलौकिकमनःसिद्धि' शब्दप्रयोग करनेके बजाय 'अलौकिकमनःसिद्धि' पदका प्रयोग इस फलके इहलोकमें प्रदानको सूचित करता है. चतुःश्लोकी(कारि.४)में भी ऐसे ही अलौकिकमनके द्वारा पुष्टिमार्गीय मोक्षपुरुषार्थतया भगवत्स्मरणभजनके आजीवन आवर्तनका उपदेश मिलता है. भक्तिवर्धिनी(कारि.१ तथा ५)में भक्तिके बीजभावके दृढ़ होनेकी स्थितिमें गृहत्यागपूर्वक आजीवन किये जाते श्रवण-कीर्तनकी फलरूपताका निरूपण तथा भक्तिकी व्यसनदशाके रूपमें भी इसी जीवनमें मिलती फलानुभूतिका निरूपण अभिप्रेत है. विषयविस्मृति या विषयविरक्ति के शुष्क मनोभावोंके साथ अथवा तो साधनरूप श्रवण-स्मरण-कीर्तनके निर्वाहार्थ भी आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके लिये संन्यास या गृहत्याग सर्वथा अनावश्यक ही होता है. आत्मरतिके विप्रयोगात्मक रसानुभावके रूपमें श्रवण-मनन-निदिध्यासन या श्रवण-कीर्तन-स्मरण के आवर्तनार्थ फलात्मक संन्यास अनुज्ञात है, यह संन्यासनिर्णय (कारि.१९-२०)में दिखलाया गया है. निरोधलक्षण ग्रन्थ तो सम्पूर्णतया भागवतकी दशमस्कन्धीय लीलाओंको आधुनिक पुष्टिमार्गीय भी कैसे निर्बाध जी पायें, एतदर्थ इन लीलाओंके आस्वादनीय भावोंकी भावनाओं,

अनुष्ठेय उपायों; तथा अवर्जनीय सावधानियों के उपदेशार्थ ही प्रकट हुवा है. अन्तमें सेवाफल(कारि.१ तथा ४)में 'पारलौकिकसामर्थ्य' पदका प्रयोग न करते हुवे 'अलौकिकसामर्थ्य' पदका प्रयोग तथा उसे 'निष्प्रत्यूह-महान्-भोग' के रूपमें बिरदाना भी, यह फलानुभूति इसी भूतलपर विद्यमानतामें सिद्ध होनेवाली ब्रह्मकी फलात्मिका अनुभूति है, इस तथ्यकी पुष्टि है.

:: (२)आत्माधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता ::

[क]'आत्मा' इति तु उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च. [ख]न प्रतीके न हि स. [ग]ब्रह्मदृष्टिर् उत्कर्षात्(ब्र.सू.४।१।३-५).

(१)केवलाद्वैतवादके अनुसार [क]वैसे परमेश्वर अपहतपाप्मा होता है और जीव तद्विपरीत फिरभी परमेश्वरोपासना आत्मतया ही करनी चाहिये. क्योंकि जाबाल परमेश्वरको—"तुम मैं हो–मैं तुम हूं" इस तरह समझते हैं और "यह तुम्हारी आत्मा अमृत अन्तर्यामी है" जैसे वचन भी यही बात हमें समझाते हैं. यहां निजात्माकी ब्रह्मप्रतीकतया उपासनाकी विधि होनेकी कल्पना नहीं की जा सकती. क्योंकि एक तो ऐसी स्थितिमें 'आत्मा' पदको गौण मानना पड़ेगा और दूसरी बात यह कि आत्मत्वप्रतिपादक वचन भी विरूप बन जायेगा. प्रतीकोपासनामें किसी एक वस्तुको अन्यका प्रतीक मान कर उस अन्यके रूपमें इसकी उपासना करनेको कहा जाता है. एक-दूसरेको कभी इतरेतरात्मक नहीं माना जाता. इसके अलावा अपने उपास्यकी भेददृष्टिसे उपासना करनेकी निन्दा भी की गयी है, उदाहरणतया, "जो अपने उपास्यको अपनेसे अन्य देवता मान कर उपासना करता है, वह उपासना कैसे करनी यह जान ही नहीं पाया है"–"इस तत्त्वमें जो कोई नाना जैसा कुछ देखता है वह मृत्युसे भी भयंकर मृत्युको प्राप्त करता है"–"उसका सर्वत्र पराभव होता है जो आत्मासे अन्यत्र कुछ भी देखता है" जैसे अनेक वचनोंमें. अपनी आत्माके रूपमें परमेश्वरकी उपासना करनेका एक फलितार्थ या तो यह होगा कि परमेश्वरको भी संसारी मानना पड़ेगा सो वह परमेश्वर ही नहीं रह जायेगा. संसारी पुरुषको, अथवा, परमेश्वरतया स्वीकारनेपर उसे

किसीके उपासक बननेकी आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी. ऐसा सोच भी वस्तुतस्तु अनावश्यक ही है, क्योंकि शास्त्रप्रामाण्यके आधारपर ही जैसे परमेश्वरको अपहतपाप्मा माना जाता है ऐसे ही जीवात्माको संसारी भी; और, इन दोनोंके ऐसे ही होनेके बावजूद परमेश्वरकी आत्मतया उपासना भी शास्त्रप्रामाण्यसिद्ध ही है. [ख]"न प्रतीके न हि सः" सूत्रको श्रीशंकराचार्य पृथक् अधिकरणतया स्वीकारते हैं और इस सूत्रका अभिप्राय यों बताते हैं कि अद्वैतात्मरूप अधिष्ठानपर जैसे अपने संसारी जीव होनेका भ्रमारोपण होता है, ऐसे ही स्वेतर समस्त दृष्टादृष्ट विषयोंका भी. एतावता जहां प्रतीकोपासनाकी विधि हो वहां भी आत्मतया ही उपासनाकी धांधल नहीं कर देनी चाहिये. क्योंकि अपनी मिथ्या संसारिताके अपोहनद्वारा अपनी आत्माको ब्रह्म या परमेश्वर के रूपमें जाननेका जो उपदेश है, वह अपने-आपको ब्रह्मका एक प्रतीक मान कर प्रतीकोपासनाके विधानतया नहीं है. अतः किसी प्रतीककी प्रतीकताके अपोहनद्वारा ब्रह्मदृष्टिका उपदेश स्वीकारनेपर वह प्रतीक नहीं रह जायेगा. और प्रतीकतया स्वीकारनेपर तो ब्रह्माभेददृष्टिका उपदेश ही अनुपपन्न हो जायेगा. इसी तरह [ग]"ब्रह्मदृष्टिर् उत्कर्षात्" सूत्रको भी पृथगधिकरणतया स्वीकार कर श्रीशंकराचार्य यह शंका-समाधान करते हैं कि "आदित्यो ब्रह्म" जैसे उपासनाविधायक वाक्योंमें आदित्यकी ब्रह्मतया अथवा ब्रह्मकी आदित्यतया उपासना स्वीकारनी? इस जिज्ञासाका समाधान यह है कि उत्कृष्ट वस्तुके रूपमें किसी निकृष्ट वस्तुकी उपासना करनी चाहिये, निकृष्ट वस्तुके रूपमें उत्कृष्ट वस्तुकी नहीं. साधारण क्षत्रियको 'राजा' कहनेमें कोई अविवेक नहीं होता परन्तु राजाको 'साधारण क्षत्रिय' कहनेमें अविवेक हो जाता है. 'आदित्य' जैसे शब्दोंके प्रत्यक्षादि प्रमाणगम्य अर्थ, बुद्धिमें पहलेसे ही आरूढ़ हो जाते होनेसे, उनका गौणार्थ ले पाना कठिन होता है. शास्त्रैकगम्य ब्रह्मरूप अर्थ बुद्धिमें देरसे उपस्थित होता होनेसे, इस प्रसंगमें आदित्य न होनेकी बात समझमें आनेपर 'ब्रह्म' का गौणार्थ भी स्वीकार लेनेमें कोई बाधा नहीं आती. जैसे प्रतिमाको विष्णु आदि देवताके रूपमें स्वीकारनेपर कुछ भला होता है (विष्णुको, किन्तु, जड़ प्रतिमा मानना विष्णुका अनादर ही होगा) इसी तरह ब्रह्मका ऐसा फलप्रदायक माहात्म्य है कि आदित्यके बारेमें ब्रह्मदृष्टि रख कर उसकी उपासनासे हमारा कुछ भला होता है.

(२)श्रीभास्कराचार्य यहां [क]सूत्रमें यह विशेषतया प्रतिपादन करते हैं कि परमेश्वर और जीव दोनों परस्पर विरोधी गुणोंवाले होते हैं सो ऐसी स्थितिमें परमेश्वरकी आत्मतया उपासनाको कैसे उचित माना जा सकता है? भेद और अभेद दोनों ही नित्यसिद्ध होते हैं फिरभी उपाधिकृत भेद अभेदभावनाके द्वारा दूर हो जाता है. आगमें तपानेसे सोनेमें रहा पूर्वसिद्ध मल जैसे निवृत्त हो जाता है. [ख]सूत्रके भाष्यमें श्रीभास्कराचार्यने यह शंका-समाधान किया है कि उपादेय कार्यको उपादानकारणतया भी देखा जाता होनेसे "आदित्यो ब्रह्म" जैसे वचनोंके आधारपर; और क्योंकि, जिस ब्रह्मकी उपासना आत्मतया कर्तव्य है, उस ब्रह्मसे प्रतीक भी अभिन्न होता है, सो एतावता आदित्यादि प्रतीकोंकी आत्मतया उपासना नहीं की जा सकती. अतः प्रतीकोपासनाकी विधियोंमें कार्यवस्तुकी उपासनाका उपदेश है, कारणवस्तुकी उपासनाका नहीं. जैसे "वस्त्रदान करो" विधानमें कार्यवस्तु पटका दान अभिप्रेत होता है, कारणवस्तु तन्तुओंका नहीं. [ग]सूत्रमें कोई उल्लेखनीय व्याख्यान्तर नहीं दिया गया है.

(३)श्रीरामानुजाचार्यका कहना है कि [क]शास्त्रोंमें भेददृष्टिकी कहीं निन्दा तो कहीं प्रशंसा भी दिखलायी देती है. अतः जैसे अपने शरीरसे अपनी आत्माके कुछ अधिक होनेपर भी शरीरकी तरह ही आत्माके बारेमें अहंताका अनुसन्धान हमें होता है, इसी तरह परमेश्वरके बारेमें भी वह हमारी आत्माके भी भीतर बिराजमान आत्मासे कुछ अधिक अन्तर्यामी परमात्मा है, ऐसे आधिक्य तथा अभेद दोनोंका अनुसन्धान रखना आवश्यक होता है. [ख]सूत्रके बारेमें श्रीरामानुजाचार्यका कहना है कि प्रतीकोपासनामें उपास्य प्रतीक होता है स्वयं परमात्मा नहीं. वह प्रतीक उपासकान्तर्यामी नहीं होता सो प्रतीककी आत्मतया उपासना नहीं करनी चाहिये. [ग]सूत्रमें यह कहा गया है कि "मनो 'ब्रह्म' इति उपासीत" जैसे वचनोंमें मन आदिकी ब्रह्मदृष्ट्या उपासना करनी चाहिये, ब्रह्मकी मनोदृष्ट्या नहीं.

(४)श्रीनिम्बार्काचार्यकृत वृत्तिके अनुसार भाष्य लिखनेवाले श्रीश्रीनिवासाचार्यने [क]सूत्रगत 'उपगच्छन्ति' और 'ग्राहयन्ति' पदोंके बहुत ही स्वीकार्यतर श्रौत सन्दर्भ क्रमशः यों उद्धृत किये हैं—"एष मे आत्मा अन्तर्हृदये एतद् ब्रह्म" (छान्दो.उप.३।१४।४) "एष ते आत्मा सर्वान्तरः" (बृह.उप.३।४।१). परमेश्वरको

आत्मतया स्वीकारनेकी दृष्टिकी विवेचना करते हुवे भाष्यकार कहते हैं कि अज्ञ जीव अंशभूत होता है तथा सर्वज्ञ ब्रह्म अंशी. यों स्वरूपतः भिन्न होनेपर भी वृक्षपर उगते वृक्षात्मक पत्तोंकी तरह जीव भी ब्रह्मात्मक होता है. सूर्य स्वयंप्रकाशमान होने और परप्रकाशनका भी कार्य करनेको स्वाधीन होता है. उसकी किरणें, परन्तु, सूर्याधीन होती हैं. उसी तरह ब्रह्म स्वाधीन होता है और जीव ब्रह्माधीन. ब्रह्मनिरपेक्षतया अपनी स्थिति या प्रवृत्ति के हेतु अक्षम होनेके कारण भी जीव ब्रह्मात्मक होता है. दो पदार्थोंके बीच किसी तरहके अभेदके रहनेपर ही दोनोंके बीच तादात्म्यसम्बन्ध स्वीकारा जा सकता है. एक वस्तुका स्वयं अपने-आपके साथ तादात्म्यसम्बन्ध स्वीकारा नहीं जाता; और, न गाय और घोड़े की तरह सर्वथा इतरेतरानात्मक वस्तुओंके बीच भी वह तादात्म्यसम्बन्ध उपपन्न होता है. कार्य-कारण, गुण-गुणी और शक्ति-शक्तिमान जैसी दो भिन्न वस्तुओंके बीच ही तादात्म्यसम्बन्ध उपपन्न होता है. ये भेद और अभेद दोनों ही स्वाभाविक होते हैं. [ख-ग]सूत्रोंमें कोई उल्लेखनीय व्याख्यान्तर नहीं दिया गया है.

(५)श्रीमध्वाचार्यके अनुसार ये तीनों ही सूत्र पृथक्-पृथक् अधिकरण हैं. प्रथम [क]सूत्रमें इनके अनुसार 'आत्मा' शब्दका अर्थ स्वामी होता है और स्वामीकी तरह विष्णुकी उपासना अन्य किसी भी प्रकारकी उपासनाके बजाय अधिक फल देनेवाली होनेसे नित्यशः करनी चाहिये[न्या.वि.]. 'आत्मा' यह साक्षात् नारायणका ही नाम होनेसे इस नामद्वारा सभी सन्त पुरुष उसकी उपासना करते हैं और इसी नामका उपदेश भी देते रहते हैं[अनुव्या.]. अतः 'आत्म' शब्दद्वारा विष्णुकी स्वामित्वेन उपासना अन्य सभी उपासनाओंसे अधिक फल देनेवाली होनेके कारण नित्यशः करनी चाहिये. क्योंकि उपनिषदोंमें भी इसी तरह उपासना की और करायी गयी निरूपित हुयी है. चाहे कैसा भी क्लेश जीवनमें सहन क्यों न करना पड़ता हो पर विष्णुको अपनी आत्मा=स्वामीके रूपमें कभी विस्मृत नहीं करना चाहिये[ब्र.सू.भा.]. इसके बाद आते [ख]सूत्रके व्याख्यानमें कहा गया है कि जो अपने-आपको, या किसी प्रतिमाको, या देवतान्तरको; अथवा किसी भी चेतनाचेतन वस्तुको केशवके रूपमें निहारता है, उस ईशापहारी चोरको कौन सा पाप नहीं लगता! वह तो अन्धन्तम-नरकगामी ही बनता है. अतः प्रतीकत्वेन नहीं

परन्तु प्रतीकान्तःस्थितत्वेन ही विष्णुकी उपासना करनी चाहिये(अणुव्या.). अनेकत्र अनेकानेक वस्तुओंके बारेमें उनकी ब्रह्मतया उपासना करनेके उपदेशको देख कर भ्रमित नहीं हो जाना चाहिये परन्तु उन सभीके अन्तःस्थिततया विष्णु अवस्थित रहता है ऐसी बुद्धि करनी चाहिये. अतः ऐसे प्रतीकोंकी ईश्वरत्वेन उपासना नहीं करनी चाहिये(ब्र.सू.भा.). इसके बाद आनेवाले [a]सूत्रमें श्रीमध्वाचार्यका कहना है कि विविध गुणोंके चिन्तनद्वारा उपासना करनेसे विष्णुकी प्रीति अधिक सम्पादित हो पाती हो तो नित्य केवल ब्रह्मतया ही उपासना क्यों करनी करनी चाहिये? इस प्रश्नका समाधान यह है कि 'ब्रह्म' के रूपमें विष्णुकी उपासना करनेपर विष्णुके अशेषगुणोंका बोध होता होनेसे ब्रह्मतया उपासना तो नित्य ही करनी चाहिये(न्या.वि.). जैसे विष्णुको सर्वदा आत्मदृष्टिसे निहारना आवश्यक होता है ऐसे ही ब्रह्मदृष्टिसे भी: ब्रह्मत्वरहित केवल आत्माके रूपमें विष्णुको कभी नहीं निहारना चाहिये. 'ब्रह्म' यानि जो पूर्ण, भूमन् या महान् हो. अतः 'ब्रह्मात्मा' शब्दका समुदितार्थ होगा सर्वोत्कृष्ट स्वामी. इस तरह उसके माहात्म्यको स्वीकार करके उपासना करनेवालेपर वह प्रसन्न होता है(ब्र.सू.भा.).

(६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके अनुसार [क]सूत्रगत 'उपगच्छन्ति' और 'ग्राहयन्ति' पदोंके अर्थ क्रमशः : 'प्राप्त कर लेना' और 'जान लेना' स्वीकारा गया है. इनके अनुसार उपासनाकी तीन तरहकी रीतियां होती हैं : [१]'अहं'ग्रहोपासना, यथा, दहरविद्या शाण्डिल्यविद्या वैश्वानरविद्या उपकोसलविद्या आदि. [२]प्रतीकोपासना, यथा, जड़पदार्थरूप ताम्र-मृण्मय-शिलादिके विग्रहोंकी शिवकेशवादि देवोंके रूपमें उपासना. [३]अङ्गावबद्धोपासना, यथा, यज्ञकर्माङ्गभूत उद्गीथ आदि पदार्थोंकी यज्ञकर्मानुष्ठानके समय ब्रह्मदृष्टिसे उपासना. जीवमात्रके अन्तर्यामी स्वयं शिवकी उपासना तो चेतनाचेतनविलक्षणतया ही करनी चाहिये. साथ ही साथ, परन्तु, चेतनाचेतन पदार्थोंकी शिवतया भी उपासना करनी चाहिये. क्योंकि अन्यदेवोंकी उपासनाके त्यागपूर्वक परमोपास्य शिवके निरन्तर ध्यान=उपासनाके बिना उपासक जीवमें से न तो पशुत्व निवृत्त हो सकता है और न शिवतत्त्वकी प्राप्ति ही उसे हो पाती है. लोहसदृश जीव और सुवर्णसदृश शिव के बीच सृष्टिदशामें भेद होनेपर भी पारसमणिके स्पर्श जैसे निरन्तर शिवध्यानके कारण मुक्तिदशामें जीव वस्तुतः शिवभावापन्न

हो जाता है. [ख-ग]सूत्रोंमें यह विवक्षित माना गया है कि जैसे ऊंचे भवनके ऊपरले तल्लेपर जो स्वतः नहीं पहुंच सकता, वह भी सीढ़ियोंपर चढ़ कर शनैः-शनैः तो पहुंच ही सकता है. इसी तरह शिवका ध्यान धरने जो समर्थ न हो, वह भी शिवोत्पन्न अन्न प्राण चक्षु श्रोत्र मन या वाक् आदिका उत्कृष्टशिवतया ध्यान धर कर शिवध्यानकी ऊंचाई तक भी पहुंच ही सकता है. शिवका ध्यान परन्तु कभी भी इन अपकृष्ट अन्नादिके रूपोंमें नहीं धरना चाहिये.

(७)श्रीविज्ञान भिक्षुने [क]'उपगच्छन्ति' पदका श्रौतसन्दर्भ "तद् इदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति"(बृह.उप.१।४।१०) वचनमें खोजनेके बजाय "तद् आत्मानमेव वेद्-'अहं ब्रह्म अस्मि' इति" (वहीं.१।४।१०) वचनमें असावधानतया खोजा लिया है. वैसे 'ग्राहयन्ति' पदका सुन्दर श्रौतसन्दर्भ: "स आत्मा तत् त्वम् असि" (छान्दो.उप.६।७।७) वचनमें ही खोजा है. अतः श्रीविज्ञान भिक्षु कहते हैं कि जो ब्रह्म सत्यसंकल्पादि गुणोंवाला है तथा जो निःशेष प्रकृति-पुरुष आदि अखिल प्रपञ्चका प्रलयावधिभूत तत्त्व है, उसका अपनी आत्माके रूपमें अनुभव भी करना चाहिये तथा उपदेश भी. जैसे जीवात्माको 'अहं'तया स्वीकारनेपर देह इन्द्रिय प्राण एवं अन्तःकरण के संघातमें अभिमान पैदा करनेवाली अविद्या निवृत्त हो जाती है, उसी तरह परमात्माको 'अहं'तया स्वीकारनेपर जीवात्मविषयक अभिमान पैदा करनेवाली अविद्या निवृत्त हो जाती है. एतावता जीवात्माको अनात्मा ही नहीं मान बैठना चाहिये. क्योंकि रात्रिमें चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना वस्तुओंका प्रकाशन करती होनेपर भी सूर्योदयके बाद वह नहीं कर पाती. सूर्योदय होनेपर तो प्रखर सूर्यतेजसे ही वस्तुओंका प्रकाशन होने लगता है, चन्द्रज्योत्स्नाद्वारा नहीं. इसी तरह सृष्टिकालमें निखिल भोग्यपदार्थ एवं तदुपकरणों का भी प्रकाशन जीवात्माके चैतन्यद्वारा ही होता है. प्रलयकाल या मुक्तावस्था में निखिल भोक्तृ-भोग्यप्रपञ्चका प्रकाशन प्रधान-पुरुषातीत परमात्माद्वारा ही होने लगता है. जैसे दोपहरके सूर्यके प्रखर प्रकाशमें अन्य सारे प्रकाश लीन हो जाते हैं उसी तरह, सर्वावभासिका ब्रह्मचेतनामें सृष्टिकालिक सारेके सारे भोक्तृ-भोग्यभावोंके प्रकाशन प्रलीन हो जाते हैं. अतएव ऐसे ब्रह्ममें आत्मबुद्धि रखनी चाहिये. [ख]सूत्रगत 'प्रतीक' पदको अंग या अंश का पर्याय मान कर श्रीविज्ञान भिक्षुका

कहना है कि जीवात्माका द्रष्टृत्व कर्तृत्व या भोक्तृत्व मिथ्या न होनेपर भी पारमार्थिक या तात्त्विक नहीं माना जा सकता है. वह तो व्यावहारिक ही होता है. अतः प्रतीकोपम होनेसे एक ही संघातमें दो आत्मा होनेका दोष इस विवेचनापर लागू नहीं हो पाता. "ऐसी स्थितिमें जीव आदिके बारेमें उपनिषदोंमें मिलते इनके ब्रह्म होनेकी बात असंगत हो जायेगी, ऐसा भी नहीं सोच लेना चाहिये. क्योंकि इनमें ब्रह्मदृष्टि आहार्यज्ञानरूपा अर्थात् उपासनार्थ ही होती है. प्रधान या पुरुष वस्तुतः ब्रह्मात्मक नहीं होते परन्तु ब्रह्मसे इन्हें विभक्त भी किया नहीं जा सकता. उदाहरणतया घट-पट आदि वस्तु आकाशात्मक नहीं होते; फिरभी, न तो इन्हें आकाशरूप आधारमें से बाहर निकाला जा सकता है और न इनके भीतर अन्तर्व्याप्त आकाशको इनसे विभक्त किया जा सकता है. इसे ही 'अविभागाद्वैत' कहते हैं.

इन विभिन्न वेदान्तोंकी निरूपणशैलीमें से (१)सर्वप्रथम श्रीशंकराचार्यने जो "आत्मदृष्टि प्रतीकोपासना नहीं है", ऐसा प्रतिपादन किया है, वह तो शुद्धाद्वैतवादको भी सर्वथा मान्य ही है. यहां फिरभी जिस एक महत्त्वपूर्ण श्रुतिवचनकी उपेक्षा की गयी है वह है—"य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानः अन्तरो. यम् आत्मा न वेद, यस्य आत्मा शरीरं, यः आत्मानम् अन्तरो यमयति. एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः" (द्र.:ब्र.सू.शां.भा.२।३।४३). अतः इस वचनमें अधिष्ठानरूप या शरीररूप अज्ञानी नियम्य जीवात्मा और अधिष्ठातृरूप आत्मशरीर अज्ञात नियामक=अन्तर्यामी परमात्मा, इन दोनोंके बीच, "तत् त्वम् असि" वचनमें जैसे द्वैतात्यन्ताभाव माना गया है वैसा द्वैतात्यन्ताभाव यदि भागत्यागलक्षणया स्वीकारा जाये तो पुनः गौणत्वप्रसंग आ पड़ेगा. यदि आत्यन्तिकद्वैत स्वीकारते हैं तो प्रतीकता ही एक आश्रयणीय कल्प रह जायेगा. अन्यथा औपाधिकद्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, स्वाभाविकद्वैताद्वैत, विशेषाद्वैत, अविभागाद्वैत अथवा शुद्धाद्वैत(=स्वाभाविकाद्वैत+ऐच्छिकद्वैत) स्वीकारे बिना कोई गति नहीं रह जाती. इन परस्पर विरोधी गुणोंको मिथ्या मान लेनेसे काम नहीं चल सकता है. शारीरकभाष्यके अंशाधिकरणमें—"श्रुति यदि भेदाभेद प्रतिपादन करना चाहती होती तो बात और होती. श्रुति तो अभेदका ही• प्रतिपादन करना चाहती है. क्योंकि जीवकी ब्रह्मताके प्रतिपादनद्वारा पुरुषार्थ सिद्ध होता दिखलाया

गया है. प्रत्यक्षसिद्ध होनेके कारण भेदका तो प्रतिपादन नहीं केवल अनुवाद ही हो रहा है. ब्रह्मके निरवयव होनेके कारण ही जीव ब्रह्मका पारमार्थिक अंश तो हो ही नहीं सकता है" (ब्र.सू.भा.२।३।४७) यह श्रीशंकराचार्यने स्वीकार रख्खा है. अतः जीवेश्वरभेद ही प्रत्यक्षसिद्ध है परन्तु औपाधिकभेदाभेद विशिष्टाभेद स्वाभाविकभेदाभेद विशेषाभेद अविभागाभेद या शुद्धाभेद तो प्रत्यक्षसिद्ध नहीं होनेसे, इनमें से किसी एकको श्रुतिके तात्पर्यगोचरतया स्वीकार लेना उचित होता. यों पुरुषार्थसाधक ब्रह्मात्मकताका निर्वाह भी शक्य बन ही जाता. वैसे भी मायिकद्वैतको भी प्रत्यक्षसिद्ध तो माना नहीं जा सकता है. क्योंकि किसी वस्तुके पहले प्रतीत होनेपर भी बादमें बाधित हो जानेपर ही मिथ्यात्व समझमें आता है. अन्यथा इसे प्रतीति-बाधान्यथानुपपत्तिके द्वारा सिद्ध करना भी आवश्यक न होता. स्पष्ट है कि प्रतीति यहां शाब्देतरप्रमाणगोचर होती है परन्तु बाध तो शब्दैकगम्य ही होता है. बाधज्ञानके बिना द्वैतका मायिकत्व सिद्ध नहीं हो सकता. अतः मायिकद्वैतको पुनः श्रुतिप्रतिपाद्य स्वीकारना ही पड़ेगा. निष्कर्षतया किसी न किसी तरह द्वैत; और, किसी न किसी तरह अद्वैत, दोनोंको ही श्रुतिप्रतिपाद्य माने बिना कोई चारा ही नहीं रह जाता है. मायिकद्वैत स्वीकारनेपर तो "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं...तत् त्वम् असि" "अयम् आत्मा ब्रह्म" "अहं ब्रह्म अस्मि" "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" आदि सभी केवलाद्वैतवादके आधारप्रद वचन भी गौणार्थकल्पना बिना उपपन्न नहीं हो पाते हैं. क्योंकि तथाकथित महावाक्य अखण्डार्थबोधक होनेपर भी "तत् त्वम् अस्ति" न हो कर "त्वं तद् असि" विधानतया अभिप्रेत है. अतः पूर्वसूत्र(४।१।२)में श्रीशंकराचार्यने— " 'तत् त्वम् असि' वचनमें यहां 'त्वं' पदका जो अर्थ है वही 'तत्' पदका भी अर्थ है, ऐसी विवक्षा है" ऐसा विधान किया है. इसी तरह यहांके इस पांचवें सूत्रमें "बुद्धिमें प्रथमोपस्थित होनेवाले विरोधाभासरहित 'आदित्य' जैसे शब्दोंके मुख्यार्थ ही ग्राह्य होते हैं. इन 'आदित्य' आदि शब्दोंकी मुख्यवृत्तिद्वारा बुद्धिके अवरुद्ध हो जानेके बाद, उपस्थित होनेवाले 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ मुख्यवृत्तिसे स्वीकारनेपर 'आदित्य' पदोंके साथ 'ब्रह्म' पद जुड़ ही नहीं पायेगा. अतः 'ब्रह्म' पद ब्रह्मदृष्टिके विधानार्थ ही सिद्ध होता है (आदित्यकी ब्रह्मरूपताकी सिद्धिके लिये नहीं)" (ब्र.सू.भा.४।१।५) विधान भी किया ही है. अब इसी युक्तिके आधारपर यह भी कहा जा सकता है कि 'त्वं' पदार्थसे बुद्धिके अवरुद्ध हो जानेके बाद उपस्थित होनेवाले 'तत्' पदार्थका अपनी

मुख्यवृत्तिद्वारा तो जुड़ पाना सम्भव न होनेसे 'त्वं' पदार्थमें ब्रह्मदृष्टिके विधानार्थ क्यों इसे भी न स्वीकार लेना? वैसे जहां तक "तत् त्वम् असि" वचनका सवाल हो तो यह भी विचारणीय है कि सम्पूर्ण वाक्यका स्वरूप क्या है? वह यों है—"स य एषो अणिमा. ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्. तत् सत्यम्. स आत्मा. तत् त्वम् असि" यहां "सः त्वम् असि" नहीं कहा गया है. अतः यहां पूर्वपरामर्शी 'तत्' सर्वनामद्वारा 'आत्मा' पदके अर्थका नहीं प्रत्युत 'ऐतदात्म्यम्' पदके अथवा 'सत्यम्' पदके अर्थका ही परामर्श अभिप्रेततर लगता है. ऐसी स्थितिमें "'सत्'+'त्यत्'='सत्य'" समीकरणमूलक 'सत्य' पदके अर्थका परामर्श स्वीकारते हैं तो अपरोक्ष होनेसे नियम्यात्माको सत् मानना पड़ेगा और श्रुत्येकगम्य परमात्माको त्यत् मान लेनेपर पुनः बुद्धि अपरोक्षार्थाविरुद्ध हो कर सत्को त्यत्के प्रतीकतया लेने उद्यत हो जायेगी. अतः अखण्डसच्चिदानन्दैकरस निरवयव ब्रह्ममें जैसे अंशकल्पना उपपन्न नहीं हो पाती है, वैसे ही ब्रह्मेतर मायाकी कल्पना भी उपपन्न नहीं हो पाती है. पारिशेष्यात् 'ऐतदात्म्यम्'का परामर्श 'तत्' पद अथवा 'तत्त्व' पद द्वारा स्वीकार लें तो उसके तो पूर्वसिद्ध न होनेसे अप्रतिपाद्य या अनुवाद होनेकी कथा भी नहीं सतायेगी और श्रुतिप्रतिपादित आत्म-परमात्म-तादात्म्य भी उपपन्न हो कर जीवात्माको ब्रह्मप्रतीकतया देखनेकी आपत्ति भी दूरापास्त हो जायेगी.

वैसे "यथा एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्...सदेव इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्...तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति" (छान्दो.उप.६।१-२) वचनके आधारपर यह तो निश्चित ही है कि श्रुतिमें ब्रह्मका अद्वैत, सृष्टिगत नाम-रूप-कर्मोंके व्याकरणसे पूर्व, व्याकृतावस्थामें; और, इन नाम-रूप-कर्मोंके उस परमसत्में प्रलीन या सायुज्यभावापन्न होनेपर भी अभिप्रेत है. सो तादात्म्यके अनेक प्रकारोंके अन्तर्गत ब्रह्मस्वरूपदृष्ट्या स्वाभाविकाद्वैत और तल्लीलादृष्ट्या ऐच्छिकद्वैत ही तादात्म्यके इन सभी प्रकारोंमें भी उपपन्नतम प्रतीत होता है.

श्रीमध्वाचार्यने (५)'आत्मा' 'प्रतीक' और 'ब्रह्म' शब्दोंकी जैसी परिभाषा प्रस्तुत की उन्हें सर्वथा यथावत् मान्य कर पाना तो शुद्धाद्वैतवादमें शक्य

न होनेपर भी परिभाषित अर्थोंके अनुसार भगवान्‌को दाता स्वामी प्रतीकान्तःस्थित तथा पूर्ण भूमन् या महान् माननेकी आवश्यकताका अस्वीकार शक्य नहीं है. लीलार्थ प्रकट द्वैतभावमें सिद्धान्ततः और स्वरूपतः रहे वास्तविक अद्वैतभावकी अनुभूति न हो पानी स्वयं परब्रह्मके सत्यसंकल्प और सर्वभवनसामर्थ्य की ही यशोगाथा है. फिरभी न केवल शास्त्रोपदिष्ट प्रतीक ही अपितु प्रतीकतया अनुपदिष्ट वस्तुमात्रमें वह परमतत्त्व सर्वोपादानतया सर्वव्यापितया तथा सर्वान्तर्यामितया अवस्थित रहता ही है. अतः सर्वात्मभावके सिद्ध न होने अर्थात् ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूति अथवा सानुभावात्मिका भगवद्भक्ति के बिना भी शास्त्रप्रामाण्यवादियोंके लिये परब्रह्म परमात्मा भगवान्‌को सर्वान्तर्यामितया सर्वान्तःस्थित मानना आवश्यक तो होता ही है. अपनी मतिको शुद्धाद्वैतावलम्बिनी बनाये रखनेके बावजूद भगवदिच्छयैक-प्रकट द्वैतका सन्मान दैन्यभावके साथ निभाना उचित ही होता है. अतः सहसा शुद्धाद्वैतानुरोधी व्यवहार प्रकट करनेकी धांधल कर देनी आवश्यक नहीं होती. अतएव महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण दिया है कि ब्रह्मरूपेण जगत्‌को जान लेना आवश्यक होनेपर भी जागतिक नाम-रूप-कर्मोंके बारेमें भगवद्भावोचित आसक्ति नहीं रखनी चाहिये क्योंकि ब्रह्म जगदात्मना प्रकट होनेपर भी अपनी जगदुत्कृष्टता निभाये रखता है (द्र.: सुबो.२।९।३५). द्वैतवादकी ही तरह जीवात्माको ब्रह्मके स्वरूपसे व्युच्चरितांश न स्वीकारनेवाले द्वैताद्वैतवादके विभिन्न (२-३-४-६-७) प्रकारोंके बारेमें यह सावधानतया विचारणीय है कि 'सत्' या 'ब्रह्म' कोई पदवीनाम नहीं है. यह तो वस्तुनाम या व्यक्तिनाम ही है. अतः "इस राज्यमें राजा एक ही है—दूसरा कोई नहीं" जैसे विधानोंमें राजाके पदपर आसीन व्यक्तिके एक ही होनेका बोध हो सकता है और अतएव राजपरिवार और राजपरिकर का निषेध भी सिद्ध न होना भी उचित ही है. इसी तरह, किन्तु, सत् या ब्रह्म के एकमात्र होनेका अभिप्राय सत् या ब्रह्म के पदपर आसीन दूसरे किसीके निषेधके रूपमें लेनेपर इन्द्र आदिके सदृश किसी पदवीका 'सत्' या 'ब्रह्म' पदसे बोध होगा परमतत्त्वका नहीं. अतः ब्रह्मके एक होनेके अलावा दूसरे किसीके भी न होनेका उद्घोष जो 'एकमेवाद्वितीयं' विधानमें मिल रहा है, वह यदि अब्राह्मिक जड़-चेतनप्रयुक्त सद्वितीयताको सहनेवाली बात होती तो सृष्टिसे पूर्व भी तादात्म्यको सिद्ध कर पाती.

तादात्म्यसम्बन्ध तो "तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैत्ति.उप.२।७।१) वचनोक्त आत्मोपादानात्मिका सृष्टिके प्रकट हो जानेके बाद आनेवाली कथा है. इस तादात्म्यके कारण ही उस परम तत्त्वकी एकमेवाद्वितीयता अनेकविध-नाम-रूप-कर्मोंकी सृष्टिके बावजूद अक्षुण्ण रहती है.

इस ब्रह्मोपादानात्मिका ब्रह्मकर्तृका ब्रह्मात्मिका आत्मलीलारूपा सृष्टिके प्राकट्यके सिद्धान्तके हृद्गत हो जानेपर शुद्धाद्वैतके प्रतिपादक वाल्लभ भाष्यके अवबोधनार्थ अब हम उद्यत हो सकते हैं.

(८)वाल्लभ मतके अनुसार इस अधिकरणमें भी पूर्ववत् दो वर्णक मिलते है. प्रथम [क/१]वर्णकमें यह कहा गया है कि ब्रह्मको आत्मतया मान कर ज्ञानमार्गी उसकी आजीवन उपासना करता है. देह छूटनेपर उपासनाके फलतया अक्षरब्रह्ममें वह लीन हो जाता है. अर्थात् वह सायुज्यमुक्ति पा लेता है. ब्रह्मके ज्ञानगम्य होनेकी इच्छाके अनुरोधवश अर्थात् ब्रह्मभावावेशमें ही वह योग्य अधिकारीके उपस्थित होनेपर ऐसे ब्रह्मतादात्म्यका उपदेश भी दे पाता है (द्र.छान्दो.उप.६।८।७: ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा, तत्[(=सत्यं/ऐतदात्म्यं)] त्वम् असि). इस ब्रह्मभावापन्न ज्ञानीके द्वारा दिये जाते उपदेश और शिष्येषणावश दिये जाते उपदेश के बीच महान् तारतम्य रहता है. अतएव ज्ञानमार्गमें अवान्तरफलतया यह मान्य है. इसी तरह परब्रह्म परमात्मा भगवान्‌के माहात्म्यको भलीभांति जान लेनेके बाद श्रीकृष्णके प्रति सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहभाववाला पुष्टिमार्गीय भक्त तो उन्हें आत्मात्मतया मान कर भक्तिभावानुरूप बहिःप्रकट पुरुषोत्तमके समीप पहुंच कर भजन करता है. पूर्ववत् ही भगवद्भावावेशमें यह भगवान्‌की भक्तिगम्य होनेकी इच्छाके अनुरोधवश योग्य अधिकारीको भगवान् श्रीकृष्णके आत्मात्मा=परमात्मा होनेका भगवद्भजनप्रवर्तक उपदेश भी दे पाता है. यह भगवल्लीलाकीर्तन भी भक्तिकी फलदशामें किये जाते भगवल्लीलाश्रवणकी तरह भक्तिका एक चमत्कारी अनुभाव ही होनेसे पुनः शिष्येषणारहित अर्थात् विषयासक्तिरहित होनेके कारण आत्मरति या आत्मात्मरतिरूप अवान्तरफल ही होता है. द्वितीय [क/२]वर्णकमें यह प्रतिपादित किया गया था कि स्वतन्त्रकर्म जन्म-मृत्यु-चक्रकी आवृत्तिका जनक होता है. इसके बाद अब यह दिखलाया जा रहा

है कि ज्ञानांगतया अथवा भक्त्यंगतया अनुष्ठित वर्णाश्रमाचारानुरूप यज्ञादि कर्म उक्त आवृत्तिका जनक नहीं भी होता है. [ख]सूत्रमें यह कहा जा रहा है कि ज्ञानमार्गमें ब्रह्मको आत्मतया और इसी तरह भक्तिमार्गमें आत्मात्मतया जाननेका उपदेश प्रतीकोपासनाका उपदेश नहीं है. क्योंकि ज्ञानीको अपने उपास्यमें सायुज्यलाभ होता होनेसे; तथा, भक्तके लिये भक्तिभावके अनुरूप भगवान् स्वयं अपना स्वरूप प्रकट करते होनेसे, ज्ञानी या भक्त का ज्ञेय या भजनीय रूप कभी प्रतीक नहीं हो सकता. अर्थात् रह ही नहीं पाता है, ताकि "ज्ञानी या भक्त प्रतीकोपगमन कर रहा है" ऐसा कहा जा सके! [ग]सूत्रमें अभिप्रेत यह है कि "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" (छान्दो.उप.३।१४।१) जैसे वचनोंमें वस्तुमात्रमें ब्रह्मदृष्टिका जो मुक्तिप्रापक उपदेश है वह कर्तव्यविधान या साधनोपदेश न हो कर मुक्त्यनुभूतिसिद्ध तत्त्वस्वरूपका अनुवादरूप उपदेश है. अर्थात् फलानुभूतिसामयिक अनुभूतिका यह निरूपण है.

यह समग्र सृष्टि ही आत्मोपादानात्मिका आत्मकर्तृका आत्म-नाम-रूप कर्म-व्याकरणात्मिका आत्मक्रीड़ा है. इस आत्मक्रीड़ामें वह परमात्मा स्वात्मांशभूत जीवोंको निजात्मानन्द प्रदान करनेके हेतु प्रकट होता है. अतः वह अपने विविधरसात्मक स्वरूपको जब भूतलपर प्रकट करता है, तब ऐसे स्वरूपके प्रति यदि जारभाव भी मुक्तिप्रद हो पाता हो तो आत्मभाव क्यों भक्तिप्रद नहीं हो पायेगा!

फलप्रकरणगत लीलोपदेश: अतएव रासलीलामें जो गोपिकायें भगवान्‌के समीप पहुंच पायी उनके भगवान्‌के प्रति आत्मभावके अनुभावात्मक ये वचन नितान्त मननीय हो जाते हैं:—

> "अपने-अपने पति पुत्र और सुहृदों की अनुवृत्ति करना तो स्त्रियोंका धर्म है" ऐसा जो धर्मोपदेश आपने धर्मविद् बन कर दिया, उसे हम स्वीकारती हैं. अतएव स्वयं आप धर्मोपदेशककी ही अनुवृत्ति हम, सर्वप्रथम, गुरुबुद्ध्या करना चाहती हैं. क्योंकि आप न केवल हमारे ही अपितु प्रत्येक देहधारीके पति-पुत्र-सुहृदाधिक

प्रेष्ठ बन्धु और आत्मा भी हो! हमारे आत्मा! जो कुशल रतिकर्ता होते हैं वे तो सनातन प्रियतमके साथ ही अपनी रति जोड़ते हैं. क्योंकि लौकिक पति-पुत्र आदि तो कभी प्रिय लगते हैं, तो कभी दुःखप्रद भी, सो उनसे स्नेह जोड़नेसे क्या लाभ! (भाग.१०।२६।३२-३३).

इस सुबोधिन्यनुसारी भागवतश्लोकके भावार्थके आधारपर यह सिद्ध होता है कि रासलीलामें पहुंच पानेवाली गोपिकायें ब्रह्मसूत्रोक्त "'आत्मा' इति तु उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" सिद्धान्तका ही स्वयंको अभिमत भाष्य स्वयं भगवान्‌को भी यहां समझा रही हैं! वे अपने लौकिक प्रियतम या जारपुरुष को परमात्मा मान कर प्रतीकोपासना नहीं कर रही हैं.

सारेके सारे रूप ब्रह्मने धारण किये हैं. अतः अपने-अपने पति-पुत्र-सुहृदोंकी ब्रह्मबुद्धया अनुवृत्ति भी आत्मरति क्यों नहीं हो सकती? ऐसे प्रश्नका समाधान यही है कि सर्वात्मभावको स्थायिभाव मान कर चलें तो उसके सञ्चारिभावतया सर्वप्रथम तो अपने सारे भावोंके अनुरूप केवल अपने ध्येयको ही निहारना चाहिये ऐसी वेदान्तप्रक्रिया है. इसके सिद्ध हो जानेपर देश-काल-मर्यादातीत ध्येयका अनुभव सर्वत्र होने लगता है. इसके भी सिद्ध हो जानेपर देश-काल-मर्यादातीत ही नहीं प्रत्युत स्वरूपमर्यादातीत ध्येय-ध्यातृभेदानुसन्धानरूपा भी अनुभूति होने लगती है. ज्ञानमार्गीय अनुभूति यहां इस सोपानपर अटक जाती है परन्तु भक्तिमार्गीय अनुभूति एक और ऊंचे सोपानपर आरोहण कर अपने ध्येयको सर्वात्मतया अनुभूतिगोचर बना पाती है. इसे भी सर्वात्मभावका एक उत्कृष्ट प्रकार समझा जाता है. यह तृतीय अवस्था कर्तव्यरूप उपाय या साधना नहीं होती प्रत्युत देश-काल-स्वरूपकी मर्यादामें की जानेवाली लीलाके कर्ताकी देश-काल-स्वरूपोंकी मर्यादासे रहित अनुभूति होती है. वह अग्रिमलीलाका वर्ण्यविषय है. अस्तु.

इन उपेतृ-बोध-प्रयत्नोंके रूपमें उपदिष्ट सिद्धान्तोंका ही भागवतके दशमस्कन्धीय रासलीलाप्रकरणमें उपेय-प्रयत्नरूपा लीलाका उपदेशक भाष्य कैसे हुवा, इसका विमर्श कर लेनेपर अब आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके सन्दर्भमें

इसकी उपदेशरीतिके विमर्शार्थ अग्रसर हुवा जा सकता है.

आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश : प्रकरणग्रन्थोंके अन्तर्गत सिद्धान्तमुक्तावली(कारि.११-१२ तथा १५-१६)में आत्मरतिके रसानुभावतया पुष्टिभक्तिको निभानेकी ही बात "परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः, अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिः विधीयताम्" तथा "तस्मात् श्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः, आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्, लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा" वचनोंद्वारा दोहरायी गयी है. अर्थात् लौकिक विषयोंके प्रति हमारे मनमें रहे आकर्षण या कामना की पूर्तिसे प्रेरित हो कर की जाती श्रीकृष्णभक्ति आत्मरति होनेका गौरव झेल नहीं पाती है. इसके विपरीत श्रीकृष्णभक्तिकी कामनाकी पूर्तिसे प्रेरित विषयासक्ति भी काफी हद तक श्रीकृष्णके बारेमें हमारी आत्मरतिके अनुभावतया भी प्रकट हो सकती है. पुष्टिप्रवाहमर्यादा(कारि.४)में ऐसी आत्मरतिके ही बारेमें "सर्वत्र उत्कर्षकथनात् पुष्टिः अस्ति इति निश्चयः" कहा गया है. चतुःश्लोकी(कारि.३)में भी इसी आत्मकामका उपदेश पुष्टिमार्गीय कामपुरुषार्थतया भगवान्‌को सर्वात्मना हृदयमें धारण करनेकी प्रशंसाद्वारा दिया गया है. द्वितीयाधिकरणके प्रथम सूत्रमें प्रयुक्त 'ग्राहयन्ति' पदकी व्याख्या ही आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके फलात्मक कीर्तनके सन्दर्भमें जलभेद(कारि.१४-१९)में दी गयी है. इसी सूत्रके 'उपगच्छन्ति' पदका आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके फलात्मक श्रवणके सन्दर्भमें पञ्चपद्यानि(कारि.१)में विवरण दिया गया है. संन्यासनिर्णय(कारि.११-१२) में आत्मरतिके ही, संयोग एवं विप्रयोग, उभयपक्षोंमें आत्मरूप भगवान्‌के बहिःप्रकट होनेपर उनमें स्वरूपासक्ति और अन्तस्तिरोहित होनेपर उनके बारेमें गुणासक्ति की व्यवस्था समझायी गयी है. "न प्रतीके न हि सः" – "ब्रह्मदृष्टिः उत्कर्षात्" सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयके अनुरूप ही आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके भजनीय=सेव्य भगवत्स्वरूप भगवत्प्रतीक नहीं होते. व्रजभक्तोंके बीच नन्दात्मज बन कर भगवान् स्वयं द्वापरान्तमें पुष्टिलीलार्थ प्रकट हुवे थे. उसी तरह पुष्टिभक्तिप्रकटनार्थ पुष्टिमार्गमें अङ्गीकृत जीवात्माके गृह-परिवारके बीच भी उनके भक्तिभावोंके अनुरूप की जानेवाली सर्वस्वसमर्पणात्मिका सेवाके सुखके प्रदानार्थ प्रकट भगवद्विग्रह साक्षात् भगवत्स्वरूप ही होता है. इसे पाञ्चरात्रोक्त और रामानुज सम्प्रदायमें भारपूर्वक स्वीकृत 'अर्च्चावतार'की

तरह ही समझना चाहिये. यही सिद्धान्तमुक्तावली(कारि.५-१२)में यों दिखलाया गया है कि ब्रह्मके तीन रूप होते हैं: आधिभौतिक प्रत्यक्षगोचर जगत्(उदा.गंगाजल), आध्यात्मिक अक्षरब्रह्म(उदा.गंगातीर्थ); तथा, आधिदैविक श्रीकृष्ण(उदा.गंगादेवी). इनमें आधिभौतिक प्रत्यक्षप्रमाणका गोचर होता है. आध्यात्मिक शास्त्रविधिप्रमाणित अनुष्ठानद्वारा प्रकट होता है. आधिदैविक भक्तिभावोंके अनुरूप प्रमेयबलसे प्रकट होता है. आधिभौतिक और आधिदैविक रूपोंके बीच आत्यन्तिक भेदबुद्धि रखनेवालेको भक्तिगोचर रूपका अनुभव दुःशक होता है. अपना भक्तिभाव प्रतीकोपासनामें कहीं पर्यवसित न हो जाये एतदर्थ साकारब्रह्मवादके सिद्धान्तको भलीभांति समझ कर श्रीकृष्णसेवाद्वारा भक्तिमार्गपर अग्रसर होना चाहिये, यह समझाया गया है. यही बात पुष्टिप्रवाहमर्यादा(कारि.१२-१६)में भी कही गयी है कि इस भूतलपर आत्मरतिके अनुभावतया भगवद्रूपसेवाके सुख लेनेको और प्रदान करनेको जीवात्माओंका पुष्टिमार्गमें भगवान् वरण करते हैं. इसी तरह निरोधलक्षण(कारि.१७)में भी यह कहा गया है कि देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण आदिकी सकलवृत्तियोंके तथा भगवद्भजनोपयोगी ममतास्पदीभूत सकलवस्तुओंके भगवदर्थ और/अथवा भगवत्सेवार्थ विनियोग करनेपर भक्तगण भगवान्में निरुद्ध हो पाते हैं. यह समझाते हुवे यहां कहा गया है कि चित्तमें सर्वदा भगवन्मूर्तिका ध्यान धरते रहना चाहिये. भक्तोंके भावोंके अनुरूप स्वरूपधारणके भगवान्के पुष्टिमार्गीय संकल्प*के कारण तथा भक्तोंके भगवद्भजनके पुष्टिभक्तिमार्गीय संकल्पके कारण भी सेव्यस्वरूपके दर्शन-स्पर्शन आदि सभी साक्षात् भगवत्स्वरूपके ही होते हैं, भगवत्प्रतीकके नहीं.

:: (३)आदित्याद्यधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता ::

[क]आदित्यादिमतयश्च अङ्ग उपपत्तेः. [ख]आसीनः सम्भवात्. [ग]ध्यानात् च. [घ]अचलत्वं च अपेक्ष्य. [ङ]स्मरन्ति च(ब्र.सू.४।१।६-१०).

*द्रष्टव्य: "एको देवो बहुधा निविष्टो अजायमानो बहुधा विजायते. तमेतम् 'अग्निः' इति अध्वर्यवः उपासते 'यजुः' इति एष हि इदं सर्वं युनक्ति. 'साम' इति छन्दोगाः... 'विषम्' इति सर्पाः. 'सर्पः' इति सर्पविदः. 'ऊर्ग्' इति देवाः. 'रयिः' इति मनुष्याः. 'माया' इति असुराः. 'स्वधा' इति पितरः. 'देवजनः' इति देवजनविदः. 'रूपम्' इति गन्धर्वाः. 'गन्धर्वः' इति अप्सरसः. तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति. तस्माद् ब्राह्मणः "पुरुषरूपं परं ब्रह्मैव अहम् अस्मि" इति भावयेत्. तद्रूपो भवति. य एवं वेद" (मुद्ग.उप.२।३). "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (गीता.४।११). "त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजः:.. यद्-यद्-धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय" (भाग.३।९।११).

(१)[क]"यएव असौ तपति तम् उद्गीथम् उपासीत" "लोकेषु पञ्चविधं साम उपासीत" जैसी कर्मांगभूत एवं स्वतन्त्र उपासनाओंका निरूपण करनेवाले वचनोंमें कर्मांगभूत उद्गीथ आदिकी आदित्य आदि बुद्धिद्वारा उपासना करनी चाहिये. क्योंकि कर्मांगभूत उद्गीथकी आदित्यबुद्धिसे उपासना करनेसे पैदा होनेवाला अपूर्व कर्मापूर्वसे संनिकृष्ट होगा. आकाशस्थ सूर्यकी, जबकि, उद्गीथबुद्ध्या उपासना करनी प्रकृत कर्मसे असंनिकृष्ट ही रहेगी. विद्याके साथ कर्म करनेसे कर्मके वीर्यवत्तर बनते होनेके सिद्धान्तके कारण कर्मसमृद्धि होगी. स्वतन्त्र उपासनाओंमें भी जो जैसे कर्मके लिये अधिकृत होता उसे ही वैसे कर्ममें अधिकारी मानना चाहिये, ऐसे नियमके कारण, प्रकृतापूर्वसे संनिकृष्ट उद्गीथ सामकी ही आदित्यादि लोकोंके रूपमें उपासना स्वीकारनी चाहिये. अतः कर्मोंके जो अंग न हों ऐसे आदित्य आदिकी कर्मांगभूत उद्गीथ आदिके रूपमें उपासना अनावश्यक होती है, यह सिद्ध होता है. सातसे दसवें सूत्रोंमें यह कहा जा रहा है कि [ख]कर्मांगभूत उपासनाओंमें यथाकर्म अवस्थितिके नियमके कारण आसन आदि विचारणीय विषय नहीं होते. इनके अलावा जो उपासनायें होती हैं उन्हें बैठ कर या लेट कर या चलते-फिरते कैसे करनी चाहिये? 'उपासना' पदका अर्थ होता है किसी एक प्रत्ययका धारावाहिक आवर्तन करना. उसे चलते-फिरते या दौड़ते हुवे किये जानेपर चित्तमें विक्षेप पैदा होनेकी सम्भावना प्रबल बन जाती है. लेटे हुवे करनेकी प्रक्रियामें निद्रा आ जानेका भय भी रहता है. बैठ कर करनेपर ऐसे उपद्रव कम हो जाते हैं. [ग]'ध्यान' पदका अर्थ होता है: सारी आंगिक चेष्टाओंको शिथिल बना कर, दृष्टिको एकाग्र बना कर, किसी एक विषयपर चित्तको लगाना. यह तो बैठ कर किये जानेपर ही भलीभांति शक्य हो पाता है. [घ]किसीके अचल बैठे होनेपर कहा जाता है कि "ध्यान लगा रहा है." [ङ]गीता आदि शास्त्रोंमें "पवित्र देशमें आसनपर स्थिरतया बैठ कर" आदि निर्देश मिलते हैं.

(२)श्रीभास्कराचार्यने छठे [क]सूत्रमें शांकर भाष्योक्त निरूपणसे अधिक कुछ नहीं कहा है. सातवें [ख]सूत्रमें, किन्तु, बैठ कर ध्यान करनेका नियम दहरविद्या जैसी परविद्याओंके सन्दर्भमें स्वीकारा है. खड़े रह कर ध्यान धरनेपर चित्तके व्यग्र होनेकी तथा लेट कर ध्यान धरनेपर निद्राभिभूत

हो जानेकी भीति रहती है. आठवें [ग]सूत्रमें 'ध्यान'को मनःसमाधिपूर्वक उपासनाके अर्थमें स्वीकारा है. निश्चल सुखासन या स्वस्तिकासन की मुद्रामें बैठ कर परमात्माके ध्यान धरनेका उपदेश नौवें तथा दसवें [घ-ङ]सूत्रोंमें अभिप्रेत माना है

(३)श्रीभाष्यकारके अनुसार [क]यज्ञकर्मांग उद्गीथ आदिमें सूर्यदेवरूप उत्कृष्टवस्तुविषयिणी बुद्धि रख कर ध्यान करना चाहिये. क्योंकि आदित्यदेवताके आराधनके द्वारा कर्म भी उत्कृष्टफल• प्रदान कर पाता है, ऐसा अभिप्राय स्वीकारा गया है. [ख]सूत्रमें विशेष कुछ उल्लेखनीय नहीं है. श्रीशंकराचार्यके भाष्यसे अलग हट कर श्रीभास्कराचार्यकी तरह ही आठवें नौवें तथा दसवें [ग-घ-ङ]सूत्रोंमें, किन्तु, मोक्षसाधनतया वेदान्तविहित निदिध्यासनरूपा उपासना या ध्यान की ही चर्चा श्रीरामानुजाचार्यने भी स्वीकारी है.

(४)वृत्तिकार तथा भाष्यकार यहां रामानुजभाष्यानुसारी प्रतिपादन ही कर रहे हैं.

(५)श्रीमध्वाचार्यके अनुसार प्रथम [क]सूत्र एकसूत्रात्मक आदित्यादिमत्यधिकरण है. बादमें आते पांच सूत्रोंवाला आसनाधिकरण है. प्रथम [क]सूत्रमें भाष्यकारका कहना है कि भगवान्‌के विराट् स्वरूपके नेत्र आदि अंगोंसे जैसे सूर्य आदि देवताओंकी उत्पत्ति वर्णित हुयी है तदनुसार भी उपासना करनी चाहिये. क्योंकि अपनी उत्पत्ति और स्थिति के आश्रयीभूत स्थानोंमें ही मुक्त होनेपर लय होता होनेसे ऐसी उपासना करनी उपपन्न होती है. वैसे भी भगवान्‌के सारे गुणोंका स्मरण कर पाना शक्य न हो तब भी भगवान् विष्णुके केवल ब्रह्म होनेका स्मरण भी निभा रहे तो उस ब्रह्म होनेमें सारे गुणोंका अन्तर्भाव हो जाता है. विभिन्न देवताओंके लिये भी विष्णुके तत्तद् अंगरूप अपने उद्भवस्थानोंका चिन्तन करना वहां पुनःप्रवेशरूपा मुक्तिका हेतु बनता है. [ख]सूत्रमें बैठ कर उपासनाकी उपयोगिता निखलायी गयी है. [ग]सूत्रमें भाष्यकारने पृथक्करण किया है कि स्मरणोपासना

और ध्यानोपासना के बीचमें स्मरण सर्वदा करना चाहिये परन्तु मनोवृत्तिका नैरन्तर्य ध्यानोपासना होनेसे उसे आसनपर भलीभांति बैठ कर करनी चाहिये. लेटे हुवे या चलते-फिरते नहीं, निद्रा या विक्षेप रूपी विघ्नोंकी सम्भावनाके कारण. [घ]सूत्रमें यह अभिप्रेत है कि शरीरको अचल बना कर यदि ध्यान किया जाता है तो मन भी अचल बन पाता है. [ङ]इस ध्यानोपासनाकी विधि भगवद्‌गीताके "समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरं सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्" (भ.गी.६।१३) श्लोकमें निर्दिष्टरीतिसे करनी चाहिये. अग्रिम सूत्रका कथ्य है— देश-कालादिके नियम केवल मनःप्रसादार्थ होते हैं नियतांगतया नहीं.

(६)विशेषाद्वैतवादी भाष्यने अतीव सावधानतया [क]"आदित्यं यूपम् उपासीत"-"आदित्यं 'ब्रह्म' इति उपासीत" जैसे वचनोंकी मीमांसामें यह सवाल उठाया है कि ब्रह्मबुद्ध्या उपासनीय आदित्य जैसे तत्त्वोंको उत्कृष्ट मानना या उस कर्मांग यूपको कि जिसकी बुद्धि रख कर आदित्य भी उपास्य बनता है? इस सन्दर्भमें गम्भीर विश्लेषणद्वारा कई मननीय मुद्दे प्रस्तुत किये हैं. सर्वप्रथम तो श्रीपतिभगवत्पादाचार्यने यह स्पष्टीकरण दिया है कि ब्रह्मप्रकरणरूप उपनिषदोंमें आती आदित्यादिकी यूपादिबुद्ध्या उपासनायें साक्षाद् ब्रह्मविद्यांगभूत ही होती हैं. दूसरी बात यह कि जड़रूप बाह्य स्थूलध्येयोंकी तुलनामें मानसिक आन्तर सूक्ष्मध्येय उत्कृष्ट होते हैं. तीसरे जिन बाह्य ध्येयोंके भीतर शिवके विद्यमान होनेकी बात आयी है, वह तो सर्वान्तर्यामी होनेके रूपमें शिवमाहात्म्यके निरूपणार्थ ही है, उन-उन वस्तुओंके माहात्म्यके निरूपणार्थ नहीं. अतः ब्रह्मविद्यांगभूत होनेसे सूक्ष्म मानसयूप उत्कृष्ट होता है. लोकात्मक आदित्यकी मानसयूपदृष्ट्या उपासना करना अपकृष्टकी उत्कृष्टबुद्ध्या उपासना ही है. यह एकसूत्रात्मक अधिकरण है तथा अग्रिम सातवें सूत्रसे लेकर बारहवें [ख-ग-घ-ङ]सूत्रों तक परविद्यारूप शिवध्यानके सन्दर्भमें स्थल, आसन, ध्यान; तथा, कितने समय तक ध्यान करना इसकी अवधि आदि विषयोंके बारेमें स्पष्टीकरण दिये गये है.

(७)श्रीविज्ञान भिक्षुने यहां प्रश्न उठाया है कि श्रुतिमें ऐसा निरूपण मिलता है कि [क]"पहले ब्रह्म ही केवल था. उसने यह सोचा, 'मैं ब्रह्म

हूं'... परन्तु जो कोई देवताको अपनेसे अन्य मान कर उसकी उपासना करता है—'उपास्य देव कोई और है और मैं कोई और हूं'—वह अज्ञानी तो अपने इष्टदेवका पशु ही रह जाता है" ऐसी स्थितिमें आदित्य आदिकी उपासना जहां समझायी गयी है, वहां आदित्यकी उपासना आत्मतया करनी अभिप्रेत है कि नहीं? हो तो "आदित्य मेरी आत्मा है" सोच कर उपासना करनी कि अपनी आत्माकी आदित्यतया उपासना करनी कि "मैं आदित्य हूं"? इसके समाधानतया श्रीविज्ञान भिक्षुका कहना है कि अपने अंगोंमें आदित्य आदि देवताओंकी बुद्धि करनी चाहिये. न तो आदित्यकी उपासना आत्मतया करनी चाहिये और न आत्माकी उपासना आदित्यतया. क्योंकि ये देवता हमारे तत्तद् अंगोंके अधिष्ठाता होते हैं. अतः इन्हीं अंशोंमें आदित्य आदि देवताओंको अपनी आत्माके रूपमें निहारा जा सकता है, सर्वांशमें नहीं. मनुने सारे देवताओंका आत्मामें संनिवेश दिखलाया है. ब्रह्म तो प्रकृति-पुरुष दोनोंका ही अधिष्ठान होनेसे उभयात्मतया उपास्य हो सकता है. सातवें [ख]सूत्रमें, श्रीविज्ञान भिक्षुके अनुसार, प्रथमसूत्रोक्त आवर्तनीय श्रवणादिके सहयोगी अंगोंका निरूपण अभिप्रेत है कि पद्मासनमुद्रामें बैठ कर श्रवणादिका आवर्तन करना चाहिये. [ग]ध्यानरूप साधनके द्वारा भी आवृत्तिरूप समाधि सिद्ध हो सकती है. [घ]चित्तमें अचल धारणाके द्वारा भी समाधि सम्पन्न हो सकती है. धारणा-ध्यानके लक्षण योगशास्त्रोक्त ही लेने चाहिये. नाभिचक्रादिमें चित्तको बांधनेकी क्रिया 'धारणा' कहलाती है, उसके सिद्ध होनेपर अन्तर्यामी आदि रूपोंके अवलम्बनद्वारा चित्तकी एकतानता अर्थात् प्रत्ययान्तरापरामृष्ट धारावाहिक प्रत्ययको 'ध्यान' कहा जाता है. स्वप्रतिभासरहित ध्येयमात्रके निर्भासक प्रत्ययको 'समाधि' कहा जाता है. दसवें [ङ]सूत्रमें यह पूर्वोक्त प्रक्रिया ही वशिष्ठादि ऋषियोंने अपनी-अपनी स्मृतियोंमें अष्टांगयोगके रूपमें समझायी है, ऐसा निरूपण किया गया है.

इस तरह देखा जा सकता है कि पूर्ववर्ती भाष्यकारोंमें (१)सर्वप्रथम श्रीशंकराचार्यके अनुसार "आसीनः सम्भवात्" से लेकर "यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात्" सूत्रोंमें जो इतिकर्तव्यताके निर्देश मिलते हैं वे न तो कर्मांगभूता विद्याओंके हैं और न परा विद्याओंसे सम्बद्ध ही. वे कहते हैं—"कर्मांगोंसे जुड़ी उपासनाओंके तो कर्मतन्त्र होनेके कारण ही कैसे बैठना,

कहां बैठना या कब तक बैठना आदि विषयोंकी मीमांसा आवश्यक नहीं रह जाती है. इसी तरह सम्यग्दर्शनके बारेमें भी वह अनावश्यक होती है, क्योंकि सम्यग्विज्ञान क्रियानुष्ठानात्मक न हो कर वस्तुतन्त्र ही होता है" (ब्र.सू.भा.४।१।७). (२)इसके विपरीत श्रीभास्कराचार्यसे आरम्भ कर महाप्रभु पर्यन्त सभी भाष्यकार एकमत हैं कि ये निर्देश परा विद्याके साथ भी जुड़े हुवे हैं ही. यहां श्रीभास्कराचार्यद्वारा किये गये 'दहरविद्या' के साभिप्राय उल्लेखके कारण यह अवधेय हो जाता है कि दहरविद्यामें स्वयं श्रीशंकराचार्यको भी जीवात्मासे भिन्न परमात्माका उल्लेख स्वीकारना पड़ा है. वैसे यह तो स्वाभाविक ही है कि उन्होंने इसे कल्पितभेदके रूपमें स्वीकार कर अविरोधसाधन तो किया ही है. "दहराकाश परमात्मा है जीवात्मा नहीं" ऐसे मननके बाद किया जाता निदिध्यासन भी, यदि चलते-फिरते दौड़ते-भागते या लेटे हुवे किया जाये तो चित्तमें सम्यग् विज्ञानके बजाय विक्षेप या निद्रा की ही सम्भावना बलवती लगती है. (३)श्रीरामानुजाचार्यने यहां यह प्रतिपादन किया है कि मोक्षसाधनतया विहित निदिध्यासनसे जुड़ी बैठने आदिकी रीति इन सूत्रोंमें निरूपित हुयी है. इस विधानके बारेमें विवादका तो कोई विषय हो ही नहीं सकता है. फिरभी इस निरूपणमें कुछ और अधिक जोड़ लेना उपयुक्त होगा : भजनीयके साथ भक्तके संयोग एवं विप्रयोग के भक्तिभावोंके की विभिन्नतामें मुक्त्यनुभूतिको भी गौण बना देनेवाली भगवत्स्वरूपानुभूति एवं भगवल्लीलानुभूति की रीतियोंका निरूपण भी यहां अभिप्रेत है. (६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यने बाह्य आदित्यके बजाय आन्तर यूपको उत्कृष्ट माना है. इसकी तुलना बाह्यसेवा या बाह्यलीलानुभूति के बाद मानससेवा या आन्तरलीलानुभूति के सिद्ध होनेपर पूर्ण फलानुभूतिके सिद्ध हो जानेकी वाल्लभधारणाके साथ की जा सकती है: "कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता"(षोड़.सि.मु.१) अथवा तो "बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरं तु परं फलम्" (सुबो.१०।२६।१). बाह्यानुभूतिके बाद जब आन्तरानुभूति सिद्ध हो जाती है तब बाह्याभ्यन्तर दोनों ही पहलु आनन्दानुभूतिसे पूर्ण हो जाते हैं. अतः महाप्रभुका एक और उद्घोष जो सर्वदा-सर्वथा अविस्मरणीय है वह यों है कि "बाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता" (सुबो.१।६।१). इन दोनों विधानोंकी एकवाक्यता साधे बिना बिना "यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात्" अग्रिम सूत्र, जिसका विशद् विवेचन वहीं होगा, उसका वाल्लभ हार्द कभी समझमें

आ ही नहीं सकता. (७)शारीरकभाष्यके निरूपणसे विपरीत श्रीविज्ञान भिक्षुने प्रथम सूत्रोक्त श्रवणादिके आवर्तन करते रहनेकी बात बतायी है— "चाहे साक्षात्कार हो गया हो अथवा नहीं, श्रुत्युपदिष्ट प्रत्ययकी आवृत्ति देहत्याग पर्यन्त करते रहनी चाहिये" (ब्र.सू.भा.४।१।१२) यह तो "भक्तिकी फलदशामें भी भक्तिके साधनीभूत श्रवणादि त्रिकका या श्रवणादि नवकका भी भक्तिभावके स्वाभाविक अनुभावतया प्रेमलक्षणानुरोधी आवर्तन चलता ही रहता है." ऐसे वाल्लभ दृष्टिकोणके सर्वथा अनुरूप ही निरूपण है.

अतः इन सूत्रोंके वाल्लभ भाष्यमें अब इस साम्य-वैषम्यको निरायास निहारा जा सकता है.

(८)वाल्लभ भाष्यके अनुसार प्रस्तुत पञ्चसूत्रात्मक अधिकरणमें यह विचार किया गया है कि [क]प्रतीकोपासकोंको यदि शास्त्राप्रशंसित फल प्राप्त होता हो तो उनका निरूपण ही वेदान्तशास्त्रको करना नहीं चाहिये था! सिद्धान्ततः, वैसे, प्रतीकोपासना या तो किसी श्रुतिविहित कर्मके अंगकी उपासना होती है या फिर साकार-व्यापक ब्रह्मके किसी अंगकी उपासना होती है. अतः जो जघन्याधिकारी होते हैं, उन्हें स्वाधिकारानुरूप फलदानद्वारा अंगी ब्रह्मके माहात्म्यके ज्ञापनार्थ इनका निरूपण किया गया है. अतएव छान्दोग्योपनिषद्के पञ्चमाध्यायमें वैश्वानरोपासनाके प्रकरणमें दिव आदित्य वायु आकाश आप पृथिवी आदिकी ब्रह्मत्वेन उपासना जो प्रतिपादित हुयी है, वह साकार ब्रह्मके ही व्यापक भी होनेके कारण, उसके प्रत्येक अंगोंकी उपासनाओंके फलोंका निरूपण है. क्योंकि साकार-व्यापक ब्रह्मके अंग भी ब्रह्मात्मक ही होते हैं. अतः तत्त्वदृष्ट्या तो उन्हें प्रतीक मानना आवश्यक नहीं होता. फिरभी परिमित फलोंकी कामना, जघन्याधिकारियोंको स्वाधिकारानुरूप, ब्रह्मके अंगोंमें भी परिमितबुद्धि या परिमितभाव से ही उपासनार्थ प्रेरित करती है, एतावता उन्हें 'प्रतीकोपासना' कहा-माना जाता है. अन्यथा अब्रह्मात्मक ही होनेपर तो प्रतीकोंका उपासन फलदायक ही नहीं हो पायेगा. इस तरह भगवदुपासनांगभूत भगवद्धर्मोकी उपासनाके फलोंका निरूपण हो जानेके कारण [ख-ग-घ]सूत्रोंमें स्वयं धर्मिरूप भगवान्‌की उपासनाके बाह्याभ्यन्तर फलोंका निरूपण अभिप्रेत है. तदनुसार उपासककी भक्तिपूर्ण

भावनाओंके उत्कट होनेपर 'आसक्तिभ्रम' न्यायेन भगवत्स्वरूप एवं लीलाओं का बाह्यानुभूतिगोचर प्राकट्य होता है. सूत्रमें कहा गया है कि अन्यथा हृदयमें भी भगवत्स्वरूप एवं भगवल्लीला का अनुसन्धान निरन्तर बना रहता है. भगवत्स्वरूपके प्रकट होने या न होने जैसी, कोई भी एक अपेक्षा रखे बिना कुछ भक्तोंमें भगवत्स्मरण भगवल्लीलाश्रवण भगवल्लीलाकीर्तन का भावावेश (भूलना नहीं चाहिये कि "रसो वै सः" श्रुतिके अनुसार भगवान्‌के रसात्मक होनेके कारण भगवद्भाव भगवदात्मक ही होता है) इतना तीव्र हो जाता है कि वे लौकिक या अलौकिक सभी विषयोंमें सर्वथा निस्पृह हो कर, अपने भक्तिभावोंके अनुभावोंकी विविध लहरियोंमें ही निरन्तर हिलोरे लेते रहते हैं.

भगवान्‌के विराट् स्वरूपके तत्तद् अंग-प्रत्यंगोंमें संनिवेशित तत्तद् देवगणोंकी उपासनाके दो प्रभेद वाल्लभ वेदान्तमें मान्य किये गये हैं. शास्त्रविहित अवश्यकर्तव्यबुद्धिसे अनुष्ठेय नित्यकर्मोके अन्तर्गत भगवच्छेषतया इतरदेवोंका पूजन अन्याश्रयरूप न हो कर भगवत्प्रीत्यर्थ ही होता है(द्र.: सुबो.२।३।१-१२ तथा सुबो.१०।८७।१७). तत्तद् देवताओंके बारेमें वे कर्मात्मक-ब्रह्मके अंग हैं, भगवान्‌की अनेकविध विभूति हैं; अथवा, भगवान्‌के सेवक हैं, ऐसी बुद्धि रखनेपर अन्यान्य देवताओंका भी निष्काम उपासन मुक्तिप्रदायक हो पाता है (द्र.: त.दी.नि.प्र.२।५,२१८ तथा २६५-२६७). यह अंगोपासनाका कल्प है. अपने-अपने इष्टदेवका ब्रह्मके प्रतीकतया उपासन निष्काम होनेपर भी मुक्तिप्रदायक नहीं होता. ब्रह्मका इष्टदेवतया उपासन मोक्षदायक होता ही है. अपने-अपने इष्टदेवका शास्त्रविहित सकामोपासन तत्तत् क्षुद्रफलोंके प्रदानद्वारा ब्रह्ममाहात्म्यके ज्ञापनार्थ होता है.

<u>फलप्रकरणगत लीलोपदेश</u>: हमने देखा कि अपने इष्टदेवको ब्रह्म मानना और ब्रह्मको अपने इष्टदेवतया भजना, इसमें अन्तर यही पड़ जाता है कि ब्रह्म सभी कुछ बना है सो अपने आराधककी बुद्धि या भक्तिभाव के अनुसार सारे रूप धारण करके वह प्रकट हो सकता है. किसी आराधकको इष्टतया अभिमत हर किसी देवतामें यह सामर्थ्य मान्य नहीं हो पाती है. अतएव परमात्माको कान्ततया भजनेपर वह

अपना कान्तस्वरूप और अपनी वैसी लीला प्रकट कर सकता है. एतावता उसे कान्त होनेकी परिधिमें परिच्छिन्न नहीं बनाया जा सकता है. जो देश-काल-स्वरूपगत परिच्छिन्नता वह निजानुग्रहवश स्वीकारता है, उस वरदानरूपेण सिद्ध होती फलप्राप्तिमें प्राप्त्यर्हतारूप अधिकार तो किसीका भी हो सकता है. एकस्वत्वरूप या स्वामित्वरूप अधिकार, परन्तु, हर किसीका मान्य नहीं हो पाता. ऐसी बुद्धि या ऐसे भाव ब्रह्म परमात्मा भगवान्‌को देश-काल-स्वरूपतया परिच्छिन्न अनात्मा अनीश्वररूप विषय या क्षुद्रदेव बनानेमें पर्यवसित होने लगते हैं. श्रीकृष्णको यदि पुरुषोत्तमकी विभूति या क्षुद्रदेव बना कर भजन किया जाता है तो आत्मरति होनेकी गरिमा भजनमें खण्डित हो जायेगी. अतः ऐसी भक्तिको फिर 'पुष्टिभक्ति' भी कहा नहीं जा सकेगा. प्रभुचरण, अतएव, आज्ञा करते हैं—"भगवत्स्वरूपातिरिक्त कोई भी फल प्रदान करनेवाले कर्म या ज्ञान (या उपासना) को 'भक्ति' नहीं कहा जा सकता; और, भक्ति कभी भगवत्स्वरूपानन्दसे अतिरिक्त कोई फल प्रदान करती नहीं है... अन्य किसी फलका अनुसन्धान रखे बिना अपने आराध्यके बारेमें उसके पुरुषोत्तम होनेकी भावना करनेवालेके अन्तःकरणमें तथा आराध्यमें भी पुरुषोत्तमका आवेश हो पाता है. अर्थात् वह पुरुषोत्तमकी विभूति बन जाता है. ऐसी विभूत्याराधनासे भक्तिप्राप्ति सम्भव है परन्तु भगवत्प्राप्ति तो केवल भगवत्कृत वरणद्वारा ही सम्भव होती है" (द्र.: भ.हं.). अतएव ऐसे दिव्य और सूक्ष्म रहस्यके बोधनार्थ ही भगवान् रासलीलामें गोपिकाओंके बीच तिरोहित हो गये थे. यह फलप्रकरणकी इन कारिकाओंमें वर्णित हुवा है:—

> इस तरह अपनी कामनाके अनुसार परमात्मा भगवान् कृष्णको पा लेनेके कारण भूतलपर अपने-आपको सर्वश्रेष्ठ मानने लगी. उनके ऐसे सौभाग्यमद और मान के प्रशमनार्थ केशव उनपर कृपा करनेको तिरोहित हो गये (भाग.१०।२६।४७-४८).
>
> उस गोपिकाके साथ भी अखण्डित आत्माराम भगवान्‌ने आत्मरत रहते हुवे रमण किया, जैसे कोई कामी जन कान्ताके समक्ष अपना दैन्य प्रकट करता है, तद्वत् दैन्य प्रकट करते हुवे... उसे अपने सर्वश्रेष्ठ होनेका मान जग गया कि सबको छोड़ कर मेरे ही साथ भगवान् रमण करना चाहते हैं. सो वनके

भीतर जानेके बाद उसने सगर्व केशवको कहा, "अब चल नहीं सकती हूं, अतः मुझे उठा कर ले चलो जहां ले जाना चाहते हो!" तब... कृष्ण अन्तर्हित हो गये (भाग.१०।२७।३४-३८).

अतः अपने-अपने इष्टदेवोंका ब्रह्मतया भजन विभूतिपर्यवसायी होता है. ब्रह्मका, किन्तु, निज इष्टदेवतया भजन मुक्ति या भक्ति में पर्यवसित हो पाता है, भगवान्‌के आत्माराम होनेके स्वभावके अनुरूप होनेसे. अन्यथा उसे क्षुद्रदेव बनानेकी कुचेष्टा सिद्ध होती है, क्षुद्रदेव और परब्रह्म-परमात्मा के बीच रहा तारतम्य गीताके (कारिका: ३।११-१२, ७।२३ तथा ९।२५) वचनोंमें सुस्पष्टतया निरूपित किया गया है. अतएव इस रहस्यके बोधनार्थ भगवान्‌के तिरोहित होनेपर भगवद्विरहवशाद् भगवद्भावके उत्कट होनेपर रासस्थगोपिकाओंमें आसक्तिभ्रमन्यायेन अध्यासरूप भगवत्प्राकटच और भगवल्लीलाप्राकटच "कृष्णोऽहम्"की आत्मरतिके परिपाकरूप (द्र.: भाग.१०।२-७।१-२३) प्रकट हुवा. यों आठवें नौवें और दसवें ब्रह्मसूत्रोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तका ही भाष्य भागवतमें भी उपलब्ध होता ही है.

<u>आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश</u>: अतएव आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके लिये उपदिष्ट प्रकरण ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम बालबोध(कारि.१०-१९)में भगवद्गुणावतार ब्रह्मा विष्णु और शिव को न केवल नियतार्थ फलोंके दाता अपितु "ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतया उदितौ" भी कहा गया है. सिद्धान्तमुक्तावली(कारि.९-१२)में भी लौकिक कामचारकी पूर्ति ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा दिखला कर स्वमार्गमें तो ब्रह्मवादके अनुसार श्रीकृष्णको परंब्रह्मतया स्वीकारते हुवे भजन करनेकी आवश्यकतापर भार दिया गया है. अतएव विवेकधैर्याश्रय(कारि.१३-१४)में अन्यदेवोंके भजनमें होते अन्याश्रयदोषसे अपने-आपको बचानेकी आज्ञा भी दी गयी है; क्योंकि, श्रुतिमें भी "यो वै स्वां देवताम् अतियजते प्र स्वायै देवतायै च्यवते — न परां प्राप्नोति पापीयान् भवति" (तैत्ति.संहि.२।५।४) कहा गया है. इसी तरह कृष्णाश्रय(कारि.८)में पूर्णानन्द होनेसे केवल श्रीकृष्ण ही हमारेलिये आश्रयणीय हैं, यह भी दिखलाया गया है. पूर्वसूत्रोक्त 'ग्राहयन्ति' पदद्वारा अविवक्षित होनेसे वर्ज्यत्वेन निर्धारित वक्ताओंके निरूपणके

अन्तर्गत जलभेद(कारि.१९)में "देवाद्युपासनोद्भूताः 'पृष्वा' भूमेः इव उद्गताः" वचनमें अन्यदेवोपासक वक्ताओंके मुखसे भगवद्गुणगानको श्रीकृष्णभक्तिमें अनुपयोगितया अश्रवणीय माना गया है. इसी तरह निरोधलक्षण(कारि.१२-१९)में प्रस्तुत अधिकरणगत सातसे दसवें सूत्रोंके निर्देशोंके अनुसरणद्वारा 'आसक्तिभ्रम' न्यायेन आन्तर-बाह्य भगवदध्यासकी परमफलात्मिका भगवदेकतानताकी अवस्था दिखलायी गयी है.

:: (४)यत्रैकाग्रताधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता ::

यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात्(ब्र.सू.४।१।११).

(१)इस सूत्रके भाष्यमें श्रीशंकराचार्यका कहना है कि सामान्यतया सभी वैदिक अनुष्ठानोंमें दिशा देश और काल के नियम दिखलायी देते हैं. उदाहरणतया प्राङ्मुख हो कर कर्मानुष्ठान करनेके नियम, तीर्थक्षेत्रोंके देशादिनियम अथवा प्रातर्मध्यान्हसायं या ऋतु-मास-पक्ष-तिथि-नक्षत्रोंके कालनियम के बन्धन इन उपासनाओंमें आवश्यक नहीं होते. किसी भी दिशा देश या काल में एकाग्रताके सौकर्य मिलनेपर उपासना की जा सकती है. वैसे वस्तुतः तो कुछ नियम स्वीकारे गये ही हैं फिरभी इनकी बारीकियोंमें उपासक कहीं उलझ ही ना जाये एतदर्थ सूत्रकार उपासकके प्रति सौहार्द बरतते हुवे केवल एकाग्रतापर ही भार दे रहे हैं.

(२)श्रीभास्कराचार्य (३)श्रीरामानुजाचार्य (४)श्रीनिम्बार्काचार्य-श्रीश्रीनिवासाचार्य (५)श्रीमध्वाचार्य या (६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्य ने यहां इस सूत्रमें उल्लेखनीय विशेष कुछ भी नहीं दिखलाया है.

(७)श्रीविज्ञान भिक्षुने इन भाष्यकारोंके निरूपणकी तुलनामें यह विशेषतया प्रतिपादित किया कि स्वयं अपने घरमें या वनमें अथवा गिरिगुहाओंमें कहीं भी योगसाधना की जा सकती है. शास्त्रोंमें एतद्विषयक अरण्य या गिरिगुहादि के उल्लेख नियमद्योतनार्थ न हो कर व्यासंगादि दोषोंके परिहारार्थ ही केवल दिखलाये गये हैं. अतः जो जनकादिकी तरह अपने

घरमें भी योगसमाधि लगा पाता हो, उसे भी योगसाधनाके लिये अरण्यमें ही जाना चाहिये, ऐसा कोई नियम घड़ा नहीं जा सकता है.

समाधिके सिद्ध हो जानेपर भी गृहस्थिति अथवा गृहत्याग के बीच अनियमकी कथामें, अविभागाद्वैतवादी और शुद्धाद्वैतवादी दोनों ही वेदान्तसम्प्रदायोंकी, उल्लेखनीय समानता है.

(८)वाल्लभ भाष्यके अनुसार यहां यह विचारणीय माना गया है कि श्रवण-मनन-निदिध्यासन अथवा श्रवण-कीर्तन-स्मरणादि में तत्पर जीवात्माके समक्ष बाहर भगवत्प्राकट्य हो; अथवा, बाहर न हो कर जिसके हृदयमें भीतर भगवत्प्राकट्य होता हो, उनमें परस्पर किसी तरहका तारतम्य होता है कि नहीं? उत्तररूपेण यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि अन्तर्हृदयमें प्रकट होनेवाले अथवा नयनोंके समक्ष बाहर प्रकट होनेवाले भगवान्‌के स्वरूपोंमें से जिस किसी स्वरूपमें, भक्तका चित्त इतना परायण बन जाता हो कि स्वयं उसे आन्तर-बाह्यका कोई होश न रह जाये, तब भीतर या बाहर जहां भी भगवत्स्वरूपानुभूति हो उसमें न तो भक्तके भावोंमें और न भगवत्स्वरूप में ही किसी तरहका कोई अन्तर खोजा जा सकता है. अतः कुछ भी तारतम्य रह नहीं जाता.

सुदूर भूतकालसे पुष्टिमार्गमें एक विवाद चला आ रहा है कि भगवत्संयोगके समय होती भगवत्स्वरूप-लीलाकी बाह्यानुभूति परमफलरूपा होती है या भगवद्विप्रयोगके समय होती भगवत्स्वरूप-लीलाकी आन्तर अनुभूति परमफलरूपा होती है? इसी तरह बाह्य तनुवित्तजा सेवा क्या साधनरूपा ही होती और मानसी सेवा ही क्या फलरूपा होती है; या, इनमें अन्यथाभाव भी सम्भव है? इन जिज्ञासाओंके समाधान भी "यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात्" सूत्रके फलितार्थकी उपेक्षाके कारण मिल नहीं पाते ऐसा दृढ़निर्धारणके साथ कहा जा सकता है.

<u>फलप्रकरणगत लीलोपदेश</u>: इस सारे सन्दर्भको स्फुटतर समझानेवाली रासलीलाकी कथामें अतीव रसात्मिका उपपत्ति तामस फलप्रकरणके सत्ताईसवें

अध्यायके प्रारम्भमें महाप्रभु कहते हैं कि जीवात्मामें अपने पारमात्मिक आनन्दको प्रकट करनेके लिये भगवान्‌की ये सारी लीलायें हैं. भगवान्‌ने संयोगरसात्मिका बाह्यलीलाओंके द्वारा व्रजगोपिकाओंके बाह्य देहों और इन्द्रियोंमें वह पारमात्मिक आनन्दको प्रकट किया. उसे ही और भी अधिक पुष्ट बनानेकी प्रक्रियाके रूपमें लीलाविशिष्ट भगवान्‌ने उनके अन्तःकरणोंमें प्रवेश किया. अर्थात् विप्रयोगरसात्मिका आन्तरलीला की. इसे श्रुतिमें वर्णित परमात्माके— "वह एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें विचरण करता है... वह सभी जनोंके मनमें बिराजमान आत्मा सर्वान्तर्यामी तथा सर्वात्मा है... वह अनेक रूपोंको घड़नेवाला कुशल कारीगर है... वह सभीके भीतर रह कर कार्य करनेवाला देवोंका बन्धु हमारी हृदयगुहामें छिपा हुवा रहता है... सदा ही साथ रहनेवालेको भी देवगण जान नहीं पाते हैं" (तैत्ति.आर.३।११।१-५) इन निरूपणांशोंका लीलात्मक भाष्य समझा जा सकता है. अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्(१।४।१०)में ब्रह्मानुभूतिके निरूपक वर्णनमें "पहले ब्रह्म अकेला ही था. उसने अपने-आपको ब्रह्मतया जाना और वह अनेक बन गया. जिन देवताओं अथवा ऋषियों ने भी अपने-आपको ब्रह्मतया जाना वे ब्रह्म बन गये. ऋषि वामदेवने अपने-आपको इसी तरह जब जाना तो उन्हें लगा कि 'मैं ही मनु हूं-मैं ही सूर्य हूं' आज भी जो इस रहस्यको जान पाता है, वह यह सब कुछ बन पाता है." व्रजगोपिकाओंके भी भीतर जब भगवान् प्रविष्ट हो गये तो न केवल उन्हें शिशु कुमार पौगण्ड एवं किशोर अवस्थापन्न 'कृष्णोऽहम्' की रसात्मिका आत्मप्रतीति हुयी अपितु कृष्णलीलाके अन्तर्निविष्ट जड़-चेतन दानव-मानव आदि सभी विषयोंमें स्व-स्व-आत्मभाव पनप गया ऐसा वर्णित हुवा है. महाप्रभु कहते हैं कि भगवान्‌को उलुखलमें बांधने तक की ही लीलाओंके अनुकरणके कारण यह सिद्ध होता है कि "भगवान् कथञ्चित् उनके वशमें आकर प्रकट हो जायें!" ऐसे गोपिकाओंके हृदयमें रहे निगूढ भक्तिभावकी झलक मिल रही है. इस अन्तःप्राकट्यका ही दूसरा पहलु है: बाह्यतिरोधान. उसपर ध्यान जानेपर गोपिकाओंने गुणगानका आश्रय लिया. इस तरह फलप्रकरणके छब्बीसवें अध्यायकी ४२-४६वीं कारिकाओंमें, उनत्तीसवें अध्यायकी २-२२ वीं कारिकाओंमें तथा तीसवें अध्यायकी १-२६ वीं कारिकाओंमें बहिःसंयोग वर्णित हुवा है. इसी तरह छब्बीसवें अध्यायकी अन्तिम ४७-४८ वीं कारिकाओंमें, अग्रिम सत्ताईसवें अध्यायकी १ ली कारिकामें, ४-१४वीं कारिकाओंमें, २४-४४ वीं

कारिकाओंमें तथा सम्पूर्ण अट्ठाईसवें अध्यायमें बहिर्विप्रयोग वर्णित हुवा है. सत्ताईसवें अध्यायकी २-४ थी कारिकाओंमें, १५-२३ वीं कारिकाओंमें तथा अग्रिम समग्र ३२ वें अध्यायमें आन्तरसंयोग वर्णित हुवा है. यों कभी निजहृद्गत प्रेमभावकी अथवा तो कभी दृष्टिगोचर तो कभी हृद्गत भी प्रियतम-तल्लीलाओंकी अनुभूतिके रसात्मक चक्रके आवर्तनके वश निज देह-गेहको भूल कर गोपिकायें तब भगवन्मनस्क भगवदालाप-परायण भगवद्विचेष्टापरायण और भगवदात्मिका ही बन गयी थी. छब्बीसवें अध्यायसे तीसवें अध्यायोंमें वर्णित वृन्दावनमें मिलती आलम्बनविभावात्मक भगवत्स्वरूपानन्दकी रसानुभूति या बत्तीसवें अध्यायमें वर्णित व्रजस्थगृहोंमें मिलती उस रसस्थायिभावात्मिका अनुभूतिमें अनुभवकर्त्री और अनुभवविषय में किसी तरहका तारतम्य नहीं था. अन्यथा तीसवें अध्यायको धर्मिनिरूपक अध्यायतया मान्य करनेका हेतु स्वतोनिरस्त हो जाता है. यों बाह्यसंयोग बाह्यविप्रयोग आन्तरसंयोग एवं आन्तरविप्रयोग की इस रसचक्रात्मिका अनुभूतिमें से इस प्रकरणमें निरूपित तीन घटकोंवाली फलानुभूतिके प्रत्येक घटकमें गोपिकाओंकी परम एकाग्रताका यहां वर्णन भागवतको "यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्" ब्रह्मसूत्रका लीलाभाष्य होना सिद्ध करता है.

उनत्तीसवें अध्यायके प्रारम्भमें महाप्रभु कहते हैं कि गोपिकाओंने निःसाधनभाववश भगवद्विरहमें रोदन जो किया, वह उनके मानप्रशमनका अनुभाव था. सो भगवान् प्रसन्न हो कर उनके बीच प्रकट हो गये. क्योंकि साधनसम्पत्तिके कारण भगवान् जितने प्रसन्न नहीं होते उतने दैन्यभावपर प्रसन्न होते हैं. साधनसम्पत्तिका, अतः, निरहंकार अनुष्ठान एक बात है और साहंकार अनुष्ठान दूसरी बात हो जाती है. निरहंकार अनुष्ठानका आत्मरतिके साथ सामञ्जस्य अधिक होता है. भागवतकथोपजीवी आधुनिक कई कथाव्यासोंको इससे यह भ्रान्ति सताती है कि कथा करते-करते थोड़े-थोड़े अन्तरालमें श्रोताओंके समक्ष सायास कण्ठावरोध और रोदन करते रहना भगवत्प्राप्तिका दैन्यभावात्मक एक श्लाघ्यतम साधन है. यह तो निःसाधनभावात्मक रोदन न हो कर रोदनमें साधनबुद्धिका मतिवैपरीत्य है! भागवतकथाके समय भगवान्के बजाय श्रोतृसमुदायको हृदयमें बसा कर किया गया रुदन और भगवान्के हृदयमें छिपे होनेके कारण बरबस

फूट पड़ते रुदनमें आकाश-पातालका अन्तर होता है. एक साध्योपाय होता है जबकि दूसरा सिद्धोपाय. इसी सिद्धोपायरूप भगवान्के प्रति दैन्यभावकी अनुवृत्तिको स्फुट करते हुवे महाप्रभु कहते हैं :—

> भगवान्के दर्शन पा लेनेके कारण जिसके सारे दोष दूर हो गये ऐसी एक गोपिकाने पहले तो अपलक दृष्टिसे भगवान्को निहारा और फिर अपने नयनोंद्वारा प्रकट भगवान्के उस अत्यलौकिक सौन्दर्य, लावण्य, एवं माधुर्य को अपने हृदयमें पूरी-पूरी तरह भर लेनेकी भावनासे अपने नेत्र मींच लेने चाहे. इस लावण्यामृतपानवश प्रकटे रोमन्थमें लेशमात्र भी व्यवधान कहीं न आ जाये! इस प्रक्रियामें, किन्तु, वह गोपिका इतनी तो सफल हो पायी कि चाहें तो भगवान् पुनः तिरोहित भी हो जाते तो उसे भगवद्विप्रयोग अब कभी न सता पाता! फिरभी प्रकट भगवत्स्वरूपके सौन्दर्यातिशयके कारण वह अपने सामर्थ्यको भूल-बिसर कर पुनः भगवान्को निहारती ही रह गयी!

इस गोपिकाने अपने समक्ष प्रकट भगवत्स्वरूपकी उपेक्षा करके विप्रयोगानुभूतिमें भगवान्के गुण स्वरूप और लीलाओं को याद कर-करके रोदनसाधनमें परायण रहना उचित नहीं माना! पुष्टिमार्गीय विडम्बनाकी यह पराकाष्ठा है कि निजगृहमें बिराजमान भगवत्स्वरूपकी जन्माष्टमी जैसे उत्सवोंकी भी सेवा त्याग कर सारी दुनियामें भागवतकथाओंके लिये भटकनेवाले भगवत्स्वरूपके विरहमें भागवतकथामें रोदनसाधनाको कुछ आधुनिक शुक पुष्टिमार्गमें एक प्रमुख साधन मान बैठे हैं!

आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश : अतएव आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके हृदयोंमें दैन्यभावका उद्बोधन 'अन्तःकरणप्रबोध' 'विवेकधैर्याश्रय' एवं 'कृष्णाश्रय' नामक ग्रन्थोंद्वारा महाप्रभुने किया है. इसी तरह 'पञ्चश्लोकी' (कारि.५)में "आत्मनिवेदन और दीनता ... शरणागति कहलाती हैं" वचनमें यही उपदेश दिया गया है. बाह्य या आन्तर भगवत्प्राकट्यके प्रकारोंमें तारतम्य नहीं होता, यह बात पुष्टिप्रवाहमर्यादा(कारि.१७)में "भगवान् ही फलरूप होते हैं, अर्थात् अपने गुण या अपने स्वरूप के भेदोंमें वे जैसे भी इस भूतलपर प्रकट होते हों,

वे पुष्टिजीवोंके लिये फलरूप होते ही हैं" वचनमें उपलब्ध होती है. तथा भक्तिवर्धिनी(कारि.९)में आते "सेवा अथवा कथा दोनों ही या दोमें से किसी एकको भी यावज्जीवन दृढ़ आसक्तिके साथ निभानेवालेका कभी नाश नहीं हो पाता" वचनमें भी यही बात कही गयी है. यह भगवत्सेवा करनेवालोंको उसे छोड़ कर आजीविकार्थ की जाती भागवतकथाके विकल्पकी कथा नहीं है. भगवान्के बाह्यस्वरूपकी सेवा बाह्यावलम्बनके द्वारा भीतर भगवत्प्राकट्यकी प्रक्रिया है. इसी तरह भगवद्गुणगान या भगवत्कथा के श्रवण-कीर्तन-स्मरणके अवलम्बनसे भीतर रहे भावात्मक स्वरूपको बाहर अनुभव करनेकी प्रक्रिया है. इनमें साधनदशामें दोनोंका ही निर्वाह अभीष्ट होता है. फलदशामें किसी एकके भी निभ जानेपर किसी तरहकी भीतिका कोई हेतु नहीं रह जाता. वैसे स्वयं भगवान् और भगवत्कथा के बीच घनीभूत रस और तरलीभूत रस जितना अन्तर जो नहीं होता तो भगवान्के तिरोहित हो जानेपर गोपिकाओंने भी केवल भगवत्कथाद्वारा सन्तुष्ट हो जाना उचित मान लिया होता! (द्र.: सुबो.१०।२८।९).

साधनाध्यायके भाष्य(३।३।३९)में प्रभुचरण कहते हैं कि भक्तिसाधनामें शास्त्रोक्त निखिल साधनोंका साक्षात् अथवा परम्परया अन्तर्भाव सम्भव हो ही जाता है. यह बात जिस एक तथ्यके विचार करनेपर और दृढ़ होती है, वह यह है कि सामान्यतया मोक्षमें प्रतिबन्धरूप माने जानेवाले हेय काम-क्रोध-द्वेषादि दुर्गुण भी भक्तिके परम-चरम स्वभाव–चित्तकी भगवदेकतानता या एकाग्रता–में पर्यवसित होनेपर मुक्तिप्रापक हो पाते हों तो स्वयं भक्तिके उत्कर्षकी कोई सीमा कैसे बांधी जा सकती है! भक्तिके विहिता और अविहिता* दो भेद होते हैं.

*यहां पूर्वप्रतिपादनानुसार यह पुनः अनुसन्धेय है कि 'विहिता' पदका तात्पर्य विहितानुष्ठानद्वारा प्रेमलक्षणा भक्तिको उत्पन्न करने, या प्राप्त कर लेने अथवा उसे सुसंस्कृत बनानेमें नहीं है. क्योंकि वह तो आत्मरति होनेके कारण प्रत्येक जीवात्मामें अंशात्मना स्वतःसिद्ध होती ही है. अतः उसका प्रागभाव ही जब न हो तो उसे उत्पन्न करनेका प्रसंग ही उठ नहीं सकता. इसी तरह जीवात्माओंके भीतर रही विषयासक्तिकी परतोंमें दबी होनेपर भी आत्मरति विद्यमान तो रहती ही होनेसे उसे प्राप्त करनेकी अपेक्षा नहीं रहती. आत्मरति स्वरूपेण स्वयं ब्रह्मकी तरह ही अविकृत रहती होनेसे उसमेंसे नाम-रूप-कर्मात्मिका विषयासक्ति परिणत होती होनेसे उसे संस्कारकी भी अपेक्षा नहीं रहती है. अतएव वह सिद्धोपायरूपा

परमेश्वर होनेके माहात्म्यको भलीभांति जान कर भगवान्में निरुपाधिक स्नेह हो जाना भक्तिकी विहिता रीति है. भगवान्के स्वतःप्रकट स्वरूपके बारेमें वात्सल्यभाव कामभाव अथवा द्वेषभाव आदि उपाधियोंके कारण चित्तकी भगवदेकतानता प्रकट हो जानी भक्तिकी अविहिता रीति है. इसी तरह गृह-परिवारकी संसारासक्तिमें फंसे रहना भी मुक्तिमें अत्यन्त अन्तरायरूप माना गया है. फिरभी अपना सर्वस्व भगवान्को निवेदित करके अपने घरमें भगवत्सेवा निभानेवालेके गृह-परिवार भगवदुपयोगी बन जाते हैं. अतः मुक्तिमें वे प्रतिबन्धक नहीं हो पाते. क्योंकि ऐसोंका घर तथा परिवार स्वयं भगवन्मन्दिर तथा भगवत्परिकर ही बन जाता है. यों बाधक भी साधक बन जाते होनेसे भक्तिका उत्कर्ष अनितरसाधारण होता ही है. फिरभी भगवद्विरहावेशवश प्रकट होती विकलताके कारण किन्हीं-किन्हीं भक्तोंको घरमें रहना सुहाता नहीं है. सो ऐसे भावावेशमें वे कभी गृहत्याग भी कर देते हैं. वस्तुतः यह गृहत्याग किया नहीं जाता परन्तु स्वतः ही हो जाता है. यों गृहत्यागका भी एक कल्प भक्तिशास्त्रानुमत है, ऐसा अणुभाष्य(३।४।४२)में कहा गया है. साथ ही साथ कुछ आगे (ब्र.सू.भा.३।४।४७) चल कर भाष्यकार यह भी कहते हैं कि इस तरह त्याग करनेवालोंके केवल वाचिक-मानसिक व्यापार ही भगवान्के साथ जुड़ पाते हैं, जबकि, स्वयं अपने घरमें भगवत्सेवा निभानेवाले भक्तके तो कायिक वाचिक तथा मानसिक सारे व्यापार ही केवल नहीं प्रत्युत पारिवारिक जन भी भगवद्भक्तिमें विनियुक्त हो जाते हैं. सो ऐसे इन भक्तोंकी भक्तिमें एक विलक्षण परिपूर्णता सिद्ध हो जाती है. इसमें शर्त केवल यही दिखलायी गयी है कि अपने भगवद्भावका

ही होती है. फिरभी विषयाकर्षणोंसे आवृत होनेके कारण पूर्वसिद्ध होनेपर भी वह अप्रकट रहती है. विहित साध्योपायों, नामशः, श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य तथा आत्मनिवेदन, के प्रमाणबलमूलक अनुष्ठानोंद्वारा विषयाकर्षण ही निवृत्त होता है. अतः विहितोपायद्वारा वह केवल प्रकट होती होनेके कारण उसे 'विहिता' कहा जाता है. इसी तरह जिस जीवात्माका भक्त्यर्थ भगवान्ने वरण किया हो उसके समक्ष अपने प्रमेयबलसे प्रकट स्वरूपके बारेमें अविहितोपाय या निषिद्धोपाय रूपी कामादि भावोंद्वारा भी चित्तकी तदेकतानताके रूपमें प्रकट हो जाती होनेसे इसी भक्तिको 'अविहिता' भी कहा जाता है. अतएव भक्तिको पूर्वसिद्ध नवमस्कन्धका प्रतिपाद्य-विषय माना गया है. विषयासक्तिके आवरणोंके निवारणद्वारा उस पूर्वसिद्धा भक्तिका शनैः-शनैः निरोधात्मना उत्तरोत्तर निरावृत स्वरूपमें प्रकट होते जाना ही दशमस्कन्धका प्रतिपाद्य-विषय माना गया है.

निरर्थक प्रदर्शन नहीं करना चाहिये. उसे अपने पारिवारिक या वर्णाश्रमोचित कर्तव्योंमें छिपाये रखनेपर ही वह भगवद्भाव वृद्धिंगत हो पाता है. क्योंकि हृदयमें भगवान्‌के आविर्भूत न होनेपर भगवद्भाव दूसरोंके समक्ष प्रकट हो जाते हैं. हृदयमें, परन्तु, भगवान्‌के आविर्भूत होनेपर वह शक्य नहीं रह जाता.

कतिपय लोग इस सन्दर्भमें यों कहना चाहते हैं कि उल्लिखित भक्तिमार्गीय सारे कर्तव्यनिर्देश स्वयं महाप्रभुने गोवर्धनगिरिपर श्रीगोवर्धननाथके सार्वजनिक देवालयमें निजसेवा करनेकी भगवदाज्ञाको स्वीकारने बाद निजगृहमें भगवत्सेवाके सिद्धान्तको छोड़ दिया था. हकीकत इस विषयमें यह एक और है कि तब साम्प्रदायिकी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा भी न लेनेवाले बंगालियोंको वहां भगवत्सेवामें स्वीकारा गया था. तो क्या आज भी विसम्प्रदायी जनोंको श्रीगोवर्धननाथजीकी सेवा करनेका अधिकार मान्य रखना चाहिये या नहीं? गुरूपदिष्ट कर्तव्योंका लेशमात्र अनुसन्धान रखे बिना; और, गुर्वाचरितके हेतु-प्रयोजनोंकी भी लेशमात्र जिज्ञासा रखे बिना, गुर्वाचरणके अनुकरण करनेके पक्षको कुछ लाभपूजैकपरायण पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणिताके रूपमें मान्य रखना चाहते हैं. इनका कहना है कि भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा के सार्वजनिक प्रदर्शनको यहां वर्जित नहीं मानना चाहिये. भगवत्स्वरूप तथा भगवत्सेवा सम्बन्धी भावोंके ही केवल सार्वजनिक प्रदर्शनका यहां निषेध मानना चाहिये. यह तो पुष्टिभक्तिमार्गके मौलिक सिद्धान्तोंसे सर्वथा स्वयंके अपरिचित होनेके रहस्यका ही उद्घाटन है! क्योंकि भगवत्स्वरूप और भगवत्सेवा दोनोंका भावात्मक होना तो प्रत्येक पुष्टिमार्गीय कहता-मानता आया है! अर्थोपार्जनको ही परम कर्तव्य माननेवाले अन्य कतिपय लोग, क्योंकि स्वयं महाप्रभु तो भक्तिके व्यावसायिक प्रदर्शनद्वारा अर्थोपार्जन करनेके सर्वथा विरुद्ध हैं, अतः महाप्रभुके बजाय महाबकके अनर्गल प्रलापोंका अनुमोदन करना चाहते हैं. इन अनर्गल प्रलापोंके अनुसार पुष्टिमार्गीय भावोंकी सार्वजनिक चर्चा, सार्वजनिक विवाद; तथा, सार्वजनिक प्रवचनोपदेश की यहां निन्दा है. अर्थात् पुष्टिप्रभुके वित्तोपार्जनार्थ सार्वजनिक प्रदर्शन या पुष्टिभक्तिमार्गीय भगवत्सेवाके नित्यक्रमका, या ऋतूत्सवोंपर अनुष्ठेय नैमित्तिकक्रमका; अथवा लाभपूजाकी कामनासे आयोजित होते छप्पनभोग-कुंडवारा-

हिंडोला-फूलमंडली आदि काम्य मनोरथोंका सार्वजनिक प्रदर्शन का निषेध नहीं है. अतः स्वमार्गीय सेवाभावी(वित्तदायी) वैष्णवोंको आमन्त्रित करके दर्शन कराने ही चाहिये. इन आमन्त्रणोंद्वारा पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंके साथ-साथ अपुष्टिमार्गीय भी आ धमकते हों तो चिन्ताकी कोई बात नहीं होती. क्योंकि गैरब्रह्मसंबंधियोंके लिये ऐसे प्रदर्शन निष्फल जाते होनेपर भी आनेवाले सभी दर्शनार्थी जनोंमें स्वमार्गीय परमभगवदीय होनेकी बुद्धि रखनी आवश्यक मानते हैं!

यह बड़े खेदका विषय है कि ऐसी अर्थोपासनाका एक भी अधिकरण भगवान् सूत्रकारने फलप्रकरणमें रचा नहीं है! और न ऐसा कोई उत्सूत्र भाष्य ही आचार्यविरचित कहीं उपलब्ध होता है!! रासपञ्चाध्यायीके भी किसी श्लोकमें रासलीलाके दर्शन या मनोरथी बननेको वित्तजा सेवा करनेका विज्ञापन स्वयं भगवान् या गोपिकाओं नें भी प्रकाशित नहीं करवाया; क्योंकि, व्यासजीके द्वारा कीर्तनीय भक्त और भगवान् जैसे द्रव्योपार्जनार्थ रासलीलामें सम्मिलित या उसे आयोजित नहीं कर रहे थे, वैसे ही व्यासजीके उपदेश्य भी भक्त्यर्थी भगवदाराधक ही हैं लाभपूजार्थी प्रतीकोपासक नहीं!!!

इस तरहके जघन्यभावोंसे प्रेरित भगवद्भक्ति करनेकी दुर्वृत्तिका परिणाम यह आया है कि पुष्टिभक्तिमार्गीय सावधानीकी आज घोर उपेक्षा की जा रही है. साधारण अनुगामिजनोंकी कथा तो बहोत दूर परन्तु स्वयं पुष्टिमार्गीय आचार्योंके घरोंमें की जाती भगवत्सेवा ही आज केवल आजीविकोपार्जनके गर्ह्यतम सार्वजनिक प्रदर्शनके स्तरपर विकृत हो गयी है! ईश्वरेच्छा बलीयसी!!

:: (५)आप्रायणाधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता ::

आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्(ब्र.सू.४।१।१२).

(१)प्रस्तुत अधिकरणमें श्रीशंकराचार्यका कहना है कि सभी तरहकी

उपासनाओंमें आवृत्तिकी उपयोगिता समझा दी गयी है. उसके साथ यह भी समझा दिया गया कि सम्यग्दर्शनार्थ जो उपासनायें होती हैं उनमें तो कार्यसिद्धि पर्यन्त ही आवृत्ति अपेक्षित होती है. क्योंकि सम्यग्दर्शन सिद्ध होनेके साथ विधियोंके आधीन साधक रह नहीं जाता. अवशिष्ट रह गया प्रश्न यह है: जो उपासनायें अभ्युदयार्थ की जाती हैं उनकी आवृत्ति थोड़े-बहुत काल तक करनी या आजीवन उनकी आवृत्ति करते ही रहनी चाहिये? उत्तर यह है कि आजीवन उनकी आवृत्ति करनी चाहिये. क्योंकि मरणवेला तक आवर्तन निभानेपर कोई ऐसा अदृष्ट उत्पन्न होता है कि जिसके कारण अभीष्ट फल प्राप्त हो जाता है. कर्म भी तो अपने कुछ फल जन्मान्तरमें प्रदान करते होनेसे मृत्यु पर्यन्त उपासनाका आवर्तन न करनेपर जन्मान्तरोपभोग्य फल प्रदान कैसे कर पायेंगे? अभ्युदयार्थ आजीवन आवर्तनीय इस उपासना करनेकी रीतिको भगवद्गीताके आधारपर भी प्रमाणित करनेको श्रीशंकराचार्यने "प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" वचन भी उद्धृत किया है.

(२)श्रीभास्कराचार्यने विशेष कुछ उल्लेखनीय विधान यहां नहीं किया है.

(३)श्रीरामानुजाचार्यने सुस्पष्ट शब्दोंमें इस अधिकरणमें अभ्युदयफलार्थ की जाती उपासना नहीं परन्तु अपवर्गार्थ ही की जाती उपासनाओंकी आवृत्तिका विधान स्वीकारा है.

(४)श्रीनिम्बार्काचार्य तथा श्रीश्रीनिवासाचार्य ने यहां उल्लेखनीय कोई विशेष विधान नहीं किया है.

(५)श्रीमध्वाचार्य यहां कहते हैं कि अन्य किसी भी साधनकी तुलनामें ध्यानको गौण नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि विष्णुध्यानके बिना विष्णुका साक्षात्कार हो नहीं सकता[न्या.वि.]. यहां ब्रह्मसूत्रभाष्यमें बहोत ही सुरुचिर विधान करनेवाले शास्त्रवचन भाष्यकारने उद्धृत किये हैं कि

न केवल आमोक्षलाभ अपितु मुक्त होनेके बाद भी उपासना चालु रखनी चाहिये. जब तक भलीभांति समझमें न आ जाये तक तक श्रवणका आवर्तन निभाना चाहिये, मननका आवर्तन जब तक युक्तता न लगने लगे तब तक, ध्यानका आवर्तन जब तक ईक्षा न उत्पन्न हो जाये तब तक. ईक्षाका बाध तो कभी होता नहीं है. क्योंकि साक्षात्कार=दर्शन तो स्वतः भी निरन्तर रह सकता है परन्तु दर्शन कभी थोड़ी दैरके लिये न भी होता हो तो तबभी साक्षात्कृत तत्त्वका ध्यान तो शक्य रहता ही है. ध्यातवस्तुके दर्शन और दृष्टवस्तुके ध्यान की आवृत्तिको निभानेवाली भक्तिको तो जीवात्मा अनन्तकाल तक निभा ही सकती है. अन्तर केवल यहां इतना ही होता है कि मुक्त होनेसे पूर्व नैरन्तर्यनिर्वाह विधिविषय होता है, जबकि मुक्त हो जानेपर वह स्वभावसिद्धतया निभता होनेसे विधिकी अपेक्षा रह नहीं जाती है[(ब्र.सू.भा.)].

(६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यने यहां, स्वाभाविकतया, शिवध्यानकी आमरण अनुवृत्तिका उपदेश स्वीकारा है. स्थूलपाशरूप स्थूलदेह तो अनेक बार छूटता रहता है और पुनः मिल भी जाता है. आमरण, किन्तु, शिवके श्रवण कीर्तन पूजन ध्यान करते रहनेवालेको सदा शिवभावभावित होनेके कारण सूक्ष्मपाशरूप सूक्ष्मदेहके छूटनेपर शिवतादात्म्य प्राप्त हो जाता है.

(७)श्रीविज्ञान भिक्षुके अनुसार देह छूटने तक उपदिष्ट प्रत्ययोंकी आवृत्ति निभाये रखनी चाहिये, चाहे साक्षात्कार न हुवा हो या हो भी गया हो तब भी. जिसे साक्षात्कार हो गया हो उसे असम्प्रज्ञातसमाधिमें पहुंचनेके लिये आवृत्ति निभानी चाहिये.

इस तरह हम देख सकते हैं कि श्रीशंकराचार्यके अलावा प्रायः सभी भाष्यकार इस विषयमें एकमत हैं कि प्रस्तुत सूत्रमें आभ्युदयिक उपासनाओंसे सम्बद्ध प्रत्ययोंकी आवृत्तिका नहीं प्रत्युत आत्यन्तिक निःश्रेयसूकी प्रापिका विद्याओंके अंगभूत प्रत्ययोंकी ही आवृत्तिका उपदेश दिया जा रहा है. जीवात्मा-परमात्मा उपास्य-उपासक बद्ध-मुक्त अथवा तो ज्ञातृ-ज्ञेय आदि सारे द्वैतोंके आत्यन्तिक बाध (अर्थात्, ऐसे कोई द्वैत न तो कभी

थे, न कभी हो सकते हैं; और, न कभी हो ही पायेंगे) की दार्शनिक धारणाके पुरस्कर्ता श्रीशंकराचार्यकी व्याख्यानशैलीमें, सद्यो विदेहमुक्तिके बाद औपासनिक प्रत्ययोंके आवर्तनकी सम्भावना तो, स्वाभाविकतया ही अप्रासंगिक होती है. जीवन्मुक्तके उदाहरणमें, किन्तु विधिबल अकिञ्चित्कर हो जाता होनेसे, स्वभावप्राप्त आवर्तन भी आत्मकैवल्यमें एक स्वतोनिवर्त्य विक्षेपरूप ही होता है. यह और बात है कि यह विक्षेप अन्य सांसारिक विक्षेपोंकी तरह मुक्तिमें बाधक न बनता हो, जैसे जलको निर्मल बनानेवाली कतकरेणु जलमालिन्यको निवृत्त कर स्वयं भी नीचे बैठ जाती है. इसे, परन्तु, किसी भी सूरतमें मुक्तिप्रद विद्याके सहयोगी प्रारब्धकर्मोंके परिणामतया तो मान्य रखना ही पड़ेगा. सो विक्षेपरहित मोक्ष पुनः कर्मनाशजन्य अबाधित कृतक ही सिद्ध होता है. तत्त्वज्ञानगोचर सर्वद्वैतबाधावशिष्ट अकृतक नहीं. क्योंकि ज्ञान तो पहलेसे ही सिद्ध होनेपर भी केवल आवरणका ही निवारण कर पाता है—विक्षेपका नहीं. परिणामतः मुक्तिकी चरमसामग्रीके रूपमें ब्रह्मज्ञान और फलभोगनाश्य कर्म का समुच्चय=द्वैत तो अकामगलेपतित लगता है. सो इस द्वैतको यदि जीवन्मुक्ति सह पाती हो तो विधिपराधीन होनेके द्वैतको क्यों सह नहीं पाती? अतएव इस बारेमें महाप्रभुद्वारा द्वितीयाध्याय (ब्र.सू.भा.२।३।३८)में किये गये विश्लेषणको एक बार व्याख्यासहित देख लेना उपकारक होगा:—

भगवत्सदंशरूप सूक्ष्म-स्थूल देहोंके साथ भगवच्चिदंशरूप आत्माका सम्बन्ध दो तरहसे जुड़ता है:—

(१)भगवान्‌की लीलेच्छाके कारण प्रकटित वास्तविक संयोगरूप सम्बन्ध.

(२)भगवान्‌की अविद्याशक्तिद्वारा प्रतिभासित आध्यासिक इतरेतरतादात्म्यभासरूप सम्बन्ध.

जीवन्मुक्त अधिकारी भी इस लोकमें (भगवत्कार्यसिद्ध्यर्थ, लोकसंग्रहार्थ अथवा शास्त्रविधिरूपा भगवदाज्ञाओंके परिपालनार्थ) लोकव्यवहार तो निभाते ही हैं. भगवान्‌ने अपनी लीलेच्छाके अनुसार निजचिदंशमें आनन्दांशके तिरोधानद्वारा स्वरूपविस्मृति उत्पन्न करके उसे जो सदंशरूपा प्रकृतिके चार उपकरणों— १.चतुर्विध अन्तःकरण २.पञ्चविध प्राण ३.दशविध

इन्द्रियां तथा ४.पाञ्चभौतिक देह — के साथ जोड़ा है. इसी कारणसे जीवचेतनामें उल्लिखित आविद्यक पर्वोंका तादात्म्याध्यास उत्पन्न हो जाता है. इन्हें ही दृष्टिगत रख कर शास्त्रोंमें कर्तव्याकर्तव्योंका विधान किया गया है. अन्यथा ब्रह्मविद्योपदेशार्थ ही स्वाध्यायोपदेश हो तो तथाकथित कर्ममूलक अज्ञाननिवारणोपायके उपदेशके बजाय अज्ञानमूलक कर्मोंका ही उपदेशविस्तार वेदादि शास्त्रोंको क्यों करना चाहिये था! कई सारे कर्तव्योंको यावज्जीवन निभानेका उपदेश दे कर अन्तमें यह कहना कि यह सारा उपदेश अज्ञजनाधिकारक है, एक असमञ्जस उपदेशशैली ही लगती है. वस्तुतः शास्त्रारम्भमें ही "प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूराद् अस्पर्शनं वरम्" न्यायेन स्पष्टतम शब्दोंमें यह कह देनेमें वेदशास्त्रको कौन सा अधिक भार होता कि जीवनमें जिन्हें अज्ञान दूर न करना हो उनकेलिये पूर्वकाण्डोक्त कर्म अध्येय तथा अनुष्ठेय होते हैं; और, जिन्हें अज्ञाननिवारणपूर्वक मुक्त होना हो उन्हें केवल उपनिषदोक्त उपाय ही अध्येय तथा अनुष्ठेय होते हैं. वैसे तो देहाभिमाननिवर्तक वैराग्य-त्याग-संन्यास भी भगवत्सम्पादित देहके तथ्यको स्वीकारनेपर ही सार्थक हो पाते हैं.

इस तरह हम देख सकते हैं कि शांकर वेदान्ताभिमत विक्षेप वाल्लभ वेदान्तमें भगवल्लीलाके रूपमें मान्य हुवा है; और, वहांका आवरण यहां भगवच्छक्तिरूपा अविद्याकेद्वारा सम्पादित पञ्चपर्वात्मक तादात्म्याध्यासजन्य अज्ञानके रूपमें माना जाता है. इस पूर्वप्रतिपादित सन्दर्भको दृष्टिगत कर लेनेपर अब प्रस्तुत सूत्रके भाष्यतात्पर्यका अवगाहन सुकर हो जाता है. क्योंकि शांकरेतर सभी वेदान्तोंकी तरह वाल्लभ वेदान्त भी अभीष्ट फलकी प्राप्तिके बाद भी उपदिष्ट प्रत्ययोंकी आवृत्तिको यावद्देह विधिप्राप्त और तत्पश्चात् उनकी स्वभावप्राप्त अनुवृत्तिको भी अशक्य तो नहीं मानता है.

(८)श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण कहते हैं कि जिन भक्तोंको अपने हृदयके भीतर भगवत्स्वरूप एवं लीलाओं की अनुभूति होती है और जिन्हें अपने नयनोंके समक्ष बाहर भगवत्स्वरूप एवं लीलाओं की अनुभूति होती है, उन्हें अपने चित्तकी भगवत्स्वरूपविषयिणी तन्मयता और लीलाविषयिणी

तल्लीनता के कारण अन्तर्बाह्यका तारतम्य सताता नहीं है. 'प्रायण' शब्दको भगवद्वाचक मान कर भाष्यकारका कहना है कि एक बार फलतया भगवदनुभूति हो जानेपर वह अवस्था सर्वदा बनी रहती है. अर्थात् ऐसे भक्त भगवान्की बाह्याभ्यन्तर चलती लीलाओंमें इतने तल्लीन हो जाते हैं कि वे भगवत्स्वरूपमें लीन होने, अर्थात् सायुज्य पाने, के बजाय नित्यलीलामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं.

फलप्रकरणगत लीलोपदेश: रासलीलामें वर्णित गोपिकाओंका भगवद्विषयक काम असत्य नहीं था. अर्थात् वैषयिक कामकी तरह विरसता-पर्यवसायी नहीं था. क्योंकि जड़ या चेतन में सत्ताके अलावा विषयगत चैतन्य या आनन्द तो कभी किसी द्रष्टा=विषयीकी अनुभूतिमें ग्रहणयोग्य बन नहीं पाते हैं. जड़वस्तुओंमें चिदंश और आनन्दांश दोनोंके तिरोहित हो जानेसे वे अनुभूतिगोचर नहीं हो पाते. सांसारिक चेतनव्यक्तिओंमें यद्यपि आनन्दांश ही केवल तिरोहित होता है, फिरभी एक चिदंशका चैतन्य भी जब दूसरे चिदंशको अनुभूतिगोचर नहीं हो पाता तो, तन्निष्ठ निगूढ़ आनन्द कहांसे गृहीत हो पायेगा? चिदंशरूप जीवात्माके भीतर धर्मिरूप परमानन्द जबकि अन्तर्यामी(अन्तर्निगूढ़)के रूपमें विद्यमान रहता है; अतः, जैसे धर्मिरूप अग्नि राखसे ढंकी होनेपर भी उस अग्निकी धर्मरूप गरमी वहां बनी रहती है, वैसे ही चिदंश जीवात्माको भी उस धर्मिरूप भूमा आनन्दके साथ नैकट्यके कारण धर्मरूप आनन्दकी क्षुद्र अनुभूति मिलती रहती है. इसीके कारण आत्माको स्वयं अपने भीतर निरुपाधिक प्रियताकी जो अनुभूति होती है, वह पारमात्मिक धर्मका जीवात्मामें संक्रमण है. ऐसी जीवात्मा स्वयं जब देहादि संघातमें संक्रान्त होती है, तब देहादि संघातमें भी उस पारमात्मिक प्रियताका अनुसंक्रमण होता है. ऐसे इस अहंकारास्पद देहके साथ ममताकी शृंखलामें बन्धे हर जड़/चेतन विषयोंमें भी उस प्रियताका ममतामूलक प्रतिफलन हो जाता है. परिणामतः शारीरिक या मानसिक रूपसे निरन्तर हमारे निकटवर्ती रहनेवाले विषयोंके बारेमें हमें प्रेमभाव जग जाता है. यह तत्तद् विषयका गुणधर्म नहीं होता परन्तु पारमात्मिक आनन्दका अतिक्षुद्रांशोंमें अनुसंक्रमण या प्रतिफलन ही केवल होता है. अतएव स्वगत ही आनन्द विषयोंपर आरोपित हो

कर अनुभवगोचर होता रहता है, विषयगत आनन्द नहीं. वैसे तो अपनी चेतनामें निगूढ़तया अवस्थित होनेके कारण धर्मिरूप आनन्दके निकट होनेपर भी जीव उसे जान नहीं पाता है. फिरभी अग्निसे अनतिदूरवर्ती वस्तु जलती न भी हो परन्तु गरम तो हो जाती ही है. अतः तथाकथित आनन्ददायक विषयोंमें जो आनन्द तिरोहित होता है वह तो सर्वात्मभावसहित ब्रह्मानन्दानुभूतिके बिना अनुभूतिगोचर हो नहीं पाता. निष्कर्षतया विषयकामके बारेमें श्रुतिका सुस्पष्ट अभिप्राय यही है कि वह सत्य नहीं होता है. आत्मकाम ही वस्तुतः विषयोंपर प्रतिफलित हो जाता है—"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृह.उप.२।४।५).

आनन्दानुभूतिकी इस दार्शनिक धारणाकी पृष्ठभूमिपर रासाभिसारिका गोपिकाओंके कामकी मीमांसा करते हुवे महाप्रभु स्वीकारते हैं कि भगवान्के साथ विहार करनेवाली गोपिकाओंके काम असत्य नहीं थे. क्योंकि न तो वह वैषयिक कामकी तरह परिणामविरस थे और न किसी तिरोहितानन्द वस्तुके बारेमें ही थे. सर्वान्तरात्मा परमानन्दरूप भगवद्विषयक काम ही थे.

रासलीलामें तीन तरहकी गोपिकाओंने या तो केवल आत्मना अथवा सर्वात्मना भाग लिया था: [१]अन्तर्गृहगता गोपिकायें जो सदेह रासलीलामें पहुंच न पानेके कारण भगवत्स्वरूपमें केवल आत्मना सायुज्यलाभ पा कर नित्यसम्बद्धा बन गयी थी. [२]ऋषिरूपा अनन्यपूर्वा गोपिकायें; तथा, [३]श्रुतिरूपा अन्यपूर्वा गोपिकायें सदेह भगवान्के समीप पहोंच कर सर्वात्मना रासलीलाका अनुभव कर पायी थी. इस तरह तीनों तरहके गोपिकाओंके काम या तो भगवान्के नित्यस्वरूपमें सायुज्यमोक्ष प्रदान करनेवाले काम थे; याफिर, भगवान्की नित्यलीलामें नित्यविहारार्ह ब्रह्मभावापत्तिरूप मोक्षमें पर्यवसायी होनेवाले काम थे. क्योंकि इन उदाहरणोंमें ब्राह्मिक आत्मरति विषयकामके रूपमें नहीं प्रत्युत परमात्मकामके नामान्तर रूपान्तर और कर्मान्तर के लीलाभावको प्रकट कर रही थी. अतएव इस प्रकरणके उपसंहारमें महाप्रभुका यह निरूपण नितान्त अनुसन्धेय हैं कि लौट कर पुनः घर जानेकी भगवदाज्ञाका पालन करती हुयी गोपिकाओंके मनमें न तो आज्ञाके प्रतिवाद करनेकी

कोई आवश्यकता रह गयी थी; और न लौट कर पुनः घर जानेपर पुनः उन्हें संसारासक्तिकी कोई बिभीषिका ही शेष रह गयी थी (द्र.: सुबो.१०।३०।३९).

<u>आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश</u>: षोड़शग्रन्थान्तर्गत चतुश्लोकी(-कारि.१-४)में महाप्रभु यह समझाते हैं कि हम आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके लिये प्रारम्भमें पुष्टिभक्तिके अंग बननेवाले धर्म अर्थ काम और मोक्ष रूपी चारों ही पुरुषार्थ अन्तमें पुष्टिभक्तिरूप ही बन जाने चाहियें. ऐसे कि हमें अपना परम-चरम स्वधर्म भगवद्भजन ही लगने लगे, हमारा परम-चरम अर्थ सर्वसमर्थ पुष्टिप्रभु ही लगने लगें, हमारा परम-चरम काम श्रीगोकुलाधीशको हृदयमें संजोये रखनेका ही केवल शेष रह जाये; और हमारा परम-चरम मोक्ष इन्हीं गोकुलेश्वरके चरणकमलके निरन्तर चलते स्मरण और भजन के आवर्तनके निभ पानेमें ही हमें लगने लगे. ऐसा मोक्ष भगवान् इस लोकमें प्रदान करें या परलोकमें उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता! अतएव शिक्षाश्लोकी(कारि.२-४)में महाप्रभु कहते हैं कि "श्रीकृष्ण हमारे लौकिक प्रभु नहीं हैं अतः हमारे लौकिक भावोंको स्वीकारते भी नहीं हैं. अपना भगवद्भाव तो उन्हें अपना सर्वस्व, ऐहिक भी और पारलौकिक भी, माननेका होना चाहिये. अतः श्रीकृष्ण तो सर्वथा सर्वभावेन ही सेव्य होते हैं." अतएव भगवत्सेवाकथात्मिका पुष्टिभक्तिकी फलावस्थाका निरूपण करते हुवे 'सेवाफलविवरण'(कारि.१)में भी महाप्रभु कहते हैं कि [१]'अलौकिकसामर्थ्य [२]सायुज्य और [३]वैकुण्ठादि दिव्यलोकोंमें सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, यों तीन तरहकी सम्भावनायें रहती हैं.

इनमें प्रथम सम्भावना जैसे गोपिकाओंको अपने घरमें रहते हुवे ही परोक्षमें वृन्दावनमें की जाती भगवल्लीलाकी अपरोक्षानुभूति बनी रहनेकी अलौकिकसामर्थ्य के रुपमें सिद्ध हो गयी थी, वैसे ही संसारमें रहनेपर भी भगवानूकी भक्त्यात्मिका अनुभूति अनवरत होती रहनेकी अलौकिकसामर्थ्य हमें भी सिद्ध हो सकती है. यह इसी लोकमें अनुभूत होनेवाली ऐसी कोई विलक्षण अलौकिकसामर्थ्य है कि संसारमें रहते होनेपर भी हम किसी भी सांसारिक विषयकी ओर आकृष्ट हुवे बिना भगवदभिमुख रहते

हुवे भगवत्सेवा और भगवत्कथा निभा पाते हैं. दूसरी सम्भावना तो वही है कि अन्तर्गृहगता गोपिकाओंकी तरह हमें भी भगवत्सायुज्य प्राप्त हो जाये. तीसरी सम्भावना भागवतके एकादश-द्वादश स्कन्धोंका वर्ण्यविषय है. ब्रह्मसूत्रके चतुर्थाध्यायमें भी यह अग्रिम द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ पादोंका वर्ण्य-विषय है.

:: (६)तदधिगमाधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता ::

[क]तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोः अश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्. [ख]इतरस्यापि एवम् असंश्लेषः पाते तु. [ग]अनारब्धकार्यएव तु पूर्वे तदवधेः. [घ]अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्(ब्र.सू.४।१।१३-१६).

(१)श्रीशंकराचार्यके अनुसार यहां आ कर अब साधनाध्यायशेषकी मीमांसा समाप्त हो कर फलमीमांसा आरम्भ होती है. भाष्यकार कहते हैं कि [क]ब्रह्मज्ञान होते ही पूर्वकृत पापोंका नाश हो जाता है. ब्रह्मज्ञानीको भविष्यमें होनेवाले पाप भी लगने बन्द हो जाते हैं. इसे वेदान्तमें कर्मशक्तिकी अस्वीकृति नहीं परन्तु उसे अप्रभावी बना देनेकी प्रक्रिया समझनी चाहिये. स्वयं कर्मनियमोंके तहद् भी दुष्कर्मके प्रायश्चित्तके विधान मिलते ही हैं. सो एक कर्मसे दूसरे कर्मको यदि अप्रभावी बनाया जा सकता हो तो ब्रह्मज्ञानसे भी वह क्यों शक्य नहीं हो सकता है? श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि सगुणोपासनाओंमें तो पूर्वकृत पापोंके क्षयपूर्वक ऐश्वर्यप्राप्तिके निरूपक वचन मिलते हैं. ऐसे निर्गुणविद्याओंके बारेमें नहीं मिलते हैं. फिरभी "अकर्ता-अभोक्ता होना साधकका पारमार्थिक स्वरूप होता है" ऐसी बात जो कही गयी है, वह कर्म और तत्फल के बन्धनोंसे ब्रह्मज्ञानीके ऊपर उठ जानेके तथ्यकी पुष्टि है. ब्रह्मज्ञानीको ज्ञान प्रकट होनेपर अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्वका त्रैकालिक बाधज्ञान हो जाता है. उसे लगता है— "न तो किसी कर्मका मैं कर्ता था, न हो सकता हूं; और न कभी हो पाऊंगा!" देश-कालके निमित्तोंकी अपेक्षा रखते हुवे कर्मफलकी तरह मोक्ष कभी उत्पन्न नहीं हो सकता. क्योंकि ऐसा होनेपर मोक्ष भी अनित्य ही सिद्ध होगा.

[ख]इस सूत्रमें यह दिखलाया गया है कि पूर्वकृत और आगामी पापोंकी तरह ही पूर्वकृत और आगामी पुण्योंके बन्धनसे भी ब्रह्मज्ञानी मुक्त हो जाता है. धर्माधर्मका बन्धन ही बन्ध होता है और इनके बन्धनसे मुक्त हो कर अन्तमें देहके विक्षेपसे भी रहित हो जाना मुक्ति है.

[ग]इस सूत्रमें यह विचार किया गया है कि पूर्वजन्म या प्रस्तुत जन्म में किये गये सुकृत-दुष्कृतरूप सञ्चित प्राक्कर्मोंके फलभोगकी नियतिसे तथा भविष्यमें किये जानेवालोंके फलभोगकी नियतिसे ब्रह्मज्ञानी मुक्त हो जाता है. पूर्वजन्म या प्रस्तुतजन्म के, किन्तु, जिन सुकृत-दुष्कृत कर्मोंके फल मिलने शुरु हो गये हों उन्हें तो ब्रह्मज्ञान भी निरस्त नहीं करता. क्योंकि ब्रह्मज्ञानयोग्य देह भी स्वयं इसी तरहके सुकृतका फल होता है. अकर्ता होनेके आत्मबोधके कारण मिथ्याज्ञान निवृत्त हो जाता है अतः तन्मूलक निखिल कर्म भी उच्छिन्न हो जाते हैं. फिरभी बाधित वस्तुकी भी प्रतीति कुछ समय तक बनी रहती है. उदाहरणतया कुम्हार अपने चक्केको चलाना बन्द भी कर दे, तबभी थोड़ी देर तक तो वह चलता ही रहता है. इसी तरह यहां भी समझ लेना चाहिये. स्वयं ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मानुभूति तथा देहानुभूति दोनों तरहकी अनुभूतियां एक साथ होती ही हों तो अन्य कोई अज्ञानी "उसे ऐसी परस्पर विरोधाभासी अनुभूति नहीं हो सकती" ऐसा कैसे कह सकता है? श्रुति-स्मृतियोंमें स्थितप्रज्ञके जो लक्षण दिखलाये गये हैं, उनके आधारपर भी यह निश्चित होता है कि जिन सुकृत-दुष्कृतोंके फल मिलने शुरु न हो गये हों उन्हींका विद्याकी सामर्थ्यसे क्षय होता है.

[घ]पापकी तरह पुण्यकर्मोंका भी अश्लेष-विनाश हो जाता है, इस नियमका अपवाद यहां दिखलाया जा रहा है कि सारेके सारे पुण्यकर्मोंके बारेमें यह बात लागू नहीं होती. अर्थात् विद्याके उत्पन्न हो जानेके बाद जो कर्मक्षय होनेकी बात कही गयी थी, उसमें जैसे प्रारब्धकर्म अपवादरूप होते हैं, इसी तरह कुछ अप्रारब्ध फलवाले पुण्यकर्म भी पुनः इस नियममें अपवादरूप होते हैं. क्योंकि आरूढ़ योगीकेलिये तो केवल प्रारब्धकर्मोंके फल ही भोगार्थ अवशिष्ट रहते हैं परन्तु आरुरुक्षु योगीकेलिये तो अप्रारब्ध फलवाले नित्यकर्म, नामशः, अग्निहोत्रादि भी

अनुष्ठेय होते ही हैं. आरुरुक्षु योगी ज्ञानी होनेपर भी नित्यकर्मोंका त्याग नहीं कर सकता है. क्योंकि नित्यकर्मका ज्ञानसंयुक्त निष्काम अनुष्ठान मुक्तिलाभमें परम्परया हेतु बनता ही है. ब्रह्मज्ञानीके तो अनियोज्य होनेसे उसपर यह नियम लागू नहीं हो सकता है. सगुणविद्याओंके अभ्यासी ज्ञानीका कर्तृत्व निवृत्त नहीं हो पाता है. सो उसकेलिये यह विधान किया गया समझ लेना चाहिये.

(२)श्रीभास्कराचार्यने उल्लेखनीय विशेष कुछ भी नहीं कहा है. श्रीशंकराचार्यकी तरह ही श्रीभास्कराचार्य भी इसी [क]सूत्रसे ब्रह्मविद्याके फलकी मीमांसाका आरम्भ स्वीकारते हैं.

[ख-ग-घ]यहां भी श्रीशंकराचार्यकी तरह ही जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति के प्रभेद स्वीकारते हुवे श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि जो अग्नि काष्ठेन्धनको जला पाती है वही मेघपटलको नहीं जला पाती. ठीक इसी तरह ब्रह्मविद्या भी उन पुण्य-पापोंको कि जिनके फल मिलने शुरु न हुवे हों जला पाती है; परन्तु, जिनके फल मिलने प्रारम्भ हो गये हों वे तो अपना-अपना फलदान करनेके बाद ही समाप्त होते हैं. भाव-पदार्थोंकी शक्तियोंमें ऐसी विचित्रता स्वभावसिद्ध ही होती है. मायावादमें यह व्यवस्था किन्तु उपपन्न नहीं हो सकती, ऐसा श्रीभास्कराचार्यका स्पष्ट अभिप्राय है. क्योंकि विद्याके उत्पन्न होनेपर वहां कृत्स्नमाया अर्थात् मायाके आवरण-विक्षेपरूप दोनों ही अंशोंका वारण होना चाहिये. श्रीशंकराचार्यद्वारा दिया गया उदाहरण कि कुम्हारकी फिरानेकी इच्छाके निवृत्त होनेके बावजूद उसका चक्का कुछ देर तक फिरता रहता है, स्वयं मायावादकी धारणाके साथ संगत नहीं हो पाता है. क्योंकि वहां वास्तविक चक्केके, वास्तविक परिभ्रमणका कारक, वास्तविक वेगसंस्कार, वास्तविक कर्ता कुम्हारद्वारा (विवर्तोपादान नहीं, क्योंकि विवर्तोपादानरूपा रस्सीके आंधीमें उड़ जानेके बाद उसपर होनेवाली सर्पकी भ्रान्ति टिक नहीं सकती है. कुम्हार, किन्तु, चक्केका ऐसा विविर्तोपादानकारण नहीं होता) उत्पन्न किया गया होता है. सो उसकी इच्छाके निवृत्त होनेके बाद भी वेगसंस्कारवश चक्केका फिरते रहना असम्भव बात नहीं है. मायावादमें, जबकि, आवरण और विक्षेप दोनों ही अज्ञानकल्पिततया अवास्तविक होते हैं. अतः उस अज्ञानके ब्रह्मज्ञानसे निवृत्त हो जानेपर आवरण-विक्षेप

दोनों ही अंश निवृत्त हो जाने चाहिंये. अतः बाधितानुवृत्तिकी उपपत्ति मायावादमें सुसंगत नहीं हो पाती है. श्रीभास्कराचार्य अतः भेदाभेदमूलक ज्ञानकर्मके समुच्चयसे ही मुक्ति सम्भव मानते हैं, केवल कर्म या केवल ज्ञानसे नहीं. अतः नित्यकर्मोको निभानेवाला जब ब्रह्मविद्यासे सम्पन्न हो जाता है, तो सञ्चित पुण्य-पापोंका क्षय हो जाता है. जबकि प्रारब्ध फलवाले पुण्य-पाप तो फलदानद्वारा स्वतःक्षीण हो जाते हैं.

(३)श्रीरामानुजाचार्य भी यहां यही व्याख्या दे रहे हैं कि [क]अब तक जो कुछ कहा गया वह विद्याके स्वरूपके विशोधनार्थ था जबकि यहां से अब विद्याफलका विमर्श प्रारम्भ हो रहा है. "अपने फलका उपभोग कराये बिना कर्मोका क्षय नहीं होता है" यह नियम कर्मोके फलजननसामर्थ्यको दृढ़तया स्थापित करता है. "ब्रह्मज्ञानी पापकर्मोके बन्धनसे परे हो जाता है" यह नियम प्राक्तन पापकर्मोकी फलजननशक्तिके प्रतिबन्ध करनेका विद्यामें सामर्थ्य है, इसका निरूपण करता है. अतः दोनों नियमोंमें परस्पर विरोधाभास नहीं रह जाता है. श्रीरामानुजाचार्यने यहां पापोंके अनेक प्रकारोंकी विवेचना की है. वे कहते हैं कि पाप तीन तरहके होते हैं: [१]वैदिक कर्मोके अनुष्ठानार्थ अयोग्य बना देनेवाले पाप, [२]अपने जैसे दूसरे पापकर्म करनेको प्रेरित करनेवाले पाप; तथा, [३]साधारण दोषजनक पाप. "ब्रह्मज्ञानीको पाप लगते नहीं हैं" इस विधानका अर्थ यह होता है कि उक्त तीनों तरहके अनिष्ट परिणामोंको उत्पन्न करनेकी पापोंकी शक्ति उत्पन्न ही नहीं हो पाती. पापोंमें रही इस शक्तिका स्वरूप भी श्रीरामानुजाचार्यने बहोत सुन्दर समझाया है कि परमपुरुष श्रीनारायणकी अप्रसन्नताको ही पापकर्मोकी शक्तिके रूपमें समझ लेना चाहिये. इसी तरह वेदिताका वेद्यको अतिशय प्रिय बन जाना ही परमपुरुषाराधनरूपा विद्या है. अतएव विद्याके कारण पापशक्तिका प्रतिबन्ध हो जाना भी सुसंगत हो जाता है. 'लगते नहीं' कहनेका अभिप्राय प्रमादवश हो जाते पापोंके सन्दर्भमें लेना चाहिये. क्योंकि प्रतिदिन आवर्तनीय विद्या स्वयं ही दुश्चरितोंसे विरति पैदा करनेवाली होती है, सो विद्यारत अधिकारी ज्ञानपूर्वक पापकर्ममें प्रवृत्त ही नहीं हो सकता है. [ख]पापकर्मोके फलकी तरह ही पूर्वकृत पुण्ययकर्मोके भी जो फल मुक्ति पानेमें प्रतिबन्धरूप

होते हैं, वे मुमुक्षुको अभीष्ट न होनेसे नष्ट हो जाते हैं. यथाकथञ्चित् अकस्मात् हो जानेपर पुण्य भी, पापोंकी तरह ही, लगते नहीं हैं. [ग]इस सूत्रमें विशेष कुछ उल्लेखनीय कहा नहीं गया है, सिवाय इसके कि अपने पुण्यापुण्यके कारण भगवान्‌को प्रिय या अप्रिय होनेके अलावा शरीरको टिकाये रखनेवाले संस्कार जैसा कुछ भी होता नहीं है. [घ]ब्रह्मविद्याभ्यासमें रत साधकको अग्निहोत्रादि आश्रमकर्मोंका अनुष्ठान निभाना या नहीं? इस जिज्ञासाका समाधान इस सूत्रमें दिया गया है कि आश्रमकर्मोंको निभाना ब्रह्मविद्याके फलजननमें सहायक ही होता होनेसे, उन्हें निभाना ही चाहिये. अन्यथा विद्योत्पत्तिमें भी प्रतिबन्धकी सम्भावना रहती है.

(४)श्रीनिम्बार्काचार्य तथा श्रीश्रीनिवासाचार्य ने [क-ख-ग]सूत्रोंमें उल्लेखनीय विशेष कुछ भी नहीं कहा है. [घ]सूत्रमें एक सुन्दर पृथक्करण यह दिया गया है कि पुण्यकर्मोंके अन्तर्गत काम्यकर्मोंका ही ब्रह्मविद्याद्वारा विनाश एवं अश्लेष होता है, अग्निहोत्र दान तप आदि नित्य-नैमित्तिक आश्रमकर्मोंका नहीं. क्योंकि वे तो विद्याके उपकारक अंग ही होते हैं. विद्या यावज्जीवन नित्यानुष्ठेय होती है; अतएव, इन्हें भी नित्यानुष्ठेय ही समझना चाहिये.

(५)श्रीमध्वाचार्यने [क]इस सूत्रमें उल्लेखनीय विशेष कुछ नहीं कहा है. [ख]इस सूत्रमें श्रीमध्वाचार्य कर्मकी गहना गति दिखलाते हुवे कहते हैं कि जैसे मुक्तात्माके पूर्वकृत पापोंका नाश तथा आगामी पापोंके साथ उसका अश्लेष होता है, वैसे ही तामसी गतिमें पड़ने जाते हुवे व्यक्तिके पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका नाश तथा आगे किये जानेवाले पुण्यकर्मोंके साथ अश्लेष भी होने लगता है. [ग]यहां यह कहा जा रहा है कि पूर्वकृत पुण्य-पापोंके नाशके नियमानुसार वैसे तो अनारब्ध पापोंका ही नाश होता है; परन्तु, ब्रह्मके बारेमें हीनदृष्टि रखनेवाले अथवा भगवद्द्वेष करनेवाले के तो अनारब्ध पुण्यकर्मोंकी तरह आरब्ध पुण्यकर्मोंका भी नाश हो जाता है. पुण्य-पापोंकी मात्राके अल्प होनेपर भी कभी-कभी आरब्ध पुण्य-पापोंका नाश सम्भव हो जाता है. [घ]यहां उल्लेखनीय विशेष कुछ उपलब्ध नहीं होता है. अतएव न्यायविवरणमें श्रीमध्वाचार्य निष्कृष्ट शंका-समाधान इस तरह देते हैं कि या तो ज्ञानके उदय होनेसे सभी तरहके कर्मोंका

क्षय स्वीकारनेपर सद्योमुक्ति होनी चाहिये; या फिर, उसके न होनेपर कर्मक्षयका सिद्धान्त अनुपपन्न हो जाना चाहिये. ऐसा विचार, किन्तु, उचित नहीं है; क्योंकि, विष्णु अप्रारब्ध कर्मोंका ही विद्यासे विनाश करते हैं और प्रारब्ध कर्मोंका तो भोगसे ही विनाश कर जीवात्माको अपने लोकमें ले जाते हैं.

(६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके अनुसार अभी तक विद्यास्वरूपका विशोधन चल रहा था, अब यहांसे विद्याफलका विचार आरम्भ हो रहा है. भाष्यकारके अनुसार इस [क]सूत्रमें यह दिखलाया गया है कि कर्म चार तरहके होते हैं: [१]सञ्चित, [२]प्रारब्ध, [३]अतीत; तथा,[४]आगामी. प्रथम प्रकारके अन्तर्गत पूर्वजन्ममें उत्तरजन्मोपयोगी देह प्रदान करनेवाले तथा स्वर्गादि फलोंकी कामनासे किये गये कर्म आते हैं. द्वितीय प्रकारके अन्तर्गत श्रवण कीर्तन मनन पूजन आदि मोक्षसाधनोपयोगी वर्तमान शरीरारम्भक पूर्वजन्मकृत कर्म आते हैं. तृतीय प्रकारके अन्तर्गत ब्रह्मसाक्षात्कार उत्पन्न होनेसे पूर्वके जन्म या जन्मान्तरों में ब्रह्मसाक्षात्कारके उद्देश्यसे किये गये कर्म आते हैं. चतुर्थ प्रकारके अन्तर्गत ब्रह्मसाक्षात्कारके बाद इसी जन्ममें किये जानेवाले कर्म आते हैं. इन चतुर्विध[ख] कर्मोंके अन्तर्गत सञ्चितकर्म अपने फल अर्थात् भावी शरीरको उत्पन्न किये बिना नष्ट हो जाते हैं. प्रारब्धकर्मोंका नाश तो फलभोगद्वारा ही हो पाता है. आगामिकर्म तो बिना देहाभिमानके किये गये होनेसे बन्धनरूप ही नहीं हो पाते. श्रीपतिभगवत्पादाचार्य स्कान्द वचनके आधारपर ब्रह्मज्ञानीके चार प्रकार दिखलाते हैं: [१]ब्रह्मविद्, [२]ब्रह्मविद्वर, [३]वरीय-ब्रह्मविद्; और, [४]वरिष्ठ-ब्रह्मविद्. इनमें ब्रह्मविद् काम्यकर्मोंके त्यागपूर्वक श्रौत-स्मार्त कर्मोंको शिवभक्तिके साथ निभाते हुवे संसारी जैसा ही होता है. ब्रह्मविद्वर पूर्ण वैराग्य सिद्ध हो जानेके कारण भिक्षाप्राप्त अन्नका परिमित भोजन करते हुवे तथा श्रौत-स्मार्त कर्मोंका त्याग करके वेदान्तचिन्तनमें परा ध्याननिष्ठामें तत्पर हो जाता है. वरीय-ब्रह्मविद् अयाचित परदत्त अन्नका भक्षण करते हुवे, अन्य सारे व्यापारोंका त्याग करके, निरन्तर शिवध्याननिष्ठाके कारण विश्वविस्मृतिकी निद्रोपमसिद्धि प्राप्त कर, किसी एक जगह नित्यानन्दस्वभावमें निरत रहता है. वरिष्ठ-ब्रह्मविद् शिवतत्त्वमें निरन्तर चित्तको विलीन बना कर ध्यानशक्तिद्वारा मानों शरीर हो ही नहीं इस तरह

जीवनयापन करता हुवा शिवतादात्म्यको पा कर रहता है. इन चारोंकी मुक्तिओंमें, मुक्तिके रूपमें एक ही होनेपर भी, कुछ न कुछ तो तारतम्य रहता ही है. प्रथम तथा द्वितीय प्रकारके ब्रह्मविदोंको प्रारब्ध कर्मोका बन्धन रहता है. तृतीयको प्रारब्ध कर्मोंका कहने भरको अनुभव होता रहता है परन्तु चतुर्थ प्रकारके ब्रह्मविद्को न तो प्रारब्ध कर्मोंका लेप होता है और न स्पर्श ही.

[ख]वरिष्ठब्रह्मविद्के तो मनःशून्य बन जानेके कारण आगामी कर्म जैसा कुछ बच नहीं जाता सो उसका सर्वथा कर्मनिर्लिप्त होना उचित ही है. अन्य ब्रह्मविदोंके उदाहरणोंमें, परन्तु, अज्ञानकृत सारे कर्म तो नष्ट हो सकते हैं. ऐसी स्थितिमें शिवज्ञानके बाद किये गये आगामी कर्मोंकी क्या गति होगी? भाष्यकारका कहना है कि ऐसे ब्रह्मविदोंपर जब गुरु कृपा करके शक्तिपात करते हैं, तब शिवज्ञानके बाद इन्हें सारे पुण्य-पाप लगने बन्द हो जाते हैं. शक्तिपातकी दीक्षाके अभावमें भी गुरूपदेशपूर्वक शिवयोगका दृढ़ अभ्यास करनेवालेको भी योगमहिमाके कारण पाश-अविद्या-अज्ञान-माया आदि संज्ञावाले तमोरूप कारणशरीरसे विच्छेद सम्भव हो जाता है. मूढ़ लोगोंकी तरह शिवज्ञानी अपने अहंकारके वश तो कभी पापाचरण कर नहीं सकता परन्तु प्रारब्धवशात् प्रमादसे कभी पापाचारण हो जानेपर भी उसे शिवज्ञानयोगके अभ्यासकी महिमाके कारण ऐसे पाप लगते नहीं हैं. पापकी तरह ही पुण्य भी मुक्तिमें प्रतिबन्धक हो सकते हैं परन्तु शिवभावनाके साथ किये गये नित्य-नैमित्तिक धर्माचरण भी शिवज्ञानीको लग नहीं सकते.

[ग]ब्रह्मविदोंको आगामी कर्म प्रतिबन्धक नहीं होते परन्तु जड़भरत आदिके उदाहरणोंमें तीन जन्मोंकी कथा आती है उसके समाधानार्थ इस सूत्रमें यह कहा जा रहा है कि शिवज्ञानकी सम्पूर्ण सिद्धि होनेतक बद्धजीवोंकी तरह शुद्धजीवोंको भी मुक्तिमें कुछ विलम्ब होता है. जड़भरत आदिको विषयवासनारहित शिवज्ञान सिद्ध नहीं हुवा था इसलिये मुक्तिमें विलम्ब हुवा जबकि ऐसे ज्ञानवाले वामदेव आदिको अविलम्बेन मुक्तिलाभ हो गया था. वैद्यशास्त्रोक्त निदान जान लेनेके बाद तच्छास्त्रोक्त चिकित्सा किये बिना केवल औषधी आदिके परोक्षज्ञानके कारण कोई रुग्ण स्वस्थ नहीं हो पाता. ऐसे ही पशुपाश-विच्छेदरहित शिवज्ञानसिद्धिके बिना केवल

परोक्षज्ञानसे किसीको शिवत्व प्राप्त नहीं हो सकता है.

[घ]यहां उल्लेखनीय कोई विशेष बात नहीं कही गयी है.

(७)श्रीविज्ञान भिक्षुके अनुसार यहां इस [क]सूत्रसे ब्रह्मविद्याके सद्योमुक्तिरूप फलका विचार आरम्भ होता है. यथोक्त साधनोंद्वारा ब्रह्मको जान लेनेपर ब्रह्मात्मताका साक्षात्कार जब होता है तब उत्पन्न हुवे अघोंका तो विनाश और उत्पन्न होनेवाले अघोंसे अश्लेष हो जाता है. यहां 'अघ' पद कर्ममात्रका उपलक्षक है. 'कर्म' यानि विहित-निषिद्ध कर्मोंका आचरण. इसे कर्मजन्य अदृष्टके रूपमें नहीं समझ लेना चाहिये. अतएव उत्तरकालिक स्वयंसे जन्य अदृष्टद्वारा कर्मोंके अश्लेष-विनाश सम्भव हो पाते हैं. प्रमाद अशक्ति अथवा समाधि आदि निमित्तोंके वश होनेवाले उत्तरकालिक अघोंसे अश्लेष होता है. विहितकर्मोंके वृथा त्याग अथवा निषिद्धकर्मोंके वृथा आचरण करनेपर अश्लेष नहीं होता. क्योंकि यह यदि अनुमोदनीय होता तो जनक आदि क्यों कर्मोंका निर्वाह करते? ऐसोंने लोकसंग्रहार्थ कर्मनिर्वाह किया यह कहनेपर भी यदि वे लोकसंग्रहार्थ कर्म न करते तो लोकघात करनेके वे प्रत्यवायी हो जाते, ऐसी कल्पना करनी पड़ती है. अन्यथा लोकपर करुणा आदिके भाव रखनेपर भी उन्हें कौनसे पुरुषार्थकी सिद्धि होनेवाली थी! पूर्वकर्मोंका विनाश उसके क्लेशरूप सहकारीके उच्छेदके रूपमें समझना चाहिये.

[ख]कर्मक्षय होनेके कारण देहपात होनेपर सुख-दुःख आदि अशेषगुणोंसे रहित विदेहकैवल्य भी यहीं इस लोकमें सिद्ध हो जाता है. ब्रह्मात्मज्ञानसे यद्यपि अविद्या भी निवृत्त होती है फिरभी पूर्वसूत्रमें अविद्यानिवृत्तिकी बात न कह कर ज्ञानसे कर्मनिवृत्तिकी जो बात कही गयी उससे यह सिद्ध होता है कि कर्मनिवृत्ति ही मोक्षकी साक्षाद् हेतु बनती है. अर्थात् इस सूत्रमें लौकिक सुखदुःखरूप अनर्थोंकी निवृत्तिके रूपमें मुक्तिकी बात ही बतायी गयी है— आनन्दावाप्तिरूपा मुक्तिकी नहीं.

[ग]इस सूत्रमें विवक्षित यह है कि जिन पुण्य-पापोंके विनाशकी बात कही गयी है, वह जिनके फल मिलने शुरु न हो गये हों ऐसे पुण्य-पाप समझने चाहिंये. क्योंकि यदि ज्ञानसे तत्क्षण मुक्ति मिलती होती तो "ब्रह्मज्ञानीकेलिये उतनी देरी बाकी रह जाती है कि जब तक वह मुक्त नहीं हो

जाता" जैसे श्रुतिवचन व्यर्थ हो जायेंगे. अतः कर्मपात जब तक नहीं होता तभी तक प्रारब्धकर्म प्रतिबन्धरूप होते हैं. जिसे ज्ञान उत्पन्न हो गया उसे भी, कर्मपातके बाद ही मोक्ष मिलता होनेसे, विद्योपदेश दे पाना भी सम्भव हो पाता है. अविद्यानिवृत्तिके बाद अभिमानके भी निवृत्त हो जानेपर भी देहधारण, इसीलिये, उपपन्न होता है क्योंकि देहधारण कर्मजन्य होता है. अतः देहारम्भक कर्मके प्रारब्ध रहते फलभोगद्वारा ही उसका नाश होता है, यह सिद्ध होता है.

घअग्निहोत्र आदि नित्यकर्म तो ज्ञानके जो कार्य हैं कर्मक्षय आदि उनमें ही सहकारी बनते हानेसे ब्रह्मदर्शनके ये अङ्ग नहीं बन पाते हैं. ऐसा उल्लेख श्रुतिमें मिलता है. अन्यथा नित्यकर्मके त्याग करनेपर प्रत्यवाय लगनेपर अशेषकर्मोंके उच्छेद हुये बिना मोक्षमें विलम्बकी सम्भावना बनी रहती है.

वेदान्तकी इन विभिन्न प्रक्रियाओंके अन्तर्गत सर्वप्रथम (१)श्रीशंकराचार्यने यह जो निरूपण किया कि सगुणोपासनामें ऐश्वर्यप्राप्ति दिखलायी जाती है निर्गुणविद्यामें नहीं. इस विषयमें वाल्लभ वेदान्तका दृष्टिकोण यह है कि सर्वप्रथम तो स्वयं ब्रह्म ही जब साकार भी है और निराकार भी—स्वांशभूत सकल नाम-रूप-कर्मोके उपादानतया सर्वात्मक भी है और अविकारी अंशीरूप कर्ता होनेके रूपमें सर्वातीत भी—सकल ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयके लीलात्मक द्वैतोंमें स्वयं ही प्रकट हुवा होनेपर भी देश-काल-स्वरूपतः सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैतवर्जित शुद्धाद्वैतरूप भी है. ऐसी स्थितिमें स्वयं ब्रह्मको ही यदि निर्गुण-निराकार या सगुण-साकार के विकल्पोंमें बांधा न जा सकता हो तो उसके ज्ञानार्थ उपदिष्ट विद्याओंमें सगुणविद्या या निर्गुणविद्या के तात्त्विक भेद कैसे उपपन्न हो पायेंगे? अतएव श्रुति कहती है :—

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तम् आत्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥
"तद् एतद्" इति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथंनु तद् विजानीयां किमु भाति न भाति वा॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति॥
(कठोप.२।२।१३-१५)

अतएव ब्रह्मोपदेशपरक विद्याओंकी फलश्रुतिमें भी—"जो इस तरह उसे जान लेता है वह प्रतिष्ठित अन्नवान् और अन्नभोजी बन जाता है, वह अपनी प्रजा अपने पशु ब्रह्मवर्चस्व और कीर्ति के द्वारा महान् बन जाता है" (तैत्ति.उप.३।६) तथा "...इस तरह जाननेवाला आत्मरति आत्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द हो कर स्वराड् बन जाता है. वह यथेच्छ लोकोंमें विचरण करनेमें भी समर्थ बन जाता है" (छान्दो.उप.७।२५।२) इन निरूपणोंमें ब्रह्मज्ञानीको भी ऐश्वर्यप्राप्तिके वर्णन मिलते ही हैं. अतएव ब्रह्मज्ञानसे जीवात्माके कर्तृत्व-भोक्तृत्व निवृत्त हो जाते हों ऐसा वाल्लभ वेदान्तको मान्य नहीं है. वाल्लभ वेदान्तमें भक्तिके जो निर्गुण और सगुण भेद माने गये हैं, वे ब्रह्मतत्त्वके स्वभावानुपाती न हो कर, लीलार्थ परिगृहीत अनेकरूपोंवाली जीवात्माओंके अनेकविध भावानुपाती होते हैं. "[क]ब्रह्मको [ख]जाननेवाला [ग]उस परमतत्त्वको [घ]पा लेता है. इसे यों समझाया जाता है: [क]ब्रह्म सत्य है, ज्ञानरूप है तथा अनन्त है. [ख]जो अपनी हृदयगुहाके भीतर परम व्योममें निहिततया उसे जान लेता है ऐसा ब्रह्मविद् [ग]उस विपश्चिद् ब्रह्मके साथ [घ]सारे कामोंका उपभोग करता है." (तैत्ति.उप.२।१)इस वचनमें भी ब्रह्मज्ञानके बाद भी लौकिक कामनाविषयोंका न सही अलौकिक कामनाविषयोंका उपभोग करता हुवा तो ब्रह्मविद् स्वीकारा ही गया है. अतः भोक्तृत्व ही निराकृत नहीं होता तो कर्तृत्व क्यों ब्रह्मज्ञानसे निराकृत हो पायेगा? जीवन्मुक्त भी प्रारब्धशेषतया ब्रह्मज्ञानोपदेशार्थ कर्तृत्वरूप विक्षेपवान् हो सकता हो; और, उस गुरुत्वके विक्षेपवशात् शिष्योपढौकित अन्नके भोक्तृत्वरूप विक्षेपको निभा सकता हो तो, मुक्तात्मा भी दिव्य ब्राह्मिक कर्तृत्व-भोक्तृत्ववान् क्यों नहीं हो सकती? अविद्योपाधिप्रयुक्त कर्तृत्व-भोक्तृत्व अवास्तविक होनेसे बन्धनरूप हो सकते हैं परन्तु भगवल्लीलोपयोगितया वास्तविक होनेपर इनका बन्धनरूप होना आवश्यक नहीं रह जाता. (२)श्रीरामानुजाचार्यने जो पापकी व्याख्या भगवदप्रसन्नताके रूपमें दी वह भी लीलार्थ अंगीकृत मर्यादाकी दृष्टिसे सर्वथा मान्य ही है. फिरभी "उसने यह सब सिरजा...वही

सत् बना और असत् भी...वही विज्ञान बना और अविज्ञान भी, वही सत्य बना और अनृत भी" (तैति.उप.२।६) इसी तरह स्वयं सूत्रकारद्वारा उद्धृत श्रुति भी "ब्रह्म दाशाः ब्रह्म दासाः ब्रह्मैव इमे कितवाः" (आथर्वणिक ब्रह्मसूक्त) इन वचनोंके अनुसार सदसन्मार्गगामी अनेकविध जीव वही बना है. इसी तरह सदसन्मार्गप्रेरक ज्ञानाज्ञान या सत्यानृत कर्म-ज्ञान-भाव भी वही लीलार्थ बना है. ऐसा स्वीकारनेके कारण वाल्लभ वेदान्त लीलाविहारी भगवत्स्वरूपकी दृष्टिसे तो इस मर्यादाको अमिट नहीं मानता है. लीलामें जैसे परमेश्वरको प्रसन्न या अप्रसन्न बनानेवाली बातोंकी मर्यादाओंका निरूपण हुवा है, उसी तरह परमात्माकी करुणा दया क्षमा कृपा या अनुग्रह आदिकी लीलायें भी वर्णित हैं ही. अतएव "कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदमेव वा नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते" (भाग.१०।२९।१५) जैसे वचनोंकी व्याख्याके रूपमें महाप्रभु कहना चाहते हैं कि भगवान् अद्भुतकर्मा होनेके कारण असाधनको भी साधन बना सकते हैं (द्र.:त.दी.नि.१।१). इस बारेमें प्रमाणबल तथा प्रमेयबल की व्यवस्था तो हम पहले ही दिखला चुके हैं. मुक्तिमें विषयकामपूरक पुण्य प्रतिबन्धक होते है तथा विषयवासनारहित नित्यकर्मजन्य पुण्य प्रतिबन्धक नहीं होते, यह भी लीलादृष्ट्या मान्य होनेपर भी परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपकी दृष्टिसे कभी अन्यथा भी हो सकता है. (३)श्रीश्रीनिवासाचार्यके अनुसार यहां शास्त्रीय वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाओंके सन्दर्भमें प्रारब्ध कर्म तथा मुक्ति सम्बन्धी विचार किये गये हैं. यह वाल्लभ वेदान्तको सर्वथा मान्य होनेपर भी भगवान्की लीलामें मुक्त्यर्ह अथवा भक्त्यर्ह पुष्टिजीव केवल वर्णाश्रमधर्मानुगामी समुदायमें जन्मग्रहण करते हैं, ऐसा मान्य नहीं. वाल्लभ वेदान्त वर्णाश्रमियोंको नित्यकर्मोंकी अनिवार्यता और अवर्णाश्रमियोंको उनकी अननिवार्यताको भी दृष्टिगत रख कर अधिकरणरचना करना चाहता है. यह वेदाध्ययनके अनधिकारी अवर्णाश्रमियोंकी ब्रह्मजिज्ञासाको मान्य करनेको नहीं प्रत्युत परमात्माके मोक्षदानके प्रमाणानुरूप और प्रमाणातिरेकी उभयविध सामर्थ्योंका ज्ञान वर्णाश्रमियोंको प्रदान करने ही.

स्वयं भागवतमें कहा गया है कि "किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयो येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति" (भाग.२।४।१८). इस

वचनकी व्याख्यामें महाप्रभु कहते हैं कि जातितः तथा कार्यतः दुष्ट लोग भी भक्तोंका सहारा लेकर न केवल शुद्ध हो जाते हैं बल्कि स्वयं भक्तोंकी तरह भगवत्सेवायोग्य भी बन जाते हैं. अन्य भी जिन्हें प्रायश्चित्त करनेका भी अधिकार दिया नहीं गया है वे भी भगवत्सेवायोग्य बन जाते हैं. भगवान्के प्रमेयस्वरूपका निरूपण करते हुवे न केवल अवर्णाश्रमी मनुष्योंको; प्रत्युत पशु-पक्षी-वृक्ष चेतन तथा अचेतन वस्तुओंको भी भक्तिमार्गदृष्ट्या स्पृहणीयतम भगवद्भावोपेत माना गया है (द्र.: भाग.१०।१८।७-२० तथा भाग.१०।३२।२-२५). अतः साधन-फलमीमांसाके अन्तर्गत ही इस पक्षको भी विचारणीय मान कर वाल्लभ वेदान्त चलना चाहता है.

आधुनिक कई लेखक इन्हें काव्योद्भावनाओंके रूपमें देखना चाहते हैं. तब तो भगवान्के मत्स्याश्वकच्छपादि अवतारोंको भी काव्योद्भावना माननना पड़ेगा. हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु रावण वृत्रासुर पूतना शकटासुर तर्णावर्त यमलार्जुन वत्सासुर बकासुर धेनुकासुर अजगर शंखचूड़ केशि व्योमासुर कंस शिशुपाल आदि अनेकोंके उद्धारकी मुक्तिकथाको भी काव्योद्भावनाके रूपमें स्वीकारना पड़ेगा. कुल मिला कर सारे पौराणिक वृत्तान्त काव्यकल्पनाके रूपमें देखने पड़ेंगे! अन्तमें परमेश्वरपर भी प्रतिबन्ध लागू करना पड़ेगा कि वह अपनी सृष्टिमें प्रविष्ट या प्रकट नहीं हो सकता! अवैदिक धर्मोंमें भी या तो भगवदवतारोंकी या भगवद्दूतावतारोंकी या भगवद्भावापन्न तीर्थंकरोंकी चमत्कारपूर्ण लीलाकथायें उपलब्ध तो होती ही हैं. हमारे, किन्तु, अवतारोंके अद्भुतकर्म उन्हें न रुचते हों तो वह उनकी स्वधर्मनिष्ठा या स्वपक्षाग्रहिलता भी हो सकती है! वैसे तो उनके धार्मिक चरित्रोंकी चमत्कारपूर्ण कथायें हमें भी विश्वसनीय न लगती हों यह तो सम्भव ही है. यह तो समान मनोवृत्तिके आधारपर भी समझमें आनेवाली बात है. अन्तमें इस सृष्टिको ईश्वरकृत मानना भी सृष्ट्युत्पत्तिकी एक चमत्कारपूर्ण व्याख्या नहीं तो और क्या है!

इन अवतारलीलाओंके आधारपर भी साधनमीमांसा तथा मुक्तिमीमांसा करना वाल्लभ वेदान्तका एक अनूठा महत्त्व है. अन्यथा वाल्लभ वेदान्तको साधन-फल-मीमांसा ही अपूर्ण लगती है. अन्तर केवल इतना ही है

कि वाल्लभ वेदान्तमें स्वाभिमत श्रुत्यादिप्रमाणबल एवं स्वानुष्ठेय श्रौतादिसाधनबल द्वारा, उसे जान पाने और उसे प्राप्त कर पाने की कुछ अपनी सीमायें मानी गयी हैं. इस मान्यताके आधारपर वाल्लभ वेदान्त यह भी मानता है कि इन्हीं सीमाओंमें परमेश्वरको घिरा हुवा नहीं माना जा सकता है. अतः प्रमेयबलकी अद्भुतकथाओंको भी वाल्लभ वेदान्त धैर्यपूर्वक मीमांस्य मानता है "अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्."

(५)इसी तरह श्रीमध्वाचार्यने जो यह विधान किया है कि हीनदृष्टिसे ब्रह्मको निहारनेवालोंके अथवा हीनवस्तुओंको ब्रह्मदृष्टिसे निहारनेवालोंके के सारे पुण्यकर्म नष्ट हो जाते हैं, यह धारणा "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" श्रौतवचनानुसारी तथा दिव्यदृष्टचैकदृश्य प्रत्यक्षनिदर्शनरूप भगवद्गीतोक्त विराट्दर्शनमूलक शुद्धाद्वैतवादमें अस्वीकार्य ही है. स्वयं अर्जुनने भी "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः" (भ.गी.११।४०) स्वीकारा ही है. एतावता उसके पुण्यकर्मोंका क्षय स्वीकार्य नहीं हो सकता है. भगवद्द्वेषी शिशुपाल आदि अनेक असुरोंकी तरह आसुरीभावोंवाले जीवोंकी भी मुक्तिके वर्णन "प्रमाणबलकी व्यवस्थासे विपरीत प्रमेयबलकी भिन्न व्यवस्था होती है" ऐसा सूचित करते ही हैं. अपने अंशीको अस्वीकार करके जब कोई अंश अपने-आपको ही परमेश्वर मान लेता है, करूषपति पौण्ड्रक वासुदेवकी तरह तो, ऐसा अन्यथाज्ञान उसे वधयोग्य बना सकता है. साथ ही साथ भागवतका यह डिंडिमघोष भी कभी भूलना नहीं चाहिये कि "वह पौण्ड्रक भगवान् श्रीहरिके स्वरूपका स्वाँग नित्य ही धारण करनेकी प्रक्रियाको अपना कर भगवद्ध्यानके द्वारा अखिल बन्धनोंको प्रध्वस्त करता हुवा अन्तमें तन्मय हो गया!" (भाग.१०।६३।२४). स्पष्ट है कि यह यहां शास्त्रमर्यादाके रूपमें निरूपित नहीं हुवा है. यह तो निश्चय ही प्रमाण-साधन-मर्यादामें कैद न होनेवाले भगवान्के प्रमेयबलका ही वर्णन है. चाहे जो कुछ हो इतना तो निश्चित ही है कि उपेतृप्रयत्नसे न सही परन्तु उपेयप्रयत्नके द्वारा ऐसे उदाहरणोंमें भी मुक्ति मिल सकती है. प्रमाण=समन्वय, प्रमेय=अविरोध, साधन और फल रूपिणी ब्रह्ममीमांसाके साथ इस लीलामीमांसाकी एकवाक्यता दिखलानेको ही महाप्रभुने भगवल्लीलाकी भी मीमांसा ऐसे ही प्रकरणविभाजनद्वारा करनी चाही है. (६)अतएव श्रीपतिभगवत्पादाचार्यद्वारा निर्धारित शिवतादात्म्यकी रीति भी केवल

ब्रह्ममीमांसामूलक ही है — ब्रह्ममीमांसा तथा तदवतारलीलामीमांसा की एकवाक्यतामूलक नहीं. (७)श्रीविज्ञान भिक्षुका यह कहना कि देह कर्महेतुक मिलता है, अज्ञानहेतुक नहीं. यह तो वाल्लभ वेदान्तके अनुकूल ही कथा है. फिरभी इतना इसमें और अधिक जोड़ लेना चाहिये कि यह देहग्रहण करनेकी मर्यादारीति है. अन्यथा शापमूलक, वरदानमूलक अथवा भगवत्परिकरोंके तो कभी-कभी भगवल्लीलासंकल्पवशात् भी देहधारितया जनमनेके वृतान्त लीलाकथाओंमें मिलते ही हैं.

(८)अतः वाल्लभ भाष्यके अनुसार विगत सूत्रोंमें पुष्टिमार्गीय भक्तके फलके निरूपणके बाद यहां इस *सूत्रमें मर्यादामार्गीय भक्तके फलका निरूपण अभिप्रेत है. क्योंकि कर्ममर्यादा स्वयं भगवान्ने ही बनायी है. सो जब उसका उल्लंघन किये बिना भगवान् फलदान करते हैं तब उसे मर्यादामार्गीय फलतया स्वीकारा जाता है. मर्यादाके अन्तर्गत तो फलभोगके बिना कर्मक्षय असम्भव होता है. अतएव भोगानुकूल कर्मोंको करते रहनेपर अन्य सजातीय कर्म और पैदा हो जाते होनेसे मुक्ति सर्वसुलभ नहीं हो पाती. दुष्कर्मोंके प्रायश्चित्तरूप कर्मके अनुष्ठानवश दुष्कर्मफल भी मिलने बन्द हो जाते हैं. इस तरह, परन्तु, ज्ञानको भी प्रायश्चित्तरूप नहीं समझ लेना चाहिये. क्योंकि न तो ज्ञान प्रायश्चित्तके रूपमें विहित है और न अनुष्ठेय ही होता है. हमारे दुराचरणोंके कारण हमारा चित्त अशुद्ध हो जाता है. अतः ऐसे चित्तके पुनः शुद्ध होनेपर ही ब्रह्मज्ञान प्रकट होता है और ब्रह्मज्ञानके प्रकट होनेपर भक्ति प्रकट हो पाती है, यह मर्यादा है. अतः ज्ञानोदय होनेपर पूर्वकृत सारे पाप ज्ञानके स्वभाववश ही नष्ट हो जाते हैं. "उत्तरकालमें पाप उत्पन्न होते हैं परन्तु लगते नहीं", ऐसा अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है, प्रत्युत उत्पन्न ही नहीं होते ऐसा भाव है. उपायरूप साधनोंके बिना उपेय भगवत्स्वरूपके प्रमेयबलसे कोई कार्यके सिद्ध होनेपर पुष्टि समझी जाती है. भगवन्निर्धारित ज्ञानरूप उपाय या साधन का स्वरूप ही ऐसा होता है कि वह नियतकर्मोंका विरोधी होता है. इसलिये कर्मभोगका नियम ज्ञानीतर जीवात्माओंके बारेमें होता है. पापकर्मोंसे चित्तमें अशुद्धि या असद्वासना पैदा होती है. उस अशुद्ध चित्तसे किये जाते कर्म मोक्षमें प्रतिबन्धक होते हैं. इस मुक्तिप्रतिबन्धिका

शृंखलाकी प्रथम कड़ी चित्तशुद्धि या असद्वासना तो गुरूपसत्ति श्रवण मनन विष्णूपासना रूपी ज्ञानोत्पादिका सामग्रियोंद्वारा ही नष्ट हो जाती है. अन्तमें अविद्या जो बचती है वह तो ब्रह्मज्ञानद्वारा नष्ट होती है. अतः ज्ञानी दुष्कर्मोंसे बचा हुवा रहता है.

[ख]इसी तरह पूर्वकृत पुण्य भी नष्ट हो जाते हैं और अनन्तर कोई पुण्य उत्पन्न होते नहीं हैं. वैसे कदाचित् प्रारब्धवशात् भगवद्भावसे च्युति होनेपर उत्तरकालिक कर्म उत्पन्न हो भी सकते हैं.

[ग]ज्ञानसे कर्मनाश होनेपर कर्मजन्य देह भी नष्ट होता हो तो मर्यादामार्गीय आचार्य कोई भी मर्यादामार्गीय उपदेश देनेकेलिये भी भूतलपर विद्यमान ही नहीं रह पायेगा! ऐसी आशंकाके निवारणार्थ इस सूत्रमें यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि अपने-अपने फलोंका दान आरम्भ न कर दिया हो ऐसे पुण्य-पापोंका ज्ञानसे नाश होता है प्रारब्धकर्मोंका; अर्थात्, फल देना जिन्होंने आरम्भ कर दिया हो ऐसे कर्मोंका नहीं. क्योंकि फलदान देना शुरु हो गया हो ऐसे पुण्य-पापोंका तो फलोपभोगद्वारा ही नाश होनेकी मर्यादा स्वयं भगवान्के द्वारा निर्धारित है. फिरभी निजलीलामें ज्ञानद्वारा संचितकर्मोंकी तरह प्रारब्धकर्मोंका भी नाश, यदि कभी भगवान् करना चाहें तो वह सम्भव है ही.

[घ]इस सूत्रमें यह दिखलाया जा रहा है कि जो ब्रह्मविद् हो उसे भी अग्निहोत्र सदृश नित्यकर्म प्रारब्धभोगके रूपमें ही करने चाहिये. क्योंकि जिनके पूर्वकृत सत्कर्म ऐसे हों कि वे अगले जन्ममें निर्विघ्न स्वधर्माचरणका निर्वाह कर पायेंगे, उन्हें प्रारब्धभोगतया नित्यकर्मोंको निभाना ही पड़ेगा. ऐसोंको नित्यकर्मके भोग करनेसे पुनः कोई कर्मसंश्लेष नहीं होता है.

फलप्रकरणगत लीलोपदेश : तामसफलप्रकरणमें रासलीलावर्णनके उपसंहारके इसके बाद दो लीलाओंके वर्णन मिलते हैं: [१]व्रजके गोपजनोंका कौतुकवश तीर्थयात्रा करने जाना, वहां लीलापरिकरेतर देव-देवीका व्रत-पूजनरूप अन्याश्रय करना, उस समय अजगरद्वारा निगले जानेपर भगवान्द्वारा श्रीनन्दरायका मुक्त हो पाना; और, अन्तमें श्रीनन्दरायजीको निगलना चाहते अजगरका भी उद्धार. [२]पूर्ववर्णित सर्वात्मभाववती उत्तमाधिकारिणी रासविहारिणी गोपिकाओंसे भिन्न मध्यमाधिकारिणी[३] कुछ अन्य गोपिकाओंका प्रमेयस्वरूप श्रीकृष्ण और

प्रमाणस्वरूप श्रीबलराम के साथ रात्रिविहार. इस कामविहारमें शंखचूड़द्वारा किया गया उनका अपहरण; और, उसे मार कर उसकी शिखामें रही मणिका श्रीकृष्णद्वारा श्रीबलरामको भेंटस्वरूप दिया जाना. इन दोनों लीलाओंमें किसी न किसी तरहकी मर्यादाके अनुकरणकी कुछ वृत्ति परखी जा सकती है. महाप्रभु कहते हैं:—

> यह लीला कालको प्रधान बना कर की गयी है. अतएव इस लीलामें दैत्य बाधा पहुंचा सकते हैं. भगवान्‌के द्वारा उस दैत्यका वध किया जाना और उसकी शिखामें रही मणि अपने अग्रजको दे देनेके कारण यहां वेदावताररूप श्रीबलरामका अर्थात् शब्दप्रामाण्यकी मर्यादाका महत्त्व द्योतित होता है. वेदोंका लौकिकालौकिक वास्तविक माहात्म्य समझमें न आनेपर सारा वेद केवल हमारेलिये स्वकर्तव्यबोधार्थ अपेक्षित एक उपकरणमात्र रह जाता है. अन्य सभी कुछ अपार्थक होनेकी उत्प्रेक्षा कर ली जाती है... यह क्रीड़ा पहले जिन गोपिकाओंका वर्णन किया गया उनसे भिन्न हैं. ये वे गोपिकायें हैं जो पहले शास्त्रीयमर्यादा और लौकिककर्तव्यों में परायण रहनेके अपने मनोभाववश भगवदभिमुख हो नहीं पायी थी. भगवान्‌के अनेकविध देवगणमान्य माहात्म्यको निहार कर अन्तमें सर्वात्मभावरहित केवल कामभावसे भगवान् और बलभद्र की और आकृष्ट हुयी थी... इससे यह द्योतित हुवा कि मध्यमाधिकारियोंका वेदपरायण होना दोषरूप नहीं होता. क्योंकि यदि दोषरूप होता तो वेदात्मक श्रीबलरामके साथ की जाती क्रीड़ामें बाधा पहुंचानेवाले दैत्यका वध भगवान् स्वयं न करते और ना उस दैत्यवधसे प्राप्त मणि श्रीबलरामको भेंटरूप प्रदान ही करते.

तदनुसार एकत्र स्वतः चतुर्विध प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलतया प्रकट भगवान्‌के अनन्याश्रयसे च्युति; और, अपरत्र ऐसे भगवान्‌में, मध्यमाधिकारानुरूप, माहात्म्यज्ञानकी प्रधानता तथा अनन्यासक्तिकी न्यूनताका बोध हो रहा है. इसे आत्मात्मभाव या परमात्मभाव से अर्थात् माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़सर्वतोधिकस्नेहके भावसे लेशतः च्युति जैसी कथा समझी जा सकती है. इन उभयविध च्युतियोंके निवारणद्वारा पुनः भगवद्भावसे तत्तल्लीलान्तःपाती

असंश्लिष्ट ही रखा गया, यह द्योतित हुवा.

कतिपय मूढ़ लोग यहां ऐसा दुर्थ करते हैं कि प्रमाणरूप श्रीबलरामके साथ की गयी होनेके कारण इस रासलीलामें शंखचूड़ दैत्यकी बाधा उत्पन्न हुयी. अतः पुष्टिमार्गमें शास्त्रचिन्तन अधिक नहीं करना चाहिये. इन्हें न तो सुबोधिनीके भावका भान है और न प्रमेयरूप श्रीकृष्णमें स्वरूपासक्ति ही. केवल 'प्रमेय-प्रमेय' के कोलाहलद्वारा अपनी क्षुद्र एवं गर्ह्य वासनाओंको सन्तुष्ट करते रहनेके बहाने खोजनेमें इनकी रुचि अदम्य होती है. दैत्यबाधा जो श्रीबलरामके साथ क्रीड़ाके कारण हुयी होती तो महाप्रभुके इस अधोलिखित विधानकी क्या व्याख्या क्या करनी?

> **गोपिकाओंके द्वारा शब्दब्रह्मानन्द भी सभीके भीतर पूरणार्थ यहां पुनः शब्दात्मक बलभद्रके साथ भी गोपिकाओंकी क्रीड़ाका निरूपण अभीष्ट है... यह लीला कालको प्रधान बना कर की गयी होनेसे इसमें दैत्य बाधक हो पाते हैं. फिरभी भगवत्सामर्थ्यके द्वारा उन बाधाओंका निराकरण हो जानेपर शब्दका ही माहात्म्य निरूपित होता है... इससे यह सिद्ध होता है कि जो मध्यमाधिकारी होते हैं उनके प्रमाणपर अर्थात् वेदपरायण होनेमें कोई दोष नहीं होता. अतएव इस लीलाका निरूपण किया गया है. अन्यथा जो प्रमाणपरायण होंगे उनका अनन्यभाव ही भंग हो जायेगा (सुबो.१०।३१।२०).**

इस स्पष्टीकरणके रहते कि प्रमाणपरायण होनेमें अनन्यभाव खण्डित नहीं होता (द्र.त.दी.नि.३।६।४१-४२), फिरभी अपने-आपको सर्वात्मभाववती गोपिकाओंकी तरह उत्तमाधिकारी मान कर चलना, वस्तुतः प्रमेयपरायणता नहीं प्रत्युत भगवान्‌की प्रमेयबलसे की गयी लीलाओंके नामपर चर खानेकी जघन्यतमाधिकारियोंकी दुर्वृत्ति भरी शिश्नोदरपरायणता ही लगती है.

आधुनिकपुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश : आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके लिये अन्याश्रयत्यागोपदेशके बारेमें तो पहले ही दिखलाया जा चुका है.

शास्त्रप्रामाण्यानुरोधवश वर्णाश्रमधर्मके अनुष्ठानका मुख्यकल्प गौणकल्प और विकल्प आदिका सूक्ष्म निरूपण करते हुवे महाप्रभुने अनेक स्पष्टीकरण दिये हैं. महाप्रभु कहते हैं:—

मुख्यकल्प : श्रुत्यादि प्रमाणोंमें वर्णाश्रमियोंके धर्मके रूपमें जो कुछ विहित हो, उसे यथाविधि निभाना चाहिये. अपने वर्णाश्रमके अनुरूप जो वृत्ति शास्त्रने वैध ठहरायी हो उसी आजीविकासे वृत्युपार्जन करनेपर ही इस वर्णाश्रमधर्मका निर्वाह भी सफल हो पाता है. अन्यथा नहीं. क्योंकि वर्णाश्रमाचार वृत्तिहीन होनेपर अर्धांशमें ही फलित होता है सर्वांशमें नहीं (द्र. : त.दी.नि.२।१८५). भक्ति अपने आश्रमधर्म तथा ज्ञान के साथ निभायी जाती होनेपर भगवत्तिरोधानको दूर कर पाती है: भगवन्माहात्म्यको भलीभांति जान लेनेके बाद प्रकट होनेवाले परमप्रेमको 'भक्ति' कहा जाता है. ऐसी इस भक्तिके साथ-साथ यदि भगवत्परिचर्या भी की जाये तो तिरोधान दूर होता है. भगवत्सेवाको स्वतःपुरुषार्थके रूपमें निभाया जाता हो तो उसे 'स्वतन्त्रा भक्ति' कहा जाता है. अर्थात् स्वाश्रमाचारोंके सहित, ब्रह्मानुभवके सहित; और, माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेहके कारण ब्रह्मभाव सिद्ध हो जाता है. भगवत्परिचर्याके साथ इस स्नेहके निभनेपर भक्ति 'आनन्दरूपा-भक्ति' कहलाती है. ऐसी भक्तिकी फलावस्थामें यदि अपने आश्रमाचारोंको निभानेपर फलानुभूतिमें किसी तरहके प्रतिबन्धकी सम्भावना लगती हो तो ऐसी अवस्थामें वर्णाश्रमाचारोंका त्याग भी किया जा सकता है. अन्यथा उन्हें निभाये जाना चाहिये. अपने-आपकी भगवद्भक्तिको सहसा फलावस्थामें पहुंची हुयी नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि ब्रह्मभावापन्न जीव कदाचित् सुलभ हो सकते हैं परन्तु फलावस्थावाली भक्तिवाले इससे भी दुर्लभ होते हैं (द्र. : त.दी.नि.२।१९६).

गौणकल्प : वर्णाश्रमवालोंका मुख्यधर्म तो नष्टप्रायः हो गया है, अतः आत्मवंचनार्थ निभाये जानेपर भी वास्तविक धर्मसिद्धि होनी उससे शक्य नहीं है. फिरभी उसे यथाकथञ्चित् निभाते हुवे भक्तिमार्गमें अपनी आस्था दृढ रखनी चाहिये (द्र. : त.दी.नि.२।२२३-२२४).

क्योंकि जब तक यह देह है तब तक वर्णाश्रमधर्मोंको ही अपना स्वधर्म समझना चाहिये—भगवद्धर्मोंको भी तब विधर्म या परधर्म समझा जा सकता है. जब अपने बारेमें देहादिके संघातसे पृथक् आत्मा होनेका भाव दृढ बने तभी भगवद्दास्य स्वधर्म बन पाता है; और अतएव तभी, वर्णाश्रमधर्म आदि भी पराये[(देहाभिमानी)]के से धर्म लगने लगते हैं. अतः उन्हें अपनी शक्तिके अनुसार निभाते हुवे ही भक्तिमार्गपर दृढतया आरूढ होना चाहिये (द्र.: सुबो.३।२८।२).

विकल्प: भक्तिमार्ग सर्वमार्गोंमें उत्तम मार्ग है. इस मार्गमें स्वयं भगवान् ही मोचक बन जाते होनेसे पतनकी सम्भावना बिलकुल नहीं है. अतः इस मार्गमें आदिम साधनतया दम्भादिरहित श्रीकृष्णसेवापरायण एवं श्रीभागवततत्त्वज्ञ पुरुषको ही अपना गुरु बनाना चाहिये (द्र.: त.दी.नि.२।२२२-२३८).

यहां आवरणभंग व्याख्या लिखनेवाले गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि यह सावधानी न रखनेपर एकके बजाय दो अन्धोंका एकसाथ गर्तमें निपात हो सकता है. ऐसे गुरु न मिलनेपर स्वयं महाप्रभुको गुरुतया मान्य रख कर महाप्रभूपदिष्ट रीतिको अनुसरते हुवे भगवत्सेवामें भक्त्यनुकूल परिवारजनोंके साथ प्रवृत्त हो जाना चाहिये, यह भी श्रीपुरुषोत्तमजीने सुस्पष्ट किया है.

इसके बाद महाप्रभु इस विषयमें और भी अधिक मार्गदर्शन प्रदान करते हुवे कहते हैं:—

अपने परिवार या उदर के निर्वाहार्थ कभी भी निषिद्ध आजीविका[(उदा.: धनोपार्जनार्थ भगवत्सेवा या भगवत्कथा करने जैसी)] नहीं अपनानी चाहिये. श्रीभागवतोक्त भगवल्लीलाओंका अवगाहन करते रहना चाहिये. सबके भीतर कृष्णभावना रखते हुवे सहिष्णु वैराग्ययुक्त तथा परितोषयुक्त बनना चाहिये. अपने इन्द्रियाश्वोंको निग्रहमें रखना चाहिये.

आवरणभंगकार यहां भी एक अतीव मननीय शंका-समाधान यह

करते हैं कि वामदेव्यसामोपासकको जैसे हर किसी स्त्रीके साथ संभोगकी अनुमति दी गयी है, ऐसे ही भक्तिमार्गमें भी वह छूट ली जा सकती है या नहीं?

शंका : रासपञ्चाध्यायीके उपसंहारमें अन्योंके लिये भगवदनुकरणका निषेध किया गया है, उसे क्यों रासलीलाके ही केवल निषेधपरक नहीं ले लेना अर्थात् परदाराभिमर्शनके निषेधपरक ही क्यों लेना? भक्तिमार्गीय भावनाओंके अनुसार, हमारा लौकिक शरीर चाहे स्त्रीरूप हो या पुरुषरूप, सच्चे पुरुष तो एक भगवान् ही होते हैं. उन्हें ही सभीको गोपिकाभावसे भजना चाहिये. सो जब लौकिक पुरुष वस्तुतः पुरुष न हों तो परदारारमण भी परमार्थतः परदारारमण नहीं सिद्ध हो पाता! अतः कोई करता भी हो तो वह दोषजनक क्यों होना चाहिये?

समाधान : सेवाफल ग्रन्थमें जिसकी स्पष्टतम शब्दोंमें निन्दा की गयी है ऐसे लौकिकविषयोंके उपभोगकी वृत्तिद्वारा किया जाता यह तो भक्तिभावका निरा पाखण्ड ही है!!

(द्र. : त.दी.नि.आ.२।२३८)

इसके बाद महाप्रभु इसी मार्गके मुख्यकल्प गौणकल्प और विकल्पों को विस्तारसे समझाते हुवे कहते हैं :—

ऐसे भक्तोंको भगवद्गुणों तथा भगवन्नामों का उद्घोष सभामें भी निस्पृह एवं निर्भय हो कर करना चाहिये परन्तु श्रीभागवतका पाठ तो निर्दम्भ तथा सर्वहेतुविवर्जित ही करना चाहिये. वैष्णवताके चिह्नरूप तिलक-मुद्राओंका धारण करना चाहिये. वैष्णव व्रतोत्सवोंको मनाना चाहिये. [अनुकल्प-१]यह जिनसे न निभ पाता हो उन्हें निस्पृह एकाकितया शान्तिपूर्वक कृष्णतत्पर हो कर तीर्थयात्रा करते रहनी चाहिये. [अनुकल्प-२]यह सम्भव न हो तो अपनी आजीविकाका साधन न बन जाये ऐसी अतिशय सावधानी रखते हुवे भागवतपठन, (आधुनिक पुष्टिमार्गमें चल पड़ी धनसंग्रहार्थ आयोजित भागवतसप्ताहोंका श्रवण नहीं). [अनुकल्प/विकल्प]वह भी सम्भव न हो श्रीजगन्नाथपुरी पंढरपुर श्रीरङ्ग तिरुपति या अन्य भी ऐसी वैष्णवतन्त्रानुसारिणी पूजाप्रणाली जहां हो वहां प्रपत्तिमार्गका अनुसरण

करते हुवे रहना चाहिये.

अतएव षोड़शग्रन्थान्तर्गत सेवाफल (कारि.२)में यह कहा गया है कि पुष्टिमार्गमें फलसिद्धि या अधिकार दोनोंमें से किसी एक विषयमें भी काल कभी नियामक नहीं होता. फिरभी भोग उद्वेग या प्रतिबन्ध बाधक हो पाते हैं. अतएव शिक्षाश्लोकीमें भी महाप्रभु कहते हैं कि जो जीव भगवदभिमुख रह पाते हैं उनका तो काल कुछ भी बिगाड़ कर नहीं सकता है. बहिर्मुख बन जानेवाले पुष्टिमार्गीय जीवको, परन्तु, काल एक अजगरकी तरह समग्रतया निगल भी सकता है! अतएव आधुनिक पुष्टिजीव भी अपने-आपको गोपिकाओंकी तरह उच्चाधिकारी मान कर शास्त्रीय मर्यादाओंसे विपरीताचरण करता हो तो भोगोद्वेगप्रतिबन्धके शिकार होनेपर उसके लिये भी कालकृत प्रतिबन्ध सर्वथा अशक्य नहीं है.

:: (७)अतोऽन्याधिकरणगत तत्त्वोपदेश, फलप्रकरणगत लीलोपदेश तथा आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश की एकवाक्यता ::

[क]अतो अन्यापि हि एकेषाम् उभयोः. [ख]"यदेव विद्यया" इति हि. [ग]भोगेन तु इतरे क्षपयित्वा अथ सम्पद्यते (ब्र.सू.४।१।१७-१९).

(१)श्रीशंकराचार्यके अनुसार यह सूत्र तथा विगत "अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव दर्शनात्" सूत्र मिल कर एक अधिकरण बनाते हैं. तदनुसार पूर्वसूत्रमें यह कहा गया था कि वैदिक अग्निहोत्रादि नित्यकर्म यद्यपि मोक्षजनक नहीं होते फिरभी उन्हें करते रहना चाहिये क्योंकि मोक्षजनक जो ज्ञान होता है उसके जनक वे हो सकते हैं. अतः परम्परया उन्हें भी मोक्षजनक माना जा सकता है. परमार्थतः अपने अकर्ता-अभोक्ता ब्रह्म होनेका ज्ञान उत्पन्न हो जानेपर उन्हें करते रहना आवश्यक नहीं रह जाता, क्योंकि ब्रह्मविद्को विधिनियोज्य नहीं बनाया जा सकता है. अतः नित्याग्निहोत्र जैसे वैदिककर्मोंके फल मुक्तिमें प्रतिबन्धक नहीं होते सो उनका अश्लेष नहीं होता है. यदि इनका अश्लेष न होता हो तो जहां एक श्रुतिवचनमें यह कहा गया कि "उसके द्वारा किये गये सारे पुण्य उसके सुहृदोंको लग जाते हैं और उसके पाप उसके साथ द्वेष करनेवालोंको

लग जाते हैं'' ऐसे वचनोंकी क्या गति होगी? [क]यहां जैमिनि और बादरायण दोनों आचार्योंके अनुसार नित्यकर्मोंके अलावा और भी कुछ जो सकामकर्मोंके पुण्य हों उनकी विवक्षा मान लेनी चाहिये. क्योंकि उनका ब्रह्मज्ञानमें कोई उपयोग सम्भव नहीं होता. [ख]इस सूत्रमें यह दिखलाना अभिप्रेत है कि विद्याविहीन और विद्यासहित दोनों ही तरहके अग्निहोत्र, चाहे प्रस्तुत जन्ममें या जन्मान्तरमें किये हों, मोक्षके प्रयोजनवश अनुष्ठित होनेपर, यथायथ सामर्थ्यद्वारा ब्रह्मज्ञानमें प्रतिबन्धक दुरितोंके क्षयद्वारा ज्ञानको उत्पन्न करते हैं. अतः ये ज्ञानके अन्तरंगकारण श्रवण मनन श्रद्धा आदि अंगोंवाली ब्रह्मविद्याकी तरह मोक्षजननार्थ उपयोगी हो सकते हैं. [ग]जिनका फल मिलना आरम्भ न हुवा हो ऐसे पुण्य-पाप तो विद्याके सामर्थ्यवश क्षीण हो जाते हैं, परन्तु जिनका फल मिलना आरम्भ हो गया हो उनका तो फलभोग करनेके बाद ही क्षय होता है. यहां एक शंका उठती है कि ब्रह्मज्ञान सिद्ध हो जानेपर भी देहपातसे पहले भेददर्शन तो बना ही रहता है उसी तरह कर्मफलोंकी भी अनुवृत्ति बनी ही कहीं रह न जाये! ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये. क्योंकि उपभोगशेषका क्षपण वहां निमित्त होता है, ऐसा कोई निमित्त ब्रह्मज्ञानके बाद बचा हुवा रह नहीं जाता है.

(२)[क]इस सूत्रमें श्रीभास्कराचार्यने विशेष कुछ भी नहीं दिखलाया है. [ख]''यदेव विद्यया इति हि'' सूत्रको अप्रामाणिक एवं निरर्थक मान श्रीभास्कराचार्यने भाष्य भी नहीं लिखा है. [ग]यहां भाष्यकार कहते हैं कि प्रारब्धके फलभोगके बाद मुमुक्षु ब्रह्मभावसे सम्पन्न हो जाता है. यद्यपि प्रस्तुत जन्ममें ही पारमेश्वर गुण तो अभिव्यक्त नहीं हो पाते परन्तु शास्त्रप्रामाण्यवश मुक्तात्मामें वे गुण अवश्य प्रकट होते हैं, ऐसा स्वीकारना चाहिये.

(३)यहां श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार [क]कर्मनियतिके अनुसार ब्रह्मज्ञानीके सुकृत उसके सुहृदोंको मिल जाते हैं और दुष्कृत उसके द्वेषियोंको. यह ब्रह्मज्ञानीपर परमात्माके प्रसन्न होनेके कारण वैसे पारमात्मिक संकल्पवशात् ही यह घटित होता है. [ख]प्रकृत विषयोपपादनार्थ पहले दिये जा चुके

"यदेव विद्यया करोति" श्रुतिवचनके स्मारणार्थ यह सूत्र है. [ग]इस सूत्रमें ब्रह्मविद्याधारणार्ह जो प्रस्तुत शरीर होता है उसके साथ जुड़े प्रारब्धकर्मोंके क्षयके बाद; अथवा, प्रारब्धकर्मके ही फलोपभोगवशात् अन्य भी कुछ शरीर या शरीरों के छूटनेके बाद ही ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मको पा लेता है. ब्रह्मज्ञानीके सशरीर होनेपर ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिसे पहले जो भी सुकृत या दुष्कृत रूप सञ्चितकर्म होते हैं, वे तो ब्रह्मविद्याके माहात्म्यवश ही भस्मसात् हो जाते हैं. विद्याप्राप्तिके बाद मिलते शरीर या शरीरोंसे प्रमादवश जो सत्कर्म या दुष्कर्म हो जाते हैं, उनका तो फल स्वयं ब्रह्मज्ञानीको मिलनेके बजाय उसके सुहृद या द्वेषियों को ही मिलता है.

(४)[क-ख-ग]नैम्बार्क भाष्यमें यहां रामानुजीय भाष्यका ही अनुसरण करते हुवे विशेष कुछ भी कहा नहीं गया है.

(५)श्रीमध्वाचार्यके अनुसार "तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" तेरहवें सूत्रसे ले कर "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पत्स्यते" उन्नीसवें सूत्र तक एक ही अधिकरण बनता है. तदनुसार तेरहवें सूत्रसे ले कर सोलहवें सूत्रोंका तात्पर्य तो हम देख चुके अब [क]इस सूत्रमें मुक्तिकी अनुभूतिमें जो कारणभूत हों ऐसे पुण्योंके अलावा अन्य भी सारे पुण्य, वे चाहे अनारब्ध हों या फलार्थ अनभीष्ट हों, ऐसोंका क्षय हो जाता है. श्रीमध्वाचार्य कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानीके जब अनभीष्ट और अनारब्ध पुण्य भी नष्ट हो जाते हों तो पाप क्यों नष्ट नहीं हो पायेंगे! "सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" वचनके आधारपर यह सिद्ध होता है. [ख]इस सूत्रमें यह दिखलाना अभीष्ट है कि ब्रह्मदर्शीके अल्प भी पुण्य महान् और अनन्त बन जाते हैं. अज्ञानी या ब्रह्मद्वेषीके महान् भी पुण्य निष्फल हो जाते हैं. [ग]इस सूत्रमें यह विवक्षित है कि आरब्ध पुण्य-पापोंका भोगद्वारा क्षय होनेपर ब्रह्मदर्शी तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है. इसी तरह ब्रह्मद्वेषी घोर तमको प्राप्त कर लेता है. यहां ब्रह्मादि लोकोंमें क्रममुक्ति और उनकी अवधि भी श्रीमध्वाचार्यने दिखलायी है.

(६)[क]श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके अनुसार जो अग्निहोत्रादि साधुकर्म

शिवत्वप्राप्तिके उद्देश्यवश अनुष्ठित होते हैं, उनसे तो शिवत्वप्रापिका विद्याका उपकार ही होता है. शैवविद्याप्राप्तिसे पूर्व, किन्तु, अनेकानेक पूर्वजन्मोंमें जो अग्निहोत्रादि साधुकर्म अनुष्ठित होते हैं उनका फल शिवत्वप्राप्ति तो सम्भव नहीं सो प्रश्न उठता है कि उनके फल मुक्तिमें प्रतिबन्धक हो सकते हैं कि नहीं? इसका उत्तर प्रस्तुत सूत्रमें दिया जाना अभीष्ट है. ऐसे साधुकर्मोंके फल शिवज्ञानीकी शिवत्वप्राप्तिमें प्रतिबन्धक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इनके फल ऐसे मुक्त्यधिकारीके सुहृदोंको मिल जाते हैं. [ख]जो दहर-शाण्डिल्यादि विद्याके साथ अनुष्ठित सत्कर्म होते हैं, वे ही इस जन्ममें ब्रह्मज्ञानके साधन बनते हैं. दहरादि उपासनारहित परमेश्वरार्पित साधुकर्म भी ब्रह्मज्ञानके केवल साधन बन पाते हैं परन्तु कालविलम्बके साथ. [ग]दहरादि विद्याओंके उपासक विद्वान् भक्तोंके पुण्यापुण्यरूप प्रारब्धकर्मोंका क्षय सुखदुःखात्मक फलोंके भोगसे ही हो जाता है. आगामी पुण्य-पाप तो विद्याकी महिमासे उत्पन्न ही नहीं हो पाते. सो यथेष्ट चतुर्विध मुक्ति उन्हें मिल जाती है. मन्दप्रज्ञ होनेसे जो विद्याके द्वारा अपने कर्मको वीर्यवत्तर नहीं बना पाते परन्तु अपने सत्कर्मोंको परमेश्वरको अर्पित करते हैं, उन्हें कुछ जन्मोंके बाद मुक्ति मिल जाती है.

(७)श्रीविज्ञान भिक्षु [क]इस सूत्रके भाष्यमें कहते हैं कि यहां सूत्रकार मतान्तरसे अपने मतका संवाद दिखला रहे हैं. केवलविद्याके अपेक्षा कर्मसमुच्चिता विद्या भिन्न ही होती है और वही मोक्षका साधन होती है. [ख]कहीं ज्ञानको कर्मका अङ्ग—"यदेव विद्यया करोति" वचनोंमें तो अन्यत्र "तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" जैसे वचनोंमें कर्मको ज्ञानका अङ्ग कहा जाता है. अतः अव्यवस्थाके निराकरणार्थ कर्म-ज्ञानसमुच्चय अर्थात् परस्पर सहकारी होनेका सिद्धान्त ही स्वीकार लेना चाहिये. सूत्रकार यहां भूमिकाभेदसे स्वमत तथा इस परमत के बीच गम्भीर कोई मतभेद नहीं देखते हैं. [ग]इस अन्तिम सूत्रमें यह कथनीय है कि अनारब्धकार्य पुण्य-पापोंका विद्यासे नाश होता है. आरब्धफलक पुण्य-पापोंका तो भोगसे ही नाश होता है. सो जैसे एक नदी समुद्रमें मिलनेपर समुद्र ही बन जाती है, वैसे मुमुक्षु ब्रह्मभावसे सम्पन्न हो जाते है.

इन विभिन्न भाष्योंमें से सर्वप्रथम (१)शांकरभाष्यमें यह जो कहा गया कि "आरब्धकर्मके निमित्तवशात् उपभोगशेषक्षपणार्थ ब्रह्मज्ञानीका देह जैसे स्वपातावधि टिका रहता है वैसे साध्वसाधु कर्म टिक नहीं सकते" यह वाल्लभवेदान्तमें मान्य नहीं. क्योंकि भूतलपर रहते देहकी कर्मरहित स्थिति "नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृद्" (भ.गी.३।५) वचनके अनुसार शक्य नहीं होती. अतः कर्मानुवृत्ति अनिवार्य लगती है. फलकामनारहित कर्मकर्ताके भगवदिच्छारूप शास्त्राज्ञाके केवलपरिपालनार्थ ईश्वरार्पणबुद्ध्या अनुष्ठित कर्म, या लोकसंग्रहार्थ अनुष्ठित कर्म, या लोकमें बुद्धिभेदाजननार्थ अनुष्ठित कर्म, या ब्रह्मापरोक्षज्ञानसे सम्पन्न अधिकारीद्वारा अनुष्ठित कर्म अथवा उत्कटभगवद्भावसे सम्पन्न होनेपर भी भगवदिच्छाबोधवशात् अनुष्ठित कर्म कभी भी अनिष्टफलजनक नहीं हो पाते. ब्रह्मज्ञानसे स्वहेतु स्वस्वरूप और स्वप्रयोजन यों तीनोंके बाधित हो जानेसे कर्ता-करण-क्रिया-तत्फलोंके द्वैतसे घटित कर्म तो रह नहीं पाते; परन्तु, ऐसा कर्मजन्य देह केवल स्वहेतु तथा स्वप्रयोजन की अपेक्षासे बाधित होनेपर भी स्वस्वरूपेण बाधित नहीं होता! यह मानना न केवल "अर्धजरतीय" न्यायवश अनुपपन्न लगता है प्रत्युत ब्रह्मज्ञानैकबाध्यतारूप देहके मिथ्यात्व या व्यावहारिकसत्य होनेके सिद्धान्तकी प्रामाणिकतापर भी प्रश्नचिह्न लगा देता है. (२)श्रीभास्कराचार्यकृत भाष्यमें विवेच्य कुछ भी नहीं लगता है (३-४)श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यमें ब्रह्मज्ञानके बाद भी प्रकृत जन्ममें ही प्रारब्धभोगशेषका उपभोग हो जायेगा ऐसी नियति स्वीकारी नहीं गयी है. औरभी कुछ दो-तीन जन्मोंवाले देहोंमें वह शेषोपभोग शक्य माना है. यह गीतोक्त "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" (भ.गी.७।१९) वचनके उभयविध अन्वय: "ज्ञानवान्(उद्देश्य) बहूनां जन्मनाम् अन्ते मां प्रपद्यते(विधेय)" अथवा "बहूनां जन्मनाम् अन्ते(उद्देश्य) ज्ञानवान् (सन्) मां प्रपद्यते(विधेय)". इनमें से प्रथम अन्वयानुसारी व्याख्यान प्रतीत होता है. (४)नैम्बार्क भाष्य तो रामानुजभाष्यानुसारी ही होनेसे विशेष यहां उल्लेखनीय कुछ भी नहीं. (५)माध्वभाष्यका यह प्रतिपादन कि ब्रह्मज्ञानीके अनारब्ध और अनभीष्ट सदसत् कर्मफल सुहृदसुहृदोंको मिल जाते हैं, यह कर्मनियतिके सिद्धान्तको एक जड़नियमके रूपमें स्वीकारनेकी अनीश्वरवादियोंकी जैसी मनोवृत्ति, जो वेदादिशास्त्रप्रामाण्यवादियोंमें भी बहुधा दिखलायी देती हैं, उसमें एक बड़ी दरार है! अनीश्वर जीव कर्मनियमोंका उल्लंघन

नहीं कर सकता केवल इसलिये स्वयं ईश्वरको भी स्वेच्छानियत कर्मनियमके आधीन तो माना नहीं जा सकता. (६)श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके भाष्यमें, कर्मोको ईश्वरार्पित करनेवाला निष्काम साधक भी औपनिषद विद्याओंसे रहित होनेपर सद्योमुक्ति नहीं पा सकता, ऐसा सिद्धान्त "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" (कठोप.१।२।२३) श्रुत्युक्त भगवदनुग्रहकी महत्ताका विचार किये बिना निर्धारित धारणा है. ब्रह्मका औपनिषद प्रमेय होना एक कथा है और औपनिषद विद्याओंके बिना ब्रह्मका मुक्तिदायक भी न हो पाना दूसरी कथा बन जाती है. अतएव पुरुषसूक्तगत "तम् एवं विद्वान् अमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते"(पु.सू.१४) तथा श्वेताश्वतरोपनिषद्गत "तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता.उप.६।१५) ऐसे वचनोंमें से प्रथममें रेखांकित 'एवं'पदनिर्दिष्ट पूर्ववर्णित प्रकारके अनुसार ब्रह्मको जाननेकी आवश्यकतापर भार दिया गया है. इसी तरह द्वितीय वचनमें रेखांकित 'एव'कारनिर्दिष्ट मुक्तिप्रद ज्ञानके विषयतया ब्रह्मकी आवश्यकतापर भार दिया गया है. एतावता "औपनिषद विद्याओंके अलावा मुक्तिप्रदायक कोई उपाय हो ही नहीं सकते" ऐसा कैसे कहा जा सकता है? "ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति मिलती है" विधानका अर्थ ऐसा नहीं निकाला जा सकता कि "ब्रह्मज्ञानसे ही मुक्ति मिलती है". (७)श्रीविज्ञानभाष्यमें श्रुतियोंमें परस्परांगतया निरूपित होनेसे कर्मरहितज्ञान या ज्ञानरहितकर्म की मोक्षासाधकता दिखलाते हुवे कर्मज्ञानसमुच्चयपर भार दिया गया. वाल्लभ दृष्टिकोण इस विषयमें हम देख ही चुके हैं कि उभयसमुच्चय एक अन्यतम उपायतया स्वीकार्य होनेपर भी एकमेव उपायतया मान्य नहीं. इसी तरह जीवन्मुक्तिमें ब्रह्मभावापत्ति हो सकती या नहीं? इस विषयमें वाल्लभवेदान्ताभिमत व्यवस्था यों स्वीकारी गयी है कि ज्ञेयविषयतया ब्रह्मज्ञानीका देह देश-काल-वस्तुओंके परिच्छेदसे रहित सच्चिदानन्दरूप-ब्रह्मभावसे सम्पन्न हो पाता हो या नहीं; परन्तु, एक बार भी ऐसे ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूति होनेके साथ ही ब्रह्मज्ञानीकी अनुभूतिमें देश-काल-वस्तु-परिच्छेदरहित सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मात्मकताकी स्फूर्ति सर्वत्र सिद्ध हो जाती है. अतएव महाप्रभु कहते हैं "ब्रह्मके अखण्डाद्वैतका भान होनेपर सभी कुछ ब्रह्मतया प्रतीत होने लगता है, उस ज्ञानके विषयीभूत ब्रह्ममें किसी भी विकल्पका ब्रह्मेतरतया भान होना बन्द हो जाता है. एतावता ऐसे नहीं

समझ लेना चाहिये कि जो नाम रूप एवं कर्मों के विकल्प ब्रह्मने अपने सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प के द्वारा प्रकट किये हैं उनका नाश तिरोधान या बाध हो जाता है. क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे विकल्पबुद्धिका बाध होता है, स्वरूपतः वस्तुओंका नहीं" (द्र.: त.दी.नि.१।९१). अतएव अणुसे अणुतर और विभुसे विभुतर ऐसे विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्मका ज्ञान या भगवद्भाव जिस जीवात्माके भीतर प्रकट हो जाता है उसके भीतर तिरोहित ब्रह्मानन्द प्रकट हो जाता है. ऐसे ब्रह्मानन्दको अपने भीतर अनुभव करनेवालेको अपने भीतर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी तथा साथ ही साथ अपनी परिच्छिन्नताकी भी अनुभूति होने लग जाती है (द्र.: त.दी.नि.१।५४). अतएव ब्रह्मवादमें 'आविर्भाव' पदके दो अर्थ स्वीकारे गये हैं: १."विद्यमान वस्तुका अनुभवयोग्य होना" और २."विद्यमान वस्तुका स्वकार्यकारी हो जाना". इसी तरह 'तिरोभाव' पदके भी दो अर्थ स्वीकारे गये हैं: १."विद्यमान वस्तुका अनुभवयोग्य न होना" और २."विद्यमान वस्तुका स्वकार्यकारी न होना". स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञान होनेपर वस्तुमात्रकी अप्रकट ब्रह्मात्मकता प्रकट हो जाती है अर्थात् जागतिक नामरूपकर्मोंकी ब्रह्मात्मकता, जो वास्तविक होनेपर भी अनुभवयोग्य नहीं थी, वह स्वयं ब्रह्मके अपरोक्षतया अनुभूत होनेपर अनुभूतिगोचर हो जाती है. फिरभी ब्रह्मकी सृष्टिलीलाके संकल्पवश जो जागतिक वस्तु ब्रह्मात्मक होनेपर भी ब्रह्मका कार्य करने समर्थ नहीं होती वह असामर्थ्य तो किसी जीवात्माके ब्रह्मज्ञानीमात्र बन जानेसे निरस्त नहीं हो पाती. अतएव जागतिक वस्तु ब्रह्मतया अर्थक्रियासमर्थ नहीं हो पाती. इस विवेचनाके बाद अब वाल्लभभाष्यके अवगाहनार्थ प्रस्तुत हुवा जा सकता है.

(८)वाल्लभ भाष्यके अनुसार पूर्वसूत्रचतुष्टयीमें, मर्यादामार्गीय भक्तोंको मर्यादाके अनुसार ही मुक्तिमें प्रतिबन्ध और उनका निराकरण भी होता है, यह दिखला कर अब *प्रस्तुत सूत्रमें "पुष्टिमार्गीयोंके प्रारब्धकर्मोंका भोगके बाद ही या उसके बिना भी नाश हो सकता है या नहीं?" इस मुद्देको जिज्ञास्य माना गया है. भाष्यकार कहते हैं कि अपने कृपाभाजनोंके तो प्रारब्ध या अप्रारब्ध दोनों ही प्रकारके कर्मोंको भगवान् भोगके बिना भी नाश कर देते हैं और ऐसी लीलाओंके वर्णन भी उपलब्ध होते ही हैं. "प्रारब्धकर्मोंका भोगके बिना नाश नहीं हो पाता" ऐसा विधान

केवल ब्रह्मज्ञानीके सन्दर्भमें कही गयी बात है. इसके विपरीत जिस श्रुतिमें "उसके सुहृद् उसके साधुकर्मोंके तथा उसके साथ द्वेष करनेवाले उसके असाधुकर्मोंके भागी बन जाते हैं" ऐसा निरूपण मिलता है वह ज्ञानियोंके सन्दर्भमें कही गयी बात नहीं है प्रत्युत भगवत्कृपाभाजनोंके सन्दर्भमें कही गयी बात है. क्योंकि "ब्रह्मज्ञानके कारण पूर्व-उत्तर अघोंका नाश हो जाता है" कहनेमात्रसे "प्रारब्धकर्मोंका नहीं होता" ऐसा अर्थ तो निकल ही जाता है. इस वचनको, अतएव, साधु या असाधु काम्यकर्मोंके बारेमें दिया गया विधान भी माना नहीं जा सकता है. क्योंकि मुमुक्षु अधिकारीका असाधुकर्ममें प्रवृत्त होना उपपन्न होनेवाली बात नहीं है. अतः अपनी कर्ममर्यादाको तोड़े बिना भगवान् अपने कृपाभाजनोंके पुण्यापुण्यरूप प्रारब्धकर्म उस कृपाभाजनके साथ सौहृदभाव या द्वेषभाव रखनेवालोंपर प्रसन्न या अप्रसन्न हो कर अपनी फलदान या दण्डदान की सामर्थ्यद्वारा प्रतिसंक्रमित कर देते हैं. [ख]अपने विशेष कृपाभाजनोंकी तरह सामान्य ब्रह्मज्ञानीके भी प्रारब्धकर्म सुहृदों या द्वेषियों में प्रतिसंक्रमित होते माने नहीं जा सकते हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी तो प्रारब्धकर्मोंके क्षयार्थ ही कर्मानुष्ठान करता है, कामनापूर्त्यर्थ नहीं. सो स्वानुष्ठितकर्मोंसे ही सवासना सकलकर्मोंका क्षय हो ही जाता है. जीवनिष्ठ विद्या भगवज्ज्ञानशक्तिका धर्मरूप अंश होती है. उससे जुड़नेवाले ब्रह्मज्ञानीके पूर्व-उत्तर अघोंका नाश जब सम्भव है तो स्वयं धर्मी भगवान्के साथ जुड़नेवाले भगवत्कृपाजनोंके लिये असम्भव क्या हो सकता है! [ग]फलप्राप्तिमें प्रतिबन्धोंके दूर होनेकी प्रक्रियाके निरूपणके बाद इस सूत्रमें अब यह प्रतिपादनीय है कि ऐसे कृपाभाजन अपने स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरोंके छूट जानेके बाद भगवल्लीलोपयोगी दिव्य देह प्राप्त करके दिव्य फलोंका उपभोग करने लग जाते हैं—"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" वचनमें निरूपित हुवा है.

<u>फलप्रकरणगत लीलोपदेश</u>: भागवतार्थनिबन्धगत फलप्रकरणके सातवें अध्यायार्थकी विवेचना करते हुवे महाप्रभुने पुष्टिमार्गीय दृष्टिकोणसे एक नितान्त महत्त्वपूर्ण बात यह हमें समझायी है कि भगवान्के परोक्षमें भगवद्गुणगान तथा भगवान्के प्रत्यक्ष होनेपर भगवत्सेवन का एक मधुरचक्र सहजस्नेहवश किसी जीवमें स्वतः चलता रहता हो तो ऐसे जीवको सर्वथा निरुद्ध

अर्थात् प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्त हो गया जान लेना चाहिये. व्रजके गोपजनों तथा गोपीजनों के चित्तकी भगवान् श्रीकृष्णमें ऐसी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्ति इतनी प्ररूढ़ हो गयी थी कि और कुछ उन्हें सूझता ही नहीं था. यही श्रीमद्भागवतगत युगलगीतका प्रमुख प्रतिपाद्यविषय है. अतएव इस अध्यायकी सुबोधिनीके प्रारम्भमें ही महाप्रभु कहते हैं कि गोपिकाओंकी न केवल बाह्येन्द्रियोंको अपितु आभ्यन्तरको भी भगवान्ने अपने आनन्दसे इतना परिपूर्ण बना दिया था कि उन्हें पूर्णानन्दकी प्राप्ति हो गयी थी. बाह्यानुभूतिगोचर भगवान्की आभ्यन्तरमें प्रतिष्ठा, भगवत्स्वरूपके बाह्यतिरोधानपूर्वक आन्तरप्रवेशद्वारा, सम्पन्न हुयी, यह गोपीगीत (भाग.१०।२८।१-१९) में निरूपित हुवा. ऐसे ही आभ्यन्तरमें प्रतिष्ठित भगवान्की पुनः बहिर्लीलानुभूति युगलगीतमें निरूपणीय है. तदनुसार रात्रिक्रीड़ाके बाद दिनमें गोपिकायें संसारासक्तोंकी तरह जीवनयापन नहीं करती थी परन्तु भगवत्सेवन या भगवद्गुणगान के मधुर चक्रोंके रसात्मक आवर्तनमें ही जीती थी. उपलक्षणविधया इसी तरह गोपजन भी रात्रिमें गुणगान तथा दिवसमें भगवत्सेवा में परायण हो कर अपना जीवनयापन करते थे. यों गोप-गापिकाओंकी भक्तिमार्गीय जीवन्मुक्तिका ही यह निरूपण है. अर्थात् इनकी आत्मरतिमें विषयरतिका व्यवधान उच्छिन्न ही हो गया था!

इसके बाद क्रमशः इन व्रजभक्तोंकी जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें तामसभाव राजसभाव सात्त्विकभाव और निर्गुणभाव का अनुसरण करनेवाली प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्ति ही इनकी भक्तिमार्गीय विदेहमुक्ति और ब्रह्मभावापत्ति अर्थात् दिव्यलोकोंमें भगवान्की दिव्यलीलाओंमें उपयोगी देहप्राप्तिमें भी अनुवृत्त रही. ऐसी प्रक्रियाके निरूपणार्थ पूर्वोदाहृत—"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" श्रुतिनिरूपित भक्तिके नित्यनैरन्तर्यका प्रतिपादन अवशिष्ट दशमाध्यायों एकादशस्कन्ध तथा द्वादशस्कन्धोंका वर्ण्यविषय है.

<u>आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको कर्तव्योपदेश</u> : भगवत्सेवा-भगवत्कथात्मिका भक्ति करनेवाले आधुनिक पुष्टिमार्गियोंको इस भूतलके ऊपर होनेवाली फलानुभूतियोंका निरूपण महाप्रभुने—सर्वप्रथम यमुनाष्टकमें तनुनवत्वसिद्धिके रूपमें किया. सिद्धान्तमुक्तावलीमें संसारदुःखनिवृत्तिके सहित ब्रह्मबोधपूर्विका

मानसी सेवाके रूपमें. पुष्टिप्रवाहमर्यादामें इस भूतलपर भगवत्सेवा और भगवत्कथा दोनों अथवा सेवा या कथा में से किसी एकके भी निभ पानेपर भगवद्भक्तको होती भगवत्स्वरूपानुभूति अथवा भगवद्गुणानुभूति ही पुष्टिमार्गीय फल होता है, यह कहा गया है. सिद्धान्तरहस्यमें सामिभुक्तके समर्पण अथवा असमर्पितके उपभोगकी असावधानीसे रहित सर्वसमर्पणरूपा भगवत्सेवाके भलीभांति निभ पानेपर सर्वत्र सर्ववस्तुओंमें तिरोहिततया अवस्थित ब्रह्मात्मकताका प्रादुर्भाव हो जाता है, यह दिखलाया गया है. नवरत्नमें — लौकिक तथा वैदिक कर्तव्योंको तो भक्त स्वस्थताके साथ निभा नहीं पाता परन्तु भगवदाज्ञा या गुर्वाज्ञा में से जिसके भी अनुसार चित्तकी भगवत्सेवापरता निभे उसे निभाते हुवे सुखसे जीवनयापन करना चाहिये. अतएव जीवनके दरमियान आनेवाली ऐसी सभी अस्वस्थताको साक्षिभावके साथ निभाते हुवे तथा चित्तमें होते सभी उद्वेगोंको भी भगवल्लीलाके रूपमें निहार पानेवाला जीवन्मुक्त ही होता है, यह दिखलाया गया है. अतएव अन्तःकरणप्रबोधमें जीवन्मुक्तिका यही स्वरूप इस तरह दिखलाया गया है कि इहलोकमें अपने अलौकिक कर्तव्योंको निभानेसे भी बढ़ कर भगवदाज्ञाका अनुसरण ही उत्कृष्ट होता है. विवेकधैर्याश्रयमें चतुर्विध विवेक, चतुर्विध धैर्य तथा चतुर्विध आश्रय को निभाना जीवन्मुक्तिके रूपमें बिरदाया गया है. कृष्णाश्रयमें इतरसर्वमें आश्रयभावसे रहित हो कर केवल श्रीकृष्णका अनन्याश्रय निभानेवाला जीवन्मुक्त होता है यह दिखलाया गया है. चतुश्लोकीमें श्रीकृष्णके सर्वात्मना स्मरण तथा भजन को निरन्तर आजीवन निभा पानेवाला जीवन्मुक्त ही होता है कह कर स्पष्ट किया गया है. भक्तिवर्धिनीमें इसे भगवद्व्यसनोत्तरभाविनी कृतार्थताके रूपमें निरूपित किया गया है. संन्यासनिर्णयमें इसे भगवद्विरहानुभूतिजन्य विकलतावश निरन्तर भगवद्-गुणैकनिष्ठामें जीवनयापनके रूपमें वर्णित किया गया है. निरोधलक्षणमें भगवत्सेवाके अनवसरमें व्रजभक्तोंके से दुःखकी तथा भगवत्सेवाके अवसरमें उनके से सुखकी तरह दुःखी तथा सुखी हो पानेके रूपमें मान्य किया गया है. अन्तमें सेवाफलमें भी अलौकिकसामर्थ्य अर्थात् भगवत्सेवा और भगवत्कथा में भगवत्सानुभावका आनन्द ले पानेवाला जीवन्मुक्त अर्थात् निर्दोष भगवदानन्दके भोक्ताके रूपमें स्वीकारा गया है. अन्तर्गृहगता गोपीजनोंकी तरह भगवत्स्वरूपमें सायुज्य पा लेनेवाले अथवा सर्वात्मभाववाले अन्यान्य व्रजभक्तोंकी तरह दिव्यलोकोंमें भगवानकी नित्यलीलामें

नित्यभजनोपयोगी देह पा लेनेवाले भागवतके एकादशस्कन्ध या द्वादशस्कन्ध में प्रतिपाद्य मुक्तिलीला या आश्रयभावापत्ति लीला के विषय बनते हैं. यह भी वहीं सेवाफलमें "सेवा करनेवालेकी फलानुभूतिके तीन प्रकार होते हैं: अलौकिकसामर्थ्य सायुज्य अथवा वैकुण्ठादि दिव्यलोकोंमें भगवत्सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति. सायुज्य हो या सेवोपयोगी देह हो कालनियत फल नहीं होते परन्तु भगवदिच्छानियत हो कर ही हमें फलतया मिलते हैं." ऐसे निरूपणद्वारा समझाया गया है. ग्रन्थोपसंहारमें महाप्रभु हमें आश्वस्त करते हैं कि "इयं सदा अवश्या भाव्या अन्यत् सर्वम् मनोभ्रमः. तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्!".

:: तामसफलप्रकरणके सात अध्यायोंमें वर्णित भगवान्के छह गुणधर्मों और सातवें स्वयं धर्मिरूप भगवत्स्वरूप की मीमांसा ::

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीरणा॥

अपने आद्यतम ग्रन्थ तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण दिया है कि वेदान्तमें जिस परम तत्त्वको ब्रह्मत्वेन परिभाषित किया गया है, भगवद्गीतामें परमात्मत्वेन तथा भागवतमें भगवत्त्वेन, उसी परिभाषाशैलीका अनुसरण करते हुवे प्रस्तुत निबन्धके भी प्रथम शास्त्रार्थ द्वितीय सर्वनिर्णय एवं तृतीय भागवतार्थ रूपी तीन प्रकरणोंमें उस परम तत्त्वके ब्रह्म परमात्मा और भगवान् होनेके पक्षोंकी विवेचना उन्हें अभिप्रेत है. तदनुसार श्रीमद्भागवत षड्गुणयुक्त भगवान्की लीलाओंके निरूपणसे अनुप्रेरित भक्तिरसप्रतिपादक एक विलक्षण भगवच्छास्त्र है. अतः यहां वर्णित प्रत्येक लीलामें मूलतः मीमांस्य ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य रूप भगवान्के छह गुणधर्म और सातवां स्वयं भगवान्का धर्मिरूप ही होता है. स्वयं भगवान्, उनके गुणधर्म; और लीलाओं से अतिरिक्त जो व्यक्तिवर्णना या उपकथा भागवतमें मिलती हैं, उनका भी परमाशय भगवत्स्वरूप भगवल्लीला या भगवद्गुणों के निरूपणमें ही है. अतः भगवदितर किसी भी व्यक्ति या चरित्र को प्रमुखतया यहां वर्णनीय माना नहीं जा सकता. तत्तद्व्यक्तिसापेक्ष या तत्तत्कथासापेक्ष अनुयोगीभूत भगवत्स्वरूप भगवच्चरित्र अथवा भगवद्गुणों

के प्रतियोगितया अपेक्षित होनेके कारण ही उनकी कुछ वर्णनोपयोगिता होनेसे उनकी कथा भी कही गयी है.

तदनुसार फलप्रकरणगत सात अध्यायोंमें निरूपित भगवद्गुणोंकी मीमांसाके लिये अब क्रमशः प्रवृत्त होना चाहिये.

साधनप्रकरणोक्त साधनोंके कारण भक्तिका विकास व्यसनदशामें हो जानेसे छह गुणोंवाले भगवान्की फलरूपतया अनुभूति जिस तरह व्रजभक्तोंको हुयी उसका वर्णन इन सात अध्यायोंमें किया जाता होनेसे इन्हें 'फलप्रकरण' कहा जाता है.

ये सात अध्याय ऐश्वर्यादि छह गुणधर्म और सातवें धर्मिस्वरूप स्वयं भगवान् मेंसे एक-एकको प्रधान वर्ण्यविषय मान कर भगवान्की फलात्मिका लीलाओंका निरूपण करते हैं.

भगवान्का प्राकट्य लोकमें रूप और नाम के द्वैविध्यसे होता होनेसे भक्तोंके साथ रमणमें भी ऐसा द्वैविध्य वर्णित हुवा है. आत्मा अन्तःकरण इन्द्रिय प्राण और शरीर के पञ्चविध भेदोंके कारण रूपरमण भी पांच अध्यायोंमें पञ्चधा वर्णित हुवा है. प्रवृत्ति और निवृत्ति के शब्दद्वैविध्यवश नामरमणका निरूपण दो अध्यायोंद्वारा द्विधा किया गया है.

[१]एतदन्तर्गत प्रथम अध्यायमें भगवान्के ऐश्वर्यगुणका निरूपण करना अभीष्ट है. 'ऐश्वर्य' पदका अर्थ होता है : ''कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य''. अव्यक्त वेणुनादद्वारा भी अपने भक्तोंको अपने निकट बुलानेकी लीला भगवान्के 'कर्तुं-सामर्थ्य' रूप ऐश्वर्यको दिखलाती है. वृन्दावनसे लौट कर पुनः व्रज जानेकी आज्ञा व्यक्तवाणीद्वारा मिलनेपर भी व्रजगोपिकाओंका लौट कर न जाना भगवान्के 'अकर्तुं-सामर्थ्य' रूप ऐश्वर्यका द्योतन है. इस तरह अपने द्विविध सामर्थ्यद्वारा समाहूत गोपिकाओंके बीचमें भगवान्का तिरोहित भी हो पाना भगवान्की 'अन्यथाकर्तु-सामर्थ्य' रूप ऐश्वर्यका निरूपण

हुवा है.

[२]भगवानूको अभीष्ट रासलीलामें अपनी घनिष्ठ अपेक्षाके बोधके कारण पनपे गर्वरूप दोषके कारण गोपिकाओंकी बाह्यानुभूतिमें भगवानूके तिरोहित होनेपर भी, अर्थात् कायिकरमणके अभावमें भी उन गोपिकाओंमें अन्तःप्रविष्ट भगवानूद्वारा वाचिक और मानसिक रमण भगवानूके प्रकृतलीलोपयोगी असाधारण वीर्यरूप गुणधर्मका द्योतन सत्ताईसवें अध्यायमें किया जाना अभिप्रेत है.

[३]भगवानूके तिरोहित हो जानेपर गोपिकाओंद्वारा गाया गया गीत, अर्थात् गोपीगीत भगवानूके यशका ही गान होनेसे इस अठ्ठाईसवें अध्यायमें भगवानूके यशोरूप गुणधर्मका निरूपण हुवा है.

[४]गोपीगीतमें भगवद्गुणगानकी प्रक्रियाद्वारा गोपिकाओंके गर्वरूप दोषका प्रक्षालन हो जानेपर श्लाघ्यतम दिव्यतम एवं मधुरतम स्वरूपश्रीके साथ भगवानूका पुनः गोपिकाओंके बीच प्रकट हो जाना भगवानूके श्रीरूप गुणधर्मको इंगित करता है. सो उनत्तीसवां अध्याय भगवानूके श्रीरूप गुणधर्मके निरूपणार्थ है.

[५]भक्तोंमें प्रकट होनेवाला भगवज्ज्ञानरूप गुणधर्म भगवत्स्वरूप भगवद्गुण एवं भगवल्लीला के स्वतःसिद्ध ज्ञानके रूपमें ही प्रकृतलीलोपयोगी हो सकता है. परमज्ञेयरूप भगवान् स्वयं ज्ञानरूप भी न हों तो भगवानूका स्वरूप स्वयंप्रकाश है ऐसा सिद्ध नहीं हो पाता. अतः ज्ञेयतया भक्तके समक्ष भगवान् जैसे अपना लीलाविहार प्रकट करते हैं वैसे ही भक्तके भीतर ज्ञानतया भी अपने लीलाविहारको प्रकट करने भगवान् समर्थ होते हैं. अन्तिम वैराग्यरूप गुणधर्म भक्तोंमें तो भगवदितर विषयोंमें वैराग्यके रूपमें तथा भगवानूमें भक्तेतरोंमें वैराग्यरूप होना चाहिये. सो ये दोनों ही गुणधर्म धर्मिरूपेण प्रकट हो जानेवाले भगवानूकी संनिधि या संयोग में उनकी स्वरूपश्रीके साथ लीलासौष्ठव प्रकट न करते होनेसे इनका

आगामी अध्यायों कि जहां अप्रधान संनिधि अथवा असंनिधि या संयोगान्तरायरूप वियोग का वर्णन किया जाना है वहीं होगा. यहां तो प्रकट धर्मीरूप भगवान्की भक्तजनोंके साथ की गयी रासक्रीड़ा ही निरूपित की गयी है. अतः इस मध्यपाती तीसवें अध्यायमें क्रमोपात्त ज्ञान या वैराग्य गुणधर्मोको प्रधानतया वर्ण्यविषय बनानेके बजाय स्वयं धर्मिरूपेण की गयी लीलाका ही निरूपण किया गया है.

[६]फलतया अनुभूत होते भगवत्स्वरूपमें अपने चित्तको प्रवण रखनेके बजाय कौतुकवश भी अन्यान्य कर्मोमें परायण होना भक्तोंके लिये भगवदितरमें वैराग्यवृत्ति और भगवद्रतिकी फलानुभूतिमें विघ्नकारी बन जाता है. अतः ऐसे कर्मोमें अपना औदासीन्यरूप वैराग्य गुण भगवान् प्रकट करते हैं. ऐसे कर्मोके अनुष्ठानमें बहक जानेवाले भक्तोंकी फलानुभूतिमें तन्मयताकी क्षतिको दूर कर पुनः फलानुभूतिमें ही उन्हें तत्पर बनाये रखनेमें भगवान्के भक्तैकरतिरूप वैराग्य गुणधर्मकी कथा इकत्तीसवें अध्यायमें कही गयी है.

[७]संयोगान्तरायरूप वियोगमें भक्तोंके बाह्येन्द्रियोंसे ज्ञेय न बननेपर भी लीलाविशिष्ट भगवान् भक्तोंके भीतर ज्ञानतया निरन्तर समाहित रहते होनेसे भगवान्के ज्ञानरूप गुणधर्मका चमत्कारी अनुभव बत्तीसवें अध्यायमें अर्थात् युगलगीतका प्रमुख प्रतिपाद्यविषय बना है.

इस तरह रासलीलाकी औपनिषदिक मीमांसाको भलीभांति बुद्धिगत करनेपर इस भगवल्लीलाका अवगाहन श्रीकृष्णके परब्रह्म परमात्मा होनेके सुनिश्चित माहात्म्यज्ञानसे हमारी बुद्धिको शुद्ध बना पाता है. इसी तरह इस रासलीलाकी भागवती मीमांसाको भी भलीभांति हृद्गत कर लेनेपर उस परब्रह्म-परमात्माकी आत्मरतिका ही व्याकरण करनेवाली यह रासलीला भगवान् श्रीकृष्णके लिये हमारे हृदयको सुदृढ़-सर्वतोधिक-स्नेहसे परिपूर्ण बना पाती है. यही ''रासलीलैकतात्पर्यः कृपयैतत्कथाप्रदः'' महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके निबन्ध सुबोधिनी तथा प्रकरणग्रन्थों की परस्पर एकवाक्यताके आधारपर परम-चरम तात्पर्यविषयीभूत सारभूत उपदेश है.

तथास्मास्वनुगृह्णीथाः येन त्वच्चरणाब्जयोः।
स्मृतिर्यथा न विरमेद् अपि संसरतामिह॥
कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमोनमः॥
जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विठ्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा॥

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नोऽस्तु

श्रीमहाप्रभूत्सव : ५२१
विक्रमसंवत् : २०५४

गोस्वामी श्याममनोहर
(पार्ला - किशनगढ़)



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ दशमपूर्वार्धतामसफलप्रकरणनिबन्धः ॥

अतः परं सप्तभिर्वै फलं कृष्णो निरूप्यते।
षड्गुणैः सहितः पूर्वम् ऐश्वर्यं त्रिविधं मतम्॥१॥
ध्वनिनाहूय वाक्येन प्रेषयत्येव निश्चितम्॥
फले वाक्यं न कर्तव्यं दोषश्चेद् वारयिष्यति॥२॥
इति तासामगमनं गर्वेऽन्तर्भाव ईर्यते॥
[1]द्रुतमेव हरेर्मार्गः सर्वोत्कृष्टो हि बुध्यताम्॥३॥
सम्बन्धमात्रे सञ्जाते बहिर्वान्तरथापि वा॥
कायेन मनसा वापि वचसा वापि सर्वथा॥४॥
रमयत्येव हि निजान् सर्वथा नैव मुञ्चति॥
अन्तर्धानकथा प्रोक्ता वाक्यं चापि निरूपितम्॥५॥
अध्यायद्वितयेनैव सकृद्भोगं निवारयन्॥
आविर्भावं करोत्येष तथा वाक्यानि तुष्टये॥६॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

अतः परं सार्धसप्तदशभिः फलप्रकरणं विचारयन्ति अतः परम् इत्यादि—

प्रकरणसमाख्याबीजम् आहुः फलम् इत्यादि. तथाच पूर्वोक्त-साधनपञ्चक-करणरूपासक्त्युद्रेकानन्तर-प्राप्य-षड्गुणयुत-पूर्णभगवद्रूप-फल- निरूपणाद् अस्य 'फलप्रकरणा'ख्या इति अर्थः. अत्र ऐश्वर्यादीनां पूर्वोक्तः क्रमो नेति प्रकारोऽपि विलक्षणः इति बोधयितुं प्रथमतः प्रथमाध्यायार्थम् आहुः पूर्वम् इत्यादि॥१॥

त्रैविध्यं स्पष्टयन्ति ध्वनिना इत्यादि. ऐश्वर्यंहि स्वातन्त्र्यम्. तत्र कर्तुम् अकर्तुं च सामर्थ्यम् अर्धेन उक्तं ततः पादोनेन अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यम्. तुरीयपादेन द्रुतमेव इति अग्रिमसहितेन समुदितं तत्त्रयं; क्रमेणैव त्रयं वा.

द्वितीयतृतीययोः अर्थम् आहुः हरेः इत्यादि बुध्यताम् इत्यन्तो अध्यायद्वयार्थः. तत्र हेतुम् आहुः सम्बन्ध... इत्यादिसार्धेन, तथाच इति बोधयितुम् अध्यायद्वयमेव निरूपितम् इति अर्थः.

चतुर्थार्थम् आहुः सकृद् इत्यादि. तुष्टये इति वदति इति शेषः.

---

१. अयमेव इति पाठः प्राचीनपुस्तके दृष्टः, सएव साधुः, तथापि मूले श्रीपुरुषोत्तमानां पाठो रक्षितः.

रमते च रमातोऽपि विशेषेण रतिप्रदः।
परोक्षेऽपि रतिं चक्रे तेन वीर्यमुदीरितम्॥७॥
यशस्तु वचनैः स्पष्टं श्रीश्चाविर्भावतः स्फुटा।
चतुष्टयं निरूप्याग्रे धर्मी कृष्णो निरूपितः॥८॥
भोगे मध्ये महत्सौख्यं तस्मादेवं निरूपितम्।
स्वरूपेण रतिः प्रोक्ता न धर्मे रसरूपतः॥९॥
ततो वैराग्यभावेन फलदाता निरूप्यते।
कौतुकेनापि पूर्वेषां करणं न सुखायहि॥१०॥
अतः कौतुकरीत्यापि गताः सर्वे हरान्तिके।
कालेनाग्रस्तमूर्धानः कृष्णेनैव विमोचिताः॥११॥
अतस्तत्कर्म हरिसात्कृत्वा व्रजमुपाययुः।
तमसि त्रितयं प्रोक्तं हरिस्तत्राधिदैविकः॥१२॥
सतु तूर्ष्णी भवत्यत्र कालस्त्वाध्यात्मिको मतः।
हरभृत्यास्तु भूतानि स्त्रीणां हर्ता ततो निशि॥१३॥
'शंखचूड' इति प्रोक्तस्तं च हत्वा विमोचिताः।
सुदर्शनो यथा जीवस्तथा सत्त्ववरो मणिः॥१४॥
कर्म स्वस्मिन् प्रतिष्ठाप्य रामे रत्नं न्यरूपयत्।
एवं कालादिसम्बन्धात् तामसात् स्वान् न्यवारयत्॥१५॥

योजना

पञ्चमार्थम् आहुः रमते इति अर्धेन. प्रयोजकविभागं स्पष्टयन्ति परोक्षे इत्यादि.

क्रमं भिन्दन्तः पञ्चमार्थम् आहुः चतुष्टयम् इत्यादिसार्धेन. एवम् इति॥२-९॥

क्रमं भित्वा षष्ठार्थम् आहुः सार्धैः षड्भिः ततः इत्यादिभिः. वैराग्येण फलदातृत्वं व्युत्पादयन्ति कौतुकेन इत्यादिसार्धेन. पूर्वेषाम् इति अवैष्णवकर्मणाम्. 'मूर्ध'पदं मुख्यबोधकम्. विमोचनेन सिद्धं फलान्तरम् आहुः अतस्तत्कर्म इति अर्धेन. एतेन कदाचित् दैवगत्या मौर्ख्यादिना कृतम् अन्यदैवतं कर्म "यत्करोषि यदश्नासि" इति आज्ञां हृदि अनुसन्धाय भगवदर्पणं कर्तव्यम् इति उक्तम्.

द्वितीयफलदानस्यापि वैराग्यहेतुकत्वं व्युत्पादयन्ति तमसि इत्यादिद्वाभ्याम्. काल... इति शिवरात्रिरूपः. सत्त्ववरः इति सत्त्ववृत्तिषु श्रेष्ठः. वैराग्यस्वरूपं

पूर्वसिद्धपरित्यागो वैराग्यं कालदोषतः।
ज्ञानं तु गुणगानं हि परोक्षे तत् प्रतिष्ठितम्॥१६॥
प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठम् एवं चेद् रोधनं स्थिरम्॥
पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा॥१७॥
ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत् परिवर्तते॥

॥ इति दशम-पूर्वार्ध-तामस-फलनिबन्धः ॥

योजना

सहेतुकम् आहुः पूर्व... इत्यादि. पूर्वसिद्धपरित्यागः इति भगवत्परत्वपरित्यागः. एतस्य "यावदन्याश्रयस्तावद्" इति न्यायेन भगवदुपेक्षाहेतुत्वाद् वैराग्यत्वम् इति अर्थः.

सप्तमार्थम् आहुः ज्ञानम् इति पादेन.

प्रकरणे यत् सिद्धं तद् आहुः परोक्षे इत्यादि. तामसप्रकरणीयम् उद्धारप्रकारम् आहुः ज्ञानं भक्तिश्च इत्यादि॥१०-१७॥

॥ इति श्रीपुरुषोत्तमानां तामसफलनिबन्धयोजना ॥



॥ गोष्ठीशालरामचन्द्रभट्टात्मज-घनश्यामभट्टकृता सूचिका ॥

अतः परं साधने कृते भक्त्युद्रेकानन्तरं प्राप्यषड्गुणयुत-पूर्णभगवद्रूप-फलनिरूपणाद् अस्य फलप्रकरणत्वम्. अत्रापि सप्तभिः अध्यायैः निरूपणम्. क्रमस्तु ऐश्वर्यादीनां न विवक्षितः, पुष्टिफलत्वात्, क्रमातिक्रमो न दोषाय किन्तु मध्ये भोगे सुखविशेषोऽपि, अत्र रमणरूपं फलं देयमिति. रमणस्य रूपनामविभेदेन द्विरूपत्वाद्—रूपेण रमणे पञ्च अध्यायाः, आत्म-मन-इन्द्रिय-प्राण-शरीरात्मकत्वाद् रूपस्य. नाम्ना रमणे अध्यायद्वयं, शब्दस्य प्रकृतिविकृतिभेदेन द्विरूपत्वात्.

तत्र प्रथमे अध्याये ऐश्वर्यनिरूपणम्. ऐश्वर्यं नाम स्वातन्त्र्यं — कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यम् इति यावत्. तत्र नादद्वारा आह्वानं कृत्वा वाक्यद्वारा गृहगमनाय प्रेरणं कर्तुं सामर्थ्यरूपम् ऐश्वर्यम्. भगवद्वाक्येन गृहगमनं न कृतम्

इत्यपि भगवतो अकर्तुं सामर्थ्यरूपम् ऐश्वर्यम्. तदनन्तरं गर्वे अन्तर्धानम् इति अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यरूपम् ऐश्वर्यम्. एवं प्रथमे त्रिविधम् ऐश्वर्यं स्फुटम्.

द्वितीये 'परोक्षेऽपि रतिं चक्रे'इति वीर्यम्.

तृतीये स्तुतिवचनैः यशः स्फुटमेव.

चतुर्थे प्रादुर्भावनिरूपणेन श्रीः स्पष्टैव.

तदनन्तरं धर्मिनिरूपणं पञ्चमे.

अत्र प्रादुर्भावरूपश्रीनिरूपणानन्तरं रमणस्य आवश्यकत्वाद् वैराग्यज्ञानयोस्तु रमणप्रतिबन्धकत्वात् पूर्वम् अनिरूपणम्. पुष्टिमार्गीयवैराग्यस्य भगवदितरत्यागरूपत्वाद् भगवत्स्वरूपफलप्राप्त्यनन्तरमेव भगवत्युत्तमत्वज्ञानेन भगवदितरत्यागसम्भवात्. पुष्टिमार्गीयज्ञानस्यापि गुणगानरूपत्वात् प्रादुर्भावदशायां तस्य असम्भवाद् विरहदशायामेव सम्भवात् पूर्वम् अनिरूपणम्.

षष्ठे वैराग्यादिनिरूपणं स्पष्टमेव अन्याश्रयनिवृत्तिरूपम्.

ततो ज्ञाननिरूपणं सप्तमे स्पष्टमेव विरहदशायाम्.

एवं सप्तभिः अध्यायैः फलप्रकरणनिरूपणम्.

॥ इति दशमपूर्वार्धतामसफलप्रकरणविभागसूचिका ॥



॥ श्रीगोकुलरायकृत-दशमपूर्वार्धतामसफलप्रकरणाध्यायार्थः ॥

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे ध्वनिना आह्वानं कर्तुं समर्थत्वाद, गमनबोधकवाक्यैः गमनम् अकर्तुं समर्थत्वात्, प्रभुवाक्योल्लङ्घनदोषं गुणं कर्तुं

समर्थत्वाद् गर्वे अन्तर्धानेनापि अन्यथाकर्तुं समर्थत्वाद् ऐश्वर्यनिरूपणं षड्विंशे अध्याये.

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे बाह्याभ्यन्तरभेदेन भगवत्सम्बद्धानां भक्तानां दोषेऽपि भगवता परित्यागाभावस्य सर्वोत्कृष्टस्य भगवन्मार्गस्य ज्ञापनार्थं कायेन रमणाभावे मनसा वाचा वापि रमयेद् इति ज्ञापनार्थं परोक्षेणापि रतिकरणाद् वीर्यनिरूपणं सप्तविंशे अध्याये.

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे वचसा रमणज्ञापकगोपिकावचनैः यशोनिरूपणम् अष्टाविंशे अध्याये.

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सकृद्भोगनिवारणार्थम् आविर्भावकरणाद् भक्तान्तःकरणसन्तोषार्थं वाक्यकथनात् च ततएव मरणरूपापत्तिनिवारणात् श्रीनिरूपणम् ऊनत्रिंशे अध्याये.

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे षड्गुणरूपाभिः स्वामिनीभी रसरूपेण स्वरूपेण रमणाद् धर्मिनिरूपणं त्रिंशे अध्याये.

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे कौतुकेनापि कृतानाम् अवैष्णवकर्मणां दुःखहेतुत्वेन तत्र भगवतः औदासीन्यबोधनात्, तत्रापि भक्तवत्सलेन भगवतैव भोचने भक्तैः तत्कर्मपरित्यागाद्, मर्यादारमणेऽपि शङ्खचूडसम्बन्धकथनेन भगवतः औदासीन्यभावबोधनाद् वैराग्यनिरूपणम् एकत्रिंशे अध्याये.

तामसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे विरहे गुणगानस्य ज्ञानरूपत्वाद् ज्ञाननिरूपणं द्वात्रिंशे अध्याये.

॥ इति श्रीगोकुलरायकृत-दशमपूर्वार्धतामसफलप्रकरणाध्यायार्थः ॥

पञ्चाध्याय्यां निशि क्रीडा सर्पाद् नन्दस्य मोक्षणम्।
शङ्खचूडवधः पश्चाद् गोपीगीतं ....।।१।।

श्रीद्वारिकेशानां टीका

अध्यायपञ्चकम् अनुक्रामन्ति —

पञ्चाध्याय्यां निशाक्रीडा

पञ्चाध्यायाम् इति, पञ्चानाम् अध्यायानां समाहारः पञ्चाध्यायी, तस्यां **निशाक्रीडा** निशायां निशायाः निशायाः निशायै निशया निशां निशा वा क्रीडा. आक्रीडा वा. "'क्रीड्' विहारे" विहारः इति यावत्. हरणं प्रापणं स्तेयं नाशनं स्वीकारः. तत्र प्रथमे प्रापणम्. द्वितीये स्तेयम्. तृतीये नाशनम्. चतुर्थे स्वीकारः. पञ्चमे विहारः. तथाहि प्रथमं भगवानपि व्रजसीमन्तिन्यो मद्दत्तं फलं प्राप्नुवन्तु इति इच्छया वेणुनादं चक्रे. ततः व्रजरमण्यो अन्योन्यम् अलक्षितोद्यमाः भगवन्तम् आजग्मुः प्रापुः. 'या प्रापणे', ययुः अभिययुः. "ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या...,". "चैद्यः सिद्धिं यथा गतः" प्राप्तः. "यान्ति तन्मयतां हि ते...". "तां दृष्ट्वान्तिकमायाताः...". "तद् यात..." प्रतियात. "चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्...". संत्यज्य सर्वविषयांस्तवपादमूलं...प्राप्ताः". "ध्यानेन याम पदयोः पदवीम्...". "लब्ध्वापि वक्षसि पदम्...". "तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेङ्घ्रिमूलम्..." प्राप्ताः. "ताभिः समेताभिः"."एवं भगवतः कृष्णात् लब्धकामाः". "तत्रैवान्तरधीयत" अन्तर्द्धानं प्राप्तः. एवं च "भगवानपि..." इति त्रिभिः भगवत्कृतः स्वप्राप्त्युद्यमः. "निशम्य गीतं तद्..." इति त्रयोदशभिः कुमारिकादीनां भगवत्प्राप्तिः. "तां दृष्ट्वान्तिक..." इति एकादशभिः प्राप्तानां व्रजस्त्रीणां परीक्षार्थं भगवद्वचांसि. "इति विप्रियमाकर्ण्य..." इति त्रिभिः व्रजयोषितां चिन्ताप्राप्तिः. "मैवं विभोर्हति भवान् गदितुम्" इति एकादशभिः भगवत्प्राप्त्युदर्काणि व्रजाबलावचनानि. "इति विक्लवितम्..." इति सप्तभिः भगवतः दया-लीलामानान्तर्द्धानानि. प्राप्तिरात्मनः इति आत्मना प्रथमा लीला षट्चत्वारिंशत् संस्काराः आत्मनः प्रथमस्कन्धीय-द्वादशाध्यायस्थाः "एष ह्यस्मिन्..." इति पद्यसुबोधिन्यां स्फुटः इति ततो अवगन्तव्याः (४८.अष्टचत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति षड्विंशाध्यायसंग्रहः) ।।२६।।

द्वितीये स्तेयं मनसः. स्तेनस्य भावः कर्म वा. चौरो यथा अलक्षितः स्थित्वा अतिगूढं वस्तु चोरयित्वा ततः गच्छति तथा अन्तर्हितः भगवान् व्रजयोषाणाम् अतिगूढं मनः हृत्वा गतः. ततः हृतवस्तुभिः स्तेनस्य विचयनादिकं क्रियते एव. तदुक्तं..."मनोरमालापविलासविभ्रमैः आक्षिप्तचित्ता प्रमादाः...". "...नो मनः. नन्दसुनूर्गतो हृत्वा...". "कृष्णोऽहं पश्यत् गतिं ललितामिति तन्मनाः". "चेरुर्गोप्यो विचेतसः...". "...नय मां यत्र ते मनः...". "तनमनस्काः...". एवं च "अन्तर्हिते भगवति..." इति सपादत्रिभिः तापलीला-भगवद्गुणगानानि उद्देशतः उक्तानि. "विचिक्युरुन्मत्तकवद्..." इति पादोनदशभिः तापस्य लक्षणम्. "इत्युन्मत्तवचोगोप्यः..." इति अर्द्धेन तापस्य फलम्. "लीला भगवतः..." इति सार्द्धनवभिः लीलायाः लक्षणम्. "एवं कृष्णं पृच्छमाना..." इति एकेन लीलायाः फलम्. "पदानि व्यक्तमेतानि..." इति दशभिः भगवतः लक्षणम्. "इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताः..." इति अर्द्धेन भगवत्फलम्. "...यां गोपीमनयत्..." इति सार्द्धनवभिः गुणातीतायाः मानान्तर्द्धानतापाः. गानस्यतु लक्षणं तृतीये. फलं चतुर्थे (एवं ४४. चतुश्चत्वारिंशच्छ्लोकाः इति सप्तविंशध्यायसंग्रहः) ॥२७॥

एषाम् अदर्शने. अष्टाविंशे दर्शनाभावो गोपीनां. तेन वाक्प्राणव्यापाराः."..-दयितदृश्याताम्..." "...सरसिजोदरश्रीमुषादृशा" "जलरुहाननं चारु दर्शय...". ..."घनरजस्वलं दर्शयन्मुहुः". "प्रियप्रेमवीक्षणम्". "त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्". "जडउदीक्षतां पक्ष्मकृददृशाम्". ..."प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणं", "बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते...". वाक्प्राणैस्तु तृतीया स्यात्. गोप्यः ऊचुः "त्वयि धृतासवः". "मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया...". "तव कथामृतम्...". "...रहसि संविदो या हृदि स्पर्शः...". "रहसि संविदं हृच्छयोदम्...". तथा च "जयति..." इत्यादि चतुर्षु पद्येषु राजसी-तामसी-सात्त्विकी-निर्गुणा क्रमेण अनन्यपूर्वाः. "विरचिताभयम्..." इति चतुर्षु गुणातीता-सात्त्विकी-तामसी-राजसी इति क्रमेण अन्यपूर्वाः. "तव कथामृतम्..."इति त्रिभिः सात्त्विकी-तामसी-राजसी इति क्रमेण अनन्यपूर्वाः "दिनपरिक्षये..."इति त्रिभिः तामसी-राजसी-सात्त्विकी इति क्रमेण अनन्यपूर्वाः. "वृजसनौकसाम्..."इति द्वाभ्यां राजसीसात्त्विकी इति क्रमेण अन्यपूर्वे (१९.एवम् एकोनविंशतिश्लोकाः. इति अष्टाविंशध्यायसंग्रहः) ॥२८॥

चतुर्थे स्वीकारो गोपीनाम्. ततः इन्द्रियैः लीला. "ताः समादाय कालिंद्या

निर्विश्य पुलिनं विभुः...". "काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहे..." इत्यादि. तथाच "इति गोप्यः..." इत्यादि त्रिभिः प्रादुर्भावः. "काचित् कराम्बुजं शौरेः..." इत्यादि पञ्चभिः इन्द्रियैः कार्यम्. "सर्वास्ताः..." इति द्वाभ्यां तापपरित्यागः. "ताः समादाय..." इति चतुर्भिः पुलिनप्रवेशः. "सभाजयित्वा..." इति एकेन वाक्यप्रस्तावना. "भजतोऽनुभजन्ति..." इत्यनेन प्रश्नः. "मिथो भजन्ति..." इति षड्भिः प्रत्युत्तरः (एवं २२.द्वाविंशति श्लोकाः इति एकोनत्रिंशाध्यायसंग्रहः) ॥२९॥

पञ्चमे विहारः. शारीरी लीला. "...तदङ्गोपचिताशिषः", तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः", "गृहीतकंठचस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे", "रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिः...", "कृष्ण विक्रीडितं वीक्ष्य...". "...रेमे स भगवांस्ताभिः". "तासामतिविहारेण...", "रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलील...". "विक्रीडितं व्रजवधूभिः...", "जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः". "...अन्योन्याबद्धवाहुभिः". "...गृहितानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः", "पादान्यासैर्भुजविदुतिभिः...", "गोप्य समं भगवता ननृतुः...", "...तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः", "...अङ्गसङ्गधृष्टस्रजः...", "...आत्मन्यवरुद्धसौरतः...", "...तस्येच्छयात्तवपुषः...", "...एष क्रीडनेनेह देहभाक्". तथाच "इत्थं भगवतो गोप्य..." इति एकेन तापत्यागः "तत्रारभत..." इति सप्तभिः रासः. "उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना..." इति सप्तभिः गानपूर्विका षड्धर्मलीला. "कर्णोत्पलालकः..." इति पद्येन गाढनृत्यम्. "एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शः..."इति चतुर्भिः निधुननम्. "तासामतिविहारेण..." इति श्रमापनोदनम्. "गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डल..." इति मानगाने. "ताभिर्युतः श्रममपोहितुम्..." इति द्वाभ्यां जलक्रीडा. "ततश्च कृष्णोपवने..." इति द्वाभ्यां विचरणोपसंहारौ. "संस्थापनाय.." इति त्रिभिः प्रश्नः. "धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः..." इति अष्टभिः प्रश्नस्य उत्तरः. "नासूयन् खलु कृष्णाय..." इति व्रजवृत्तान्तः. "ब्रह्मरात्र..." इति गोपीनां प्रत्यापत्तिः. अन्तिमेन फलम् (एवञ्च ३९.एकोनचत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति त्रिंशाध्यायसंग्रहः) - ॥३०॥एकत्रिंशाध्यायम् अनुक्रमन्ति-

सर्पान्नन्दस्य मोक्षणं शंखचूडवधः

'सर्पाद्' इति. 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति अपादानाम्. मथुरातः पश्चिमदेशे अर्बुदाचलाद् योजनचतुष्टये स्थिते तीर्थविशेषे अम्बिकालये कोटीश्वराधिष्ठिते

सरस्वतीतीरे सुप्तस्य नन्दस्य सर्वविद्याधररूपात् सर्पाद् विमोक्षणं श्रीकृष्णेन कृतं विंशत्या पद्यैः. अत्र अर्द्धं पद्यं पतितम्. अर्द्धस्यैव वा पूर्णत्वेन गणना. तदुक्तम् "एकदा देवयात्रायाम्..." इत्यादि. तत्र एकेन अम्बिकावनगमनम्. "तत्र..." इति त्रिभिः तीर्थकृत्यम्. "कश्चिन्महानहिस्तस्मिन्..." इति सार्द्धैस्त्रिभिः सर्पेण नन्दग्रासः. "तमस्पृशत्पदा..." इति सार्द्धेन कृष्णेन नन्दमोचनम्. "तमपृच्छद्..." इति एकेन प्रश्नोद्यमः. "को भवान्..." इति प्रश्नः. "अहं विद्याधरम्..." इति सार्द्धैः षड्भिः सप्तभिः वा प्रत्युत्तरः. "इत्यनुज्ञाप्य..." इति द्वाभ्यां प्रत्यापत्तिः सर्पनन्दयोः. "कदाचिद्..." इति त्रयोदशभिः शंखचूडवधः . तत्र सार्द्धेन रासोद्यमः. "अलंकृतः..." इत्यत्र सार्द्धैः त्रिभिः षड्गुणवर्णनम् "एवं विक्रीडितोः स्वैरं ..." इति अष्टभिः शंखचूडनाम्नः नारदसंप्रेषितस्य धनदानुचरस्य वधः. नतु मोक्षः. अतः मुष्टिनामारणम्. तत्सत्ता अग्रहणं च. तदुक्तम्- "अग्रजायाददात्प्रीत्या पश्यन्तिनां च योषिताम्." (एवं ३३.त्रयस्त्रिंशच्छ्लोकाः. एकत्रिंशाध्यायसंङ्ग्रहः) ॥३१॥

द्वात्रिंशाध्यायम् अनुक्रामयन्ति-

पश्चाद् गोपीगीतम्

'पश्चाद्' इति पारोक्ष्ये. यद्वा भगवति वने गते "तमनुद्रुतचेतसः". पश्चाद् पदं फलप्रकरण-समाप्ति-सूचकम्. गोपिभिः गीतं गोपीगीतम्. वृषस्य अर्दनं हिंसनम्. "'अर्दु' हिंसने" चुरादिः. गोपीगीतं च वृषार्दनं च एतयोः समाहारः. 'गोपीः' इति समासः तमःप्रधाने गोकुले अध्यायत्रयेण राजसप्रकरणीय-लीलाकरणसूचकः. द्वादशभिः युगलैः गोपीगीतम्. तत्र अयं क्रमः "देवस्त्रियस्तथा गावः सरितः पादपाः लताः. पक्षिणश्च तथा मेघाः ब्रह्माद्या गोपिकास्तथा. हरिण्यो देवगन्धर्वाः द्विधा च भगवान् हरिः." उपक्रमोपसंहाराभ्यां च एकं युगलम् अधिकमासलीलाबोधकम् (एवं २६.षड्विंशति श्लोकाः. इति द्वात्रिंशाध्यायसंङ्ग्रहः)॥३२॥

॥ पुरुषोत्तमनामसहस्रे एतत्प्रकरणगतानि नामानि ॥

वेणुवादस्मरक्षोभ-मत्तगोपीविमुक्तिदः ।
सर्वभावप्राप्तगोपी-सुखसंवर्धनक्षमः ॥१॥

गोपीगर्वप्रणाशार्थ-तिरोधानसुखप्रदः।
कृष्णभावव्याप्तविश्व-गोपीभावितवेशधृक्॥२॥
राधाविशेषसंभोग-प्राप्तदोषनिवारकः।
परमप्रीतिसंगीत-सर्वाद्भुतमहागुणः॥३॥
मानापनोदनाक्रान्त-गोपीदृष्टिमहोत्सवः।
गोपिकाव्याप्तसर्वाङ्गः स्त्रीसंभाषाविशारदः॥४॥
रासोत्सवमहासौख्य-गोपीसंभोगसागरः।
जलस्थलरतिव्याप्त-गोपीदृष्ट्यभिपूजितः॥५॥
शास्त्रानपेक्षकामैक-मुक्तिद्वारविवर्धनः।
सुदर्शनमहासर्पग्रस्त-नन्दविमोचकः॥६॥
गीतमोहितगोपीधृक् शङ्खचूडविनाशकः।
गुणसंगीतसंतुष्टिर् गोपीसंसारविस्मृतिः॥७॥

॥ त्रिविधनामावल्याम् एतत्प्रकरणगतानि नामानि ॥

[१]कन्दर्पकोटिलावण्याय नमः [२]सर्वोपनिषत्तात्पर्यगोचराय नमः [३]गोपिकारमणाय नमः [४]सकलयोगाधिपतये नमः [५]अलौकिकपूर्णकामजनकाय नमः [६]आशापूरक-सत्यात्म-कामदीपकाय नमः [७]शृङ्गारविभावादियुक्ताय नमः [८]सत्यवाचे नमः [९]कामोन्मत्तगोपाङ्गना-मुक्तिदात्रे नमः [१०]मुक्त्यधिकफल-गोपीमनोमोहकाय नमः [११]लोकवेदसर्वधर्मपरित्यक्त-गोपीसेवित-चरणारविन्दाय नमः [१२]भक्तिप्रतिबन्धनिवारकाय नमः [१३]अलब्धरासगोपी-सद्योमुक्तिप्रदायकाय नमः [१४]परीक्षितगोपवधूसेवित-चरणाय नमः [१५]निजजनस्मयध्वंसनस्मिताय नमः [१६]कायिकतिरोभावितगोपीपुञ्जाय नमः [१७]राधासहचराय नमः [१८]विरहव्याकुलगोपाङ्गनान्वेषितमार्गाय नमः [१९]ज्ञानतुल्यभक्तभ्रान्तिजनकाय नमः [२०]निकटस्थितिबोधकाय नमः [२१]गोपीवर्णितनिखिलगुणाय नमः [२२]भक्तशुद्धिविलम्बनाय नमः [२३]दीनकृपाप्रकटितरूपाय नमः [२४]सर्वमनोनयनाह्लादकाय नमः [२५]गोपीवाक्यविचारकाय नमः [२६]सर्वधर्मनिर्धारकाय नमः [२७]सर्वरसाभिज्ञाय नमः [२८]रासमण्डलानेकरूपाय नमः [२९]उद्दीप्तकामरसपूरकाय नमः [३०]अतिक्रान्तमर्यादाय नमः [३१]भक्तदैन्यनिवारकाय नमः [३२]यमुनाकीर्तिजनकाय नमः [३३]सुदर्शनमोचकाय नमः [३४]बलदेवाभीष्टदात्रे नमः [३५]शङ्खचूडघातकाय नमः [३६]गोपीक्लेशनाशकगुणार्णवाय नमः [३७]स्वसमानगुणाय नमः [३८]सर्ववशीकरणद्वादशविधचरित्राय नमः.

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धान्तर्गत–तामसफलप्रकरण–विषयानुक्रमणिका

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यां द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरफलप्रकरणे प्रथमः स्कन्धादितः षड्विंशोऽध्यायः



ब्रह्मानन्दात्समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने ।
लीला या युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते ॥(१)॥

श्रीमत्प्रभुचरणकृतटिप्पणी

षड्विंशाध्याये प्रकरणार्थोक्तौ, **ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्येति**. ननु सर्वसमर्थत्वेन ब्रह्मानन्दवत् स्वगृहस्थिताभ्य एव स्वामिनीभ्यो भजनानन्दं कुतो नादात्, लोकवेदत्याजनपूर्वकं विवक्षितरीत्या कुतो दत्तवानित्यत आहुर्**ब्रह्मानन्दादिति**. तथैवैतद्दाने एतस्यापि ब्रह्मानन्दमध्यपातित्वेन तत उद्धृतेर्वैयर्थ्यं स्यात्, भजनानन्दस्वरूपं चैतादृशमेवेत्येवंरूपानन्ददाने[१] तददत्तमेव च स्यादिति भावः (१).

श्रीपुरुषोत्तमकृतप्रकाशः

व्रजजनचरणसरोरुहपरागरागेण पीतवसनस्य[२] ।
श्रीगोपीपतिपदयोर्दास्यविलासा भवन्त्वनिशम्[३] ॥

षड्विंशाध्यायं विवरिषवः पूर्वाध्यायप्रकरणयोः सङ्गतिं वदिष्यन्तः प्रथमं प्रकरणयोः साधनफलभावरूपां वदन्तीत्याशयेन टिप्पण्यामाहुः **ननु सर्वसमर्थेत्यादि**. अत्राभासव्याख्यानयोरयमाशयः. तथा हि. अस्य फलप्रकरणत्वादत्र सर्वेषां फलं वक्तव्यम्. तत्रापि रसात्मकस्य फलस्य प्रमेयप्रकरणेपि[४]

श्रीनिर्भयरामभट्टकृतकारिकार्थः

षड्विंशाध्याये **ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्येत्यादि**. "ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृता" इति प्रकारेण **ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने** कर्तव्ये सति ***या लीला युज्यते*** योग्या भवति **सा** लीला **तुर्ये** फलप्रकरणे **निरूप्यते** (१).

---

१. आनन्दादान इति पाठः. २. ग्रन्थकर्तृपीताम्बरस्य. ३. अहर्निशम्. ४. वेणुगीते.

प्रकाशः

दर्शितत्वादस्य फलप्रकरणत्वायात्र ततः कश्चिद्विशेषोपि वक्तव्यः. स च क्रम[१]-स्वारस्याद् ब्रह्मानन्दादाधिक्यज्ञापनरूप एव सेत्स्यति. अन्यथा पूर्व[२]प्रकरण-समाप्तौ शुको वैकुण्ठनयनं तत उद्धरणं च न वदेत्. फलप्रकरणोत्तरं [३]तत्र नयनमात्रमेव च वदेत्. अत उक्तएव विशेषो निश्चेयः. सोपि [४]फलयोर्व्यधि-करणत्वे मुख्यावान्तरभावाभावादसिध्यन् [५]सामानाधिकरण्यमाक्षिप्यैतासु पूर्वं ब्रह्मानन्दं गोपेषु पश्चाद्व्रजजनानन्दं च व्यवस्थापयतीत्याशयेनैव "तद्द्वारा पुरुषाणां च भविष्यती"ति वक्ष्यन्ति. तेन तत्सामान्यादेतासु ब्रह्मानन्दोपि निराबाधएव. न चैतासां [६]तदाकांक्षाभावात् स कथं वक्तुं शक्य इति वाच्यं, भक्तिस्वभावादेव तत्सिद्धेः, "हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्त" इति वाक्यात्, "स्वर्गकामो यजेते"त्यादौ यजमानमात्रस्य तत्कामना-यामपि "सगृहः सपशुः सुवर्गं लोकमेती"ति श्रुत्या परिकरस्यापि तत्फल-श्रावणेनात्रापि तथा वक्तुं शक्यत्वाच्च. किञ्च. भगवत्कार्यस्वरूपविचारेऽपि तेषु भजनानन्दस्येवैतासु ब्रह्मानन्दस्यापि सुवचत्वम्, भगवताप्याकांक्षितमेव दीयते इति नियमाभावात्, विप्रयोगज्ञानोपदेशादिना[७] तथा निश्चयात्. एवञ्च "एकं भगवतः कार्यमि"ति न्यायाद्गोपानां सूक्ष्मगत्याकांक्षोदयरूपं भगवत्कार्यमेतासु ब्रह्मानन्दानुभवं साधयतीत्यपि ज्ञेयम्. वस्तुतस्त्वेतेन ग्रन्थेन परप्राप्तिबोधकर्युक्तप्रकारकः प्रत्यापत्तिप्रकारो बोध्यत इति वैयधिकरण्येऽप्यदोषः. वक्ष्यन्ति च पञ्चमाध्याये "यथार्भक" इत्यस्याभासे "ब्रह्मभावाभावादि"ति. न च भ्रमरगीतादिकथाविरोधः, इदानीन्तनफलस्य निरोधशेषत्वात्. प्रत्यापत्तौ तु निरोधस्य फलशेषत्वमिति सर्वं समञ्जसमिति दिक् (१).

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

श्रीकृष्णाय नमः. षड्विंशे **ब्रह्मानन्दादिति**. **समुद्धृत्य** सर्वान् गोकुलस्था-निति शेषः. **भजनानन्देति**. मुख्या गोव्रजयोषितश्चेत्युभयविधानामपि गोपिकानामिति शेषः. देवयात्राप्रसङ्गस्तु सामान्यतः सर्वेषामन्यभावान्निवृत्तिबोधकः, प्रकृते गोव्रजयोषितां तथात्वबोधनायोक्तः. अतएव तदध्यायकारिकाया "मेकत्रिंशे सर्वभावान्निवृत्तानां तु पूर्ववत् गानेन रमणं चक्रे" इत्यनेन गोव्रजयोषितामेव

१. ब्रह्मानन्दानन्तरं भजनानन्दकथनम्. २. साधन–. ३. वैकुण्ठे. ४. गोपीगोपनिष्ठफलयोः. ५. फलस्य. ६. ब्रह्मानन्दस्य. ७. उद्धवद्वारा ज्ञानोपदेशस्तु भक्तानां नाकांक्षितम्.

लौकिकस्त्रीषु संसिद्धस्तद्द्वारा पुरुषे भवेत् ।

टिप्पणी

ननु स्त्रीभ्यएवैतद्दाने को हेतुः, तत्रापि पूर्वमन्यविवाहितासु? कुमारीष्व-तथात्वेपि भगवता समं विवाहाभावात्तन्यायएव, अतएव वरदानानन्तरमपि 'लब्धकामाः कुमारिका' इत्येवोक्तमित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाहुः **लौकिकस्त्रीष्विति**. भजनानन्दो हि स्वरूपात्मकः. तच्च "रसो वै स" इत्यादिश्रुतिभी रसरूपम्. स च यादृक् स्वशास्त्रसिद्धस्तादृगेव. तत्र च स्वाविवाहितायामेव मुख्यो रस इति निरूपितम्. अतो लोकसम्बन्धिन्यो **लौकिक्यो** भगवदतिरिक्तलोके विवाहलक्षणसम्बन्धवत्य इति यावत्, एतादृशीषु **सम्यक् सिद्धो** भवति. तत एतत्कथाश्रवणेन तद्भावोदये **पुरुषे**पि स रसो **भवेत्,** नान्यथेति स्त्रीष्वेव तद्दानमित्यर्थः. **सिद्ध** इतिपदेनैतद्रसस्वरूपसिद्धिश्चेत्पूर्वं भूलोके स्यात्तदान्यत्रापि तत्प्राप्तिः स्यात्. सा चैतास्वेव सम्भवतीति तथेति ज्ञाप्यते ($१\frac{१}{२}$).

प्रकाशः

लौकिकस्त्रीष्वित्यत्र टिप्पण्यां **पूर्वं स्यादिति,** इह भूलोके

लेखः

रमणमध्यायार्थ उक्तः. अतो गोपिकानामेव भजनानन्ददानमत्र प्रकरणार्थो, न तु गोपानामिति भावः. क्त्वाप्रत्यये समानकर्तृकत्ववत् समानकर्मकत्वनियमा-भावाद् ब्रह्मानन्दयोजनं सर्वेषामेव भजनानन्दयोजनं गोपीनामेवेत्यतः कथं संगतिरिति पूर्वपक्षस्य नावसरः. **ब्रह्मानन्दात्** सर्वा**नुद्धृत्य** गोपीनां **भजनानन्द-योजने** भगवता कर्तव्ये सति ***या लीला युज्यते सा निरूप्यते*** इत्यन्वयः(१).

तासामेव तद्दाने को हेतुरिति शङ्कानिरासायाग्रिमकारिकेति टिप्पण्यामुक्तम्. एतादृशयोग्यता गोपेष्वपि संपन्नेत्यरुच्या टिप्पण्यां द्वितीयपक्ष

कारिकार्थः

लौकिकस्त्रीष्विति. रसात्मको भजनानन्दो हि रसशास्त्ररीत्या **लौकिकस्त्रीषु** परकीयासु **संसिद्धः**. कुमारीणामपि भगवता सह विवाहाभावात् तन्याय एव. **तद्द्वारा** तत्कथाश्रवणेन तद्भावोदये **पुरुषेपि** स रसो **भवेत्** नान्यथेत्यर्थः. ब्रह्मानन्दानुभवोक्तेः मुख्यप्रयोजनं ब्रह्मानन्दभजनानन्दयोः

स्वानन्दानुभवार्थं हि योग्यतापि निरूपिता ॥(२)॥

टिप्पणी

किञ्च. लक्ष्मीतुल्यतायां हि भगवद्रमणमिति मर्यादा. सा च ब्रह्मानन्दरूपा. तथा च पूर्वाध्याये ब्रह्मभावोक्त्या तद्रूपत्वमुक्तं जातमित्युक्तमर्यादापि संपन्नेतीतोप्यत्र रमणमित्याहुः **स्वानन्दानुभवार्थमिति**. यद्यपि स्वामिनीष्वेतावता न कोपि विशेषः, तथा"प्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं [१]न तु तद्धानिरि"ति न्यायोत्राऽ**पि**शब्देन ज्ञाप्यते. तथा च **स्व**पदस्य स्वामिनीवाचक**स्यानुभव**पदेन समं सम्बन्धो ज्ञेयः. **आनन्द**पदं भजनानन्दपरम्. यद्वा. बलदेवे स्वधर्मान्निरूपयता भगवता "गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीरि"तिवाक्ये श्रियोपि स्पृहानिरूपणेन तस्या अपि दुर्लभो यो रसस्तं प्राप्य गोप्यो धन्या इति व्रजस्त्रीष्वेव स्वानन्दानुभवयोग्यता निरूपिता, नान्येष्वन्यासु वेत्यर्थः. तथा च तत्रैवैतदधिकारवत्त्वात्तथेतिभावः. यद्वा. "हेमन्ते प्रथमे मासी"त्यत्र "तेषां प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवती"त्यत्र या शक्तिरुक्ता तत्प्रवेशो यत्र तत्र प्रभुसम्बन्धयोग्यता, स चैतास्वेव सम्पन्न इति पूर्वं निरूपितमित्यर्थः (२).

प्रकाशः

पूर्वं स्यादित्यर्थः. **स्वपदस्ये**त्यादि, [२]स्वासामानन्दानुभव इत्येवं समास इत्याशयः. ब्रह्मभावोक्तेरेतल्लीलाधिक्यमात्रज्ञापनार्थत्वेन योग्यतायां तात्पर्याभावान्नैतदर्थ-सङ्गतिरित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **यद्वा बलदेवे**त्यादि. अत्र योग्यतोक्तावपि योग्यताबीजस्याकथनात्तद्बोधनाय पक्षान्तरमाहुः **यद्वा हेमन्ते**त्यादि. तेनानुग्रहैकलभ्यत्वं योग्यताया दृढीकृतम् (२).

लेखः

उक्तो **यद्वे**ति. तर्हि "स्त्रियो वा पुरुषो वापी"त्यत्रोक्ता पुरुषेऽपि सा गति-र्योग्यताभावान्न स्यादित्यरुच्या तत्रैव तृतीयः पक्ष उक्तो **यद्वे**ति. फलितमनुवदन्ति

कारिकार्थः

तारतम्यज्ञापनं पूर्वाध्यायसमाप्तिकारिकायाम् उक्तम्, गौणप्रयोजनमाहुः **स्वानन्दानुभवार्थमिति**. पुरुषोत्तमानन्दानुभवार्थं लक्ष्मीतुल्यतारूपा **योग्यतापि** स्वामिनीषु **निरूपितेत्यर्थः**. लक्ष्मीतुल्यतायां हि भगवद्रमणमिति मर्यादा.

१. 'न तु तद्धानिः' इति मूले नास्ति. २. स्वासु इति मांडवी पाठः.

ततो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यते ।
तद्द्वारा पुरुषाणां च भविष्यति न चान्यथा ॥(३)॥

टिप्पणी

एवं सत्येतत्प्रवेशो यत्र पुरुषेपि भविष्यति, तत्रैवंभावो भविष्यतीत्याशयेनाहुः **तद्द्वारेति**. तासामनुग्रहद्वारेति **वार्थः**. यत्रापि तत्प्रवेशोऽनुग्रहो वा

प्रकाशः

सुबोधिन्यां **ततो हीति**. स्त्रीष्वेव संसिद्धत्वात् स्त्रीणामेव योग्यत्वाच्चेत्यर्थः. टिप्पण्यां योग्यतादृढीकारेण सिद्धमग्रिमाभासमुखेनाहुः **एवं सतीत्यादि**. **अनुग्रहद्वारेति**, अयमर्थः "स्मयमानमुखाम्बुज" इत्यस्य टिप्पण्यामग्रे सेत्स्यतीति बोध्यम्. तथा चास्य फलस्य तामसप्रकरणीयत्वात्तत्प्रकरणपठिताधिकारिमात्रस्येदं वक्तव्यमित्यतो **द्वार**माचार्यैरुक्तम्. तथा **च**कारेण हीनाधिकारिणो गवादयश्च "केवलेन हि भावेने"त्यत्रोक्ताः संगृहीताः. तेन साधनप्रकरणोक्ता योग्यता एतद्विषयिणीत्याशयः. सापि योग्यता स्वरूपयोग्यतासापेक्षतयैव फलसाधिकेत्याशयेन वदन्तीत्याहुः **यत्रापीत्यादि**. ननु ब्रह्मानन्दस्य नित्यत्वं

लेखः

ततो हीति कारिकया. **तद्द्वारेति**. एतन्निष्ठभगवद्योग्यस्त्रीत्वलक्षणशक्तिप्रवेशेनैतदनुग्रहेण वा भवतीत्यर्थः. नित्यलीलास्थभक्तविशिष्टप्रभुदर्शने तासामनुग्रहेण तादृशो भावः श्रुतीनां जातः. [१]अतएव "यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिका" इति श्रुतिभिरुक्तम्. तथाच[२] गोपेष्वेतदभावाद्योग्यता-

कारिकार्थः

सा च ब्रह्मानन्दरूपा. तथा च पूर्वाध्याये ब्रह्मभावोक्त्या लक्ष्मीरूपत्वमुक्तं जातमित्युक्तमर्यादापि सम्पन्नेति भावः. अथवा द्वादशाध्याये "गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहाश्रीः" इतिवाक्ये व्रजस्त्रीष्वेव स्वानन्दानुभवार्थं योग्यता निरूपितेत्यर्थः. तथा च तत्रैव एतदधिकारवत्त्वात् तत्रैव भजनानन्ददानमिति भावः. यद्वा "हेमन्ते प्रथमे मासि" इत्यत्र कात्यायनीप्रवेशरूपा प्रभुसम्बन्धयोग्यता निरूपितेत्यर्थः. एवं टिप्पण्यनुसारेण त्रिधा व्याख्यानम् (२).

तद्द्वारा पुरुषाणां चेति, कात्यायनीप्रवेशद्वारा तासामनुग्रहद्वारेति वार्थः (३).

१. जोधपुरपाठमनुसृत्य. मुद्रिते नोपलभ्यते. २. जो. पाठः. तथा इति मुद्रितः पाठः.

स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तासु ततः पुमान् ।
अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम् ॥(४)॥
बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरं तु [१]परं फलम् ।

टिप्पणी

तत्रापि स्त्रीत्वमृते नैतद्रसप्राप्तिरित्याहुः **स्त्रिय एव हीति**. **तं** पुरुषरूपं भगवन्तमित्यर्थः. **ततः** स्त्रीकर्तृकपानानन्तरं **पुमान्** भगवां**स्तासु** प्राक्पीतरसाधिकरणभूतासु **तमेव** रसं **पातुं शक्त** इत्यर्थः. रसाधिक्ये पुंभावात्तथेति भावः. यतस्ता एव रसयोग्यास्तत्पाने शक्ताश्चातो न कदाचिद्रमणे व्यवधानं करोतीत्याहुः **अतो हि भगवानि**ति (३-४).

प्रकाशः

"न स पुनरावर्तते"—"अनावृत्तिः शब्दादि"ति श्रुतिन्यायसिद्धम्. तदपेक्षयात्राधिक्येऽस्य नित्यत्वमवश्यं वक्तव्यम्. तच्च लीलानां तदनुभवितॄणां च नानात्वाद् भिन्नभिन्नकालिकत्वाच्च बाधितमित्याशङ्क्य लीलानां स्वरूपतः प्रवाहतश्च नित्यत्वमधिकारिनिरूपणमुखेन वदन्तीत्याशयेनाहुः **यत** इत्यादि. तथा च रमणरूपेण लीलानां स्वरूपनित्यता, बाह्याभ्यन्तररूपेण च प्रवाहनित्यतेत्यर्थः. अयमर्थः. रसात्मा भगवान् बाह्यरमणे धर्मसहितः, आन्तरे तु नाट्य इव केवल इति तस्य तथात्वसम्पादिकास्ता नित्याः परिच्छिन्नाश्चेति तदाविर्भावस्य कालचक्रवद्गमागमरूपतया प्रवाहरूपतायामपि स्वरूपनित्यत्वं निराबाधत्वान्न [२]बाधित-

लेखः

भावान्न तद्दानमिति भावः. अत्रोभयत्रापि **पुरुषपदेन** "स्त्रियो वापी"ति वाक्योक्ता ज्ञेयाः, न तु गोपाः (२-४).

शब्दात्मिकेति, शब्देनात्मा स्वरूपं यस्येति विग्रहः. शब्दस्य लीलेति

कारिकार्थः

स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्ता इति, **तं** पुरुषरूपं भगवन्तमित्यर्थः. **ततः** स्त्रीकर्तृकपानानन्तरं **पुमान्** भगवान् **तासु तं** रसं **पातुं** शक्त इत्यर्थः, रसाधिक्ये पुम्भावादिति भावः. यतस्ता एव रसयोग्याः तत्पाने शक्ताश्च अतो न कदाचित् रमणे व्यवधानं करोतीत्याहुः **अतो हि भगवानि**ति (४).

१. महाफलमिति पाठः. २. नित्यत्वं निराबाधमित्यर्थः इति मांड-मुंबईविद्यापीठपाठः.

ततः शब्दात्मिका लीला निर्दुष्टा सा निरूप्यते ॥(५)॥

टिप्पणी

आन्तरं त्विति. सखीवृन्दे मिथो गुणानुवादे लीलासहित-प्रियतमप्राकट्येनान्तर्ये भावविशेषा उत्पद्यन्ते, न ते संगमेपीत्यस्य **परत्वम्**. "नामरूपे व्याकरवाणी"ति श्रुतेः प्रपञ्चस्य द्विरूपत्वेन लीलाप्रपञ्चस्यापि तथात्वाद् गुणगानलक्षणनामात्मक-भगवत्स्वरूपस्य परमानन्दरूप-भावात्मकरमणलक्षणा लीला प्रिये दोषारोपादिदोषरहिताग्रे निरूप्यत इत्याहुः **ततः शब्दात्मिकेति.** सप्तमाध्यायव्यवस्थैषा. शब्दात्मिकाया अपि लीलायाः प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेन द्विरूपत्वेनोत्तरा सप्तमाध्याये निरूपिता. पूर्वस्याः सदोषत्वादत्रापि तत्पूर्वाध्याये वेदात्मकशेषरूपत्वेन बलदेवस्य तत्साहित्येन कृतलीलायां शङ्खचूडोक्त्या सदोषत्वं तद्वधोक्त्यात्र सापि निर्दुष्टेति ज्ञाप्यत इत्यर्थः. अत एवाध्यायद्वयेन निरूपणमिति भावः (५).

प्रकाशः

मित्यर्थः. नन्वान्तरस्यापेक्षावैशिष्ट्यादपूर्णत्वाद्भगवद्रूपत्वाभावे कथं परम-फलत्वमित्याकांक्षायां तस्य तथात्वं विवृण्वन्ति **आन्तरं त्विति. सखीवृन्देत्यादि,** तथा चापेक्षापूर्त्या उक्तविशेषैस्तथेत्यर्थः. अत्र गमकं वदन्तीत्याशयेनाहुः **नामरूपेत्यादि.** तथा च दोषाभावएव परत्वगमक इत्यर्थः. **कारिकास्थ-सेत्यस्य** पदस्य तात्पर्यमाहुः **पूर्वस्या** इत्यादि. **सापीत्यपि**शब्देनैतत्साम्या-त्पश्चाध्यायीस्थलीलाग्रहणम्. तेन यथात्र शङ्खचूडवधाद्दोषनिवृत्तिः तथा पश्चाध्याय्यां "नाहं तु सख्य" इत्यादिवाक्यैर्भक्तान्तःकरणस्थदोषनिवृत्तिरिति द्विविधापि निर्दुष्टा. एतावान् परं विशेषो यत्पूर्वस्या भगवत्प्रयत्नेन दोषराहित्यमुत्तरस्यां तु स्वत इति. अतएव च परत्वम्. ब्रह्मानन्दाधिक्यं तूभयोरनुग्रहविशेषनियतत्वादिति फलप्रकरण तात्पर्यम्. एतदेव **लीला या युज्यते सम्यगिति सम्यक्**पदेन पूर्वं ज्ञापितं बोध्यम् (३-५).

कारिकार्थः

आन्तरन्त्विति, सखीवृन्दे मिथो गुणानुवादे लीलासहितप्रियतमप्राकट्येन अन्तर्ये भावविशेषाः उत्पद्यन्ते न ते संगमेपीत्यस्य परत्वम्. **ततः शब्दात्मिका लीलेति**, युगलगीताध्यायोक्त-गुणगानलक्षणशब्दात्मिकेत्यर्थः. **निर्दुष्टेति**, रूपलीलायां मानादिजनितेन प्रभौ दोषारोपेण सदोषत्वं, नामलीलायां तु

ततो रूपप्रपञ्चस्य पञ्चधा रमणं मतम् ।
आत्मना प्रथमा लीला मनसा[१] तु ततः परा ॥(६)॥

टिप्पणी

यतो रूपं पञ्चात्मकमतस्तद्दानं पञ्चधातस्तन्निरूपणमपि तावद्भिरध्यायैः कृतमित्याहुः **तत** इति. पञ्चात्मके रूपे येनांशेन या लीला कृता तां तां लीलां क्रमेणाहुः **आत्मनेति** सार्धेन.

प्रकाशः

एवं प्रकरणार्थमुक्त्वा तदवान्तरयोः पूर्वस्मिन्नध्यायान् विभजन्त इत्याशयेनाहुः **यतो रूपमित्यादि**. सुबोधिनीकारिकास्थ-**रूपप्रपञ्चपदस्य** रूपविस्तारोऽर्थो[२] बोध्यः. ननु भगवति सजातीयविजातीयस्वगतद्वैता-

लेखः

टिप्पणीस्वारस्येनार्थः. **रूपप्रपञ्चस्येति, रूपस्य प्रपञ्चो** विस्तारस्तत्प्रकारक**रमणं** तदानन्दस्थापनमित्यर्थः. सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी. टिप्पण्यां **बलं हि**

श्रीलालूभट्टकृतयोजना

फलप्रकरणार्थोक्तौ **ब्रह्मानन्दात्समुद्धृत्येत्यादि**. **ब्रह्मानन्दादित्यादि**-सार्धपञ्चकारिकाणामर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. एतावता यद् ब्रह्मानन्दानुभवरूपं मर्यादाभक्तौ फलं तदत्र पुष्टिभक्तानां भजनानन्दाख्यफलप्राप्तौ साधनमिति मर्यादाभक्तितः पुष्टिभक्तेः परमोत्कर्षः सिद्ध इति बोद्धव्यम्. इह पञ्चाध्यायीसुबोधिन्या अर्थः स्फुटतया विस्तारेण च टिप्पण्यां निरूपित इति मया योजनायां ताः फक्किका न विव्रियन्ते, किन्तु टिप्पण्यां या फक्किका न विवृताः ता एव योज्यन्त इत्याकलनीयम् (१-५ $\frac{1}{2}$).

कारिकार्थः

प्रभौ दोषारोपात्मकदोषाभावेन निर्दुष्टत्वमित्यर्थः. शब्दात्मिकापि लीला प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेन द्विरूपा. तत्र पूर्वा षष्ठाध्याये उत्तरा सप्तमाध्याये. तत्र पूर्वस्याः सदोषत्वाद् अत्रापि पूर्वाध्याये वेदात्मकशेषरूपत्वेन बलदेवस्य तत्साहित्येन कृतायां लीलायां शंखचूडोक्त्या सदोषत्वं, तद्वधोक्त्या अत्र सापि निर्दुष्टेति ज्ञाप्यत इत्यर्थः (५).

रूपस्य पंचात्मकत्वात् तन्निरूपणं तावद्भिरध्यायैः कृतमित्याहुः **ततो**

१. मानसीत्यपि पाठः. २. इत्यर्थो इति मांड- मुं. वि. पाठः.

वाक्प्राणैस्तु तृतीया स्यादिन्द्रियैस्तु ततः परा ।
शारीरी पञ्चमी वाच्या ततो रूपं प्रतिष्ठितम् ॥(७)॥

टिप्पणी

यथेन्द्रियादिरूपत्वं शुद्धस्य ब्रह्मणस्तथा।
आत्मत्वादिस्वरूपत्वं मन्तव्यं श्रुतिवाक्यतः॥
यथेन्द्रियादिसङ्घात आत्मनो मुख्यता तथा।
प्रकृते स्वामिनीभावप्राधान्यं तत आदिमे॥
स एवोक्तः प्रभुर्यस्माद्रसरूपः श्रुतेर्मतः।
आत्माधीनं यथा कार्यं सर्वमेवमिहापि हि॥

प्रकाशः

भावा**दात्मने**त्यादिसार्धकारिका कथं सङ्गच्छत इत्यत आहुः **यथे**त्यादि. "चक्षुषश्चक्षुः, श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मन" इति "प्राणन्नेव प्राणो भवती"त्यादिश्रुत्या यथा तत्तत्कार्यकर्तृत्वेनेन्द्रियादिरूपत्वं वैदिकैर्मन्यते, तथा "यस्मात्मा शरीरं, य आत्मानमन्तरो यमयती"तिश्रुतिवाक्यादात्मादि-भोक्तृत्वेनात्मत्वादिस्वरूपमपि मन्तव्यम्. तथा च तत्तत्कार्यकरणात्तत्तद्रूपः स्वयमेवेति न कथमपि द्वैतापत्तिरित्यर्थः. एवमनुपपत्तिं परिहृत्यात्मरूपं निश्चिन्वन्ति **यथे**त्यादि. ननु भावस्य मनोविकारात्मकत्वात् कथं ब्रह्मरूपत्व-मित्याकांक्षायामाहुः **प्रभुरि**त्यादि. तथा च रसस्य स्थायिभावात्मकत्वेन "स मानसीन आत्मा जनानामि"ति श्रुत्या तत्र प्रकटस्य भावरूपतया विकारात्मकत्वाभावाद् ब्रह्मरूपत्वं निर्बाधमिति वेणुगीतएव व्युत्पादितमित्यर्थः. नन्वस्त्वात्मादिरूपत्वं तथापि लीला तु प्रकटरूपेणैव क्रियत इति तेन कथं लीलेत्याकांक्षायामाहुः **आत्माधीनमि**त्यादि. इदं च "आत्मारामोप्यरीर-

कारिकार्थः

रूपप्रपंचस्येत्यादि. पंचात्मके रूपे येनांशेन या लीला कृता तां तां लीलां क्रमेणाहुः **आत्मने**त्यादि सार्धेन. अत्र पंचस्वध्यायेषु एकैकस्मिन्नध्याये एकैका लीला. अथवा प्रत्यध्यायोक्तलीलायामपि पंचविधत्वं ज्ञेयम्. अत्र सैन्धवघनवत् एकरसे भगवद्रूपे कथं पंचविधत्वमित्याशंक्य टिप्पण्यां "यथेन्द्रियादि-रूपत्वमि"त्यादि सार्धपंचकारिकाभिः उपपादितम्. **रूपं प्रतिष्ठितमि**ति हरिप्रियासु इति शेषः; पूर्णः स्वरूपानन्दो दत्त इत्यर्थः (६-७).

टिप्पणी

भावाधीनमतः प्रोक्त**मात्मने**त्यादि सुष्ठु हि ।
अन्याप्राधान्यतः पूर्वं केवलेनेति तत्तथा ॥
तत्तत्प्राधान्यतस्तत्तल्लीलेत्यग्रे तथोदितम् ।
मनःप्रभृतिसर्वस्वं[१] तासु नास्ति हरेः परम् ॥
इति ज्ञापितमेतेन विप्रयोगदशासु वै ॥

यद्वा. **आत्मना प्रथमे**त्यादिनोक्तं पञ्चविधत्वं प्रत्यध्यायोक्तलीलायामपि ज्ञेयम्. तथाहि. प्रियाभ्यः फलं दातुं तथा रूपप्राकट्यं कृत्वा स्थित इति **भगवत्पदेनात्मना** लीलोक्ता. "मनश्चक्रे" "कृष्णगृहीतमानसा" इत्यादिनाऽन्योन्यं चित्तव्यतिषङ्गो निरूपित इति **मनसा.** ततः "स्वागतं व" इत्यादिकथना**द्वचसा**[२]. तादृग्ववचनश्रवणेपि प्राणानां स्थितिस्तु, प्राणरूपेण भगवानेव वाग्द्वारा प्रविष्ट इति, **प्राणैः** सा. अतएव मूले "प्रतिभाषमाणमि"त्युक्तम्.

प्रकाशः

मदि"त्यत्र स्फुटीभविष्यति. एवं चात्मादीनां कर्तृत्वमेव, न करणत्वमित्याशयेनाहुः **अन्ये**त्यादि. एतन्निरूपणप्रयोजनमाहुः **मन** इत्यादि. तथा चान्तरफलसिद्ध्यर्थमेवं कृतवानित्यर्थः. अत्र लीलाक्रमे बीजं तु– प्रथम आत्मना लीलेति आत्मा चाधारभूतं लिङ्गमुपजीवतीति, द्वितीये मनसा, ततः प्राणबन्धनत्वेन मनसः प्राणाधीनतया तदुपजीव्यत्वाद्वाचश्च प्राणविकारतया तदन्तर्गतत्वेन तृतीये वाक्प्राणैः, तत इन्द्रियाणां प्राणव्रतत्वेन प्राणोपजीवकत्त्वाच्चतुरीये तैः, ततः शरीरस्य तत्सर्वोपजीवकत्वात्तेनेति– श्रौतवासनारूपं बोध्यम्. एतेन सङ्गतिरप्युक्तप्रायैवेति न पृथक्तदुक्तिः. अस्मिन् पक्षे भक्तस्वरूपन्यग्भावेन रसात्मकस्य भगवतो लीलेति (उक्तं!) भवति, न तु रसवतः. भगवांस्तु रसवानपीति तत्त्वेनापि सा वाच्यैव, अन्यथा मूलस्थ[३] वाक्यासङ्गतेरित्यभिसन्धाय आत्मादीनां करणत्वस्याप्यविरुद्धत्वात्तद्घटितं पक्षान्तरमाहुः **यद्वे**त्यादि. **प्रतिभाषमाणमि**ति. **भाषमाण**पदेनैव चारितार्थ्येऽपि **प्रति**शब्दोपादानात् स्वप्रवेशप्रतिकूलतया भाषमाणमित्यर्थः. सुबोधिन्यां **व.क्प्राणैरि**त्येकपद्यादग्रिमाध्यायलीलासु वाक्प्राणैक्येनैव लीलाया विवरिष्य-

१. सव स्वं न्रू. पा. २. वाचा सेति मूले पाठः.
३. मूलस्य इति मुद्रितपाठः मुं. वि.-मांडपाठमनुसृत्य संशोधितः.

टिप्पणी

बलं हि प्राणानां धर्मः, एते चालौकिका इति भगवद्वशीकरणलक्षणं बलं संपन्नमिति स्वामिनीवाग्रूपत्वं प्राणरूपत्वं चेति तथा. तत इन्द्रियशरीरयोः सेति स्पष्टम्. तिरोधानमपि कायिकमिति तथेति प्रथमाध्यायस्थितिः. तिरोधानदशायामेतासामात्मा भगवत्येव प्रविष्ट इति स एवात्मत्वेनैतासु स्थितः कार्यं कृतवानि**त्यात्मना** सा. एवमेव मनःप्रभृतीन्द्रियान्तं ज्ञेयम्. "नात्मागाराणि सस्मरुरि"ति वाक्याद्देहस्मृतिरहितानां पुनः पुलिनागमनं स्वतो न सम्भवतीति **शारीरी** सा. तृतीयेऽध्याये व्रजोत्कर्षहेतुत्वं दर्शनाभावेन वधहेतुत्वं रक्षकत्वमलौकिकत्वे सति ब्रह्मप्रार्थनया प्राकट्यं च स्वरूप-

लेखः

प्राणानां धर्म इति, "अन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलमि"ति श्रुतेर्बलस्य प्राणजन्यत्वादिति

योजना

आत्मना प्रथमा लीलेति. अत्र पक्षद्वयं टिप्पण्याम्. तत्र प्रथमपक्षे आत्मना प्रथमाध्याये लीला, मनसा द्वितीये, वाक्प्राणैस्तृतीये, इन्द्रियैः चतुर्थे, शरीरेण पञ्चमे— एवं पञ्चस्वध्यायेषु एकैकेव[१] लीला एकैकस्याध्यायस्यार्थः. द्वितीयपक्षे तु आत्मादिभिः पञ्चापि लीलाः पञ्चस्वध्यायेषु सर्वत्रोच्यन्त इति. तत्र यद्यपि पुरुषोत्तमस्य "स यथा सैन्धवघन" इतिश्रुतेः सैन्धवघनवदानन्दैकरूपत्वेनैकरसत्वात् करचरणादीनामानन्दमयत्वेन साकारस्य प्रतीयमानस्यैवात्मरूपत्वं, नतु प्रतीयमाने पुरुषोत्तमदेहे जीववदात्मस्थितिः, तथापि "पश्यन् चक्षुर्वदन् वाक्" इति श्रुतेस्तत्तदिन्द्रियकार्यं कुर्वन् भगवानेवेन्द्रियरूपः, तथा आत्मकार्यं कुर्वन् **आत्म**शब्दव्यवहार्यो भवतीति भावः. अतएव श्रीमत्प्रभुचरणैष्टिप्पण्यां "यथेन्द्रियादिरूपत्वं शुद्धस्य ब्रह्मणस्तथा आत्मत्वादिस्वरूपत्वं मन्तव्यं श्रुतिवाक्यत" इत्यनेनात्मरूपता ब्रह्मणो निरूपिता. आत्मकार्यं तु पुरञ्जनोपाख्याने स्पष्टम्. तत्र हि केवलस्यात्मनो लिङ्गशरीरसंबन्धकरणं स्थूलदेहवासकरणं च वर्ण्यते. अतः प्रथमतः सर्ववस्तुसंपादनं आत्मकार्यम्. एवमत्रापि "रन्तुं मनश्चक्र" इत्यादिषु वाक्येषु नूतनाया मनआदिसर्वसामग्र्याः करणं निरूपितम्. अत आत्मकार्यमस्मिन्नध्याये वर्णितं बोद्धव्यम्. अग्रे कारिकाणामर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः (६-९).

१. एकैकेन इति मुद्रितपाठः. जय. पाठः गृहीतः.

टिप्पणी

मात्रस्यैवे**त्यात्मना** या लीला सा चतुर्भिरुक्ता. ततोग्रे [१]निकटागमन-द्विविधरमण-मुख्यरसदानानि प्रार्थितानि, तानि चोद्दीप्तभावपूर्वकाणि, भावाश्च मनोनिष्ठा इति तल्लीला चतुर्भिरुक्ता. तत एकेन प्राणस्थितिहेतुत्वेन कथास्वरूपं निरूपितम्. तत्र वाक्प्राणरूपत्वं स्पष्टम्. ततोग्रे प्रहसितेक्षणादिकं चेन्द्रियकार्यमिति तल्लीलोक्ता. ज्ञानकर्मभेदेनेन्द्रियं द्विविधमिति द्वाभ्यामेवोक्ता. ततो दिनान्ते स्वयमागत्याननं प्रदर्शयतीति **शारीरी** सा. एतदग्रे शारीरीत्वं स्पष्टम्. अधरामृतदानस्य रतान्तःपातित्वेन तदपि तथा. अटव्यटनं स्पष्टम्. दर्शनेऽन्तरायस्य दुःखदत्वे हेतुः स्वरूपमेवेति सापि तथा. अग्रे त्यागोपि दैहिक एवेति तथा. अग्रे चाननोरसोर्देहमध्यपातित्वेन सापि लीला तथा. ततोग्रे स्वरूपाभिव्यक्तिप्रार्थनमिति तथा. अग्रे चरणाम्बुजरुहं[२] देह इति स्पष्टम्. स्वामिनीनां हि बहिःप्राकट्यमेव भगवतोऽभीष्टम्, तदैवेश्वरवादोऽन्यदा शून्यवाद इति ज्ञापनायैश्वर्यसमानसंख्याकैः श्लोकैः दैहिकी सा निरूपिता. तुरीयेऽध्याये प्रियप्राकट्येन पूर्वदशाखिलापि विस्मृतेति ज्ञापनायोक्तक्रमातिक्रम उच्यते. दैन्यभावबहिःप्रकटनरूपाभ्यां[३] साधनफलरूपाभ्या**मात्मना** सा. ततः सर्वासामुत्थानं भगव**न्मनसै**वेति सा तथा. तत **इन्द्रियै**रिति स्पष्टम्. ततोऽग्रिमलीलायोग्यस्थले गतिः, तत्रासन उपवेशनादिकं **शारीरम्.** ततो **वाग्रू**पत्वं भगवता चातिरोधानकथनाद्वाचः **प्राणरू**पत्वं चेति. पञ्चमेऽध्याये प्रतिबन्धक-निवर्तनेन स्वाङ्गैः पोषणेन च पूर्ववद् भावसंपन्नाः प्रियाः कृता **इत्यात्मना** सा. क्रीडाया मानसरसोद्गमहेतुत्वेन तदारम्भस्तथा. शोभोभयोरपि क्रीडा-

प्रकाशः

माणत्वाच्चात्र भेदेन तल्लीलाकथनं (कथं!) युज्यत इत्याशयेनाहुः **बलं हीत्यादि.** तृतीयाध्यायलीलाविमर्षे **इति तथे**ति, **इति** हेतोः स्वरूपाभिव्यक्तिः शारीरी लीलेत्यर्थः. **ऐश्वर्येत्यादि**, अणिमादिभेदेन तस्याष्टविधत्वात्तत्तुल्यसंख्यै-रित्यर्थः. [४]एवमध्यायपञ्चके आलम्बनरूपीय-पञ्चलीलाविवरणेन तल्लीलायामपि क्रमः समर्थितः. तत्र सकृदपि पञ्चलीलाकरणेन रूपप्रतिष्ठाभिरध्यायान्तरलीला-

१. [१]गमनाद्विविधेति तु टिप्पणस्थोऽशुद्धः पाठो मूले नास्ति. २. चरणाम्बुरुहम् मू. पा. ३. प्रकटरूपाभ्यां मू. पा. ४. इदं शोधपत्रं **एवमित्यारभ्य हरिप्रियेत्यादी**त्यन्तं मूलश्रीहस्ताक्षरपुस्तके नास्तीत्यतो रामकृष्णभट्टपुस्तकतो निवेशितम्.

टिप्पणी

सामयिकीति सापि मानस्येव. ततोग्रे भगवत्साम्येन गानं **वाक्प्राणैः** सा. ततः स्कन्धग्रहणाघ्राण-रसास्वादनादि-हस्ताब्जधारणा**न्तेन्द्रियैः** सा. ततोग्रे **शारीरी.** अथवा. "शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा[१] नराः रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रम" इतिवाक्यादत्रोभयोरुद्भटभावत्त्वेन सर्वत्र सर्वा लीलात्रोच्यत नायं क्रमो विवक्षितः. एतच्च यथातथा स्वयमेव भावनीयम्.

रूपं प्रतिष्ठितमिति हरिप्रियास्विति शेषः; [२]पूर्णस्वरूपानन्दो दत्तोऽभवदित्यर्थः (६-७).

आद्येऽध्याये प्रभुरुक्तरूपात्मना लीलां कृतवानिति भक्तानामप्यात्मन्येव

प्रकाशः

वैयर्थ्यं क्वचित्क्रमभङ्गो यदुक्तस्तत्राप्यालम्बनीयतारूपेण बीजाभावश्चेत्याशङ्कां हृदि कृत्वा पक्षान्तरमाहुः **अथवे**त्यादि. **शास्त्राणामि**ति. इदं श्लोकरूपं वात्स्यायनसूत्रम्. तथा च रसशास्त्रमर्यादायास्तथात्वान्न क्रमस्य विवक्षितत्व-मित्यर्थः. अत्रेदं बोध्यं– भगवतो रसरूपत्वस्य तदालम्बनत्वस्य[३] च स्वाभाविकत्वाद्भक्तानां सर्वात्मभावस्य तद्रसात्मकतया तथात्वात् क्रमस्याविवक्षितत्वेपि "अन्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित" इति तत्प्रकरणीयश्रुतेर्भेदस्य सत्त्वात्सकृल्लीलाकृतौ तदनिवृत्त्या लयासम्भवात्तदर्थमसकृत्तत्करणं विवक्षितम्, सधर्मत्वस्य स्वाभाविकत्वाच्चेति नेतराध्यायलीलावैयर्थ्यम्. तथा सति प्रथम-पञ्चविधया आत्मनि, ततस्तादृश्या मनसीत्येवं पञ्चसु पञ्चविधधर्मसहित-स्यालम्बनस्य प्रतिष्ठायां भक्तस्वरूपस्य सम्यक्तया लय इति न सुबोधिनीविरोधगन्धः, शास्त्रीयहेतोरुक्तत्वाच्च न पूर्वत्र क्रमत्यागदोषश्चेति. तदेतद्धृदि कृत्वा **रूपं प्रतिष्ठितमि**ति विवृण्वन्ति **हरिप्रिये**त्यादि (६-७).

एवं प्रथमप्रकरणीयाध्यायविभागमुक्त्वा निर्वाहकत्वं कार्यकारणभावो वावान्तरयोः सङ्गतिरिति बोधयित्वा पञ्चविंशषड्विंशयोरपि साधनफलरूपैव सङ्गतिः परं विशेषरूपेणेति बोधयितुमध्यायार्थं वदन्तीत्याशयेनाहुः **आद्य** इत्यादि. **उक्तरूपात्मने**ति स्वामिनीभावरूपात्मना. **आत्मन्येवे**ति, जीवात्मलिङ्ग-रूपे मनसि भावरूपेण प्राकट्याल्लिङ्गान्तःस्थस्य जीवस्यैव नैकट्यात्तत्रेत्यर्थः.

१. °न्मान्दरसा मू. पा. २. पूर्णः स्वरूपानन्दो मू. पा.

३. तदालम्बनस्य इति मुद्रितपाठः मांड:- मुं. वि.-जूनागढ पाठान् अनुसृत्य संशोधितः.

षड्विंशे तु हरिः पूर्वं जीवानानन्दयत्स्वयम् ।

टिप्पणी

स्वानन्दं पूरितवानित्याहुः **जीवानानन्दयदि**ति. आत्मन इत्यर्थः. अतएव प्रभुणा तादृग्रसभावः पूर्णोऽत्र कृतो येन प्रभुवचनेभ्योपि निरपेक्षा जाताः. ततः क्रमेणातिशयितभावस्तथा कृतो येन स्वरूपादपि निरपेक्षा जाताः, यतो मानोभूत्. तथा च भगवद्भावस्य नित्यत्वादयं भावः स्थायिभाववत्सदा स्वामिनीष्वस्तीति ज्ञेयम्. यतोस्मिन् रसे नायिकाप्राधान्यमेव[१] निर्वहति. अग्रे यदात्यदिः कथनं तदेतस्यैव भावस्यावस्थाविशेषसम्बन्धि-व्यभिचारिभावाना-मेव. अतएवाग्रे "ईषत्कुपिता" इति वक्ष्यते. द्वितीयतृतीयादिलीलाकरण-भूतमनोवाक्प्राणादिषु रसपूरणं च तथैव भवेदिति तथेति भावः. "यमेवैष वृणुत" इति श्रुतेरेतावत्स्वतो भगवता कृतम्, न तु साधनबलेनैतास्वित्याहुः **स्वयमि**ति. तर्हि नादेनाकारणं गमनबोधनादिकं **चानुपपन्न**मित्याशङ्क्य,

प्रकाशः

आनन्दपूरणे गमकमाहुः **अतएवे**त्यादि. **अतएवे**ति एतस्य भावस्यात्म-रूपत्वादेवेत्यर्थः. एतस्य **निरपेक्षा** इत्यादिना सम्बन्धः. एतस्य प्रयोजनमाहुः **यत** इत्यादि. तस्यापि प्रयोजनमाहुः **द्वितीये**त्यादि. एवं प्रकारकमत्रत्यं सर्वं भगवतो गजजलपानन्यायेन स्वस्वरूपानुभवार्थमित्यात्मारामत्वस्यैव निर्वाहक-मित्यतिगूढाशयं प्रकटयितुं वदन्तीत्याशयेनाहुः **यमेवे**त्यादि. सर्वात्मभावस्य

लेखः

भावः. **अयं भाव** इति स्वामिनीविषयकभावकृतस्तत्प्राधान्यात्मा[२] भावः,

कारिकार्थः

जीवानानन्दयत् स्वयमिति, एतावत् स्वतो भगवता कृतं न तु साधनबलेनेत्यर्थः. तर्हि नादेनाकारणं "प्रतियात व्रज नेह स्थेयमि"त्यादिना गमनबोधनादिकं चानुपपन्नमित्याशंक्य तत्रोपपत्तिं वदन्तो भगवान् लीलां कुर्वन् शास्त्रमर्यादामपि प्रदर्शयतीत्याशयेनाहुः **ते चेत् समर्पितात्मान** इति सार्धेन. सर्वात्मभाववन्तश्चेद् भक्ता भवन्ति तदैवायं रसः प्राप्यो नान्यथेत्यर्थः. सर्वात्मभावोपि भगवत्कृत एव भवति नान्यथेति ज्ञापनाय तदुपायरूपरिरंसा-चन्द्रोदय-गान-निषेधवचनान्युक्तानीत्याहुः **तत्रोपायश्च रूप्यत** इति. **तत्र**

१. प्राधान्यमेवमेव मू. पा. २. जो. पाठः. तत्प्राधान्यात्मभावः इति मुद्रितः पाठः.

ते चेत् समर्पितात्मानस्तत्रोपायश्च रूप्यते ॥(८)॥
आत्मा यावत् प्रपन्नोऽभूत्तावद्वै रमते हरिः ।

टिप्पणी

तत्रोपपत्तिं वदन्तो भगवान् लीलां कुर्वन् शास्त्रमर्यादामपि प्रदर्शयतीत्याशयेनाहुः **ते चेत्समर्पितात्मान** इति सार्धेन. सर्वात्मभाववन्तश्चेद् भक्ता भवन्ति तदैवायं रसः प्राप्यो नान्यथेत्यर्थः. एतेनैतास्वेवैवं रमणं कुतो नान्यास्विति शङ्कापास्ता. सोपि भगवत्कृत एव भवति नान्यथेति ज्ञापनाय तदुपायरूपरिरंसा-चन्द्रोदय-गान-निषेधवचनान्युक्तानीत्याहुः **तत्रोपायश्च रूप्यत** इति. **तत्र** समर्पितात्मत्व इत्यर्थः. अन्तर्गृहगतकथयैतद्भावरहितानां नैतत्प्राप्तिरित्यत्र निदर्शनमप्युक्तमिति **च**कारार्थः. मानतिरोधानाभ्यामन्यापि सा मर्यादा ज्ञाप्यत इत्याहुः **आत्मे**ति. लडर्थे लुङ् छान्दसः. रसमर्यादामग्रे स्वयमेव वदिष्यन्त्यन्त्यश्लोकद्वये. अन्तः-

प्रकाशः

निष्कृष्टं स्वरूपं वदन्तीत्याशयेनाहुः **सोपी**त्यादि. **सोपी**ति सर्वात्मभावोपीत्यर्थः. एतेन भगवदनुग्रहविशेषैकलभ्यः "स एवाधस्तादि"त्यादिश्रुत्युक्तभावासाधारण-कारणभूतो यः स्थायीभावः सः सर्वात्मभाव इति तत्स्वरूपादिलक्षणं बोध्यम्. यथा जीवानां चिदात्मकत्वं तथा स्थायित्वं लौकिकेपीति तद्वारणाय 'लभ्य' इत्यन्तम्. शेषं कार्यलक्षणं फलोपधानाय श्रौतत्वाय चेति लिङ्गभूयस्त्वाधि-करणादवगन्तव्यम्. भगवद्विषयक[१]रत्याख्यस्थायित्वमपि न तल्लक्षणमिति ज्ञापनायाहुः **अन्त**रित्यादि. एतस्य भावस्य लौकिकालौकिकविलक्षणत्वज्ञापनाय वदन्तीत्याशयेनाहुः **माने**त्यादि. **से**ति सर्वात्मभावसम्बन्धिनी. एवमेकेन

कारिकार्थः

समर्पितात्मत्वे इत्यर्थः (८).

मानतिरोधानाभ्यामन्यापि मर्यादा ज्ञाप्यत इत्याहुः **आत्मा यावत्प्रपन्नोऽभू**दिति. 'भवती'ति वक्तव्ये **अभू**दिति प्रयोगे लडर्थे लुङ् छान्दसः. **आत्मा यावत्**पर्यन्तं **प्रपन्नो** भवति **ताव**देव हरिः **रमते** बहिः प्रकटो भवति, अन्यदा तु बाह्यत**स्तिरोधत्ते**. कुतः इत्याकांक्षायामाहुः **सोन्तःकरणसम्बन्धी**ति, **सः** हरिः अन्तःकरणसम्बन्धी अतोऽन्तःप्रपत्त्यभावे बाह्यतस्तिरोधानं युक्तमिति भावः. एतच्च टिप्पण्यां चतुर्धा व्याख्यातम् (९).

१. विषय° इति मुद्रितपाठः मुं. वि.पाठमनुसृत्य संशोधितः.

सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्ते हरिश्च सः ॥(९)॥

टिप्पणी

प्रपत्त्यभावे बाह्यतस्तिरोधत्ते. तत्र हेतु**रन्तःकरणसम्बन्धीति–** यथा पतिपुत्रादिः शरीरसम्बन्धी तथा हरिः सर्वभावप्रपत्त्येकलभ्य इति सा चान्तःकरणधर्म इति तथा. तथा च हेत्वभावे कार्याभावो युक्त इति भावः. तिरोधानमपि मानजदुःखहरणार्थमेवेत्याहुः **हरिश्च स** इति. अत्र **हरि**पदस्यायं भावः. "एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं, ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः, नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात्, तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीदि"ति वाक्याद्यथान्यैररक्षणे जाते स्वयमाविर्भूय रक्षितवान्, एवमन्वेषणादिसाधना-नामसाधकत्वेऽतिदैन्ये[१] सति तन्निवारणाय स्वयमाविर्भूय सर्वं कृतवानिति. अथवा. अन्तःकरणसम्बन्धी सन् तत्र स्थितः सन् बाह्यतस्तिरोधत्त इत्यर्थः. यद्वा. मानस्यायं हि सहजो धर्मो यन्नायकतिरस्कारोऽवचनानीक्षणादिभिः, प्रकृते च तत्कार्यं स्वयमेव प्रभुः कृतवान्. न केवलमधुनैवं किन्तु सार्वदिकीयं व्यवस्थेत्याहुः **सोऽन्तःकरणे**ति. **सः** पूर्वोक्तरसभावात्मकएव प्रभुः **स** मानात्मकः **सन्नन्तःकरणसम्बन्धी** चेत्तदा बहिस्तथेत्यर्थः. यद्वा. कायिकचेष्टया

प्रकाशः

प्रकारेण वैलक्षण्यं व्याख्यानाद्दुर्लभत्वमस्य (त्वं चास्य!) फलस्य प्रदर्शितम्. एवमपि कुर्वन्नानुगृहीतांस्त्यजतीति बोधनाय प्रकारान्तरेणोत्तरार्धं व्याकुर्वन्ति **अथवान्तःकरणे**त्यादि. अन्तःप्रपत्त्यभावे सर्वभावप्रपत्तिजननार्थं तत्र स्थितः सन् बाह्यतस्तिरोधत्ते, नत्वन्तरत इति द्वितीया मर्यादेति भावः. तृतीयामाहुः **यद्वा मानस्ये**त्यादि. एतां व्यवस्थापयितुं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **यद्वा कायिके**त्यादि. सर्वमेतत् श्रीमदाचार्यैः"स्तासां तदि"ति श्लोके विवेचनीयमतो न क्वापि कोपि विरोधलेशः (८-९).

लेखः

स्वामिनीप्राधान्यमिति यावत्. **संबन्धी तथा हरिरि**ति, एतस्याग्रिमेण **तथे**त्यनेनान्वयः. पत्यादिवद्ध**रिस्तथा** अन्तःकरणसम्बन्धीत्यर्थः. तद्व्युत्पादितं **सर्वेत्यारभ्येती**त्यन्तेन. **गीतगोविन्दादिष्वि**ति. अत्र तु कायिकानन्ददाने मानो न जात इति तथाऽकरणम् (बहिरेव मानापनोदाकरणं) इति भावः (५-९).

१. 'मसाधनत्वेनातिदैन्ये मू. पा.

प्रथमं भजनानन्दं निरूपयितुं स्त्रीषु स्वानन्दः स्थापनीय इति तासु रत्यर्थमिच्छां कृतवानित्याह **भगवानपीति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः[१] ॥१॥

"मयेमा रंस्यथ क्षपा" इति या रात्रयो वरत्वेन दत्ताः, स्त्रीणां रमणार्थाः, ता रात्रीर्भगवान् परिगृह्य, सर्वास्वेव रात्रिषु ता आधिदैविकीरारोप्य,

टिप्पणी

मानापनोदनं कुतो न कृतवानित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाहुः **स** इति. अन्तर्ज्ञानादिकार्यकरणं येनेत्य**न्तःकरण** आत्मा **तत्सम्बन्धी** यतोऽतस्तथेत्यर्थः. आद्येऽध्याय आत्मनैवैतदात्मनि स्वानन्दं पूरितवानित्यन्तरेव च सोऽस्तीत्यन्तरेव प्रविश्य [२]तद्धर्मापनोदनं कृतवानित्युच्यते. यदा कायिकमानन्ददानं करिष्यति तदा बहिरेव तथा करिष्यतीति भावः. अतएव गीतगोविन्दादिषु तथैव गीयते. **हरिरि**ति पूर्ववत् (८-९).

आद्यश्लोके **सर्वास्वेव रात्रिष्वि**त्यादि. ननु तासां रात्रीणां नित्यत्वाद् दिवापि सत्त्वेन तेष्वप्येतद्रात्रिप्राकट्यं कृत्वा रमते उत लौकिकीषु रात्रिष्वेव

लेखः

सुबोधिन्यां **भगवानपी**त्यस्याभासे **प्रथममि**ति पञ्चप्रकारकमध्ये आत्मनेत्यर्थः. **स्त्रीष्वि**ति प्रसादयुक्तेष्वात्मस्वित्यर्थः. **स्वानन्द** इति आत्मानन्द इत्यर्थः. **तास्विति**, तत्सम्बन्धिरात्रिदर्शनस्य हेतुत्वोक्त्येति भावः. मनःस्वरूपस्य करणासम्भवात्तद्धर्मस्यैव करणमित्याशयेनाहुः **इच्छामिति**, काममित्यर्थः. उद्गतेच्छाया एव कामत्वोक्तेरिति भावः.

व्याख्याने **परिगृह्येति**, ईक्षणे नायकभावरूपविशेषस्य हेतू रात्रिपरिग्रह इत्यर्थः. परिग्रहं विवृण्वन्ति **सर्वास्विति आरोप्ये**त्यन्तेन. वीक्षणहेतवो विशेषाः

योजना

भगवानपीत्यस्याभासे **स्त्रीषु स्वानन्दः स्थापनीय** इतीति. प्राकृते लोके हि भोगादिना आनन्दलेश उत्पाद्यते, सोऽपि न चिरस्थायी. इह तु स्वरूपात्मक आनन्दो रमणेन व्रजसुन्दरीषु स्थाप्यते. स तु स्वरूपात्मकत्वान्न

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्. २. तद्धर्मापनोदं मू. पा.

पूर्णत्वात्तासां पूर्णिमारूपाः कृत्वा, ऋतुमपि शरदमेव कृत्वा, तस्यापि कार्यं पुष्पाण्येव कृत्वा, रसोद्दीपकत्वेन सर्वां सामग्रीं विधाय, पश्चाद्रमणार्थं

टिप्पणी

तथा कृत्वा तथेति शङ्कानिरासायाहुः **सर्वास्वेवे**त्यादि. यावतीषु ता आरोपितवांस्तावतीषु **सर्वासु रात्रिष्वेव** लौकिकीष्वित्यर्थः. अन्यथा "एवं शशाङ्कांशुविराजिता" इति श्लोकेन लौकिकीनां तासामतिदेशो न सङ्गच्छेत. दिवापि तथोक्तौ दोहनपयोधिश्रयण-संयावसिद्ध्यादिकं गोपानां दिवा गोचारणादिपराणामेतासु स्वपार्श्वस्थत्वेन माननं च न सङ्गच्छत इति भावः. **पूर्णत्वादि**ति, रसशास्त्रीयाभिः सर्वाभिः कलाभिः पूर्णत्वादित्यर्थः. सकल-कलापूर्णभगवन्मनःसम्बन्धिचन्द्रस्यापि सदा तथात्वात्तासु तत्प्राकट्यकरणेन तथात्वकरणमित्याशयेनाहुः **पूर्णिमे**त्यादि. अन्यदा सदोषस्य जलादेर्दोषनिवर्तकत्वं कमलादिलक्षणगुणाधायकत्वं च शरदो लोके दृश्यत इति तस्यामसाधारणो धर्मोऽस्तीति ज्ञायते. इहापि रसानुपयोगिवस्तुनिरासपूर्वकं भगवद्भाव-पोषिकाऽलौकिकी शरद्भविष्यतीति तामेव कृतवानित्याहुः **ऋतुमपी**ति. पुंसां सदोषभावस्त्रीणामप्यत्र न प्रवेश इत्यपि ज्ञापयितुं वसन्तादीनां प्रावृषश्चा-करणमिति हृदयम्. ननु रात्रीणां नित्यत्वेन तद्धर्माणामपि नित्यत्वात् तासां कालात्मकत्वेनर्त्ववश्यंभावाच्च तत्करणोक्तिविवरणे कथमुपपद्यते? न च [1]मनस इवेति वाच्यम्, तथात्राश्रुतेरिति चेद्, इत्थम्. अत्र हि वीक्षणस्य तथामनःकरणे हेतुत्वमुच्यते. तथा च सर्वविषयकापरोक्षनित्यज्ञानवतो नित्यरात्रिदर्शनस्यापि तथात्वेन तत्कार्यस्यापि तथात्वापत्तौ तत्समाधानाय वीक्षणे पूर्वस्माद्विशेषो वाच्यः. स चात्र विषयरूप एव वक्तुं युक्तः. स च विशेषणांश एव. पूर्वं तस्यानाविर्भावनादधुनैव तथाकरणाद्रसोद्दीपिकां सामग्रीं प्रभुरेव [2]कृतवानिति सुष्ठूक्तमाचार्यैः **कृत्वे**ति. यद्यपि विशेषणस्यापि नित्यत्वेनोक्तदूषणानुद्धारस्तथापि भक्तानामपि दर्शनयोग्यता तत्र सम्पादितेति तथा. नायकभावेनेक्षणमेव विशेष इति ज्ञेयम्. अत एवोपसर्गो **वी**ति.

प्रकाश

भगवानपीत्यत्र **इति तथे**ति, अनेन हेतुना दूषणोद्धार इत्यर्थः. नन्वयमेव मूलेऽर्थो विवक्षित इत्यत्र किं गमकमत आहुः **नायके**त्यादि. तथा

१. मनसैवेति टिप्पणपाठोऽशुद्धः. २. प्रकटितवानिति पाठो मूले नास्ति.

स्वानन्दप्रकाशकं कामपितामहं मन उत्पादितवान्. तत्र सर्वासु संकल्पः स्व-

टिप्पणी

वस्तुतस्तु तत्तत्क्षणसम्बन्धिनी लीला नित्यैवोच्यत इति नानुपपत्तिः काचित्.

प्रकाशः

च मूले **रन्तुं** मनःकृतिकथनेन नायकभावो बोध्यते, ततश्च **व्युपसर्गेण** तद्भाव-पूर्व**केक्षणमेवा**यातीति सएव विशेषः. स च भगवदीयत्वान्न निरर्थक इति स्वकार्यं सम्पादयितुं रतिविषयेष्वपि स्वोपयुक्तां सामग्रीं दर्शनगोचरां कारयतीत्येतावत्पर्यन्त एवावसीयते, तेन **विपदमेव** गमकमित्यर्थः. नन्वेवमपि वीक्षणस्येदानीन्तनत्वेन नित्यत्वं तु न सिध्यतीति न दूषणोद्धार इत्यत आहुः **वस्तुत** इत्यादि. तथा च लीलानां नित्या[1]परिच्छिन्नत्वेन क्षणानां वा तथात्वेन चक्रवन्नमागमान्न काचिदनुपपत्तिरिति भावः. इदं चात्र दिङ्मात्रमुक्तम्, विशेषस्य निबन्धविद्वन्मण्डनादौ सत्कार्यवादस्थापने प्रपञ्चनादिति. सुबोधिन्यां **सामग्रीं विधायेति**, सामग्रीविधाने रोदस्योरपि विद्वन्मण्डनोक्तदिशा दहराकाश-भगवन्मनःस्थाधिदैविकभूरूपत्वमवगन्तव्यम्, "यामैरयन् चन्द्रमसी"तिवत्. **तत्रेति** सामग्रीसम्पादने. **तत्रेति** तासु सङ्कल्पोद्बोधने. अत्र मनसः करणत्वेन

लेखः

परिगृह्येत्यारभ्य विधायेत्यन्तेनोक्ताः. **कामपितामहमिति**. **रन्तुं मनश्चक्रे** इत्युक्ते रमणस्य कामसाध्यत्वात् कामस्य संकल्पजत्वान्मनसः कामपितामहत्वं सम्पादितवानिति सम्पन्नम्. तथा चाग्रे कामवर्णनात् सङ्कल्पं ततः कामं च कृतवानित्यर्थः. **तत्र सर्वास्विति**. देवसाहित्येन (भगवन्मनोरूप-चन्द्रसाहित्येनेत्यर्थः) कामजनने सति **स्वस्मिन्** स्थितो**ऽपि सङ्कल्पः सर्वासु बोधनीयः** गानेनेति शेषः. स्वसङ्कल्पबोधनेन तासामपि सङ्कल्पोदयो जातः. स च (वामदृशां) **मनोहरमिति**पदेनोक्तः. गानं मनो हरति स्वाधार-

योजना

ध्वंसप्रतियोगीत्यप्राकृतत्वमेव स्फुटीभवति. **तत्र सर्वासु संकल्प** इत्यादि, **स्वस्मिन्** वर्तमानो यो व्रजस्त्रीरमणसंकल्पः स **सर्वास्वपि** व्रजस्त्रीषु **बोधनीय** इत्यर्थः. सर्वासु व्रजस्त्रीषु कथं बोधनीय इत्याकांक्षायां वेणुना बोधनीय इत्याहुः **तत्र वेणुरपि सहायतां प्राप्स्यतीति** ॥१॥

१. नित्यपरिच्छिन्न इति मुद्रितपाठः मुं. वि. पाठमनुसृत्य संशोधितः.

स्मिन्नपि बोधनीयः. तत्र वेणुरपि सहायतां प्राप्स्यति. ततः कामवर्णनम्. अतः प्रथमं तादृशं मनः कृतवान्. यद्यपि एतत्प्रणालिकाव्यतिरेकेणापि स्वानन्दं तत्र स्थापयितुं शक्तः तथापि मर्यादा निष्ठत्विति **भगवानपि मनश्चक्रे**. नन्वेवं सति स्वानन्दः स्थानत्यागाद् अन्यथा भवेत्, ततः स्वरूपादपि प्रच्युतः स्यादित्याशंक्याह **योगमायामुपाश्रित** इति. योगमाया हि यथास्थितमेवान्यत्र स्थापयति, यथा सङ्कर्षणम्. लीलार्थं सापि पूर्वं परिगृहीतेति नापूर्वं किञ्चित्. यथा प्रमाणे रक्षायां च बलभद्रोपयोगः एवं कार्ये योगमायायाः. तत्राप्यन्तरङ्गा योगमाया, अन्यत्र स्थितं प्रमाणमन्यत्रापि योजयति, अन्यत्र स्थितं

टिप्पणी

यद्यपीत्यादिनाऽ**पि**शब्दार्थ उक्तः. **तथापि मय**दिति रसमयदित्यर्थः. **एवं कार्ये योगमायाया** इति, भजनानन्ददानलक्षणे कार्य इत्यर्थः. **अन्यत्र स्थितं प्रमाणं** वेदात्मानं सङ्कर्षणं देवक्यां स्थितं रोहिण्यां योजितवती, स्वयमाविर्भूय मथुरायां स्थित**मानन्द**रूपं प्रभुं गोकुले, तथात्रापि पूर्वं गोपानां गृहेषु स्थिता ऋचोऽधुना भगवति योजयति, भगवति स्थितमानन्दं च तास्वित्यर्थः.

अत्र कश्चिदाह– आनन्दस्य सुखरूपत्वादमूर्तस्यान्यत्र गमनासम्भवात्प्रिय-

लेखः

विषयकसङ्कल्पयुक्तं करोतीत्यर्थः. **तत्रे**ति. बोधने गानं करणं, वेणुः सहायः. केवलगानेन तावद्दूरं शब्दो न गच्छेदिति भावः. **कामवर्णनमिति. अनङ्गवर्धनमि**तिपदेन तत्स्थित[१] (गीतस्थित) कामवर्णनमित्यर्थः. **एवं सती**ति रमणेन स्वानन्दस्थापने कृते सतीत्यर्थः. **स्वानन्द** इति आत्मानन्दो, न तु धर्मरूप इत्यर्थः. **स्थानत्यागा**दिति, स्वरूपस्य स्वाधारत्वात्तदानन्दस्य स्थानं स्वरूपमेव, हस्तपादादेर्देह इवेत्यर्थः. **अन्यथा भवे**दिति, जीवधर्मत्वं प्राप्नुयादित्यर्थः. **स्वरूपादपी**ति, अन्यत्र गतौ तस्य पुरुषोत्तमानन्दत्वं न स्यादित्यर्थः. *(**प्रमाणे** इति निमित्तसप्तमी. प्रमाणसम्बन्धिनि कार्ये तद्विरोधपरिहारार्थं बलभद्रोपयोगः. तदुक्तं वत्सासुरप्रसङ्गे **दर्शयन् बलदेवाये**त्यत्र "वत्सवधस्यानुचितत्वमाशङ्क्य वेदरूपबलदेवाय तत्सम्मत्यर्थं प्रदर्शनमि"ति. **रक्षाया**मिति, प्रतिबन्धकानागमनेन रसरक्षार्थमित्यर्थः. **तत्राप्यन्तरङ्गे**ति स्वरूपानन्दविरोधनिवर्तिकेत्यर्थः. विरोधपरिहारमाहुः **योजयती**ति, युक्तं भवति तथा स्थापयतीत्यर्थः. एतदा-

१. तत्स्थेन इति जो. पाठः. * शोधपत्रम्.

टिप्पणी

सङ्गनिमित्तकः स्वामिनीषु सुखविशेष उत्पन्न इत्येव वक्तुं युक्तम्, अतो योगमायाश्रयणनिमित्तकथनमनुपपन्नमिति. स वक्तव्यः– "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त" इत्यादिश्रुतिभ्य "आनन्दमयोऽभ्यासादि"त्यादि-न्यायेभ्यश्च धर्मिग्राहकप्रमाणभूतेभ्य आनन्दमयत्वं भगवत्स्वरूपे मन्तव्यम्, अनिच्छतापि त्वया. तथैव चिद्रूपस्य धर्मरूप'भग'शब्दार्थज्ञानरूपत्ववत् "प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वादि"ति न्यायाद्धर्मरूपतापि. तथा च "तदेजती"ति श्रुतेस्तस्य गतिरूपत्वमप्यङ्गीकार्यम्. अतएव व्यापकत्वेऽपि गतिलीलोपपद्यते, दामोदरलीलेव. वस्तुतस्तु स्वरूपमर्यादामप्यतिक्रम्य भक्तार्थे लीलां करोतीति नानुपपत्तिः काचित्. अतएव "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती"ति श्रुतिः. सर्वात्मभावलक्षणः स्थायिभावो रसस्तमेव लब्ध्वानन्दवान् भवति. तादृशे प्रभुः स्वरूपानन्दं ददातीति तथा लाभकथनेन भगवद्दत्तएव प्राप्यते नान्यथेति

प्रकाशः

नादस्य व्यापारत्वाद्वेणोः सहकारितया सहायत्वं बोध्यम्. ननु मायाकार्यं स्थितस्यावरणम् अन्यत्र स्थितस्यान्यत्र प्रत्यायनरूपो विक्षेपश्चेति द्वितीयस्कन्धे "ऋतेर्थं यदि"त्यत्र सिद्धम्, इयं चान्तरङ्गेति तद्विलक्षणमत्र किं करिष्यतीत्या-कांक्षायां तत्कार्यं यदाचार्येरुक्तं तद्विवृण्वन्ति **वेदे**त्यादि. तथा च यथा बहिरङ्गा मनोवृत्तीरन्यत्र नयति, तथेयमन्तरङ्गैतत्करोति तदपि करोति, तच्च "मन्यमानानि"त्यनेन वक्ष्यते. एवं चात्र यथास्थितनयनमेव ततो वैलक्षण्यमिति भावः. "मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ श्रेयो वदन्त्यनैकान्त्याद्यथाधर्म यथारुची"त्यत्र प्रमाणस्यान्यत्र योजनं तत्कार्यं दृष्टम्, नत्वानन्दस्येत्याशयेन कश्चिदाशङ्कते, तदाहुः **अत्रे**त्यादि. समादधते **स** इत्यादि. **तस्ये**ति भगवतः. **अतएवे**ति विरुद्धधर्माश्रयत्वादेव. तथा च धर्मरूपताया गतिरूपताया विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य च प्रामाणिकत्वेन आनन्दस्यामूर्तत्वाभावेन[१] च धर्मधर्मि-विचारेऽन्यत्र गतिः सुघटा, सामर्थ्यस्यापि धर्मरूपत्वान्न तदाश्रयणेऽपि दोष इत्यर्थः. नन्वत्र पुष्टिलीला भगवत उच्यते, अतो मर्यादया समाधिर्न युक्त इत्यरुच्या तद्रीत्या समादधते **वस्तुत** इत्यादि. तथा चामूर्तत्वेऽपि गत्युपपत्तिरित्यर्थः. अत्र स्वरूपमर्यादातिक्रमे मानमाहुः **अतएव रसमि**त्यादि.

१. मूर्तत्वाभावेन इति मुं. वि. पाठः.

चानन्दमन्यत्र. अतः प्रमाणातिरिक्तमार्गो भक्तिमार्गश्चाग्रे विततौ भविष्यतः.

टिप्पणी

सूच्यते. 'एव'कारः सर्वत्रानुषज्यते. तथाहि. रसमेव लब्ध्वा तथा. तं लब्ध्वा तथा भवत्येव. तथा भूत्वा आनन्द्येव भवति, न तु लौकिकदुःख्यपीति च. **अतः प्रमाणातिरिक्तमार्ग** इति, प्रमाणमार्गातिरिक्तो मार्ग इत्यर्थः. यतोऽ**न्यत्र स्थितं प्रमाणमन्यत्रापि योजयत्य**तोऽन्यभजनरहितं विवाहितपतिभजनं विदधच्छास्त्रं तत्त्यागपूर्वकं भगवत्सेवामेव विधत्त इत्यर्थस्तु स्वामिनीनां तथा भजनेन तेन च फलसिद्ध्या "या माभजन्नि"तिवाक्येन भगवता प्रत्युपकृतित्वेन कथनात्फलरूपेण चाधुना ज्ञाप्यते. तस्य मार्गत्वं च. अन्यथोन्मार्गत्वमेव भवेत्. "अस्त्वेवमेतदि"त्यादिना प्रतिपादितं च ताभिः. ईश्वरवाक्यस्याखिल-प्रमाणाधिकबलवत्त्वेऽपि स्वामिनीवाक्यैर्दुर्बलत्वमपि प्रमाणातिरिक्तो मार्ग इति ज्ञेयम्. यद्वा. प्रभुप्राप्त्यर्थं गुरूपसत्तिस्तदुक्तकरणं च भक्तानां प्रमाण-मार्गः. प्रकृते च स्वामिनीप्राप्त्यर्थं योगमायाश्रयणादिकं प्रभुः करोति करिष्य-त्यपीति प्रमाणातिरिक्तो मार्गः, यतोऽ**न्यत्र प्रतिष्ठितमानन्दमन्यत्र योजयत्य**त एतद्भावेन भजनरूपोऽत्युत्कटस्नेहजविरहभावेन सर्वत्यागपूर्वकं स्वदेहादिवि-स्मृतिपूर्वकं भगवदन्वेषणपरत्वलक्षणश्च **भक्तिमार्ग** इत्यर्थः. इदं च द्वितीय-तृतीयाध्यायादिषु स्पष्टम्. एवं सत्यस्मिन्मार्गे स्वामिन्यएव गुरव इति ज्ञापितं भवति. स्वामिनीनां विप्रयोगभावे सौभाग्यमदादिर्हेतुः. तत्र च भगवद्धर्मप्रवेश[१] एव हेतुः. अन्यथा पादरजःप्रपन्नानामेतासां मदो मानश्च न स्यातामिति भाव. ननु "एवं शशांकांशुविराजिता निशा" इतिवाक्याल्लौकिकीष्वपि रात्रिषु रमणमिति ज्ञायते. एवं सत्यलौकिकीतत्परिग्रहे गौरवं विशेषाभावश्चेत्याशङ्क्य लौकिकीनामपि तासां स्वरूपमाहुः **याश्च रात्रय** इति. **निर्मिता** इतिपदात्सर्गादा-

प्रकाशः

अनुषज्यत इति संयोगपृथक्त्वेनानुषज्यते. मार्गयोर्विततत्वं व्याकुर्वन्तो व्युत्पादयन्ति **यतोऽन्यत्रे**त्यादिना. **फलरूपेणे**ति भजनस्य विशेषणम्. **प्रतिपादितमि**ति मार्गत्वमिति शेषः. मार्गद्वयवितानप्रयोजनमाहुः **एवं सती**त्यादि. नन्वन्वेषणादिलक्षणमार्गस्य सौभाग्यमदादिदोष-प्रयुक्तत्वमेतद्गुरुषु तदारोपयतीति शङ्कायां समादधते **स्वामिनीनामि**त्यादि. तथा च प्रपत्ति-

१. भवद्धर्मप्रवेश मू. पा.

याश्च रात्रयो रमणार्थमेव निर्मिताः, **ता** एव परिगृहीताः, अन्यथा साधारणी-

टिप्पणी

वेवैतदर्थमेव भगवता सृष्टाः काश्चन रात्रयो भगवत्येव स्थिता एतावत्पर्यन्तं, लीलासमये लौकिकीष्वेव रात्रिषु स्थापयित्वा तां कृतवानिति ज्ञाप्यते. लौकिकेन्दुप्रकाश्यत्वेन गीतगोविन्दाद्युक्तप्रकारेण लौकिकरीत्यैव रमणेन चैतासां लौकिकीत्वमुच्यते. [1]तासु विवक्षितेन्दुप्रकाश्यत्वेन नायकमानोक्त्या नायकाप्रणिपातोक्त्यैतन्मान-नायकान्तर्धान-नायिकादैन्योक्त्यैतद्धेतुकतदा-विर्भावे तदधीनत्वोक्त्या प्रश्नोत्तरे परोक्षभजनोक्तौ पूर्वमननुभवेऽपि प्रत्यक्षबाधेऽपि तदनुभवतद्वाग्विश्वासोक्त्या भगवद्विचारितानुपूर्वीकस्वर-जात्युन्नयनादिभिश्चालौकिकरीत्यैवालौकिकरसदानमिति ज्ञाप्यते. उक्तार्थेषु लौकिकवैलक्षण्यं स्पष्टम्. एवं सति स्वरूपतएव वालौकिकत्वमिति विवेकः. एवं कथन उपपत्तिमाहुः **अन्यथेति**– साधारणीनां रात्रीणां तल्लीलाश्रयत्वे तासां सर्वत्रैव तुल्यत्वात् सर्वेषु देशेषु सर्वेषामेतदानन्दप्राकट्यं स्यादित्यर्थः. **अन्यथेत्यस्यैव** विवरणं **साधारणीत्यादि**. भूम्येकत्वेऽपि लीलाश्रयभूम्यधिष्ठान-

प्रकाशः

मदमानानि वदतो मूलादेव समाधिर्बोध्य[2] इति भावः. **प्राकट्यं स्यादिति**, यथा साधारणेऽपि काले सूर्यचन्द्रमःसम्बन्धे सर्वत्रालोकाह्लादादि, तथा साधारणीषु रात्रिषु लीलासम्बन्धे तथा स्यादित्यर्थः ॥१॥

लेखः

शयेनैव टिप्पण्यां "रसं लब्ध्वानन्दी भवती"ति श्रुतिस्थ'रस'पदस्यार्थः सर्वात्मभावलक्षणस्थायिभाव उक्तः. अत्रायं भावः. छान्दोग्ये "भूमा कस्मिन् प्रतिष्ठित" इति प्रश्ने "स्वे महिम्नी"त्युत्तरम्. स्वरूपभूते सर्वात्मभावलक्षणे महिम्नि प्रतिष्ठित इति तदर्थः. योगमाया सर्वात्मभावमुद्बोधयति, तदा तस्मिन् प्रतिष्ठितौ तस्य स्वरूपभूतत्वान्न स्थानत्यागशङ्केति. 'स्वे-महिम्नी'ति पदद्वयकथनेन तस्य स्वरूपत्वं धर्मत्वं चोक्तम्. तेन स्वरूपत्वमादाय भूम-प्रतिष्ठाधर्मत्वमादाय तस्य भक्तेषु स्थितिश्चाविरुद्धा. अतस्तस्य स्वरूपभूतत्वे तस्याप्यन्यत्र स्थितिः कथमिति शङ्काया नावसरः). **साधारणीपरिग्रहे** इति. यासु रात्रिषु बाललीला अन्याश्च (रमणव्यतिरिक्ताः) तादृश्यो लीला जायन्ते

१. तासामिति पाठः परं मूले नास्ति. २. बोध्यते इति जू. पाठः.

परिग्रहे सर्वत्रैवानन्दः स्यात्. **शरदि** ऋतावु**त्फुल्ला मल्लिका** यासु. **ता** दृष्ट्वा रमणार्थं **मनः** कृतवान्. **योगमायां** च समीप एवाश्रित्य स्थितः ॥१॥

टिप्पणी

त्वेनास्या नानुपपत्तिरिति भावः. ननु सर्वज्ञस्य रात्रिदर्शनमपि सार्वदिकमित्यधुना को विशेष इति चेत्तत्राहुः **शरदि ऋतावि**त्यादि. विशिष्टदर्शनं विशेष इत्यर्थः. ननु विशेषणस्यापि नित्यत्वान्न तथेति चेत्, सत्यम्. यादृशी लीलोच्यते तादृश्याएव नित्यत्वादधुनैवोक्तविशेषणवैशिष्ट्यमित्युक्तेपि न दोषः. एतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने निरूपितमस्माभिः. [1]ईश्वरस्यान्याश्रयणं हि लौकिकी रीतिः, तदुक्त्वात्र[2] तद्रीत्यापि रमणं सूच्यते. एवं सति मध्यस्थत्वेन तदा तस्या विशेषत उपयोग इति तदाश्रयणमुक्तमिति ज्ञेयम्. किञ्च. स्वाशक्ये ह्यर्थेऽन्याश्रयणं क्रियते. तथा च सर्वसमर्थस्यापि स्वानन्ददानसमये ईश्वरत्वादिधर्माज्ञानं सम्पादयितुं रसपरवशत्वेन न कर्तुं शक्यं, गोपानां चैतल्लीलाविषयकाज्ञानं तथा, आगमनसमये निषेधोक्त्या तज्ज्ञानस्य कथनात्.

लेखः

[3]तासामेवैतल्लीलायामपि परिग्रहे इत्यर्थः. **सर्वत्रैवे**ति गोगोपादिष्वपीत्यर्थः. "न चैवं विस्मय" इत्यस्य द्वितीयव्याख्याने "इयं च लीला स्वरूपानन्दरूपा तादृश्येवे"ति वक्ष्यते. स्वरूपमेव य आनन्दस्तन्निरूपिकेयं लीलेति तदर्थः. तथा च स्वरूपस्यापरिच्छिन्नत्वात्तदानन्दः स्वाधाराधेयेषु सर्वेष्वेव प्रकटः स्यादिति भावः. **शरदे**ति तृतीयाया अर्थमाहुः **शरदि ऋतावि**ति. तादृगृतौ सत्येवं जातमतो हेतौ तृतीयेत्यर्थः. **योगमायां चे**ति, रमणार्थं मनःकरणं योगमायाश्रयणं चेति **च**कारः. तथा च मूले **रन्तुमि**त्यस्योभयत्राप्यन्वयः. टिप्पण्यां **शरदि ऋतावि**त्यस्याभासे, **ननु सर्वज्ञस्ये**ति. **सार्वदिकमि**ति, लौकिकरात्रिषु रमणकालेऽपि विद्यमान(रात्रिदर्शन)मित्यर्थः. तथा चैतद्रात्रिदर्शनस्यैवालौकिकरमणेच्छायां हेतुत्वोक्तेस्तस्य च लौकिकरात्रिरमणेऽपि विद्यमानत्वेन तास्वप्यलौकिक[4]रमणं स्यात्. तदा च तासामपि रात्रीणामलौकिकीत्वमेव स्यादिति भावः. एतद्रात्रिदर्शनेऽलौकिकरमणे नियमोऽपि नास्तीत्याशयेनाहुः **ईश्वरस्ये**ति ॥१॥

१. अत्र '**योगमायां च समीप एवाश्रित्य** इति' इति प्रतीकं ऊह्यम् –सम्पा.
२. तदुक्त्यात्र मू. पा. ३. लौकिकरात्रीणाम्. ४. अलौकिकम् इति जो. पाठः.

नूतने तस्मिन् मनसि देवता नास्तीति, अनधिष्ठितं च कार्यं न साधयिष्यतीति, तदधिष्ठातृ[१]देवं चन्द्रं च ससृज इत्याह **तदोडुराज** इति.

टिप्पणी

[२]अत एतदादिकार्यसिद्ध्यर्थं योगमायाश्रयणमलौकिकरीत्या रमणेऽपीति ज्ञेयम्. अतएव "मोहितास्तस्य मायया" "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि"ति वक्ष्यति. अतएव रसोपयोगि यद्यत्कार्यं तत्तदा[३] तदा सम्पादयितुं शक्तेयमिति स्वनिकटएव मूर्तिमत्यास्तस्याः स्थापनमिति ज्ञापनार्थ**यो**पेत्युपसर्गः. एतदेवोक्तं **समीप एवाश्रित्ये**त्यनेन ॥१॥

तदोडुराज इत्यस्याभासो **नूतने तस्मिन्नि**त्यारभ्य **ससृज** इत्यन्तः. अत्रेदं प्रतिभाति. आश्रितत्वोक्त्यात्रेश्वरत्वमर्यादामुल्लंघ्य भगवानधुना प्रवृत्त इति ज्ञायते. अन्यथा रसमर्यादोच्छिद्येत. एवं सति यदवधि सर्वविकारराहित्येन नैवंविधं मनः प्रकटितमिति सपद्येतादृशस्य तस्य नूतनत्वम्. लौकिकीं रीतिमनुसृतवतस्तद्देवतापेक्षापि घटते, लोके देवताधिष्ठितस्यैव कार्यक्षमत्वात्. अन्यथा नियामकाभावेन सामर्थ्याभावेन चाल्पेनैव यथापूर्वमेव भवेत्, न तु रसैकपरवशं सदा. अत एव "आत्तगजेन्द्रलील" इति वक्ष्यति. करिणीस्पर्शमात्रेण परवशत्वं तत्र प्रसिद्धम्. युक्तं चैतद् यद् विभावादिकं विना न रसपोष इति, "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरि"ति वात्स्यायनसूत्रात्. वस्तुतस्तु "रसो वै स" इत्यादिश्रुतिभ्यो रसरूपत्वात्प्रभोः स यादृशस्तच्छास्त्रसिद्धोऽस्ति तादृशो निरूप्यत इति नानुपपत्तिः काचित्. अतएव एवंभूतस्यैव नित्यत्वमपि. एतद्विद्वन्मण्डने द्रष्टव्यम्. तस्मात्सुष्ठूक्त**मनधिष्ठितं चे**त्यादि. ननु चन्द्रस्योदयकर्तृत्वं मूले प्रतीयत इति भगवतः सृष्टिकर्तृत्वो-

प्रकाशः

तदोडुराज इत्यस्य टिप्पण्याम्. भगवन्मनस आधिदैविकत्वात्तत्र देवतानपेक्षणादाभासे **देवता नास्ती**त्यादिकथनं कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः **अत्रेदं प्रतिभाती**त्यादिना. नन्वेवं प्रणाड्या रसोद्बोधकथने रसस्य जन्यत्वापत्त्या भगवद्रूपता हीयेतेत्याशङ्कायां प्रणाडीतात्पर्यमाहुः **वस्तुत** इत्यादि. तथा च श्रुत्या रसस्य भगवद्रूपत्वे निश्चिते यथा यज्ञात्मकस्यास्मच्चेष्टाव्यङ्ग्यत्वम् एवं रसात्मक एतत्प्रणाड्या लोके व्यज्यत इति

१. दैवमिति पाठः. २. तदन्त इति पाठोऽवाच्यः. ३. तत्तत्तदा मू. पा.

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो हरन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥२॥

यदैव मनः कृतवान् **तदैव** तस्याधिदैवत**मुडुराज उदगात्** उदितो जातः. यद्यप्येकदा रात्रयो दृष्टाः तथापि क्रमेणैव तासां स्थितिः. भगवन्मनश्चन्द्रस्याधिदैविकत्वात् पूर्णएव सः, निष्कलङ्कश्च. मनस्येवाविर्भूते तस्याविर्भावः, क्रीडायामुपरतायामुपरतिः, मध्याकाशपर्यन्तमेव गमनं, नास्तमयः कदाचिदपि.

टिप्पणी

क्तिरत्र विरुद्धेति चेत्, न, अनवबोधात्. यदा **मनश्चक्रे तदैव** य **उडुराजो**ऽर्थादुत्पादितः **स उदगा**दिति मूलार्थस्य विवक्षितत्वात्. अन्यथा **तदे**ति न वदेत्, 'सोऽप्युदगादि'त्येव वदेत्. किञ्चाग्रिमश्लोकोक्तचन्द्रदर्शनान्यथानुपपत्त्यैव चन्द्रोदयप्राप्तेरेतच्छ्लोकवैयर्थ्यापातः. एवं सति चिकीर्षितलीलाया वेदलोकयोरप्रतीतत्वेनापूर्वत्वात्तत्सामग्र्यप्यपूर्वैव सर्वा सम्पादितेति ज्ञापनाय **तदे**त्युक्तिपूर्वकं तदुदयवर्णनमिति ज्ञायते. अतएव **भगवन्मनश्चन्द्रस्ये**त्यारभ्य **कदाचिदपी**त्यन्तो ग्रन्थो युज्यते. अन्यथा मूले पूर्णत्वादिधर्माः कण्ठोक्ता नेत्याचार्या अपि न वदेयुः. अतएव पूर्वश्लोके मनसोऽपि करणमुक्तं **चक्रे** इति पदेन, क्रीडायां मनसएव मुख्यत्वात्तस्य नूतनतया करणोक्त्यैव सर्वस्या अपि सामग्र्यास्तथात्वं ज्ञातं भविष्यतीत्यभिप्रायेण. एवं सति तादृशं **चन्द्रं च** प्रभुः **ससृज इति** हेतोरग्रे तदुदय**माह** शुक इत्याभासार्थो ज्ञेयः. **तथापि क्रमेणैवे**ति. अन्यथा "रजन्येषे"ति प्रभुर्न वदेदिति भावः. नन्वस्या रात्र्या नित्यत्वेनैकयैव चारितार्थ्ये बह्वीनां तासां परिग्रहः किमर्थ इति चेद्, अत्र वदामः. नायिकाविशेषेषु प्रतिपदादितिथि-नियतकर्तव्यताक-बन्धादिविशेषैरेव रसः प्रादुर्भवतीति वात्स्यायननयसिद्धत्वात्तदर्थमेवोक्तरूपाणां तासां परिग्रह इति. रात्रीणामलौकिकत्वेन प्राकृतनक्षत्रारक्षकत्वेऽप्येतद्रात्रिप्रकाश्योडूनां

प्रकाशः

न तद्धानिरिति भावः. सुबोधिन्यां नन्वेकदा दृष्टासु बह्वीषु रात्रिष्वेकचन्द्रस्थितिः कथं युज्यत इत्यत आहुः **यद्यपी**त्यादि ॥२॥

लेखः

सुबोधिन्यां **तदोडुराज** इत्यस्याभासे **चन्द्रं चे**ति. **मनश्चक्रे चन्द्रं च ससृजे** इत्यन्वाचयः. व्याख्याने **पूर्णएव स** इति. आधिदैविकस्य भगवत्त्वात्

सोऽपि चन्द्रः, स्त्रीणां मनांसि उडुस्थानानीति, तेषामपि रक्षकः, इदम्प्रथमतया जात इति पूर्वस्यामेव दिशि तस्योदय उच्यते, सा दिग्देवानामिति[१]. तस्या दिश इन्द्रो देवता अधिपतिश्च. इदानीं भगवानेवेन्द्र इति तस्य रेतोरूपः तस्यामुद्गतः. अतः **प्राच्याः ककुभः मुखं** मध्यभागं स्व**करैः** स्वकिरणैः **विलिम्पन् उदगात्.** तस्या मुखे न रागः स्थितः, प्रतिस्पर्धिन्यां सूर्यसम्बन्धेन

टिप्पणी

चाप्रसिद्धत्वेऽपि यदुडुपदोपादानं तत्त्वेतद्रात्रिष्वेव प्रकाशमानत्वेन [२]स्वामिनीनां मनांस्येवात्रोडुत्वेनाभिमतानीत्याहुः **सोऽपि चन्द्र** इत्यादिना. इन्दोर्नक्षत्र-सजातीयत्वं "नक्षत्राणामहं शशी"तिवाक्यात्सिद्धम्. एतन्मनस्सु तत्त्वोक्त्यैत-च्चन्द्रसजातीयत्वं सूच्यते. तच्च भगवन्मनःसम्बन्धित्वम्. तत्त्वं चात्र भगव-न्मनोंऽशत्वं स्वमनःप्रवृत्तिनिवृत्तितोषादि-कार्यार्थमाविर्भावितत्वं च. **प्राच्याः ककुभ** इत्यत्र **प्रतिस्पर्धिन्यामि**ति प्रतीच्यां दिशीत्यर्थः. उत्तरसन्ध्यायामखिलद्वि-जोपास्यत्वेनेयमेव दिङ् मुख्येति मर्यादामार्गीयत्वं लक्ष्यते. रविश्च तथा. अतस्तेन तत्र रागसम्भवः. यत्रोक्तरूपेन्दुप्राकट्यं सा दिक्पुष्टिमार्गीयेति तस्या एतत्प्रतिस्पर्धिनीत्वम्. एतेन मर्यादामार्गे तापएव, पुष्टिमार्गप्रवेशे तन्निवृत्तिरिति सूचितम्. प्रातः प्राच्या अपि तथाभूताया एवाधुनैवंभूतात्व-कथनाद् अधुना प्रभोरेवेन्द्रत्वेन तद्देवताकात्वेनाप्यस्यास्तस्याः सकाशादुत्कर्षः.

लेखः

षड्धर्मा आधिभौतिकविलक्षणा उक्ताः. (**उडूस्थानानी**ति!) **उडूनामिव स्थानं** स्थितिर्येषां– यथोडवो रात्रिष्वेव प्रकाशमानाः तथैतान्यप्येतद्रात्रिष्वेव प्रकाशमानानीत्यर्थः. **तेषामपी**ति, भगवन्मनसो देवत्वाद्रक्षकस्तन्मनसां च रक्षक **इत्यपि**शब्दः. **इदम्प्रथमतये**ति, एतल्लीलार्थमेव जातत्वाल्लीलास्थलस्य वृन्दावनस्य सचर्षणीस्थानान्नन्दग्रामात्प्राच्यां दिशि सत्त्वेन **तस्यामेव** दिश्युदय इत्यर्थः. **सा दिगि**ति, **देवानां** लीलोपयोगिपदार्थानां तत्रैव स्थितत्वादित्यर्थः. वृन्दावने रमणनिश्चयादेतासां मनस्तद्दिश्येव स्थितमिति तादृशोडूनां राजापि तत्रैवोदित इति भावः. आर्थं समाजमाहुः[३] **तस्या दिश** इति. **मध्यभागमि**ति वृन्दावनमित्यर्थः. अतएव वनस्य तत्कोमलगोऽभिरञ्जितत्वं वक्ष्यते. **प्रतिस्पर्धिन्यामि**ति. सायंकालेन हेतुना भगवतो वृन्दावनात् प्रतीच्यामागतत्वेन

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्. २. स्वामिनीमनांस्ये° मू. पा.
३. अर्थसमाजम् इति जो. पाठः.

रागसंभवाद्, अतः अस्या अपि मुखं कुङ्कुमसदृशैः करैरारक्तं क्रियते. यदि चन्द्रः स्वदिशो मुखं न रञ्जयेत् तदा भगवन्मनोऽपि स्त्रीणां हृदयं न रञ्जयेत्. कराः **शन्तमाः** शीतलत्वात् तापहारकाः. किञ्च **अरुणेन** गुणेन कृत्वा अत्यन्तं कल्याणरूपाः. अरुणो हि रागप्रधानः. पुरुषोऽपि यद्यनुरागेण स्पृशति तदा सुखं भवति. ननु अस्य चन्द्रस्य यदि अधिष्ठातृत्वमात्रं तदा मनस्येव उदयो भवेत्, यद्यन्धकारनिवृत्तिः प्रयोजनं तदा भगवतैव अन्धकारो निवर्तेत, यदि वा उद्दीपकत्वं तदापि भगवतैव तत्संभवः, अतोऽस्यासाधारणं कार्यं वक्तव्यमिति चेद्, अत आह **स चर्षणीनां शुचो हरन्निति**. चर्षण्यः सर्वत्र

टिप्पणी

पुष्टिमार्गोत्कर्षमेव प्रभुः करोति, नान्यत्रास्मादुत्कर्षं सहत इत्येतत्सर्वं हृदि कृत्वा **तस्या मुखे न राग** इत्याद्युक्तं **प्रतिस्पर्धिनी**त्वमप्युक्तमिति ज्ञेयम्. **स चर्षणीनामि**त्यत्र इदं ज्ञेयम्. चृष्[1] प्रजननैश्ययोरि(?)ति पाठादयं धातुराविर्भावन ईशधात्वर्थे गमने(?) च शक्तः. अथवेशस्य भाव ऐश्यं तत्र तथा. प्रकृते तु[2] सर्वात्मभावैकलभ्यरसाधिकारिमात्रसृष्टावेव याः शक्तयोऽधिकृतास्ता भगवदाविर्भावं ज्ञात्वा तादृशीराविर्भाव्य फलसिद्धिं [3]प्रतीक्ष्यन्त्यस्तत्पर्यन्तमन्यभावेभ्यस्ता रक्षन्तीति **चर्षणी**शब्देनोच्यन्ते. यद्यपि शाब्दिकैरैश्यशब्दस्य गत्यर्थकत्वमेवोक्तं तथापि 'गत्योरि'त्यनुक्त्वा यद् 'ऐश्ययोरि'त्युक्तं तत्

लेखः

तत्र शयनारात्रिकसामयिकवेणुनादादिना रागसम्भवादित्यर्थः. इदं टिप्पण्या**मित्येतत् सर्वं हृदिकृत्वे**त्यत्र **सर्व**शब्देन सूचितम्. तत्रापि ता लीलाः करोति वृन्दावनेऽपि गतवानिति **अस्या अपि** इत्य**पि**शब्दः. अयमेव चन्द्रो नानाप्रकारैः सर्वत्र सर्वं सम्पादयतीति पञ्चमाध्याये टिप्पण्यां वक्ष्यते. **स्वदिश** इति, एवंप्रकारकचन्द्रोदयोऽत्रैवेति स्वस्येयमेव दिगिति भावः. चन्द्रस्य दिक्पतित्ववद्भगवन्मनसः स्वामिनीमनःपतित्वम्. तथा च स्वदेवे स्वकीयरञ्जनरूपधर्माभावे भगवन्मनसि स धर्मो न भवेदित्यर्थः. **किञ्चे**ति. शन्तमत्वमात्रेण तापहरणं प्राप्तं; शन्तमत्वस्यारुणगुणजत्वकथनेन सुखजनकत्वं च प्राप्तमित्यर्थः. **चर्षण्य** इति. **सर्वत्र** भक्तेषु **परिभ्रमण**युक्ताः प्रसादनिरूपकशक्त्यंशभूताः **शक्तयः** भगवन्मनस इति शेषः. ता यथायोग्यं सर्वत्र भक्तेषु

१. चृष् मू. पा. २. 'तु' इति नास्ति मूले. ३. प्रतीक्ष्यमाणा इति पाठोऽवाच्यः.

[१]परिभ्रमणशक्तयः. ताः सर्वत्र परिभ्रान्ता अपि न कापि परमानन्दसम्बन्धिन्यो जाताः. यदि वा कश्चिन् मुच्येत तथापि ता न प्रवेशं लभन्ते; ततः पूर्वमेव ता निवृत्ता भवन्ति, अतस्तासां शोकस्तिष्ठत्येव. चर्षणीसहितानां जीवानां

टिप्पणी

सोऽप्यर्थोत्र ज्ञेय इति ज्ञापनायेत्यस्माभिस्तथोक्तम्. गमनार्थत्वे तु यत्र ता आविर्भावितास्तत्र गत्वा तत्फलसिद्ध्यनुकूलप्रयत्नवत्यो भवन्तीति तथा. तथा च स्वस्वामिनीषु भगवद्भोगयोग्यास्वपि तद्विलम्बं दृष्ट्वैतदार्तिं च चर्षणीनां परमस्नेहवशाच्छोकोऽजनि. एवं सत्ययमिन्दुः प्रियसंगाभावजदुःखं स्वामिनीनामपनयन्न केवलानां तदपनयति किन्तु चर्षणीसहितानामिति मूलार्थः सम्पद्यते. स्वामिनीदुःखनिमित्तकस्तासां शोक इत्येतद्दुःखनिवारणेनैव तासामपि स निवर्तत इत्यमुख्यत्वात्सहभावस्तासामुक्तः. एतदिन्दुस्वाभाव्यादेतदुदये संगमनिश्चयेन च तन्निवृत्तिः. इदमेवोक्तं **चर्षणीसहितानां जीवानां वे**त्यादिना. आद्यपक्षे तु यत्सम्बन्धिनामेव परमानन्दानुभवस्ताः शक्तयः स्वयं तदर्थिन्यो भगवद्भक्तेष्वेतदतिरिक्तेष्वेतावत्कालपर्यन्तं परिभ्रान्ता**श्चर्षणी**शब्देनोच्यन्ते. मुक्तौ तदभावं ज्ञात्वा तादृशेभ्यः स्वयमेव निवृत्ता भवन्ति. भगवतैव तादृश्यएव ताः सृष्टा इति तेषु न प्रवेश इति ज्ञापनाय न लभन्त इत्युक्तम्. अतएवाग्रे स्वतएव **निवृत्ता भवन्ती**त्युक्तं, न तु 'निवर्तिता' इति.

लेखः

परिभ्रमन्ति कुब्जादिष्वपि. तथापि नैतदानन्दसम्बन्धः किन्तु मुक्तिरेवेति भावः. अन्यत्राधिकाराभावान्न दानमिति ज्ञात्वा स्वामिनीष्वधिकारं निश्चित्य तदाशया स्थिताः. अत्रापि विलम्बात्तासां शोकः. विद्यमाने तत्प्रसादे मुक्तिं न दद्यादेवेति सूचनाय मुक्तेः पूर्वं तन्निवृत्तिरुक्ता. समुदितस्त्रीत्वलक्षणा शक्तिः कात्यायनी, तदंशभूतास्तासु तासु स्थिता एता इति भावः. टिप्पण्यां यौगिकार्थकथनं द्वितीयपक्षस्थम्. तस्मिन् पक्षे योगमायांशभूता एतासु सर्वात्मभावजनिकाः शक्तयश्चर्षण्यः. योगमाया हि भगवतो यत्र यथा लीला चिकीर्षिता तत्र तदनुरूपभावं सम्पादयति. यत्र पितृत्वादिचिकीर्षा तत्र तथैव. अत्र सर्वात्मभावलीला चिकीर्षितेति योगमायांशभूतास्तासु तासु स्थिताः सगुणनिर्गुणाद्यनेकप्रकारैस्तत्तद्भावं सम्पादयन्ति. पक्षद्वये चर्षणीस्वरूपभेदस्तु टिप्पण्या**माद्यपक्षे त्वि**ति **तु**शब्देन पक्षान्तरनिरासकेन स्फुटमेवोक्तः.

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्.

वा; तासां शोकः इदानीमेव निवृत्तः, शक्तिसहितानामेव परमानन्दानुभवस्य वक्तव्यत्वात्. प्रायेण तदानीन्तना जीवाः तादृशशक्तियुक्ताः. तस्मिन्नुदिते परमानन्दानुभवोऽवश्यंभावीति. तथा सति प्रयोजनत्रयं– दिग्देवताया मुखसम्मार्जनं, चर्षणीनां शोकदूरीकरणम्, अन्धकारनिवृत्त्यादिश्च. कण्ठोक्तं द्वयमपि तदेकसाध्यमिति वक्तुं दृष्टान्तमाह **प्रियः प्रियाया** इति. **दीर्घकाले दर्शनं** यस्य. महता कालेनागतो भर्ता **प्रियः प्रियायाः** पतिव्रतायाः शोकं दूरीकृत्य मुखसम्मार्जनं च करोति. न चैतत्कार्यमन्यथा सिध्यति ॥२॥

टिप्पणी

चैतदुदये तच्छोकनिवृत्तिर्जातेति तथा. अस्मिन्पक्षे पुनश्चन्द्रपरामर्शस्य प्रयोजनाभावादेकस्मिन्वाक्ये वारद्वयं तत्कथनासम्भवात्पूर्वमप्रसिद्धत्वेनास्येन्दोः प्रसिद्ध्यर्थकत्वमपि 'तच्'छब्दस्य न वक्तुं शक्यमित्यरुच्याग्रिमः पक्ष उक्त इति ज्ञेयम् ॥२॥

लेखः

लीलासमयेऽपि तत्तदनुरूपभावजननार्थं शक्तीनां तत्र स्थितिरिति **शक्तिसहितानामि**त्युक्तम्. अतएव भगवद्विचारितानुपूर्विकस्वरजात्युन्नयनमिति भावः. **तदानीन्तना** इति अवतारसामयिका इत्यर्थः. उदासीनेषु तदभावात् **प्रायेणे**त्युक्तम्. **तादृशे**ति, तत्तल्लीलाचिकीर्षानुरूप-तत्तद्भावसम्पादक-योगमायांशभूत-**शक्तियुक्ता** जीवा इत्यर्थः. शोकनिवृत्तौ हेतुमाहुः **तस्मिन्नि**ति. **अवश्यमि**ति अधुनैवेति शेषः. **तदेकसाध्यमिति**, मुखसम्मार्जनस्यापि तदेकसाध्यत्वेऽप्यनतिप्रयोजनत्वान्नोदयहेतुत्वं किन्तु प्रासङ्गिकत्वमित्याभासे तथोक्तम्. चन्द्रस्य मनोऽधिष्ठातृत्वाच्चर्षणीनां च मनःशक्तित्वाच्चन्द्रस्य चर्षणीभर्तृत्वम्. दिग्देवताभर्तृत्वं तु स्पष्टमेव. **मुखसम्मार्जनं चे**ति, प्रयोजनद्वये

योजना

स चर्षणीनामुदगादित्यत्र **शक्तिसहितानामेव परमानन्दानुभवस्य वक्तव्यत्वादि**ति. मर्यादाभक्तिमार्गे हि मुक्तितः पूर्वमेव चर्षणीशक्तीनां निवर्तनम्, मुक्तस्य परिभ्रमणाभावेन चर्षणीनामनुपयोगात्. प्रकृते तु चर्षणीशक्तीनां परिभ्रमणहेतुभूतानां रासक्रीडायां नृत्यादौ भ्रमणे उपयोगान्न शक्तीनां निवृत्तिः, किन्तु परिभ्रमण**शक्तिसहितानां** व्रजवधूनां रासे परमानन्दानुभवो भावीति ज्ञानेन तासां शोकहानिः. तदेतदुक्तं **शक्ति-सहितानामेव परमानन्दानुभवस्य वक्तव्यत्वादि**ति ॥२॥

एवं मनस उत्पत्तिमुक्त्वा तद्देवतायाश्च ततः सङ्कल्पोत्पत्त्यर्थं [१]तच्छब्दयोनित्वं निरूपयन् तद्दर्शनेन वेणुनाद उत्पन्न इत्याह **दृष्ट्वेति.**

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोऽभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥३॥

कुमुद्वांश्चन्द्रः, पृथिव्यां सर्वत्रैव मुदं कृतवानिति. तथाकरणे सामर्थ्यं **अखण्डमण्डलमिति**, न खण्डं मण्डलं यस्य. एतस्य रसोत्पादने

टिप्पणी

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमित्यस्याभासे, **तस्य शब्दयोनित्वं निरूपयन्नि**ति. वाचः पूर्वरूपं हि मनस्तच्च समानाधिकरणायाएव तस्यास्तथा. प्रकृते च गान एतच्चन्द्रदर्शनस्य हेतुत्वोक्त्यापि गानसमानाधिकरणमनोधिष्ठातृत्वं तत्र ज्ञाप्यत इति भावः. न चैवं वनेऽपि तत्त्वापत्तिरिति वाच्यम्, विशेषणस्यैव

लेखः

एव दृष्टान्तोक्तेरिति भावः. मुखसम्मार्जनं प्रासङ्गिकमिति तत्र **च**कार उक्तः. अतः **स चर्षणीनामि**त्यस्याभासेन न विरोधः ॥२॥

सङ्कल्पोत्पत्त्यर्थमिति स्वामिनीष्विति शेषः. इदं मूले **वामदृशां मनोहरमि**ति क्रियाविशेषणेन सूचितम्. गानं मनो हरति स्वाधारविषयक-सङ्कल्पयुक्तं करोतीत्यर्थः. **नाद उत्पन्न** इति, यथा भावोद्रेके स्वतएव गानं जायते तथेत्यर्थः. भगवांस्तद्भाववशः सन् गानं कृतवानिति सूचनाय नादस्य स्वातन्त्र्यमुक्तम्. मूले **दृष्ट्वा जगा**वित्युक्तेर्भावोद्रेकस्य गाने हेतुत्वमायाति. भावोद्रेके तु रसिकस्यास्वातन्त्र्यं भवत्येवेति निगूढाशयः. **दृष्ट्वे**त्यत्र **पृथिव्यामिति,** "कासुचिद्भूमिषु निजानन्दसुधां ववर्षे"ति विद्वन्मण्डनसम्मत्या स्वामिनीरूपभूमावित्यर्थः. तथा च पूर्वोक्तस्य चर्षणीशोकहर्तृत्वस्यानुवादोऽयमिति भावः. **अखण्डे**ति सर्वविषयकः पूर्णो भावो, न तु क्वचिदपि खण्डित

योजना

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमित्यत्र. **कुमुद्वांश्चन्द्र** इति. **कुमुद्व**त्पदनिरुक्तिमाहु **पृथिव्यां सर्वत्रैव मुदं कृतवानि**ति. अर्थप्रदर्शनमेतत्. तथा च **कौ** पृथिव्यां **मुत् कुमुत्** कुमुद्विद्यते कार्यत्वेन यस्य स **कुमुद्वानि**ति शब्दसिद्धिः. तत्फलितार्थ उक्तः **पृथिव्यां सर्वत्रैव मुदं कृतवानि**ति ॥३॥

१. तस्य.

[1]विभावत्वमप्यस्तीति ज्ञापयितुं **रमाननाभमि**त्युक्तम्. लक्ष्म्या अयं भ्राता भवतीति, **रमाया आननवद् आभा** यस्य, तथोक्तः. किञ्च **नवकुङ्कुमवदरुण**-वर्णमपि. तेन विवाहसमये यथा लक्ष्मीमुखं तथायं वर्तते. अतो नूतनकामजनकः. किञ्च **वनमपि** रसपोषकं, **तस्य कोमलगोभिर**ल्पकिरणैः **अभितो रञ्जित**-**मा**रक्तयुक्तम्. [2](किरणानां रसदोग्धृत्वं वनएव पाल्यमानत्वं च ज्ञापयितुं **गोपदम्. रमाननाभ**त्वेन पूर्वं निरूपणाद्यथा तन्नूतनकटाक्षा भावोदयहेतवः तथैतेऽपीति ज्ञापनाय च. **गो**पदमिन्द्रियस्यापि वाचकमिति तथा. अधुना भावोत्पत्तिरेव, तत्पोषस्तु स्वामिन्यागमनादिनाग्रे भावीति ज्ञापयितुं **को**-**मल**पदम्. यत्र तेन वनमपि रज्यते तत्र यदर्थमागतः तद्रागं कथं न कुर्यात्!)

टिप्पणी

तत्र प्रयोजन[3]कत्वेनोक्तेः. **रमाननाभमि**त्यत्र **लक्ष्म्या अयं भ्रा**तेत्यादि. भगवान् रमणेच्छायां तद्रसपूरणार्थं ब्रह्मानन्दं लक्ष्म्यात्मकनायिकारूपमा-विर्भावितवान्. तस्यैव रमणस्थानत्वात् चन्द्रोऽपि तथैवायमाविर्भावित इत्यस्य तद्भ्रातृत्वमतएव समानाकारत्वमिति भावः. **नवकुङ्कुमारुणमि**त्यत्र **नव**पदस्य तात्पर्यमाहुः **विवाहसमय** इत्यादि. कलत्वे गानस्य हेतुमाहुः **यदि**

प्रकाशः

रमाननाभमित्यस्य टिप्पण्याम्. एतन्मन्वन्तरे चन्द्रस्यात्रिपुत्रत्वेन लक्ष्मीभ्रातृत्वाभावात्पूर्वमन्वन्तरीयस्य तथात्वेऽपि तस्य पुराणान्तरे खण्डरूपेण शिवमौलिमण्डनत्वोक्तेरत्र चाखण्डमण्डलतया रमाननाभत्वकथनात्पूर्वं नूतनतया व्यवस्थापनाच्च लक्ष्मीभ्रातृत्वं नोपपद्यत इत्यतस्तदाशयमाहुः **भगवानि**त्यादि. तथा चानेन भावेनात्र भ्रातृत्वकथनं न लोकसिद्धाभिप्रायेणेत्यतो नानुपपत्तिरिति, न वा लक्षणा; तथा तद्विवाहलीलापीति नात्र लौकिकलेशोऽपीति हृदयम् ॥३॥

लेखः

इत्यर्थः. **विभावत्वमपी**ति— मनोधिष्ठातृत्वादनुभावत्वमुक्तं, रमाननाभत्वा**द्वि-भावत्वमप्यस्ती**त्यर्थः. **किञ्चे**ति, अतोऽपि विभावत्वमित्यर्थः. पूर्वेणालम्बन-सादृश्यमुक्तम्, अनेनोद्दीपनविभावत्वमुच्यते इति विभेदः. एवं कुमुद्वद्दर्शनेन नादोत्पत्तिरुक्ता. वनदर्शनेनापि नादोत्पत्तिरित्याहुः **किञ्चे**ति. **यदर्थमागत**

१. विभावकत्वमिति शोधितपाठः. २. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्. ३. प्रयोजकत्वे° मू. पा.

ततः सङ्कल्पद्वारा कामजनने सर्वं कार्यं भविष्यतीति **कलं** यथा भवति तथा **जगौ** गानं कृतवान्. तच्च गानं **वामदृशां** सुन्दरदृष्टीनां स्त्रीणां **मनोहरमिति**, "तस्माद्गायन्तं स्त्रियः कामयन्त" इति श्रुतेः. अर्थाद्गीतेन सर्वाः समाहूता इति. यदि व्यक्तमधुरं गीतं कुर्यात्, तदा गीतमेव शृण्वन्त्यः तत्रैव स्थिता भवेयुः. यासां पुनर्दृष्टिर्नोत्तमा तास्तु नाकारिता एव ॥३॥

ततः सर्वाः स्त्रियः समागता इत्याह **निशम्येति**.

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥४॥

यद्यपि भगवता कुमारिकाएवाहूताः तथापि आह्वानं सदृशमिति

टिप्पणी

व्यक्तमित्यादि. यद्यपि स्वरूपदिदृक्षा न तच्छ्रवणनिवर्त्या तथापि गीतस्यार्थः स्वरूपमेवेति तच्चार्थसंयुक्तमेवेति गीतस्य व्यक्तत्वेऽर्थस्यापि तथात्वं स्यात्. तथा च 'तदनङ्गवर्धनमि'तिवाक्यात्स्वरूपरसानुभवेच्छाया एवोद्भूतत्वेन तदनुभवेनैवागमनप्रतिबन्धः स्यादिति भावः. **वामदृशामि**त्यत्र **यासां पुनर्दृष्टिरि**-त्यादि. पुष्टिमार्गानुसारिभजनपरत्वमेवोत्तमत्वं दृष्टेः. अन्यथा 'चार्वा'दि-पदान्यपहाय **वाम**पदं न वदेदिति भावः ॥३॥

निशम्य गीतमित्यत्र **यद्यपी**ति. उपक्रम एतत्सम्बन्धिरात्रिदर्शनस्यैव रिरंसाहेतुत्वेनोक्तेरिति भावः. **तथापी**ति. **तदनङ्गवर्धनमि**तिवचनाद् भगव-दीयोऽनङ्गो यत्रास्ति तं तत्र वर्धयत्येवेत्येतास्वपि स्थितः स तेन तथा कृत इत्येता अप्यागता इत्यर्थः. अतएव वर्धकत्वमुक्तं, न तु जनकत्वमिति भावः.

लेखः

इति चर्षण्यर्थमागत इत्यर्थः. **तत** इति रागानन्तरमित्यर्थः. **अर्थाद्गीतेने**ति, तथा च स्वविषयकसङ्कल्पजनन'माह्वान'पदार्थ इति भावः. **यदि व्यक्त-मधुरमि**ति. तथा च "बर्हापीडे"ति श्लोकोक्तवत् स्वरूपगुणलीलानु-भावनेनाभिरमणसम्पादकं तत्रैव स्थितानां नेत्यर्थः. **यासां पुनरि**ति, पूर्वं तथोत्तमत्त्वेऽपि पश्चात् पर्वादि(?)बुद्धिर्यासामित्यर्थः ॥३॥

निशम्येत्यत्र. आहूता इति, भगवदाह्वानविषयाः स्वविषयक-सङ्कल्पजननरूपे आह्वाने ईप्सिततमा इत्यर्थः. **आह्वानमिति**– आहूयतेऽनेनेति **आह्वानं** गानमित्यर्थः, उभयश्रुतमपि गानं सदृशमेवेत्यर्थः. सादृश्ये हेतुमाहुः

निरोधोऽपि कर्तव्य इति सर्वाएव समागताः. किञ्च यद्भगवता **गीतं तदनङ्गमेव वर्धयति**, अङ्गं तु नाशयत्येव. अतो नूतन उत्पन्नः कामः ता आनीतवान्. किञ्च **व्रजस्य स्त्रियः** पूर्वमपि भगवदीयाः, अतः **कृष्णेनैव गृहीतं मनो** यासाम्. अतः शीघ्रमेव **यत्र कान्तस्तत्रागताः**. अनेन आकारिताएव

टिप्पणी

एतदेवोक्त**माह्वानं सदृशमि**त्यनेन. पूर्वापेक्षयाधुनात्युत्कटो जात इत्याशयेन **नूतन उत्पन्नः काम** इत्युक्तम् ॥४॥

प्रकाशः

निशम्येत्यत्र सुबोधिन्याम् **अङ्गं तु नाशयतीति**, स्वरूपविस्मारकतया कामाङ्गभूतं धैर्यादिकं नाशयतीत्यर्थः. ननु देशान्तरीयो व्यवहारो न

लेखः

निरोधोऽपीति, निरोधार्थकत्वेन सादृश्यमित्यर्थः. स्वरूपानन्दोऽपि देय इत्य**पिशब्दः**. हेत्वन्तरमाहुः **किञ्चेति**, अनङ्गवर्धकत्वेनापि सादृश्यमित्यर्थः. टिप्पण्यां पूर्वस्य स्पष्टत्वादयमेव हेतुः पूर्वत्र मेलयित्वा व्याख्यातः. पुनर्हेत्वन्तरमाहुः द्वितीय**किञ्चेति**, कृष्णमानसविषयकत्वेन सादृश्यम्. अन्यपूर्वानन्यपूर्वयोः कृष्णगृहीतमानसत्वेन सादृश्याद्विषयसादृश्यकृतमुभयश्रुतगानसादृश्यमित्यर्थः. पूर्वत्र निरोध्यत्वेनानङ्गवत्त्वेन च विषययोः सादृश्यं ज्ञेयम्. **अनङ्गमेवेति**, प्राकृताङ्गरहितं स्वरूपात्मकं काममित्यर्थः. **अङ्गं त्विति**, अर्श आद्यच्, प्राकृतविभावाद्यङ्गयुक्तमित्यर्थः. **तासां वेति** वक्ष्यमाणपक्षमभिप्रेत्यैवं

योजना

निशम्यं गीतं तदनंगवर्धनमित्यस्य विवृतौ **अङ्गं तु नाशयत्येवेति**. भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोध इति द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तत्वाद् दशमसुबोधिन्यां "एवं सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्विशेत् तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यम" इत्यत्रापि प्रपञ्चलयस्योक्तत्वात् "लौकिकेषु तु भावेषु यत्रैव हरिवेशनं निवर्तते तदेवात्र वह्नेर्दारुमयं यथे"त्यत्रापि प्रपञ्चलयस्योक्तत्वाद्भक्तानां पूर्वदेहादिप्रपञ्चलयः फलात्मको निरोध इति मया पूर्वं निरोधपदार्थविचारे उपपादितम्. तथा च देहादिलयकर्ता वेणुनाद इत्युक्तम् **अङ्गं तु नाशयतीत्यनेन**. एवं सत्यलौकिकदेहादिप्रपञ्चसम्पादनं वेणुनादकार्यमिति फलितम् ॥४॥

प्रथममागता इत्युक्तं, तासां मुख्यः **कान्त** इति. अतएव**ान्योन्यमलक्षित उद्यमो** यासाम्. ता हि प्रत्येकमेव भगवन्तं पतित्वेन स्वीकृतवत्यः. **स** पूर्वमुपात्तो यः कान्तः. तासां शरीरविचारेऽपि दृष्टिर्न जातेति वक्तुं **जवेन लोले कुण्डले** यासामिति कर्णपीडाननुसन्धानं प्रदर्शितम्. ताः स्त्रियो गौडदेशस्थाः, ततएव कुमारिकाः समागता इति. पूर्वं मथुरादेशस्थितानामपि अनागरीणां कुण्डले एव. ताटङ्कयोरेव वा कुण्डलत्वम् ॥४॥

प्रसङ्गादन्यासामप्यागमनमाह **दुहन्त्य** इति, तासां वा क्रियापराणाम्.

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित् दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥५॥

तत्र काश्चन षोडशसहस्रव्यतिरिक्ताः नवविधाः समागताः, दशविधा वा; गुणानां त्रैविध्यान्नवविधत्वं निर्गुणाश्चैकविधाः. जातिकुललोकधर्मपराः

टिप्पणी

दुहन्त्यः इत्यस्याभासः **प्रसङ्गादित्यादि**. अत्र पक्षद्वयं सम्भाव्यते— कुमारीणामेवाह्वानं मुख्यमित्येकः अविशेषेण तथेत्यपरः. तत्राद्ये **प्रसङ्गादित्यादि** द्वितीये **तासामित्यादि**. एवमग्रेऽपि. **गुण**शब्दोऽत्र सर्वत्र भावपरो ज्ञेयः. भाववैलक्षण्यज्ञापनाय तथोक्तिः. **जातीत्यादि**. **धर्म**पदं त्रिष्वप्यनुषज्यते ॥५॥

प्रकाशः

देशान्तरीयोत्तमव्यवहारे सति सम्भवतीति कथमेतासां तथात्वमित्यत आहुः **पूर्वमित्यादि**. सति चातुर्ये अनागरीत्वमव्यवहारप्रयोजकमिति पक्षान्तरमाहुः **ताटङ्केत्यादि**, "कुण्डलं कर्णभूषणमि"ति कोशेन तस्य पदस्य सामान्ये शक्तत्वादित्यर्थः ॥४॥

लेखः

व्याख्यायते. **प्रसङ्गादिति** पक्षे तु यथाश्रुतमेव ज्ञेयम्. तं पक्षमाहुः **अनेनेति**, **कान्तपदेनेत्यर्थः**. **प्रथममिति**, अस्मिन् श्लोके इत्यर्थः. तत्र हेतुः **तासामिति**, "पतिं मे कुर्वि"ति तासामेव प्रार्थनादिति भावः. **अत एवेति**, प्रत्येकप्रार्थनादित्यर्थः. विशदयन्ति **ता हीति** ॥४॥

दुहन्त्य इत्यत्र **नवविधा** इति. निर्गुणत्वं षोडशसहस्रेष्वस्तीति तद्व्यतिरिक्ता याः समागतास्तद्धर्मो नवान्यतमविधत्वमेवेति. अभावस्य प्रतियोगिप्रसिद्धिसापेक्षत्वान्निर्गुणत्वमपि षोडशसहस्रेषु नास्तीत्याशयेन

तिस्रस्तिस्र उदीरिताः. तत्र गोपजातीयाः दुग्धपराः. तत्र दुग्धस्योत्पत्तिस्थिति-प्रलयान् कुर्वन्ति तास्तिस्रः प्रथममुदीरिताः. एवंविधा अपि गणश इति वक्तुं सर्वत्र बहुवचनम्. **काश्चिद्दुहन्त्यएव दोहं** दोहनलक्षणं कर्म मध्ये त्यक्त्वा भगवदा**भिमुख्येन ययुः.** गौर्वत्सश्च बद्धौ दोहनपात्रं च अर्धदुग्धं, यः समयः सर्वथा त्यक्तुमशक्यः, तस्मिन् समये समागताः. तथा समागमने हेतुः **समुत्सुका** इति, सम्यगुत्सुकाः, को वेद क्षणान्तरे भगवान् क्व गमिष्यतीति. अन्याः पुनः **पयः अधिश्रित्य** तथैव **ययुः**. भोजनार्थं पयसि पच्यमानाः गोधूमकणाः **संयाव**शब्देनोच्यन्ते, तेषां दाहे सर्वनाश इति, पक्वदशैव **संयाव**शब्देनोच्यते, अतस्तदप्य**नुद्वास्य** काश्चन अभिययुः. **अपरा** इति सर्वत्र गुणैर्भिन्नस्वभावत्वम्. एवं तिस्रो राजस्यः ॥५॥

सात्त्विकीराह **परिवेषयन्त्य** इति.

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून्पयः[1] ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥६॥

प्रकाशः

दुहन्त्य इत्यत्र सुबोधिन्यां **सम्यगुत्सुका** इति, विवेकविलम्बाद्य-सहिष्णुश्चित्तोल्लास औत्सुक्यं, तस्य सम्यक्त्वमत्युत्कटत्वं बोध्यम् ॥५॥

लेखः

पक्षान्तरमाहुः **दशविधा** वेति. आद्यपक्षे "अञ्जन्त्य"इत्यनेन षोडश-सहस्राण्युक्तानीति ज्ञेयम्. शतुर्वर्तमानार्थत्वं विवृण्वन्ति **गौर्वत्सश्चे**ति ॥५॥

योजना

दुहन्त्योऽभिययुरित्यत्र **दुग्धस्योत्पत्ती**त्यारभ्य **प्रथममुदीरिता** इत्यन्तम्. राजसीत्रिके **दुहन्त्यो** दुग्धोत्पत्तिं कुर्वन्त्यो राजस्यो राजसराजस्य इत्यर्थः. **पयोऽधिश्रित्य**नेनोक्ताः स्थितिं कुर्वन्त्यः सात्विक्यः सात्विकराजस्य इत्यर्थः. **संयावमनुद्वास्ये**ति निरूपिताः दुग्धस्य प्रलयकर्त्र्यस्तामस्यः तामसराजस्य इत्यर्थः ॥५॥

परिवेषयन्त्य इत्यस्याभासे **सात्त्विकीराहे**ति सात्त्विकीनां त्रिकमाहे-त्यर्थः. तत्र परिवेषणकर्त्र्यः सात्त्विकीषु राजस्यः राजससात्त्विक्य इत्यर्थः.

---

१. शिशून्पयः इत्यपि पाठः.

भर्तुरपत्यस्यापि सेवा स्त्रीधर्मः. तत्र भर्तुर्भोजने शयने च सेवा स्वधर्मः, अतिबालकानां पुत्राणां स्तनदानं च. परिवेषणं च सृष्टिरिव, रेतस उत्पादकत्वात्. स्तनदानं पालनं, शिष्टमन्यत्. सर्वत्र तत्तद्वित्वेति ज्ञेयम्, अन्या इत्यपि. तामसीराह **अश्नन्त्योऽपास्य भोजनमित्यादि** ॥६॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥७॥

लिम्पन्त्यः शरीरानुलेपनं कुर्वन्त्यः, **प्रमृजन्त्य** उद्वर्तनादिकं कुर्वन्त्यः, गृहं वा लिम्पन्त्यः, प्रमृजन्त्यः आभरणानि, भाण्डानि वा प्रमृजन्त्यः. अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः— शरीरसेवातः गोसेवा मुख्या ततः पतिसेवेति. **अञ्जन्त्यः**

प्रकाशः

अश्नन्त्य इत्यत्र **क्रम** इति उत्पत्तिस्थितिप्रलयक्रमः. प्रमार्जनस्य मालिन्यप्रलायकत्वात् प्रलयकर्तृत्वम् ॥६॥

एतासां तामसीत्वादौ हेतुमाहुः **शरीरे**त्यादि. शरीरसेवादिरेव चात्र लोकधर्मो बोध्यः. यद्यप्यत्र य एवोक्तास्तथापि तत्तदादीनां धर्माणां

योजना

तासां राजसीत्वं व्युत्पादयन्ति **परिवेषणं च सृष्टिरेव रेतस उत्पादकत्वादि**ति. परिवेषणं भोजने कारणं, भोजनेन रेतस उत्पत्तिः, एवं परिवेषणस्योत्पत्तिसाधकत्वात्तत्कर्त्र्यो राजससात्विक्यः. **पाययन्त्यः शिशून्पय** इत्यनेनोक्ताः सात्विक्यः सात्विकसात्विक्य इत्यर्थः. तासां सात्विकीत्वमुपपादयन्ति **स्तनदानं पालनमि**ति. **शुश्रूषन्त्यः पतीनि**त्यत्रोक्तास्तामस्यः तामससात्विक्य इत्यर्थः. तासां तामसीत्वमुपपादयन्ति **शिष्टमन्यदि**ति, **शिष्टं** तामसीत्वं **अन्यत्**, पतिशुश्रूषणं तामसमित्यर्थः, पतिशुश्रूषणस्य भोगप्राधान्येन पारमार्थिकबुद्धिनाशकत्वात् नाशस्य तमोगुणकार्यत्वात्. एवं राजसतामससात्विकत्रिकमुक्त्वा राजसत्वं तामसत्वं सात्विकत्वं च कथमित्याकांक्षायामुपपादयन्ति **शरीरसेवातः गोसेवा मुख्या, ततः पतिसेवेतीति**. एवं सति शरीरसेवा तामसधर्मः **अश्नन्त्योऽपास्य भोजनमि**त्यनेनोक्ते त्रिकेऽस्तीति बोध्यम्. गोसेवा हि शरीरसेवातः उत्तमाः, तथा च गोसेवा राजसधर्मः, सा **दुहन्त्योऽभिययुरि**त्यनेनोक्ते त्रिके वर्तते. गोसेवातः पतिसेवा उत्तमा, सा पतिसेवा हि **परिवेषयन्त्य** इत्युक्ते त्रिकेऽस्ति. सा सात्विकीति बोध्यम् ॥६-७॥

काश्च लोचन इति गुणातीताः, अतः **काश्च लोचने** इति दुर्लभाधिकारः सूचितः. ज्ञानमार्गशोधिका इति निर्गुणत्वम्. तासामागमने दैहिकविचारोऽपि न जातः किम्पुनस्तद्धर्माणामिति वक्तुं वस्त्राभरणयोर्व्यत्यासमाह **व्यत्यस्तेति. व्यत्यस्तानि** विपरीतानि **वस्त्राण्याभरणानि च** यासाम्. एवमुद्यमः सर्वासामेव साधारणो निरूपितः. "**व्यत्यासो** मार्गगतावि"ति केचित्. तन्मध्येऽपि **काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः**, काश्चिन्न. याः पुनः शब्दपरा जाताः ता उद्युक्ता अपि नागताः, याः पुनः शब्दापेक्षां त्यक्तवत्यः ताः सर्वतो निरपेक्षाः विपरीतावश्यकदेहधर्माः भगवदन्तिकमागताः ॥७॥

सर्वासामनागमने हेतुमाह **ता वार्यमाणा** इति.

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिः पुत्रबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥८॥

टिप्पणी

[1]दोहनाद्यपेक्षयाञ्जनस्यान्तरङ्गत्वाद् अन्यस्मिन् मण्डने सत्यप्येतद्विना तेषां सौन्दर्याजनकत्वादसम्पूर्णस्याशोभाजनकत्वाच्च मुख्यत्वमिति तत्त्यागोऽशक्य इति तत्करणाद्**दुर्लभाधिकार** इत्युक्तम्. **ज्ञानमार्गशोधिका** इति तु शास्त्ररीत्या बुभुत्सूनां बोधायोक्तम्. **काश्चित्कृष्णान्तिकमित्यत्र तन्मध्येऽपीति**. अन्यथा पूर्ववाक्ये **काश्चिदि**त्युक्तत्वाद्वस्त्रादिव्यत्यासस्य जवकृतस्य सर्वसाधारणत्वादग्रे **काश्चिदि**तिपदमसम्बद्धं स्यादिति भावः ॥७॥

प्रकाशः

प्रायपाठात् तादृशत्वं बोध्यम्. **काश्चित्कृष्णान्तिकमि**त्यत्र **शब्दपरा** इति निवारकवाक्यपरा इत्यर्थः ॥७॥

लेखः

व्यत्यस्तेत्यस्याभासे **तद्धर्माणामि**ति त्रपादीनामित्यर्थः. अत्र व्यत्यासेऽपि इष्टरूपे तु योगमाया सर्वं सम्पादयिष्यत्येवेति भावः. **शब्दपरा** इति, पत्यादिकृतनिवारणशब्दं श्रुत्वा पुनस्तद्विचारपरा इत्यर्थः ॥७॥

हेतुमाहेति, वारणं हेतुरित्यर्थः. एतादृशीनां निवृत्त्यभावस्य स्वतः प्राप्तत्वाद्वारणं वाक्यार्थः. तथा च वारणाद्धेतोः शब्दपराणामनागमनमि[2]त्यर्थः.

१. अत्र 'अञ्जन्त्यः काश्चेत्यत्र' इति प्रतीकं ऊह्यम् – सम्पा.
२. अगमनम् इति जो. पाठः.

"रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्रस्तु वार्धके अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं कचित्स्त्रियाः" इति चत्वारो रक्षकाः. अतो यथायथं **पतिभिर्वार्यमाणा** जाताः, काश्चन **पितृभिः,** तथैव **पुत्रैर्बन्धुभिश्च.** ते हि निरुद्धा अपि फल-रसानभिज्ञाः साधनप्रवणाः; स्वद्वारैव स्त्रीणां भजनं भजनं मन्यन्ते न तु स्वातन्त्र्येण. तथापि **गोविन्देनापहृतः आत्मा** अन्तःकरणं यासाम्. निवारणं[१] हि श्रौत्रं प्रवर्तकश्च भगवान् अन्तःकरणारूढाश्च पुरुषाः. न हि नौका प्रवाह-वेगाद्गच्छन्ती "तिष्ठ तिष्ठे"त्युक्ता तिष्ठति. भयं स्वधर्मो वा तासां नास्तीत्याह **मोहिता** इति. यदि ताः कृष्णान्तिकं न गच्छेयुः तदा मूर्च्छिता इव प्राणाँस्त्यजेयुः. [२](सर्वात्मभावज्ञापनायैवाधुना व्रजस्थानामेतदागमनज्ञानं

लेखः

ता वार्यमाणा इत्यत्र. **प्रवर्तकश्चे**ति अन्तःकरणस्येति शेषः. **अन्तः-करणारूढा** इति तद्वशा इत्यर्थः. नौकादृष्टान्तसामञ्जस्यायारूढपदम्. **पुरुषा** इति, "काममयः पुरुष" इत्यत्रेव "पुरि शेते" इति व्युत्पत्त्या स्त्रीपुंससाधारण्येन जीवा इत्यर्थः. तथा चैता अन्तःकरणवशाः, अन्तःकरणं तु भगवान् स्वस्मिन् प्रवर्तयति अतस्तत्रैव गता इत्यर्थः. प्रवर्तकत्वसाम्येन प्रवाहस्थानीयो भगवा-निति ज्ञेयम्. एतेन शब्दपराणामन्तःकरणं भगवान्न प्रवर्तितवान् अतस्तासां तद्विचारपरत्वमिति सूचितम्. तथा च मूले **वार्यमाणाः** सर्वा जाताः, तासु मध्ये या **गोविन्दापहृतात्मानः ता न न्यवर्तन्ते**त्यन्वयः. **भयमि**ति पत्यादीना-मिति शेषः. **स्वधर्म** इति मर्यादामार्गीय इति शेषः. **प्राणांस्त्यजेयुरि**ति, अन्तःकरणस्य तत्र गतत्वेन तद्राहित्यादित्यर्थः. तथा च प्राणत्यागोपस्थितौ भयस्वधर्मविचाराभावः शास्त्रोक्त एवेति भावः, बुद्धिरूपान्तःकरणसम्बन्धा-नन्तरमेव प्राणेन्द्रियसम्बन्धस्य पुरञ्जनप्रसङ्गे निरूपितत्वात्. अत्रापि "लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि"तिन्यायेन तथेति भावः. अतएव **मोहिता** इति, "मुह वैचित्त्ये", चित्तरहिता इत्यर्थः. मूर्छायामपि तादृशो मोहोऽस्तीति तद्दृष्टान्तः.

कारिकार्थः

ता वार्यमाणा पतिभिरित्यत्र. एकवाक्यत्वबोधनाय याज्ञवल्क्यस्मृतिमाहुः **रक्षेत् कन्यामिति.** अस्यार्थः— **कन्याम्** अविवाहितां **पिता रक्षेत्, विन्नां** विवाहितां **पतिः, वार्द्धके पुत्रः. तेषां** पुत्रादीनाम**भावे ज्ञातयो** रक्षेयुः ॥८॥

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे. २. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणामिति.

कारितवानिति ज्ञेयम्. अन्यथाग्रे "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि"ति वाक्याद्यथा वनस्थित्यज्ञानं सम्पादितवान्, एवं पूर्वमेवागमनाज्ञानमेव कथं न सम्पादयेत्? "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्ये"ति न्यायेन तज्ज्ञानं सम्पाद्य तत्सम्भावितदोषाभावसम्पादनात्तदसम्पादनस्यैव वरीयस्त्वादिति) ॥८॥

एवं दशविधानां भगवत्समीपगतिमुक्त्वा यासां कालः प्रतिबन्धकः पूर्वमेव भक्तियुक्ताः ता भजनानन्दमननुभूयैव प्रतिबद्धा एव भगवत्सायुज्यं प्राप्तवत्य इत्याह **अन्तर्गृहगता** इति त्रिभिः.

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥९॥

दैवगत्या **काश्चिद्गृह**मध्ये स्थिताः गोपभार्याः चातुर्यानभिज्ञाः अप्रौढाः पतिसहिताः पतिभिरेव संरक्षिताः **अलब्धविनिर्गमा** जाताः. ततः प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं कृष्णमेव ध्यातवत्यः, परं **तद्भावनायुक्ताः** भगवान् जारः स्वयमभिसारिका इति. अन्यथा प्रतिबन्धो न स्यात्. तादृश्योऽपि **मीलितलोचनाः** सत्यो भगवन्तं **दध्युः** ध्यातवत्यः, ततो मुक्ता जाताः ॥९॥

ननु तत्र ज्ञानाभावात् विहितभक्त्यभावात् भगवतोऽपि सान्निध्याभावात्

टिप्पणी

अन्तर्गृहगता इत्यस्याभासे, **यासां[१] काल** इत्यादि. नन्वासां भक्तत्वात्कालस्तथा कर्तुं न शक्नोतीति चेद्, अत्रेदमाकूतम्. "उक्तं पुरस्तादि"त्यस्य [२]द्वितीयव्याख्यानानन्तरं "यासां साक्षादि"त्यादिनोक्तप्रयोजनार्थं प्रतिबन्धोऽवश्यं कार्यः. भगवांस्तु भक्तानां स्वप्राप्तिप्रतिबन्धं न साक्षात्करोतीति वस्तुस्थितिः. अतोऽधिकारी कालः प्रभुकार्यं कृतवानिति नानुपपत्तिः काचित् ॥९॥

लेखः

परं तत्र बुद्धेः सूक्ष्मतया स्थितत्वान्न प्राणत्यागः, अत्र तु सर्वथा गमनात्तथेति भावः ॥८॥

अन्तर्गृहेत्यस्याभासे **कालः प्रतिबन्धक** इति. तृतीयस्कन्धे दशमाध्याये अभगवदीयानां कालमात्रात्वं निरूपितम्. तथा च पतयो भजनप्रतिबन्धकत्वात् कालमात्रारूपा इति भावः. **पूर्वमेवे**ति साधनदशायामेव **भक्तिः**, फलदशायां तु जारत्वबुद्धिरित्यर्थः. **सान्निध्याभावादि**ति बहिःप्राकट्याभावादित्यर्थः. कामादीनां हेतुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वेऽप्यवान्तरव्यापारत्वं कर्मक्षयस्येति ज्ञेयम् ॥९-१०॥

१. येष्वं ग्र. पा. २. प्रक्षेपे.

कथं मुक्ता इत्याशंक्य कर्मक्षयात् मुक्ता इति वक्तुं कर्मक्षयप्रकारमाह **दुःसहेति.**

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।

ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥१०॥

दुःसहो यः **प्रेष्ठविरहः** सएव महानग्निः, तस्य यस्तीव्रस्तापः, तेन **धुतानि** निर्धूतानि [१]ज्वालितानि भस्मसात्कृतानि **अशुभानि** यासाम्. फलभोगे [२]कर्म क्षीयत इत्यविवादम्. कोटिब्रह्मकल्पेषु कुम्भीपाकादिनरकेषु यावद् दुःखं भवेत् तावद् दुःखं भगवद्विरहे क्षणमात्रेण जातम्. ततः सर्वपापफलभोगः समाप्तः. पुण्यक्षयप्रकारमाह **ध्यानप्राप्तेति.** सर्वपापक्षये भगवान् ध्याने प्राप्तः. **अच्युतः** परमात्मा, न तु समागतोऽपि जारत्वेन, अन्यथा ततोऽपि कर्मशेषः स्यात्. तस्य योऽयमा**श्लेषः** तेन या **निर्वृतिः** तया **क्षीणं मङ्गलं** पुण्यं यासाम्. कोटिब्रह्मकल्पेषु स्वर्गादिलोकेषु यावत्सुखमनुभूयते, तावद् भगवदाश्लेषे क्षणमात्रेणैवानुभूतम्. अतः पुण्यक्षयोऽपि जातः ॥१०॥

ततो मुक्ता जाता इत्याह **तमेव परमात्मानमिति.**

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।

जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥११॥

सुखभोगार्थमेव भगवान् पूर्वमाश्लिष्टः, भोगे जातेऽपि वियोजकपापाभावात् न वियुक्ताः, अतः संगता एव स्थिताः. शरीरं तु प्रारब्धकर्मनिर्वाणमपतत्. यद्याश्लिष्टो भगवान् न भवेत् तदा तत्र प्रविष्टाः तद्गतं धर्माधर्मफलं बुभुजुः, भगवति प्रविष्टत्वात् मुक्ताएव जाताः. तदाह **तमेव परमात्मानमिति.** पूर्वं सम्बन्धसमये यद्यपि **जारबुद्ध्यापि संगता**एव, ततः कर्म**बन्धस्य**

लेखः

तमेवेत्यत्र. प्रविष्टा इति शरीरान्तरे प्रविष्टा इत्यर्थः. **तदाहेति** प्रवेशाश्रयस्य परमात्मत्वमाहेत्यर्थः. प्रक्षीणबन्धनत्वं विवेचयन्ति **तदेत्यारभ्य**

योजना

ध्यानप्राप्ताच्युतेत्यस्य विवरणे **ननु समागतोऽपि जारत्वेनेति.** यद्यप्येतासां जारबुद्धिमत्त्वेन जारत्वेनैव भगवान् ध्यातः, तथापि ध्याने आविर्भूतो भगवान् **जारत्वेन न समागतः** किन्त्वच्युतत्वेन, **ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषेत्यत्रा**-**च्युतपदात्. समागत**इतिपदेन **ध्यानप्राप्तेति प्राप्त**पदस्यार्थ उक्तः ॥१०॥

---

१. क्षालितानीति पाठः. २. कर्मक्षय इति पाठः.

प्रक्षीणत्वाद् गुणमयं देहं जहुः. तदा अज्ञानमन्यथाज्ञानं वा त्रिक्षणावस्थायीति न तयोः प्रतिबन्धकत्वं, वियोजकाभावात् शरीरान्तरोत्पादकाभावाच्च. अविद्या परं तिष्ठति. सा भगवच्छक्तिः भगवत्संगतं न व्यामोहयतीति सापि निवृत्ता. ततः मुक्ता जाता इत्यर्थः ॥११॥

अत्र राजा श्रुतिविरोधमाशङ्कते **कृष्णमिति**.

प्रकाशः

तमेव परमात्मानमित्यत्र. ननु भगवति प्रविष्टत्वेऽपि स्वाप्यय-वद्[1]ज्ञानादिवासनायुक्तानामेव प्रवेशात् कथं न मुक्तिप्रतिबन्ध इत्यत आहुः **तदा अज्ञाने**त्यादि. ज्ञानस्य चिरस्थायित्वपक्षेऽपि [2]प्राग्जन्मीनार्थास्मरणेन, "प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम न ह्येष व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृतिरि"ति प्रथमस्कन्धे कालस्य स्मृतिनाशकत्वबोधनेन च कालस्य [3]तथात्वात्तदा तासां प्रतिबन्धके काले यदज्ञानं भगवत्स्वरूपविषयकं, यच्च जाररूपतया अन्यथाज्ञानं, तत् त्रिक्षणावस्थायि विनश्यदवस्थमिति न तयोः स्वरूपतस्तथात्वमि[4]त्यर्थः. ननु तथापि वासनान्तरसत्त्वे कथं न तत्स्थितिरित्यत आहुः **वियोजके**त्यादि. सांसारिक्या विरुद्धवासनायाः कर्मणश्च क्षीणत्वेन तत्स्थापकाभावाच्च न तथात्वमित्यर्थः ॥११॥

लेखः

निवृत्तेत्यन्तेन. **अज्ञान**पदेनाद्यं पर्वोक्तम्, **अन्यथाज्ञान**पदेन पर्वान्तराण्युक्तानि, **अविद्या**पदेन शक्तिरुक्तेति विभेदः. **तदे**ति भगवत्सङ्गे सतीत्यर्थः. आद्यक्षणे सङ्गो, द्वितीयक्षणे सङ्गस्थितिः, तृतीयक्षणे तयोर्नाशः— एवं त्रिक्षणावस्थायित्वं ज्ञेयम्. उभयोस्तथात्वे क्रमेण हेतू आहुः **वियोजके**ति **शरीरे**ति. भगवद्वियोगे स्वरूपाज्ञानं स्थिरं भवेत्, शरीरान्तरे सति पर्वान्तराण्यन्यथाज्ञानरूपाणि स्थिराणि स्युः, तदुभयाभावात्तयोस्त्रिक्षणावस्थायित्वमित्यर्थः. गुणातीत-तत्प्राप्त्यभिप्रायेण **मुक्ता जाता** इत्युक्तम्. एतासां देहादिसङ्घाते अमङ्गलतानिवृत्तयेऽक्रूरस्येव व्यवहारसिद्ध्यर्थं जीवमन्यं भगवान् स्थापितवानिति ज्ञेयम् ॥११॥

१. प्रतपवत्(?) कूपजलपोत्रवत्. २. जारबुद्ध्यापि सङ्गताः.
३. स्मृतिनाशकत्वात्. ४. न मुक्तिप्रतिबन्धकत्वम्.

॥ राजोवाच ॥

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥१२॥

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये"ति श्रुतौ ज्ञानमेव साधनत्वेनोक्तम्. तत्रैव पुनः "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नान्येन केनचित् सएव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम्." उभयोश्च निर्णयः– "ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षण" इति. "भक्त्या मामभिजानाती"त्यपि भगवतोक्तम्. ततो मर्यादायां ज्ञानेनैव मुक्तिः, पुष्टौ भक्त्या ज्ञानेन वा. एतासां तु न द्वयं– भक्तिरपि सगुणा ज्ञानमपि सगुणम् उभयं च तामसम्– अतः कथं मुक्तिरिति. तदाह ताः **कृष्णं कान्तं परं विदुः. कान्तः** पतिर्जारो वा, न तु ब्रह्मतया विदुः. **मुन** इति सम्बोधनमत्र निर्णयपरिज्ञानार्थम्. विरोधस्तु स्पष्टः– तासां भगवति स्वस्मिंश्च गुणबुद्धिरेव. गुणबुद्धिश्च गुणप्रवाहस्य मूलम्, अन्यथा गुणबुद्धिनिवारकाणि सर्वाण्येव शास्त्राणि व्यर्थानि भवेयुः.

लेखः

कृष्णमित्यत्र. ***तत्रैवेति** मुक्तिसाधनविचारे एवेत्यर्थः. **भक्तिरपि सगुणा ज्ञानमपि सगुणमिति**, **गुण**शब्देनोपाधिस्तत्सहितमित्यर्थः. **उभयं चेति**, जारत्वमुपाधिः, नतु भर्तृत्वादिकं धर्मरक्षकत्वादिकं वा. अतो भक्तिर्ज्ञानमुभयमपि **तामसमित्यर्थः**. ननु ब्रह्मणः सर्वरूपत्वात्तथा बुद्धावप्यज्ञानान्यथाज्ञानाभावपूर्वकं ब्रह्मज्ञानं सिद्धमेव, अतएव "सर्वेषामात्मजो ह्यात्मे"त्यादिवाक्यानीत्याशङ्क्य, साङ्ख्योक्तस्यात्मानात्मविवेकस्यैवाभावे "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इत्यारभ्य "स य एवं विदि"त्यन्तेन विवृतम्. सर्वात्मत्वेन ब्रह्मवित्त्वं तु सम्भावयितुमेव न शक्यमित्याशयेन राज्ञा साङ्ख्यपक्षः पृष्ट इत्याशयेनाहुः **वैदिकेति.** ब्रह्मवित्त्वे परप्राप्तिपक्ष इत्यर्थः ॥१२॥

योजना

गुणप्रवाहोपरम इत्यस्य विवृतौ. ननु कृष्णं ब्रह्मत्वेन न विदुरेतावता किं बाधकं, बहवोऽपि श्रीकृष्णं ब्रह्मत्वेन न जानन्ति अथापि येषां वेदान्तश्रवणादिना ब्रह्मज्ञानमस्ति ते मुच्यन्तएव, तथैता अपि मुक्तिं प्राप्स्यन्तीत्याशङ्क्याहुः **वैदिकः पक्षस्त्वसंभावित एव,** "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती"त्या-

वैदिकपक्षस्त्वसंभावितएव. अतो **गुणधियां** गुणबुद्धियुक्तानां **गुणप्रवाहोपरमः कथम्?** ॥१२॥

तत्रोत्तरमाह **उक्तमिति** चतुर्भिः.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥१३॥

एतत्सप्तमस्कन्ध एवोक्तं शिशुपालमुक्तौ. यथा शास्त्रद्वयं भक्तिज्ञानप्रतिपादकं साधनं, तथा भगवत्स्वरूपमपि. भगवान् हि मुक्तिदानार्थमेवावतीर्णः सच्चिदानन्दरूपेण प्रकटः. अतो यः कश्चन येनकेनाप्युपायेन भगवति सम्बन्धं प्राप्नोति, सएव मुच्यते. ज्ञानभक्त्योस्तु आविर्भावार्थमुपयोगः. आविर्भावश्चेदन्यथा सिद्धः तदा न ज्ञानभक्त्योरुपयोगः. अत्र तु भगवान् स्वतएवाविर्भूतः, मुक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन, ईश्वरेच्छाया अनियम्यत्वात्. अत आविर्भावः स्वेच्छया, भक्त्या ज्ञानेन वा. भगवदवतारातिरिक्तकाले

टिप्पणी

उक्तं पुरस्तादित्यत्र, उक्तं निर्गलितार्थमाहु**र्यथा शास्त्र**मित्यादिना[१]. अन्यथा चैद्यस्यापि पक्षसमत्वेन नेदमुत्तरं स्यादिति भावः. एतेनाद्यश्लोकार्थ उक्तः, **भगवानि**त्यादिनाग्रिमाणाम्. किञ्च. पूर्वं ज्ञानभक्त्योरपि हेतुत्वमङ्गीकृत्योक्तम्, अधुना त्वाविर्भावेनैव ते अन्यथासिद्धे इति स्वरूपेणैव सर्वेषां मुक्तिरित्याहुः **ज्ञानभक्त्योरि**त्यादिना ॥१३॥

प्रकाशः

उक्तं पुरस्तादित्यत्र. **भगवानि**त्यादिना द्वितीयस्यार्थ[२] उच्यते. तेन मुक्तिदानार्थमवतीर्णस्यैव साधनता न तूदासीनस्येति बोध्यते. **अत** इत्यादिना तृतीयस्योच्यते. तेन तादृशस्यापि सम्बन्धस्यैव साधनत्वं न त्वसम्बद्धस्य, सम्बन्धश्चाविच्छिद्यमानएव व्यापारः न तु विच्छिद्यमान इति निर्णीयते. **ज्ञानभक्त्योस्त्वि**त्यादिना तुरीयस्योच्यते. तेन राजोक्तो विरोधः कालभेदेन श्रुतेः सावकाशतया परिह्रियते तत्रोपपत्तिश्चेश्वरेच्छारूपा बोध्यते. तथा फलबलादयं निर्णयो न व्यभिचारशङ्कयापनेतुं शक्य इति च बोध्यते इति ज्ञेयम् ॥१३॥

१. **यथाशास्त्रद्वयमित्यादिना** मू. पा.

२. प्रकृतश्लोकचतुष्टये द्वितीयश्लोकात्मकस्य "नृणाम्" इत्यादेः अर्थः (सम्पा.).

द्वयमेव हेतुः. अवतारदशायां तु न तयोः प्रयोजकत्वम्. वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभमिति न कूपनदीनामनुपयोगः शङ्कनीयः. तदाह **पुरस्तात्** सप्तमस्कन्धे **यथा चैद्यः** शिशुपालः **सिद्धिं** भगवत्सायुज्यं **गतः. द्विषन्नपि** द्वेषं कुर्वन्नपि. यद्यपि द्वेषकृतो दोषः प्रतिबन्धको भवति, तथापि स्मरणेन तदघं हृत्वा तत्र सायुज्यं प्राप्तः. किञ्च नापि तस्य दोषोऽस्ति कश्चन, द्वेषादयोऽपि भगवतैवोत्पादिताः. तदाह **हृषीकेशमिति**, इन्द्रियप्रेरकोऽयं यथासुखं भावानुत्पादयति. यत्र द्वेषस्यापि मोक्षसाधकत्वं तत्र **अधोक्षजप्रियाः किमु** वक्तव्या– "मुक्तिं गच्छन्ती"ति ॥१३॥

अत्र मुख्यामुपपत्तिमाह **नृणां निःश्रेयसार्थायेति.**

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१४॥

प्राणिमात्रस्य मोक्षदानार्थमेव भगवान् अभिव्यक्तः, अतः इयमभिव्यक्तिः निःश्रेयसार्थैव. अन्यथा न भवेद्, असाधारणप्रयोजनाभावात्. भूभारहरणादिकं च अन्यथापि भवति. अतो **निःश्रेयसार्थमेव भगवतो**ऽभि-**व्यक्तिः** प्राकट्यम्. **नृपेति** सम्बोधनं कदाचिद्राजा कथञ्चिद्गच्छति तद्वदिति ज्ञापयितुम्. प्रकारान्तरेण तादृशस्य नाभिव्यक्तिः सम्भवतीति वक्तुं भगवन्तं

प्रकाशः

नृणां निःश्रेयसार्थायेत्यत्र. अन्यथापीति "यदा यदा ही"ति वाक्यादंशावतारेणापीत्यर्थः. अन्यार्थमागमनं कुतो न सङ्गच्छत इत्यतस्तदुपपादयन्ति

लेखः

नृणामित्यस्याभासे. अत्रेति स्वरूपस्य मुक्तिदातृत्वे इत्यर्थः. व्याख्याने मोक्षदानं वासुदेवकार्यमित्याशङ्क्याहुः **प्राणिमात्रस्येति**, साधनरहित-

योजना

द्युपनिषन्निरूपितो ब्रह्मभावस्त्वसंभावितएव, वेदान्तश्रवणमननाद्यभावादित्यर्थः ॥१२॥

नृणां निःश्रेयसार्थायेत्यत्र. नृपेति सम्बोधनं कदाचिद्राजा कथञ्चिद्गच्छती-त्यादि. अयमर्थः. राजा ह्यन्यैरेव सर्वं कार्यं कारयति, स्वयं तु कदाचिदेव क्रीडाविशेषार्थं गच्छति. तद्वद्भगवानपि भूभारहरणादिरूपं व्यूहैः कारयति, **निःश्रेयस**शब्दवाच्यमुद्धाररूपकार्यं स्वयमेव करोतीति भावः ॥१४॥

विशिनष्टि. आदौ भगवान् सर्वैश्वर्यसम्पन्नः अपराधीनः कालकर्मस्वभावानां नियामकः सर्वनिरपेक्षः किमर्थमागच्छेत्? किञ्च स्वार्थं गमनाभावेऽपि परार्थं वा स्यात्, तदपि नास्तीत्याह **अव्ययस्ये**त्यादिचतुर्भिः पदैः. अन्येषां कृतिसाध्यं ज्ञानसाध्यं वा यद्भवति तदुपयुज्यते, भगवाँस्तु **अव्ययत्वाद्** अविकृतत्वात् न कृतिसाध्यः. **अप्रमेयत्वात्** ज्ञानसाध्योऽपि न. देहादिभजनद्वारा भजनीयो भविष्यतीत्यपि न, यतो **निर्गुणः** निर्गता गुणा यस्मात्. गुणेषु विद्यमानेष्वेवान्यस्य प्रतिपत्तिस्तत्र भवति, यथा क्षुधि सत्यामन्नदानं, कामे सति स्त्र्युपयोगः, इन्द्रियेषु सत्सु तद्विषयाणाम्. अतो भगवतः सेवकपूरणीयांशः कोऽपि नास्तीति भजनीयोऽपि न भवति. किञ्च लीलार्थं यद्यपेक्षेतापि [१]तथापि सर्वं

टिप्पणी

भगवतो नृपेत्यत्र, **सर्वैश्वर्यसम्पन्न** इत्यारभ्य **निरपेक्ष** इत्यन्तेन ग्रन्थेन **भग**शब्दार्थवत्त्वं विवृतं प्रकृतोपयोगित्वेनेति ज्ञेयम् ॥१४॥

प्रकाशः

अन्येषामित्यादि. एतत्प्राकट्यस्य "योगास्त्रयो मये"त्यादिभगवदुक्तसाधनवतां फलदानार्थत्वं वक्तव्यं, तन्न युक्तं, तत्र स्वोक्तत्वनिर्बन्धेन[२] प्राकट्यात् प्रकृते तदभावाद्, भूभारहृत्यादेरंशद्वारापि संभवादतोऽधुना यत्प्राकट्यं तत्केवलं साधनरहितानां निःश्रेयसायैव. तदेव "नायमात्मे"ति श्रुत्या साधनान्तरनिषेधपूर्वकं वरणैकलभ्यत्वस्वात्मविवरकत्वे श्रावयन्त्योक्तम्. एवं सति इदानीं यत्प्रकटस्तत्प्राकट्यं न ज्ञानकृत्योः साध्यमित्यर्थः. "अथ भक्त्यैवे"ति श्रुत्या साम्प्रतं भक्तिसाध्यता शङ्क्येत, तदपि नेत्याहुः **देहादी**त्यादिना. एवं च सेवकानुपयोगे तत्कृतसेवादिना प्रसादोऽपि दूरापेत इति साधनप्रकारेण साध्यत्वाभावादन्यस्य न भगवदुपयोग इति न तदर्थमपीदं

लेखः

स्यापीत्यर्थः. **परार्थमि**ति परस्य साधनसम्पादनार्थम्. स्वदेया मुक्तिस्तु साधननिरपेक्षेति वक्ष्यते. **अन्येषामि**ति, कृतिविषयो ज्ञानविषयो वा पदार्थः अन्येषामुपयुज्यत इत्यर्थः. **अविकृतत्वादि**ति, विकाराणामेव कृतिविषयत्वादिति भावः. **कृती**ति कृतिविषय इत्यर्थः. **ज्ञाने**ति ज्ञानविषय इत्यर्थः ॥१४॥

१. न तथापीति पाठः. २. स्वोक्तत्वाद् निर्बन्धेन प्राकट्याद् इति मांड. पाठः.

तस्यैव, यतः सर्व**गुणानां** स **एवात्मा**. अतः साधनप्रकारेण नान्यस्याप्युपयोगः. अतः स्वपरप्रयोजनाभावाद् यदि साधननिरपेक्षां मुक्तिं न प्रयच्छेत् तदा व्यक्तिः प्रयोजनरहितैव स्यात् ॥१४॥

एवं सति येन केनाप्युपायेन यएव सम्बध्यते तस्यैव मुक्तिर्भवतीत्याह **काममिति**.

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा ।
नित्यं हरौ विदधते यान्ति तन्मयतां हि ते ॥१५॥

कामादयः षट् साधनानि भगवत्सम्बन्धे. तत्र **कामः** स्त्रीणामेव, **क्रोधः** शत्रूणामेव, **भयं** वध्यानामेव, **स्नेहः** सम्बन्धिनामेव, **ऐक्यं** ज्ञानिनामेव. **सौहृदं** भक्तानामेव, सख्यं तेष्वेव[1] सिध्यतीति. पूर्वसिद्धज्ञानभक्त्योः नात्रोपयोगः, तेषां मर्यादया स्वतन्त्राविर्भावस्य नियतत्वात्. एकस्य तूभयत्वे

टिप्पणी

कामं क्रोधमित्यत्र. नन्ववतारसमये पूर्वोक्तभक्तनिमित्तं पृथगाविर्भावोपेक्षितोऽथवा तेनैव तत्फलसाधनमिति सन्देहे निर्णयमाहुः **एकस्येति**. उक्तस्थले तेनैव तत्फलसाधनं न पृथक्तदपेक्षेत्येकस्यैवाविर्भावस्योभयरूपत्वं भवति. एकत्र विनियुक्तस्यान्यत्र विनियोगो न न्यायसिद्ध इत्याशङ्कानिरासाय

प्रकाशः

प्राकट्यमित्यर्थः. तेन सिद्धमाहुः **अतः स्वेत्यादि**. अतो निःसाधनानां फलायैवेति निश्चय इत्यर्थः ॥१४॥

नन्वेवं सति कुतो न सर्वे तदैव मुच्यन्त इत्याकांक्षायां तत्र पूर्वोक्तादतिरिक्तं व्यापारद्वयं सम्बन्धनैरन्तर्यरूपमपेक्षितमिति वदतीत्याशयेन **कामं क्रोधमित्याभासमाहुः एवं सतीत्यादि**. **सौहृद**पदेनाविहितभक्तिरुच्यत इत्याशयेनाहुः **सख्यमित्यादि**. नन्वस्त्वेवं, तथाप्यवतारदशायां मर्यादामार्गीयाणामपि सत्त्वात्तेषां कथं सिद्धिरित्यपेक्षायां निर्णयं वक्तुं टिप्पण्यामाहुः **नन्वित्यादि**. **पूर्वोक्ता** मर्यादामार्गीयाः.

लेखः

कामं क्रोधमित्यत्र. **स्त्रीणामेवे**त्यादिकं "गोप्यः कामादि"ति श्लोकसम्मत्योक्तमिति ज्ञेयम्. **अन्यथेति**, उपायस्य सार्वदिकत्वाभावे

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्.

'संयोगपृथक्त्व'न्यायेन निर्णयः. वेत्यनादरे– अन्यो वा कश्चनोपायो भवेत्,

टिप्पणी

[१]निर्णायिकन्यायमाहुः **संयोगे**त्यादि. यथा होमएव नियुक्ता जुहूः पर्णमयीत्वगुणयोगात्पापश्लोकश्रवणाभावमपि साधयति, न त्वेतदर्थं पृथक्सा तन्मयी क्रियते, "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोती"ति श्रुत्या होमार्थाया एव तन्मय्यास्तस्या एतत्फलसाधकत्वोक्तेः. तथा प्रकृतेऽपि भूम्यादिक्लेशव्ययनिमित्तकाविर्भावस्यैव तत्तद्भक्तयोगे तत्तत्फलसाधकत्वमिति

प्रकाशः

यस्य पर्णमयीत्यादि. अत्र केचित्– नेदं संयोगपृथक्त्वन्यायोदाहरणं सम्भवति, फलश्रुतेरर्थवादवाक्यनिष्ठत्वेनार्थवादस्य च प्राशस्त्यपरतया विधेयस्तावकत्वेन फलविध्यन्तराभावात् विहितस्य च फलान्तराभावात् स्तुतेरसत्समारोपणरूपत्वाच्च. किन्तु "खादिरे बध्नाति, खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्, दध्ना जुहोति, दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादि"त्याद्युदाहर्तव्यम्– इति वदन्ति. तत्र तेषां वेदविरोध एव सम्पद्यते. तथा हि– परमाप्तः परमाप्तवाक्यं वा वेदः. स चेदतथाभूतं वस्तु तथात्वेन स्तुत्यर्थं वदेत्, तदा मिथ्यावादित्वेन सर्वोऽप्यनाप्त एव स्यात्. न ह्येकत्र ज्ञातमिथ्याभाषित्वस्यान्यत्र विश्वासो भवतीति विधिवाक्योक्तफलेऽपि तथा कल्पनायाः कर्तुं शक्यत्वात्. अतो विधिवाक्यप्रामाण्यरक्षणायैवार्थवादादिकमपि फलं विध्यभिप्रेततया स्वीकर्तव्यम्. यथा "अक्ताः शर्करा उपदधाति" "तेजो वै घृतमि"त्यत्र घृतस्य विध्यनभिप्रेतत्वे अर्थवादो न तत्स्तुतिं कुर्यादिति स्वीक्रियते, तथान्यत्रापि फलस्यानभिप्रेतत्वेऽपि न सो ब्रूयादित्यपि स्वीकार्यम्, एकवाक्यत्वानुपपत्तेरुभयत्रापि तुल्यत्वात्. न च प्राशस्त्यपरतयैवैकवाक्यत्वमभिप्रेतं न तु फलसमर्पकत्वेनापीति वाच्यम्, वाक्योक्तफलसमर्पकत्वातिरिक्तस्य प्राशस्त्यस्यात्रादर्शनेनान्यस्य कल्पयितुमशक्यत्वात्, यथाकथञ्चित्कल्पने तु रात्रिसत्राधिकरणन्यायेन क्लृप्तेन कल्प्यमानबाधस्य वक्तुं शक्यत्वात्. न चात्र 'काम'शब्दाभावान्न विधेरपीदं फलमभिप्रेतमिति वाच्यम्, रात्रिसत्राधिकरणे प्रतिष्ठाया अपि तथात्वापातात् "प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ती"त्यत्रापि 'काम'-शब्दाभावात्. न च तत्रागत्या तथा स्वीक्रियते अत्र तु होमनिष्पादकत्वे-

१. निर्णायकं न्याय° मू. पा.

परं सर्वदा कर्तव्यः, अन्यथा "अन्ते या मतिः सा गतिरि"ति अन्यशेषतामापद्येत. कर्मवशाच्च नान्ते भगवतः स्मरणम्, अन्यस्येव, प्रपञ्चविरोधित्वाद्भगवतः. अतो **नित्यं** ये **विदधते ते तन्मयतामेव** प्राप्नुवन्ति. ननु कामादिषु क्रियमाणेषु दुःखान्तराभिभवे कथं नित्यं करणं सम्भवति तत्राह **हराविति**.

टिप्पणी

न पृथक्तदपेक्षेत्यर्थः. अत्रेदमपि ज्ञेयम्. पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधानामपि भक्तानां फलसाधनं सर्वशक्तिप्राकट्यपूर्वकमवतीर्णेन **पूर्णेनैकेनैव** स्वरूपेणैव[१] कर्तुं शक्यम्. तत्रापि केवलमर्यादामार्गस्थापनायाविर्भूतेन पुष्टिमार्गीय-भक्तेष्टपूरणं न क्रियते. एवं केवलपुष्टिमार्गीयेणाप्याविर्भावेन. अतएव दण्डकारण्यस्थर्षीणामिष्टपूर्तिर्न कोसलेन्द्रेण कृता श्रीमद्गोकुलचन्द्रेण च यज्ञपत्नीनां, पुष्टिलीलानधिकारात्. अग्रे मथुरादिषु प्रद्युम्नादिरूपेण लीलाकरणात्तत्तदनुरूपं फलदानमिति. **नित्यं हरावि**त्यत्र, **स हि सर्वदुःखहर्ते**ति.

प्रकाशः

नापि फलवत्त्वसम्भवान्नार्थवादिकफलग्रहणे किञ्चिद्बीजमिति वाच्यम्, यया कयापि तया होमनिष्पत्तेः सम्भवेन पर्णमयीत्वस्य तथापि फलं न किञ्चित्प-श्यामः. अतो विधिवाक्याभिप्रेतमेव फलमर्थवादो वक्तीति स्तुतिलक्षणं चो-त्कर्षाधायकगुणवर्णनमिति सर्वसामअस्यायाभ्युपेयम्, अतो नानुपपन्नं किञ्चित्.

प्रकृतमनुसरामः. एवं यद्यप्येकेन प्राकट्येन द्विविधयोरपि फलं न्यायसिद्धम्, तथापि नेदमत्र श्रीमदाचार्याभिप्रेतं, **पूर्वसिद्धे**ति फक्किकया तत्र स्वतन्त्राविर्भावनियमोपन्यासात्. न्यायोदाहरणं तु स्वतन्त्रेच्छत्वेन कदाचित्तथात्वस्यापि सम्भवज्ञापनाय. अतएव मूलेऽपि तथानभिप्रेतम्. तदेतद्धृदि कृत्वाहुः **अत्रेदमि**त्यादि.

लेखः

तद्भावनापि तदुपाधित्वान्न सर्वदा भवेत्. तदान्ते देवान्तरस्मरणेऽ**न्यशेषतां** तत्सायुज्य**मापद्येत** पुरुषो, न तु भगवद्भावनया तदात्मकत्वस्फुरणेन कर्म-क्षयाद्भगवदात्मकतारूपां तन्मयतामित्यर्थः. पुत्रादिस्मरणे "प्रजामनुप्रजायन्त" इति रीत्या तदादिमयत्वं तत्सम्बन्धिजन्म भवेदिति ज्ञेयम्. ननु यथा तद्विषय-ककामाद्यभावेऽप्यदृष्टवशादेव तत्स्मरणं तथा भगवतोऽपि भवेदित्याशङ्क्याहुः

१. स्वरूपेण मू. पा.

स हि सर्वदुःखहर्ता, नित्यं तद्भावनायां जगदेव तदात्मकं स्फुरति. दृष्टिः कामेनानुरक्तेति किम्पुनः स्वात्मा. अतस्तदात्मका एव भवन्ति. सर्वत्र भगवदावेशात्.

जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रियदेहयोः ।
विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः ॥(१०)॥

टिप्पणी

भावनाविषयस्वभावादेव न दुःखभानमित्यर्थः. **नित्यमि**त्यादिना तन्मयत्वं विवृतम्. तथा स्फुरण उपपत्तिमाहुः **सर्वत्र भगवदावेशा**दिति. अतिविगाढ-भगवद्भावनायां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेष्वपि तदावेशात्तेषु तथा स्फूर्तौ तत्सम्बन्धिष्वपि तथैव भानमित्यर्थः. एतदेव **जीव** इत्यादिना विवृतम्. ननु

लेखः

कर्मेति. कामादेर्हेतुत्वेऽपि सप्तमस्कन्धे कीटपेशस्कृद्दृष्टान्तेनोक्तमत्र **हि**शब्दे-नोक्तं नित्यं तद्भावनं ततस्तदात्मकत्वस्फुरणं चाप्यवान्तरमस्तीत्याशयेनाहुः **नित्यं तद्भावनायामि**ति. पूर्वं 'तद्भा[illegible]ुक्ता' इतिपदेन तद्भावनमुक्तम्. ध्यानकथनेन तदात्मकत्वस्फुरणमुक्तम्. ततः कर्मक्षय उक्तः. तत्सम्मत्यात्रापि तथा स्फुरणानन्तरं कर्मक्षयोऽप्यवान्तरो ज्ञेयः ॥१५॥

योजना

नित्यं हरौ विदधत इत्यस्य विवृतौ **दृष्टिः कामेनानुरक्तेति किं पुनः स्वात्मे**ति. कामादिभिः षड्भिरपि यत्र भगवत्प्राप्तिः, तत्र गोपवधूनां **दृष्टिः कामेन अनुरक्ता इति** हेतोः **जगदेव** तदा **तदात्मकं स्फुरति, किं पुनः स्वस्य** जीवस्य संघाते यः **आत्मा** प्रविष्टः सः भगवत्त्वेन स्फुरेदिति **तदात्मका एव भवन्ति सर्वत्र भगवदावेशा**दिति **सर्वत्रे**त्यस्यार्थं स्वयमेव निरूपयन्ति[१] **जीवेऽन्तःकरणे चैवे**त्यादि. **पुत्रादिषु हरिर्यत** इति, **पुत्रादिषु यतो** हेतोः **हरिः** आविष्ट इति शेषः. तथा च **यतो हरिरा**विष्टः अतः सः **कामक्रोधादि-भिस्तादृशीं भावनां कुर्या**दित्युत्तरेण श्लोकेनान्वयः. **तादृशीम्** "आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन्महीमि"त्यत्रोक्तां कंसकृतभावनासदृशीमित्यर्थः.

कारिकार्थः

कामं क्रोधं भयं स्नेहमित्यत्र **जीवे**त्यादि. एतेन **तन्मयतां यान्ती**त्यत्र उपपत्तिरुक्ता, यतो भावनातो जीवादिषु हरिराविष्टो भवेत्. **यथा ज्ञाने** सति **पूर्वप्रपंचलयो** भवति **तथा यतो** भावनातोऽपीत्यर्थः (१०-११).

१. जय. पाठानुसारेण. स्फुरति इति मुद्रितपाठः.

तादृशीं भावनां कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा ।
पूर्वप्रपञ्चविलयो यथा ज्ञाने तथा यतः ॥(११)॥१५॥

किञ्च आदावेव गोप्यो मुक्ताः, किमाश्चर्यं बहव एवाग्रे मुक्ता भविष्यन्तीति. तदाह **न चैवमिति.**

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥१६॥

एवम् असंभावनारूपो **विस्मयो न कार्यः**, असंभावितबुद्धीनाम् अन्यथास्फुरणनियमात्. यतो भगवान्, यत्किञ्चिन्मोक्षे ज्ञानादिकमुपयुज्यते एतत्सर्वं भगवत्येवास्ति. यदि ज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षो न भवेदिति ज्ञास्यति, तदा सिद्धत्वात् ज्ञानस्य तदपि दास्यति. किञ्च अन्यः सन्देहं कुर्यादपि, भगवतो माहात्म्यं न दृष्टमिति, **भवता तु न कार्यः**, गर्भएव माहात्म्यदर्शनात्. किञ्च निर्दुष्टे सर्वं संभवति. तत्र दोषाणां मूलं जन्म, तदभावे दोषाभाव इति. तेन **अजत्वात्** निर्दुष्टः. अन्ये सर्वे हि जायन्ते, न तैस्तेषां मुक्तिः सम्भवति, तुल्यत्वात्. किञ्च यो हि साधनपरः स मुच्यते. तत्र साधनं मनः सर्वतो निवृत्तं, तथा योगेन भवति, तस्य योगस्य च नियामको भगवानेव. यद्यन्यस्यापि मोक्षो भवेत् भगवदिच्छयैव भवेत्, योगादिसाधनानां तन्नियम्यत्वात्. किञ्च सदानन्दो भगवान् फलात्मा. यः कश्चिन्मुच्यते स एतमेव प्राप्स्यति. अतः साधनैरप्ययमेव प्राप्यः. सोऽत्र स्वयमेव सम्बध्यत इति न

टिप्पणी

प्रश्नोत्तरं त्वाद्याभ्यामेव सम्पन्नम्, अनेनापि श्लोकेन स एवार्थः पर्यवस्यतीत्येतत्कथनं व्यर्थमित्याशंक्य तत्तात्पर्यमाहुः **तादृशीमिति.** एवं बोधनार्थमित्यर्थः ॥१५॥

लेखः

न चैवमित्यत्र. निषेधस्यानिष्टसाधनताबोधकत्वनियमात् तदनिष्टं विवृण्वन्ति **असम्भावितेति**, कर्तरि क्तः ॥१६॥

योजना

कामक्रोधादिभिरिति, कामक्रोधादयस्तादृशभावनायां हेतव इत्यर्थः. भावनायां सत्यां किं स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः **पूर्वप्रपञ्चेत्यादि, यथा ज्ञाने प्रपञ्चलयः तथा कामक्रोधादिभिरपि** भवेदित्यर्थः (१०-११).

किञ्चिदनुपपन्नम्. किञ्च **एतत्** परिदृश्यमानं सर्वमेव जगत् **यतो** विमुक्तिं यास्यति. भावनया गोकुले स्थित आह, ज्ञानदृष्ट्या वा, साक्षात्परम्परया वा सर्वानेव मोचयिष्यतीति. तदग्रे वक्ष्यति "स्वमूर्त्ये"ति श्लोकद्वयेन ॥१६॥

[१](यद्वा अत्र राजानुपपत्तिं शङ्कते **कृष्णमिति**. एताः **कृष्णं कान्तं परं विदुः, न तु ब्रह्मतया,** अतो **गुणप्रवाहोपरमः कथं** संगच्छत इति. अत्रायं भावः. ब्रह्मत्वेन विज्ञानं हि शास्त्रीयं, तच्च सात्त्विकं भवितुमर्हति, "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमि"ति वाक्यात्. एतास्तु गुणातीतस्यानन्दमात्रकरपादमुखोदरादेःप्रकटस्यानन्तगुणपूर्णस्य सौन्दर्यादिगुणेषु परिनिष्ठितधियः. अतो निर्गुणत्वाद्गुणप्रवाहोपरमः कथं संगच्छते, उपरमस्याभावरूपत्वेन प्रतियोगिसापेक्षत्वादत्र च प्रतियोगिन एवाभावादिति. **मुन** इति सम्बोधनं शुद्धसत्त्वाविर्भावे ज्ञानोदयस्यानुभवसिद्धत्वेन सम्वादार्थम् ॥१२॥

अत्रोत्तरमाह **उक्तमिति. पुरस्तात्** सप्तमस्कन्धे "गोप्यः कामादि"त्यादिना. अत्रायमर्थः. यथा भगवति गुणातीतएव परिनिष्ठितबुद्धित्वेऽपि द्वेषस्य तत्र प्रयोजकत्वात् चैद्यादीनां तामसत्वं, तथैतासामपि निर्गुणएव परिनिष्ठितबुद्धित्वेऽपि जारत्वबुद्धेस्तत्र प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्ष्यते. अयं च रसः सर्वभावप्रपत्त्येकलभ्यः. न हि जारत्वबुद्धौ सर्वभावप्रपत्तिः, कामपूरकत्वेनैव तत्संभवनियमात्. अत्र च सगुणत्वस्य प्रतिबन्धकत्वाद्यथा चैद्यादीनां स्वाधिकारानुसारेण तादृशशरीरनाशे तत्पदप्राप्तिः स्वाधिकारानुसारेण, तथैतासामपि स्वाधिकारानुसारेण तथात्वे सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्त्यैव ततो निजपतिभजनमिति सर्वमवदातम्. अन्यथा "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इति मर्यादा भज्येत. एतदेव मनसि कृत्वाह **उक्तं पुरस्तादेतत्त** इति. ननु तथापि तादृशप्रपत्तेरेव मूलत्वात्कथं सर्वभावप्रपत्तिसाध्यं फलं भविष्यतीत्यत आह **द्विषन्नपी**ति. अयमर्थः. मोक्षसुखानभीप्सुस्तद्विरुद्धद्वेषकर्ता च चैद्यः. तस्मै यथा ज्ञानिनामपि दुर्लभां मुक्तिं दत्तवान्, एवं तादृक्प्रपत्तिमूलानामप्येतासां तादृशं फलं दत्तवानिति. एतेन यथा द्वेषमुक्त्योस्तारतम्यं तथान्यशेषभजनैतद्रसयोरपीति सूचितम्. ननु गोकुलस्य भगवत्क्रीडोपयोगित्वेन सर्वथाङ्गीकृतस्य सर्वस्यैव निर्गुणत्वे कथमेतासां सगुणत्वमुच्यते? किञ्च अग्रेऽपि यदि सर्वभाव-

१. ( ) चिह्नान्तर्गतः प्रभूणां स्वतन्त्रः.

प्रपत्तिलभ्यमेव फलं दित्सितं भगवतः तदा पूर्वमेव सएव भावः किमिति नोत्पादित इति चेद्, अत्र वदामः. यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनानां शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा, पूर्वोक्तानां भावोऽपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणं भावमुत्पाद्य, एतन्निवर्तकोऽपि स्वयमेव नान्य इत्यपि ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधाय, अग्रे भाविस्वविरहजदुःख–स्व-संङ्गमजसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय, मत्स्वाम्येव सर्वमिदं कृतवानिति निगर्वः. अत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकारान्मर्यादा-मार्गीयानुपपत्तयोऽनवसरपराहता इति सर्वमनवद्यम्. अतएव श्रीशुकोऽपि "जहुर्गुणमयं देहमि"ति सगुणदेहत्यागमेवोक्तवान्, अग्रे गुणातीततत्प्राप्त्यभि-प्रायेण, गोप्यत्वात्स्पष्टं नोक्तवान्. अन्यथा 'गुणमय'पदवैयर्थ्यं स्यात् ॥१३॥

ननु पूर्वोक्तज्ञापनायैवेदं कृतवानिति कथं ज्ञेयम्, उपपत्त्यभावादित्या-शंक्योपपत्तिमाह **नृणामिति**. अयमाशयः. लीलायां तत्स्थितभक्तेषु च, सुतरां रासस्थासु, या साधारणत्वबुद्धिः सा सदोषत्वारोपापरपर्याया,

---

लेखः

द्वितीयव्याख्याने **नृणामि**त्यस्याभासे **ननु पूर्वोक्ते**ति. 'गुणमय'पदोक्तं सगुणत्वं रासस्थानां सर्वासां निर्गुणत्व**ज्ञापनायैव कृतवान्** सम्पादितवान् ननु तासामपि सर्वदा सगुणत्वस्थापनायेति "जहुर्गुणमयं देहमि"त्यनेन शुकेन सूचितं, तदेवमे**वेति कथं ज्ञेयं** लीलायां देहस्यावश्यकत्वात् सगुणएव देहस्तिष्ठतु, निर्गुणसम्पादनपर्यन्तं धावनं किमर्थमिति शङ्कया सगुण-निवृत्तिरूपोपपत्तेः सिद्ध्यभावादित्याशङ्क्य तत्र ता**मुपपत्तिमाह** अर्थापत्त्या साधयतीत्यर्थः. लीलाश्रवणे तदनुभावेनैव तत्स्वरूपयाथार्थ्यं भासत एवेति सगुणत्वं स्थितं चेद्भासेत एवेत्याशयेनाहुः **अयमाशय** इत्यादि. अधुना तत्सम्पादनाभावे रासलीला सगुणास्वपि जायते इति ज्ञानेनैतल्लीलाश्रवणे सर्वासु रासस्थासु तत्सम्बन्धात् स्वरूपे लीलायां च सगुणत्वबुद्धिः स्यात्, तथा चैतल्लीलायास्तादृशदोषजनकत्वेन मुक्तिप्रतिबन्धकत्वं स्यादित्यर्थः. ता-दृशबुद्धेर्दोषत्वं व्युत्पादयन्ति **लीलायामिति**. **साधारणत्वे**ति, प्रपञ्चसाधारणत्व-बुद्धिः सगुणत्वबुद्धिरिति यावत्. **तासामिति**, रासस्थानामित्यर्थः. **तस्ये**ति सगुण-

तासामगुणत्वात्तस्य दोषरूपत्वाद्भगवत्स्वरूपे लीलायां च सगुणत्व-प्रसञ्जकत्वाच्च. एवं सत्येतल्लीलाया मुक्तिप्रतिबन्धकत्वमेव स्यात्, न तु तद्धेतुत्वम्. तथा सत्यवतारप्रयोजनं विरुध्येतेत्यन्यथानुपपत्त्यैव तथोच्यत इति. ज्ञापनप्रयोजनमपीदमेवेति ज्ञेयम्. व्याख्यानं पूर्ववत् ॥१४॥

नन्वियदवधि सगुणास्वेतासु कृताया लीलायाः पूर्वोक्तदोषप्रसञ्जकत्वं दुर्वारमित्याशंक्य पूर्वलीलाकृतितात्पर्यमाह **काममिति**. इदं हि साधारण्येनोच्यते य एवं **नित्यं विदधते ते तन्मयतां यान्तीति**, नत्वेतद्गोपभार्याविषयकमेव. अतएव क्रोधाद्युक्तिरपि, अन्यथाऽप्रस्तावेनात्र तन्निरूपणमयुक्तं स्यात्. तथा च सगुणेनापि भावेन भजते भगवान् स्वानुरूपमेव फलं ददातीति ज्ञापनाय

लेखः

त्वस्येत्यर्थः. **सगुणत्वेति**, तादृशबुद्धिप्रसञ्जकत्वादित्यर्थः. **एवं सतीति** तादृशबुद्धि-प्रसञ्जकत्वे सतीत्यर्थः. **इदमेवेति**, लीलाया मुक्तिसाधकत्वमेवेत्यर्थः. यथा सगुणत्वज्ञानं मुक्तिप्रतिबन्धकं तथा निर्गुणत्वज्ञानं तद्धेतुरिति भावः ॥१४॥

पूर्वोक्तेति, तादृशबुद्धिप्रसञ्जकत्वं पूर्वलीलानां तु दुर्वारमित्यर्थः. **तात्पर्यमिति**, वक्ष्यमाणज्ञापनार्थं[1] कृतमित्यर्थः. दोषसमाधानं तु— रासलीलायां हि स्वरूपभूतानन्दस्थापनं, तेन लीलायाः स्वरूपस्य च विषयात्मकत्व-सम्पादनं, न तु तत्र विषयविषयिभावः. अतएव गुणरूपत्वं तासां वक्ष्यते. अतस्तत्स्थानां सगुणत्वे स्वरूपलीलयोरपि तथा बुद्धिः स्यात्. लीलान्तरे तु धर्मभूतानन्दस्थापनेन विषयविषयिभावात् स्वरूपतो न तथात्वं किन्तु विषयसाजात्यनियमे तथात्वं स्यात्, तत्त्वग्रे समाधेयमेव. तथा च पूर्वलीलानां तादृशबुद्धिजनकत्वं विषयमात्रे, नतु तया स्वरूपलीलयोस्तथा बुद्धिः, अतो

योजना

कामं क्रोधमित्यस्य द्वितीये व्याख्याने **सगुणेनापि भावेन भजते भगवान् स्वानुरूपमेवेत्यादि**. **स्वानुरूपं** मुक्तिरूपं **फलमित्यर्थः**. सगुणभावेन भजतो "यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्" इतिवाक्येन भक्त्यभावाल्लौकिकं फलमेव तत्र दातुमुचितं यद्यपि, तथापि स्वस्वरूपं विचार्य मुक्तिमेव ददातीत्यर्थः ॥१५॥

१. जो. पाठानुसारेण. 'ज्ञापनार्थकृतम्' इति मुद्रितपाठः.

पूर्वलीलेत्यर्थः. अन्यथा मुख्याधिकारिणामेव भगवत्प्राप्तिरिति ज्ञानेऽन्येषाम-प्रवृत्त्या मुक्त्युच्छेदः स्यात्. एवं शास्त्रमप्रयोजनकं च स्यात्, मुख्याधिकारिणां स्वतएव प्रवृत्तेः. स्वरूपलीलयोस्तु न कदाचित्सगुणत्वं, लीलाविषयाणां सगुणानामपि निर्गुणत्वापादकत्वात्. न हि दोषनिवर्तकमौषधं रोगिसम्बद्धं सत् तद्वद्भवति, तथा सति तदनिवर्तकत्वापत्तेः. लीलाया विषयसाजात्यनियमे सगुणनिर्गुणभक्तयोरेकया वेणुवादनादिलीलया निरोधो नोपपद्येत. क्रोधादि-वत्कामोपाधिकभावस्यापि जघन्यत्वज्ञापनायापि क्रोधादिनिरूपणं ज्ञेयम्. **तन्मयतां** निर्गुणतामित्यर्थः ॥१५॥

ननु साक्षादङ्गसङ्गित्वेऽपि सगुणत्वस्थितिं वस्तुशक्तिः कथं सहते वह्नि सम्बन्ध इव तूलस्थितिमित्येको विस्मयः. लौकिकरीत्या कामभाववतीष्व-लौकिकस्य रमणं द्वितीयः. क्रोधादिभाववतां तत्फलमननुभूयैव भगव-त्प्राप्तिश्चापरः. स्नेहवत् समानफलत्वं च. यशोदानन्दने हि ता भाववत्यः, तस्य च वनस्थितस्यैतद्ध्यानप्राप्तिश्चान्यः. एतासां तदैव निर्गुणदेहप्राप्तिर्विनैव तत्साधनमिति चेतरः. सर्वात्मभाववत्स्वेव करिष्यमाणलीलाया अनुभवः. अन्यस्यास्तु तद्रहितानामपीत्यनेकविस्मयाविष्टं राजानं ज्ञात्वा तन्निवारकं क्रमेण वदन् पूर्वश्लोकोक्तभाववतां भगवत्प्राप्तौ हेतूनप्याह **न चैवमि**ति. आद्यविस्मयाभावार्थमाह **भवते**ति. अत्रायं भावः. पूर्वमनिवर्त्यब्रह्मास्त्रतोऽपि गर्भेऽपि रक्षितवान् भवन्तं, प्रयोजनमस्तीति. अधुना तु तदभावाद् बालवाक्यादपि न रक्षतीति भवतैवानुभूयते. न हि एतावता वस्तुशक्तौ काचिन्न्यूनता, इच्छाशक्त्यधीनत्वात्सर्वासां शक्तीनां, तस्याः सर्वतोऽधिकत्वात्. न हि मन्त्रप्रतिबन्धदशायामग्नेरदाहकत्वमिति तच्छक्त्यपगम एवेति वक्तुं युक्तम्. प्रकृतेऽपि यासां "साक्षादि"त्यादिनोक्तप्रयोजनार्थं भगवता तथा कृतमिति ज्ञात्वा **भवता** तु **विस्मयो न कार्यः** अनुभावाननुभवेनान्यः कुर्यादपीति. द्वितीयतृतीयादिकं परिहरति **भगवती**ति. तत्रेश्वरो हि सर्वरसभोक्ता भवति, "सर्वरस"इति श्रुतेः. कामरसो हि तादृशभाववतीषु

लेखः

न मुक्तिप्रतिबन्धकत्वमिति ज्ञेयम्. **स्वानुरूपमेवे**ति, पूर्वलीलाभिः सगुणत्वं शिथिलीकृत्य ध्यानप्राप्तस्वसङ्गमनेन सर्वथा निवर्त्य वक्ष्यमाणरसानुभवयोग्य-देहसम्पत्तिरूपां तन्मयतामित्यर्थः ॥१५॥

विशिष्टोऽनुभूतो भवति, कामशास्त्रे तथैव निरूपणात्. तथा चैश्वर्यवत्ययं विस्मयो न कार्यः. तथा भगवद्वीर्यस्येतरसाधनासाध्यसाधकत्वेनात्युग्रत्वात् क्रोधादिदोषमन्यानिवर्त्यमपि स्ववीर्येण हरिर्निवारयितुं समर्थ इति तादृशे स विस्मयो न कार्यः. यशो ह्यसाधारणम्, असाधारणे कर्मणि सति भवति. यदि स्नेहवत्स्वेव मुक्तिं दद्यात्, न द्विट्सु, तदान्यसाधारण्येनासाधारणं यशो न स्यात्. भयद्वेषादिमत्स्वपि स्नेहादिमत्समानफलदाने ह्यसाधारणत्वेनासाधारणं यशः स्यात्. तथा च तादृशयशसः सहजत्वेन तज्ज्ञापकधर्मा अपि हरौ सहजा एवेति नायं विस्मयः कार्यः. श्रीर्लक्ष्मीः सा चैतादृशस्नेहवती यद्वक्षसि स्थितिं प्राप्यापि चरणरजः कामयते, प्रत्यवतारं चावतरति. सदा तद्वत्त्वेन हरिः स्नेहरसाभिज्ञ इति तद्वत्सु स्वरूपदानं युक्तम्. ऐक्यं हि ज्ञानमार्गे, हरेश्च ज्ञानवत्त्वेन तेषु तथा युक्तम्. सौहार्दं हि सख्ये सति भवति, तच्च समानशीलव्यसनेष्वेव. "नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना, श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा, साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्, मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि" इत्यादिवाक्यैर्यथा भगवतो भक्तातिरिक्ते रागाभावो भक्तेष्वेव च राग इति वैराग्यवत्त्वम्, तथा भक्तानामपि भगवतीति सौहार्दयोग्येषु सौहार्दं ददातीति पूर्वोक्तवैराग्यवत्त्वात् तेषु तथा करणं युक्तमिति भावः. 'यशोदानन्दन' इत्यादिनोक्तविस्मयाभावार्थमाह **अज** इति. यदि भगवतो जीववत् कुत्रापि जन्म स्यात् तदान्यत्र बहिःस्थितोऽत्रान्तर्हृदि कथमागतः, तत्र सन्नेवेति शङ्का स्यात्. तदभावात् स्वेच्छया यथा मायाजवनिकां दूरीकृत्य यशोदागृहे प्रकटः, तथा वने, तथैवान्तर्हृद्यपीत्यजे नायं विस्मयः कार्यः. अग्रिमोक्ततदभावार्थमाह **योगेश्वरे**ति. योगिनो हि योगबलेन भोगार्थमनेकानि शरीराणि युगपत्क्षणमात्रेण सृजन्ति. तेषां च योग आगन्तुको धर्मः. भगवाँश्च तादृग्धर्मसम्पादकः फलदाता चेति तेषामपीश्वर इति सहजानन्तशक्तिमानिति तास्वलौकिकदेहसम्पादनमात्रं न विस्मयहेतुर्भवितुमर्हति. अग्रिमतदभावायाह **कृष्ण** इति. "कृषिर्भूवाचक"इति वाक्यात् सदानन्दस्वरूपो भगवान्, निर्दोषपूर्णगुण इति यावत्. तेन कृष्णातिरिक्तस्य वस्तुमात्रस्यैव सदोषत्वात्तत्रापि स्वास्थ्यहेतुत्वं जानतः सदोषत्वमेवेति निश्चयः. इयं च लीला स्वरूपानन्दरूपा तादृश्येवेति

सर्वात्मभावरहितेष्वेतदनुभवायोग्यत्वान्नायं विस्मयः कार्य इत्यर्थः. किञ्च एतासां तु स्नेहः पूर्वोक्तः साधनत्वेनासीत्. गोकुलं "त्वद्ध्यापूतं निशि शयानमि"ति वाक्यात् सर्वसाधनविमुखं सदपि प्रतिक्षणं स्वरूपे लीयते, अग्रिमाग्रिमलीलारसानुभवार्थं, भगवान् परं पुनः पुनः पृथक्कृत्य तामनुभावयतीत्यचिन्त्यानन्तशक्तिमति न किञ्चिदाश्चर्यमित्याशयेनाह **यत एतदि**ति. शुकस्त्वधुना लीलेतराननुसंधानाद्भावनया तत्रैव स्थित **इत्येतदि**त्युक्तवान्, वर्तमानप्रयोगं च कृतवान्, तामेव लीलामनुभवतीति सर्वमनवद्यम् ॥१६॥

नन्वेतद्वैपरीत्यमपि सुवचम्. तथाहि. एता अपि पूर्वोक्तमध्यपातिन्य एव. अतएव पूर्वश्लोके तासामनिवृत्तिमुक्त्वा तादृशी सा लोकेऽत्यसम्भावितेति सा कथमुपपद्यत इत्याशङ्कानिरासायाह **अन्तर्गृहे**त्यादि. अत्रायं भावः. पूर्वं हि वचनेन निवर्तनम्. तथा सति निवृत्तिर्हि विपरीतस्वक्रियया भवति. सा चातिदूरे, यतस्तत्सजातीयाः काश्चिद्भर्त्रादिकृते क्रियया प्रतिबन्धे तत्प्रतिबध्यं

प्रकाशः

सुबोधिन्यां स्वतन्त्रे वैपरीत्यशङ्कायां, **सा चातिदूर** इत्यादिना अन्यासामनिवृत्तौ हेतुकथनस्याप्यसङ्गतत्वं बोध्यं, तदानीं प्रतिबद्धदेहत्यागज्ञान[१]-हेतोरशक्यनिरूपणत्वात्, "काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुरि"त्यत्र 'काश्चित्'पदाद्वचनेन निवृत्तेरपि सूचनाच्च. एवं 'तद्भावनायुक्ता' इत्यत्र 'तच्'छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वमपि तथा, यतोऽत्र 'तच्'छब्दस्य विषयतया पूर्वपरामर्शितायाः प्रकृतानुपयोगित्वेन वक्तुमशक्यतया सम्बन्धित्वेन साङ्गीकृता, तत्र च सम्बन्धापेक्षया गौरवेण पूर्वानुभूतार्थविषयतायाएव प्रत्यासन्नतया लाघवेनौचित्यात्. अतो भावे भेदान्न पूर्वोक्तास्वेतन्निष्ठाशेषधर्मसिद्धिरित्यप्यरुचिबीजं बोध्यम् ॥१६॥

लेखः

न चैवमित्यत्र **कृष्ण**पदार्थविवृतौ **तत्रापी**ति, कृष्णातिरिक्ते वस्तुन्यपीत्यर्थः. तादृशे वस्तुनि यस्य स्वास्थ्यहेतुत्वज्ञानं, कृष्णातिरिक्तवस्तुना यस्य स्वास्थ्यं भवतीति यावत्, तस्य सदोषत्वमित्यर्थः. तथा च सर्वात्मभावरहितानां कृष्णातिरिक्तवस्तुना स्वास्थ्यसम्भवेन सदोषत्वात् कृष्णात्मकलीलानुभवायोग्यत्वमिति भावः ॥१६॥

१. ज्ञाने हेतोः इति मुद्रितः पाठः जू.पाठमनुसृत्य संशोधितः.

देहमपि त्यक्त्वा भगवत्सङ्गता जाताः. तथा चैतादृश्यः पूर्वोक्ताः सर्वा इति युक्तैवानिवृत्तिः. किञ्च 'तद्भावनायुक्ता' इति पदे तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वेन पूर्वं च पूर्वोक्तानामेव भावस्योक्तत्वादेतद्भावसजातीयभाववत्त्वं पूर्वोक्तानामपीति गम्यते. तेनैतन्निष्ठाशेषधर्मवत्त्वं तत्रापि सिध्यति. एतासां मुक्तिर्दत्तेति तन्निवृत्तिं विना न सेति तथोक्तं, तासां न तथेति न तथोक्तमिति चेद्, अहो शङ्काढ्यमानिनो मौढ्यदार्ढ्यं तव. यस्मादालोचनलोचनराहित्येन बाहिर्मौख्यासत्सङ्गाख्य-गिरिगर्ताघातपात-विवशाशयः परोक्तमपि नानुसंधत्से. तथा हि यच्छङ्कानिरासायैतत्कथावतारिता तद्भावश्च त्वया वर्णितः, तत्र त्वां पृच्छामः तदर्थमियं कथा कल्पिता उत सिद्धैवानूदिता? अन्त्यएव संमतश्चेत्, तत्रापि त्वां पृच्छामः एतासां प्रतिबन्धे को हेतुरिति. स्वप्रियास्वपि सगुणत्वं ख्यापयितुमेतासां प्रतिबन्धो हरिणैव कृत इति चेद् ब्रवीषि, हन्त एवं विचारकस्य तव शतधा हृदयं नास्फुटत् कुतस्तन्न जानीमः. यतो मर्यादाभक्तिमार्गीयसेवाविषयकश्रद्धाया अपि निर्गुणत्वं तत्र साक्षादङ्गसङ्गिनीषु सगुणत्वं ब्रवीषि. किञ्च "ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका" इत्यादिना प्रभुणैव, "एताः परं तनुभृत" इत्यादिनोद्धवेन "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यून" इत्यादिना भगवता स्तुतेनापि चरणरेणुप्रार्थनापूर्वकं स्तुता इति क्व तद्गन्धशङ्कापि. ननु कामोपाधिस्नेहवत्त्वेन तथोच्यत इति चेत्, न, तथा स्नेहे भगवतोऽपि विषयान्तरतुल्यत्वेन "संत्यज्य सर्वविषयानि"ति कथनानुपपत्तेः, विषयार्थमेवागमनात्. न च भगवतो विषयत्वेऽपि तदतिरिक्तविषयाणां त्यागोऽनूद्यत इति वाच्यम्, "तव पादमूलं प्राप्ता" इत्युक्तिविरोधात्. न हि कामिन्य एवं वदन्ति किन्तु भक्ताएव. किञ्च [1]अतितोके पूतनासुपयःपानानन्तरं रक्षाकरणे श्रीशुकेन हेतुरुक्त "इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिरि"ति. न हि तादृशे कामोपाधिकः स संभवति. न वा तादृशीनामञ्जनादित्यागः संभवति, प्रत्युत तदादिसर्वं प्रसाध्यागमनं, कुब्जावत्. तदनन्तरं यद्रमणं तत्तु "रसो वै स" इति श्रुतेः स्वरूपस्य रसात्मकत्वाद्रसरीत्या स्वरूपानन्ददानमेव. "सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसं, तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयमि"ति भगवद्वाक्यात् भगवत्सम्बन्धिसुखस्यापि गुणातीतत्वमेव).

१. अतितोकेनेति पाठः.

एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतमाह **ता दृष्ट्वेति.**

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः ।
अवदद्वदतां श्रेष्ठो वाचःपेशैर्विमोहयन् ॥१७॥

यास्तु समाहूताः समागताः, ता न निवार्यन्ते. याः पुनः सगुणाः

टिप्पणी

ता दृष्ट्वेत्यत्र, यास्त्वित्यादि. अन्तर्गृहगता अनाकारिताएव नादं श्रुत्वोद्युक्ता इति प्रतिबन्धोऽभूदिति शंकानिरासायाहुः **याः** पूर्वोक्तास्ता अप्याहूताः. तत्रोपपत्तिमाहुः **समागता** इति, अन्यथा तथा न स्यादिति भावः. गेहस्य देहसम्बन्धित्वात्तस्य नष्टत्वेनैतासां गृहाभावात्तत्र गमनं बाधितमिति **न निवार्यन्ते.** दोषनिवारणार्थं प्रतिबन्ध इत्युक्तम्. यावद्भिर्गुणैर्भगवद्रमणं

प्रकाशः

ता दृष्ट्वेत्यत्र टिप्पण्याम् **अन्तर्गृहेत्यादि.** ननु "निशम्य गीतमि"त्यत्र मुख्यमाकारणं वरदत्तरात्रिकाणामेवेति तदनिवारणस्यैव सुबोधिन्यां प्राञ्जलप्रतीतेरन्तर्गृहगतानां कः प्रसङ्ग इति चेद्? उच्यते. मूले **ताइत्यस्य** गीताकर्णयितृसाधारण्येऽपि "दुहन्त्य" इत्यादिना अन्यपूर्वाणामेव प्रस्तुतत्वात्तास्वेव कासाञ्चित्प्रतिबन्धकथनोत्तरं मुक्त्या शङ्कामात्रनिवारणेऽपि प्रतिबन्धहेतुप्रश्नाभावेन तदुत्तराभावादेतदनाकारितत्वशङ्कासत्त्वे तादृशनादश्रवणवैयर्थ्यापरिहारेण लीलायां दोषप्रसक्तेः **ताइत्यस्य** वृत्तिसङ्कोचेन तत्परिहारएवेति बुध्यस्व. तर्हि प्रतिबन्धलीलायाः किं प्रयोजनमत आहुः **दोषेत्यादि.** एतासां च स्वरूपं तृतीयसुबोधिन्यां निरूपितं– "ब्रह्मणा कामेन शप्ता वाक् गोपिका" इति. तथा च शुक्रेण भयात् शप्तानां कंसादीनां यथा भयादेव प्राप्तिः तथात्र कामादिति तं दोषं निवारयितुं तथेत्यतो न कोऽपि शङ्कालेशः.

लेखः

ता दृष्ट्वेत्यत्र यास्तु समाहूता इति, कुमारिका अन्तर्गृहगताश्चेत्यर्थः. अन्यपूर्वाव्यावर्तनाय **तुशब्दः**. कुमारिकाणामाह्वानं पूर्वं स्पष्टमेवोक्तम्. अन्तर्गृहगतानामेवाह्वाने संशय इति तदेव तथाशङ्क्य टिप्पण्यां व्युत्पादितम्. आहूतत्वाभावे कालप्रतिबद्धानामागमनं न भवेद्, अन्यपूर्वाणां तु कालप्रतिबन्धाभावादागमनं नानुपपन्नमिति भावः. कुमारिकाः पत्याद्यभावादेतद्वाक्यविषया न, तथान्तर्गृहगता अपीत्याहुष्टिप्पण्यां **गेहस्येति.** सुबोधिन्याम्

समागताः अन्यसम्बन्धिन्यः, ताः शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः, अन्यशेषतया भजनमयुक्तमिति, करिष्यमाणलीला तु सर्वभावप्रपत्तिसाध्या. अतो निवारणार्थं यत्नमाह **ता** "दुहन्त्य" इत्याद्याः. **अन्तिकमायाता दृष्ट्वा** स्वार्थमेवागता इति निश्चित्य, **भगवान्** सर्वज्ञः सर्वसमर्थोऽपि, ता अपि **व्रजयोषितः** [१]अपावृताः स्वकीयाश्च. अतः सर्वानुपपत्तिरहिता अपि दृष्ट्वा **अवदद्** [२]धर्मप्रबोधनार्थं वक्ष्यमाणमुक्तवान्.

टिप्पणी

भवति तावद्गुणसम्पन्ना, अन्यत्र विवाहतो रसशास्त्रोक्त-रसविशेषोपयोगिगुणवत्यश्च याः समागतास्ता अपि यद्यपि न निवारयितुं योग्यास्तथापि स्थातुमशक्ताः सत्यः स्वतो नागताः किन्तु शब्दश्रवणे सति. तथा च तावानंशो निवारणीय इति शब्देनैव निवारणं कृतं, न तु हृदा. तदनङ्गीकारेण शब्दोपाधिकमागमनं चेत् स्यान्निवृत्तिरपि स्यादिति तदभावो ज्ञाप्यत इत्याहु**र्याः पुनरि**त्यादिना. एवं करणे हेतुमाहु**रन्यशेषतये**ति. एतेन भक्तिमार्गमर्यादा ज्ञापितेति भावः. **अपावृता** इति, अन्तर्बहिर्विसंवादो नागरीणां कदाचिद् भवेदपि, न त्वेतासां, व्रजसम्बन्धेनान्तरधर्मावरणासम्भवात्. तथा चागमनं सर्वांशेनैव, नत्वन्यत्रापि केनाप्यंशेन हृदयं स्थापयित्वेति भावः. एतासां निवर्तने यावत्स्वसामर्थ्यमुपयुज्यते तावत्पूर्णमत्र प्रकटीकृतवान्प्रभुरिति ज्ञापनाय **भगवानि**त्यादीनि प्रभुविशेषणानीति ज्ञेयम्. तेन स्वामिनीभावस्य महाबलवत्त्वं ध्वन्यते. तेन भक्तिमार्गोत्कर्षएव सिध्यति. भावस्य भगवद्रूपत्वात्तदुत्कर्षएव

प्रकाशः

तदनङ्गीकारेणेति, इदं **तदभावो ज्ञाप्यत** इत्यनेन सम्बध्यते ॥१७॥

लेखः

अन्यशेषतयेति. शब्दश्रवणेन भजने गीतस्यानङ्गवर्धनत्वकथनात्तज्जन्यकामपूरणाय भजनं भवेत्, तथाच कामार्थत्वात् कामशेषतयेत्यर्थः. आह्वानेन समागमनं तु भगवदर्थकमेव भवतीति न तत्र कामार्थत्वशङ्केति भावः. **दृष्ट्वे**त्यस्य ज्ञानपरत्वमभिप्रेत्याहुः **निश्चित्ये**ति. **समर्थोऽपी**ति, पत्यादिभयरहित इत्यर्थः. एवं सत्यपि तथा कथने हेतुमाहुः **धर्मे**ति, अन्यशेषतया भजनम-

१. निरावरणाः. २. वस्तुतः सर्वात्मभावलक्षणो धर्मः.

ननु ताः पूर्वं निवार्यमाणाः समागताः कथमेतद्वाक्येन निवृत्ता भविष्यन्ति? अतो व्यर्थो वाक्प्रयास इति चेत्, तत्राह **वदतां श्रेष्ठ** इति. ये केचिद्वदन्ति तेषां मध्ये श्रेष्ठो, अतो हृदयगाम्यस्य वचनं भवति. अतो यावद्वचनेन निवृत्ता भवन्ति तावन्न कृतौ योजनीयाः. किञ्च अलौकिकमप्यस्य निवर्तने सामर्थ्यमस्ति, तदाह **वाचःपेशैर्विमोहयन्निति**. **वाचःपेशाः** वाक्सौन्दर्ययुक्ताः शब्दाः, **तैर्विशेषेण मोहयन्.** अथवा ता दृढीकर्तुमेव **सम्यक्** मोहनार्थं निषेधवाक्यान्युक्तवान्, अन्यथा गच्छेयुरेव. अतः अर्थतो निवारयन् अपि पर्यवसानतो न निवारयति ॥१७॥

भगवद्वाक्यान्याह **स्वागतमि**त्यादिदशभिः दशविधानां निवारकाणि.

टिप्पणी

एवमपि पर्यवस्यतीति हृदयमाचार्याणाम्. नन्वत्र मोहने विशेष उक्तोऽन्यथा "मोहिता" इत्युक्तत्वेन पौनरुक्त्यं स्यात्. तथा च पूर्वस्मादाधिक्यस्य 'विशेष'पदार्थत्वात्पूर्वस्य च भगवद्विषयकस्यैव तस्योक्तत्वात्तद्गतएव विशेषो वक्तुं युक्तो नतु गृहादिविषयकस्य पूर्वमसत्त्वादित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **अथवेति**, स्थूणानिखननन्यायेनेति भावः. न च भगवद्विषयकमोहाद्विशेषो वक्तुं शक्य, असम्भवात्, तथा सति गच्छेयुश्चेत्याहुः **अन्यथेति**. ननु 'तच्'-छब्देन सर्वत्याग-सर्वात्मभावाद्युक्तधर्मपरामर्शात्तस्य स्वतएव दृढत्वात्तथा सत्युभयविशेषणकथन-प्रयोजनाभावाच्च नैतत्साधीय इति चेत्, सत्यम्. उक्तानुपपत्त्या प्रभुणा स्ववाक्यानां गमनार्थकत्वाबोधनाच्चाद्यएव पक्षे तात्पर्यमस्तीति यद्यपि ज्ञायते तथापि स्वरूपस्य रसरूपत्वेन भावात्मकत्वं यदुच्यते तत्तु तद्विरोधिवचनाविर्भावेनानुपपन्नमिति शङ्कानिरासाय तद्-विरोध्यर्थकत्वमप्युच्यते वाक्यानां तात्पर्यविषयत्वेन. एतदेवाहु**रतोऽर्थत** इत्यादिना. यतः स्थितावेव भगवत्तात्पर्य**मतो** हेतोरापाततः प्रतीयमा**नार्थ-**प्रत्यायना**न्निवारयन्नपि** फलतः स्थित्यर्थकानीत्यप्युच्यन्त इत्यर्थः ॥१७॥

भगवद्वाक्यसंख्यातात्पर्यमाहुः **दशविधानामि**ति. सगुणनिर्गुणभेदेन

लेखः

युक्तमिति भक्तिमार्गीयधर्मज्ञापनार्थमित्यर्थः. **पेश**शब्दस्य अर्शआद्य-जन्तत्वमभिप्रेत्याहुः **सौन्दर्ययुक्ताः शब्दा** इति ॥१७॥

तमोरजःसत्त्वभेदाः स्वान्तपर्यवसानतः ।
निरूप्यन्ते स्त्रियस्तासु वाक्यान्यपि यथायथम् ॥(१२)॥

टिप्पणी

दशविधानां तथा, नत्वेतासामिति भावः. एतासां वस्तुतो निर्गुणत्वेऽपि लीलारूपत्वेन प्रसक्त्यभावेन तदभावोपि न वक्तुं शक्य इति तथा. तर्हि निषेधस्य क्वोपयोगः ? क्षुब्धदध्नो नवनीतस्येव क्षोभकवाक्यैस्तथाभूताभ्यो हार्दप्रकटने प्रभुशुश्रूषापूर्तौ वाचनिक्या अपि प्रपत्तेः सिद्धौ लोके सर्वात्मभावमार्गप्राकट्ये चोत्कटभावोद्दीपने रसपोषादिषु चेति बुध्यस्व. एतासु नायिकाभेदेन भावभेदो बोधनीयः, ते च क्वचिदेकरूपाः, क्वचित्कदाचिन्मिश्राः, क्वचित्कदाचिदुत्तरेणोपमर्दिताः, केचित् चिच्चिरं स्थिराः, केचित्कश्चित्कालं, केचिदाशु नाशिन इत्येवंरूपत्वं सत्त्वादिगुणेष्वस्तीति तद्दृष्टान्तेन बोधयितुं तावद्भिः श्लोकैरेता निवार्यन्त इत्याशयेनाहुः **तमो रज** इत्यादि. तथा सत्युपचारेण भावा एव **तम**आदिशब्दैरुच्यन्ते. तथा च तेषां **भेदा** यत्रैतादृश्यस्ता **निरूप्यन्त** इति सम्बन्धः. वस्तुतस्तु लीलामध्यस्थाः

प्रकाशः

स्वागतमित्यादिसङ्ख्यातात्पर्यं टिप्पण्याम्. एतासां कुतो न निवारकाणीत्याशङ्कायां गुणप्रसक्त्यभावो न निवारणायोग्यत्वादित्याशयेनाहुः **एतासामि**त्यादि. **क्वे**ति. यदि तादृश्यः स्युः, गच्छेयुः अतो न. तथा सति स्थापनार्थो निषेधः तदा पिष्टपेषः, यदि गमनार्थः तदा रसरूपत्वहा-निर्वाक्यवैयर्थ्यं चेति न क्वाप्युपयोग इति प्रश्नबीजम्. **उपचारेणे**ति, सारूप्यनिबन्धनया गौण्या. तथा च यथा भगवान् "अप्राणो ह्यमनाः" इति श्रुत्या प्राणादिरहितोऽपि "आनीदवातं स्वधया तदेकं" "प्राणन्नेव प्राणो

कारिकार्थः

स्वागतं वो महाभागा इत्यत्र **तमोरज**इत्यादि. **तमोरजःसत्त्वानां भेदा** यत्र तादृश्यः **स्त्रियो निरूप्यन्ते. स्वान्तपर्यवसानत** इति, तमसः फलं लयः, रजसः फलं भावविशेषोत्पादनं, सत्त्वस्य फलं तस्य भावस्य पालनम्. तथा च **स्वस्य** तमआदे**रन्तः** फलं तत्र गुणानां **पर्यवसानात्** तथा **निरूप्यन्त** इत्यर्थः. **तासु** सगुणनिर्गुणभेदेन दशविधासु स्त्रीषु मध्ये भगवद्**वाक्यान्यपि** "स्वागतं वो महाभागा" इत्यादीनि **यथायथं** यथोचितानीत्यर्थः (१२).

प्रथमतस्तामससात्त्विक्यो निवार्यन्ते, ततस्तामसराजस्यः, ततस्ताम-सतामस्यः, एवमग्रेऽपि विभाज्याः. प्रथमं समागतानां लौकिकन्यायेनाह.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः ।
व्रजस्यानामयं कच्चित् ब्रूतागमनकारणम् ॥१८॥

स्वागतमिति. कुशलप्रश्नोऽयं– **वो** युष्माकमागमनं **स्वागतं किमिति**? स्तुतिमाह **महाभागा** इति, भवतीनां महद्भाग्यम्, अतः स्वागमनमेव, तथापि पृच्छय(च्छ्य!)त इति लोकोक्तिः. वस्तुतस्तु निष्प्रत्यूहं भगवत्सामीप्यमागता इति. समागतानामुपचारमाह **प्रियं किं करवाणि व** इति. किञ्चित्प्रार्थयितुमागता इति लक्ष्यन्ते, तथा सति तद्वक्तव्यम्. अर्थाद्

टिप्पणी

सत्त्वादयः प्राकृतेभ्यस्तेभ्यो भिन्ना एतासु सन्ति. यतः प्रभुसंगमविलम्बहेतोर्लयं कर्तुं प्रिये स्वसंगविलम्बासहिष्णुत्व-हेतुभूतभावमुत्पादयितुमेतस्यैव पालनेन स्थैर्यं कर्तुं च समर्थाः. अतएवादौ **तम** एवोक्तं, ततो रजस्ततः सत्त्वम्. एतदेवाहुः **स्वान्तेति**, **स्वस्य** तमआदेरन्तः फलं लयादि. उक्तरीत्यैतद्गुणानां तत्र पर्यवसानात्तथा निरूप्यन्त इत्यर्थः (१२). **प्रियं किमित्यत्र**, **अर्थदितासामिति**, स्वातिरिक्तस्य प्रश्नविषयीकरणादिति भावः. किञ्च.

प्रकाशः

भवति वदन्वाग्नि''त्यादिश्रुत्या तत्कारी श्राव्यते, तथा "रसो वै स" इति रसतया श्रावितो मानसीनो भावान् स्वात्मकानेवैवं तत्र तत्र विभजन् स्वं रूपं स्वदासेष्वाविष्करोतीति भावः. एवं यद्यपि श्रौतप्रक्रियया सर्वसिद्धिः तथापि श्रीभागवतस्य पुराणत्वेनात्र तत्प्रक्रियैव ज्यायसीत्याशयेनाहुः **वस्तुत** इत्यादि. जन्मप्रकरणे "तमद्भुतमि"त्यत्र "आत्मा कार्यं च भूतानी"ति कारिकायां ये गुणा भगवदात्मका उक्ताः त एत एतत्कार्यका इत्याशयः. एवं विवरणे**नान्त**पदवैयर्थ्यं परिहृतम्. तामससात्त्विकीत्यादिविभागश्चोप-पादितः. एवञ्च भेदस्मृतिप्रतिपन्ना मायिकाः सदंशा वा, अभेदश्रुतिप्रतिपन्नाः सदंशाश्चिदंशा वा, एते त्वानन्दांशा इति बोध्यम् ॥१८-१९॥

लेखः

स्वागतमित्यत्र. **भगवत्सामीप्यमिति** अर्श आद्यच्, सामीप्ययुक्तं

एतासां नाहं स्वभावतः प्रियः किन्तु कामतः प्रिय इति ज्ञापितम्. तत्प्रयोजनं त्रिविधं भवति– इष्टरूपमनिष्टनिवृत्तिरूपं देशकालव्यवहितं कामितं च. तत्रापि त्रैविध्यमस्तीति वाक्यत्रयं वा. यद्धवत्यो धावन्त्यः समागताः तत्र किं व्रजे कश्चन उपद्रवो जातः, यद् ज्ञापयितुं तेषां समागमनम्? पूर्वपूर्वानङ्गीकारे उत्तरोत्तरवाक्यम्. यदि प्रियमपि न किञ्चित्कर्तव्यं, व्रजे च न काप्यनुपपत्तिः, तदा **आगमनकारणं ब्रूत** ॥१८॥

तत्राप्यनुत्तरे स्वयमेव पक्षान्तरं कल्पयति. यथा भवन्तः समागताः तथा वयमपीत्याशङ्क्याह **रजनी**ति.

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता ।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥१९॥

एषा रजनी न तु दिनं, दिवस एव ह्यरण्ये कार्यार्थं गम्यते. अयं

टिप्पणी

प्रियस्यानेकविधत्वे हि तेषां मध्ये **किं करवाणी**ति प्रश्नः संगच्छते. तेन तदनेकविधत्वं विवृण्वन्ति **तत्प्रयोजनम्**इत्यादिना. देशादिव्यवहितत्वमेवेष्टात् कामिते विशेषः. **च** इत्येकेनैव चारितार्थे द्वितीयप(पा!)देऽपि तदुक्तेर्भिन्न-विषयकत्वं तस्यावगम्यत इत्याशयेन पक्षान्तरमाहुस्**तत्रापी**ति. स्वामिनीष्व-प्युक्तरूपसत्त्वादिभिस्तथात्वमस्तीत्येकैकविधाः प्रत्येकैकचरण[१] इत्यर्थः ॥१८॥

लेखः

देशमागता इत्यर्थः. **तत्रापि त्रैविध्यमि**ति. एतास्तामससात्त्विक्यः. तत्र तमो न्यूनं सत्त्वमधिकं, सत्त्वं न्यूनं तमोऽधिकम्, उभयोः साम्यं चेत्यर्थः ॥१८॥

योजना

व्रजस्यानामयमित्यत्र यज्ज्ञापयितुं तेषां समागमनमिति, तेषां भवत्पित्रादीनामित्यर्थः. भगवन्निकटे समागता व्रजसुन्दरीः प्रतीयं भगवत उक्तिः. तथा च व्रजोपद्रवसूचनाय भवत्पित्रादीनां पुरुषाणामागमनं सम्भावितं, तत्तेषामनागमनं भवतीनामागमनं महान्तमुपद्रवं सूचयति, स वक्तव्य इति भावः ॥१८॥

रजन्येषेत्यस्य विवृतौ **एषा रजनी नतु दिनमि**ति. अयमर्थः. एतासां

१. प्रत्येकैकश्चरणः मू. पा.

तु चन्द्रः न तु सूर्य इति भावः. नन्वस्तु रजनी, तथापि प्रकाशस्य विद्यमानत्वाद् आगन्तव्यमेवेति चेत्, तत्राह **घोररूपेति**, प्रकाशयुक्ताप्येषा वस्तुतो **घोररूपा** भयजनिका, प्रकाशयुक्तायामपि रात्रौ गच्छन् पुरुषो बिभेतीति. किञ्च **घोरसत्त्वनिषेविता** घोराण्येव सत्त्वानि रात्रिं निषेवन्ते, नत्वघोराणि. अतो रात्रौ अघोरो निर्गतो घोरैरुपहन्यते. अतः स्वभाव-धर्म-संसर्गिणां स्वरूपं ज्ञात्वा **व्रजं प्रतियात.** नन्वेवं सति **तवैव** स्थाने स्थास्यामः, परिचितो भवानिति चेत्, तत्राह **नेह स्थेयं स्त्रीभिरि**ति. वयं हि पुरुषाः रात्रिश्चेयम्, अतोऽत्र स्त्रीभिर्न स्थातव्यम्, तथा सत्युभयोरपि विक्रिया स्यात्. किञ्च **भवत्यो** यदि वृद्धा बाला वा भवेयुः तदा स्थीयेतापि, भवत्यस्तु **सुमध्यमाः** रसात्मिकाः. अतो देहाध्यासे विद्यमाने सर्वथैव गन्तव्यम्. स्थितिपक्षे नञ्प्रश्लेषो **घोर**पदयोर्ज्ञेयः, **न प्रतियाते**ति च ॥१९॥

लेखः

रजन्येषेत्यत्र. रजनीत्वस्यानुक्तसिद्धत्वेऽपि तथोक्तौ हेतुमाहुः **अयं त्विति**. भवतीनां तापजनकत्वेन तथा प्रतीतावपि नायं सूर्य इत्यर्थः. तथा चैवं कथनेन तासां तापो भगवता ज्ञायते इति बोधितम्. **अतः स्वभावेति, स्वभावतो** रजनी, घोरत्वं **धर्मः, संसर्गिणो**ऽपि घोरा इति पदत्रयार्थः ॥१९॥

योजना

रात्रीणामलौकिकत्वाद्दिवापि सत्त्वेन हेमन्तर्तौ प्रातःसमये "मयेमा रंस्यथ क्षपा" इत्युक्त्वा रात्रयः प्रदर्शिताः; परन्तु साधनप्रकरणत्वाद्दिवा प्रदर्शनम्. तेन रमणं नाभूत्, यतो लौकिकरात्रावेवालौकिकरात्र्यारोपे **रमणं** भवति. तदत्र लौकिकरात्रावेवालौकिकरात्रीणां सत्त्वाद्रमणं भविष्यत्यतोऽत्रैव स्थातव्यं, गृहे न गन्तव्यम्– एवं स्थितिपक्षः पोषितः. तदेतदुक्तं **एषा रजनी, नतु दिनमि**ति. **एषा**धिकरणरूपा लौकिकी **रजनी**, एतस्यामलौकिक्या आरोपः. अत एव **घोरसत्त्वनिषेविते**ति विशेषणम्. वस्त्रहरणप्रसंगे तु अधिकरणभूतं दिनं स्थितमिति अलौकिकरात्रीणां विद्यमानत्वेऽपि रमणं नाभूत्, साम्प्रतं तु रात्रावेवालौकिकरात्रीणां विद्यमानत्वाद्रमणं भविष्यतीति भगवदाशयः. **अयं चन्द्रः न तु सूर्य इती**ति, भवतीनां मत्संगमार्तिवशात्संतापकत्वेन दिवाकरवत्प्रतीयमानोऽपि चन्द्र एवेति भावः ॥१९॥

अथ वयमभिसारिका एव त्वामुद्दिश्य समागताः, किमिति प्रेष्यन्त इत्याशङ्क्याह **मातर** इति.

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः ।

विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम् ॥२०॥

भवतीनां **मातरो** नियामिकाः, तास्तु नागताः, अतो भवतीनामन्वेषणमपि करिष्यन्ति. अतस्तासां **साध्वसं** भयं **मा कृढ्वं** मा कुरुत. न च वक्तव्यं "ता अपि तथा स्त्रीत्वाद्वा नागमिष्यन्ती"ति, तत्राह **पितर** इति. तेषां कुले कलङ्कशङ्कया ते समागमिष्यन्त्येव. तर्हि तैः सह गन्तव्यमिति चेत्, तत्राह **विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्त** इति. गोकुलान्निर्गतानां कृष्णस्थानागमने मध्ये बहवो मार्गाः स्फुटिताः सन्ति. तत्र भगवन्माया तिष्ठति, यथा न कोऽपि भगवत्समीपं गच्छति. अतो मार्गान्तरेणैव गताः **अपश्यन्तः** सन्तः **विचिन्वन्त्येव**. अनेन स्थितौ शङ्काभावोऽप्युक्तः. **बन्धुभ्यः साध्वसमि**ति च. तस्मात् सर्वा नागता इति नागन्तव्यम्. कुले च कलङ्को भविष्यतीति च. न च तेऽपि स्त्रीस्वभावं जानन्तीति नागमिष्यन्तीति चेद्, भगवदर्थं वा समागता इति, तत्राह **पुत्रा** इति. पुत्राणां सर्वथा रक्षकत्वं महती लज्जेति तेषु दयया भयाभावार्थं गन्तव्यम्. ननु ते बालका इति चेत्, तत्राह **भ्रातर**

प्रकाशः

सुबोधिन्यां **मातर** इत्यत्र. **सर्वा नागता इति नागन्तव्यमि**त्यनेन "काश्चित्कृष्णान्तिकमि"त्यत्र यथा शब्दपराणामदृढो भावः तथा युष्माकमपीत्यापादितं बोध्यम् ॥२०॥

लेखः

मातर इत्यत्र. **विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्त** इति. हिशब्दस्यार्थमाहुः **गोकुलान्निर्गतानामि**ति. अतो युक्तमेवादर्शनं तेषामिति भावः ॥२०॥

योजना

मातरः पितरः पुत्रा इत्यस्य विवरणे **न च वक्तव्यं ता अपि तथे**ति, **ताः** अस्मन्मातरो**ऽपि तथा** मुरलीनादमोहिताः, आगता अपि चेत् न किञ्चिद्बाधकमित्यर्थः. **स्त्रीत्वाद्वा नागमिष्यन्तीती**ति, मातरस्तु स्त्रीत्वान्नागमिष्यन्त्यतो वा न किञ्चिद् बाधकमित्यर्थः ॥२०॥

इति. ते हि समर्था अन्वेषणे लज्जावन्तश्च, अतो लज्जया अदृष्ट्वा कदाचित् शरीरमपि त्यजेयुः. अतो भ्रातृस्नेहाद्गन्तव्यम्. ननु ते अपकीर्तिभयादन्वेषणे न गमिष्यन्ति, तरुणास्ते, तरुण्यो वयमिति चेत्, तत्राह **वः पत्यः** इति. तेषां भोगापेक्षाप्यस्ति, तेषामेव चायं रसः, अतः परस्वं नान्यस्मै देयम्. भोगस्य ततोऽपि सिद्धिः. सर्व **एवापश्यन्तः** गृहे अदृष्ट्वा अवश्यं **विचिन्वन्ति.** ततो बहुकालमदृष्ट्वा नाशशङ्कया अपहारशङ्कया च भयं प्राप्स्यन्ति. न च वक्तव्यं "किमस्माकं तैः?", तत्राह **बन्धुसाध्वसमिति**, ते हि बान्धवाः, तैः सहैव स्थातव्यम्. अतो बलवद्बाधकस्य विद्यमानत्वात् व्याघुट्य गन्तव्यमिति ॥२०॥

एवमुक्ते परितो विलोकयन्तीराह **दृष्टं वनमिति.**

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम् ।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवमण्डितम् ॥२१॥

एषा हि राजसराजसी, अग्रिमा राजसतामसी. यदि वनदर्शनार्थमागतं तदा **दृष्टमेव वनम्** अतः "प्रतियाते"ति. अर्थात् सर्वदा **दृष्टमेवैतद्वनं,** नात्र भयमिति ज्ञापितं; गृहे च न गन्तव्यमिति. यदि गृहगमनापेक्षा, तदैव गन्तव्यमिति वचनात्. तच्च वनं **कुसुमितमिति** वर्णयति, यथा

टिप्पणी

भ्रातर इत्यत्र. **अदृष्ट्वे**त्यादिना प्रासंगिको लोकस्थित्या प्राप्तोऽर्थ उक्तः ॥२०॥

दृष्टं वनमित्यत्राप्युक्ता गुणाः पूर्वोक्ता ज्ञेयाः. स्थितिपक्षे **गृहे न गन्तव्यमिति** यदुक्तं तत्र हेतुमाहु**र्यदि गृहगमने**त्यादि. सर्वं त्यक्त्वा वनं प्रविष्टस्य तदपेक्षायामेव प्रायश्चित्तं कृत्वा तत्र गमनं स्मृतिवचनेन बोध्यते यत इत्यर्थः. प्रकृते तदभावान्न गन्तव्यमेवेति भावः ॥२१॥

प्रकाशः

दृष्टं वनमित्यत्र. **परितो विलोकयन्तीरि**त्यनेन भावादार्ढ्यनिर्णायकमापादितं बोध्यम्. **अग्रिमे**त्यादिना शिष्टभेदस्य राजससात्त्विकत्वं बोधितम्. **वनं तामसमि**त्यादिना राजसराजसेष्ववान्तरभेदः सूचितः. तेन तुरीयपादे

लेखः

दृष्टं वनमित्यत्र. **एषा हीति,** राजसराजस्या युक्ता वनदिदृक्षेति

तासामन्यासक्तिर्भवति. इदानीं पुष्पाण्येव जातानि, न फलानीति वा. कुसुमिते वने रतिः कर्तव्येति भावः. सर्वत्र मोहः प्रेषणं चानुस्यूतम्. किञ्च **राकेशस्य** चन्द्रमसः **करैः रञ्जितम्.** उद्दीपका एते– वनं तामसं, पुष्पाणि राजसानि, चन्द्रकिरणाः सात्त्विका इति. अयं **राकेश** इति पूर्णचन्द्रः, अतः पूर्णत्वे स्थातव्यं पर्वादिबुद्धौ तु गन्तव्यमिति. वायुमपि तत्रत्यं वर्णयति **यमुनेति. यमुना**सम्बन्धि**नानिलेन लीलया** ये **एजन्तः** कम्पमाना**स्तरुपल्लवा-स्तैर्मण्डितमि**ति, जलसम्बन्धात् – लीलया चलनात् – तरूणां सुगन्धानां

प्रकाशः

यमुनासम्बन्धाद्गुणातीतत्वमपि बोध्यम्. यद्यपि "वनं तु सात्त्विको वास" इत्येकादशे भगवता सात्त्विकत्वमुक्तं तथापि तन्मर्यादायां विषयसम्बन्धाभावेन वैराग्यपोषकत्वात् पुष्टौ तु रतिस्थानतया मोहकत्वाद्वनं **तामसमि**त्युक्तम्. अतएव यत्र न रतिस्थानत्वं तत्र न प्रविष्टं भक्तैरिति स्फुटमग्रिमाध्याये. **पर्वादिबुद्धावि**ति. ननु मर्यादामार्गेऽपि "नामावस्यायां च पौर्णमास्यां च स्त्रियमुपेयात्, यदुपेयान्निरिन्द्रियः स्यादि"ति श्रुतेः "पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेदि"त्यादिस्मृतेश्च पुरुषमधिकृत्यैव प्रवृत्तिदर्शनात्पुंसएव दोष इति ताः प्रत्येवं कथनमसम्भवीति चेत्, न, शास्त्रस्य पुरुषाधिकारकत्वेपि ज्योतिष्टोमादि-फलं यथोभयोः कर्मणि सहभावात्, "सहोभौ चरतां धर्ममि"त्यादिस्मृतेश्च, तथा प्रायश्चित्तादिस्मृत्यनुरोधान्निषिद्धफलस्यापि समानत्वादिति बुध्यस्व.

योजना

दृष्टं वनं कुसुमितमित्यस्य विवृतौ **इदानीं पुष्पाण्येव जाताना**त्यादि, इदानीमुद्दीपनसामग्री जाता [1]रमणं न जातमिति रमणपूर्वसम्पत्तिः सर्वापि सिद्धेति **पुष्पाणि जातानि,** फलं तु रमणे सति भविष्यतीति रमणात्मकफलाशये अत्रैव स्थेयमिति भावः. **वनं तामसमि**ति, यद्यपि वृन्दावनं गुणातीतं, "मुनयश्चापि पक्षिण" इति वेणुगीताध्यायसुबोधिन्यां गुणातीतत्वमुक्तं, तथापि अधुना भोगैकोपयोगितया तामसत्वमेव. एवं सति ये कृतार्थीभवितुमुद्युक्ता भक्तास्तान्प्रति गुणातीतत्वम्, भगवदेकपरतासाधकत्वाद्, ये पुनः कृतार्था लीलासृष्टिस्था भगवता सह रन्तुकामास्तान्प्रति तादृग्भावजनकत्वेन तामसत्वमेवेति व्यवस्थयोभयमपि ॥२१॥

१. मदर्शनम् इति मुद्रितपाठः. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

सम्बन्धात्, त्रिगुणो वायुरुक्तः. वर्णनायां रसोद्बोधके चोपयुज्यते ॥२१॥

एवं वनं वर्णयित्वा अन्यासक्तिमुत्पाद्य ततो गन्तव्यमित्याह **तद्यातेति.**

तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः ।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान्पाययत दुह्यत ॥२२॥

तत् तस्माद्वनं दृष्टमिति कार्यस्य सिद्धत्वाद् **यात.** एतादृशं वनमिति **मा यातेत्यपि** ध्वनिः. **चिरं मा** विलम्बो न कर्तव्यः. **चिरं मा यातेति** च, न हि कश्चिद्भगवन्तं विहाय **गोष्ठं** गच्छति. किञ्च. **गोष्ठं यात** तत्र गवां शुश्रूषणमपि भवति. किञ्च तत्र गतानां धर्मः सिध्यतीत्याह **शुश्रूषध्वमिति.** पतिसेवा स्त्रीणां धर्मः, तत्रापि भवत्यः **सतीः** सत्यः. पतिविशेषणं वा– पूर्वजन्मनि ताः पतिव्रताः स्त्रियः स्थिताः, पुरुषभावनया पुरुषा जाताः भवन्तश्च पुरुषाः विपरीता जाता इति. अग्रेऽपि वैपरीत्यं भविष्यतीति विचार्य गन्तव्यमिति भावः. धर्मस्तत्र, रसस्त्वत्रैवेति. **पतीनिति** बहुवचनात् धर्माभावश्च. या भवतीनां मध्ये पतिव्रताः ता वा गच्छन्त्विति.

टिप्पणी

पतीन् सतीरित्यत्र, द्वितीयाबहुवचनान्यथानुपपत्त्याहुः **पतिविशेषणं वेति.** तथा च तेषामुपहासवचनमिदं भवति यतो लोकव्यवस्थैतादृशीति तामुक्तवन्तः **पूर्वजन्मनीत्यादिना. भवन्तश्चेति** जायमाना इत्यर्थः ॥२२॥

प्रकाशः

वर्णनायामिति, एतन्निरूपणस्य वर्णनाङ्गत्वात्तथेति भावः. **रसोद्बोधक** इति भावप्रधानः. प्रमदादाविति वा, श्रमादिनिवारकत्वादिति ॥२१॥

तद्यात मेत्यत्र. भवन्तश्च पुरुषा इत्यनेन एतासां श्रुतिरूपाभ्योऽपि भेदो बोधित इति प्रतिभाति ॥२२॥

लेखः

हिशब्दः. अग्रे **रसोद्बोधके** इति, **रसोद्बोधके** गन्धे तदानेतृत्वेन वायु**रुपयुज्यत** इत्यर्थः ॥२१॥

तद्यातेत्यत्र. किञ्चेति. वनस्य दृष्टत्वा**द्यातेति** पूर्वाः प्रतिवाक्येऽन्वयः. एतस्यैवाग्रेऽप्यन्वय इत्याशयेन शुश्रूषार्थं धर्मार्थं च यातेति प्रयोजनसमुच्चयः. **वैपरीत्यमिति,** भवतीनां गमने स्त्रीभावनया ते स्त्रियो भविष्यन्तीत्यर्थः. **धर्मस्तत्रेति, शुश्रूषध्वमित्यस्यार्थोऽयम्** ॥२२॥

सर्वासामेवातथात्वे न गन्तव्यमेवेति. न हि पतिव्रताः समायान्ति लौकिकधर्मपरायणाः. अतो भगवद्वाक्यं रसालत्वात् तदभावमेव सूचयति. किञ्च **वत्सास्तथैव** बद्धाः **बालाश्च** क्षुधिताः, **ते क्रन्दन्ति.** अतस्तेषां रोदननिवृत्त्यर्थं **तान् पाययत** स्तनं **दुह्यत च** गाः. परार्थं च भवतीनां जीवनं, न स्वार्थम्. अतो दुःखितानां स्थाने सुखाकाङ्क्षिभिर्न गन्तव्यमिति ॥२२॥

एवमुक्ते याः स्निग्धदृष्टयो जाताः ताः प्रत्याह **अथवेति.**

अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।
आगता ह्युपपन्नं तत् प्रीयन्ते मम जन्तवः ॥२३॥

मया वृथैवैते पक्षाः कल्पिताः, वस्तुतस्तु मां द्रष्टुमेवागताः स्नेहात्, सिद्धान्तोऽयं पूर्वपक्षार्थमनूद्यते. [1]निरुक्तो भावो गुणात्मको दोषात्मको वा न फलं प्रयच्छति, लौकिको भवति, अतः अनूद्यते. **मयि** योऽय**मभितः स्नेहः** सर्वभावेन तेन कृत्वा **यन्त्रितः आशयो** यासां, तादृश्यश्चे**द्भवत्यः** इहागताः,

प्रकाशः

अथ वेत्यत्र. ननु सिद्धान्तस्य दूषणानर्हत्वात्कथं पूर्वपक्षार्थमनुवाद इत्यत आहुः **निरुक्त** इत्यादि, स्नेहात्सर्वत्यागपूर्वकागमनरूपः **भावः** भगवत्त्वेन कामपूरकतां गाहमानो **गुणात्मकः** जारत्वसङ्कीर्णतया तां गाहमानो **दोषात्मक** इति **फलं** भगवदात्मकं **न प्रयच्छति,** तत्र हेतु**र्लौकिको भवति.** अतस्तदुभयरूपतां तत्रापाद्य पूर्वपक्षीक्रियत इत्यतोऽनुवाद इत्यर्थः.

लेखः

अथवेत्यत्र. **स्नेहादि**ति, **स्नेहाद्** हेतोरयं **सिद्धान्त**एव भवति तथापि **पूर्वपक्षत्वार्थम**नुवादः क्रियत इत्यर्थः. **निरुक्त** इति, सर्वोऽपि भावो मुखत उक्तः फलासाधको, यतो **लौकिको** लोके प्रकटो **भवति.** इदं साधारण्ये-नेत्याहु**र्गुणे**ति **दोषे**ति. रसस्य शब्दवाच्यत्वे रसत्वहानिः, "धर्मः क्षरति कीर्तनात्". दोषेऽपि "स्वदोषमुच्चैः कथयन् परिभ्रमेदि"त्यादिप्रायश्चित्तम्. अतः सर्वोऽपि निरुक्तः सन् लौकिकत्वात् फलासाधको भवति. अतो गृहगमनाज्ञापनेन तासामिवैतस्यापि स्थूणाखननन्यायेन दार्ढ्यार्थं लौकिकत्वमनुवादेन सम्पाद्यते पूर्वपक्षे इत्यर्थः. एतस्य स्वयमेव फलत्वात् फलाजनकत्वमभिमतमेवेति भावः ॥२३॥

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्.

तदुपपन्नमेव. तर्हि को विलम्ब इति चेत्, तत्राह **प्रीयन्ते मम जन्तव** इति, **मम** सम्बन्धिनः सर्व एव **जन्तवः** स्वयमेव प्रीता भवन्ति, न तु मया किञ्चित्कर्तव्यम्. स्नेह एव मयि, न तु कृतिरिति. ततः साधारणमिममर्थं ज्ञात्वा प्रतियात. स्थितिपक्षे तु स्पष्ट एवार्थः. "तद्यात मे"ति फलिष्यति. न हि **स्नेहादागतः** प्रेर्यमाणोऽपि गच्छति. **यन्त्रितो** वशीकृतः, अन्तःकरणे अन्याधीने जाते न किञ्चिदवशिष्यते. निष्कपटा च प्रीतिः कर्तव्येत्युभयत्र भावः ॥२३॥

एवं राजसीः निरूप्य सात्त्विकीर्निरूपयति. सत्त्वयुक्ताः निरूप्यन्ते. ततो रजोयुक्ताः. स्त्रीणां मुख्यो धर्मः भर्तृशुश्रूणमित्याह **भर्तुरिति**.

प्रकाशः

तर्हीति, यद्येवं भावेनागमनं युक्तं तर्हि "ये यथा मामि"ति प्रतिज्ञा पालनीयेत्यर्थः. नन्वेवं सति प्रतिज्ञायाः कथं सिद्धिरित्यत आहुः **स्नेह एवेत्यादि**, ये मां निरुपधिस्नेहेन भजन्ते तेष्वहं तथैव स्निह्यामीत्येतावतैव प्रतिज्ञासिद्धिः, कृतिस्त्वशक्या, नमनादीनां जीवधर्मत्वादित्यर्थः. **साधारणमिति** सर्वत्रैवम्, न तु भवतीष्वेवेत्यर्थः. स्थितिपक्ष उपपन्नत्वं व्युत्पादयन्ति **न हीत्यादि**. फलितमर्थमुपदेशार्थमाहुः **निःकपटेत्यादि**. **उभयत्रेति** पक्षद्वयेऽपीत्यर्थः ॥२३॥

लेखः

भर्तुरित्यत्र. **सात्त्विकीर्निरूपयतीति**, त्रिभिः श्लोकैरिति शेषः. तत्रावान्तरभेदमाहुः **सत्त्वयुक्ता** इति. अवशेषाच्चतृतीयेन तमोयुक्ता इति ज्ञेयम्. **निरूप्य निरूप्यन्ते निरूपयतीत्यत्र** वाक्यानीति शेषः, कथनार्थकधातूनां

योजना

अथवा मदभिस्नेहादित्यत्र निरुक्तो भावो गुणात्मको दोषात्मको वा न फलं प्रयच्छतीति. गुणात्मक इति दानादिरूपो धर्मः स्वमुखेन कथितश्चेत् फलदानसमर्थो न भवति. अतएव भगवतोद्धवं प्रत्युक्तं "कृतस्यापरिकीर्तनमि"ति. "धर्मः क्षरति कीर्तनादि"तिवाक्यात् फलदत्वं तस्य नश्यति. एवं दुष्कर्मापि कृतं पुनः कथ्यते तदा क्षीणं भवति. पूर्वोक्ताः पक्षा भवतीनामागमने मया कल्पिताः, वस्तुतस्तु मद्दर्शनार्थमेवागतं भवतीभिः, परन्तु क्षरणभयाद्भवतीभिर्न कथ्यत इति भावः ॥२३॥

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥२४॥

स्वभावतो जीवानां भगवानेव भर्ता, तत्रापि **स्त्रीणां** स्त्रीशरीरं प्राप्तानां व्यभिचाराभावाय भगवानेव सेव्यः. लौकिके तु परिग्रहात् भर्तृत्वेनाभिमतः सेव्यः. सएव **परो धर्मः**. तत्राप्य**मायया** कापट्ये तु न सेवायां फलम्. अन्ये सर्वे धर्मा अवराः. **तद्बन्धूनां** श्वशुरादीनाम्. **कल्याण्य** इति सम्बोधनाद् भवतीनां सर्वेऽपि सन्तीति ज्ञापितम्. **प्रजानां च** पुत्रादीना**मनुपोषणम्** अन्नादिदानेन स्तनादिदानेन च. पित्रादिभिः पोष्यमाणानां स्वतोऽपि पोषणं वा ॥२४॥

तथापि स पतिः समीचीनो न भवतीति चेत्, तत्राह **दुःशील** इति.

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥२५॥

दुष्टं शीलं यस्य, द्यूतादिदुर्व्यसनवान्. **दुर्भगो** दरिद्रः. **वृद्धः** इन्द्रियविकलः. **जडो** मूर्खः. **रोगी** महारोगग्रस्तः. **अधनो वा**, अधनोऽपि भाग्यवाँश्चेत् तदा संभावनया स्त्रीभिर्न त्यज्यते. एवं षड्दोषयुक्तोऽपि **स्त्रीभि**रनन्यगतिकाभिः **पतिर्न हातव्यः**. स्पष्टएव विरोधः— षड्गुणो

टिप्पणी

भर्तुरित्यत्र. स्त्रीणामिति बहुवचनेन **भर्तुरित्ये**कवचनेन **च** सर्वासां य एको भर्ता तत्सेवाविधानाद् भगवतएव तथात्वाद् [१]भजनमेव विहितं क्रियत इत्याशयेन स्थितिपक्षार्थमाहुः **स्वभावतो जीवानामित्यादिना**. अत्र **बन्धु-प्रजाशब्दाभ्यां** तत्सखीभावपरम्परे उच्येते ॥२४॥

दुःशील इत्यादिना क्रमेण यशऐश्वर्यवीर्यज्ञानवैराग्यश्रीविरुद्धा धर्मा

प्रकाशः

दुःशील इत्यत्र. **अधनो**ऽपीत्यादिना मूलस्थो**ऽपिशब्दो** व्याख्यातो ज्ञेयः ॥२५॥

लेखः

द्विकर्मकत्वादिति ज्ञेयम्. तथा च सात्त्विकीः प्रति वाक्यानि निरूपयति ॥२४॥

[१]. तद्भजनमेव मू. पा.

भगवान्, षड्दोषः स इति. पातकी तु हातव्य एव, "भजेदपतितं पतिमि"ति वाक्यात्. किञ्च तत्रापि **लोकेप्सुभिः** येषामिहलोके परलोके च कीर्त्याद्यपेक्षा तैर्न **हातव्यएव**, अन्यथा अपकीर्तिर्भवेत् ॥२५॥

ननु कामरसे निविष्टमनसां न धर्मो बाधकः, परस्मिन्नेव रसोत्पत्तिरिति, तत्राह **अस्वर्ग्यमिति**.

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।
जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियः ॥२६॥

हे **कुलस्त्रियः**, **औपपत्यं** जारसम्बन्धः तद्रसालमपि बहुदोषग्रस्तम्. तत्रत्यान् षड्दोषानाह. **अस्वर्ग्यं** परलोकनाशकं, पूर्वं धर्मेण सिद्धोऽपि स्वर्गः तस्मिन् अपगच्छति. किञ्च इहलोकेऽपि यशो दूरीकरोति. **च**कारात् नरकोऽपि. नापि तत्र रसभोगो महानित्याह **फल्ग्विति**, अल्पमेव तत्सुखं क्षणमात्रसाध्यं, स्वरूपतो महदपि कालतः परिच्छिन्नमपि. **कृच्छ्रमिति** कष्टसाध्यम्, नाल्पेन प्रयासेन सिध्यति. अतो बलवदनिष्टानुबन्धि. किञ्च अनुभवकालेऽपि न रसमुत्पादयति, यतो भयजनकम्. शृङ्गारविरोधी भयानकरसः. अतएव 'व्यभिचार'शब्दवाच्यः. मुख्यतया भयानकरसमुत्पादयेत् विशेषतः प्रथमतः. किञ्च **सर्वत्रैव जुगुप्सितं** सर्वदेशेषु सर्वकालेषु तत्कृत्वा यदि सत्कर्मापि कुर्यात्, ततोऽपि जुगुप्सितो भवेत्. धर्मबुद्धिस्तत्र विचिकित्सैव भवति. अतो बहुदोषग्रस्तत्वात् उत्तमाया नैतद्युक्तम् ॥२६॥

टिप्पणी

उक्ता इत्याशयेनाहुः **षड्दोषः स इतीति**. स्थितिपक्षे स्वतोऽपि धर्मी दुष्ट इति पातकसम्बन्धोक्त्या ज्ञाप्यते. कदाचित्त्याज्यत्वेन नित्यमभजनीय इत्यपि तथा ॥२५॥

अस्वर्ग्यमित्यत्र, उपपतिसम्बन्धे दोषोक्त्या प्रभोश्च सहजपतित्वेन स्पष्टः स्थितिपक्षः. कुलसम्बन्धाभिमानवतीनामुक्त्या तत्र[१] तदभावादपि तथा ॥२६॥

लेखः

अस्वर्ग्यमित्यत्र. धर्मबुद्धिरिति, धर्मवत्त्वेन ज्ञानं संशयात्मकं भवतीत्यर्थः ॥२६॥

१. मुक्त्यात्र मू. पा.

एवं सगुणाः प्रबोध्य गुणातीताः प्रबोधयति **श्रवणादिति.**

श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥

ननु लौकिकदृष्टावेते दोषाः, न तु भक्तिमार्गे परमार्थदृष्टौ वा, भवांस्तु पुरुषोत्तम इति चेत्, तत्राह **श्रवणादिति.** न हि भक्तिमार्गे सम्बन्ध एव कर्तव्य इति शास्त्रमस्ति. भक्तिर्हि नवविधा श्रवणादिरूपा प्रेमरूपा च. स्वतन्त्रपक्षे तु सुतरामेव नापेक्षा. स्नेहस्तु भगवद्विषयकोऽलौकिकः. स एव सर्वाधिको भवति, लौकिकस्तु कामशेषतां प्राप्तः हीनएव भवति. तस्यालौकिकस्य कारणानि त्रीणि– श्रवणं दर्शनं ध्यानमिति. आदौ **श्रवणं** भगवद्वाचकानां पदवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यावधारणम्. तथा सति [1]विषयो व्यावर्तितो भवति, अन्यथा अन्यत्रापि स्नेहः स्यात्. तदनु **दर्शनं** तदर्थस्यानुभवः कृपया भगवत्साक्षात्कारो वा भगवत्कामार्थः नारदादेरिव. ततो **ध्यानं** योगेन चिन्तनम्. एतैरेव **मयि भावो** भवति. स चोत्पन्नो भावः **अनुकीर्तनात्** स्थिरो भवति. यथायमुपायः शास्त्रीयः साधीयान्, **न तथा** निरन्तरसान्निध्येन जातो लौकिकः. स हि कामशेष इत्यवोचाम. अतो **गृहान् प्रतियात.** अतः परमार्थविचारेऽपि न स्थातव्यमिति. **तथेत्यत्र** प्रकारएव

प्रकाशः

श्रवणादित्यत्र. भक्तिर्हीत्यादि. तथा चैवं दशविधायामपि न [2]सम्बन्धापेक्षेत्यर्थः. **सुतरामिति**, तत्रैव फलत्वस्य परिसमाप्तेस्तथेत्यर्थः. तदेव स्पष्टयन्ति **स्नेह** इत्यादिना. **तदर्थस्यानुभव** इति मानसः परोक्षानुभवः निदिध्यासनं वा. एतयो'र्दर्शन'शब्दानभिधेयत्वात् पक्षान्तरमाहुः **कृपयेत्यादि.** स्थितिपक्षं स्पष्टयन्ति **तथेत्यादिना.** तथा च स प्रकारान्तरापन्नः, अयं तु

योजना

श्रवणाद्दर्शनादित्यत्र भगवत्साक्षात्कारो वा भगवत्कामार्थ इति, भगवद्विषयककामोत्पादनार्थं भगवद्दत्तः साक्षात्कारो **दर्शन**शब्दवाच्य इत्यर्थः. तत्र दृष्टान्तः **नारदादेरिवेति**– नारदस्य भगवता स्वदर्शनं सम्पादितं स्वविषयककामोत्पत्त्यर्थम्, "सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघे"ति-वाक्यात्तद्वदित्यर्थः ॥२७॥

१. संसारः. २. सख्यादिषु वन्दनादिषु एतादृशसम्बन्धापेक्षाऽथवा श्रवणादिशक्तिसङ्कोचः.

निषिद्धः, न स्वरूपतो महत्त्वं निषिद्धम्. गृहस्थितानां च विहितं भवतीति गृहगमनमाज्ञापितम् ॥२७॥

एवं तासां गृहगमने बोधिते तत्परित्यागानन्तरं पुनर्ग्रहणं वांताशनमिव मन्यमानाः, भगवद्वाक्यं चानुल्लंघ्यमिति विचार्य, अतिविरोधे उभयानुरोधि-शरीरपरित्यागः कर्तव्य इति निश्चित्य, तत्रापि भगवत्सम्बन्धानन्दा-भावादितिकर्तव्यतामूढा जाता इत्याह **इति विप्रियमिति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥२८॥

विगतं प्रियं यस्मादिति, उभयथापि प्रियाभावः- किं परीक्षार्थमाह आहोस्विदभिप्रेत एवायमर्थ इति. **आ**समन्तात् श्रुत्वा वाक्यतात्पर्यं निर्धार्य, सत्यं गमनमेव वदतीति निश्चित्य, अनभिप्रेतत्वेऽपि तत्प्रसवहेतुमलभमानाः **गोप्यो** नैपुण्यरहिताः **गोविन्दस्य** स्वामिनः देव**भाषितत्**वेन अनृतशङ्कारहित-मीश्वरवाक्याच्च निर्धाररहित**माकर्ण्य विषण्णा** जाताः मनसि परमं विषादं प्राप्ताः. तत्र हेतु**र्भग्नसङ्कल्पा** इति. तदा परां **चिन्तां प्रापुः** कथमस्मद्विचारितं भगवद्वाक्यं चैकमुखं भवतीति. सा चिन्ता त्रैलोक्यं व्याप्य चेदं जन्मजन्मान्तराणि च निर्द्धारमलभमाना **दुरत्यया** पर्यवसानरहिता जाता ॥२८॥

ततः चिन्तया यज्जातं तदाह **कृत्वेति.**

प्रकाशः

तद्विलक्षण इत्यर्थः. तर्हि तौल्ये कतरस्य ज्यायस्त्वमित्यत आहुः **गृहे**त्यादि. तथा च तेषां विहितं भवति न तु स्वतन्त्रमित्ययमेव ज्यायानित्यर्थः ॥२७॥

इतीत्यस्याभासे **तत्रापीति** शरीरपरित्यागेऽपीत्यर्थः ॥२८॥

लेखः

श्रवणादित्यत्र. गृहस्थितानां चेति चः समुच्चये, **विहितं** पूर्वोक्तं श्रवणादिकं **गृहस्थितानामपि भवति** सम्भवतीत्यर्थः ॥२७॥

इति विप्रियमित्यत्र. विगतं प्रियमिति सामान्यविवक्षया नपुंसकत्वमेकवचनं च, यस्मिन् भाषिते शब्दा अर्थाश्चाप्रिया इत्यर्थः. **उभयथापीति** शब्दतोऽर्थतश्चेत्यर्थः ॥२८॥

कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यद्-
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।
अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥२९॥

चिन्तया प्रथमं मूर्छिता जाताः. ततः **मुखान्यव** अवाङ्मुखानि **कृत्वा,** कमपि स्वमुखं न प्रदर्शयिष्याम इति अवाङ्मुखानि कृतवत्यः. **अवगताः शुचः** याभिस्ताः, शोकसम्बन्धिन्यो वा जाताः. **शुचः श्वसनेन** शोकसम्बन्धिना श्वासवायुना **शुष्यन्ति बिम्बवदधराणि** येषाम्. तादृशानि मुखानि कृत्वा **चरणेन** च **भुवं लिखन्त्यः,** तथैवावस्था भवतीति भूमिविवरमिव प्रार्थयन्त्यः. **उपात्तमषिभिः अस्रैः कुचकुङ्कुमानि मृजन्त्यः तूष्णीं तस्थुः.** मुखस्य अवाक्त्वेन भक्तितिरोभावः. श्वसनेन प्राणपीडा, शोकेनान्तःकरणस्य, बिम्बाधरशोषेण कामरसस्य, पदा भूमिलेखनेन शरीरस्य, अस्रैरिन्द्रियाणां, कुङ्कुमाभावेन कान्तेः, दुःखभरेण आनन्दस्य, तूष्णीं स्थित्या चैतन्यस्य तिरोभावो निरूपितः. केवलं स्थाणुवत् स्थिताः ॥२९॥

एवमपि स्थितौ तूष्णीं स्थितं भगवन्तमालक्ष्य किञ्चिद्विज्ञापयामासुरित्याह **प्रेष्ठमिति.**

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः ।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥३०॥

लेखः

कृत्वेत्यत्र. एवमवस्थायाश्चिन्तायां स्वतएव जायमानत्वेन पूर्ववाक्ये सम्बन्धेन "एवंभूताश्चिन्तामापुरे"वं वक्तुमुचितत्वेऽपि क्रियाभेदेन द्वितीयवाक्ये, तत्रापि **कृत्वेति** कथनपूर्वकं तत्कथनादाहुः **चिन्तया प्रथममिति.** तेन पूर्वं मूर्छायां स्वतएव तथा जातं, ततः किञ्चित् स्वास्थ्ये वक्ष्यमाणाशयेन तथा कृतवत्य इति सूचितमित्यर्थः. **अवेत्यस्यावृत्तिमभिप्रेत्याहुः अवगता इति. शुच** इत्यस्याप्यावृत्तिमभिप्रेत्याहुः **शुचः श्वसनेनेति.** तथा **चावशुचस्ताः शुचः श्वसनेन** तादृशानि **मुखानि** अवकृत्वेत्यन्वयः. **अवशुच** इति विशेषणं षष्ठ्यन्तं वा. **तादृशानि मुखानि कृत्वेति,** अवाङ्मुखानीति शेषः ॥२९॥

भाषणं पूर्वोक्तमेव. अथवा तस्यामप्यवस्थायां "किमिति रोदनं क्रियते, स्वस्था भवत, गृहे गच्छते"त्येव वदति, परं हसन्मुखः. तदा तासां हृदये वाक्यामृतानि प्रविष्टानि सजातीयानि वाक्यान्युत्पादितवन्ति. तदा भगवदुद्बोधिताएव ताः भगवद्वाक्यानि पूर्वपक्षयितुमारेभिर इत्याह **प्रेष्ठमिति**. प्रेष्ठो भवत्येव, स्वसामग्र्या तथा सम्पादितत्वात्, परं वदत्यन्यथा, तथा"प्यप्रियमिव प्रतिभाषमाणमि"ति नोक्तम्. न हि कदाचिदपि भगवानप्रियवद्भवति किन्तु **प्रियो** भवति [1]**इतरो**ऽपि भवति, सर्वभवन-सामर्थ्यात्. इतरत्वे न प्रियत्वं बाध्यते, यथा जगज्जगदतिरिक्तरूपश्च. तदाह **प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणमि**ति. यः प्रियोंऽशः तं न तिरोधार(प!)यति किन्तु वाक्यं न तेन[2] रूपेण वदति किन्तु रूपान्तरेण, तदा तेन सह वादः कर्तुं शक्यइति. न हि फलं क्वचित्साधनं भवति "मां वृणुते"ति वा वदति,

टिप्पणी

प्रेष्ठं प्रियेतरमिवेत्यत्र. शानजर्थानुपपत्त्या पक्षान्तरमाहुः **अथवा तस्यामि**त्यादि. भाषणेनैव सर्वतिरोधानमुक्तमिति पुनरपि तथैव चेद् भाषणं स्यान्न स्यादेव विशेषाभावादतः पूर्वविलक्षणमेतद्वाच्यम्. ततो[3] जीवन-मुक्तिसामर्थ्यं चात्र जातम्, अन्यथैतन्न स्यादिति वैलक्षण्यमेव निरूपितं **तस्यामप्यवस्थायामि**त्यादिना. अतएव **प्रतिभाषणमु**क्तं मूले औदासीन्यपूर्वक-पूर्वभाषणविरोधि-सहासभाषणाभिप्रायेण. **तदर्थविनिवर्तिते**त्यत्र, **यदि**

प्रकाशः

प्रेष्ठमित्यत्र. टिप्पण्यां **न स्यादेवे**ति, वक्ष्यमाणं कार्यं न स्यादेवेत्यर्थः. सुबोधिन्यां **कर्तुं शक्य** इति नीतौ वाग्वादस्यातिप्रिये एव निषिद्धत्वेनोदासीने दोषाभावात्तथेति पूर्वपक्षीकरणे हेतुरुक्तः. नन्वत्र रूपान्तरस्यादर्शनाद् रूपान्तरेण वदतीत्यनिश्चयेन कथं पूर्वपक्षीकरणमित्याकांक्षायामाहुः **न ही-**

लेखः

प्रेष्ठमित्यत्र. **तदे**ति भगवति हसन्मुखे सतीत्यर्थः. **सजातीयानी**ति, यद्भगवतोक्तं तदेव पूर्वपक्षीकृत्य समाहितमित्येकविषयकानीत्यर्थः. **स्वसामग्रे**ति, स्वासां श्रुतीनां भजनसामग्री स्तुतिरूपा, तया प्रेष्ठत्वेन सम्पादितो भगवानित्यर्थः. "चिरं स्तुत्या ततस्तुष्टः परोक्षं प्राह तान् गिरे"ति

१. मर्यादामार्गीयोऽपि. २. प्रियरूपेण. ३. यतो मू. पा.

परं बलादपि प्रतिबन्धनिराकरणं कृत्वा स ग्राह्यएव. तदाह **कृष्णं** सदानन्दमिति. ननु कोऽयं निर्बन्धः सएव काम्य इति, महाँश्चेन्न मन्यते तदा अल्पतरा अपि काम्या इति, तत्राह **तदर्थविनिवर्तितसर्वकामा** इति. **तदर्थं** भगवदर्थं **विशेषेण निवर्तिताः सर्वे कामा** याभिः. अयमेव काम्य इति निश्चित्य पूर्वमेव सर्वे कामास्त्यक्ताः. काममयश्चायं पुरुषः, यदि त्यक्तोऽपि गृह्येत तदा भगवदुक्तमेव गृहं कथं न गृह्येत? तस्मादयमेव कामो अवशिष्यते. स चेन्न भवेत्, स्वरूपहानिरेवेति निश्चित्य, फले मानमकृत्वा दृढीभूय, **रुदितोपहते नेत्रे विमृज्य** यथास्थानं सर्वं प्रापयित्वा **किञ्चित्संरम्भेण**, वादार्थमुद्यमः **संरम्भः**. भगवान् हि वाक्येन निराकरोति न तु स्वरूपतः. वाक्यं तु, निराकार्यमिति तदर्थं संरम्भः. सर्वोऽप्यन्तं गत्वा परावर्तते, परं **संरम्भेण**

टिप्पणी

त्यक्तोऽपीति. भगवदर्थं सर्वत्यागो भगवतोक्तः, पूर्वं त्यक्तार्थापरिग्रहोऽपि, यतः शुकादयोऽपि तथा चरन्ति. अधुना गृहपरिग्रहं वदति. एवं सति भगवदुक्तमिति, गृहं चेद् ग्राह्यं, तदा तदविशेषात्सर्वत्यागपूर्वकं भगवानेव कुतो न ग्राह्यो, गृहस्यैव ग्रहणे विनिगमकाभावादित्यर्थः ॥३०॥

प्रकाशः

त्यादि. तथा च "प्रियं किं करवाणि व" इत्यनेनोपक्रमे स्वस्य साधनत्वकथनाच्छैषैः प्रतिबन्धकरणाच्च रूपान्तरावगमः, पूर्वोक्तहासाच्च फलरूपस्यैवं तूष्णीकत्वावगम इति कार्यबलेन रूपान्तरावगतौ युक्तं [1]पूर्वपक्षीकरणमित्यर्थः. **स** इति फलात्मा. **तदाहेति** तस्मात् फलात्मकत्वं शुक आहेत्यर्थः. **सर्व** इति मुक्तिपर्यन्ताः. नन्वेवं सत्ययं कुतो न त्यज्यते तत्राहुः **काममय** इत्यादि– "काममय एवायं पुरुष" इति श्रुत्यर्थोऽयं; श्रुतिस्तु शारीरब्राह्मणस्था बृहदारण्यके. तेन स्वरूपधर्ममपि त्यक्त्वा भगवान् गृहीत इत्युक्तम्. **यदीति** भगवता स्वानङ्गीकारे. **तस्मादिति** सर्वकामानां भगवदर्थं त्यागात्. संरम्भप्रयोजनमाहुः **सर्वोऽपीत्यादि**. तथा च वाक्यतात्पर्यं निर्णीय ततो

लेखः

कथानुसन्धेया. **अन्तं गत्वेति**, उपायस्यान्तं यावच्छक्यमुपायं कृत्वेत्यर्थः ॥३०॥

१. पूर्वपक्षाकरणम् इति मुं. वि. पाठः.

गद्गदा गीर्यासां, वर्णानां न स्फुटनिर्गमनम्, ईश्वरवाक्यनिराकरणे यतो वाणी बिभेति. एतासां तु न भयं, यतः **अनुरक्ताः**. रागो हि भयप्रतिपक्षः, यत्र रागः स्वल्पोऽपि, न तत्र भयम्. अतः **अब्रुवत** उक्तवत्यः ॥३०॥

वाक्यानां बाधवाक्यानि तावन्ति प्रार्थनाधिकः ।
एकादशविधास्तेन तासां वाचो जयन्ति हि ॥(१३)॥

यद्भगवता प्रथममुक्तं "स्वागतं वो महाभागा" इति. यद्यपि भगवता वयं स्तुताः तथापि प्रेषणाभिप्रायेण न तु स्वस्मिन्नागता इति, तथा सति नेयं स्तुतिः किन्त्वतिक्रूरं वचनम्, अनिष्टपर्यवसानात्. नन्वशक्ये किं कर्तव्यं, तत्राह **मैवं विभो** इति.

॥ श्रीगोप्य ऊचुः ॥

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥३१॥

भवान् सर्वमेव कर्तुं समर्थः. समर्थश्चेदन्यथा वदेत् **नृशंसमेव** भवति,

---

प्रकाशः

यत्सेत्स्यति तद्विधास्याम इत्येतदर्थं संरम्भ इत्यर्थः ॥३०॥

मैवमित्यत्र[1] **नन्वशक्य** इत्यादि. भगवानेको भक्ताश्चानेका इत्यशक्ये स्थापने तदर्था स्तुतिः कथं कर्तव्येत्यर्थः. **दयायामित्यादि**, तथा च यः पूर्वं

लेखः

जयन्ति हीति, भगवतो रसात्मकत्वाद्विवादे एतद्वाक्यानां जयो युक्त इति **हिशब्दः** (१३).

मैवमित्यत्र. पुरुषे दयाराहित्यमिव वाक्ये दयाऽसमानाधिकरणत्वमेव

कारिकार्थः

मैवं विभोऽर्हतीत्यस्याभासे वाक्यानामित्यादि. वाक्यानां भगवद्वाक्यानां **बाधवाक्यानि** तासां वाक्यानि **तावन्ति** भगवद्वाक्यसमसंख्याकानि दश, "व्यक्तं भवान्" इति प्रार्थनावाक्यं च **अधिकम्. तेन एकादशविधास्तासां वाचो जयन्तीत्यर्थः** (१३).

---

१. इत्यस्याभासे इति मांड. पाठः.

दयायां विद्यमानायां न वदेदिति. यच्च भगवतोक्तं "व्रजस्यानामयमि"ति तदस्माकं नोद्देश्यं, यतः **सर्वविषयानेव संत्यज्य तव पादमूलं प्राप्ताः**. अनेन त्यक्तार्थपरिग्रहो अनुचितो नापि जारत्वेन समागतमिति निरूपितम्. एकादशेन्द्रियाणामपि विषयास्त्यक्ताः सवासनाः. तत्र विनिगमकं **तव पादमूलं प्राप्ता** इति, अन्यथा पादमूलप्राप्तिरेव न स्यात्. यदुक्तं "ब्रूतागमनकारणमि"ति तत्राहुः **भजस्वे**ति. अन्यत् कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः **हे दुरवग्रहे**ति. दुष्टोऽय**मवग्रहः** आग्रहः यद्भजनं न कर्तव्यम् अन्यत्कर्तव्यमिति; यथा जीवानाम्. ते हि सर्वं कर्तुं वाञ्छन्ति, न भगवद्भजनम्. यथायमाग्रहो जीवानां दुष्टः **तथा**पि भवितुमर्हति, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति तु नास्ति. यदि तदभिप्रायेणैव तथा, तदा **मा त्यजास्मान्** अस्माभिर्न त्यज्यत इति. एतच्च भजनं न विषयवत्[१] किन्तु प्रकारान्तरेणेति विशेषतो

प्रकाशः

विषजलाशयादिभ्योऽवनेन स्वसामर्थ्यं प्रकटितवांस्तस्य भवत एवं कथनं नासामर्थ्य(स्य!)सूचकम् अपि तु दयाभावस्येत्यर्थः. **अनुचितपदमिति निरूपितमि**त्यनेनान्वेति. **जारत्वेने**ति, जारत्वमनुसन्धायेत्यर्थः. एतेन "प्रियं किमि"त्यत्र सूचितं कामस्य प्रियमपि निराकृतम्. अभजनाग्रहस्य दुष्टत्वमुद्घाटयन्ति **ये यथे**त्यादि. तथा च प्रतिज्ञाभङ्गकत्वाद्दुष्ट इत्यर्थः. ननु प्रतिज्ञायां 'यथा-तथे'तिपदाभ्यां प्रकारसाम्यमुक्तमिति "यथा भवत्य आगताः, तथा मयाप्यागन्तव्यमि"ति तत्पूरणार्थमेव साम्प्रतमभजनमिति चेत्तत्राहुः **यदी**त्यादि. नन्वस्त्वेवम्, तथापि भजनप्रार्थना किमर्थेत्यत आहुः **एतच्चे**त्यादि. विवक्षितं

लेखः

क्रूरत्वमित्याशयेनाहुः **दयायामि**ति. **नापि जारत्वेने**ति, "प्रियं किमि"त्यत्र भगवता स्वातिरिक्तप्रियकर्तृत्वेन स्वस्मिन् सोपाधिस्नेहसूचनेन जारत्वं शङ्कितं तदपि नेति विषयत्यागकथनेन निरूपितम्. विषयमात्रत्यागान्न प्रियकर्तृत्वं किन्तु प्रियत्वमेवेति भावः. **सवासना** इति **सर्व**पदस्यार्थः. **पादमूलमि**ति, यत्र पादौ तिष्ठतस्तत्स्थानं तयोर्मूलम्. तथा च **पादमूलं** वृन्दावनमित्यर्थः. ननु विषयमात्रत्यागे भजनप्रकाराभावात् कथं भजनमित्याशङ्क्याहुः **एतच्चे**ति. **विषयवदि**ति भावप्रधानात् मतुबन्तम्. प्रार्थ्यमानं प्रति**भजनं चकारा**दस्मत्कृतं भजनं च विषयत्वप्रकारकं **न** विषयत्वेन

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्.

वक्तुमशक्ताः दृष्टान्तेनाहुः **देवो यथे**ति. **देवो** हि सर्वनिव भजते, अन्यथा शास्त्रं व्यर्थं स्यात्. तत्रा**प्यादिपुरुषो देवः.** पूर्वकाण्डेऽपि भजनं सार्थकं, सुतराम् उत्तरकाण्डे. आदिपुरुषस्तु सेव्यएव भवति, देवश्च. न हि देवभजनं

प्रकाशः

भजनं विवेचयितुमुपपादयन्ति **देवो ही**त्यादि. भजनमत्र फलदानाद् बोध्यं, देवताविग्रहवादस्य व्यासाभिप्रेतत्वेन कर्मण्यपि देवतायाएव द्वारत्वात्. **शास्त्रं** त्यागमन्त्रलिङ्गादिरूपम्. अस्त्वेवमन्येषां, तावता भगवतः कथं तथात्वमित्यत आहुः **तत्रापी**त्यादि, "यो देवानां नामधा एक एव", "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ती"त्यादिश्रुते**स्तत्रापि** तेषु देवेष्वपि सएवेति तस्यैव तथात्वमित्यर्थः. तदेवाहुः **पूर्वे**त्यादि. **भजनं** भगवत्कर्तृकम्. ज्ञानभक्त्योरपि फलदानात् **सुतरामि**ति. नन्विदं सोपधौ, तच्च "प्रियं किं करवाणी"त्यनेनोरीकृतमेवेति प्रकृते को विशेष इत्यपेक्षायां निरुपधिप्रपत्तिव्यवस्थामाहुः **आदी**त्यादि. "अकामः सर्वकामो वे"त्यादिस्मृतिभिर्भजनविधानात्तस्य परमपुरुषत्वेन निष्कामसेव्यत्वमुक्तम्. तथा "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणे"त्यादिश्रुतौ रन्तृत्वबोधनाद् देवत्वमुक्तम्. तावता निरुपधिप्रपत्तावपि भजनं सेवाकारणरूपं सिद्धमेवेत्यर्थः. तथा **च** प्रतिज्ञावाक्ये यथा प्रकारवाचके पदे स्तः, तथा प्रपत्तिभजनवाचके अपि स्तः, तेन यत्प्रकारिका प्रपत्तिः तत्प्रकारकं भजनमित्यर्थो भवति. तथा सति निरुपधिप्रपत्तौ सेवाकारणरूपं सोपधौ तत्फलदानरूपं भजनं करोमीति फलति, तस्मात्प्रार्थ्यत इति भावः. तेन लोकन्यायोऽपि न विरुध्यत इत्याहुः **नही**त्यादि, **न-ही**ति पदद्वयं **पुरुषान्तरे-**

लेखः

भोगरूपं न **किन्तु** सर्वात्मभावप्रकारकम्. तस्य तु विशेषतो निर्वचनमशक्यमिति भूमस्वरूपनिरूपणे व्यवस्थापितम्, अतस्तं **विशेषतो वक्तुमशक्ता** इत्यर्थः. **सार्थकमि**ति देवकृतप्रतिभजनसहितमित्यर्थः. उत्तरकाण्डे त्वात्मत्वप्रतिपादनात् प्रतिभजनमावश्यकमेवेत्याहुः **सुतरामि**ति. स्वस्य सर्वत्यागपूर्वक-भगवद्भ-जनेऽप्युपपत्तिमाहुः **आदी**ति. तस्य तु सेवैव कर्तव्या, न ततो विषयाभिलाष इत्यर्थः. **तु**शब्देन क्षुद्रकामदानां देवानां व्यावृत्तिः. **देवश्च सेव्य एव भवती**ति पूर्वेणान्वयः. देवत्वं विवृण्वन्ति **नही**ति. अतो न तत्र विषयसम्बन्ध इत्यर्थः. एतेन भगवानेव भर्तेति पक्षमाश्रित्योक्तम्. प्रौढ्या पक्षान्तरेऽपि भगवद्भजनमेव

व्यभिचारजनकं भवति, पुरुषान्तरभजनेऽपि प्रथमभर्ता विवाहितो अभजनीयो भवति. अनङ्गीकारस्तूचितो नत्वभजनम्. एतेन स यथा स्वातिरिक्तभजनं

टिप्पणी

देवो यथेत्यत्र, अनङ्गीकार इति. अन्यत्र रागोत्पत्त्या विवाहिते रागाभाव उचित इत्यर्थः. यद्वा. द्वितीय**स्यानङ्गीकार उचितः, न तु भर्तुर-भजनमित्यर्थः**. अनेन दृष्टान्तेन स्वस्य सर्वत्यागपूर्वकं भगवद्भजनेऽप्युप-पत्तिरुक्तेति ज्ञापनायैवमुक्तमाचार्यैः. अन्यथा मूले प्रभुकर्तृकभजने दृष्टान्तोक्त्या

प्रकाशः

त्यादावपि सम्बध्यते. **नहीत्यादिना** यत्सिद्धं तदाहुः **अनङ्गीकार** इत्यादि. इदं लोकन्यायाविरोधादिचिन्तनं प्रकृतानुपयोगीत्याशङ्कायां टिप्पण्यां तत्तात्पर्यमाहुः **अनेनेत्यादि**. सुबोधिन्याम्. **एतेनेति देवो यथादिपुरुषो भजत** इति

लेखः

कर्तव्यमायातीत्याहुः **पुरुषान्तरेति**. एतस्मिन्नपि पक्षे आदिपुरुषत्वात् **प्रथमभर्ता** भवानेवेति शेषः. अतो **विवाहित** एवाधुनिकत्वाद**भजनीयो भवतीत्यर्थः**. मूले **आदिपुरुषपदाद्विवाहितस्य** द्वितीयभर्तृत्वं सूचितमस्मिन्पक्षे

योजना

देवो यथादिपुरुष इत्यत्र. **पुरुषान्तरभजनेऽपि प्रथमभर्ता विवाहितो अभजनीयो भवतीति नही**ति पूर्वोक्तेनान्वयः. परपुरुषभजनेऽपि विवाहितस्य पत्युर्भजनं कर्तव्यमेव. तथाच परपुरुषस्थानीयाः गोपाः, तेषां भजनेपि विवाहितपतिस्थानीयो भगवांस्तस्य भजनं तु कर्तव्यमेवेति फलति. एतच्च मूले **आदिपुरुष**पदेनोक्तम्; **आदिपुरुषः** प्रथमभर्तेत्यर्थः. **अनंगीकारस्तूचित** इति. जारस्त्वङ्गीकृतः सन् पतिसादृश्यं लभते नतु विधिवशात्. एवं चाङ्गीका-रस्य स्वकृतत्वात्तस्य जारस्य **अनङ्गीकारो**ऽपि स्वकृतो भवेच्चे**दुचित** एवेत्यर्थः. पतिस्तु विधिवशात्स्वामित्वं प्राप्तः, अतो वेदकृतत्वान्न दूरीकर्तुं शक्यः. अत-स्तस्य कदाचिदप्यभजनं न कर्तव्यम्. तदेतदाहुः **न त्वभजनमि**ति, विवाहित-पतेरभजनं नोचितमित्यर्थः. प्रकृते भगवतो विवाहितपतिस्थानीयत्वं, सा-र्वदिकपतित्वादादिपुरुषत्वेन. गोपानां देहसम्बन्धित्वेन नित्यपतित्वाभावात्तेषाम-नङ्गीकारस्योचितत्वेऽपि भगवतो नित्यपतेरभजनं न युक्तमिति हार्दम् ॥३१॥

न सहते, तन्निवृत्तिपूर्वकमेव स्वभजनं संपाद्य स्वयं भजते, तथा त्वयापि कार्यम्. अतस्तत्र प्रेषणं तवाप्यनुचितमिति ज्ञाप्यते. किञ्च **यथा मुमुक्षून् भजते** भगवान्– आत्मीयत्वेन परिगृह्णाति, आत्मतया स्फुरति, स्वानन्दं तेभ्यः प्रयच्छति "एष ह्येवानन्दयाती"ति श्रुतेः. "स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं ही"ति न्यायेन भगवान् तदर्थमात्मानं प्रकटीकरोतीति

टिप्पणी

विरोधः स्यादिति ज्ञेयम्. **स्वाप्ययेति** (अत्र!) **आविष्कृतमिति** भावार्थक'क्ता'न्तं, तथा च सुषुप्तिमपेक्ष्य तत्साक्षिरूपस्य भगवतः[1] सम्पत्तिर्ब्रह्मसम्पत्तिर्मोक्ष इति

प्रकाशः

दृष्टान्तदानेनेत्यर्थः. विवक्षितविज्ञापनस्यैतावतैव सिद्धेर्मुमुक्षुपदमनतिप्रयोजनमित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यं विवृण्वन्ति **किञ्चेत्यादि**. अत्र **स्फुरतीत्यन्तं** "यमेवैष वृणुत" इति श्रुत्यर्थः, शेषस्तु लिखितायाः. ननु भजधातुः सेवावचन इत्यात्मीयत्वेन परिग्रहादेः कथं भजनत्वम्? "एष ह्येवे"ति श्रुतेश्च "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि"ति जीवनरूपं कार्यं प्रक्रम्य पाठात् कथं मुमुक्षुविषयत्वमित्याशङ्क्य न्यायेन तां निवारयितुमाहुः **स्वाप्ययेत्यादि**. अयं न्यायश्चतुर्थस्य चतुर्थपादेऽस्ति. तत्र हि –"न तदश्नोति कश्चन, न तदश्नोति कश्चने"ति "सोश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिते"ति विकरणव्यत्ययेन भोजनवच'नाश'धातुघटिततया भोगनिषेधक-तद्बोधकयोर्माध्यन्दिनतैत्तिरीयश्रुत्योरितरेतरविरोधे तत्सामञ्जस्याय मुक्तौ निर्गुणसगुणविभाग

लेखः

इति ज्ञेयम्. स्वकर्तृकभजनोपपादनमुपसंहरन्ति **अनङ्गीकार** इति, दोषवशाद्रागाभावो भवेदपि, **न त्वभजनमिति** टिप्पण्युक्ते प्रथमपक्षे. द्वितीयपक्षे आधुनिकत्वात्त**दनङ्गीकारस्तूचित**एव, **न तु** प्रथमभर्तुर्भवतोऽ**भजनमि**त्यर्थः. आभासोक्तप्रकारान्तरसूचनमाहुः **एतेनेति**, देवदृष्टान्तेनेत्यर्थः. मुमुक्षुभजनकर्तृत्वकथने आदिपुरुषदेवत्वं प्राप्तमेवेति पदद्वयमिदं व्यर्थं स्यादतो **यथेति** पदमावर्त्य दृष्टान्तद्वयेन योजनीयमित्याशयेनाहुः **किञ्चेति**. देवो यथा सर्वान् भजते तथेत्येको दृष्टान्तः. मुमुक्षूंश्च यथा भगवान् भजते तथेति द्वितीयः. **आत्मीयत्वेनेति** त्रयेण प्रथमाध्याय-द्वितीयतृतीयाध्याय-चतुर्थपञ्चमा-

१. भगवतः. मू. पा.

प्रकाशः

आदरणीय इति प्राप्ते "स्वाप्यय"सूत्रं पठित्वा "तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ती"ति छान्दोग्यश्रुत्या सुषुप्तौ ब्रह्मज्ञानाभावेनाप्राप्तिश्रावणात् "ब्रह्मविदाप्नोति परमि"तिश्रुत्या मुक्तौ ज्ञानेन परप्राप्तिश्रावणा**दाविष्कृतं** भोगनिषेधक-तद्बोधकश्रुत्युक्तं **स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षं** "स्वमपीतो भवती"ति श्रुतेः **स्वाप्ययः** सुषुप्तिः **सम्पत्तिः** ब्रह्मसम्पत्तिः पुष्टिमार्गीयो मोक्षः, तयोरन्यतरापेक्षम्. तथा च निषेधिका स्वाप्ययविषया, बोधिका तु मुक्तिविषया. युक्तं चैतत्, "लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि"तिसूत्रेण पूर्वलीलाया[1] मुक्तित्वेन व्यवस्थापनादिति **हिशब्दार्थ** – इति व्याख्यातम्. तच्च प्रकृतानुपयोगीत्यस्य न्यायस्योपन्यासो न युक्त इत्याशङ्क्य टिप्पण्यां तस्यार्थमाहुः **स्वाप्ययेत्यादि**. अत्रेदं प्रतिभाति. तृतीयस्य द्वितीये "तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि चे"त्यत्र सुषुप्ते-र्द्वैविध्यमङ्गीकृतम्. तत्र नाडीषु सुषुप्तावानन्दाभावः. आत्मनि सुषुप्तौ तु स्वपितिनाम, "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवती"तिछन्दोगश्रुतौ सुषुप्तिसाक्षि-सान्निध्यस्य कथनाद्, अथ "यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तद्वास्यैतदात्मकाममाप्तकाममकामं रूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम् एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरमि"ति ज्योतिर्ब्राह्मणे संपरिष्वङ्गकथनाच्च. तत्रापि सामग्रीसान्निध्ये सिद्धे भोगस्य निराबाधत्वान्निषेधिकायाः श्रुतेः सुषुप्तिविषयत्वमसङ्गतमिति शङ्का स्यादिति तां वारयितुं तत्र प्राज्ञरूपस्यैव सान्निध्यं परिष्वङ्गश्च, न तु परब्रह्मणः. तथा "नाहं खल्वयं भगव एवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति, नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति, नाहमत्र भोग्यं पश्यामी"ति छन्दोगश्रुतौ भोग्यकथनाद्भोगसुखादि-साक्षात्कारात्मनः अभावान्निर्विषयज्ञानस्य सत्त्वेऽपि तस्य भोगरूपत्वाभावात्तत्र न भोगोऽपीति निषेधिकाया श्रुतेः सुषुप्तिविषयत्वं युक्तमेव. एवं च सति प्रकृते **देवो यथा भजत** इत्युक्तौ सुषुप्तिसमभजनप्राप्तिः, **आदिपुरुषो यथे-**त्युक्तौ "तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवदि"ति श्रुतिबोधितरीत्या प्रविष्टस्यैव

१. पूर्वं लीलाया इति मुद्रितः पाठः मुं. वि.पाठमनुसृत्य संशोधितः.

टिप्पणी

यावत्, तद्दानार्थं वा भगवतः स्वाविष्करणमित्यर्थः. केचित्तु– स्वयंप्रकाश-ब्रह्मस्वरूप-ज्ञानातिरिक्त-ज्ञानाभावकथनं, श्रुतौ तु तयोरन्यतरापेक्षम्, तत्र विनिगमकमाह**आविष्कृतं** ही**ति**; **हि** यस्माद्धेतोस्तत्तत्प्रकरणएव तदुक्तमित्यर्थ– इति वदन्ति. एवमपि सति ब्रह्मस्वरूपाविर्भावस्यैवोक्तज्ञानाभावे निमित्त-त्वान्न पूर्वस्माद्विशेषः. प्रथमवचनश्रवणानन्तरं चित्तवैयग्र्यमभूदित्यग्रिम-वाक्यानां व्युत्क्रमेणोत्तरदानमिति ज्ञेयम् ॥३१॥

प्रकाशः

जीवान्तर्यामिभावेन तद्रीतिक-भजनप्राप्तिः, **देवो यथादिपुरुष** इति पदद्वयोक्त्या पर्यङ्कविद्योक्तरीत्या मुक्त्यनन्तरं भजनप्राप्तिः नत्विदानीमिति तत्त्रयमपि व्यावर्तयितुमत्र **मुमुक्षुपदम्**. तेन तैत्तिरीयोक्तरीतिकं भजनं विवक्षितम्, एतदेव **विशेषतो वक्तुमशक्ता** इत्यनेन बोधितम्. एवं भजनं तदर्थप्राकट्येन भवति नेतरथेति तद्बोधनाय न्यायोपन्यासोऽत्यन्तं युक्ततर इति.

ननु मतान्तरेऽत्र भिन्न एवार्थः. तथा हि – "तत्केन कं विजानीयादि"त्यादौ विशेषविज्ञानवारणश्रवणं सुषुप्तिसम्पत्तिसापेक्षं, सम्पत्तिः ब्रह्मसम्पत्तिः परममुक्तिः, न तु सगुणविद्याविपाकभूत-सगुणमुक्तिपरमिति मायावादिनः. "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यती"ति विशेष-विज्ञानवारणश्रवणं सुषुप्तिमरणसापेक्षम्. सम्पत्तिर्मरणम्, "तस्यैतस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यत" इति श्रुतेः; न तु परममुक्तिपरं[1], यत "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाये"ति शरीरे प्रियविषयनिबन्धनं विज्ञानं "न प्रेत्ये"ति प्रतिषिध्यते, न तु मुक्तस्य, तदवस्थाया अत्रानुक्तेः. तथा "सर्वं पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश" इति श्रुतेश्चेति भट्टभास्कर-रामानुजाचार्यमते. "तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवती"ति तीर्णशोकत्वश्रुतिः सुषुप्तिमुक्ति-परेति मध्वभाष्ये. तत्कथमत्र विवक्षितार्थनिश्चय इत्याकांक्षायामेकहेलया तेषामविरोधं वक्तुं मायावादि[2]मतमुपक्षिपन्ति **केचित्त्वि**ति. अविरोधं व्युत्पादयन्ति **एवमि**त्यादि. सुषुप्तिब्रह्मसम्पत्त्योर्ब्रह्माविर्भावस्य सर्वमत-साधारण्यान्मरणेऽपि मोहदशायां "मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषादि"ति सूत्रेणार्धाविर्भावाङ्गीकाराच्च सर्वमतेऽपि ब्रह्माविर्भावस्यैव ज्ञानाभावेऽपि

१. नतु परममुक्तिः इति मुं. वि. पाठः. २. मायावादादिमतम् इति मांड.-मुं. वि. पाठः.

मुमुक्षून् भजत इत्युक्तम्. अन्यथा मुमुक्षवएव भगवन्तं भजन्ते, न तु भगवान्. अतः फलद्वारा भजनम्. यथा तेषां पुनः पूर्वावस्थां न सम्पादयसि, सततं स्वस्मिन्नेव स्थापयसि, तथा अस्मदर्थमाविर्भूय स्वानन्देन वयं योजनीया इति एतत्कर्तव्यमित्यर्थः. [1](एतेन प्रार्थनया सकृदङ्गीकृत्य तूष्णींभावपक्षो निरस्तः. अग्रे गृहगमनाज्ञापन-गृहस्थितिसम्पादनादिकं तु रसपोषायैव, न तु गृहार्थमिति ज्ञेयम्) ॥३१॥

यत् पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवाँस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥३२॥

यदपि भगवतोक्तं "स्त्रीणां स्वधर्मपरित्यागोऽनुचित" इति, अतः "एषा रजनी घोररूपा, नेह स्त्रीभिः स्थेयमि"ति, तत्राप्याहुः **यत्पत्यपत्येति. पतिरपत्यानि सुहृदश्च, एषामनुवृत्तिः स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वया उक्तम्.** बहिर्मुखा हि धर्मशास्त्रज्ञाः— शारीरमेव धर्मं स्वधर्ममाहुः नत्वात्म-

प्रकाशः

हेतुत्वमिति पूर्वोक्तव्याख्यानं सर्वाविरुद्धम्. अतः सुखेन निश्चय इत्यर्थः.

प्रकृतमनुसरामि. एवञ्च "को ह्येवान्यादि"तिश्रुतिर्मुमुक्षुविषयेति प्रकरणादेवावसीयत इति तज्जीवनपरैवेति न कोऽपि शङ्कालेश इति दिक्. एतत्सर्वं हृदि कृत्याहु**र्यथे**त्यादि. **एतेनेति मुमुक्षु**पददानेनेत्यर्थः. विज्ञापनविरुद्ध-मग्रिममिति शङ्कानिरासायाहुः **अग्र** इत्यादि ॥३१॥

यत्पत्यपत्येत्यत्र **धर्मवित्**पदतात्पर्यमाहुः **बहिरि**त्यादि **त्वयोक्तमि**त्यन्तम्. नारदादिभिर्भगवद्धर्मस्य याज्ञवल्क्यादिभिरात्मधर्मस्यापि स्वस्वशास्त्रे कथनात् ज्ञायते – यदा तैर्देहविशिष्टस्य कर्तृत्वमनुसन्धीयते तदैव शारीरधर्मस्य स्वधर्मत्वमुच्यते नत्वन्यदा. अन्यथा "अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्म-दर्शनमि"त्यादौ तस्य परमं न वदेयुः. तथा च शारीरधर्मबोधनं तत्र यथा[2]

लेखः

ध्यायानामर्था उक्ताः. **तथा अस्मदर्थमिति**, गृहे अप्रेषयित्वा सततं स्वस्मिन्नेव स्थापयित्वा अग्रिमं कर्तव्यमित्यर्थः ॥३१॥

१. () चिह्नान्तर्गतः प्रभूणाम्. २. तथेति मुद्रितपाठः मांड.मुं.वि.जू. पाठाननुसृत्य संशोधितः.

धर्मं भगवद्धर्मं वा. यतस्ते अनात्मविदः. तथा **धर्मविदैव त्वया** नत्वस्मान् विचार्य आत्मानं वा **त्वयोक्तम्.** तस्याप्यस्माभिर्विषयनिर्धारः क्रियते, न तु दूष्यते. तदाहुः **अस्त्वेवमेतदिति,** "स्त्रीभिः स्वधर्मः कर्तव्य" इति यदुक्तं तदेवमेवास्तु. नहि पत्यादयः धर्मस्वरूपं नाप्याधारः किन्तु निमित्तम्. स च धर्मः अनुष्ठीयमानः प्रमीयमाणश्च भवति. अनुष्ठीयमाने पुत्रादयो निमित्तं, प्रमीयमाणे गुरुः. अतः सा अनुवृत्तिः प्रथमतो गुरावस्तु, अन्यथा स्वधर्मो ज्ञातएव न स्यात्. न च भगवद्वाक्यमनुवादकं, पूर्वमस्माकं धर्मज्ञानाभावाद्, अन्यथा तदेव क्रियेत. नापि सेवाव्यतिरेकेणायं धर्मः स्फुरति, अन्यथा वचनमात्रेणैव गतं स्यात्. अत उपदिष्टस्य सिद्ध्यर्थं सेवां कारय. **उपदेशस्य पदमाश्रयः** कर्तैव भवति. **अङ्गेति** कोमलसम्बोधनात् नास्माभिः प्रतिकूलतया निरूप्यते. किञ्च स्वधर्मा अनेकविधाः— स्वापेक्षयोत्कृष्टविषयाः समानविषयाः हीनविषयाश्च. तत्र पूर्वपूर्वधर्मप्राबल्यम्. यथा स्त्रीणां पतिपुत्रादीनां स्वसमानानां सेवा धर्मः एवं स्वनियामकस्येश्वर-

प्रकाशः

जघन्याधिकारविषयं तथात्रापीत्यर्थः. अथाध्ययनविधिवदिदं प्रथमाधिकार-मनुसृत्योक्तं ननु बाहिर्मुख्येनेति चेद्विभाव्यते, तत्राहुः **तस्यापीत्यादि.** अदूषणं व्याकुर्वन्ति **स्त्रीभिरित्यादि.** विषयनिर्धारमुपपादयन्ति **नहीत्यादि. सेति** स्त्रीधर्मत्वेनोपदिश्यमाना. ननु नाहं गुरुः किन्तु भवतीभिः क्रियमाण-मनुवदामीत्यत आहुः **न चेत्यादि.** तथा च पूर्वकालीना तत्कृतिर्लोकानुसृता, न शास्त्रानुसृता, विध्यज्ञानाद्, अत इदं प्रमाणवाक्यं नानुवादकमित्यर्थः. ननु इदानीं ज्ञात इति गन्तव्यमित्यत्राहुः **नापीत्यादि.** यदि सकृच्छ्रवणमात्रेण धर्मः स्फुरेत्, गुरुसेवाविधायकं शास्त्रं व्यर्थं स्याद्, अतोऽवश्यकर्तव्यत्वेन स्फूर्त्यर्थं तथेत्यर्थः. एवं स्वस्य प्रथमाधिकारमङ्गीकृत्य धर्मावस्थाविचारेण विषयनिर्धार उक्तः. अतः परं वाक्यतात्पर्यविचारेण तमाहुः **किञ्चेत्यादि. अतो वाक्येति**

लेखः

यत्पत्यपत्येत्यत्र. नत्वस्मानिति. एताः स्वरूपसम्बन्धिन्यो, न धर्मसम्बन्धिन्य इत्यस्मत्स्वरूपं विचार्य, पुरुषोत्तमप्राकट्यं भजनसम्पादनार्थ-मेवेत्यात्मस्वरूपं वा विचार्य नोक्तमित्यर्थः. **स्वनियामकस्येति** अन्तर्यामिण

स्यापि अनुवृत्तिर्मुख्यो धर्मः, अन्यथा तत्प्रेरणाभावे पतिसेवादौ न प्रवर्तेत. अतः प्रकृतेऽपि **भवानीश्वरः** अन्तर्यामी. तादृशोऽपि भूत्वा पतिपुत्राद्यर्थं न प्रवर्तयसे किन्तु स्वसेवार्थमेव प्रेरयसि, अतो वाक्योक्तधर्मसिद्धयर्थमपि भवानादौ सेव्यः. किञ्च धर्मो धर्मिमूलः, तदविरोधेन कर्तव्यः, फलार्थं च कर्तव्यः. अन्यथा चेद्, अनिष्टेऽपि पुरुषं प्रवर्तयन् अनाप्तः स्यात्. अतएव धर्मशास्त्रे प्रियत्वात् शरीरस्य तदनुरोध उक्तः. "द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीय" इति न्यायाच्च. तत्कस्यचित् प्रियो देहः, कस्यचिदात्मा, कस्यचित् परमात्मा, कस्यचिन्निर्वाहको. भवाँस्तु सर्वरूपो भवति, यतो अत्यन्तं **प्रेष्ठः**

प्रकाशः

अनुभवप्रामाण्येन तथा निश्चयात्. तथा च यथा वेदे परोक्षवादेन कर्ममोक्षाय कर्मविधानम् एवमत्रापि तद्विधानम्, तद् यथा त्वत्सेवायां पर्यवस्यति तथेदमपीति विधितात्पर्यविचारेण विषयनिर्धार उक्तः. अतः परं विध्यर्थानुष्ठानाधिकारविचारेणापि विषयं निर्धारयन्ति **किञ्च धर्मे**त्यादि. **धर्म्यत्र** देही. **अनाप्त** इति विधिरिति शेषः. संमतिं चात्राहुः **अतएवे**ति, धर्म्यविरोधेन कर्तव्यत्वादेवेत्यर्थः. ननु सर्वस्वारादावनिष्टेपि प्रवर्तनस्य दर्शनान्नायं नियम इत्यत आहुः **द्रव्ये**त्यादि. तत्र मरणस्यैवेष्टत्वेन फलवत्त्वेन देहप्रतिपत्त्यन्तराभावेन च तथात्वेऽपि यत्र तस्य नेष्टत्वं, देहस्य प्रतिपत्त्यन्तरं

लेखः

इत्यर्थः. **प्रकृतेऽपीति**, बहिःप्राकट्येऽपि **भवानीशो**न्तर्याम्येवेत्यर्थः. **अत** इति, यतो न प्रेरयसि अतो ज्ञायते सेवया प्रसन्नः प्रेरयिष्यसीति. तदा वाक्योक्तधर्मसिद्धिर्भविष्यतीत्यर्थः. धर्ममूलत्वादपि त्वदनुवृत्तिः कर्तव्येत्याहुः **किञ्चे**ति. **धर्मिमूल** इति, धर्मकर्ता धर्मी तन्मूल इत्यर्थः. **तदविरोधेने**ति, कर्तुः स्वरूपाविरोधेनेत्यर्थः. **फलार्थं चे**ति, कर्त्रा स्वस्मिन् फलसम्पादनार्थमित्यर्थः. अविरोधः फलसम्पादनं च कर्तुरेवेति **चकारः**. **अनिष्टे** इति, अफले इत्यर्थः. तथा धर्मबोधको वेदो नाप्तः स्यादित्यर्थः. **अतएवे**ति, धर्म्यविरोधेन कर्तव्यत्वादित्यर्थः. शरीरस्यानात्मत्वात्तदनुरोधः कुत उक्त इत्यत आहुः **प्रियत्वादि**ति, प्रीत्या तत्रात्मत्वमेव स्वीकृतमित्यर्थः. तथा च प्रियस्य धर्मित्वं सिद्धमिति भावः. धर्मस्य धर्मिमूलत्वे न्यायमप्याहुः **द्रव्ये**ति. **संस्कारो** धर्मो, **द्रव्यं** धर्मि, तद् बलिष्ठमित्यर्थः. **तदि**ति, शरीरानुरोधकथनेन प्रियाविरोधपूर्वकं

परमप्रेमास्पदमानन्दः **बन्धुर्देहनिर्वाहकश्च.** किञ्च न केवलमस्माकं किन्तु **तनुभृतां** सर्वेषामेव देहधारिणाम्. १("भवाय नाशाये"त्यत्र त्वया दत्तमेव शरीरं त्वद्विचारितप्रयोजनार्थं जीवो गृहीत्वा तिष्ठतीति निरूपितम्. अतः स देहः भगवदीयः भगवतैव स्थापितः तस्मै निवेद्य, तदनुपयोगे जाते पश्चादन्यस्मै देयः. चेतनो हि प्रेर्यः. अतो यावद्भगवदुपयोगं ज्ञास्यति तावन्नान्यस्मै

प्रकाशः

फलान्तरं वा, तत्र तथात्वं न शक्यवचनं, न्यायवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, इतोऽन्यत्र तु नियम एवेत्यर्थः. यद्येवं तर्हि देहोऽनुरोद्धव्यः, किमिति **मदर्थं** क्लिश्यत इत्यत्राहुः **तदि**त्यादि. सर्वरूपत्वे गमकमाहुः **यत** इत्यादि. अतिशायने 'इष्ठन्.' स क इत्यपेक्षाया**मात्म**पदोक्तं देहादित्रयं **बन्धुश्च.** तथा च शास्त्रे देहानुरोधो न स्वदेहत्वोपाधिको अपि तु प्रियत्वोपाधिको, भवांश्च सर्वैः प्रकारैः प्रिय इति भवानेवानुरोद्धव्यो न तु देह इत्यनुष्ठानाधिकारविचारेणापि भवानेव सेव्य इत्यर्थः. नन्वस्त्वेवं सेव्यत्वं, तथापि देहस्य सेव्यमात्रसाधारणत्वात्तस्य मदेकविनियोगाय किमित्याग्रह इत्यत आहुः **किञ्चे**त्यादि. **भवाय नाशाये**तिवाक्यं तु पञ्चमस्कन्धप्रथमेऽध्याये प्रियव्रतं प्रति ब्रह्मणोक्तम्— "भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं शोकाय मोहाय सदाऽभयाय, सुखाय दुःखाय च देहयोगमव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्त" इति. **अत** इति, अस्मिन्वाक्ये 'अव्यक्तदिष्ट'पदेन भगवद्दत्तत्वं बोध्यम्. **चेतन** इत्यादि. तथा च प्रियव्रतदेहस्य राज्याद्यर्थत्वाज्ञाने यथा ब्रह्मणा स बोधितः, एवमज्ञानेनान्यस्मै दाने ततो

लेखः

प्रिये फलसम्पादनार्थं च कर्तव्यतायां सिद्धायामित्यर्थः. देह आत्मा परमात्मा निर्वाहकश्चेति चतुष्टयमुक्तम्. एतच्चतुष्टयरूपत्वं भगवत आहुः **परमे**ति. आद्येन देहरूपत्वमुक्तम्. **आनन्द**पदेनात्मत्वमुक्तम्, आनन्दस्यैव बीजत्वेन सर्वात्मत्वादिति भावः. **बन्धु**पदेन परमात्मोक्तो, अन्तर्यामिणो जीवसखत्वादिति भावः. चतुर्थस्तु स्पष्टएव. **प्रेष्ठ**पदेनैतावद्रूपत्वकथनेन धर्मित्वं २सम्पादितम्. तथा च धर्ममूलत्वादपि त्वदनुवृत्तिः कर्तव्येत्यर्थः. **तनुभृतामि**त्यनेन स्वमात्रसम्बन्ध्यपेक्षया सर्वसम्बन्धिनो मुख्यत्वादपि त्वमेव सेव्य इति **किञ्चे**त्यनेनोक्तम्. **किल**पदसूचितां युक्तिमाहुः **चेतनो हीति.** प्रेरणं चेतनस्यैव सम्भवतीति

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणां स्यादिति. २. साधितमिति पाठः.

दास्यति, बोधितोऽपि.) यतस्तनुभृतां त्वमेव प्रेष्ठः. प्रेष्ठाय च देयं प्रियं वस्तु. अत्रार्थे **किलेति** प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्. किञ्च न केवलं देहदाता किन्तु **बन्धुरपि**, येन प्रयत्नेन शरीरं बिभर्ति स बन्धुः, **आत्मा** धारकश्च. अतो अन्तरङ्गबहिरङ्गन्यायेन नित्यानित्यन्यायेन वा भवत्सेवैव मुख्या. यदा पुनस्त्वदनुपयोगः, तत्रापि चेत्तथा प्रेरणं, तदान्यस्मै दास्यामो नान्यथेति, धर्मविचारो धर्मादप्यधिकः. एतच्च त्वदनङ्गीकृतं सर्वमेव विरुद्धं भवतीति प्रार्थ्यते **अस्त्विति**. सर्वरूपत्वात् त्वमेव सेव्य इति वा. अन्यत्र एकदा सर्वसेवा प्राप्ता अंशतो बाधिता स्यात्, विनिगमना[1]भावाच्च. अनेन स धर्मोऽपि न भवति

टिप्पणी

अस्त्वेवमेतदित्यत्र. एवमित्यस्य विवृतिः **सर्वरूपेति**, पत्यादिसर्वसेवारूपेत्यर्थः. एवमुक्तौ हेतुमाहुः **अन्यत्रेत्यादिना**. पत्यादिसेवाविधेर्भगवत्सेवाविधायकत्वोक्त्या त्वमेव सेव्य इति पक्षेऽप्युपपत्तिरुक्तेति ज्ञेयम् ॥३२॥

प्रकाशः

निवार्य स्वसेवार्थं प्रेरणीयाः, ननु विपरीत इति बोधितम्. नन्वस्त्वेवं, तथापि मयेदानीं तथा प्रेर्यत इति तथा प्रियव्रतवत्कर्तव्यमित्यत आहुः **अत्र** इत्यादि **वस्त्वित्यन्तम्**. तथा च स हि देहे निरभिमान इति तथा कृतवान्. तदुक्तं तत्रैव "अनवबुध्यमान इव महामना बुभुजे" इति, हृदि तत्त्वं बुद्ध्वा बहि'रनवबुध्यमान इव' देहाभिमानीवेत्यर्थात्. अस्माकं तु देहः प्रियः भवांस्तु प्रियतम इति तथेत्यर्थः. ईदृशेऽधिकारे एतदेव कर्तव्यमित्यत्र प्रमाणमाहुः **अत्रेत्यादि**. प्रेष्ठत्वं विवेक्तुं पदान्तरं **किञ्चेत्यादि**. **येनेति** हेतुनेत्यर्थः ॥३२॥

लेखः

हिशब्दः. चेतनस्तु प्रियं वस्तु प्रेष्ठायैव दास्यतीति भावः. **अत्रार्थे** इति, **चेतनो हीत्यारभ्योक्तेऽर्थे** इत्यर्थः. **येन प्रयत्नेनेति**, **येन** पुरुषेण हेतुना, यदर्थमित्यर्थः. **प्रयत्नेन** करणेनेत्यर्थः. तादृशो **बन्धुः आत्मा धारकश्च** त्वमेवेति शेषः. अत्र न्यायमाहुः **अन्तरङ्गेति**. शरीरभरणहेतुभूतः शरीरधारकश्चान्तरङ्गो नित्यश्च, शरीरसम्बन्धिनो बहिरङ्गा अनित्याश्चेति बहिरङ्गादन्तरङ्गस्यानित्यान्नित्यस्य वा बलवत्त्वाद्भगवत्सेवैव मुख्येत्यर्थः. **सर्वरूपत्वादिति** त्वत्सेवाया इति शेषः.

---

[1]. विनिगमकाभावादिति पाठः.

यः कालादिना बाध्यते अशक्यश्च भवति. न हि प्रमाणं विरुद्धं विधत्ते. अतः पत्यादिसेवाविधायकं च शास्त्रं त्वत्सेवामेव विधत्ते. अतो अनुवादपक्षे स्वतन्त्रविधानपक्षे वा भवत्सेवैवोचितेति भावः ॥३२॥

एवं राजसीनां निरूप्य सात्त्विकीनां निरूपयति **कुर्वन्ति** हीति.

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।
तन्नः प्रसीद वरदेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां धृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥३३॥

यद्यप्युक्तं "मातरः पितर" इति, "मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसमि"ति, तत्किमिदं प्रथमतयास्माभिरेव क्रियते आहोस्विदन्येऽपि कुर्वन्ति? तत्रापि किमधमाः मात्राद्यनुवृत्तिं कुर्वन्ति आहोस्विदुत्तमाः? उत्तमा अपि त्वत्सेवायामशक्ताः आहोस्वित् शक्ता इति विचारणीयम्. अस्मिन्नर्थे निर्णायकं महतां चरित्रमाहुः ये **त्वात्मनि कुशलाः** आत्महितार्थिनो, न तु

प्रकाशः

कुर्वन्तीत्यत्र. **इदमिति** निषिध्यमानं बन्धुसाध्वसम्. **तत्रापीति** साध्वसाकर्तृष्वपि. अत्रापि भगवदुक्तधर्माधिकारिनिर्धारद्वारा विषयनिर्धारएव फलिष्यतीति बोध्यम्. ननु भगवदनुवृत्तेरात्महितत्वसाधनाय भगवत्सेवा आत्महिता, अविगीतमहदाचारविषयत्वात्, शीलादिवदिति वक्तव्यम्; अत्र रतेस्तथात्वसाधने नार्थान्तरमित्यत आहुः **स्नेहेने**त्यादि. अर्थस्तु टिप्पण्यां

लेखः

प्रथमपक्षे न्यायद्वयेन भगवत्सेवायाः प्रबलत्वमुक्तम्, अत्र तद्रूपत्वमुच्यत इति विशेषः. प्रेष्ठत्वबन्धुत्वात्मत्वकथने पतिसुहृदपत्यरूपत्वं क्रमेणोक्तम्. **अतः पत्यादीति. च**काराद्भगवत्सेवाविधायकमपि. तथा च सर्वं त्वत्सेवामेव विधत्ते, अन्यसेवां तु रागतः प्राप्तामनुवदतीत्यर्थः. **अत** इति. उभयसेवाविधानेऽपि पत्यादिसेवाया अंशतोबाधितत्वाद्रागतः प्राप्ता सानूद्यते, भगवत्सेवैव विधीयते इति पक्षे विहितत्वात्त्वं सेव्यः. स्वतन्त्रतया पतिसेवापि विधीयत इति पूर्वव्याख्यानपक्षे धर्मप्रमादिप्रयोजनार्थं त्वं सेव्य इत्यर्थः ॥३२॥

राजसीनामिति, वाक्यमुभयत्रापि शेषः. **कुर्वन्ति हीत्यत्र. आत्मनि कुशला** इति कथनात् स्वार्थं पूजां कुर्वाणाः पूजामार्गीया अत्रोच्यन्ते. तेषां

देहेन्द्रियाणां, ते **त्वय्येव रतिं कुर्वन्ति,** स्नेहेन हि क्रिया भवति, भगवत्कृतमेव जीवगामि भवतीति. तदुपपादितं "तच्चात्मने प्रतिमुखस्ये"त्यत्र. प्रीत्या च सेवा भवति. यदि पुत्रादिसेवापि धर्मः स्यात् तदा पुरुषार्थत्वेनात्मपर्यवसायिनी स्यात्. **कुशला** इत्यनेन तेषां कौशलमेतत्. प्रवृत्त्यपेक्षया निवृत्तिरुत्तमा,

टिप्पणी

कुर्वन्ति हीत्यत्र, **स्नेहेन** हीत्यादि. क्रियायाः स्नेहसमानविषयकत्व-स्यौत्सर्गिकत्वादात्मनएव निरुपधिस्नेहविषयत्वाद् भगवति कृतस्यैव च तद्गामित्वात् त्वय्येव रतिं कुर्वन्तीत्यर्थः. अत्रौपाधिकस्नेहकथनस्यायं हेतुः— भगवता हि स्वातिरिक्ते स्वात्मौपाधिकी प्रीतिर्जीवस्येति पक्षमाश्रित्योक्तम्. स्वामिन्यस्तु वादिरीत्या प्रतिवादिमतमङ्गीकृत्य[१] प्रौढ्या तत्पक्षं निराकुर्वन्तीति

प्रकाशः

प्रभुचरणैरेव विवृतः. तथा च रतेस्तथात्वसाधनेनैव सेवायास्तथात्वसिद्धिरित्येवं साधनं न दोषायेत्यर्थः. नन्वत्रात्महितार्थिनस्त्वयि रतिं कुर्वन्तीति कथनेन "न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ती"तिश्रुत्युक्तन्यायेनौपाधिकप्रीतिप्राप्तौ सर्वात्मभाववत्त्वभङ्गप्रसङ्ग इत्यतष्टिप्पण्यामाहुः **अत्रौप(पा!)धी**त्यादि. ननु मास्तु पुत्रादौ प्रीतिः तथापि धर्मत्वेन नित्यकर्मवदिदमपि कर्तव्यमित्यतः सुबोधिन्यामाहुः **यदी**त्यादि. भगवति रतिकरणेन कथमात्मकुशलत्वमित्यपेक्षायां तदुपपादयन्ति **तेषामि-**

लेखः

रतिकरणे हेतुमाहुः **स्नेहेन हीति**. आत्महितार्थं भगवद्विषयिणी क्रिया आवश्यकी, सा तु रतिं विना न सम्भवतीति रतिं कुर्वन्तीत्यर्थः. तर्हि स्नेहक्रिययोः समानविषयकत्वनियमाद्भगवद्विषयकएव स्नेहः सिध्येत् नात्म-विषयक इत्याशङ्क्य औत्सर्गिकत्वं टिप्पण्यां विवृतम्. भगवत्यौपाधिको, मुख्यस्त्वात्मन्येव स्नेह इति भावः. ननु भगवत्सेवाया इव पुत्रादिसेवाया अपि प्रमाणबोधितत्वादात्महितार्थं सापि भवेदित्यत आहुः **प्रीत्या चे**ति. पुत्रादिषु सेवामात्रं विहितं, न तु प्रीतिः. तया विना च सा न भवतीत्यर्थः. तर्हि प्रीतिराक्षेपलभ्या स्यादित्याशङ्क्य तस्य धर्मत्वमपि नास्तीत्याहुः **यदी**ति. अतस्तत्र न चोदना किन्तु रागतः प्राप्ताया अनुवाद इति भावः. **अन्यगामी**ति,

१. °मप्यङ्गीकृत्य मू. पा.

इन्द्रिय(यं!)दमनसामर्थ्याभावएव अन्यगामि कर्तव्यं, "यतो यतो निवर्तेते"त्यत्र निरूपितम्. निरुद्धानीन्द्रियाण्यात्मगामीनि भवन्ति. तत्राप्यात्मगामीनि तदैव भवन्ति यदि त्वदर्थमुपयुक्तानि भवन्ति. अतः केवलनिग्रहकर्त्रपेक्षया ये **त्वयि रतिं कुर्वन्ति** ते **कुशला** इति **हि**शब्दार्थः. **त्वयी**त्येकवचनेन च पूर्ववदेकत्र सर्वसंभवो निरूपितः. किञ्च **भवान् स्वात्मा** स्वरूपभूतः, नत्वध्यासन्यायेन तथा जातः. किञ्च प्रियस्य हि सेवा कर्तव्या, स चेत् प्रियः कालपरिच्छेद्यो न भवति. स भवानेव. अन्यथा जारसेवापि धर्मः स्याद्, जन्मवत् दिनस्यापि

प्रकाशः

त्यादि. **अन्यगामी**ति इन्द्रियमिति शेषः. अत्र प्रमाणमाहुः **यत** इत्यादि. इदं वाक्यमेकादशस्थम्– "यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः, एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापह" इति. अत्र हि "यतो यतो निवर्तेते"ति कथनात् निवर्तनसामर्थ्याभावेऽन्यगामिकर्तव्यतायाः प्राप्तिः, निवृत्तौ विमुक्तिकथनान्निरुद्धानामात्मगामिताप्राप्तिर्बोध्या. निवृत्तेरुत्तमत्वेऽपि न तन्मात्रकृतावेव कौशलपर्यवसानम् अपि तु साधनविशेषेण तथा कृतावित्याशयेनाहुः **तत्रापी**त्यादि. इदं च द्वितीयस्कन्धे "यदंघ्र्यनुध्याने"त्यादौ स्फुटं भवति. **पूर्ववदि**ति पूर्वश्लोक इवेत्यर्थः. एवमिदं वादमुद्रया औपाधिकप्रीतिपक्षमङ्गीकृत्य हीनाधिकारविचारेऽपि तेषां कौशलनिरूपणेन विषयो निर्धारितः– अकुशलैरेव बन्धुसाध्वसं न कार्यं मात्राद्यनुवृत्तिश्च कार्येति. अतः परं सिद्धान्तरीत्या कौशलं तदर्थं निश्चिन्वते **किञ्च भवानि**त्यादि. तथा च "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुष" इत्यादिश्रुतिभिः "स एव सर्वं परमार्थभूत" इत्यादिस्मृतिभिश्च तथात्वात् त्वद्रतिकर्तृत्व एव ज्ञानकौशलं नान्यथेति एतदज्ञातृणामेव तदकरणादिकमित्यर्थः. अतः परं सेव्यविचारेणापि कौशलं समर्थयन्ति **किञ्च प्रियस्ये**त्यादि. तथा च "नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखमि"त्यादिश्रुतिभिस्तथेत्यर्थः. ननु भूमप्राप्तेः पूर्वमनिषिद्धे सुखसाधनेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात् कुतोऽयं नित्यप्रियसेवानिर्बन्ध इत्यत आहुः **अन्यथे**त्यादि. तथा च यद्ययं निर्बन्धो न शास्त्राभिप्रेतः स्यात् तर्हि तथा

लेखः

इन्द्रियं पत्यादिगामि कर्तव्यमित्यर्थः. **अध्यासन्यायेने**ति, देहेन्द्रियादीनामात्मत्वन्यायेनेत्यर्थः. **स्व आत्मन्नि**त्यस्यावृत्तिः ॥३३॥

परिच्छेदकत्वात्. किञ्च **पतिसुतादयश्च न** धर्महेतवो भवितुमर्हन्ति, यतः

टिप्पणी

न कश्चिद्दोषः. **नित्यप्रिय** इत्यत्र, **अन्यथा जारसेवापी**त्यादि. ननु धर्मत्वे विहितत्वस्य प्रयोजकत्वादत्र तदभावान्न तथेति चेद्, उच्यते. प्राग्जन्मनि विवाहिते पुंसि जीवति पुरुषान्तरेण विवाहे दोषाकथनात्तत्र जन्मावच्छेदकमिति वाच्यम्. एवं सत्येतत्समानयोगक्षेमत्वाद्दिनस्यापि तथात्वं सुवचम्. न च तत्र पतित्वाभावान्न तथेति वाच्यं, "स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं" "जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री"त्यादिवाक्यैः कालभयवति पतित्वाभावेनोभयोस्तुल्यत्वात्. एवं सति पतिभजनं विदधच्छास्त्रं हरिसेवामेव विधत्ते. प्रभोर्दुरापत्वेन व्यवहारनियमार्थं परं तथा स्मृत्यादिषु कथनमिति भावः. अतएव वाग्दत्तापि कन्या ततः श्रोत्रिय उपपन्ने तस्मै दीयते न पूर्वस्मै. **वरदेश्वरेति** सम्बोधनेन व्यञ्जितमर्थमाहु**रतो वयं क्लिष्टा** इत्यादिना ॥३३॥

प्रकाशः

स्याद्, यदि तथा स्यात् तदा तदभ्यनुज्ञापि स्यादित्यर्थः. तदेतट्टिप्पण्यामुद्भाव्य साधयन्ति **नन्वित्यादिना. एतत्समानयोगक्षेमत्वादि**ति, नित्ये परिच्छिन्ने समागमस्यैव जन्मत्वात् स यथा जन्मान्तरे तथा प्रत्यहमपि, सुषुप्तौ भगवति लीनस्यैव जीवस्य प्रत्यहं पुनरागमनस्य "सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ती"त्यादि-श्रुतिसिद्धत्वान्नित्यप्रलयसिद्ध्या देहस्याप्यवस्थाभेदेन भेदाल्लिङ्गशरीरस्य चामुक्त्येकत्वेनाप्रयोजकत्वात्तथेति भावः. यद्येवं तर्हि स्मृतिः कथं लौकिकपति-भजनं विधत्त इत्यत आहुः **प्रभोरि**त्यादि. तथा च पत्यौ विष्णुबुद्ध्या सेवनस्य विधानदर्शनाद्गौणपक्षमाश्रित्य व्रीह्यभावे नीवारवत् तदंशसत्तया **तत्र** तथा विधानमित्यर्थः. अत्र गमकमन्यदाहुः **अतएवे**त्यादि, यतो गुणाधिक्यएव पतित्वमतएवेत्यर्थः. तथा च जारे विधिबोधितगुणाभावेन दोषाधिक्येन च न गौणमपि तदिति न तत्सेवायां गौणधर्मत्वमपीति भावः. एवमत्र धर्मविचारकाणां ज्ञातॄणाम् आनन्दविचारकाणां च चरित्रस्य निर्णायकत्वकथनेन भगवदुक्त-वाक्यतात्पर्यं निर्धारितम्. अतः परं तद्दार्ढ्यार्थं पुरस्फूर्तिकेऽर्थे

योजना

कुर्वन्ति हीत्यत्र. **जन्मवद्दिनस्यापी**ति. एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥३३॥

आर्तिदाः. न हि धर्मनिमित्तानि कदाचित् दुःखदानि भवन्ति, अन्यथा संसारो न स्यात्. अतस्तैः **किं** तेषां भयमस्तु अन्यद्वा, न तैः किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः. परमेकमेव प्रार्थनीयं, यदभावे सर्वं शास्त्रं युक्तिश्च व्यर्था स्यात्. तदाहुः **तत्** तस्मात् **प्रसीद** त्वं प्रसन्नो भव. त्वदप्रसादादेव लोका भ्रान्ताः दुःखहेतुष्वपि प्रवर्तन्ते. ननु किं साधनं प्रसादे भवतीनामिति चेत्, तत्राहुः **वरदेश्वरे**ति. ये हि वरान् प्रयच्छन्ति ते लोकानां क्लेशं ज्ञात्वा, यतो दयालवो, अन्यथा तपसि क्रियमाणे वरं न प्रयच्छेयुः. तेषामपि त्व**मीश्वरो**ऽतिदयालुः. तद्द्वारापि सर्वेषां दुःखशमनं करोषि. अतो वयं क्लिष्टाः. क्लेशएव साधनं तपोवत्. निषिद्धप्रकारस्तु यद्यत्र कश्चन भविष्यति, स न कर्तव्यः. ननु यथैतावन्तं कालं पतिसेवा कृता एवमेवाग्रेऽपि कर्तव्या, प्राप्तत्वात्, गौणमपि कर्म समारब्धं समापयेदिति, तस्मादविचार्यैव पतिसेवां कुरुतेति चेत्, तत्राहुः **मा स्म छिन्द्या आशां धृतामि**ति. नास्माभिः पतिसेवा कृता तदर्थं वा स्थितम्. त्वदाशया स्थितं, मध्ये स्थितिनिर्वाहार्थमेव तदङ्गीकारः. इदानीं चेत् समागतानामभिलषितार्थो न सिध्येत्, तदा आशा भग्ना भविष्यति. तस्यां गतायां प्राणाएव गमिष्यन्तीति. अतएव केनचित् स्त्रीहृदयज्ञेन निरूपितम् "आशाबन्धो हृदयं रुणद्धी"ति. एतस्य मूलमपि स्त्रीशास्त्रे भविष्यति. **चिरात् त्वय्येव धृतां,** तस्यां छिन्नायाम् अवलम्बनाभावाद् अधः पतिष्याम इति. **स्मे**त्ययमर्थः प्रसिद्धः. **अरविन्दनेत्रे**ति सम्बोधनं दृष्ट्यैवाप्यायकत्वं निरूपयति. [१](आशाहेतुरप्यनेनोक्तः, तापहारकदृष्ट्या दर्शनाद्, भावोद्गारिण्याएव तथात्वात्. इयदवधि जीवनमप्यतएवेति भावः) ॥३३॥

यदुक्तं "वनदर्शनार्थं किमागता" इति, ततश्च वनवर्णना कृता, तत्राहुः **चित्तं सुखेने**ति.

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेऽपि
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।

प्रकाशः

दोषं दर्शयन्ति **किञ्च पती**त्यादि. **अन्यथे**ति धर्महेतुत्वे. "धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पत" इत्यत्र तथा निर्णयादित्यर्थः ॥३३॥

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्.

पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्-
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥३४॥

वनदर्शनेच्छा तदा भवति यदा **चित्तं** स्वस्मिन् तिष्ठेत्, तत्तु त्वयैव**ापहृतम्.** तत्रापहारे न तव प्रयासः, तथा सति सर्वं नापहृतं स्यात्, तदाह **सुखेनेति.** **भवता** वा आनन्द**रूपेणापहृतं,** न हि साक्षात् परमानन्दे सति कश्चित् परम्परया पाक्षिकं साधनं गृह्णाति. वनदर्शनं दूरे, **गृहेऽपि यच्चित्तं निर्विशति.** अनेन ज्ञानशक्तेरपहार उक्तः. नापि मन्तव्यं वनं किञ्चित् कार्यार्थमागता इति, तदर्थं क्रियाशक्तेरप्यपहारमाह **उत करावपीति,** **यौ गृह्यकृत्ये निर्विशतः,** दूरेणापास्तं वनकृत्यं, कामेन बलस्य हृतत्वात्. त्वत्स्पर्शेनैव करौ सजीवौ भवतः, नो चेन्मृतौ. अतः सेवाविधिरपि हस्ताभावात् कुण्ठितः, न हि कररहितं कर्मणि कश्चिन्नियुंक्ते. किञ्च यद् व्याघुट्य गन्तव्यमित्यभिप्रायेण "वनदर्शनं जातमि"त्युक्तं तदप्यसम्भावितं, यतोऽस्माकं **पादौ** द्वावपि **तव पादमूलाद**स्मात् स्थानाद् एकमपि **पदं न चलतः** नान्यत्र गच्छतः. पादानां गतियुक्तानां मूलभूतौ त्वत्पादौ, तस्यापि चेन्मूलं गताः तदा कथमन्यत्र गच्छेयुः? अन्यथा वृक्षाणामपि गतिः स्यात् मूलं गतानाम्. "अस्मात् स्थानादि"ति वक्तव्ये यत् **तव पादमूलादित्युक्तं,** तत् त्वद्रमनेन सर्वत्र गन्तुं शक्यते न तु त्वद्व्यतिरेकेणेति ज्ञापितम्. अतः **कथं यामः?** शकटादिना प्रेषणीया इति चेत्, तत्राहुः **अथो** अथ तत्र गत्वा **किं वा करवाम?** यथा शकटादिकं गृहे यात(!?)नार्थं साधनमस्ति, न चैवं

प्रकाशः

चित्तं सुखेनेत्यत्र. मनस इव करयोरपहरणं न संभवतीति तत्प्रकारमाहुः **कामेनेति,** भगवदभिलाषेणेत्यर्थः. **अनेनेति** क्रियाशक्त्यभावकथनेनेत्यर्थः.

लेखः

चित्तमित्यत्र. **पादानामिति,** पादौ गोलकं गतिरिन्द्रियमिति सेन्द्रियाणां गोलकानाम् आधिदैविकौ विष्णुरूपौ त्वत्पादावित्यर्थः, अस्मदाधिदैविकानां

योजना

चित्तं सुखेन भवतेत्यत्र **भवता वा आनन्दरूपेणापहृतमिति.** अस्मिन् पक्षे **सुखेन भवते**त्यत्राभेदेनान्वयः; सुखरूपेण भवतेत्यर्थः, "यो वै भूमा तत्सुखमि"ति श्रुतौ ब्रह्मणः सुखरूपताकथनात् ॥३४॥

हस्तयोः कार्यकरणे किञ्चित् लोकसिद्धम्. न केवलं गमनेन प्रयोजनं किन्तु पित्रादिसेवार्थं गमनं, तदभावाद् व्यर्थमेव गमनमिति भावः. तदाहुः **अथो** अथ **किं वा करवामे**ति. हस्तनिरपेक्षा कृतिः भिन्नप्रक्रमेण भगवद्भावेन भवतीति तथोक्तम्. अनेन स्तनपानमप्यशक्यं निरूपितम्, आशाऽभावे सर्वत्रैव शोषात् ॥३४॥

यद्भगवता "शीघ्रं गच्छते"त्युक्तं तत्राहुः **सिञ्चाङ्गे**ति.

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपभुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥३५॥

वयं शीघ्रमेव गमिष्यामो, यदि त्वं प्रतिबन्धं न करिष्यसि. अनेन तूष्णींभावेऽपि मरणं, परावृत्तौ तु न किञ्चिद्वक्तव्यम्. हे **अङ्ग! त्वदधरामृतपूरकेण**

टिप्पणी

सिञ्चाङ्गेत्यत्र. अत्र सिञ्चनस्यावश्यकत्वे हेतुरुत्तरार्धेनोच्यते. तत्रापि **याम** इति वर्तमानप्रयोगेण स्वजीवनस्य क्षणमात्रमपि तद्विलम्बासहिष्णुत्वं ज्ञाप्यते. एवं सत्येतत्कालीनं जीवनमुक्तिश्च प्रियकृतस्वसम्भाषण-जनितमेवेत्यन्यथानुपपत्त्या कल्प्यते. यद्यप्युत्तरदानसमये न तदस्ति, तथापि पूर्ववचनानामुत्तरदानार्थमेव हृदि स्थापितत्वात्तदनन्तरं तदभावे सति चेत्साक्षात्सुधादानमन्ततो भाषणमपि वा न भवेत्तदोक्तैव रीतिर्भवित्रीति हृदि कृत्वा पितृचरणैरुक्तं **वयमि**त्यारभ्य **वक्तव्यमि**त्यन्तम्. **नो चेद्वयमि**त्यत्र, **हरेणैव**

प्रकाशः

ननु ते स्वतएव पास्यन्तीत्यत आहुः **आशे**त्यादि ॥३४॥

लेखः

भगवद्दोलकत्वात्. ननु कराभावेऽत्रापि स्थित्वा किं कर्तव्यमित्यत आहुः **हस्ते**ति, अत्रत्य**कृति**स्तु **हस्तनिरपेक्षा** इन्द्रियजन्या न भवतीत्यर्थः. तत्र हेतुः **भगवद्भावेने**ति, भगवदावेशेन भवतीत्यर्थः. सा भिन्नप्रक्रमेण कृतिस्तत्र न सम्भवति, अतस्तत्र गत्वा किं करवामे**त्यथो** इत्यस्यार्थ उक्तः ॥३४॥

सिञ्चाङ्गेत्यत्र. विधेर्बलवदनिष्टाननुबन्धित्वात्तदनिष्टमुत्तरार्धोक्तं विवृण्वन्ति **अनेने**ति. **अधरामृतपूरस्य कं** जलं तेनेति विग्रहमभिप्रेत्याहुः

त्वदधरामृतप्रवाहजलेन **नो हृच्छयाग्निं सिञ्च,** स चाग्निः त्वयैवोत्पादित इति. तत्कारणमाहुः **हासावलोककलगीतजेति,** तव योऽयं **हासपूर्वकः अवलोकः कलगीतं** च, ताभ्यां **जातो** यो **हृच्छयः** कामः, स **एवाग्निः.** हासः कामजनकः, अवलोकः सन्धुक्षणकर्ता, गीतं वायुरिव; तत्रापि कलगीतं सर्वतो वायुः. सोऽपि जातो हृदये. हृदयगामि च त्वदधरामृतमेव. पूरो हि वस्तु प्रवाहयति, तस्यात्र सिञ्चनकरणत्वेनोक्त्याऽग्नेरतिमहत्त्वं ध्वन्यते. अतो युक्ता सिञ्चनोक्तिः. अलौकिकश्चाग्निः अलौकिकेनैव शाम्यति. कन्दर्पो हि मृतो ज्वलति, स हि जीवन् अग्न्यवस्थां त्यजति, नान्यथा. अमृतेनैव च जीवति, तत्रापि न देवभोग्येन, अन्यथा तैरेव जीवितः स्यात्. सृष्टिकारणत्वात् नास्य मोक्षः. अतोऽतिगुप्तेनैवाधरामृतेन तस्य जीवनम्. अतः सिञ्चनमेवोक्तम्, अन्यथा निर्वापणमेव प्रार्थयेयुः. कामे जीवति जीविष्यामः, अन्यथा स स्वयं ज्वलन् अन्यानपि ज्वालयिष्यति. तदाहुः **नो चेदिति.** सिञ्चनेन यदि मन्त्रवादीव न जीवयिष्यसि, तदा **विरहेण जनितो योऽग्निः तेनोपभुक्तदेहाः ध्यानेन ते पदयोः पदवीं यामः.** स्वयं स्वतन्त्रमार्गाज्ञानात् त्वं च सखा येन मार्गेण गमिष्यसि तेनैव **वयमपि** यास्यामः.[1] (यथा त्वमधुनास्मभ्यमार्तिप्रदः तथा वयमपि तथाभूतास्तुभ्यं पश्चात्तापादिहेतवो भविष्याम इति गूढाभिसन्धिः **ते पदयोः पदवीं यामेति** वक्त्रीणामिति ज्ञेयम्.) देहे गते त्वन्तर्यामिणा

प्रकाशः

सिञ्चाङ्गेत्यत्र. ननु यथा पित्तादिना हृदये तापो बहिश्चन्दनादिपूरेण शाम्यते, तथायमपि [2]बाह्यैः शमनीय इत्यत आहुः **अलौकिक** इत्यादि. कथमस्यालौकिकत्वमित्याकांक्षायां तथात्वं व्युत्पादयन्ति **कन्दर्पे**त्यादि. नन्वेवं सति मोक्षोऽस्य देय इत्यत आहुः **सृष्टी**त्यादि. एतत्सृष्टिकारणत्वादस्य मोक्षे इयं सृष्टिरेवान्यथा स्यादित्याशयेन फलितमाहुः **कामे**त्यादि. ननु देहाभावे मत्पदपर्यन्तमपि कथं गन्तव्यमित्यत आहुः **देहे**त्यादि. "तं विद्याकर्मणी

लेखः

प्रवाहजलेनेति. त्वदधरामृतमेवेति, देवभोग्यममृतं नास्मद्धृदयगामि भवतीत्येवकारः. **ज्वलन्निति,** विरहजत्वाद्धृच्छयत्वं विहायाग्निरूप एव सन्नित्यर्थः. पदयोः पदवीं विवृण्वन्ति **देहे** इति, यत्रान्तर्यामिणा गन्तव्यं सा

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्. २. करस्पर्शादिभिः.

क्वचिद्रन्तव्यं, देहान्तरस्य तु नोत्पत्तिः, बीजस्य दग्धत्वात्. हरेणैव दग्धो न कामः प्ररोहति, स विपरीतो रहो भवति. तत्रापि विशिष्टो विरहः एकान्ता-

टिप्पणी

दग्ध इत्यादि. 'वियोगा'दिपदमनुक्त्वा **विरह**पदं यदुक्तवत्यस्तज्ज्ञापितं भावविशेषमाहुः **स विपरीत** इत्यादि. अयमग्निर्न पूर्वोक्तः, तथा सति पुनरग्न्युक्तिर्न स्यात्. तथा च पूर्वस्मादस्य कठिनत्वं वाच्यम्. तदाहुर्नाम्व्युत्पत्त्या. हरदग्धः कामोऽन्यवस्थोऽप्यस्ति, उक्तामृतेन जीवेदपि. अनेन तु दग्धः क्षणेनैव भस्मसाद् भवति पदार्थः, पुनर्जीवनाशारहितश्च. उक्तरूपदाहकर्तृ-वाचकपदस्थवर्णवैपरीत्येनैतद्वाचकपदस्थवर्णयोरेतद्वाच्ये तद्विपरीतधर्मवत्त्वं लक्ष्यते. सोऽस्माभिरुक्तो'ऽनेन त्वि'त्यादिना. **एव**कारोऽप्यर्थे. तथा चोक्तरूपदाहकर्त्रा हरेणापि दग्धो यत्र कामोऽधुनापि न जीवति, तत्रोक्तरूपेण दग्धाः कथं पुनर्जीवियुरिति भावः. पूर्वं सिञ्चनेन[१] जीवनकर्तृत्वलक्षणोऽपि तद्विपरीतो धर्म उक्त इति प्रभुस्वरूपमेवात्र **रहः**पदेनोच्यते. तत्स्वतएव समर्थं, तत्रापि कोटिकन्दर्पाधिकलावण्येन विभावानुभावादिसामग्र्या च

प्रकाशः

समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे"ति श्रुत्युक्तस्य देह**बीजस्य** अन्तर्गृहगतानामिव ध्यानेन **दग्धत्वाद्** देहान्तरानुत्पत्तौ अन्तर्यामी खगत्वादुड्डीय त्वत्पादयोरेवाया-स्यति, अक्षरस्य तद्धामत्वात्तदा तच्छायारूपा वयमपि तेन सहभूतास्तत्रैवैवं समायास्याम इति भावः. ननु दाहानन्तरं परीक्षितीव भवतीषु जीवनं सम्पादयिष्यामीति चेत्तत्राहुः **हरेणे**त्यादि **विशिष्टो विरह** इत्यन्तेन. तत्तात्पर्यमाहुष्टिप्पण्यां **वियोगे**त्यादिना. **अस्ती**ति, ननु भस्मीभूय नष्ट इत्यर्थः. अस्मिन्नग्नौ पूर्वोक्ताग्निविपरीतधर्मवत्ताज्ञानप्रकारमाहुः **उक्तरूपे**त्यादि. तथा च यदि तव जीवनसम्पादनेच्छा स्यात् तदा नानेन दाहं सम्पादये. अतो "भ्रमति भवानबलाकवलाये"ति गीतगोविन्दोक्तएव न्यायोऽत्र तवाभिप्रेत

लेखः

भगवत्पदवीत्यर्थः. **बीजस्ये**ति, वासनादेहस्य विरहजाग्न्युपभुक्तत्वादित्यर्थः. 'दग्ध'पदं विहा**योपभुक्ते**ति कथनेन वासनात्मकस्यापि दाहः सूचित इति भावः ॥३५॥

---

१. सेचनेन मू. पा.

भावरूपो वा. अनेन त्वया सह एकान्ताभावे विरहत्वम्. यद्यपि पूर्वोक्ताग्निनैव दाहः सम्भवति तथापि भस्मसात्करणे न तस्य सामर्थ्यं, यावत् सर्वाङ्गेषु सूक्ष्मावयवेष्वप्यग्निः प्रविश्य नोद्बुद्धो भवति. यथा वह्निसम्बन्धेन शुष्कं काष्ठं ज्वलति. तत उपाधेरत्यन्तं गतत्वात् ते पदयोर्गमनम्. अतो गमनं दूरापास्तं प्रत्युत मरणमुपस्थितमिति शीघ्रं प्रतीकारं कुरु ॥३५॥

किञ्च यदप्युक्तम् "अथवा मदभिस्नेहाद् आगता" इति, यदस्माकं स्नेहः स्तुतः, तत्र याथार्थ्यं शृण्वित्याहुः **यर्हीति.**

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमञ्जः
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ॥३६॥

हे **अम्बुजाक्ष** दृष्ट्यैव तापनाशक, **यर्हि** यस्मिन् क्षणे **तव पादतलं** **अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमञ्जः** सामस्त्येनापि **स्थातुं पारयामः.** साक्षात्

टिप्पणी

विशिष्टं किं किं न कुर्यात्! एतदेवोक्तं **तत्रापि विशिष्टो विरह** इत्यनेन. लोकप्रसिद्धमर्थमाहु**रेकान्ताभावेति.** ननूक्तरूपत्वे कदाचिदपि सुखदत्वं न स्यादित्याशंक्य श्लिष्टार्थकोऽयं प्रयोग इत्याशयेनाहु**रनेन त्वयेत्यादिना.** स्वरूपस्यैव विरहत्वमित्यर्थः. शृङ्गाररसस्य संयोगविप्रयोगात्मकत्वात्तद्रूपत्वात्प्रभोस्तथात्वं युक्तमिति भावः. **ततः** काष्ठाद् **उपाधेरार्द्रेन्धनत्वस्य.** दार्ष्टान्तिके स्वरूपातिरिक्तः स्नेहहेतुरुच्यते. तेन सोपधिस्नेहे त्वनेवंभाव इति भावः सूच्यते ॥३५॥

प्रकाशः

इति भावः. एतं न्यायं प्रतिरुन्धाना आहुः **लोकेत्यादि.** तथा चावस्थाभेदेन स्वरूपस्यैव तथात्वादत्राप्रतीकारएव तथा न्यायो न तु प्रतीकार इत्यर्थः. **आर्द्रेन्धनत्वस्येति,** अत्र विशेषणाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावो बोध्यः ॥३५॥

योजना

नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपभुक्तेत्यस्य विवृतौ **हरेणैव दग्ध** इत्यारभ्य **विरहत्वमित्यन्तम्.** एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥३५॥

चरणस्पर्शो दुर्लभो, यत्र पुनः पादः प्रतिफलितः **तत्पादतलमुच्यते.** रमापि तेनैव जीवति. तदुक्तं नागपत्नीभिः "तवांघ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः यद्वाञ्छये"ति. अतस्तत् फलस्थानीयम्. **रमायाः क्षणं** सुखं तेनैव **दत्तं** क्वचिद् हृदये समागतं, सुखं तत्रैव भवतीति. तत्र स्पर्श एवास्माकं भूमिष्ठस्य, न तु लक्ष्मीवद् हृदये तत्तलमायाति. अस्माभिर्विचारितं– लक्ष्म्या चेदेतत्प्राप्तं तपसा चाञ्चल्यपरिहारेण, तदास्माभिरपि चाञ्चल्यपरिहारेण तन्निष्ठतया स्थातव्यम्. किञ्च **अरण्यजनाः प्रियाः** यस्य. तेनापि सर्वसङ्गपरित्यागेन स्थातव्यम्, सङ्गाभावएव भगवत्तोषहेतुरिति. अरण्यं हि सात्त्विकं वैष्णवं च.

टिप्पणी

यर्ह्यम्बुजाक्षेत्यत्र, **तल**विशेषणोक्तितात्पर्यमाहु**रस्माभिर्विचारित**मित्यादि. "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेदि"तिवद्रमा वेदार्थं विचार्य– निर्दोषपूर्णगुणएव सेव्यः, स च भगवानेव, स च निर्दोषेणैव सेवितुं शक्य इति निश्चित्याधिदैविकाध्यात्मिकदोषावप्यपहाय– तं वव्र इति तथा. **अरण्यजने**त्यत्र. ननु चाञ्चल्यत्यागोक्त्यैवान्यसंगत्यागोऽप्युक्त एवेति **तेनापीति** ग्रन्थो न युक्त इत्यत आहुः **संगाभाव एवे**ति. पूर्वं दोषाभाव उक्तोऽधुना प्रीतिहेतुर्गुण

प्रकाशः

यर्ह्यम्बुजाक्षेत्यत्र. टिप्पण्यां **भगवानि**त्यादिना विचारात्मकतया ज्ञानमयं तप **आधिदैविकाध्यात्मिकदोषावि**त्यादिना च "यद्वांछया श्रीर्ललनाचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रते"त्यत्र 'ललना'पदोक्तः स्त्रीस्वभाव **आधिदैविकः** त्यक्तत्वेनोक्ताः मनोभिलाषरूपाः कामा **आध्यात्मिकः**, तौ विवृतौ. एतौ च सुबोधिन्यां **चाञ्चल्य**पदेनैव संगृहीतौ ज्ञेयौ. श्रीश्चात्र सात्त्विकी शक्तिः न तु ब्रह्मानन्दरूपा शक्तिरिति तत्रैव विवृतम्. **तेनापी**ति हेतुनेत्यर्थः.

लेखः

यर्हीत्यत्र. **तेनैवे**ति, स्वहृदये प्रतिफलितेन पादेनेत्यर्थः. **यद्वाञ्छयेती**ति, हृदि पादस्थापनेऽङ्घ्रिरेणुस्पर्शो भवतीति भावः. **तदि**ति पादतलमित्यर्थः. **तत्तलमि**ति, अस्मद्धृदये पादप्रतिफलनं न जायते इत्यर्थः. गाढभावेन स्थापने तथा भवतीति भावः. **तपसे**ति, "कामत्यागस्तपः स्मृतमि"ति वाक्यसिद्धेनेत्यर्थः. "विहाय कामानि"ति 'धृतव्रते'ति च कथनादिति भावः. **तन्निष्ठतये**ति,

¹(एतेन पुलिन्दीस्मारणं वा, पादतलसम्बन्धिकुङ्कुमसम्बन्धेनैव ता अपि प्रिया आसन्निति. तेन पादतलस्य फलपर्यवसायित्वं प्रभुप्रीतिसाधकत्वं च सहजमिति वयमप्यात्मनि तथैव जानीम इति भावः. स्फुटमिदं न वक्तुं शक्यमित्येवमुक्तम्.) अतः त्वत्प्रार्थ्यं नान्यसमक्षं स्थातुं शक्नुमः. सर्वथा त्वां यो न प्रपन्नः, ²शक्त्यभावः तद्धर्मप्रवेशात्. यो हि यस्य घातकः तद्भावापत्तौ तस्याग्रे स्थातुं न शक्तो भवति, यथा व्याघ्राग्रे देहाभिमानी तथा भगवदीयः, भगवद्व्यतिरिक्तो हि तद्भावं नाशयिष्यतीति. यत्रैवं

टिप्पणी

उच्यते इति न तथेति भावः. अतएव मूले प्रीतिरुक्ता. **अन्य**पदार्थमाहुः **सर्वथे**ति. **तद्धर्मे**ति भगवद्भावप्राकट्यादित्यर्थः. **सर्वदैव स्वप्न** इति, पूर्वमपि रमणपक्षे तस्य गोप्यत्वादेवमुक्तमिति ज्ञेयम् ॥३६॥

प्रकाशः

नन्वरण्यजनानां प्रियत्वे को हेतुरित्यपेक्षायामाहुः **अरण्यं ही**त्यादि. भगवत्प्रापकं भगवदीयं चेत्यतस्तथेत्यर्थः ॥३६॥

लेखः

कामत्यागेनेत्यर्थः. **एतेने**ति, **अरण्यजनप्रिय**पदेन **पुलिन्दीस्मारणम्. अरण्यजनाः** पुलिन्द्यः **प्रिया** यस्येति पादतलस्य प्रीतिसाधकत्वे सम्मतिरुक्तेति भावः. **तथैव जानीम** इति, पुलिन्दीवदात्मनि भगवत्प्रियात्वं जानीम इत्यर्थः. **स्फुटमिदमि**ति, पूर्वरमणमित्यर्थः. अत्र श्लोकद्वये 'लक्ष्मी'पदेन ललनेति ज्ञेयं, ब्रह्मानन्दरूपायास्तादृशशरीरापेक्षाभावात्. अतएव "ललनाचरत्तप" इत्यस्य सम्मतिरुक्ता. एतत्स्वरूपं द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये विवरणे विवृतम्. **यस्ये**ति देहत्वस्येत्यर्थः. देहनाशे पूर्वमभिमतमात्मनो देवदत्तत्वं निवर्तते इति भावः. **घातकः** निवारक इत्यर्थः. **तद्भावापत्ता**विति आत्मनो देहत्वापत्तावित्यर्थः. भगवदीयपक्षे **यस्य** भगवत्त्वस्येत्यर्थः. **तद्भावापत्तौ** "जीवेऽन्तःकरणे चैवे"तिन्यायेन "भगवानहमि"ति भावापत्तौ, एतादृशविगाढभावे इत्यर्थः. इदमेव टिप्पण्यां **भगवद्भावप्राकट्यादित्यर्थ** इत्यनेनोक्तम्. **भगवद्भावो** भगवत्त्वमित्यर्थः. **भगवद्व्यतिरिक्त** इति **भगवता व्यतिरिक्तः** भेदं प्रापितः, भगवन्तं न प्रपन्न इत्यर्थः ॥३६॥

---

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्. २. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे.

सूक्ष्मेक्षिका, तत्रान्यस्य स्थाने गमनं तस्य च देवतात्वेन भावनं दूरापास्तम्. अतः प्रीतिमात्रस्तुतिर्या सा अल्पीयसी, अनन्यभावाएव वयं लक्ष्मीवत्. किञ्च यथा सर्वपरित्यागेन लक्ष्मीः चेत् त्वां शरणं गता तदा **त्वया अभिरमिता** जाता, तथा वयमपि जाताः; सर्वदैव स्वप्ने त्वत्सम्बन्धं प्राप्नुमः, अन्यथा जीवनमेव न स्यात्. एवं भुक्तपूर्वा वयं नान्यत्र प्रेषयितुमुचिता इति ॥३६॥

ननु तस्या दैवगत्या सम्बन्ध आसीत्, स च प्राथमिको, भवतीनां तु प्रथमतोऽन्यत्रैव सम्बन्धः, अतो वैषम्यमिति चेत्, तत्राहुः **श्रीरिति.**

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजःप्रपन्नाः ॥३७॥

लक्ष्मीरपि न दैवगत्या भवन्तं प्राप्तवती किन्तु त्वच्चरणारविन्दार्थं महत्तपः कृतवती. सा न स्त्रीत्वेन त्वदीया किन्तु भक्तत्वेन, अन्यथा **वक्षसि** स्थलं प्राप्य स्वतन्त्रं तुलस्या सह सापत्न्यमप्यङ्गीकृत्य चरणरजो न कामयेत्. चरणरजस्तुलस्या भवति, भक्ता हि भक्तेः. तदुपपादितं प्रथमस्कन्धे. तस्य रजसः माहात्म्यमाह **भृत्यजुष्टमि**ति, तद्रजसैव भृत्यानां शरीरोत्पत्तेः. **किले**ति प्रसिद्धिः, सर्वएव भक्ताः त्वच्चरणरजसैव सम्पादितदेहवन्तः. अतस्तुलसी तत्र भक्तिरूपा प्रतिष्ठिता. तद्रजःप्राप्तिर्येषां ते त्वत्सेवकाएव

प्रकाशः

श्रीर्यत्पदेत्यत्र. ननु पत्यैक्येन तुलस्याः सापत्न्यस्य सार्वदिकत्वात् **सापत्न्यमङ्गीकृत्ये**त्यादि कथमुच्यत इत्यत आहुः **चरणे**त्यादि. यद्यप्यैकपत्यं सार्वदिकं तथापि "श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्या" इत्यादौ विष्णुपदसम्बन्धित्वेनैव तुलस्याः प्रसिद्धत्वात्तद्रजोऽपि संबन्धनैकट्यात्तुलस्या भवति, लक्ष्मीश्च भक्तिरूपस्य चरणभक्तेति प्रथमस्कन्धे "या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रपादाब्जरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री"त्यत्र श्रियो नित्यभगवत्पूजायां चरणयोस्तुलसीसमर्पणविवरणेन प्रतिपादितं, तथा च पूर्वं सपत्नीत्वेऽपि विषयभेदान्न सापत्न्योद्गमः चरणरजःकामनायां तु तदुद्गम इति तथोच्यत इत्यर्थः. **तत्रे**ति पदाम्बुजे. **महिष्य** इति, एतेन अष्टावक्रप्रसादशापयोर्गोचरा व्यावर्तिताः ॥३७॥

भवन्ति. अतो लक्ष्मीः अन्तःकरणे स्थानं प्राप्यापि अन्यः स्त्रक्ष्यतीति चिन्तया **रजश्रकमे** तस्मिन् प्राप्ते तु न शङ्कापि. ननु किमेतावद्भयं लक्ष्म्याः, तत्राहुः **यस्याः स्ववीक्षणकृते अन्यसुरप्रयासः.** अन्ये सर्वएव ब्रह्मादयो देवाः तपः कुर्वन्ति "लक्ष्मीरस्मान् पश्यत्वि"ति. अन्यथा तेषां कोऽपि पुरुषार्थो न सिध्येदिति. अतो बहुभिः प्रार्थ्यमाना भीता जाता— कश्चिदत्यन्तमपि तपः कुर्यात् स को वेद किं कुर्यादिति. रजःकामनायां तु नेयं शङ्का. प्राप्तौ तु सन्देहएव न भवति. एवं चरणरजसः प्राप्तौ अनन्यगामित्वं निरूप्य स्वस्य तथात्वमाहुः **तद्वद्वयं चे**ति. अस्मानपि बहवः प्रार्थयन्ति, तद्भयादेव पूर्वं चरणरजः स्पृष्टम्. ततो देहोऽपि तच्चरणरजसा समुद्भूत इति सर्वथा **तव पादरजःप्रपन्नाः. च**कारात् या अपि साम्प्रतं नागताः, या वा महिष्यः, ता एतादृशशरीरयुक्ताएव. अतोऽस्मदर्थएव समागतो भवान्. नात्मानं गोपय, नापि गुप्तः स्थास्यसि. तस्मान्नाग्रहः कर्तव्य इति भावः ॥३७॥

एवं स्वस्य भगवदेकभोग्यशरीरत्वमुपपाद्य प्रार्थयन्ति **तन्न** इति.

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेंऽघ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।

लेखः

श्रीरित्यत्र. मूले **यदि**ति रजसो विशेषणं, **यद्रजः श्रीश्रकमे** तद्रजः **वयं च प्रपन्ना** इत्यन्वयः. **त्वत्सेवका एवे**ति, सेवां तव कुर्वन्ति अन्यसम्बन्धस्तेषां न भवतीत्ये**वकारः**. अतोऽस्माकमप्यन्यसम्बन्धो नास्तीति भावः. इदं "क्वेमाः स्त्रिय"इति श्लोके व्युत्पादयिष्यते. **नेयं शङ्के**ति, लक्ष्म्या अन्यस्पर्शशङ्का न भवतीत्यर्थः. तत्र हेतुः **प्राप्तौ त्वि**ति, रजःकामनायाः प्राप्तौ तु सर्वेषां सन्देहएव न भवति, विपरीतनिश्चयात्. अतस्तदर्थं यत्नं न कुर्वन्ति. तस्मान्न लक्ष्म्याः शङ्केत्यर्थः. **सन्देहएव भवती**ति पाठे सन्देहएव, तेन निश्चयाभावान्न यत्न इत्यर्थः. **रजसः प्राप्तावि**ति, कामनायामेव तथात्वे प्राप्तौ तथात्वं कैमुत्येनैव सिद्धमिति भावः. अथवा उत्कटैककोटिका शङ्का समकोटिकः सन्देह इति विभागः. तथाच यथाश्रुत एवार्थः. **बहवः प्रार्थयन्तीति,** श्रुतिरूपत्वाभिप्रायेणेदम्. तत्तन्मन्त्राभिमानिदेवाः स्वस्वाधिपत्यं मन्यन्ते, रजःप्राप्तौ तद्गामित्वं न भवतीत्यर्थः. श्रियाः कामनैवोक्ता, स्वस्य तु प्रपत्तिरुक्ता अत आहुः **सर्वथे**ति ॥३७॥

त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥३८॥

पूर्वश्लोकेनैव भर्तृशुश्रूषणविधिर्निराकृतः. तदपरित्यागः सुतरामेव तेनैव निराकृतो भवति. अनेनापि निराकरणं प्रार्थयन्ति, भगवत्कृपाभावे तादृशेनैव सम्बन्धो भवेदिति. कृपा हि सर्वतोऽधिका, **तत्** तस्मात्कारणात् **प्रसीद** प्रसन्नो भव, त्वयि प्रसन्ने सर्वं सेत्स्यतीति. ननु भवतीनां प्रतिकूलमदृष्टं दुःखप्रापकमस्ति, अतः कथं प्रसाद इति चेत्, तत्राहुः **वृजिनार्दनेति. वृजिनं** दुःखजनकं पापं, स्वभावतएव सर्वेषां येन केनापि सम्बन्धेन **तदर्दयसि.** प्रसादे हेतुमाहुः **तेंऽघ्रिमूलं प्राप्ता** इति, यस्तु चरणतलं प्राप्नोति स प्रसादमपि. स च प्रसादः पशुपुत्रादिरूपो मा भवत्विति स्वाधिकारमन्येभ्यो व्यावर्तयन्ति **विसृज्य वसतीरि**ति. गृहस्थाश्रमस्त्यक्तः न तु गृहमात्रमिति **वसतीरि**ति बहुवचनम्. परित्यागेऽपि हेतुमाहुः **त्वदुपासनाशा** इति, "त्वत्सेवां करिष्याम" इति आशामात्रेणैव पूर्वसिद्धं त्यक्तं, तत्र समागतानां पुनर्गृहसम्बन्धे किं वक्तव्यमिति. अतो देयं प्रार्थयन्ति **त्वत्सुन्दरे**ति, **तव सुन्दरं यत्स्मितं** मोहकमप्यानन्दजनकं त्वत्सम्बन्धात् परमानन्दरूपं, तादृशस्मितपूर्वकं **यन्निरीक्षणं,** तेन जातः **तीव्रो** यः **कामः,** तेन **तप्तान्तः**करणानाम् अस्माकं **पुरुषाणां भूषण**रूप अनन्तकोटि-कन्दर्पलावण्यरूप स्वतःपुरुषार्थरूपमेव **दास्यं देहि.** [१](अधिकारिभेदेन

लेखः

तन्न इत्यत्र. **कृपा ही**ति, सर्वेभ्यः प्रमाणेभ्योऽधिकेत्यर्थः. अन्तरङ्गधर्म-त्वादाधिक्यं युक्तमिति **हि**शब्दः. **प्रतिकूलमदृष्टमि**ति, लोकन्यायेनात्रापि सम्भाव्य तन्निवर्तकत्वं भगवतो बोधितम्. तथा च भगवत्स्वरूपबोधने तात्पर्यान्नातीवाग्रहः कर्तव्यः. **दुःखजनकमि**ति, यतो भगवानेवं वदति तादृशं भजननिष्ठमन्यशेषत्वमित्यर्थः. पूर्वोक्ते**नादृष्ट**पदेनापीदमेव ज्ञेयम्. **येन केनापी**ति, कामादिभावेनापीत्यर्थः. एतद्भजने अन्यशेषत्वाभावेऽपि दैन्येन तदपि भगवदुक्तमङ्गीकृत्य निवारणप्रार्थनमिति भावः. एतेन प्रतिबन्धकनिवारणं प्रार्थितम्, अग्रिमेण हेतुरुच्यत इति विभागः. **स्वतःपुरुषार्थे**ति, दानोक्त्या फलत्वं सूचितमिति भावः. तापोक्त्या देयस्वरूपमुक्तं, दास्यदानोक्त्यापि

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्.

दास्यस्यानेकविधत्वादेयं रूपं स्वतापोक्त्या व्यज्यते– उक्ततापविशिष्टानां यदेतत्तापनिवर्तकं तदिति. किञ्च प्रभोरपेक्षितवस्तुसमर्पणे हि दास्यं भवति, न त्वन्यथा. एवं सति यथास्माकमुक्ततापेन प्रचुरा त्वदपेक्षा, तथा तवास्मदपेक्षायां स्वयमुद्यम्यास्मदुपभोगः कार्य इत्यर्थः पर्यवस्यति. अन्यथा दास्यस्य कृतिसाध्यत्वेन दानोक्तिरनुपपन्ना स्यात्. अतएव तथा सम्बोधनं **पुरुषो** भूत्वा **भूषण**रूपेति. तद्धि कण्ठादिषु सर्वेष्वङ्गेषु भवति, त्वमपि तथा भूत्वा दास्यं देहीति वाक्यैकवाक्यतया प्राप्यते. भूषणत्वोक्त्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थताप्युक्ता. मणिखचितं तद्विभूषणत्वसम्पत्त्यर्थं मध्ये लाक्षावदपि भवति. तेन महानपि तद्धारणार्थं लाक्षामपि धारयति तुच्छामपि, तथा मध्ये कामोपयोग इति न तदुपाधिकृतं दास्यवरणम् अपि तु तद्विपरीतमिति भावः.) अतो दास्यार्थिन्यएव वयं न तु विवाहार्थिन्यः. अत उपनयनाद्यपेक्षापि न लोकव्यवहारेण कर्तव्येति भावः ॥३८॥

ननु भवतीनां सर्वासामेव दास्यवरणे को हेतुः, सालोक्यादेरपि फलस्य विद्यमानत्वात्, तत्राहुः **वीक्ष्यालकावृतमिति**.

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रि
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥३९॥

अनेन लोकेप्सायां पतिर्न त्यक्तव्य इत्यत्रोत्तरमुक्तम्. लोके हि

लेखः

देयस्वरूपमुक्तं भवतीत्याहुः **किञ्चेत्यारभ्य प्राप्यत** इत्यन्तेन. **यथास्माकमिति** दृष्टान्तेन "ये यथा मामि"ति मर्यादा सूचिता. आत्मन एवापेक्षितवस्तुत्वात् समर्पकाभावात् **स्वयमुद्यम्येत्यु**क्तम्. **महानपीति**, यथा महान् भूषणधारणार्थं लाक्षां धारयति तथा वयं कण्ठादिषु **भवद्धारणार्थं** कामं धारयाम इत्यर्थः. कामाभावे भोगासम्भवेन तथा न स्यादिति भावः ॥३८॥

वीक्ष्यालकेत्यत्र. अनेनेति, लोकेप्साप्यत्रैव विशेषतः सिध्यतीत्यर्थः. श्लोकक्रमे "अस्वर्ग्यमि"त्यस्योत्तरमिदम्, तदग्रे वक्ष्यते. अत्र विशेषतो लोकेप्सासिद्धौ हेतुमाहुः **लोके हीति. पुरुषार्थत्रयमिति**, पुंप्रीतिरूपमोक्षादित्रय-साधनत्रयमित्यर्थः. **सर्वोत्कृष्टमिति**. मोक्षादिषु तत्साध्यानन्दरूपा ये मोक्षादय-

पुरुषार्थत्रयं— चतुर्विधो मोक्षः इन्द्राद्यैश्वर्यभावेन स्वर्गप्राप्तिः इहलोके परमा लक्ष्मीः. तदत्र त्रयमपि दास्ये सर्वोत्कृष्टमस्तीति तदुपपादयन्ति. प्रथमं सारूप्यं सालोक्यं सामीप्यं सायुज्यमिति मोक्षभेदाः ते दास्याग्रे अप्रयोजकाः यतो मुखारविन्ददर्शनेन ते कामा निवर्तन्ते इति भक्तिरूपमुखारविन्दस्य तदपेक्षयोत्कृष्टधर्मवत्त्वं निरूप्यते. **अलकाः** सारूप्यमिव प्राप्ता भ्रमराः, ते बहवएवात्र आवृत्य मुखं तिष्ठन्ति. अतः सारूप्यं गतानामपि यदि भक्तिशेषत्वं तदा किं सारूप्येण? किञ्च **मुखं कुण्डलश्रि** कुण्डलाभ्यां श्रीर्यस्य,

टिप्पणी

वीक्ष्यालकेत्यत्र, **चतुर्विधो मोक्ष** इत्यादिना पुरुषार्थत्रयविवरणम्. अत्रा**लकावृता**दिपदैर्मोक्षादिनिराकरणोक्तेरयमाशयः. मूले हि प्रभोरङ्गान्येवोक्तानि दासीभवनहेतुभूतेक्षणविषयत्वेन. तथा च "त्वां वीक्ष्ये"त्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि यत्प्रत्यङ्गनिरूपणं, तत्रापि भूषणानां, तत्साभिप्रायमिति स निरूप्यत इति. **सारूप्यमिवे**ति सारूप्यमुक्तिमिवेत्यर्थः. अत्रालिसारूप्यवदलकैः

लेखः

स्तत्त्रयापेक्षया दास्ये यन्मोक्षादित्रयं तत्सर्वोत्कृष्टं, यतो दास्ये तच्छेषिभूतो मोक्षो, भगवद्बाह्वाश्लेषरूपं द्वितीयं, वक्षःस्थितिरूपं तृतीयमित्यर्थः. **अप्रयोजका** इति, एतदभिलषितं मुखारविन्दफलं दास्यसाध्यम्, एते तु तत्र**ाप्रयोजका**स्तदसम्पादका इति. मोक्षो हि पुरुषार्थः, तल्लक्षणं च पुंप्रीतिसाधनत्वम्. तथा चैते सारूप्यादयः प्रीतिसाधनरूपाः, मुखशेषत्वेनोक्तास्तु तत्तत्साध्यानन्दरूपा इति विभागः. ननु तत्सम्बन्धिफलं तैरेव जायते इति कथमप्रयोजकत्वमत आहुः **यत** इति. एतद्दर्शनेन ते कामास्तत्साध्यानन्दाभिलाषा निवर्तन्त इति सूचनायैवं निरूप्यते यतोऽतस्तस्य फलस्यानभिलषितत्वादेतदभिलषितफलेऽप्रयोजका एवेत्यर्थः. **तदपेक्षये**ति, मोक्षानन्दापेक्ष**योत्कृष्टधर्मवत्त्वम**ङ्गित्वं **निरूप्यते** इत्यर्थः. **भक्तिशेषत्वमि**ति भक्त्यङ्गत्वमित्यर्थः. स्वानुभूयमानानन्दस्य भक्तिशेषत्वादेतेषामपि तच्छेषत्वमिति

योजना

वीक्ष्यालकावृतमित्यत्र लोके हि पुरुषार्थत्रयमित्यादि. तत्र **चतुर्विधो मोक्ष** एकः पुरुषार्थः, **इन्द्राद्यैश्वर्यभावेन स्वर्गप्राप्ति**र्द्वितीयः पुरुषार्थः, **इहलोके परमा लक्ष्मी**स्तृतीयः. **भगवत्प्रमाणावलम्बिनी** इति, "कर्णौ दिशः

कुण्डलयोर्वा श्रीर्यस्मात्. सामीप्ये हि नैकट्यं भवति. अत्यन्तसामीप्यं जायमानमपि कुण्डलादप्यधिकं न भविष्यति. ते चेत्सांख्ययोगरूपे भगवत्प्रमाणावलम्बिनी भगवदधीनगतिमती पुनर्भगवन्मुखनिरीक्षके, तदा

टिप्पणी

सारूप्यमुक्तिमन्तो भक्ता लक्ष्यन्ते. केशा बद्धा अपि भवन्ति, न त्वलकाः. इतोपि तथा. ''मत्सेवया प्रतीतं च'' ''सालोक्यसार्ष्टिसामीप्ये''त्यादिवाक्यैश्च तासां चतुर्विधानामपि दास्यान्यूनत्वं सिद्धम्. तत्रैतद्रसप्राप्त्यभावादेतस्य च ततोऽधिकत्वाद्धि तदवरणम्. अतएवात्राप्यावरणरूपत्वमेवोक्तम्. नह्यन्तःस्थितिं विना परितः स्थितिमात्रेण रसपानमलीनां सम्भवति. मुखस्याम्बुजत्वमप्येतेषां रसपानाभावज्ञापनायैव नोक्तम्. किञ्च कमलं हि न पेयमपि तु तत्स्थो रसस्तथा न तदास्यं[1] किन्तु स्वयमेव रसात्मकमित्यपि ज्ञापयितुं तत्त्वं नोक्तमिति ज्ञेयम्. बहुभिरावरणान्महारसत्वं व्यज्यते. किञ्च. लीलाया नादस्य वा श्रवणेन पूर्वं जनितो यो भावः स एतद्दर्शनेन पुष्टः क्रियते. प्रचुरार्तेर्लयो विविधरसभावोत्पत्तिश्चेति स्थितिलयोत्पत्तिकर्तृवाचकवर्णात्मकनाम्ना सूच्यते. अतो युक्तं दासीभवनमिति भावः. ''त्वत्सुन्दरस्मिते''त्यादिनोक्ताधिकारवतीनां देये दास्ये मुखं स्वाधीनं भवतीति तच्छेषभूतानामनङ्गीकारः सर्वत्र. **गण्ड-**

प्रकाशः

वीक्ष्येत्यत्र. भगवत्प्रमाणावलम्बिनीति, भगवतः प्रमाणं श्रोत्रं तदवलम्बिनीत्यर्थः. एवं च भगवत्प्रमाणं वेदोऽपि भवतीति वेदाविरुद्धसांख्य(योग)-योस्तदवलम्बित्वं फलति, तयोश्च मुखनिरीक्षकत्वेन भक्त्यभिलाषएव तन्निष्ठानां न तु तत्प्राप्तिरपीति सूच्यते. मूले **श्रिये**तीयङ् छान्दसः. तथा च **श्रियाः**

लेखः

भावः. **साङ्ख्ये**ति, तयोर्भक्त्यङ्गत्वादिति भावः. **भगवत्प्रमाणे**ति, **प्रमाणं** श्रोत्रं तदवलम्बिनीत्यर्थः. गोलकेन्द्रिययोर्भगवत्यैक्यमभिप्रेत्योक्तम्.

योजना

श्रोत्रममुष्य शब्द'' इतिवाक्याद्भगवच्छ्रोत्रस्य शब्दरूपत्वात् प्रमाणरूपत्वं, तादृशप्रमाणरूपश्रोत्रावलम्बिनी कुण्डले इत्यर्थः. तथा च भगवत्प्रमाणे[2] यद् भक्तिप्रतिपादकं शास्त्रं भागवत-भगवद्गीतारूपं तदवलम्बित्वं कुण्डलात्मकयोग-

१. दास्यं मु. पा. २. भगवत्प्रमाणयद् इति मुद्रितः पाठः. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

किं सामीप्येन? किञ्च **गण्डस्थलाधरसुधमिति**, **गण्डौ** स्थलरूपौ विशालौ, स्थले हि रसः पातुं शक्यत इति, अधरे च सुधा यस्मिन्; गण्डस्थले स्थित्वा अधरसुधा पातुमत्र शक्येति. सालोक्ये हि आनन्दमात्रमक्षरामृतपानं च. अक्षरापेक्षयापि गण्डस्थले स्थितिः चुम्बनाद्यर्थमुत्तमा, अधररसश्च अक्षर-रसादुत्तम इत्युक्तम्. **कुण्डलश्रीयुक्तं गण्डस्थलमित्यस्मिन्** पक्षेऽपि सामीप्यात् भक्तौ शास्त्रीयो रसो अधिको निरूपितः, परस्परं त्वद्गुणवादरूपः. अक्षरादा-धिक्यं तु अधररसे स्पष्टमेव. किञ्च **हसितावलोकमिति**, हसितपूर्वकमवलोको यस्मिन्. ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानां न भक्तिविलासः. हासो हि सर्वरसोद्बोधरूपः, ज्ञानं चाविर्भूतम्. ब्रह्मानन्दे तु द्वयमप्यव्यक्तं, जले निमग्नस्य जलपानवत्. अनुभवरसो हि भिन्नतया स्थितौ भवति. अतो भक्तिरूपमुखस्य दृष्टत्वाद् दास्यमेव फलं, न मोक्षः. **भुजदण्डयुगं च विलोक्य** इन्द्रादिभावेनापि स्वर्गो न प्रयोजक इति निरूपयन्ति **दत्ताभयमिति**. स्वर्गे इन्द्रः परमकाष्ठां प्राप्तः.

टिप्पणी

स्थलेत्यत्र, **स्थले** हीति, एतज्ज्ञापनायैव **स्थल**पदम्, अन्यथा नोक्तं स्यादिति

लेखः

विशालाविति यस्मिन्नित्यग्रेतनेनान्वयः. **आनन्दमात्रमिति** स्थलमिति शेषः. सालोक्ये स्थल**मानन्दस्य मात्रा** अंशो यस्मिन् तादृशम् अक्षरात्मकमित्यर्थः. दास्ये तु स्थलं गण्डरूपं पूर्णानन्दरूपमिति भावः. अतोऽत्र **चुम्बनाद्यर्थं स्थितिरुत्तमे**त्यर्थः. तत्राक्षरे स्थित्वाऽक्षरामृतं पातव्यम्, अत्र गण्डे स्थित्वाधररसः पातव्यः. **कुण्डलश्रीयुक्तमिति**, कुण्डलयोर्गण्डाङ्गत्वकथनेन सामीप्यस्य भक्त्य-ङ्गत्वनिरूपणाद्भक्तावधिको रसो निरूपितः. तद्रसस्वरूपमाहुः **शास्त्रीय** इति. अस्मिन् पक्षे कुण्डलश्रि गण्डस्थलं यत्रेति समासः, तदनन्तरं कर्मधारयः. **द्वयमप्यव्यक्तमिति**, आनन्दो ज्ञानं चात्मत्वेनैवेति भेदाभावादव्यक्तमित्यर्थः. एतदेव विशदयन्ति **जले** इति. **स्वर्गो न प्रयोजक** इति अभिलषितफले इति

योजना

सांख्यशास्त्रयोरतो भक्तेरेव सर्वत्र मुख्यत्वमित्यर्थः. **कुण्डलश्रीयुक्तं गण्डस्थल-मित्यस्मिन्पक्षेपीति**. तथा च **वीक्ष्यालकावृतमुखं तवेति**श्लोके **कुण्डलश्री-गण्डस्थलाधरसुधमित्येकं** समस्तं पदम्. **सामीप्याद्भक्ताविति**. सांख्ययोग-शास्त्रात्मककुण्डल**सामीप्याद्भक्ति**रूपे गण्डस्थले शास्त्रीयो **रसोऽधिको निरूपित**

तेऽपि दैत्येभ्यो निरन्तरं भीताः इन्द्रादयः. तेषामप्यभयदातृ-भगवतो भुजदण्डयुगलम्. तच्चेदत्रैवास्ति, तत्परित्यज्य किमिन्द्रत्वेन? **च**कारात् न केवलमभयमात्रं प्रयच्छति किन्तु क्रियाशक्त्या यज्ञादिना हविरपि प्रयच्छति यथाग्रे इन्द्रः स्वाधिकारसमाप्तौ मुक्तो भवति. **दण्डपदे**नानुल्लंघ्यशासनत्वमुक्तम्. उभयत्र च दण्डो **युगपदेन** निरूपितः. ततो हि सर्वथा दैत्यनाशो भवति. किञ्च **वक्षोऽपि विलोक्य;** लोकानां श्रिया रमणं भवति, श्रीरपि तत्र रमते.

टिप्पणी

भावः. **भुजदण्डयुगमित्यत्र, उभयत्रे**ति. इन्द्रादीनां भयदैरपि दैत्यैर्भगवच्छासनमनुल्लङ्घ्यमित्यैहिकानिष्टनिवर्तकः. देवानामपि तत्तथा. यज्ञाकरणे द्विजान् दण्डयत्येवेत्यनुल्लङ्घ्याज्ञत्वेन मुक्तिहेतुभूतशुद्धिजनकहविर्दानेन पारलौकिकसुखप्रद इत्यर्थः. हविर्दानेन परलोकसाधने विशेषमाहुः **तत** इति, भगवत्क्रियाशक्तिरूपवैदिकक्रियासम्बन्धिहविर्भोगादित्यर्थः. सर्वथा अन्तःकरणस्थानामपीत्यर्थः. ('भुजदण्डावि'त्यनुक्त्वा द्वित्वसंख्यावाचिपदमेकवचनान्तं यदुक्तं तत्रायं भावः. द्वयोः पृथक् प्रतीतौ ह्यपेक्षाबुद्धिः तया च द्वित्वम्. प्रकृते चाश्लेषदशायामुभयोर्भुजयोरेकवत् प्रतीतिः. सा च न स्वाश्लेषसमये संभवति किन्त्वन्यस्याः. तथा च तादृग्दर्शनं भावोद्बोधकं भवत्येवेति. तथापि 'द्वय'पदमनुक्त्वा **युगपदं** यदुक्तं तेन युगस्वभावो यथा न निवर्तयितुं शक्यः केनापि, तथा भुजदण्डयोरप्येकवचनसूचितार्थलक्षणः स्वभावो न मर्यादाशास्त्रादिभिर्निवर्तयितुं शक्यो भवति च तथैवेति ज्ञाप्यते. तेनास्माकं दासीभवनमावश्यकमिति.) ॥३९॥

प्रकाशः

एकं मुख्यं **रमणं** यत्रेति विवक्षितं तदाहुः **श्रीरपीत्यनेन. धर्मस्यापी**ति, "धर्मः स्तन" इति वाक्यात्तस्यापि तत्स्थानमिति लोके श्रीसाधनभूतः सोऽपि तत्रैव रमत इत्यर्थः. **विधिप्रयुक्ते**त्यादि, वीक्षणस्येति शेषः. तथा च

योजना

इत्यर्थः. **यज्ञादिना हविरपि प्रयच्छतीत्युक्तम्**, तत्प्रयोजनमाहुः **यथाग्रे इन्द्रस्याधिकारसमाप्ताविति**. इन्द्रस्याधिकारसमाप्तौ **यथा इन्द्रो मुक्तो** भवेत् तदर्थं मुक्तिप्राप्तिसाधनीभूतशुद्धिसम्पादकं वैदिकविधिसिद्धं **हविरिन्द्राय प्रयच्छतीत्यर्थः. चकाराद्धर्मस्यापीति**, "धर्मः स्तनोऽधर्मपथोस्य पृष्ठ" इति-

चकाराद्धर्मस्यापि. अतो **दास्यएव भवामः.** [१](अत्र वीक्षणस्य दासीभवन-हेतुत्वोक्त्या यत्रायं भावो नास्ति तेषां नैतद्वीक्षणमस्ति, विधिप्रयुक्तत्वाभावेन तद्विपरीतविध्यनङ्गीकारश्च युक्त इति ज्ञाप्यते. यदप्युक्तं भगवता "अस्वर्ग्यमि"त्यादि स्वभजने दोषषट्कं, तदपि षड्भिर्गुणैर्निवारितं, न हि परमपुरुषार्थसाधकं पापं भवति, फलतएव पापस्य निन्द्यमानत्वात्) ॥३९॥

प्रकाशः

विध्यप्रयुक्तवीक्षणस्य दास्यहेतुत्वेन तदसाधकविध्यनङ्गीकारोऽस्माकं युक्त इति भावः. **षड्भिर्गुणैरि**ति, **अलकावृते**त्यादिविशेषणोक्तैः क्रमेणैश्वर्य-यशोवैराग्यज्ञानवीर्यश्रीभिरित्यर्थः ॥३९॥

लेखः

शेषः, यतो भुजदर्शनेन ते कामा निवर्तन्ते इति पूर्वोक्तोऽर्थोऽनुसन्धेयः. **धर्म-स्यापी**ति रमणमिति शेषः, मूलवासनया षष्ठ्यन्तमुक्तम्. तथा च मोक्षका-मार्थधर्माश्चत्वारोऽपि क्रमेणोक्ता इति भावः. **अयं भाव** इति दास्यभाव इत्यर्थः. **विधीति** अत इति शेषः, वीक्षणाभावाद्धेतोरित्यर्थः. वीक्षितॄणामेव भवामेति लोडन्तेन विधिरुक्त इत्यवीक्षितॄणां **विधिप्रयुक्तत्वाभावेन** हेतुना दास्यविध्यङ्गीकारः **विपरीतो** यस्तद्विधे**रनङ्गीकारः** स **च युक्त** इत्यर्थः ॥३९॥

योजना

वाक्याद्धर्मस्य तत्र स्थानात्. अत्र श्लोके सुबोधिन्यामयं गूढाशयः. चतुर्विध-पुरुषार्थाभिलाषो व्रजवधूभिर्दूषितः. तत्र यद्यपि सारूप्यमुक्तौ अधिकारिणां मुखदर्शनादिना परमानन्दानुभवो भवति तादृशो दास्ये नानन्दानुभवः तथा च किमर्थं मोक्षानङ्गीकार इत्याशङ्का प्राप्नोति, तथापि स्वरूपान्तःपाते सत्यलकैर्मुखानन्दानुभवः क्रियेत, तथा सति न सकलस्वरूपसुखानुभव इत्येतदर्थं सारूप्यमुक्तेरनङ्गीकारः. एवं सामीप्यादावपि ज्ञेयं, स्वरूपान्तः-पातापेक्षया लीलान्तःपातस्यैवोत्तमत्वात्. चतुर्भुजादिरूपं प्राप्तानां वैकुण्ठस्थानां पार्षदादीनां भगवत्सारूप्यं यादृशं तादृशमिदं न भवति, किन्तु भगवत्स्वरूपे सायुज्यं प्राप्य पुनः श्यामरूपतारूपमलकानां सारूप्यमिति बोद्धव्यम् ॥३९॥

---

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्.

ननु तथापि लोकविद्विष्टं स्त्रीणामभिसरणम्, अतः सन्मार्गरक्षणार्थं प्रमाणसिद्धमप्येतन्न कर्तव्यम्, अतः श्रवणदर्शनादिकमेव कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः **का स्त्री**ति.

का स्त्र्यंग ते कलपदामृतवेणुगीत-
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥४०॥

अयं धर्मः पुरुषाणां वक्तव्यो न तु स्त्रीणाम्, असंभावितत्वात्. नह्यसंभावितो धर्मो भवति. एवं धर्मनाशे धर्मस्थापकं स्वरूपमेव हेतुः, अद्भुतकर्मत्वात्. [१](वस्तुतस्तु स्वरूपसम्बन्धिनां भक्तानां धर्मं स्वरूपेणैव रक्षति. तच्चान्यभावेभ्यो रक्षणमेतद्भावपोषणं च. ये स्वरूपधर्मसम्बन्धिनस्तांस्तैरेवेति न किञ्चिदनुपपन्नमिति भावः. अतएवैवं स्वरक्षणेन स्वान्तरङ्गत्वज्ञापनाय) **अङ्गे**ति सम्बोधनम्, अप्रतारणाय च. या **स्त्री** लोके 'स्त्री'शब्दवाच्या सा कथ**मार्यचरितान्न चलेत्? त्रिलोक्यां** सत्त्वरजस्तमःकार्यरूपायाम्. तामसीनां

प्रकाशः

का स्त्रीत्यत्र. **अयमि**ति सन्मार्गरक्षणरूपः. ननु बह्व्य एतादृश्यो या नाभिसरणं कुर्वन्ति, भवत्योऽपि तादृश्य एवेति कथमेवमुच्यते इत्यत आहुः **एवमि**त्यादि, सतीनामपीत्यर्थः. ननु धर्मस्थापकस्य कथं नाशकत्वं तत्राहुः **अद्भुते**ति, यथा "चस्कम्भ यः स्वरंहसाऽस्खलता त्रिपृष्ठमि"त्यत्र पातुकाया एव क्रियायाः स्थापकत्वं, यथा च "वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हानि"त्यत्र वेदबाह्यबोधकस्य वेदस्थापकत्वं, तथात्र विपरीतमित्यर्थः. नन्वेवं सत्येतत्कृतेरधर्मरूपत्वमिव स्यादित्यतः पक्षान्तरमाहुः **वस्तुत** इत्यादि. **तैरि**ति स्वरूपधर्मैः. तथा च प्रतियोगिभेदेन व्यवस्थयात्रापि धर्मस्थापकत्वमेवेति न दोषलेश इति भावः. नन्वविद्यापर्वभिरेव मोहसम्भवे किमिति कलादीनां मोहकत्वमुच्यत

लेखः

का स्त्रीत्यत्र. विवरणे सत्त्वादयो लीलासृष्टिस्था इति ज्ञेयम्, तत्रैव वेणुश्रवणाधिकारात्. **कलेषु पदेषु** यदमृतमर्थरूपं तच्च **तद्वेणुना गीतं** चेति कर्मधारयः ॥४०॥

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्.

मौढ्याद् आर्यचरिते स्थितिं मत्वा तन्निराकरणम्. राजसीनां स्वभावएव. सात्त्विकीनां सत्त्वाद्धर्मबुद्धिमाशंक्य तन्निराकरणम्. आर्यमार्गपरित्यागे हेतुः **ते कलपदामृतवेणुगीतसम्मोहितेति**. सम्मोहिता आर्यचरिताच्चलत्येव. सम्मोहः पञ्चपर्वाविद्यास्थानीयैः. भगवत्सम्बन्धाद् अविद्या तु न बाधते परमन्यएव बाधकाः. तेषां बलं **ते** इति, त्वदीया इति. **कलान्यव्यक्तमधुराणि** यानि **पदानि** तत्राविर्भूतं **यदमृतं** तदेव **वेणुद्वारा गीतं** तेन **संमोहः**. गीतं देहमोहजनकं, "गायन्तं स्त्रियः कामयन्त" इति, स्त्री तु देहएव. इन्द्रियाणां व्यामोहको वेणुः, रसात्मकत्वात्. अमृतं प्राणानाम्. पदान्यन्तःकरणस्य. अव्यक्तता आत्मन – इति सम्यग्विमोहिताः. आर्याः प्रमाणबलविवेकिनः.

टिप्पणी

का स्त्र्यङ्ग त इत्यत्र, भगवत्साक्षात्कारे सति मोहासम्भवमाशङ्क्याह **तेषां बलमिति**. मर्यादामार्गीयभगवद्धर्मेभ्योऽपि पुष्टिमार्गीयास्ते बलिष्ठा इति भावः. **आर्यचरितादित्यत्र**. नन्वार्या हि श्रेष्ठाः, ते च भक्ता एवेति तच्चरितमेव सर्वत्यागपूर्वकं भगवद्भजनमिति कथमेवं कथनं युज्यत इत्याशङ्कानिरासा**यार्य**पदार्थमाहुः **प्रमाणबलविवेकिन** इति. ननु विवाहितभजनं

प्रकाशः

इत्यत आहुः **भगवदित्यादि**. गीतस्य देहमोहकत्वे किं मानमत आहुः **गायन्तमित्यादि**. ननु कामनाया मनोधर्मत्वेन मनोमोहकत्वं युक्तं न तु देहमोहकत्वमित्यत आहुः **स्त्री तु देह** इति. स्त्रीत्वस्य जीवेन्द्रियप्राणान्तःकरणेषु वक्तुमशक्यत्वात्तस्यैव च कामनायां प्रयोजकत्वात्तथेत्यर्थः. **इन्द्रियाणामित्यादि**, इन्द्रियाणां रूपादिग्राहकत्वेन वेणुद्वारा वामपरावर्तादिरूपेण वेणुविशिष्टस्य रसात्मकस्य स्वरूपस्य विषयत्वे वेणुरपि नाट्य इव रसात्मकतयैव भासत इति. अमृतस्य द्रवत्वेनापोमयप्राणपोषकतया, पदानां सूक्ष्मरूपस्य मनोमयतया, एतस्या अव्यक्तताया आनन्दीयत्वेनात्मनि चानन्दस्याव्यक्ततया साजात्येन प्राणान्तःकरणात्ममोहकत्वमिति प्रतिभाति. अत्रैवं बोध्यं– द्वितीयस्कन्धे सत्त्वरजस्तमसां क्रमेण सच्चिदानन्दमलत्वं प्रतिपादितम्. तत्राविद्या तामसी मलिनसत्त्वरजोयुक्ता तमसा स्वरूपाज्ञानं[१] विधाय रजःसत्त्वाभ्यां देहादिषु विषयेषु च व्यामोहमुत्पादयति. भगवत्सम्बन्धात्तस्या अबाधकत्वे लीलार्थो

१. स्वस्वरूपाज्ञानम् इति. मुं. वि. पाठः.

प्रमाणे हि इन्द्रमहेन्द्रयोरपि भेदस्वीकारः, पृथगुपस्थिताः सर्वएव भिन्ना इति. अन्यथा इन्द्रयाजिनोऽग्रे सम्वत्सरान्ते प्रायश्चित्तश्रवणं न स्यात् "सम्वत्सरस्य परस्तादग्नये व्रतपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदि"ति. अतो देहव्यतिरिक्तः स्वरूपेणोपस्थितोऽपि प्रमाणबले विरुध्यते. वस्तुविचारस्तु प्रमेयबलमाश्रित्य,

टिप्पणीः

हि प्रमाणमार्गः, भगवान् सर्वात्मक इति "गोपीनां तत्पतीनां चे"त्यग्रे वक्ष्यमाणत्वाच्च तत्र हीयते अधिकं परं सम्पद्यत इति नैषोपपत्तिरित्यत आहुः **प्रमाणे ही**त्यादि. तन्मार्गे हि पतित्वादयो धर्मा देहनिष्ठाएव. अतस्तद्भिन्नत्वेनोपस्थितस्तद्वचनविषयो न भवति, "यावद्वचनं हि वाचनिकमि"तिन्यायात्. एवं सत्ययं मार्गो वस्तुविचारं न सहते. न च विहितत्वेनैवोत्तमता निषिद्धत्वेनैवाधमतेति वाच्यं, "शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुष्वि"ति भगवद्वाक्यविरोधात्. न चैतद्विरोधापरिहारात्तत्र

प्रकाशः

मोहः स्वरूपविषयक उक्तैरेव स्वरूपधर्मैरुक्तरीत्या सम्पद्यत इति. टिप्पण्याम् **अयं मार्ग** इति प्रवृत्तिरूपः प्रमाणमार्गः. वस्तुविचारासहत्वमुद्घाटयितुमाहुः **न चे**त्यादि. तथा च "शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु" इत्यारभ्य "गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणामि"त्यन्तस्य भगवद्वाक्यस्योपबृंहणतया श्रुत्यर्थनिश्चायकत्वेन वस्तुतः सर्वसाम्ये सिद्धे विधिनिषेधयोः कर्मार्थतया न वस्तूत्तमत्वादिनियामकतेति भावः. **एतद्विरोधापरिहारादि**ति प्रमाणमार्ग-

योजना

का स्त्र्यंग त इति श्लोकविवरणे **आर्याः प्रमाणबलविवेकिनः** इति. अस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **प्रमाणे हीन्द्रमहेन्द्रयोरपि भेदस्वीकार** इति. यद्यपि महांश्चासाविन्द्रश्च महेन्द्र इति निर्वचने इन्द्रएव 'महेन्द्र'पदवाच्यः तथापि यागविषये प्रमाणबलादिन्द्रमहेन्द्रयोरपि भेदस्वीकारः. तत्रान्यथानुपपत्तिं प्रमाणयन्ति **अन्यथा इन्द्रयाजिन** इत्यारभ्य **प्रमाणबले विरुध्यत** इत्यन्तेन. एवं सति आत्मत्वेनैक्येऽपि गुणादिकृतं भेदमादाय देवतान्तरत्वं महेन्द्रस्य कल्प्यते. गुणादयस्तु देहधर्मा इति देहस्य प्राधान्यं प्रमाणमार्गे. तथा च सिद्धमेतत्– प्रमाणमार्गे देहनिष्ठं पतित्वमंगीक्रियते इति गोपाएव पतयो गोपीनाम्. वस्तुतस्तु भगवानेव पतिरतो विवाहितपतिभजनं त्यक्त्वा

अन्यथा विधिनिषेधविधयो व्यर्थाः स्युः. तदुत्तरत्र वक्ष्यति एकादशे. अतो मार्गान्तरविरोधो मार्गान्तरे नोपयुज्यत इति मर्यादाभङ्गोऽत्र न दूषणम्. एतस्योत्तरमग्रे शुकश्च वक्ष्यति रासानन्तरं "धर्मव्यतिकरो दृष्ट" इति.

टिप्पणी

कर्तव्यमिति वाच्यं, प्रमेयमार्गस्य स्वतन्त्रत्वेनैतस्माद् बलिष्ठत्वेन चैतद्विरोध-स्याप्रयोजकत्वात्. अन्यथा प्रेममार्गोच्छेदापत्तिः. एतदेवोक्तं **प्रमाणे** ह्रीत्यारभ्य **न दूषणमि**त्यन्तेन ग्रन्थेन. ननु प्रमाणमार्गीयाणां प्रमेयमार्गीयाणां च मिथो भेदात् प्रमाणवाक्यं न प्रमेयमार्गियं विषयीकरोति, यागविधिर्यतिमिव, अतो न विरोध इति चेत्, स्यादेवं यदि प्रमेयमार्गेऽपि विधिः स्यात्, यत्याश्रम

प्रकाशः

विरोधापरिहारात्. **एतस्योत्तरमग्र** इत्यादिग्रन्थं व्याकर्तुमाहुः **नन्वि**त्यादि.

योजना

भगवद्भजनं कर्तव्यमित्येव हार्दमुपनिषदाम्. तथा च भजनमेव आर्यमार्ग इति तत्करणे आर्यमार्गात् का स्त्री न चलेदित्युक्तिरेव न संभवति यद्यपि, तथापि इह **आर्यशब्देन** प्रमाणबलविवेकिनो ग्राह्याः. ते च वस्तुविचारमकुर्वन्तः प्रमाणबलेन देहस्यैव प्राधान्यमंगीकुर्वन्ति. देहप्राधान्ये तु विवाहितपतिभजनं मुख्यं, तस्यैव पतित्वात्, न तु भगवद्भजनम्, अतो विवाहितपतिभजनत्यागेन वस्तुतो यः पतिर्भगवांस्तस्य भजनमार्यमार्गाच्चलनमेवेति तथोक्तिर्मूले. **वस्तुविचारस्तु प्रमेयबलमाश्रित्ये**ति, प्रमेयस्य भगवतः सर्वात्मत्वात्सर्व-रूपत्वान्न(च्च!) तद्बलमाश्रित्य "गोपीनां तत्पतीनां चे"त्यादिना भगवति परपुरुषत्वादिखण्डनविचारः इत्यर्थः. तथा च वस्तुतो भगवान्पतिरेवेति तद्भजनमार्यमार्ग एवेत्याशयः. **अन्यथा विधिनिषेधविधय** इत्यादि. प्रमाणबले वस्तुविचारो नास्ति. **अन्यथा** यदि वस्तुविचारः स्यात् तदात्मधर्माणामेव मुख्यता स्यात्, तथा सति देहं पुरस्कृत्य प्रवृत्ता **विधिनिषेधाः व्यर्थाः स्युरि**त्यर्थः. **तदुत्तरत्र वक्ष्यति एकादश** इति. वस्तुविचारेणात्मधर्मपुरस्कारात्त-त्प्रमेयबलं एकादशस्कन्धे उद्धवं प्रति भगवान् वक्ष्यति– "तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां, प्रवृत्तिं निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च, मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनां, याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभय" इत्यादिनेत्यर्थः ॥४०॥

तस्मादत्र फलस्य सिद्धत्वात् साधनदृष्ट्या अपकीर्तिः नास्मत्प्रतिबन्धिका. किञ्च न केवलं नाम्ना मर्यादाभङ्गः किन्तु स्वरूपेणापि, तदाहुः **त्रैलोक्यसौभगमि**ति, त्रैलोक्यस्यापि सुभगत्वं यस्मात्. यथा सूर्येण दिनं, चन्द्रमसा रात्रिः, तथा त्रैलोक्यमेव भगवद्रूपेण सुन्दरतां याति. **इदमि**ति प्रत्यक्षसिद्धं, **च**कारादनुभावाँश्च. तच्छ्रुत्वा एतद् दृष्ट्वा का वा आर्यचरितान्न चलेत्? अस्त्वियं प्रमाणवार्ता दुर्बला, प्रकारान्तरेणापि चलति– भगवतो रूपेण प्रमेयमर्यादाप्यपगच्छति या कथमपि नान्यथा भवति. तदाह **यद्गोद्विजद्रुममृगा** इति. **गावो** हि प्रमाणवार्तानभिज्ञाः, मातरमपि गच्छन्ति. **द्विजाः** पक्षिणः सर्वभक्षाः. **द्रुमाः** स्थावराः, कदाचिदपि बहिःसम्वेदनरहिताः,

टिप्पणी

इव. तथा सत्यधिकारिविशेषणमहिम्नैवान्यस्याप्राप्तेरविरोधः स्यात्. प्रकृते च प्रभ्वनुग्रहैकलभ्यत्वेन विध्यभावाद्वर्णाश्रमविशेषाधिकारेण प्रवृत्तं वाक्यं न संकुचितुमर्हति, बाधकाभावात्. अतस्ततोऽन्यथाकरणे विरोधो दुर्निवारः. प्रमेयमार्गप्रामाण्यं तु "धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट" इत्यादिना "याः श्रुत्वा तत्परोभवेदि"त्यन्तेन शुकवाक्येनैव वक्ष्यत इति सर्वमनवद्यम् ॥४०॥

प्रकाशः

सुबोधिन्यां **तस्मादत्रे**ति, मार्गान्तरविरोधस्यात्रादुष्टत्वात् प्रमेयमार्ग इत्यर्थः. **कलपदे**त्यादिनोक्तमोहकस्य शब्दरूपत्वेन वेदतुल्यतया मार्गद्वयस्य समबलत्वे प्राप्ते "श्रवणाद्दर्शनादि"ति भगवद्वाक्यस्य प्रमाणमार्गोपोद्बलकतया तस्य बलिष्ठतायां तद्विरोधस्य प्रतिबन्धकत्वमाशङ्क्याहुः **किञ्चे**त्यादि. **नाम्ने**ति शब्देन. **त्रैलोक्यमेवेत्येव**कारोऽग्रिमपदेन योज्यः, दृष्टान्तानुगुण्यात्. तथा च गीतरूपशब्दमात्रेण प्राप्तौ मार्गद्वयस्य तुल्यत्वं शंक्येतापि, न त्वत्र तथेति न तस्य प्रतिबन्धकत्वमिति भावः. अतः परं प्रमाणविचारस्य फल्गुत्वमभिसन्धाय स्वरूपस्यैव चालकत्वं कैमुतिकेन वदन्तीत्यभिप्रायेणाहुः **अस्त्वि**त्यादि. नेदमाश्चर्यं, बलवत्प्रमाणप्रमेयाभ्यां प्रमाणान्तरबाधस्य औदुम्बर्यधिकरणे "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्, सर्वा सा वेष्टयितव्ये"त्यत्र दृष्टत्वा**दियं** प्रस्तुता **प्रमाणवार्ता** प्रमाणबलाबलचर्चा **अस्तु** विरमताम्. तत्र हेतुः **दुर्बले**ति, स्वरूपधर्मविचारापेक्षया दुर्बलत्वात्. तर्हि स्वरूपेण कथं चालनमित्यत्राहुः **प्रकारान्तरेणे**त्यादि **नाश्चर्यं किञ्चिदत्रे**त्यन्तम्. तथा च स्वरूपं गानं च येषां

निरिन्द्रिया एवेति केचित्. **मृगाः** सर्वतोभयाः. तेऽपि चेद्भगवद्रूपेण गीतेन वा आश्लिष्टरसाः **पुलकानि** धारयन्ति रसिकमनुष्यधर्मानाविष्कुर्वन्ति, ये भगवता अन्यथैव सृष्टाः. स्त्रियस्तु स्वभावतोऽप्यन्यथा भवन्तीति नाश्चर्यं किञ्चिदत्र ॥४०॥

एवं भगवदुक्तानां वाक्यानां निवारणार्थं पुष्टिसिद्धान्तं निरूप्य एतद्भगवत्कृपैकसाध्यमिति भगवत्कृपां प्रार्थयन्ति **व्यक्तमिति.**

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥४१॥

नापि त्वदुक्तमस्मदुक्तं वा किञ्चित्साधकं बाधकं वा. तथापि स्वावतारप्रयोजनं विचार्य अस्मासु कृपा कर्तव्या. तत्प्रयोजनमाहुः **भवान् व्रजभयार्तिहर** एव **व्यक्तमभिजातः. व्रजस्य आर्तिः** पीडा **भयं** च त्वया दूरीकर्तव्यम्. अन्यथा साक्षाद्भगवतोऽवतारे प्रयोजनं न पश्यामः. भूभारहरणं तु सङ्कर्षणांशेन. वसुदेवादिप्रियं प्रद्युम्नेन. धर्मरक्षा त्वनिरुद्धेन. यदि व्रजभयार्तिनिराकरणं न क्रियेत, तदा किमवतारान्तरकार्यं स्यात्? अतो

प्रकाशः

प्रमेयमर्यादां नाशयति तेषां चलनं येषां न नाशयति तेषां प्रमेयमर्यादया स्थितिरिति व्यवस्थायां सिद्धायां, येषां प्रमेयमर्यादापि चलनानुगुणा, तत्र "अधिकं तत्रानुप्रविष्टं, न तु तद्धानिरि"ति न्यायान्नाश्चर्यमित्यर्थः. एतेन सगुणैव चलति न तु निर्गुणेति मूले केतिपदमनतिप्रयोजनमित्यपि निरस्तम्. "आत्मारामाश्च मुनय" इत्यादिवाक्यानि समर्थितानि ॥४०॥

व्यक्तमित्यत्र. नन्वत्र किं भगवद्वाक्यार्थनिर्धारकरणेन प्रसन्नं भगवन्तं ज्ञात्वा कृपा प्रार्थ्यते, उत सन्देहेऽपि स्वदैन्येन, उत हेत्वन्तरेण? आद्ये स्वत एव तत्सिद्धेः प्रार्थनाप्रयोजनाभावः. द्वितीयेऽपि वाक्योक्तिभिरेव तदनङ्गीकार-सूचनान्न तदौचित्यम्. तृतीयं तु न स्पष्टमित्याशंकायां द्वितीयं सूचयन्त्यस्तृतीयं व्यक्तीकुर्वन्तीत्याशयेनाहुः **नापी**त्यादि. अत्र यद्यपि वासुदेवकार्यं नोक्तमिति प्रकृतं वासुदेवकार्यमिति भवति तथापि पूर्वं मुक्तेस्तत्कार्यत्वेन सिद्धत्वाल्लोक-वेदातीतपुरुषोत्तमकार्यस्य प्रस्तावा**दवतारान्तरकार्य**पदेन पुरुषोत्तमकार्यमेव

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरः. इदानीं यथार्तिरस्माकं तथा न कदापि. अस्मदपगमे तु सर्वस्यापि व्रजस्य महती आर्तिः. अत आर्तिनिवृत्तिः कर्तव्या. **ननु** मर्यादयैव निवृत्तिकरणमुचितं न तु अमर्यादया, तथा सति भवतीनां कामशान्तिः ज्ञानं वा भवत्विति चेत्, तत्राहुः **देवो यथादिपुरुष** इति. भगवान् ब्रह्मरूपः सर्वसमः, तथापि इन्द्रादिषु कृपां कुर्वन् दैत्यान् मारयन् विषमतामङ्गीकरोति न तु देवेभ्यो ज्ञानं प्रयच्छति. यत्र स्वरूपमेवान्यथाकरोति, तत्र वाचमन्यथाकरोतीति किं वक्तव्यम्? अतो **यथादिपुरुषो**ऽपि **देवो** भूत्वा **सुरलोकगोप्ता** जातः, तथा भवानपि धर्ममर्यादारक्षकः अस्मत्सम्बन्धं करोत्विति भावः. तदेव रसपोषणार्थं व्याजेनाहुः **तन्नो निधेही**ति. आदावस्माकं शिरसि हस्तं स्थापय यथा अस्माकमभयं भवति. ततोऽस्माकं हृदयतापनिवृत्त्यर्थं **स्तनेषु च करपङ्कजम**मृतस्राविं तापनाशकं **निधेहि.** अनौचिती तु नास्ति यतो वयं **किङ्कर्यः.** परीक्षार्थं वा एतद् द्रष्टव्यमिति रसोक्तिः ॥४१॥

एवं प्रार्थनायां भगवान् यत्कृतवान् तदाह **इती**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥४२॥

टिप्पणी

व्यक्तं भवानित्यत्र. ननु यथार्तौ सत्यामपीयदवधि तत्र स्थितं तथाधुनापि स्थेयमित्याशङ्कानिरासायाधुनार्तिहरत्वोक्तितात्पर्यमाहुः **इदानीं यथार्ति**रिति ॥४१॥

प्रकाशः

तदिति, वासुदेवव्यूहानुक्तिस्तु तस्य व्रजे स्तन्यार्थमाविर्भावेन भगवदैक्येन स्थित्येति प्रतिभाति. **देवो भूत्वे**ति क्रीडापरो भूत्वा. **तथे**ति क्रीडार्थमवतीर्ण इत्यर्थः ॥४१॥

लेखः

व्यक्तं भवानित्यस्योत्तरार्धे स्तनशिरसोः क्रमो न विवक्षित इत्याशयेनाहुः **आदावि**ति. शिरःसु धारणानन्तरं वक्षसि तथासम्भवादिति भावः ॥४१॥

एवं प्रार्थनायामिति. श्लोकसप्तकस्याभासोऽयं ज्ञेयः.

षड्गुणैश्वर्यभावेन षोढा रेमे हरिः स्वयम् ।
स्वरूपेणापि शृंगारो द्विविधोऽपि निरूपितः ॥(१४)॥

टिप्पणी

इति विक्लवितमित्यत्र. अत्र षड्भिः श्लोकैः रमणं स्वकार्यसहितं निरूप्यते. तत्र संख्यातात्पर्यमाहुः **षड्गुणैश्वर्येति.** अत्रायं भावः. भागवते हि परमकाष्ठापन्नं वस्तु 'भगवच्'छब्देनोच्यते. तस्य च षड्गुणवत्त्वमर्थः. प्रकृते च रमणमुच्यते. तच्च विविधभावसाध्यम्. ते च निर्विकारे ब्रह्मणि न सम्भवन्तीति मायया प्राकृतगुणसम्बन्धाद्वैतत्कृतमिति कश्चिद् बहिर्मुखः शङ्केत. तन्निरासो रमणनिरूपकश्लोकसंख्ययैव रमणस्वरूपनिरूपणेन क्रियत इति. एतदेवाहुः **षड्गुणैश्वर्येत्यादिना. षड्गुणे** यो भगवत **ऐश्वर्यभावः** स्वामिभावः रमणे यदा यस्य गुणस्योपयोगस्तदा तत्प्राकट्यकरणेन **रेम** इत्यर्थः. न तु मायाद्यधीनत्वेनेति भावः. अतएव **स्वयं**पदम्. अन्त्येन श्लोकेन

योजना

षड्गुणैश्वर्यभावेनेत्यादिसार्धास्तिस्रः कारिकाः. **इति विक्लवित-मित्यारभ्य मानिन्योऽभ्यधिकं भूवी**त्यन्तस्य श्लोकषट्कस्य संख्यातात्पर्यमाहुः **षड्गुणैश्वर्यभावेन षोढा रेमे हरिः स्वयमि**ति. "तासां तत्सौभगमदमि"त्यनेन तिरोधानमुक्तं, तत्तात्पर्यमाहुः **स्वरूपेणापी**ति. **षड्गुणैश्वर्यभावेन रेमे, स्वरूपेणापि रेमे** इत्यन्वयः. तथाच **षड्गुणैश्वर्यभावेन हरिः स्वयं** संयोगात्मकशृङ्गाररूपेण रेमे तत् षड्भिः श्लोकैः "मानिन्योऽभ्यधिकं भुवी"त्यन्तैर्निरूप्यते. षड्गुणान् स्वरूपभूतान् कृत्वा धर्मिरूपेण तिरोभावलीलया विप्रलम्भात्मकशृङ्गाररूपेण रेमे तद्रमणं "तत्रैवान्तरधीयत" इत्यनेन निरूप्यत इत्यर्थः. एवं सप्तभिः श्लोकैः सिद्धमर्थमनुवदन्ति **शृङ्गारो द्विविधोऽपि निरूपित** इति (१४).

कारिकार्थः

इति विक्लवितं तासामित्यत्र षड्भिः श्लोकैः रमणनिरूपणे संख्या-तात्पर्यमाहुः **षड्गुणैश्वर्यभावेने**त्यादि. **षड्गुणैश्वर्यभावेने**ति कारिकार्धेन षड्भिः श्लोकैः रमणनिरूपणे तात्पर्यमुक्तम्. **स्वरूपेणापी**ति, **स्वरूपेणापि रेमे** इत्यर्थः. अन्त्येन श्लोकेन विप्रलम्भोक्त्या **द्विविधोऽपि शृंगारो निरूपित** इत्यर्थः. पूर्णेन स्वरूपेण रेमे इति भावः (१४).

सामान्यरमणं पूर्वं विशेषे मेलनं पुरा ।
बाह्येन रमणं पश्चाद् आन्तरं च ततः परम् ॥(१५)॥

टिप्पणी

तिरोधानोक्त्या विप्रलम्भोऽपि निरूपितो भवतीति पूर्णो रसोऽत्र निरूपितो भवतीत्याहुः **स्वरूपेणापीति**. विशेषतो लक्षणानि त्वग्रे वाच्यानीति भावः (१४).

वाक्यार्थानाहुः **सामान्येत्यादि**. विशेषरमणं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधमिति द्वितीयेन बाह्यं तदुक्तमित्याहुः **विशेष** इति. तृतीयेनान्तरम्.

लेखः

इतीत्यत्र कारिकासु **बाह्येन रमणमिति**, स्वरूपाद् **बाह्येन** प्रकारेण गतिकटाक्षादिभिः कामोद्बोधेन **रमणमित्यर्थः**. अतएव "रक्षणं दूरादेवे"ति तत्र वक्ष्यते. **आन्तरमिति** स्वरूपनिष्ठं बन्धादिप्रकारकमित्यर्थः. टिप्पण्यां

योजना

सामान्यरमणं पूर्वमिति, "इति विक्लवितं तासामि"तिश्लोकेन सामान्यरमणं निरूपितमित्यर्थः. **विशेषे मेलनं पुरेति**, **विशेषे** रमणे विशेषरमणार्थं **पुरा** पूर्वं **मेलनं** सङ्गमः "स ताभिः समेताभिरुदारचेष्टित" इत्यनेन श्लोकेन निरूपितः, "व्यरोचतैणांक इवोडुभिर्वृत" इति वाक्यात्. विशेषरमणं द्विविधमित्याहुः **बाह्येन रमणं पश्चादान्तरं चेति**. **बाह्येन रमणमिति** साक्षादंगस्पर्शनादेः सकाशाद् बाह्येन विलासपूर्वकगत्यादिरूपेणे-त्यादि. तद्रमणं"मुपगीयमान उद्गायन्नि"त्यनेन निरूपितम्. **आन्तरं च ततः परमिति**, साक्षादंगस्पर्शादिरूपम् आन्तरं रमणं "नद्याः पुलिनमाविश्ये"त्यनेन श्लोकेन निरूपितं बन्धादिप्रकारेण (१५).

कारिकार्थः

वाक्यार्थानाहुः **सामान्येत्यादि**. अत्र वाक्यार्थविभागो दुर्बोधोऽपि प्राचां व्याख्यानुसारेण यथाकथंचिदुच्यते. आद्येन सामान्यरमणं ततः त्रिभिः श्लोकैः विशेषरमणमित्याशयेन आहुः **विशेषे मेलनं पुरेति**. विशेषरमणनिमित्तं **पूर्वमेलनं** ताभिः सह समागमः, तदुक्तं "ताभिः समेताभिरि"ति श्लोकेन. **ततः** पश्चात् द्वितीयेन श्लोकेन "उपगीयमान उद्गायन्नि"त्यनेन **बाह्येन** स्वरूपाद् बाह्यप्रकारेण गतिविलासादिना **रमणम्. ततः परं** "नद्याः पुलिनमाविश्ये"ति तृतीयेन श्लोकेन **आन्तरं** स्वरूपनिष्ठं बंधादिप्रकारेण

ततो नानाविलासेन जातकेलिविभेदतः ।
विप्रलंभस्य सिद्ध्यर्थं तासां मानमुदीर्यते ॥(१६)॥
तिरोभावस्ततश्चापि नायं लौकिककामुकः ॥

टिप्पणी

अजातस्मरकेलि-जातस्मरकेलिभेदेन द्विविधा विलासा इति द्वाभ्यां तदुक्तिः. ननु नायिकामानापनोदनं चाटुकारैरकृत्वैवं कथं कृतवानित्यत आहुस्तात्पर्यं **नायं लौकिकेति**. एतच्च श्लोकविवृतौ स्फुटीभविष्यतीति तथा[१] (१५-१६).

लेखः

द्वितीयेन बाह्यमिति, विशेषरमणे द्वितीयेनेत्यर्थः. **तृतीयेनान्तरमित्य**त्रापि तथा. **द्वाभ्यां तदुक्तिरिति**, आन्तररमणनिरूपकश्लोकेन नानाविलासरमण-निरूपकश्लोकेन च क्रमेणोभयोक्तिरित्यर्थः (१५-१६).

योजना

ततो नानाविलासेन जातकेलिविभेदत इति, **जातकेलिविभेदतः नानाविलासेन रमणमित्य**न्वयः. तन्नानाविलासेन रमणं "बाहुप्रसारे"तिश्लोकेन निरूपितम्. **विप्रलम्भस्य सिद्ध्यर्थमिति**, "एवं भगवतः कृष्णादि"ति श्लोकेन **मानमुदीर्यते** तस्य प्रयोजनमाहुः **विप्रलम्भस्य सिद्ध्यर्थमिति**. "तासां तत्सौभगमदमि"ति श्लोकस्यार्थमाहुः **तिरोभावस्ततश्चापी**त्यादिना. **नायं लौकिककामुक** इति —एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः (१६½).

कारिकार्थः

रमणमित्यर्थः. ततो नानाविलासेन जातकेलिविभेदत इति. "अजातस्मरकेलि-जातस्मरकेलिविभेदेन द्विविधा विलासा इति द्वाभ्यां तदुक्तिरि"त्युक्तं टिप्पण्याम्. अयं टिप्पणीलेखो व्याख्यातः श्रीवल्लभगोस्वामिभिः— "नद्याः पुलिनमाविश्ये"ति श्लोकेन आन्तररमणनिरूपकेण अजातस्मरकेलिविलासा उक्ताः "बाहुप्रसारे"ति श्लोकेन जातस्मरकेलिविलासा उक्ता इति. अतएव सुबोधिन्यां "नद्याः पुलिनमाविश्ये"ति श्लोकव्याख्यानान्ते "एवं तासां सर्व-भावेन जातस्मरकेलित्वं संपादितमि"त्युक्तम्. तथा च "इति विक्लवित-मि"त्याद्येन सामान्यरमणं ततः त्रिभिर्विशेषरमणम्. तत्राद्येन समागमः द्वितीयेन बाह्यरमणं तृतीयेन आन्तररमणं, तत्रैव अजातस्मरकेलिविलासः

१. स्फुटीभविष्यति. तथा तदैव मू. पा.

प्रथमं तासां तापापनोदनार्थं सामान्यलीलामाह **इति** तासां **विक्लवितं** परमवैक्लव्यभाषितं **श्रुत्वा प्रहस्य अरीरमत्.** ननु निरिन्द्रियः कथं रेमे? तत्राह **योगेश्वराणामपीश्वर** इति. योगादिषु सर्वे पदार्थाः स्फुरन्ति, अणिमादयोऽपि, तथा तदैव स्वरूपमेवेन्द्रियादिभावेन प्रकटीकृतवान्. न तु

लेखः

सुबोधिन्यां **विक्लवितमि**ति 'क्लुङ्' गताविति धातोः क्लान्तं, वैक्लव्यमित्यर्थः. **निरिन्द्रिय** इति, इन्द्रियेषु सत्सु हि तैः स्त्रीप्रेक्षणादिना जातेन कामेन गोलके अणुत्वमहत्त्वे भवत इति भावः. **योगादिष्वि**ति **आदि**शब्देन ज्ञानम्, अवान्तरभेदविवक्षया बहुवचनम्. तेषु सत्सु **पदार्थाः** स्वतएव **स्फुरन्ति** इन्द्रियैर्विनैव ज्ञानक्रियोपयोगिनो भवन्तीत्यर्थः. योगेश्वरा

योजना

इति विक्लवितमित्यस्य विवरणे **ननु निरिन्द्रियः कथं रेमे** इति. भगवतः इन्द्रियाणि न सन्ति. परिदृश्यमाने साकारे ब्रह्माणि गोलकेषु प्रत्यक्षतो दृश्यमानेषु इन्द्रियाण्यंगीकर्तव्यानि स्युः. तथा सति परिदृश्यमानात् साकाराद् ब्रह्मणः सकाशादतिरिक्तं वस्तु ब्रह्मण्यायात्. तथा सति स्वगतद्वैतं स्यात्, तत्तरुपत्रयोरिव. तच्च सिद्धान्ते ब्रह्मणि नास्ति, "सजातीयविजातीय-स्वगतद्वैतवर्जितमि"ति वाक्यात्. एवं सति यद्गोलकत्वेन प्रतीयते तद् ब्रह्मैव. न तत्र पार्थक्येन चक्षुरादीन्द्रियाणामंगीकारः न वा सूर्यादिदेवानां किन्तु ब्रह्मैव दर्शनरूपं कार्यं कुर्वच्चक्षुरादिशब्दवाच्यं भवति, "पश्यन् चक्षुर्वदन् वागि"त्यादिश्रुतेः. इत्थमेव तृतीयाध्यायभाष्ये स्फुटमुपपादितम् अलौकिकान्य-पीन्द्रियाणि नांगीकृतानीति. अत एवात्राप्येवं समाधानमाहु[1]: **स्वरूपमेवेन्द्रिया-दिभावेन प्रकटीकृतवानि**ति, [2]**इन्द्रियादिभावेन** प्रकटीभूतं व्रजसुन्दरीप्रेम-फलदानार्थं तादृशभावविशिष्टेन्द्रियादिरूपेण **स्वरूपं** प्रकटितवानित्यर्थः. ननु

कारिकार्थः

– एवं चत्वारः. "बाहुप्रसारे"त्यनेनोक्ताः जातस्मरकेलिविलासाः. षष्ठश्लोकार्थ-माहुः **विप्रलम्भस्य सिद्ध्यर्थमिति.** सप्तमार्थमाहुः **तिरोभावस्ततश्चापीति.** तिरोभावे हेतुमाहुः **नायं लौकिककामुक** इति (१५-१६$\frac{१}{२}$).

१. अत्राप्येवमाहुः इति मुद्रितः पाठः. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

२. इन्द्रियादिकार्यं कुर्वत् सर्वदैव विराजमानं रूपं व्रजसुन्दरीः प्रति संप्रति प्रकटीकृतवान् चक्षुरादीन्द्रियलीलाः शृंगाररसरीतिकप्रेमावलोकनादिरूपाः सर्वाः कृतवानित्यर्थः- इति जय. पाठः.

स्वस्य कामेन, तथा सति बीजनिवृत्तौ कामो निवर्तेत. तासां यथा न कदाचिदपि स भावो गच्छति तदर्थं **प्रहस्य** प्रकर्षेण हास्यं कृत्वा. तासामुद्धरणार्थं, न तु भिन्नगणनया मर्यादायां पातयित्वा नाशनार्थमिति, तदाह **सदयमिति. गोपीरेवारमयत्,** स्वयं **त्वात्मारामए**व. तासां रसाधारत्वाय वा **सदयम्.**

टिप्पणी

तदैव स्वरूपमेवेत्यारभ्य **वचः स्फुट**मित्यन्तग्रन्थस्यायं भावः. प्राकृतपुरुषस्येव स्त्रीप्रेक्षणादिभिस्तदा सञ्जातः कामश्चेत्स्यात्, तज्जनितश्चाङ्गादिविकारः स्यात्, तदा प्राकृतस्येव तन्नाशोऽपि स्यात्. **न** चैवं किन्तु "रसो वै स" इत्यादिश्रुतिभिः स्वरूपमेव रसात्मकमिति रसशास्त्रसिद्धा यावन्तो भेदास्तत्सर्वरूपं स्वरूपमेवेति तादृशमेव पुरुषोत्तमस्वरूपमिति नानुपपत्तिः काचिदिति. यथा दैत्यान्प्रति वीररूपेणैवाविर्भावः, तेषां तथैवाधिकारात्, तथात्रैवमाविर्भाव इति हृदयम्. हासस्य मोहकत्वेनाधुना तत्प्रयोजनाभावमाशङ्क्य तदाहुः **तासां यथे**त्यादि. हासे प्रकर्षोऽयमेव. सख्याङ्गीकारएव हास्यसम्भव इति तथा. अन्यथोक्तरूपेण समं साम्याभावाद्रसो न स्यात्. सख्यस्वभावादेव **न** स्वस्माद्भिन्नतया गणना. सा तु मर्यादायामङ्गीकारे भवति. तथा सत्येवंभूतानामपि मर्यादायां पातने भक्तिमार्गमर्यादानाशः स्यात्. तदेतदुक्तं **नाशनार्थमि**त्यन्तेन. उद्धारोऽत्रैतदुक्ततापात्. उत्कटतापदर्शनेनैव तदुद्धरणार्थं दया. तथा च हासेनैव तापनाशः सूचितो भवति. अन्यथा रसाभासहेतुत्वेन तां न वदेत्. अथवा. मूले **सदयं रेम** इति सम्बन्धः. इदं हि रमणमभूत-

लेखः

ब्रह्मादयस्तेषां जिज्ञासायां चिकीर्षायां च ज्ञानयोगावेव ज्ञानकर्मेन्द्रियरूपौ भवत इति निबन्धे पुरञ्जनप्रसङ्गे निरूपितम्. अयं तु तेषामपीश्वरो, अतोऽत्र स्वरूपमेव तथा भवतीत्याहु**स्तथे**ति. **इन्द्रियादी**ति, इन्द्रियादित्वेनेत्यर्थः. **आदि**पदेन प्राणमनोदेहकामास्तत्त्वेनापि स्वरूपमेव प्रकटितवान्. स्वरूपेणैव तत्तत्कार्यं करोतीत्यर्थः. **तथा सती**ति, कामकृतत्वे लोकन्यायः स्यात् तदा तन्न्यायेन तदपि स्यादित्यर्थः. **तदाहे**ति, **तत्** तदर्थम् उद्धारार्थक-हासकरणार्थं दया**माहे**त्यर्थः. **आत्माराम एवे**ति. **आत्मनि** स्वरूपे **आरामो** रमणं यस्येत्यर्थः. गोपीनां भगवता सह रमणं, भगवतस्तु स्वरूपे एव रमणमिति "रेमे तया चात्मरत" इति श्लोके व्युत्पादयिष्यते.

[1]क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते ॥(१७)॥

टिप्पणी

पूर्वमादावुक्तं सामान्यरूपं च. अतोऽत्र न पूर्णरसदानं किन्त्वग्रे. तेन न भगवत्समानं सामर्थ्यमधुनास्तीत्यधिकक्रियाशक्त्याविर्भावने नायिकानामुपमर्देन रसनाशः स्यादिति तदभावाय दयोक्ता. यद्यप्येवं रसः पुष्टो न भवति तथापि रसाभासभावाभासैर्मुख्यो रसः पोष्यत इतीदं रमणमग्रिमरसपोषायोपयुज्यते. अतएवाभासे **तापापनोदनार्थं सामान्यलीलामाहे**त्युक्तमाचार्यैः.

[2][**क्रिया सर्वापि सैवे**त्यत्र. भगवतो भक्तानां चालौकिकत्वं लौकिककामाभावं चाहुः **क्रिया सर्वापी**ति. अयमर्थः. लोके रससम्बन्धिनी क्रिया लौकिककामविषयिण्येव प्रसिद्धेति भगवच्चेष्टायाश्च तत्सजातीयत्वात्कामोऽपि लौकिकएव भविष्यतीति कस्यचिद् भ्रान्तस्याशङ्कां वारयितुमाहुः **परं काम** इति, लौकिकः कामो न विद्यत इत्यर्थः (१७).

प्रकाशः

इति विक्लवितमित्यत्र. ननु परार्थेऽपि रमणे **योगेश्वरेश्वर**त्वकथनाद्योगिवद्रमणमायाति. ते च संकल्पादेव तथा तथा विदधतीति "संकल्पादेव च तच्छ्रुतेरि"त्यत्र सिद्धं मतान्तरे. स च कामजनक इति कामस्यापि सिद्धौ कथमात्मारामत्वं युज्यत इत्याकांक्षायां तदुपपादयितुमाहुः **क्रिया सर्वे**त्यादि. अत्र कारिकाव्याख्यानं टिप्पणीपुस्तकेषु दृश्यते, तत्पाण्डुलिखने[3] नास्तीति

योजना

"बाहुप्रसारपरिरंभकरालकोरुनीवीस्तनालभने"त्यादिना लौकिकक्रियासदृशी क्रिया प्रतीयते, सा च कामं विनानुपपन्नेति कामोऽप्यंगीकर्तव्यः, तथा सति प्राकृतत्वमेवायातीत्याशंक्य समाधिमाहुः **क्रिया सर्वापि सैवात्रे**त्यादिकारिकाभिः. "बाहुप्रसारे"त्यादिना या क्रिया उक्ता सा सर्वैव वर्तते परन्तु तस्या अलौकिकत्वात्तया न लौकिकः काम आक्षिप्यते. तदाहुः **परं कामो न विद्यते** लौकिकः कामो न विद्यत इत्यर्थः (१७).

---

१. अत्र 'निष्कामलीला' व्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्.

२. "अत्र कारिकाव्याख्यानं टिप्पणीपुस्तकेषु दृश्यते, तत् पाण्डुलिखने नास्तीति श्रीगोकुलनाथानां तत् प्रतिभाति, लेखरीत्यपि तथेति चे"ति श्रीपुरुषोत्तमाः.

३. इदं पाण्डुलिखनं सुरतिपुरे श्रीमद्बालकृष्णप्रभुमन्दिरे सेवायां विराजते. अनेन संशोध्य श्रीमती टिप्पणी मुद्रितास्माभिः (आद्यसम्पादकीया टिप्पणी).

प्रकाशः

श्रीगोकुलनाथानां तत् प्रतिभाति, लेखरीत्यापि तथेति च. **क्रिया** रमणोपयोगिनी **सर्वा** रसोद्बोधिका पोषिका पूरिका च **अपि**शब्दात्तदवान्तरभेदभिन्ना च **सैव** "रसो वै स" इति श्रुत्या भगवतो रसात्मकत्वेन रसशास्त्रसिद्धैवात्र रमणे **परं** किन्तु **कामो न विद्यते** कामो नास्ति. तथा च न योगिवद्रमणं किन्तु यथा योगेऽणिमादिसर्वस्फूर्तिः तथात्र तदीश्वरत्वेन रमणोपयोगि सर्वमभिध्यागोचरीकृत्य स्वस्वरूपमेवेन्द्रियादि[१]भावेन प्रकटीकृतवानिति यथा पुरुषविधब्राह्मणे "स वै नैव रेमे" इत्यादिना रमणादिकथनोत्तरं "सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यदि"त्युपसंहारात्तत्र कामाभावः, इच्छाया अपि स्वरूपानतिरेकाद्, एवमत्रापि. तेन तत्र यथा तत्क्रियासत्त्वेऽप्यात्मारामत्वम् एवमत्रापीत्यर्थः (१७).

ननु श्रुत्युक्ता लीला स्वाभाविकी स्वार्था च, प्रकृता तु परार्था आगन्तुकी, सा च यदर्था तदनुरूपैव भवित्री, सर्वत्र तथा दर्शनात्. एवं सति यदर्थेयं लीला तासु "त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनामि"त्यादिवाक्योक्त्या सकामत्वेन निर्णीयन्त इति तत्सम्बन्धाल्लीलायास्तत्कामपूरकतया कामोपाधिकत्वे सिद्धे भगवत आत्मारामत्वं कथं सिध्यतीत्याशंकायामाहुः **तासामि**त्यादि. लीला हि भगवद्धर्मरूपा, भगवांस्तु निष्कामत्वेन सर्वश्रुतिसिद्ध इति तदीयलीलया तत्कामपूर्त्या ता अपि निष्कामाः, श्रुता"वथाकामयमान" इति प्रतिज्ञाय "योऽकामो निष्काम आत्मकाम" इति कथनेनात्मकामस्य निष्कामकोटिनिवेशात्. प्रकृते च "सन्त्यज्य सर्वविषयानि"त्यत्रात्मकामतया तथात्वस्य स्फुटत्वात् भगवता कामपूर्तेः "सोऽश्नुते सर्वान्

लेखः

क्रिया सर्वापि सैवेति कामशास्त्रसिद्धैवेत्यर्थः. **परमि**ति, कामशास्त्रसिद्धः स्त्रीप्रेक्षणादिजनितोऽङ्गादिविकारहेतुः **कामो न विद्यते** इत्यर्थः (१७). **तासां**

कारिकार्थः

अत्रैवाग्रे भगवतो भक्तानां चालौकिकत्वं लौकिककामाभावं चाहुः **क्रिया सर्वापीति**. भगवल्लीलायां **क्रिया सर्वापि सैव** लौकिकसदृश्येवास्ति **परन्तु** भगवति लौकिकः **कामो न विद्यते** इत्यर्थः (१७).

१. इन्द्रियाभावेन इति मुद्रितपाठः जू.पाठमनुसृत्य संशोधितः.

तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामेनेति तास्तथा ।
कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः ॥(१८)॥

टिप्पणी

ननु भगवान् पुरुषोत्तम इत्यस्तु नाम लौकिककामाभावः, एतासां लौकिकतद्वत्त्वमस्त्विति चेत्तत्राहुः **तासां कामस्येति**. अयमर्थः— यदि भक्तानां लौकिकः कामः स्यात्तर्ह्यलौकिकेन भगवत्कामेन पूर्णो न स्यात्, तयोः परस्परमेकजातीयत्वाभावात्, विजातीयेन विजातीयस्य पूरणासम्भवात्. अतो भगवत्कामेनैव तासां कामस्य पूर्तेर्भगवत्तुल्यत्वं तासामपीति ज्ञापनायोक्तं **तास्तथे**ति. यथा भगवानप्राकृतो लौकिककामरहितस्तथैता अपीत्यर्थः. अन्यथा भगवतः पूर्णरसोद्बोधो न स्याद्, न्यूनाधिकत्वेन भाववैजात्यात्. ननु **कामो न विद्यत** इति कथनाद्भगवति तत्सम्बन्धाद् भक्तेषु चोभयविधकामाभाव एवास्त्विति चेत्, न, पञ्चमाध्यायोक्तकारिकाविरोधात्, तत्र लौकिकनिषेधपूर्वकमलौकिकस्य भगवति निरूपितत्वात्. तथा हि. "अत्रैव लोके प्रकटमाधिदैविकमुत्तमं कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापर" इति. अत्र कामसुखस्य आधिदैविकत्वोत्तमत्वविशिष्टस्य प्रभोर्भोक्तृत्वकथनाल्लौकिकस्यैव तस्य निषेधो, न त्वलौकिकस्यापि. अतो भगवद्भोग्यास्वपि तथैव, अन्यथा भगवतो भोक्तृत्वमेव न स्यात्. तस्मात् सुष्ठूक्तं **तास्तथेति**. विपक्षे बाधकमाहुः **कामेने**ति, प्राकृतेनेति शेषः. तादृशस्य संसारजनना-

प्रकाशः

कामानि"ति श्रुत्युक्तरीतिकतया तत्कृतावपि भगवतो निष्कामत्वेन तत्सम्बन्धा**त्ता** अपि **तथे**त्यर्थः. नन्वस्त्वेवं, तथापि तासां वाक्येषु "संत्यज्ये"त्यत्रात्मकामत्वस्येव "त्वत्सुन्दरे"त्यत्र तदतिरिक्तकामवत्त्वस्यापि स्फुटत्वान्न सर्वथा निष्कामत्वविनिगमने[1]त्याकांक्षायां तदुक्तमभ्युपगम्य कामवत्त्वेऽपि निष्कामत्वं परिचाययितुमाहुः **कामेने**त्यादि. यथा द्वारकालीलायां महिष्यादिकामः प्रद्युम्नरूपेणामोघरेतसा भगवता कामेन पूरितः पुत्रादिरूपं संसारं जनयन् प्रकटोऽभूत् एवमत्र मूलरूपीयकामेन पूरितश्चेत्स स्याद्, अत्रापि तं जनयन् स्फुटः स्यात्. यतो नैवम् अतो नायं कामेन पूरितः. यतः पूरितः अतः कामाभावेनैव पूर्णः, अतो निष्कामः, वह्न्याविष्टदारुवत् कामस्वरूपादेव निवृत्त इत्यर्थः (१८).

१. विनिगमनं इति स्यात्.

कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः ।

टिप्पणी

वश्यकत्वात्, प्राकृतेषु सर्वत्रैव तथा दर्शनात्, अत्रत्यभक्तेषु संसाराभावात्प्राकृततदभावो निःसन्दिग्ध इति ज्ञापनायोक्तं **न संशय** इति ($१८\frac{१}{२}$).

प्रकाशः

ननु महावन्ध्यात्वभावकभेषजभक्षण-र्त्वभावादिनापि संसाराजननस्य दृष्टत्वात्तर्कितो हेतुः साधारण इति शङ्कायां साधारण्यबाधकमत्र मानं स्मारयन्ति **न संशय** इति. "न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते भर्जिताः क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेशत" इति भगवता भाविरमण-बोधनसमय एवोक्तत्वात्. तथा च दग्धपटे पटत्वं यथाकारमात्रेण प्रतीयते, तथात्र क्रियासाम्येनोभयत्र तत्प्रतीतिः, न तु भगवति भक्तेषु वा काम

लेखः

कामस्येति अभिलाषस्येत्यर्थः. **संसारमिति**, तादृशकामलीला श्रुता संसारोत्पत्तिमेव कुर्यात् न तु हृद्रोगनिवृत्तिमित्यर्थः (१८). **कामाभावेनेति**, कामस्याभावो यत्र तादृशेन स्वरूपेण **तु निष्काम**एवाभिलाषः **पूर्णः स्याद्**, अतो निष्कामाभिलाषवत्त्वादेता निष्कामा इति शेषः. अत्र **काम**पदेन देवतारूपः कामो विवक्षित इति ज्ञेयम्. "उदारहासे"त्यनेन कामसम्पादनेऽपि तस्यागन्तुकत्वाद् व्यभिचारिभावेन स्थायिभावस्येव न तेन निष्कामत्वस्य हानिरिति भावः (१९). पञ्चमाध्यायोक्तमलौकिककामयुक्तमपि चरित्रं

योजना

तत्र गमकमाहुः **कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटमिति**. लौकिक**कामेन** चेत् व्रजसुन्दरीणां **कामः पूरितः** स्यात् तदा **संसारं** पुत्रादिरूपं **जनयेदि**त्यर्थः (१८).

कारिकार्थः

एवं भगवति लौकिककामाभावमुक्त्वा तासामपि लौकिककामाभाव-मुपपादयन्ति **तासां कामस्येति**. अलौकिककामेन **तासां कामस्य पूर्तिरिति** हेतो**स्ता अपि तथा** लौकिककामरहिता इत्यर्थः, विजातीयेन विजातीयस्य पूरणासंभवात्. तासु लौकिककामवत्त्वे बाधकमाहुः **कामेन पूरितः कामे**ति, प्राकृतेन कामेनेत्यर्थः. अत्रत्य भक्तेषु संसाराभावात् प्राकृतकामाभावो

अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च ॥(१९)॥
अत एतच्छ्रुतौ लोको निष्कामः सर्वथा भवेत् ।

टिप्पणी

प्राकृतत्वाभावे हेत्वन्तरमाहुः **अतो न कापी**ति. यतोऽस्य भावस्यालौकिकत्वम्, **अत**एव मर्यादामार्गीयमोक्षेच्छूनामपि प्रवृत्ति**र्न** बाधितेत्यर्थः. मोक्षमार्गे कामाभाववतामेवाधिकारात्. तथा च श्रुतिः "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये"ति. तस्माद्यद्यस्य भावस्य प्राकृतत्वं स्यात् तदा तत्कृतलीलाया अपि तथात्वात्तच्छ्रवणे लौकिककाव्यादिवत् कामोद्बोधात्तेषामेतल्लीलाश्रवणस्य विपरीतफलकत्वात् प्रवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः. **चकाराद्** भक्तिमार्गीयापि **मर्यादा न भग्ने**त्यर्थः (१९).

तस्मादस्य भावस्यालौकिकत्वात्तेषामेतल्लीलाश्रवणे फलमुखां प्रवृत्तिमाहुः **अत एतच्छ्रुताविति**. एतल्लीलाश्रवणेन **लोकः** सर्वोऽपि साधारणोऽपि लौकिककामरहितो **भवेत्.** नन्वेतादृक्श्रवणमात्रेण कथं लौकिकतदभाव इति चेत्तत्राहुः **भगवच्चरितं सर्वमिति**, वस्तुस्वभावादेवेत्यर्थः. यद्वस्तु यादृशं

प्रकाशः

इत्यर्थः. **कापीत्यनेन** रसशास्त्रीया ब्रह्मधर्मीया संगृहीता ज्ञेया. तत्र ब्रह्मधर्मीयाया अभङ्गस्तु साधितएव, रसशास्त्रीयायास्तु स्वधर्मादिप्रवेशेन साम्यसम्पादने "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"ति श्रुत्यावधारणीय इति निगूढाशयो बोध्यः (१९).

शेषं टिप्पण्यां स्फुटमिति दिक् ॥४२॥

योजना

एतल्लीलाश्रवणकीर्तनादिफलत्वेन कामाभावस्योक्तत्वादपि नेयं कामलीलेत्याहुः **अत एतच्छ्रुतौ लोको निष्कामः सर्वथा भवेदिति. ततः शुकवचः स्फुटमिति**, एतल्लीलाश्रवणकीर्तनफलत्वेन लौकिककामनिवृत्तिबोधकं "कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीर" इति शुकवचः स्फुटमित्यर्थः ॥४२॥

कारिकार्थः

निःसन्दिग्ध इति ज्ञापनायोक्तं **न संशय** इति. **अतो न कापीति**; **मोक्षफला मर्यादा**– कामे सति न मोक्षः कामाभावे एव मोक्ष इति लक्षणा – **अपि न भग्नेति** सम्बन्धः (१८-१९).

भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते ॥(२०)॥
अतः कामस्य नोद्बोधः ततः शुकवचः स्फुटम् ।

टिप्पणी

भवति तत्स्वनिष्ठमपि तादृशं करोति. एतल्लीलाया लौकिककामराहित्याद् अलौकिकतत्प्रतिपादकत्वादेतत्परोऽपि लौकिकतद्रहितः सन्नलौकिकनिर्हेतुकभगवद्भावयुक्तो भवतीत्यर्थः. श्रवणं तु लीलातात्पर्यावधारणपूर्वकं न तु यथाकथञ्चित् (२०).

अतः कामस्येति. यत इयं लीला लौकिककामरहिता **अत** एतच्छ्रवणेन लौकिककाव्यश्रवणवन्न लौकिकत**दुद्बोधः. ततः** कारणात् "कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः" इति **शुक**वचनं **स्फुटं** स्फुटार्थमित्यर्थः (२०$\frac{1}{2}$).]

अतो न कापीति. मोक्षफला मर्यादा कामे सति न मोक्षः तदभाव एव सः इति **लक्षणापि न भग्ने**ति सम्बन्धः. [1]तथा च श्रुतिः मोक्षरूपब्रह्मानन्दप्राप्तौ "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये"ति[1]. तत्रोपपत्तिमाहुः **अत एतच्छ्रुताविति** (१९$\frac{1}{2}$).

ननु कामलीलाश्रवणेन लौकिकभावोत्पत्तिर्लौकिकस्यावश्यं भवतीति विपरीतं प्रयोजनं स्यादित्यत आहुः **भगवच्चरितमित्ये**कं श्लोकम्. वस्तुस्वभावादेवाद्भुतकर्मत्वाच्च प्रभोरेतच्छ्रवणे तदुद्बोधो नेत्यर्थः. यतो न भवत्यतएव शुक एतल्लीलाश्रवणादिफलं कामाभावमेव "काममपहिनोती"ति प्रकटमेवाह. यद्यपि 'हृद्रोषमपहिनोती'त्येवमेव वाच्यं, तावतैव चारितार्थ्यात्, तथाप्युक्तलीलास्वरूपं ज्ञापयितुं **स्फुटमाहे**त्यर्थः (२०$\frac{1}{2}$).

लेखः

वस्तुतो निष्काममेवेत्याशयेनाहुः **सर्वमिति. निष्काममिति**, लीलाश्रवणनिवर्त्यकामरहितमित्यर्थः (२०).

कारिकार्थः

अतः कामस्य नोद्बोध इति, भगवच्चरित्रस्य निष्कामत्वाद् एतच्छ्रवणे लौकिककाव्यवत् न लौकिककामोद्बोध इत्यर्थः. **ततः** कारणात् "कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः" इति **शुकवचनं स्फुटं** स्फुटार्थकमित्यर्थः (२०$\frac{1}{2}$).

१-१. इदं मूले नास्ति.

आत्मारामस्य आत्मनैव रमणं व्यावर्तयितुमपिशब्दः. **अरीरमत्** बहुधा रेमे, उत्तरोत्तरं रसाधिक्यं च प्रकटितवान् ॥४२॥

एवं सामान्यलीलामुक्त्वा विशेषलीलामाह **ताभिरिति** त्रिभिः.

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ॥४३॥

अजातस्मरकेलिभिः प्रथमतः **ताभिः समेतो** जातः मिलितः, पूर्वं भयात् पृथक् स्थिताः. तत **उदाराणि चेष्टितानि** यस्य. अत्र औदार्यं रसविषयकं– यथा तासां महानेव रस आविर्भवति तथा कामशास्त्रसिद्धलीलाः सर्वाएव कृतवान्. ततस्ता अन्तःपूर्णरसाः **प्रियस्य** भगवत **ईक्षणार्थमुत्फुल्लानि मुखानि** यासां तादृश्यो जाताः. **प्रियेक्षणेन** वा सूर्यकिरणैरिव **उत्फुल्लानि मुखानि.** वस्तुतो लोभस्थितरसार्थमेव तथाकरणम्. एतावति कृते रसो

प्रकाशः

ताभिः समेताभिरित्यत्र. चेष्टिते रसविषयकस्यौदार्यस्योक्तत्वेन महारसाविर्भावस्य ततएव सिद्धौ हासौदार्यं किंप्रयोजनकमित्यपेक्षायामाहुः **तासामित्यादि.** अतिशयिते निकटसम्बन्धे स्वरूपधर्मज्ञानावश्यंभावान्माहात्म्यस्फूर्त्या भयोत्पत्तौ रसो भज्येतेति तदभावाय मोहस्यावश्यकत्वादुदारेण तेन स्नेहः संवर्धितः. तथा च मोहेन स्नेहसंवर्धनाय तदित्यर्थः. नन्वेवमौपाधिक-

लेखः

आत्मनैवेति, किन्तु मनोवाक्प्राणेन्द्रियशरीरैरपि लीलेत्यर्थः. इदं सामान्यरमणमुत्तरोत्तरपुष्टमध्यायपर्यन्तं विवरिष्यते इत्याशयेनाहुर्**बहुधा रेमे** इति ॥४२॥

ताभिरित्यत्र. समेतो जात इति, **ताभिः** कर्त्रीभिर्भगवान् **समेतः** सङ्गतो **जात** इत्यर्थः. कर्मणि क्तः. मूले कर्तरि क्त इति ज्ञेयम्. **सर्वा लीला** इति, **बन्धातिरिक्ता** इति वक्ष्यमाणत्वात् स्पर्शादिरूपा इत्यर्थः. **प्रियस्येति, ईक्षणार्थमुत्फुल्लानि** अञ्चलेभ्यो निर्गतानीत्यर्थः, अञ्चलावरणे सम्यग्दर्शनं न सम्पद्येतेति भावः. द्वितीयपक्षकथने बीजमाहुः **वस्तुत** इति. अस्मिन् पक्षे **उत्फुल्लानि** लोभग्रहणार्थं विकसितानीत्यर्थः. **तथाकरणमिति** उत्फुल्लमुखकरणमित्यर्थः. एवं रसग्रहणार्थमुद्योगे भगवति प्रयत्नशैथिल्यमायाति, सामर्थ्यक्षये स्त्रियाः पुरुषाधरपानमित्युक्तत्वादित्याहुः **एतावतीति. रसो**

निवर्तते, तदभावायाह **अच्युत** इति. तासामपि रससमाप्त्यभावाय **उदारेति**. **उदारो यो हासः** पूर्णकामप्रदः, कामार्थमेव यो मोहः तेनैव स्नेहः सम्वर्धितः. तदाह **हास**सहिता ये **द्विजाः** त एव **कुन्दपुष्पाणि** आरक्तान्यपि हासेन शुभ्राणि तेषु **दीधितिर्यस्य**. कुन्दत्वं स्नेहस्यैतन्मात्रपर्यवसानार्थम्. [१](पूर्वं निरुपधिरेव स्नेहः स्थितः, भगवता परं रसशास्त्रोक्तरीत्या स्वरूपानन्दं दातुं तत्सजातीयः कामोपाधिकः स्नेहोऽधुना जनित इति ज्ञापनाय स्नेहरूपरदानां **द्विज**पदेन कथनम्.) तथा सति फलभोगात् कान्त्यभावमाशंक्य तत्र **दीधितिरु**क्ता. यद्यपि भगवान् तन्निर्बन्धेन रेमे जगद्दोषनिराकरणार्थं च, न तु स्वयं, तथापि न पूर्णमनोरथ इव किन्तु यथा लौकिकः, तदाह

टिप्पणी

उदारहासद्विजकुन्देत्यत्र. **कुन्दत्वं स्नेहस्ये**ति, काममात्रपर्यवसायी स्नेह इति ज्ञापनार्थमित्यर्थः. कुन्दानां रसमात्रोपयोगित्वादिति भावः. अत्रायं भावः. स्वामिनीनां सदा निरुपधिस्नेहएव चेत्स्यात्तदा खण्डितादिभावासम्भवेन पूर्णरसभोग उभयत्रापि न सम्भवतीति निरुपधित्वांशमाच्छाद्य कामोपाधिकत्वं सम्पादितवान्. नैतावता भक्तिमार्गे हीनता, आद्यप्रवृत्तेर्निरुपाधिकत्वाद् भगवता स्वानन्ददानार्थं स्वयमेतद्भावजननादिति. तर्हि कामनिवृत्तौ तन्निवृत्त्यापत्तिरित्याशङ्कानिरासो **दीधितिनिरूपणेन** कृतः. स्नेहरूपदन्तेषु दीप्तिरुत्तरोत्तरमेकरूपेण प्रकाशमानत्वमेव. एतमेवार्थं परोक्षेणाहुः **तथा सती**त्यादिना. ननु भगवानेतत्प्रार्थनया रमते **न तु स्वयं** विनैव प्रार्थनां, तथा सति स्वामिनीष्वियदवधि यावान्भावः सम्पादितोऽस्ति तत्पूरणमेवोचितं,

प्रकाशः

स्नेहवर्धने निरुपधेस्तस्य न्यग्भावापत्त्या महानेवानय इति शङ्कायां टिप्पण्यां तदाशयमाहुः **अत्रायं भाव** इत्यादिना ॥४३॥

लेखः

निवर्तते प्रयत्नशैथिल्यं भवतीति शङ्का स्यादिति शेषः. ताभिरेतावति कृते भगवति निर्वेदाशङ्का स्यात्, तदभावायाहेत्यर्थः. **अच्युत इतीति**. तथा च हृच्छयाग्निसिञ्चनार्थमेव तथा क्रियते, न तु भगवति निर्वेद इत्यर्थः. **तासामपीति**, अजातस्मरकेलित्वेनाप्रौढात्वादिति भावः ॥४३॥

१. चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्.

दृष्टान्तेन **एणाङ्कः उडुभिः** नक्षत्रैः सह यथा **व्यरोचते**ति. बन्धातिरिक्ताः सर्वा बाह्याएव लीला उक्ताः ॥४३॥

एषा विशेषतः प्रथमलीला बाधककामनिवारिका. द्वितीयलीलाया उद्बोधार्थं पूर्वसामग्रीमाह **उपगीयमान** इति.

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः ।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम् ॥४४॥

ताभि**रुपगीयमानः** निकटे गीयमानः स्वयमप्**युद्गायन्** जातः. ततः **वनिताशतानाम**नेकविधस्त्रीणामनेकविधानेव **यूथान् पाती**ति तथा जातः. यावतीभिर्मिलितो रसहेतुर्भवति तावतीनामेकं यूथम्, एवमनेकरूपाणि कृतानि. तेषामत्र रक्षणं दूरादेवाश्वासनेन च. तदा गायतो गच्छतः रूपमाह

टिप्पणी

न [१]त्वधिकं(संपादनं), प्रयोजनाभावात्, तावतैव श्रोतॄणां कामदोषनिवृत्तिसंभवादुदारहासादिकरणं कुत इत्याशयेन **यद्यपी**त्यादिनाशङ्क्यात्र भगवद्रिरंसाया एवोपक्रान्तत्वात् स्वानुरूपसर्वसामग्रीसम्पादनमावश्यकम्, अतएव **न पूर्णमनोरथ इवौ**दासीन्येनैतत्सन्तोषार्थमेव रमते, तथा सति रमणस्वरूपाभावेनैतत्सन्तोषासम्भवप्रसंगः, **किन्तु लौकिक**नायकवद्विकारयुक्तः –एतज्ज्ञापनायैव मूले दृष्टान्तोऽयमुक्त इति तत्समाधानमाहु**स्तथापी**त्यादिना. कलङ्कवत्त्वोक्त्या प्रकृते विकारभाववत्त्वं सूच्यते. स यथा पूर्णोऽप्यपूर्णो भवति, पुनः क्रमेण पूर्णोऽपि, न तु सदा पूर्णएव, तथात्रापीति ज्ञाप्यत इति भावः. **बन्धातिरिक्ताः सर्वा** इति. स्वामिनीनामुडुस्थानीयत्वात्तेषामेवावरकत्वोक्त्यावरणस्य[२] च बहिः परितः स्थितिनियमेनात्रापि **बाह्याएव लीला उक्ता** भवन्तीत्यर्थः ॥४३॥

योजना

उदारहासद्विजकुन्ददीधितिरित्यस्य विवृतौ **कुन्दत्वं स्नेहस्ये**त्यादेरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **वनिताशतयूथप** इत्यस्य विवृतौ **यूथप**पदतात्पर्यमाहुः **तेषा-मत्र रक्षणं दूरादेवाश्वासनेन चे**ति. दूरादाश्वासनं ललितगतिवल्गुवाक्य-मन्दस्मित-कटाक्षप्रक्षेपादिरूपम्. रक्षणं दूरादपि भवतीति तथोक्तम् ॥४३-४४॥

१. त्वधिकं संपादनम् मू. पा. २. °तेषामावरक° मू. पा.

मालामिति. वैजयन्तीं नवरत्नखचितां स्वाभाविकीमैश्वर्यप्रबोधिकां कीर्तिमयीं **मालां बिभ्रत् वनमेव** सर्वं **मण्डयन्** अलंकुर्वन् **व्यचरत्** लीलागतिं कृतवान्. एषा हि गतिः तासां कामोद्बोधिका. स तासां कामपूरकः एकस्माद् वनात् वनान्तरं वा गत इति ॥४४॥

एवमुद्बुद्धे कामे ताभिः सह बन्धादिभिः रेम इत्याह **नद्या** इति.

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपिभिर्हिमवालुकम् ।
रेमे तत्तरलानन्दिकुमुदामोदवायुना ॥४५॥

नद्याः पुलिनमच्छं कोमल**माविश्य** आसमन्तात् प्रविश्य रमणे बन्धादिभिरतिकोमलं कृत्वा **गोपीभिर**नेकविधाभिः **रेमे. हिमाः** शीतलाः **वालुका** यत्रेति अन्तरूष्मा निवारितः. बहिः शैत्यं चाह **तत्तरलानन्दीति. तस्या** नद्या**स्तरलास्तर**ङ्गाः ताभिः कृत्वा **आनन्द**युक्तं पुलिनमेव. **आनन्दयुक्तो वायुर्वा. कुमुदानां चानन्द**युक्तसुगन्धः. तस्यानन्दजनकत्वेनैव मान्द्यं निरूपितम्,

टिप्पणी

मालामित्यत्र. प्रकरणाद्रसपोषार्थत्वात्सर्वस्य **चरणमपि** तदर्थमेवेत्याशयेनाहुः **एषा हि गतिरिति** ॥४४॥ ॥ इति षड्विंशोध्यायः ॥

प्रकाशः

नद्या इत्यत्र. **रेम** इति, "अरीरमदि"ति पूर्वमुक्तत्वात् तदर्थ एतेन परामृष्टः. **जुष्टमित्यस्य वायुनान्वयः. तत्तरलानन्दी**त्यत्र तरङ्गसम्बन्धसार्वदिकत्वादानन्दे विशेषाभावेनापुष्टार्थत्वमाशंक्य तदर्थमाहुः **ताभिरिति.** तथा च तस्यास्तरला यत्रेति तत्तरलं, तादृशं च तदानन्दि च, तरङ्गाणां पूर्वमपि सत्त्वेनार्थात्ताभिरानन्दीत्यर्थः ॥४५॥

लेखः

बाधककामेति, देहस्थितौ **बाधको** विरहाग्निरूपो यः **कामस्तन्निवारिका** तत्प्रतिबन्धिका अधरामृतेन हृच्छयाग्निसिञ्चनरूपेत्यर्थः. यद्यपि "सिञ्चाङ्ग न" इति श्लोके उक्तिरन्यपूर्वाणामेव, तथाप्युपलक्षणेन सर्वासामेव तथेति ज्ञेयम्. **उपगीयमान** इत्यत्र. **शत**पदस्य देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बन्धमभिप्रेत्य स्त्रीषु यूथेषु चानेकविधत्वं व्याख्यातम् ॥४४॥

नद्या इत्यत्र. **अच्छं कोमलमिति पुलिन**पदस्यार्थः नतु तथा पाठकल्पनम्. **बन्धादिभिरिति**, वालुकाबन्धादिभिरित्यर्थः. **एवं सर्वभावेनेति**,

शैत्यं च कुमुदानां जलसम्बन्धात्. तादृशवायुना सहितं **पुलिनम्.** महाबन्धेषु वायोरप्यपेक्षा. एवं सर्वभावेन तासां जातस्मरकेलित्वं सम्पादितम् ॥४५॥

अतः परं अष्टविधालिङ्गनादिपूर्वकं चेष्टितकामादियुक्तं रसविलासचरित्रमाह **बाहुप्रसारे**ति.

बाहुप्रसार-परिरम्भकरालकोरु-नीवीस्तनालभन-नर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार ॥४६॥

दूरे स्थितामवयवं वा स्प्रष्टुं **बाहुप्रसारणम्.** ततो बलादपि **परिरम्भः.** ततः **करालकोरुनीवीस्तनानामालभनानि. करालभनं** हस्ते ग्रहणं, पुरुषायितलीलासम्बन्धे वा. एवं कचोन्नमनार्थं अलकानां स्पर्शः. ऊरुस्पर्शो बाहुबन्धार्थः. नीवीस्पर्शः पुष्टे रसे मोचनार्थः. स्तनयोस्तु रसोद्गमनार्थः. एवं पञ्चस्पर्शा विहिताः. **नर्म** परिहासवचनानि कामस्तम्भनार्थम्. ततो **नखाग्रपाताः** नखक्षत-दन्तक्षत-ताडनादयः कामयुद्धनिरूपकाः. तत्तत्स्थाने स्थितः कामः तैरुद्बोध्यते, यथा सेनावधे राजा समायाति. **क्ष्वेलिः** क्ष्वेलिका प्रस्तोभनादिः, तत्पूर्वकान्ये**वावलोकनानि. हसितानि** रसस्थापकानि. एवं द्वादशविधोऽपि कामः द्वादशाङ्गेषु स्थितः प्रबुद्धो भवति, तदाह **व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन्नि**ति. संयुक्तः कामो **रतिपतिः,** वियुक्तस्त्वग्निरूपः. एवमाधिदैविकं काममुद्बोधयन् **रमयांचकार** गोपीनां सुखमेव प्रकटितवान्, न तु कामान्तेन विरतिमुत्पादितवान् ॥४६॥

लेखः

बन्धादिप्रकारकरमणेन सर्वथा तथात्वं **सम्पादितं** पूर्वोक्तबाह्यलीलापेक्षयापीत्यर्थः ॥४५॥

बाहुप्रसारेत्यत्र. **पुरुषायितेति**, उच्यते इति शेषः. इयं लीला समबन्धो वात्रोच्यते इत्यर्थः. लीलाद्वये एते स्पर्शा विधीयन्ते इत्याहुः **एवमिति. स्तनयोस्त्विति**. पूर्वमालभतिः स्पर्शमात्रार्थः, अत्र मर्दनार्थोऽपीति तन्मात्रार्थव्यावर्तनाय **तु**शब्दः. **क्ष्वेल्यासहितैरवलोकहसितैरि**त्यन्वयमभिप्रेत्याहुः **तत्पूर्वकान्येवेति. द्वादशाङ्गेष्विति** सङ्ख्यातात्पर्यमुक्तम्. **आधिदैविकमिति**, उपाधिभूत"स्योदारहासे"त्यनेन सम्पादितस्य विकारवत्त्वेऽपि विकाराणामपि स्वरूपात्मकत्वाद्वस्तुत आधिदैविक एवेत्यर्थः. गोपीः **रमयाञ्चकारेति** परस्मैपदेन गोपिकागामिफलमुक्तमित्याशयेनाहुः **गोपीनामिति**. पूर्वश्लोके **रेमे** इतिपदेन

एवं संयोगशृङ्गारमुपपाद्य विप्रयोगमुपपादयितुं तासां मानमाह **एवमिति**.

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धकामा महात्मनः ।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥४७॥

पूर्वोक्तप्रकारेण **भगवतः** सर्वरसदानसमर्थात् **कृष्णात्** सदानन्दात् फलरूपाद् **लब्धकामाः** प्राप्तमनोरथाः सत्यः **आत्मानमेव** पूर्णं **मेनिरे**, न तु भगवन्तं पूर्णं, तेन वा स्वपूर्णताम्. ननु भगवानेवं कथं कृतवान्, न्यूना एव कथं न संरक्षिताः? तत्राह **महात्मन** इति. भगवान् **महानेवात्मा,** न ह्यगाधे जले प्रविष्टो अमग्नो भवति घटो वा अपूर्णो भवति. किञ्च **आत्मानं स्त्रीणां** मध्ये **अभ्यधिकं मेनिरे, भुवि चाभ्यधिकं, भुवि स्त्रीणां** मध्ये वा. अतएव **मानिन्यो**ऽपि जाताः– "न ह्यस्मत्सदृशोऽन्याः सन्ति अतोऽस्मान् यदि प्रार्थयिष्यति तदा रसं दास्याम" इति मानयुक्ता जाताः. भगवद्धर्मास्तासु समागताः, तथा सति "यथा प्रार्थनया पूर्वं भगवान् वशे जातः एवं वयमपि भविष्याम" इति. रसार्थमेवैवं भावो न तु दोषरूपो, भगवद्भावात् ॥४७॥

भगवांस्तु ऐक्येनैव रसं प्रयच्छन् बहिस्तिरोहितो जात इत्याह **तासामिति**.

लेखः

स्वनिष्ठं फलमुक्तमिति भावः. प्रथमश्लोके सामान्यलीलोक्तस्य रमणस्यातिदेशेनात्रापि प्राप्तिसम्भवेन 'हसितानि कृतवानि'त्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि पुनः सर्वान्ते **रमयाञ्चकारे**ति कथनमन्यव्यावृत्तितात्पर्यकमित्याशयेनाहुः **सुखमेवे**ति. व्यावर्त्यमाहुः **नत्वि**ति, लोकन्यायेन **कामान्तेन** हेतुना विरतिः प्राप्ता सा निषिध्यते इत्यर्थः ॥४६॥

एवमित्यत्र. **भगवतः** सकाशा**ल्लब्धकामाः आत्मानं मेनिरे** इति समभिव्याहारात् स्वतएव लब्धकामं मेनिरे इत्यर्थः सम्पन्नस्तमाहुः **आत्मानमेव पूर्णमि**ति. अत्र मानस्य वाक्यार्थत्वादेवं व्याख्यातम्. नहि नायकनैरपेक्ष्यं विना स्त्रीभ्य आधिक्यज्ञानमात्रेण मानो भवतीति भावः. अत एवाग्रिमश्लोके द्वयोरनुवादः ॥४७॥

तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥४८॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥

मानः पूर्णता च न दोषाय, स्त्रीषु भूमौ च यदाधिक्यज्ञानं स दोषो भवति. तदनूद्य तत्परिहारार्थं तिरोहित इत्याह **तासां तत्** प्रसिद्धं पूर्वोक्तं सर्वोत्तमत्वलक्षणं **सौभाग्यमदं वीक्ष्य** तस्य मदस्य **प्रशमाय अन्तरधीयत.** ननु भगवद्रमणेन हि तासामेवं भावः अतः स्वकृत एवेति कथं तिरोधानं कृतवानित्याशङ्क्याह **वीक्ष्य मानं च प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते**ति, मानापनोदनं कर्तव्यं, मानस्त्वान्तरो, अशक्तो हि बहिरपनोदनार्थं यत्नं करोति. **च**कारात् स्वधर्मं च. अतः **प्रसादाय,** प्रथमतस्तासां पश्चात् स्वस्य च, **तत्रैव** गोपिकासु यूथमध्ये वा, अन्तर्धानं प्राप्तवान्. नन्वेतद् द्वयमपि न कर्तव्यम्, उपेक्षिताः कुतो नेति चेत्, तत्राह **केशव** इति. यथा रजोगुणं ब्रह्मणो निवार्य तस्मै मुक्तिं दत्तवान्, यथा वा शिवस्य तमोगुणं निवार्य, एवमेतासामपि मदं मानं च निवार्य मुक्तिं दातुं तथा कृतवानित्यर्थः. कायिकतिरोभावोऽयम्, प्रथमाधिकारित्वाद्गोपीनाम् ॥४८॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां
श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे षड्विंशाध्यायविवरणम् ॥

प्रकाशः

तासामित्यत्र. **पूर्णते**ति भगवद्धर्मरूपा आप्तकामता. "सोऽन्तःकरण-सम्बन्धी"ति कारिकायां पूर्वं सूचितं तिरोभावहेतुं स्मारयन्ति **कायिकतिरो-भावे**त्यादि. अयं कायिकतिरोभावः "कस्य रूपमभूद् द्वेधा तत्कायमभिचक्षत" इति 'काय'पदनिरुक्त्या द्वैधीभावहेतुकाभिध्यानकृतं देहे कायत्वमिति प्रकृते स्वरूपद्वैधीभावं विधाय बाह्यं कायं ताभ्यस्तिरोधापितवान्. तत्र हेतुः **प्रथमाधिकारित्वात्** सर्वात्मभावारम्भकक्षात्मकाधिकारवत्त्वादिति. तथा च सर्वात्मभावारम्भदशायामेवैवं भावो न तु पूर्णदशायां, तदा चैवं बहिस्तिरोभावेन रसात्मनान्तःस्थितिरिति मर्यादाऽनेन बोधितेत्यर्थः ॥४८॥

॥ इति षड्विंशाध्यायसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ॥

लेखः

तासामित्यत्र. सौभगमदं वीक्ष्य प्रशमायान्तरधीयत, मानं च वीक्ष्य प्रसादायान्तरधीयत; तथा च मदस्यैव दोषत्वात् प्रशमनं न तु मानस्य, भगवद्धर्मत्वेनादोषत्वात्. एवं विभज्यान्वयमभिप्रेत्याहुः **मानः पूर्णता चेति.** पूर्णताया मानहेतुत्वान्मूलेऽन्तर्धानहेतुत्वेन स्पष्टं द्वयमेवोक्तमिति भावः. **एवं भाव** इति मद इत्यर्थः. तावदेव न स्थितं किन्तु मानोऽपि जातः, सच रमणप्रतिबन्धकः अतस्तदपनोदनार्थं तिरोधानमावश्यकमित्याशयेनाहुः **मानापनोदनमिति. स्वधर्मं चेति** पूर्णतामित्यर्थः. **प्रसादायेति,** "प्रार्थनया वशे भविष्याम" इति तद्भावस्य विवृतत्वादन्तःप्रविश्य प्रार्थनया बहिःप्रकार-विलक्षणयाऽनिर्वाच्यया तासां वशीकरणार्थमित्यर्थः. **पश्चात्स्वस्येति,** तृतीयाध्यायोक्तप्रार्थनया ताभिः कृतया स्वस्य वशीभावार्थमित्यर्थः. **तत्रैवेत्येवकारेण** यत्र मदमानयोरनुत्पत्तिः तत्र बहिःस्थितिरपीत्याशयेनाहुः **यूथमध्ये वेति,** तादृशयूथे एवान्तर्हितः. तद्विजातीयभावत्वेन यूथबहिर्भूतायास्तु निकटे बहिरपि स्थितः. अतएव "यां गोपीमनयदि"त्यग्रे वक्ष्यत इति भावः. **द्वयमपीति** मदप्रशमनं मानापनोदनं चेत्यर्थः. **प्रथमाधिकारित्वादिति**

योजना

तत्रैवान्तरधीयतेत्यस्य विवृतौ **गोपिकासु यूथमध्ये वेति, गोपिकासु** गोपिकाहृदयेषु लीलासहितस्य प्रभोः क्रीडा सा ह्यलौकिकी लीला. **यूथमध्ये वेति** तु लौकिकप्रकारेण निलीय स्थितिः. एवं पक्षद्वयेऽपि **तत्रैवान्तरधीयतेत्यत्र तत्रपदं** प्रमाणमिति बोद्धव्यम्. किञ्च व्यापिवैकुण्ठे गमनं, लक्ष्म्या सहैव तावत्समयपर्यन्तं रमणमिति तृतीयः पक्षः. तत्र मानं तु चतुर्थाध्याय-सुबोधिनीयोजनायां वक्ष्यते. एवं तिरोधाने त्रयः पक्षाः. **तत्रैवान्तरधीयतेत्यत्र केशवशब्दे कश्च ईशश्च केशौ,** तयोर्वं मोक्षाख्यं सुखं यस्मात् (स!) केशव इति निरुक्तिर्ज्ञेया. **मानं च निवार्य मुक्तिं दातुमिति, मुक्तिशब्देनेह** विप्रयोगानुभव उच्यते, "वासुदेवानुमोदिता" इत्यस्य सुबोधिन्यास्तथाशयाद्, "वासुदेवानुमोदिता" इत्यस्य टिप्पण्यां विप्रलम्भशृङ्गाररसानुभवस्य मोक्षपदार्थत्वेनोक्तत्वाद् इहापि **मुक्तिपदेन** तदेव ग्राह्यम्. तथा च **एतासां मदं मानं च निवार्य** विप्रलम्भशृङ्गाररसानुभवं **दातुं तथा कृतवान्** तिरोधानं

लेखः

तामसत्वादित्यर्थः. तामसानां बहिःप्रकटं स्वरूपमेव मुख्यमिति प्रकरणादौ "लौकिकं तामसे मुख्यमि"त्यनेन निरूपितम्. अत आद्यमहिष्या इव वाचिकतिरोधानेन द्वितीयदलानुभवो न भवति. अतएव "स्वागतमि"त्यादि-वाक्यैस्तथा न सम्पन्नमतः कायिकतिरोभाव इत्यर्थः ॥४८॥ षड्विंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

योजना

कृतवानित्यर्थः. **प्रथमाधिकारित्वादि**ति तामसत्वादित्यर्थः. तथा च गोपीनां तामसत्वात्स्वरूपमात्रनिष्ठत्वेन वाक्तिरोधाने मानसिकतिरोधाने वा नैतासां दुःखमिति न वियोगानुभवः, किन्तु कायिकतिरोधाने एवामूषां दुःखमिति तदैव विरहानुभवो भवेद्, अतो विरहानुभवकारणार्थं स्वरूपतस्तिरोभूत इत्यर्थः ॥४८॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्यवर-श्रीविठ्ठलेश्वर-
चरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामदीक्षितबालकृष्णेन कृता
दशमस्कन्धषड्विंशाध्यायसुबोधिनीयोजना संपूर्णा ॥

॥ इति षड्विंशोऽध्यायः ॥

॥ द्वितीयः स्कन्धादितः सप्तविंशोऽध्यायः ॥

स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता ।
स बाह्यो जनितः पुष्टो यथान्तर्निविशेत्पुनः ॥(१)॥
तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोऽविशत् ।

टिप्पणी

सप्तविंशाध्यायायार्थनिरूपणाय पूर्वाध्यायोक्तान्तर्धानतात्पर्यवर्णने **पुष्टो यथान्तरि**त्यादि. अत्रायं भावः. संगमे ह्यग्रिमाग्रिमरसार्थं नवो नवः प्रयत्नो भाव्यते न तु पूर्वानुभूतो रसः पोष्यते, सर्वेषां तेषां स्वतन्त्रत्वात्. संयोगे यथा यथा रसानुभवाधिक्यं तथा तथा विप्रयोगे दुःखाधिक्यमित्यनुभवसिद्धम्. एवं भावे संस्कारमात्रशेषस्य पूर्वरसस्योपमर्दकाग्रिमसंगमरसाभावेनान्तरेवातिपुष्टो भवति तथा, यथा पूर्वानुभूतलीलास्वरूपात्मका देहेन्द्रियप्राणान्तः-

योजना

श्रीगिरिधारी जयति. सप्तविंशाध्यायार्थोक्तौ **स्वानन्दस्थापनार्थाये**त्यादि. **भगवता** काम**लीला कृता** सा **स्वानन्दस्य** स्वरूपात्मकानन्दस्य व्रजवधूटीषु **स्थापनार्थम्;** स्वानन्दस्थापनार्थरूपो योऽर्थस्तस्मै इति कारिकार्थः. अत्रेदमाकूतम्. लौकिके हि कामजन्यानन्दः समयविशेषावच्छेदेनोत्पद्यते, स्वल्पकालं तिष्ठति, ततो नश्यति च, विकृतत्वात्. प्रकृते तु कामलीलया प्रादुर्भवन्नानन्दोऽपि स्वरूपात्मकएव, स्वरूपस्याविकृतत्वादविकृत एवोद्भवति. अतएव सर्वदैव तिष्ठति, न तु कदाचिदपि नश्यति. तत्र संयोगावस्थायां बहिःप्राकट्यं, विप्रलम्भे त्वंन्तःप्राकट्यम्[१]. एवं प्रकारद्वयेन तिष्ठतीत्याहुः **स्वानन्दस्थापनार्थाये**त्यादिना (१).

कारिकार्थः

सप्तविंशाध्याये **स्वानन्दे**त्यादि. पूर्वाध्यायोक्तान्तर्धानतात्पर्यमाहुः **स्वानन्दस्थापनार्थाये**त्यादिसार्धेन. **भगवता कामलीला स्वानन्दस्थापनार्थाय कृता.** तत्र **बाह्यो** बाह्यप्रकारेण **जनितः स** आनन्दो **यथा अन्तःपुष्टः** सन् देहेन्द्रियादिषु **निविशेत् तदर्थं लीलया सहितो भगवान् तासु अविशत्** प्रविष्टवान् ($१\frac{१}{२}$).

---

१. विप्रलम्भेऽन्तःप्राकट्यम् इति मुद्रितः पाठः. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

चत्वारोऽत्र निरूप्यार्थाः रसासक्तिर्हरेः क्रियाः ॥(२)॥
गर्वाभावश्च तत्रादौ निरूप्यन्ते क्रमात् त्रयः ।

टिप्पणी

करणात्मानो भवन्ति. किमुत. अतएव "असावहमि"त्यादिरूपं ज्ञानं तथैव क्रिया च भवतः. एतदनन्तरं जाते संगमे पूर्वसंगमादधिकरसत्वस्फूर्तिरप्यत एव, अन्यथा संगमत्वाविशेषेण तदनुपपत्तेरिति दिक् (१).

यद्यपि संगमोत्तरकालीनविप्रयोगमात्र एवैतादृशत्वं सम्भवतीति नान्तःप्रवेशापेक्षा तथाप्येतद्विप्रयोगस्यातिविषमत्वेन क्षणमात्रेणैवान्यथाकरण एतद्रसदानं नोपपद्यत इति रसात्मकत्वात्स्वरूपस्य स्वयमेव प्रविष्ट इत्याहु**स्तदर्थं भगवानिति**. **चत्वारोऽत्रेति**, प्रियप्राप्तिसाधनानुष्ठानरूपं तद्रसस्वभावप्राप्तं गुणगानं चतुर्थोऽर्थः. **रसासक्तिरिति**, रसासक्त्यादित्रयमस्मिन्नध्याय उच्यते. एताः हि रसासक्त्यैवान्वेषणपराः, अन्यथा गृहानेव गच्छेयुः. एवं सति यदैव बहिःसंवेदनं तदैवान्वेषणमिति तदुक्त्या रसासक्तिरेवोक्ता भवतीति तथा. अग्रे स्पष्टम् ($२\frac{१}{२}$).

प्रकाशः

सप्तविंशाध्यायं विवरिषवः प्रसङ्गरूपां[१] सङ्गतिं बोधयितुं पूर्वाध्यायार्थं सार्धेनानुवदन्ति **स्वानन्दे**त्यादि. **स** इति आनन्दात्मा रसः. प्रसङ्गताबीजं[२] टिप्पण्यां स्फुटम्. **किमुतेति**, सर्वात्मभावाधिकारेऽतः परं किमवशिष्टम्, अपि तु निरोधात्मनः प्रलयस्य[३] जातत्वेन सर्वात्मभावस्य पूर्णोऽधिकारः सम्पन्न इत्यर्थः. तत्र गमकमाहुः **अत एवे**त्यादि (१).

लेखः

सप्तविंशाध्याये कारिकासु सार्धेन पूर्वाध्यायार्थकथनम्. बाह्याभ्यन्तर-प्रकारेणात्मना लीलोक्तेत्यर्थः. अन्तःपुष्टः सन् देहेन्द्रियादिषु पुनर्निविशेदिति टिप्पण्यर्थः. बाह्यप्रकारेणात्मना लीलायां प्रविष्टोऽपि आन्तरलीलायां पुनरविशदित्यर्थः. **लीलया सहित** इति, अन्तःप्रविष्टस्य भगवत्त्वकथनेन लीलासाहित्यं ज्ञापितम्. **अत्रेति** आन्तरलीलायामित्यर्थः. **गर्वाभाव** इति, गर्वोऽहङ्कारस्तदभावः. स्वरूपपरिग्रहे "असावहमि"त्यादिरूपा कृष्णता

१. एककार्यत्वं तु पञ्चस्वनुस्यूतमिति तदर्थिकाम् – इति लेखकस्य विवरणम्.
२. संगतौ बीजम् इति मुं. वि. पाठः. ३. फलस्य इति मुं. वि. पाठः.

प्रकाशः

सुबोधिन्यां **चत्वारोऽत्रेति अत्रे**त्यनेन रसपोषिका विप्रयोगावस्था परामृश्यते न त्वध्यायः. यद्यपि "गायन्त्य उच्चैरि"त्यत्र गानमप्युद्दिष्टं तथापि लक्षणफलयोरनुक्त्या तत्र 'आदावि'त्यादिपदेन च गानस्य पाश्चात्यत्वं बोध्यते, तेन न विरोधः. यद्वा. उद्देशविचारेण "तद्गुणानेव गायन्त्य" इति समाप्तौ कथनेन चाध्यायएव चत्वारोऽर्थाः, लक्षणादिविचारेणादौ त्रयः. चतुर्थस्तु न लक्षितः, तथाप्युपक्रमोपसंहारयोस्तद्दर्शनादर्थत्रयेऽनुस्यूतः समनन्तराध्यायोक्ततत्प्रकारादेव बोध्यश्चेत्याशयाद्वा न विरोध इति बोध्यम्. **उद्देशत** इति, उद्देशोऽत्र न नाममात्रेण कीर्तनं किन्तु संक्षेपेण कथनम् एकदेशेन कथनं वा, "एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मये"त्यत्र तथा दर्शनाद्व्याख्यानाच्चेति न टिप्पण्यामप्यनुपपत्तिः. अन्वेषणस्य वह्निज्वालावदविनाभूतधर्मत्वात्

योजना

चत्वारोऽत्र निरूप्यार्था इति, **रसासक्तिरे**कोऽर्थः **हरेः क्रिया** द्वितीयोऽर्थः **गर्वाभावश्च** तृतीयः गुणगानं चतुर्थ इति टिप्पण्यां स्वीकृतम्. **उद्देशतो लक्षणतः फलतश्चेति**– अस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः (२-३).

कारिकार्थः

चत्वारोऽत्र निरूप्यार्था इति, चतुर्थोऽर्थो गुणगानमिति विवृतं टिप्पण्याम्. उक्तार्थत्रयनिरूपणे प्रकारविशेषमाहुः **उद्देशत** इत्यादि. आद्यैः त्रिभिः श्लोकैः त्रयाणाम् उद्देशः कृतः. आसक्तेर्लक्षणम् अन्वेषणम्. **हरेः क्रिया** भगवतो लीला, सा च "कस्याश्चित् पूतनायन्त्या"इत्यादिना लक्षणतो निरूपिता. गर्वाभावलक्षणं च "अनयाराधितो नूनम्" इत्यनेनोक्तं सपत्नीभाग्याभिनन्दनम्. अन्वेषणफलं च "व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः" इत्यत्रोक्तं पददर्शनम्. लीलावेशफलं च प्रियाधीनत्वदर्शनेऽपि प्रिये दोषारोपाभावपूर्वको "रेमे तया चात्मरत" इत्यादिनोक्तो भावः. गर्वाभावफलम् इतरविस्मृतिपूर्वकं तत्प्राप्त्यर्थैकप्रयत्नः. स च "ततोऽविशन् वनं चन्द्र ज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते" इत्यादिनोक्तः. गुणगानं तु विशेषतोऽग्रिमाध्याये उक्तम्, अत्राध्यायेऽपि "पुनः पुलिनमाविश्य" इत्यनेन सामान्यतः उक्तमिति कारिकायां **च**कारेण सूचितम्. एवं आसक्ति-हरिलीला-गर्वाभाव-गुणगानात्मका**श्चत्वारोऽर्था अत्र** तिरोधानलीलायां **निरूप्या** इत्युक्तम् (२-३).

उद्देशतो लक्षणतः फलतश्च यथायथम् ॥(३)॥
सप्तविंशे तिरोधानाल्लीलान्वेषणतत्पराः ।
रसमन्तर्गतं चक्रुर्गोपिका इति रूप्यते ॥(४)॥

पूर्वाध्यायान्ते भगवतस्तिरोभाव उक्तः. ततस्तदनन्तरं प्रथमतः तासां रसासक्तचित्तानामापाततो महांस्तापो जात इत्याह **अन्तर्हिते भगवतीति**.

टिप्पणी

उक्तार्थत्रयनिरूपणे प्रकारविशेषमाहुः **उद्देशत** इत्यादि. आद्यैस्त्रिभिस्त्रयाणामुद्देशः कृतः. अन्वेषणं रसासक्तेर्लक्षणमसाधारणो धर्मोऽनुमापक इति यावत्. लीलाया एतदन्तःस्थित्यनुमापक एतासु तदाविर्भावः. गर्वाभावज्ञापकं सपत्नीभाग्याभिनन्दनादिकम्. अन्वेषणफलं च पददर्शनम्. लीलावेशफलं प्रियाधीनत्व-स्वानधीनत्वदर्शनेऽपि प्रिये दोषारोपाभावपूर्वको "रेमे तया चे"त्यादिनोक्तो भावः. गर्वाभावफलमितरविस्मृतिपूर्वकं तत्प्राप्त्यर्थैकः प्रयत्नः[१] (३).

प्रकाशः

पददर्शनस्य तत्फलत्वेऽपि रसासक्तिफलत्वं न विरुध्यत इति बोध्यम्, आद्ये नायकदर्शनाभावजतापरूपेण रसासक्तेः कथनात्, द्वितीये "तास्ता" इति संक्षेपेण "रमापतेर्विचेष्टा" इत्येकदेशेन च लीलाकथनात्, तृतीये च "तदात्मिका" इति भगवदात्मकत्वकथनेनैकदेशतो गर्वाभावस्य कथनात् (२-३).

एवमर्थत्रयनिरूपणे प्रतिपाद्याननुगमादध्यायार्थमाहुः **सप्तविंश** इत्यादि. तथा च त्रिभिरप्यत्र रसान्तर्गतिकरणमेव प्रतिपाद्यते इति त्रितयनिरूपणेऽपि नाननुगम इत्यर्थः (४).

लेखः

स्फुरति नत्वहन्तेति भावः. **आदाविति** अस्मिन्नध्याये इत्यर्थः. **लीलेति**, **लीलायां अन्वेषणे** च **तत्परा** इत्यर्थः. भगवदावेशस्तु स्वतएव जायते इत्येतत्सम्पाद्यत्वेन द्वयमेवोक्तम्. **अन्तर्गतमिति**. भगवत्कर्तृका आन्तरलीला पूर्वमुक्ता, स्वामिनीकर्तृकास्मिन्नध्याये उच्यते इति विभेदः (१-४).

कारिकार्थः

लीलान्वेषणतत्परा इति, लीलायाम् अन्वेषणे च तत्परा इत्यर्थः. **रसमन्तर्गतं चक्रुरिति** बहिस्तिरोधानादित्यर्थः (४).

---

१. तत्प्राप्त्यर्थैकप्रयत्नः मू. पा.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः ।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥१॥

भगवति अन्तःप्रविष्टे षड्गुणैश्वर्यसहिते यावदन्तरनुसंधानं न कृतवत्यः तावत् **सहसैव** अकस्मा**दतप्यन्.** अन्तर्विचाराभावे हेतुः **व्रजाङ्गना** इति. तापे हेतुः **तमचक्षाणा** इति. तापः सहजएव स्थितः कामात्मा तद्दर्शनस्पर्शादिभिः शान्तो भवति. यदा पुनः पूर्वसिद्धं बहिर्दर्शनं न जातं तदा तत्ताप उचितएव. तासां स्पर्शएव मुख्य इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **करिण्य इवेति. यूथपो** महामत्तगजः. "रतिं गज एव जानाती"ति वात्स्यायनः. "रत्यां विमर्दे गज" इति विवृतश्च. सन्ति च सिंहाः, तथात्र कालः. अतः करिणीनां यूथपादर्शने महानेव क्लेशः ॥१॥

टिप्पणी

करिण्य इवेत्यत्र तथात्र काल इति, अवतारसम्पूर्तिकाल इत्यर्थः ॥१॥

प्रकाशः

अन्तर्हित इत्यस्याभासे **तत** इति विस्तृत इत्यर्थः ॥१॥

लेखः

तत इति तिरोभावाद्धेतोरित्यर्थः. एतेन तापे हेतुर्भगवन्निष्ठो निरूपितः. एतन्निष्ठं हेतुमाहुः **रसासक्तचित्तानामिति**. रसासक्तिर्हेतुरित्यर्थः. मूलेऽयं हेतुरर्थापत्त्या ज्ञेयः. तर्हि लक्षणतो निरूपणमेव रसासक्तेः सिद्धमिति उद्देशतो निरूपणमुक्तं विरुध्येतेत्यत आहुः **आपातत** इति. अचिरस्थायित्वादुद्देशत इत्युक्तमित्यर्थः. अग्रिमश्लोकेऽप्येवमेव ज्ञेयम्. **जात** इति, **महान् जात** उद्बुद्धो जात इत्यर्थः. नन्वन्तर्लीलाविशिष्टभगवत्प्रवेशे कथमुद्बोधः सम्भवतीत्यत आहुः **यावदिति. व्रजाङ्गना इतीति.** एतासां बहिःप्रकटमेव रूपं मुख्यमित्यन्तर्विचारो नास्ति येनान्तःस्थित्या तापोद्बोधः प्रतिबध्येतेत्यर्थः. **तापे हेतुरिति** उपपाद्यते इति शेषः. **अन्तर्हिते भगवतीत्य**नेनोक्तस्तिरोभावरूपो हेतुः **तमचक्षाणा** इति पदेनोपपाद्यते इत्यर्थः. **तापः सहज** इति. तथाच तिरोभावस्य प्रतिबन्धाभावत्वेनैव कारणत्वम्, अभावस्य साक्षात्कारणताऽसम्भवादित्यर्थः. **दर्शनस्पर्शनादिभिरि**ति, लीलया शान्तिर्भवति अतएवाग्रिमश्लोके तथा वक्ष्यते इत्यर्थः ॥१॥

यदा पुनः स तापः अन्तःप्रवेष्टुमैच्छत् तावता भगवल्लीला अन्तःप्रविष्टा तापं दूरीकृत्य स्वयमेवाविर्भूतेत्याह **गत्येति**.

गत्यानुराग-स्मितविभ्रमेक्षितै-र्मनोरमालाप-विहार-विभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥२॥

ता भगवदीयैः कायवाङ्मनोभिः वशीकृताः तद्भावमापन्नाः **तास्ता** एव **भगवच्चेष्टा जगृहुः**. प्रथमतः कायिकीमाह **गत्या** कायचेष्टया वशीकृताः. तत इन्द्रियसहितमनश्चेष्टया वशीकृता जाता इत्याह **अनुरागे**ति. **अनुरागः** स्नेहो मानसः, तत्पूर्वकं **स्मितं**, तस्य विलासः स्वनिष्ठतात्याजनार्थः.

लेखः

शान्तिरपि यावत्कारणमेव तिष्ठतीति भावेनाहुः **यदा पुनरिति**. **अन्तः प्रवेष्टुमैच्छदिति**, स्वप्रौढ्या अन्तः विचारमपि सम्पाद्य तत्र स्थिते स्वरूपलीले चोपमर्द्यान्तिरप्युद्बुद्धो भवितुमैच्छदित्यर्थः. तत्तु विपरीतं जातमित्याहुः **तावतेति**, **भगवत्सहभावेनान्तःप्रविष्टोक्ता** या **लीला** सा **तावता** बहिःस्थितमपि **तापं दूरीकृत्य** बहिरपि **स्वयमेवाविर्भूता** बहिस्तापोऽपि शान्त इत्यर्थः. सूर्योदयात्पूर्वं तदनुभावेनैव तमोनिवृत्तिरिव तापनिवृत्तिरिति सूचयितुं **दूरीकृत्याविर्भूतेत्**युक्तम्. व्याख्याने, **भगवदीयैरिति**, एतैः पूर्वमेवाक्षिप्त-चित्ता वशीकृता इति चेष्टाग्रहणे हेतुः. **तद्भावमिति** भगवद्भावमित्यर्थः; **तदात्मिका** इत्यस्यार्थोऽयम्. **तास्ता एवेति**, भगवदीयकायवाङ्मनश्चेष्टा इत्यर्थः. कटाक्षाणामैन्द्रियकत्वेऽपि भावोद्बोधकत्वाद् भावप्राधान्यात् मनश्चेष्टात्वमित्यभिप्रेत्य मनसः प्राधान्यमाहुः **इन्द्रियसहितमनश्चेष्टये**ति. **तस्य विलास** इति, साहित्यस्य व्याख्यास्यमानत्वादत्रापि सम्बन्धमात्रविवक्षायां साहित्यमेव षष्ठ्यर्थो ज्ञेयः. स्मितसहितो विलासः ईक्षितानामिति शेषः.

योजना

सन्ति च सिंहा इति. बहवः सिंहाः सन्ति, अतो गजमचक्षाणाः सिंहभयात् करिण्यस्त्रसन्तीत्यर्थः. **तथात्र काल** इति अवतारसमाप्तिकाल इत्यर्थ इति श्रीमट्टिप्पणीकाराः ॥१॥

गत्यानुरागेत्यस्याभासे **यदा पुनस्तापः अन्तःप्रवेष्टुमैच्छदिति**, तापस्य भगवद्रूपात्मकत्वेन सच्चिदानन्दरूपत्वा**त्प्रवेष्टुमैच्छदिति** चेतनः धर्मः सम्भवति. **तस्य विलासः स्वनिष्ठतात्याजनार्थमिति**. स्मितस्य विलासो भक्तानां

अन्यथैवं सति ज्ञानमेवोदयं प्राप्नुयात्. अतः **स्मितेन** मन्दहासेन ईषद्विमोहिताः— न बहिर्गताः नान्तःस्थिताः किन्तु भगवति मध्ये स्फुरिते तद्धर्मेषु च समागताः. **अनुरागस्मितेन** सहितो यो **विभ्रमो** विलासः अलसवलितादिः

टिप्पणी

गत्यानुरागेत्यत्र अतः स्मितेन मन्दहासेनेति, अन्यथा प्रकृष्टोदारहासस्यैव पूर्वमुक्तत्वादधुना स्मितं न वदेदिति भावः ॥२॥

प्रकाशः

गत्यानुरागेत्यत्र अन्यथैवं सतीत्यादि, स्मिताभावपूर्वकमीक्षणे सति ईक्षणस्य ज्ञानात्मकत्वात्तथा स्यादित्यर्थः. **तद्धर्मेषु चेत्यत्र चो**ऽवधारणे, तेन धर्मेष्वेव समागता इत्यर्थः. स्मितस्य मोहकत्वात्तैकस्वनिष्ठतात्याजनसम्भवे **तद्विलासस्य** नात्यन्तमुपयोग इत्याकांक्षायां तत्तात्पर्यमाहुः **अनुरागेत्यादि.** तथा च कटाक्षेषु तस्योपयोगात्तदुक्तिरित्यर्थः ॥२॥

लेखः

अन्यथेति, स्मितेन स्वरूपनिष्ठतात्याजनाभावे रसानुभवएव स्यादित्यर्थः. अयं **ज्ञान**पदार्थोऽग्रिमाध्याये टिप्पण्यां वक्ष्यते. **अत** इति, स्वनिष्ठतायां ज्ञानोदयस्य प्राप्तत्वादित्यर्थः. ईषन्मोहनकार्यमाहुः **न बहिरिति.** न धर्ममात्रनिष्ठाः नापि स्वरूपमात्रनिष्ठाः **किन्तु भगवति धर्मेषु चो**भयत्र **समागताः** उभयनिष्ठा जाताः. स्वरूपान्तर्गतैरेव धर्मैश्रिताक्षेपो जातो, नतु मर्यादामार्गीयैः स्वरूपमात्रेण वा. तथा च पूर्वोक्ता स्वनिष्ठता निवृत्तैवेति भावः. विभ्रमः कटाक्षभेदस्तद्युक्तानि दर्शनानि कटाक्षा इत्यर्थः. **विभ्रम**पदस्य

योजना

भगवद्भजननिष्ठतां त्याजयति, स्मितस्य मायारूपत्वात्. भजननिष्ठां त्याजयित्वा केवलं प्रमदाभावसम्पादनेन मानादिकमुत्पादयतीति भावः. **न बहिर्गता नान्तःस्थिता** इति. बहिरनुसंधाने केवलं विरहज्ञानात् क्लेशमेव प्राप्नुयुः, अन्तःस्थितौ तु लीलासहितस्य भगवतः स्वहृदि प्रवेशज्ञानात्केवलं सुखमेव प्राप्नुयुः. एतास्तु क्षणक्षणविलक्षणभावाः विरहज्ञाने दुःखं पुरुषोत्तमान्तःसम्बन्धेन सुखं च प्राप्नुवन्तीति न सर्वथा बहिःस्फूर्तिः, न वा सर्वथान्तर्निष्ठतेति ज्ञेयम्. **भगवति मध्ये स्फुरित** इति, बाह्यानुसंधानान्तर्निष्ठयोरुद्धवितुमुत्सुकयोर्मध्ये हृदये भगवान् **स्फुरित**स्तद्धर्मान् स्वयं कृतवत्य

तत्सहितानी**क्षितानि** सर्वएव कटाक्षाः. वाचिकैरपि विमोहमाह **मनोरमालापे**ति. मनो रमयतीति मनसि रमते इति वा **मनोरमः** योऽयम**आलापः** भगवतो गुह्यभाषणानि. केवलवाक्यस्य चित्ताक्षेपकत्वं **न** भविष्यतीति प्रामाण्यावधारणं स्त्रीणां प्रकारान्तरेण न भवतीति फलमेवादौ निरूपितम्. सुखार्थं हि भगवद्वाक्यानि तदानीमेव च सुखमुत्पादयन्ति. ते चालापाः क्वचिद्बन्धादिबोधका लीलोपयोगिन इत्याह **विहार** इति. तत्रापि विलासाः अवान्तरभेदाः, यथोत्तानके ग्राम्यादयः. तैः पूर्वकृतैः तमःसत्त्वरजोरूपैः त्रिविधमपि चित्तमाक्षिप्तमिति **आक्षिप्तचित्ता** जाताः. अतस्तापं न प्राप्तवत्य इति भावः. **प्रमदा** इति. [१](बाह्याभ्यन्तराननुसन्धाने हेतुभूतोऽत्युत्कटरसभावोऽत्र **मद**पदेनोच्यते. तेन प्रभुलीलाविष्करणं युक्तमिति भावः. किञ्च) **प्रमदाः** प्रकृष्टो मदो यासां स्वभावतएव, अन्यथा दास्यभावान्न प्रच्युताः स्युः. तदा केवलभगवतः लीला स्वानुपयोगिनी साम्प्रतं च नानुभूतेति **रमापते**र्लक्ष्मीपतेः लक्ष्म्या सह विलासरूपां **चेष्टां जगृहुः**. एकस्या अपि बह्वयश्चेष्टा इति **तास्ता** उक्ताः. नन्वीश्वरधर्माविष्करणं दासीनां निषिद्धमिति चेत्, तत्राह **तदात्मिका** इति, भगवानेवात्मनि यासां तथात्वेन स्फुरितः. अतो भगवल्लीलाग्रहणं ताप-

लेखः

तात्पर्यमाहुः **सर्व** इति. **प्रामाण्यावधारणमिति**, "त्वं मत्प्राणप्रिये"त्यादिवाक्यानां **प्रामाण्यावधारणं** तदैव सुखानुभवाभावे **न भवती**त्यर्थः. **ते चालापा** इति, तथा **चालाप**सहितै**र्विहारविभ्रमै**रित्यर्थः. आभासे **स्वयमेवेत्येव**कारेणोक्तं तापाप्राप्तिमुपसंहरन्ति **अतस्तापमि**ति, गत्यादिना चित्ताक्षेपादित्यर्थः. **किञ्चे**ति, चित्ताक्षेपात् प्रमदाः स्वभावतश्च प्रमदा इति समुच्चयः. **केवले**ति, गोचारणादिलीलेत्यर्थः. **साम्प्रतं चे**ति, अव्यवहितपूर्वकालमेता एवानुभूताः. रमायां या लीलाः करोति ताः शृङ्गारप्रकारिका इत्यर्थः. व्याख्याने, **चेष्टामि**ति जात्यपेक्षयैकवचनम्. **तथात्वेने**ति लीलाकर्तृत्वेनेत्यर्थः. **उद्देशत** इति शृङ्गारमात्रलीलाग्रहणमित्यर्थः ॥२॥

योजना

इत्यर्थः. **यथोत्तानके ग्राम्यादय** इति, बन्धविशेषे ग्राम्यादयो यथा विलासं प्राप्नुवन्ति तद्वदित्यर्थः ॥२॥

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्.

निवारकत्वेनोद्देशत उक्तम्. विस्तरमग्रे वक्ष्यति. क्रमहेतुत्वं च वक्ष्यामः ॥२॥

ततो भगवतः स्वरूपपरिग्रहो जात इत्याह **गतिस्मितेति**.

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥३॥

धर्माश्चेत् स्वस्मिन् समागताः तदैकत्रोभयधर्मा विरुद्धा इति भगवति स्वधर्मानारोपितवत्यः. कायवाङ्मनसां दृष्टेश्च चत्वारः प्रधानधर्माः. तेषु सर्वेष्वेव **प्रतिरूढा मूर्तिर्यासां**, भगवद्धर्मेषु स्वमूर्तिरारोपिता, अन्यथा

टिप्पणी

गतिस्मितेत्यत्र भगवति स्वधर्मानिति, स्वगतौ प्रियगतिभावना जातेति तथा. **भगवद्धर्मेष्विति**, भगवत एतासां च मिथो वैलक्षण्यं गत्यादिषु सहजम्. अधुना तु भगवद्वत्यादिवदेव गत्यादि, संस्थानविशेषोऽपि तथा, न तु प्राग्वत्. तथा च तद्भावापन्ना मूर्तिर्जातेत्यर्थः ॥३॥

लेखः

गतिस्मितेत्यस्याभासे तत इति, धर्मग्रहणानन्तरं **स्वरूपपरिग्रहो जात इति** हेतोः "असौ कृष्ण" इति ज्ञान**माहेत्यर्थः**. स्वरूपपरिग्रहं विवृण्वन्तो भगवत्येतद्धर्मारोपणमुपपादयन्ति **धर्माश्चेदिति**. **स्वस्मिन् समागताः** सङ्गताः स्वमूर्तेस्तत्रारोपात् स्वसम्बद्धा इत्यर्थः. **एकत्रेति**, एकमूर्तौ उभयधर्मा विरुद्धा इत्यर्थः. तथा च मूले धर्मेषु स्वमूर्त्यारोपकथनेन भगवन्मूर्तौ स्वधर्मारोपोऽप्युक्त इति भावः. **भगवतीति**– एतेन भगवन्मूर्तौ स्वधर्मारोप उक्तः. तथाच स्वयं तथा कुर्वन्तीनामपि प्रियएव नायिकावत् करोतीति भावनमिति भावः. भगवद्धर्मेषु स्वमूर्त्यारोपमाहुः **कायेति**. तथा च भगवन्मूर्तौ भगवद्धर्मेषु च

योजना

गतिस्मितेत्यत्र. **स्वधर्मानारोपितवत्य** इति, "स्वगतौ प्रियभावना जाते"त्यादिना टिप्पण्यां स्फुट एतदर्थः. **भगवद्धर्मेषु स्वमूर्तिरारोपितेति**. भगवद्धर्मस्य रमणस्यानुकरणं कुर्वाणाः भगवानेव रमते इति मन्यमानाः पुनः पुनस्तथैव रमन्त इति **भगवद्धर्मे** रमणे **स्वमूर्तेः**[१] स्वदेह**स्यारोपणं** तदेकपरतेति यावत्. तादृगेव रमणं कुर्वन्त्यः स्थिता इति हार्दम् ॥३॥

---

१. स्वमूर्तिः इति मुं. वि. पाठः.

अन्योऽन्यधर्माभिनिवेशाभावे सम्यक् विलासो न स्यात्. तदाह **गतिः** कायिकी, **स्मितं** मानसं, **प्रेक्षणमैन्द्रियकं**, **भाषणं** वाचिकं, **तदादयो** यावन्तो विभ्रमाः बन्धादयः रतिरूपाएव. तेषु सर्वेष्वेव **प्रियस्य** सम्बन्धिषु स्वयं **प्रियाः** भोगावस्थामेव प्राप्ताः विपरीता जाताः. "रसाधिक्ये स्त्रियः पुरुषत्वमापद्यन्त" इति वात्स्यायनः. अतएव स्वयं प्रियायोग्याः **प्रतिरूढा** विपरीततया आरूढा **मूर्तयः** स्वरूपाणि यासामिति. तत्र यासां भगवानल्पव्यवहितः पूर्वमासीत् ताभिर्भगवत्प्रश्ने कृते अन्तर्हिताज्ञानात् तत्रोत्तरवक्त्र्यो भवन्ति "**असौ** कृष्णः" "**अहं** कृष्ण" इति. अथवा "योऽन्विष्यते सोऽसावहमि"ति. अन्यासां प्रतीत्यर्थं नटः कपटवेषं कृत्वापि वदति क्रीडायां, तथा न किन्तु स्वतएवेत्याह **अबला** इति. **अबलाः** स्त्रियः भगवद्रूपाविष्कारे च बलरहिताः. स्पष्टवैलक्षण्यं च स्त्रीपुरुषयोः. तथा कथने प्रतारकत्वमालक्ष्याह **तदात्मिका** इति. न केवलं धर्म्यापत्तिः किन्तु तद्धर्माणामपीत्याह **कृष्णवद् विहारः** कायवाङ्मनोव्यापारः **विभ्रमाः** तत्रत्या विलासाः यासाम् ॥३॥

प्रकाशः

गतिस्मितेत्यत्र तदात्मकत्वे **असाविति** प्रयोगो न युज्यत इत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः **अथवेति** ॥३॥

लेखः

स्वधर्माणां स्वमूर्तेश्चारोपः स्वरूपपरिग्रह इत्यर्थः. अत्र स्वयं नायकवत् कुर्वन्तीनामपि प्रियः स्वयमेवैवं करोतीति भावनं तथा च स्वत्वं नास्त्येवेति भावः. पूर्वश्लोके स्वस्मिन् लीलावेशः तथा च स्वभानं स्थितमिति विभेदः. **अन्योन्येति**, स्वगतौ प्रियगतित्वं प्रियगतौ स्वगतित्वमित्यर्थः. **विपरीततयेति**, भगवद्धर्मेषु स्वमूर्त्यारोपे[१] भगवानिव कुर्वन्त्यो जाता इत्यर्थः. तथापि प्रिय एवैवं करोति, स्वत्वभावनं तु नेति ज्ञेयम्. **धर्म्यापत्तिरिति**, भगवद्धर्मेषु स्वमूर्त्यारोपणे स्वस्य भगवत्त्वमेव सम्पन्नमिति भावः. **तद्धर्माणामिति**. स्वधर्माणां भगवत्यारोपणे तेषां भगवद्धर्मत्वं सम्पन्नं– स्वगतिः प्रियगतिरेवेति. अतस्तद्वदेव विहारादिरिति भावः ॥३॥

---

१. स्वमूर्त्यारोपेण स्वस्य इति जो. पाठः.

एवं ताप-लीला-भगवताम् उद्देशतस्तासु सम्बन्धमुक्त्वा प्रथमं तापनिवृत्त्यर्थं अन्वेषणं कृतवत्य इत्याह. गुणानामिव त्रयाणामेषामन्योन्योपमर्दनेन भगवदिच्छयाविर्भाव इति न परस्परकार्यप्रतिबन्धकता आपाततः. अतो यदा प्रपञ्चसम्वेदनं तदा पृष्टवत्य इत्याह **गायन्त्य** इति. प्रथमतो मिश्रभावात् गायन्त्यो जाताः.

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥४॥

टिप्पणी

गायन्त्य उच्चैरित्यत्र प्रथमतो मिश्रभावादिति. सुप्तप्रबुद्धन्यायेन बहिःसंवेदनासंवेदनाभ्यां संगमविरहविषयक-समूहालम्बनज्ञानं जनितमिति तथेत्यर्थः.

ननु प्रभोरानन्दरूपत्वेन तद्भावेषु सत्सु सदानन्द एवोचितो न तु वक्ष्यमाणावस्थेत्याशङ्काभावाय तस्याः स्वरूपमाहुः **शब्दो हि धूमवदिति.** अत्रेदमाकूतम्. एतावत्कालपर्यन्तं भगवता स्वरूपानन्दो न प्रकटितः, तस्य स्वरूपात्मकत्वेन तत्प्राकट्यं विना तदनुभवासम्भवात्, "तथा परमहंसानामि"ति वाक्यात्. यादृशेन भक्तियोगेन तत्प्राप्तिस्तादृक्तत्प्रकटनायाधुनैव पुरुषोत्तमावतारात् प्रभुप्राकट्यानर्थक्यापत्तिभिया श्रुत्याद्युक्तसाधनसाध्यत्वं स्वरूपानन्दस्यैतत्साधनभक्तियोगस्य च न वक्तुं शक्यम्. अतएव [1]कुन्तीभिः पूर्णसाधनवतामप्ययं दुर्लभ इति ज्ञापनायैवाधिकारिविशेषणान्युक्तानि. एवं सति स्वरूपस्य रसात्मकत्वेन अत्रत्या भावाः सर्वे रसात्मका एवेति मन्तव्यम्, अन्यथैतच्छ्रवणमात्रेणापि स्नेहोत्पत्तिर्न स्यात्. एवं सति तद्वार्तानभिज्ञस्य तवेयमाशङ्का कण्टकवेधदृष्टान्तेन कामिनीकुचकुम्भे नखवेधस्यापि दुःखहेतुत्व-

प्रकाशः

गायन्त्य इत्यत्र **एवमित्यादि**, अनेन प्रकारेण तापाद्युद्देशाद्रसासक्त्यादिसम्बन्धमुक्त्वेत्यर्थः.

टिप्पण्याम् **एतावत्कालपर्यन्तमिति**, सृष्टिमारभ्य कृष्णावतारकालपर्यन्तमित्यर्थः. **अधुनेत्यनेना**"प्यथ सर्वगुणोपेत" इत्युक्तएव कालः परामृश्यते

१. तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगवितानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥ – भा. १।८।२०.

शब्दो हि धूमवल्लोके बाह्याभ्यन्तरयोगतः ।
विराजते विनिर्गच्छन् तारतम्यं च गच्छति ॥(५)॥

टिप्पणी

साधनमनुहरतीत्यलमुक्त्या. एवं सति तापकत्वेन विरहोऽग्निरेव. स यथार्द्रेन्धननिष्ठमग्निं स्वयं तत्संयुक्तः प्रकटीकुर्वन्नार्द्रत्वेन प्रतिबन्धात्तत्रासमर्थो धूममेव जनयति, तथायमप्यग्निरापाततो बहिःसंवेदनेन न सर्वात्मना [१]तिरोधानास्फूर्तिरिति तज्जनितत्वेन तादृशएव जातः. बहिःसंवेदनाभावे तिरोधानास्फूर्तिरिति यावानंशस्तस्य तावान्सोऽत्रार्द्रत्वस्थानीयः. अन्यथैकदैव पूर्णतत्प्राकट्ये क्षणमात्रेण सर्वं भस्मसात्कुर्यादिव. तथा सत्यस्याग्नेर्धूमो गानरूपः शब्दएव. एवं सत्यर्धज्वलितदारुतुल्यता सिध्यति. तदेतदुक्तं **बाह्याभ्यन्तरयोगत** इत्यनेन. यथा स पूर्वमेकरूपएव भवति ततोऽनेकधा, तथोत्तरोत्तरं विचित्रभावजननाद् गानमपि विचित्रं भवतीत्याहुः **विराजत** इति. यथाऽगर्वादिधूमस्य निर्गच्छतः शोभा तथास्यापि शब्दस्य गानरूपत्वमिति ज्ञापनाय **विराजत** इत्युक्तम् (५).

योजना

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता इत्यत्र. **प्रथमतो मिश्रभावादिति शब्दो हि धूमवल्लोक** इत्यादयः सार्धास्तिस्रः कारिकाः —एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः (५-७).

कारिकार्थः

गायन्त्य उच्चैरित्यत्र शब्दो हीत्यादि. एतदर्थः टिप्पण्यां विस्तरेणोक्तः, तत एवात्र संगृह्यन्ते. ननु प्रभोरानन्दरूपत्वेन तद्भावेषु सत्सु सदानन्दएव उचितो न तु वक्ष्यमाणदुःखावस्थेत्याशंकाभावाय तस्यावस्थायाः स्वरूपमाहुः **शब्दो हि धूमवदिति**. एवं सति स्वरूपस्य रसात्मकत्वेन अत्रत्या भावाः सर्वे रसात्मकाएवेति मन्तव्यम्. भक्तानां गुणगानात्मकः **शब्दो हि** अगरुप्रभृतिधूमवत् **विनिर्गच्छन्** सन् **विराजते तारतम्यं** प्रतिक्षणं वैचित्र्यं **च गच्छति.** अत्र तापकत्वेन विरहोऽग्निरेव. अग्निर्यथार्द्रेन्धनसंयुक्तः सन् तन्निष्ठमग्निं प्रकटीकुर्वन् आर्द्रत्वेन प्रतिबन्धाद् अग्निप्रकटनेऽसमर्थो धूममेव जनयति, तथा अत्रापि बहिःसंवेदने सति सर्वथा तिरोधानस्फूर्तिरिति बहिः-

१. तिरोधानस्फूर्तिरिति मू. पा.

अतोऽत्र धर्मिधर्माणामाधिक्याज्ज्ञानमुत्तमम् ।
यथा भगवतो गानात् स्वयमागत्य संगताः ॥(६)॥

टिप्पणी

अतोऽत्रेति, यतो हेतोर्भगवान् रसात्मकः, तदात्मकाएव च भावाः, **अतो** हेतोरखण्डाद्वैतभानादिदं स्वामिनीनां **ज्ञानमुत्तममि**त्यर्थः. एतदेव स्फुटयन्ति **धर्मिधर्माणामि**ति. एते भावाः स्थायिभावस्य व्यभिचारिभावा इति **धर्मिणः** श्रीकृष्णस्य **तद्धर्माणां** विहारादीनां जीवतद्धर्मापेक्षयोत्कृष्टत्वात् तथेत्यर्थः. उक्तज्ञाने जीवतद्धर्मयोरेव सत्त्वात्तदपेक्षयैतयोर्न्यूनत्वादिति भावः. अथवा. यथा प्रियवद्विहारादिस्तथैवेदं गानमपीत्याहुः **यथा भगवत** इति. प्रीतिविषयाणामाकारणं भगवद्धर्मः सोऽत्रोक्तः. अतएव तदा स्वागमनवदधुना न प्रभोरागमनं, तस्य स्वधर्मत्वात्. भगवान् कौतुकार्थमत्रैव कुत्रचिल्लीनोऽस्ति रसपरवशश्च, अतोऽस्मद्गानेनागमिष्यतीति ज्ञात्वा जगुरित्यर्थः. अस्मिन् पक्षे

प्रकाशः

इति ज्ञेयम्. **तज्जनितत्वेने**ति बहिःसंवेदनजनितत्वेन. **उक्तज्ञाने** इत्यादि "कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानमि"ति वाक्यादखण्डाद्वैतभानं जीवधर्मः, जीवश्च चित्प्रधानः. प्रकृतं तु ज्ञानं वरणैकलभ्यं, स्वामिन्यश्च भगवत्पराः, विषयश्च पूर्वोक्त इति तथेत्यर्थः (५-७ $\frac{1}{2}$).

कारिकार्थः

संवेदनमेव आर्द्रत्वस्थानीयम्. तस्मिन् सति विरहाग्निरपि गानरूपं धूममेव जनयति. एवं सति असावाग्नेः धूमो गानरूपः शब्दएव. एवं सति अर्धज्वलितदारुतुल्यता सिद्ध्यति, अन्यथा एकदैव पूर्णतत्प्राकट्ये क्षणमात्रे सर्वं भस्मसात् कुर्यादिव. यथा धूमः पूर्वम् एकरूपएव भवति ततोऽनेकविधः तथा गानमपि उत्तरोत्तरं विचित्रभावजननात् विचित्रं भवति इत्युक्तं **विराजत** इति (५).

अतोऽत्रेति, यतो हेतोः भगवान् रसात्मकः तदात्मकाएव च भावाः **अतो** हेतोः अखण्डाद्वैतभानाद् इदं स्वामिनीनां **ज्ञानम् उत्तममि**त्यर्थः. एतदेव स्फुटयन्ति **धर्मिधर्माणामि**ति. एते भावाः स्थायिभावस्य व्यभिचारिभावाः इति **धर्मिणः** श्रीकृष्णस्य **तद्धर्माणां** "गतिस्मिते"ति श्लोकोक्तविहारादीनां च जीवधर्मापेक्षया उत्कृष्टत्वाद् "असावहमि"ति स्वामिनीज्ञानमुत्तममित्यर्थः. अथवा यथा प्रियवद्विहारादिः तथैवेदं गानमपीत्याहुः **यथा भगवत** इत्यादि (६).

एवं स्वयं भगवत आगत्यर्थं जगुः स्फुटम् ।
कृत्रिमत्वात्तु भावस्य मिलिताश्च स्वतोऽन्यतः ॥(७)॥
ततो विशेषविज्ञानात् तिरोभावोऽस्फुरत् स्फुटः ॥

तदा **विचिक्युः** क्व भगवानस्तीत्यन्वेषणं कृतवत्यः. तत्रापि न सर्वात्मना तिरोभावः स्फुरित इति अन्वेषणेऽपि अनियतवृत्तयो जाता इत्याह

टिप्पणी

बहिःसंवेदनमेवास्ति परंत्वदर्शनजार्त्योक्तरीत्या तथा करणमिति ज्ञेयं, सर्वथा बहिःसंवेदने हि विचयनमिति. तत्र हेतुमाहुः **कृत्रिमत्वादिति**, आत्मनि भगवद्भावस्य कृत्रिमत्वात्तिरोधानमावश्यकम्. तद्धेतुर्विचित्रभाववतीनां मिथो मिलनं, तदाहुः यतो हेतो**र्मिलितास्ततो** हेतोः **स्वतोऽन्यतश्च विशेषविज्ञानात्तथेति** योजना. यद्वा भगवद्भावापन्नाऽपरां सखीं मत्वाश्लेषादिकं करोतीति **स्वतो** मिलनम्. तदान्यासामस्यां भगवत्त्वबुद्ध्यभावात् तद्भावाननुरूपकरणेऽस्या **विशेषविज्ञानम**भूत्. अन्ययापि भगवद्भावापन्नयाऽस्यां सखीत्वज्ञानेन मिलन**मन्यतो** मिलनम्. तत्रापि पूर्ववत्तथा. नन्वग्रे पूतनासुपानकरणदशापन्नप्रभुभावापन्नैव पूतनायन्त्याएव स्तनमपिबदिति यथा तथात्रापि कुतो न? तथा सति विशेषविज्ञानासम्भव इत्यत आहुः **कृत्रिमत्वादिति**. अग्रे लीलाविर्भावस्य वक्तव्यत्वाद्यादृशी लीला तादृश्येवाविर्भवतीति सर्वमुपपद्यते. प्रकृते तु प्रियादर्शने सत्युत्कटभावेन प्रियमात्रस्फूर्त्या स्वस्मिन्नपि तत्त्वेन भानमिति कृत्रिमत्वमस्य. एवं सत्यनेनैव भावेन यदोक्तन्यायेनान्यज्ञानं तदा तिरोभावस्फूर्तिरित्यर्थः. बहिःसंवेदने सत्यपि मादकद्रव्यस्वभावादुन्मत्तो विवेकरहितो भवति, एवं विरहभावस्वभावज-वैकल्यात्तथेत्याशयेन **तत्रापि न सर्वात्मने**त्याद्युक्तम् (६-७ $\frac{१}{२}$).

कारिकार्थः

कृत्रिमत्वादित्यादि, "विचिक्युरुन्मत्तकवदि"त्यत्रोक्तं विचयनं हि बहिःसंवेदने सति भवति, तत्र हेतुमाहुः **कृत्रिमत्वादिति**. तत्र हेतुः विचित्रभाववतीनां मिलनं, तदाहुः **मिलिताश्च स्वतोऽन्यत** इति. यतो हेतो**र्मिलितास्ततो** हेतोः **स्वतोऽन्यतश्च विशेषविज्ञानात् तिरोभावः** स्फूर्तिरिति योजना. अत्र **यद् वा** इत्यादिना पक्षान्तरमुक्तं टिप्पण्याम् (७ $\frac{१}{२}$).

उन्मत्तकवदिति. अज्ञात उन्मत्त **उन्मत्तकः**, कुत्सितो वा. स यथा स्वपरविवेकं न जानाति वस्त्रादिरहितश्च भवति एवमवस्थां प्राप्ताः. एकस्माद्वनाद् वनान्तरं गताः. किञ्च न केवलमन्वेषणमात्रं किन्तु उन्मत्तकवत् पृच्छन्ति स्मेत्याह **पप्रच्छुरिति**. शुको हि भगवत्स्वरूपाभिज्ञः आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिं कृष्णं सर्वत्रैव विद्यमानं पश्यति. यदि भक्तिसहितं ज्ञानमाविर्भवति तदा अन्योऽपि पश्यति, सर्वत्रैव तिरोधाननाशात्. तादृशमेताः परिच्छिन्नं मत्वा

टिप्पणी

आकाशवदन्तरमित्यत्र[१] **शुको** हीत्याद्याभासमार**भ्यायमपी**त्यन्तम्. अत्रायं भावः. "तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे"ति भगवद्वाक्याद् भक्तिमार्गे ज्ञानं प्रतिबन्धकमिति मन्तव्यम्. युक्तं चैतद्, आत्मत्वेन भगवज्ज्ञाने तद्दिदृक्षादिजनितार्त्यसम्भवेन प्रभुप्रादुर्भावासम्भवात्सर्वस्वनाशएव यतः. एवं सति यत्र कालादिनियन्तृत्वज्ञानात्मक-प्रतिबन्धके सत्यपि कंसादिभयज्ञानरूपः स्नेहकार्य एव देवक्यां जातः, तत्र प्रतिबन्धरहितानां स्नेहमात्रकार्यसम्भव इति किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायः सूच्यते. किञ्च तत्र देवकीधर्मरूपं ज्ञानं प्रति-

प्रकाशः

एकादशे भगवद्वाक्येषु व्रजरत्नानामेव सर्वोत्कृष्टत्वेन निरूपणात् "मत्स्वरूपाविदोऽबला" इति च कथनादत्र च **शुको ही**त्यादिग्रन्थे भक्तापेक्षया शुकस्योत्कर्षप्रतीतेर्मूलविरोधः, पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थे "शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभा" इत्युक्तेः "एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः यो दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदे"ति निबन्धस्य च विरोधः प्रतीयत इति तत्परिहाराय **शुको ही**त्यादिग्रन्थतात्पर्यमाहुः **अत्रायं भाव** इत्यादिना. **सूच्यत** इति, तथा च यत एतादृशः ज्ञानमिश्रभक्तः

लेखः

गायन्त्य इत्यत्र. **अज्ञात** इति यस्योन्मादो ज्ञातो न भवति, कदाचिदन्यथा वदति कदाचिन्नेति. तथात्रापि कदाचिदन्वेषणं कदाचिन्नेत्यर्थः. मूले **विचिक्युरि**त्युक्त्वाऽन्वेषणमेव वाक्यार्थ इति तदभावोऽशक्यवचन इत्याशयेनाहुः **कुत्सितो वेति** ॥४॥

१. °मित्यस्य मू. पा.

पृच्छन्तीति तासामज्ञानकथनार्थमाह **आकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तमिति.**

टिप्पणी

बन्धकत्वेनोक्तम्, अत्र तु विशेषणेन भगवद्धर्मस्तथोक्तः. एवं सति यत्रायमेव न प्रतिबन्धकः तत्रान्यस्य का वार्तेत्यपि ज्ञापनायेदं विशेषणम्. तथा च हेतुसत्त्वेप्युक्तज्ञानाभावेन भक्त्युद्रेकः सूच्यते. एतदेवोक्तं **तासामज्ञानकथनार्थ-मित्यनेन.** शुकस्यैवं ज्ञानाभावे त्वेतत्कथनेऽप्यशक्तिः स्याद् जीवनं वा न स्यादिति शुकज्ञानोक्तितात्पर्यं वेदितव्यम्. अपरञ्च 'सर्वेष्वि'त्यादिपदमनुक्त्वा नपुंसकलिंग**भूत**पददानेन प्रभौ च **पुरुष**त्वोक्त्या यथा षण्ढस्य पुरुषनैकट्ये रसोत्पत्तिर्न किन्तु स्त्रीणामेव, तथा प्रभुसान्निध्येऽपि भूतानां रसानुत्पत्तिः एतासां तदुत्पत्तिश्च युक्तेति ज्ञाप्यते. तेनैतासामेव प्रभुरसाभिज्ञत्वमित्युक्तं भवति. एतावान्परं विशेषो— बहिःसम्बन्धे विलक्षणो भाव उत्पद्यते अन्तरेव सम्बन्धे तु विलक्षण इति. कात्यायनीस्वरूपनिरूपणप्रस्तावे कथितं स्त्रीत्वमत्र

प्रकाशः

न तु शुद्धप्रेमभक्तः अत एवं वदतीत्याशयेन **कैमुतिकन्यायः शुको हीत्यादिग्रन्थेन सूच्यत** इत्यर्थः. अत्र भक्तिपरमकाष्ठाज्ञापनाय कैमुतिकान्तर-माहुः **किञ्चेत्यादि अनेनेत्यन्तम्.** तथा च न विरोधलेशोऽपीति भावः. ननु "परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य" इत्यत्र शुकेन स्वस्य भगवल्लीलागृहीतचित्ततायाः प्रतिपादितत्वेन तस्मिन्नपि भक्तेरेवोद्रेकात्तस्यापि ज्ञानाभाव एवोचितो नत्वेवं कथनमित्याकांक्षायां तदधिकारस्वरूपपरिचायनायायं ग्रन्थ इत्याहुः **शुकस्ये-**त्यादि. तथा च यदि तस्य न्यग्भूतज्ञानाच्छुद्धभक्तिरेव स्यात् तदैवंभावेन श्रीभागवतं न प्रचरेदेव. अतस्तदर्थं शुकस्यैतादृक्स्वरूपं शाब्दमेव न तु भक्तानामिवानु**भव** इत्येष तदधिकार इति ज्ञान**भ**क्त्युद्रेक इत्यर्थः. इदमेव "गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनी"त्यत्रापि बोध्यम्. पूर्वोक्तमिदं च द्रढयितुं **भूत**पदतात्पर्यमाहुः **अपरञ्च सर्वेष्वित्यादि भवतीत्यन्तम्.** तथा च न काल्पनिकमस्मदुक्तम् अपि तु **भूत**पदप्रयोगादर्थसिद्धम् अतो न शङ्कालेश इत्यर्थः. ननु भक्तानां रसज्ञत्वे सर्वदैव कुतो नैवंभाव इत्याकांक्षायां पूर्वोक्तं स्मारयन्ति **एतावानि**त्यादि. ननु भगवतः पुरुषत्वात् स्त्रीत्वावच्छिन्नानामेव रसाभिज्ञानमुचितं नत्वेतासामेव, अतो न **भूत**पदार्थिकमत्र सम्भवदुक्तिकम्, अत आहुः **कात्यायनी**त्यादि.

बाह्याभ्यन्तरविवेकहेतुराकाश इति पूर्वं निरूपितम्. तद्वदेवायमपि, अत एवाकाशस्य ब्रह्मलिङ्गत्वम्. एतादृशं सर्वत्रैव विद्यमानमदृष्ट्वा आत्मनि विचारं त्यक्त्वा चेतनांश्चापृष्ट्वा स्थावरान् पृच्छन्ति **वनस्पतीन् पप्रच्छुरिति,**

टिप्पणी

विवक्षितमतो न शङ्का कापि. अपरश्च भगवति दृष्ट एवासां बहिरिदमन्तरिदमिति ज्ञानम्, अधुना तदभावेन तयोरप्यभावादप्यन्तरननुसन्धानमुचितं परन्तु प्राप्तिरपेक्षितेति यत्र कुत्रचित्प्रश्न इत्याशयेन **बाह्याभ्यन्तरे**त्यारभ्य **पृच्छन्ती**त्यन्तेनोक्तम्. **सर्वत्रैव विद्यमान**मित्याद्यविशेषणतात्पर्यम्. "पुरि हृदयाकाशे शेत" इति व्युत्पत्त्या **आत्मनी**त्यादिद्वितीयविशेषणस्य. यद्वा प्रकरणाद् भक्तिमार्गाद् भगवता ये बहिर्भाविता जीवास्ते **बहिर्भूत**पदेनोच्यन्ते. तथा च तेष्वे**वाकाशव**न्निराकार इवाप्रत्यक्षतयैव **सन्तं,** तत्रा**प्यन्तरमे**व न तु कदाचिदपि बहिःप्राकट्येन. वस्तुतस्तु भक्तिमार्गीयेषु पुरुषत्वेन साकारं बहिःप्रकटं भर्तृरूपमतो बहिर्विचयनमेवोचितम्. न हि स्त्रीणां स्वभर्तुरन्तरन्वेषणमन्तःस्थितिज्ञानं वा स्वास्थ्यहेतुः पुरुषार्थाय वा भवतीति मूलार्थः ॥४॥

प्रकाशः

तथा च यत्र प्रसादशक्त्यादिसम्बन्धः तत्रैव तदभिज्ञानं नान्यत्रेत्यतः शङ्कानिवृत्तेरार्थिकं न प्रतिक्षेप्तुं शक्यमित्यर्थः. एवमाभासव्युत्पादनेनाधिकारतारतम्यं विविच्य व्याख्यानव्युत्पादनेन तद्दृढीकर्तुमाहुः **अपरश्च भगवती**त्यादि. **अभावादि**ति ज्ञानाभावात्. बहिरनुसन्धानं वारयन्ति **परन्त्वि**त्यादि. तथा च "स एवाधस्तादि"त्यादिना श्रावितभावस्य बहिरन्तर्ज्ञानाभावरूपव्यभिचारिभाव एतास्वेव स्फुटो न शुक इति प्रथमविशेषणादेवावसीयते. तत्र हि "भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव चे"ति कापिलेय आकाशलक्षणे आकाशे तथात्वस्य निरूपणाच्छुकेन तद्दृष्टान्तपूर्वकं व्यापकत्वकथनात्स्वस्य तदनुसन्धानं ज्ञाप्यत इति स्फुट एवाधिकारभेद इत्यार्थिकार्थानादरेऽपि नाधिकारतारतम्यं व्याहन्यत इत्यर्थः. एवं व्याख्यानोक्तं व्युत्पाद्य स्वतन्त्रतया प्रकारान्तरेण पूर्वोक्तमधिकारतारतम्यं व्युत्पादयन्ति **यद्वे**त्यादि. **उचितमि**ति अन्तर्ज्ञानेऽप्युचितम्. तथा चैवमौपसदन्यायेन[1] भगवद्विचारितादधिकारतारतम्याच्छुकस्य

१. ३।३।३३ ब्रह्मसूत्रोक्तन्यायेन.

ते हि वैष्णवा इति. मूढा अपि वैष्णवाएव हि विष्णुगतिं जानन्ति, नत्वत्यन्तं निपुणा अप्यवैष्णवाः ॥४॥

तत्रापि प्रथमं विष्णु-ब्रह्म-शिवतां लोके प्राप्ताः अश्वत्थ-प्लक्ष-वटास्तान् पृच्छन्ति **दृष्ट** इति.

॥ श्रीगोप्यः ऊचुः ॥

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः ।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥५॥

अश्वत्थो हि वैष्णवो वृक्षो, विष्णुवत् लोके सन्मानमर्हतीति, प्रायेणायं ज्ञास्यति. तथाप्ययं स्तब्धः स्वोत्तमभावनया न ज्ञास्यतीति तदर्थं हेतुभूतं नामाह "अश्वस्तिष्ठत्यस्मिन्नि"ति अश्वत्थः. लोकास्त्वश्वे तिष्ठन्ति, अस्मिंस्त्वश्वस्तिष्ठतीति, "अश्वो रूपं कृत्वा यदश्वत्थेऽतिष्ठद्" इति श्रुतेः. तर्हि प्राजापत्योऽश्वत्थ इति तदपेक्षया प्राजापत्यो वृक्षः प्रष्टव्य इति प्लक्षं पृच्छन्ति **प्लक्षेति**. तत्रापि तस्याज्ञानं नाम्ना वदन्ति. अयं हि मनुष्याणामज्ञानार्थं पावित्र्यक्षारणादुत्पन्नः अपवित्रो लोकानामज्ञानहेतुरेव, अतः कथं वक्ष्यतीति, "पशुना वै देवाः स्वर्गं लोकमायन्, तेऽमन्यन्त मनुष्या नो त्वा भविष्यन्तीति, तस्य शिरश्छित्त्वा मेधं प्राक्षारयन्, स प्लक्षोऽभवदि"ति श्रुतेः. तर्हि कर्मसम्बन्धरहितः वैष्णवधर्मोपदेष्टा शिवः प्रष्टव्य इति तद्रूपं न्यग्रोधं पृच्छन्ति **न्यग्रोधेति**. तस्यापि दूषणं नितरामग्राण्यधो यस्येति. अतोऽन्ते

प्रकाशः

भक्तत्वेऽपि नैतद्वदधिकार इति तस्य स्वास्थ्यादिकं, नैतासाम्. अन्तर्ज्ञानं तूभयोस्तुल्यं परमेतासामधिकारस्वभावात्प्रतिहन्यते तस्य तु नेति सर्वमौपसदन्यायादेव समञ्जसं, न कोपि विरोध इत्यर्थः. प्रकारान्तरेण व्याख्यानं तु "उपेयप्रतिपत्त्यर्थमुपाया अव्यवस्थिता" इति न्यायात्, नतु पूर्वोक्ते अस्वरसादिति न दोषलेशः ॥४॥

दृष्ट इत्यत्र. वनस्पतिमात्रे वैष्णवत्वस्य तुल्यत्वेऽपि प्रथममश्वत्थादिषु प्रश्ने हेतुमाहुः **तत्रापीत्यादि**. अत्र प्रश्नोत्तरं नामोक्तेस्तत्सूचितमर्थमाहुः **तथापीत्यादि**. एवमग्रेऽपि ज्ञेयम्. [१](**अयं हीति**, **पावित्र्यं** स्नानं, तस्य **सारणात्**.) नन्वेते महत्त्वात्पृच्छ्यन्ते चेद् अनुत्तरणेऽपि दूषणमेतेषु न

१. मूले नास्ति (आद्यसंपादकीयम्), मुं. वि. पाठे उपलभ्यते.

हीनभावं गच्छतीति अग्रे गमने हेतुर्भविष्यति. **वः** युष्माकं सम्बन्धी [1]भवद्भिः किं **दृष्टः**? प्रश्नसम्भावनायां **कच्चिदि**ति. दृष्टोऽस्माभिः पूर्वं सर्वदेव वा, ततः किं भवतीनामिति चेत्, **नो मनः हृत्वा गत** इति. ननु स विष्णुः, कथं चौर्यं करिष्यतीति तत्राहुः **नन्दसूनुरि**ति, नन्दस्य चेत् पुत्रो जातः तदा तत्कार्यं कर्तव्यम्. ते हि दधिदुग्धादिचौर्यं कुर्वन्ति, अतो मनश्चौर्यमपि नात्यन्तं विरोधि. भर्तृनामाग्रहणं वा. अतएव हरणपर्यन्तं प्रभुपुत्र इति न ज्ञातः. अन्यथा भोगं परित्यज्य कथं गच्छेत्? नन्वन्तःस्थितं मनः कथं गृहीतमित्याशङ्क्य त्रिविधं मनः त्रिभिरपि धर्मैर्गृहीतवानित्याह **प्रेमहासावलोकनैरि**ति, प्रेमपूर्वकहास्यसहितान्यवलोकनानि मनोहराणि. तमोरजःसत्त्वभावा उक्ताः— प्रेम्णा अन्तःप्रवेशः हास्येन ग्रहणम् अवलोकनेन हरणमिति ॥५॥

टिप्पणी

नन्दसूनुर्गत इत्यत्र **प्रभुपुत्र इति न ज्ञात** इति, चोरत्वेन न ज्ञात इत्यर्थः. प्रभुपुत्रो यतो न चौर्यं करोतीति भावः. **प्रेमहासावलोकनैरि**त्यत्र **तमोरज** इत्यादि, यस्य यादृशं मनस्तस्य तादृश्यैव रीत्या तद्धरतीति भावः ॥५॥

प्रकाशः

वक्तव्यम् अपि तु स्वस्मिन्नेवारोप्यमित्याशङ्कायामाहुः **अग्रे** इत्यादि. तथा च तान्विहाय भगवतोऽ**ग्रे गमने** इदं **हेतु**त्वेन सम्भाव्य वदन्तीत्यर्थः. **नामाग्रहणं वे**ति पक्षान्तरे भवतीभिः स्वमनोरक्षणं कुतो न कृतमित्याभासो ज्ञेय इत्यभिप्रायेणाहुः **अतएवे**त्यादि ॥५॥

लेखः

दृष्ट इत्यत्र, तृतीयान्ते वसादेशासम्भवात् **व** इति षष्ठ्यन्तं व्याचक्षते **वः युष्माकं सम्बन्धी**ति. सम्बन्धमेव विवृण्वन्ति **भवद्भिः किं दृष्ट** इति, स्वकर्तृकदर्शनविषयतासम्बन्ध इत्यर्थः. तथा च मूले **व** इति "कर्तरि न लोकाव्यये"ति निषेधेऽपि सम्बन्धमात्रविवक्षया शेषषष्ठीति भावः. **नन्दसूनुर्गत** इत्यत्र. द्वितीयपक्षे **नन्दसूनु**पदतात्पर्यमाहुः **अतएवे**ति. **ज्ञातो न** परन्तु भवति चोरएवेत्यर्थः. **अन्यथे**ति चोरत्वाभावे इत्यर्थः. **तमोरज** इत्यस्य टिप्पण्यां

१. युष्माभिरिति पाठः.

तेषामनुत्तरं मत्वा एते अमुख्यफला, महान्तोऽपि काकसेव्या एवेति, ये महान्तः पुष्पवन्तः सुगन्धाः तान् पृच्छामइति कुरबकादीन् पृच्छन्ति **कच्चिदिति**.

कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः ।
रामानुजो मानिनीनां गतो दर्पहरस्मितः ॥६॥

कुरबकाशोकौ कामोद्दीपकौ, एते कामबाणपुष्पाः. **नागो** नागकेसरः **पुन्नागश्चम्पकश्च** अतिसुगन्धपुष्पाः. ते हि कामिनं व्यावर्तयन्ति अतः पश्चाप्येते ज्ञास्यन्तीति **रामानुजः कच्चिद्** भवद्भिर्दृष्ट इति पृच्छन्ति. पूर्ववदेव **प्रयोजन-कथनम्. मानिनीनां दर्पहरं स्मितं** यस्य; व्यर्थमेव **गतो** भगवान्, स्मितमात्रेणैव दर्पो गच्छति, किं गमनेन! भयं तु नास्त्येव यतो **रामानुजः** बलभद्रभ्राता, भर्तृनाम न ग्राह्यमिति. वयं सर्वाएव मानिन्यः स्थिताः अतोऽस्मद्दर्पदमनार्थं गतः. प्रायेणैतैर्न दृष्टः. कुत्सितरवात् कं सुखं यस्य, रोदनप्रियोऽयम्. अशोकश्च शोकनाशकएव, न तु कस्यचित् सुखं प्रयच्छति. नागोऽयं नाम्नैव भयानकः. गजपक्षेऽपि पुंसामपि नागः. चम्पकोऽपि परिणामविरसः. अफलाश्चैते ॥६॥

प्रकाशः

कच्चित्कुरबकेत्यत्र भर्तृनामेत्यादि, एतेन कुमारीवाक्यत्वं बोधितम्. श्लोकद्वयोक्तेषु दूषणान्तरमाहुः **पूर्वोक्ते**त्यादि. "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ती"तिवत्पुष्पाणां शोभाधायकत्वात्तदभावेन गुणाभावः पूर्वोक्तेषु, एतेषु फलाभावात्प्रश्नस्याप्यफलत्वमिति भावः ॥६॥

लेखः

यादृशमिति, यत्प्रकारप्रधानमित्यर्थः. **तादृश्ये**ति तत्प्रकारप्रधानयेत्यर्थः. त्रयसत्त्वेऽपि तमःप्रधानं यस्या मनस्तस्या मनः प्रेमप्राधान्येन हरति, एवमन्ययोरपि. सुबोधिन्यां सामान्यतो विभागमाहुः **प्रेम्णे**ति ॥५॥

महान्त इति, वक्ष्यमाणाश्चूतादयो मुख्यफला इत्यर्थः. **पुष्पे**ति, तादृशाः सन्तः **सुगन्धाः** कुरबकादयो यूथिकान्ता इत्यर्थः. **कामबाणपुष्पा** इति, कामबाणाः पुष्पाणि येषां तादृशा एते कुरबकादिवृक्षा इत्यर्थः. **भयं त्वि**ति, रमणाधिकरणस्य क्रियाशक्तिप्रधानस्य भ्रातृत्वाद्रसच्युतिभयं नास्तीत्यर्थः. **अफलाश्चैते** इति, अनुपदोक्ता दोषा अफलत्वं च दोष इति **चकारः** ॥६॥

पूर्वोक्तास्त्वपुष्पाः, एते अफलाः. फलपुष्पाभ्यां नानाविधविनियोगसंभवादज्ञानं मत्वा तुलस्यास्तदुभयं नास्तीति भगवदीयत्वेन प्रसिद्धां पृच्छन्ति **कच्चिदिति.**

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये ।
सह त्वाऽलिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥७॥

तुलसीति सम्बोधनं सखीमिव मत्वा. सा चेत् पूर्वसम्बन्धस्मरणेन भक्तेव भगवन्तं भजेत् तदा रसो न पुष्ट इति तां भगवत्पत्नीं मन्यमाना आहुः **कल्याणी**ति. एवमपि सति भक्तिप्रधानेत्यस्मदाद्यपेक्षया उत्कृष्टेत्याहुः **गोविन्दचरणप्रिय** इति. किञ्च तव दर्शने उपायोऽप्यस्ति, त्वत्सजातीयस्य तत्र विद्यमानत्वात्; सजातीयो हि सजातीयं मार्गस्थं दृष्ट्वा गच्छति. तदाहुः **अलिकुलैः सह त्वा** त्वां **बिभ्रद् दृष्ट** इति. किञ्च **ते** भगवा**नत्यन्तं प्रियः**; यद्यनेन मार्गेण गतः स्याद् अवश्यं त्वया दृष्टः स्यादिति ॥७॥

तत्राप्यरुचिं मत्वा, इयं सपत्नीवत् स्वोत्कर्षं ख्यापयन्ती कथमन्याभ्यो

टिप्पणी

तुलस्यास्तदुभयमिति, पुष्पकृतः फलकृतश्च यो [१]विधिविनियोगस्तदुभयं नास्तीत्यर्थः.

क्वचित्तुलसीत्यत्र सा चेत्यादि. पूर्वं हि भक्तात्वेन निष्कामा निरन्तरं चरणारविन्दमेव सेवमाना स्थिता, लक्ष्म्यादीनामप्यत एवैषा पूजासाधनमन्यथा सपत्नीत्वं ज्ञात्वा तथा लक्ष्म्यादयो न कुर्युः. तथा सति नायिकात्वे यो रसः स नानुभूतो भवतीत्यस्मद्रीतिमज्ञात्वा तूष्णीं तिष्ठेतेति मत्वा तथाहुरित्यर्थः. **अस्मदाद्यपेक्षये**ति. अवस्थाविशेषकृतदैन्याविर्भावज्ञापनायैवमुक्तम्, अन्यथा सपत्नीत्वं ज्ञात्वापि नेमां पृच्छेयुरिति भावः ॥७॥

प्रकाशः

कच्चित्तुलसीत्यत्र नानाविधेति, एतेनान्यसम्बन्धस्तेषूक्तः ॥७॥

लेखः

दोषान्तरमाहुः **फलपुष्पाभ्यामि**ति. **कच्चित्तुलसीत्यत्र** टिप्पण्यां **तूष्णीं तिष्ठेते**ति "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चे"त्यात्मनेपदम्. स्वाशयं चरणसेवां प्रकाशयन्ती तिष्ठेतेत्यर्थः ॥७॥

१. विविधो विनियोग इति पाठः. द्विविधविनियोगः स्यादपि.

वक्ष्यतीति, साधारण्यः स्त्रिय एवास्माकमुपकारिण्य इति ताः पृच्छन्ति **मालतीति.**

मालत्यदर्शि वः कच्चित् मल्लिके जाति यूथिके ।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥८॥

हे **मालति, वः** युष्माभिः प्रत्येकं नानारूपाभिः दृष्टः **कच्चित्?** तथैव **मल्लिके,** हे **जाति,** हे **यूथिके.** एताश्चतस्रो लताः अतिसुगन्धपुष्पाः भगवत्प्रियाः, अतः **वः** युष्माकं **करस्पर्शेन प्रीतिं जनयन्** पुष्पावचयं कुर्वन् **माधवो** लक्ष्मीसहितः. लक्ष्म्या सह तिष्ठति अतस्तस्याः चूडाबन्धनार्थं पुष्पावचय आवश्यक इति ॥८॥

ननु यद्यप्येताः स्त्रियः तथाप्यफलाइति अल्पाइति स्वार्थपराइति लक्ष्मीपक्षपातिन्यइति न वदिष्यन्तीति ज्ञात्वा आम्रादीनत्युत्तमान् वृक्षान् पृच्छन्ति **चूतेति.**

चूतप्रियालपनसाशनकोविदार-जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥९॥

चूताम्रौ मधुराम्लप्रकृतिकौ. कालभिन्नफलौ वा. **प्रियालस्तु** बीजेऽप्यधिक-रसयुक्तः. **पनसो** महाफलः. अन्ये **चाशनादयो** वृक्षाः पुष्पफलप्रधानाः. किं बहुना, **अन्येऽपि ये** मधूकादयः. परार्थमेव जन्म येषां ते **परार्थभवकाः.** किञ्च यद्यपि सर्वएव वृक्षाः परार्थजन्मानः तत्रापि ये **यमुनोपकूलाः** यमुनाया उपकूले तपस्विन इव तिष्ठन्ति ते ह्यवश्यं भगवन्तं पश्यन्ति बोधयन्ति च.

लेखः

मालतीत्यत्र वः युष्माभिरिति. अत्रापि पूर्ववद् **व** इति षष्ठ्यन्तं, तस्य विवरणं **युष्माभिरिति.** कर्तृत्वं सम्बन्ध इत्यर्थः ॥८॥

स्वार्थपरा इति, चूतादिषु परार्थभवकत्वकथनेनैतास्वयं दोषः सूचित इति भावः. छायादिना परार्थसम्पादका इत्यर्थः. **लक्ष्मीपक्षपातिन्य** इति, धनवतामेवैतदुपयोग इति भावः. **चूतेत्यत्र भवका** इति, परार्थो भवो[१] येषामिति विग्रहः. "शेषाद्विभाषे"ति 'कः'. **यथेति,** येन शंसनप्रकारेण **अस्मद्धृदये** पदवी **समायाति** अनेन मार्गेण गत इति ज्ञातं भवेदित्यर्थः ॥९॥

---

१. जो. पाठमनुसृत्य. भाव इति मुद्रितः पाठः.

अतः सदानन्दस्य **पदवीं शंसन्तु** यथास्मद्धृदये समायाति. दयार्थमाहुः **रहितात्मनामिति**– केचित् गृहरहिताः धनरहिताः देहरहिता वा, वयं त्वात्मरहिताएव. अतः सर्वापेक्षया वयं दीनाः. अतः **कृष्णपदवीमस्मदर्थे शंसन्तु** ॥९॥

एवमतिविलापे दीनतायामाविष्कृतायां भूमौ भगवच्चरणारविन्दानि दृष्टानि, तद् भूमिं स्तुवन्ति **किं ते कृतमिति.**

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवांघ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यंघ्रिसंभव उरुक्रमविक्रमाद्वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥१०॥

हे **क्षिति, ते** त्वया **किं** वा **तपः कृतम्?** अस्माभिरपि तपः कृतमेव, परं नैवं फलमनुभूतम्. सर्वथा पुण्यव्यतिरेकेण नेष्टसिद्धिः, सुतरां भगवल्लक्षणा. स्वस्य तदभावमाशङ्क्य **बतेति** खेदे. न केवलं तव पादसम्बन्धमात्रं किन्त्वन्येऽपि भावा दृश्यन्त इत्याहुः. **केशवस्य** ब्रह्मादेरपि मुक्तिदातुः ब्रह्मप्रार्थितचरणारविन्दस्य **अंघ्रिस्पर्शेन उत्सवो** यस्याः. स्वेदो दृश्यतएव, अन्यथा पदानि स्पष्टानि न भवेयुः. अन्योऽप्युत्सवो दृश्यते, **उत्पुलकिता** च. सर्वत्र दूर्वाङ्कुरा उत्थिता इति **अङ्गरुहैः** रोमाञ्चैः कृत्वा **विशेषेण भासि. उत्पुलकिताङ्गरुहैर्वा अंघ्रिस्पर्शोत्सवा विभासि.** ननु सर्वत्रैव पुलको दृश्यते, यदि केशवांघ्रिस्पर्शेन स्यात् तत्रैकदेशे स्यात् स्वेदवदित्याशङ्क्य हेत्वन्तरमुत्प्रेक्षन्ते **अप्यंघ्रिसंभव उरुक्रमविक्रमाद्वेति.** **अपीति** संभावनायाम्. अनेन चरणस्पर्शेन पूर्वस्थितचरणस्पर्शः स्मृतः. स तु सर्वत्र भूमौ व्याप्तः. अतस्तेन **अंघ्रिणा संभवो** यस्य उत्सवस्य. **उरुक्रमः** त्रिविक्रमः, तस्य **विक्रमात्** पदन्यासाद्वेति तत्राप्यनिर्धारः. न हि चरणसंबन्धमात्रेण संभोगरहितेन सात्त्विकभावरूपः उत्सवो रोमाञ्चो भवितुमर्हति. तदर्थं पक्षान्तरमाशङ्कते **आहो वराहवपुषः परिरम्भणेनेति.** अनेन स्वसमानता च वर्णिता ॥१०॥

लेखः

किं ते इत्यत्र **भगवल्लक्षणेति, भगवतो लक्षणं** ज्ञानं यया तादृशी **इष्टसिद्धिश्चरणप्रतिफलनरूपेत्यर्थः. अप्यङ्घ्रीति, उरुक्रमविक्रमाद्धेतोर्वा अङ्घ्रिसम्भव** इत्यर्थः ॥१०॥

एवं स्थावरान् पृष्ट्वा जङ्गमान् पृच्छन्ति **अपीति.**

अप्येणपत्न्युपगतः प्रियया स्वगात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥११॥

हे **एणपत्नि** कृष्णसारपत्नि, **प्रियया** कयाचित् लक्ष्म्या अन्यया वा **उपगतः** मिलितः स्त्रीसहितः अनेन मार्गेण गच्छन् **स्वगात्रैः** स्वावयवैः भवतीनां **दृशां सुनिर्वृतिं तन्वन्** दृष्टः कच्चित्? अनेनैव मार्गेण गत इति चरणारविन्ददर्शनात् निश्चीयते. यदि दृष्टो भवेत् तदा अस्माभिरपि द्रष्टुं शक्यत इति. त्वं त्वन्यस्य पत्नी अस्माकं च सखी भवसि. अत आहुः हे **सखी**ति. सखित्वं कृष्णानुरक्त्या, नेत्रतुल्यत्वेन भीरुत्वादिधर्मैः, अन्यथा भवतीनां विकसितनयनानि न भवन्तीति. ननु [1]कृतलीलः किमिति प्रार्थ्यते, तत्राहुः **अच्युत** इति. ननु कथं ज्ञायते प्रियया उपगत इति, तत्राहुः **कान्ते**ति. **कान्ताया अङ्गसङ्गे यत्कुचयोः कुङ्कुमं** तेन **रञ्जितायाः कुन्दस्रजः** कुन्दपुष्पमालायाः **गोकुलपतेः** सम्बन्धिन्या **इह गन्धो वाति.** आर्द्रश्च गन्धः आर्द्रं कुङ्कुमं ज्ञापयति. सात्त्विकभावादेवार्द्रता, अतो ज्ञायते प्रियया सङ्गत इति ॥११॥

एवं हरिणपत्नीं पृष्ट्वा इयं भर्तृसमीपे वक्तुमशक्तेति पूर्वं भगवत्स्तुतान् वृक्षान् पृच्छन्ति **बाहुमिति.**

प्रकाशः

अप्येणपत्नीत्यत्र भीरुत्वादीत्यादिपदेन स्वासामिव तासामपि भगवद्गात्रैर्निर्वृतिः, भगवता तथा करणं संगृह्यते. **अन्यथे**ति उक्तप्रकारकदर्शनाभावे ॥११॥

लेखः

अप्येणपत्नीत्यत्र. दर्शनस्य प्रकरणित्वमभिप्रेत्याहुः **दृष्टः कच्चिदि**ति. **भीरुत्वादि**ति, एतैर्धर्मैर्नेत्रतुल्यत्वेनेत्यर्थः. **अन्यथे**ति दर्शनाभावे इत्यर्थः ॥११॥

बाहुमित्यस्याभासे पूर्वमिति द्वादशाध्याये इत्यर्थः. **तेषां तरुजन्म-**

---

१. क्लृप्तलील इति पाठः.

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥१२॥

प्रियाया अंसे बाहुमुपधाय द्वितीयेन हस्तेन **गृहीतपद्मः रामानुजो** निर्भयः **तुलसिकायाः** सम्बन्धिनो येऽलयः तेषां **कुलैः** कृत्वा **अन्वीयमानः** पश्चाद् गम्यमानः. हे **तरवः.** पूर्वं भगवता भक्तत्वेन स्तुताः, अतो भवद्भिः कृतं प्रणाम**मिहैव किमभिनन्दति** न वेति प्रश्नः. प्रियांसे बाहुमुपधायेति समतया गमनेन लक्ष्यते, उभयोः पदानां पंक्त्याकारेण गमनात्. कदाचित्पदानां

टिप्पणी

बाहुं प्रियांस इत्यत्र **समतया गमनेने**त्यादि. यद्यपि चरणचिह्ना-दर्शनेऽपि भगवद्भावस्वभावादेव तल्लीलास्फूर्तिः सम्भवति, अत एवालिषु तुलसिकासम्बन्धित्वोक्तिः तदनुसारेणाग्रे गमनाभावश्च, तथाप्यधुना प्रियदर्शनवता ज्ञापितः प्रियः शीघ्रं प्राप्स्यत इति ज्ञात्वा प्रश्नपरा इति, तत्राप्युन्मत्तदृष्टान्तस्योक्तत्वादत्यनवहिता इति चिह्नदर्शनेऽपि तन्मार्गेण न

प्रकाशः

बाहुं प्रियांसेत्यत्र टिप्पण्याम् **अग्रे गमनाभावश्चेति**, देशान्तरे भगवद्गमनाभावः, **चो**प्यर्थे, ज्ञानविषयतया सम्भवतीति शेषः. एतासामेव वा. **तत्रापीति** भगवद्भावानुभावेन लीलास्फूर्तावपि. इदम् **अनवहिता** इत्यनेन योज्यम्. ननु तीक्ष्णभावशान्त्यर्थमेव चेत्पददर्शनं किमित्यग्रे तत्प्र-

लेखः

वृत्तान्तकथनेन **तरुपदेन** तेषामेवोपस्थितिरिति भावः. व्याख्याने **समतयेत्यस्य** टिप्पण्यां **यद्यपीत्यादि. इति** हेतोश्चरणचिह्नानां समत्वादीनां दर्शनं हेतुत्वेन न वक्तव्यं, **तथाप्यधुना** तादृश**ज्ञापितः प्रियो** भगवद्भावकृतलीलास्फूर्त्या तत्र गमनेन प्रियप्राप्त्यपेक्षया **शीघ्रं प्राप्स्यत इति ज्ञात्वा** तं प्रकारमवगणय्य **प्रश्नपरा**एव जाता इत्याशयेन अत्यनवहितत्वा**च्चिह्नदर्शनेऽपि तन्मार्गेण न गताः**, अतो यथार्थज्ञानाभावादुत्प्रेक्षारीत्यैव तज्ज्ञान**मित्याशयेन चाचार्यैरेव-मुक्तमि**ति अग्रेतनेनान्वयः. तीक्ष्णभावशान्त्यर्थमत्र पददर्शनं भगवता कारितं न तु तद्भगवदावेशकार्यमतोऽत्र न सर्वलीलास्फूर्तिः, तादृशं तु "व्यचक्षत

चाञ्चल्येन भ्रमरोपरुद्धगत्या तन्निवारणार्थं यत्नो लक्ष्यते. तरवश्च नम्राः, नमस्कारार्थमेव फलोपहारं कृत्वा भूमिसम्बद्धशिरसो जाताः, अतो ज्ञायते प्रणामः कृत इति. अनुत्थानात्संदेहः **अभिनन्दति न वेति**. अनभिनन्दने हेतुः **चरन्निति**, यो हि गच्छति सः अनवहितोऽपि भवति. ननु निकटएव स गच्छति; यद्यभिनन्दनं कृतं स्यात् तदैव श्रूयेत, कथं संदेह इति चेत्, तत्राहुः

टिप्पणी

गताः. किञ्च यथा सहभूताया अपि स्वामिन्याश्चरणचिह्नादर्शनं पूर्वं पश्चाच्च दर्शनं तथेहाप्येकत्रैकदा पददर्शनं, नाग्रे, तीक्ष्णभावशान्त्यर्थमेव पदचिह्नानां दर्शितत्वात्तस्य च तावतैव शान्तेः. अग्रे तु भगवदावेशकार्यत्वेन वक्ष्यत इत्याशयेनाचार्यैरेवमुक्तम्. पदचाञ्चल्यज्ञापितालिनिवारणयत्नेनैव गृहीतपद्मत्वं ज्ञाप्यते, तेनाञ्जसा तदपीडनेन च तत्सम्भवात्. मदस्य संगाभावहेतुत्वमनुभूयते. तेषां च समदानामपि संगे मर्यादामार्गीयभक्तिरसजनितएव मदो भवितुमर्हतीति तुलसीसंबन्धकथनम्. अनवसरेऽपि गमनान्मदान्धतोक्ता. एवं रसासक्तस्येतरानुसन्धानासम्भवात् स्वमिलनं दुर्लभं जानन्ती तरुप्रणामं चेदनुसन्धास्यत्यस्मिन्नपि समये तदास्मानपि कदाचिदनुसन्धास्यतीत्याशयेन प्रश्नं चक्रे. अन्यथाऽलीनामन्धत्वनिरूपिकायास्तरुप्रणत्यभिनन्दनं प्रश्नोऽनुपपन्नः स्यादिति भावः ॥१२॥

प्रकाशः

दर्शनमित्यत आहुः **अग्रे त्वित्यादि**. **एवमुक्तमि**ति अत्र ज्ञापकान्तरमुक्तम्. **तेनेत्यादि**, पद्मेन सामस्त्येन तदपीडया चालिनिवारणसंभवादित्यर्थः. **मर्यादामार्गीयभक्तिरसेति** कामरहितभक्तिरसेत्यर्थः ॥१२॥

लेखः

वनोद्देशे" इत्यत्र भगवदावेशे वक्ष्यते इत्याशयेन [1]चैवमुक्तमित्याहुः **किञ्चेति**. आधुनिकपददर्शनस्य भगवदावेशजत्वाभावं व्युत्पादयन्ति **यथेति**. तत्र तत्पददर्शनं कादाचित्कत्वान्न भगवदावेशजसार्वज्ञ्यकृतं तथात्र भगवत्पद-दर्शनमपीत्यर्थः. तादृशं त्वग्रे वक्ष्यते इत्याहुः **अग्रेत्विति**. **मर्यादामार्गीयेति**, पुष्टिमार्गीयमदः केषांचिदेव भवति, "स्त्रीत्वं च तेषु दद्यात् यद्वानजन्मुनीनपी"ति वाक्यात्. अतस्तादृशमदे कुलत्वं न वदेत् स्त्रीत्वं च वदेदिति भावः ॥१२॥

१. जो. पाठमनुसृत्य, आशयेनैवम् इति मुद्रितः पाठः.

प्रणयावलोकैरिति, प्रणयपूर्वकमवलोकैः, न तु वाचा. अतो ये निकटस्थाः तएव जानन्ति नान्ये ॥१२॥

ते ज्ञानिनो वृक्षाः स्त्रीभिः सह सम्भाषणं न करिष्यन्तीति तत्पत्न्य एव प्रष्टव्या इत्याहुः **पृच्छतेमा लता** इति.

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः ।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥१३॥

वनस्पतेर्बाहुनाश्लिष्टा अप्येताः पृच्छत यद्यपि तासामप्यनवसरः. ताश्च पुनर्भर्तृभुजालिङ्गिता अपि भगव**त्करजै**रेव नखैः **स्पृष्टाः** सत्यः **उत्पुलकानि बिभ्रति.** न हि रसान्तराविष्टानां रसान्तरार्थं स्पृहा भवति, अतएव ज्ञायते सर्वोपमर्दी भगवत्सम्बन्धी रस इति. एवं सर्वेषामेवावचने मूर्छिता इव जाता इति एतदन्ता प्रश्नकथा. नवविधा एता गोप्यो निरूपिताः. दशमी तु भगवता नीयते. एवमन्वेषणेन रसस्थैर्यं निरूपितम् ॥१३॥

एवं तिरोधानेन जाततापनिवारणार्थं यत्नो निरूपितः. एतदुपमर्दिका भगवल्लीला प्रादुर्भूता. तस्या विलासं वक्तुं पूर्वोपसंहारपूर्वकमुपक्रमते **इती**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥१४॥

इतिशब्दः प्रकारवाची, एवंप्रकारेण प्रश्नायोग्येऽपि प्रश्नकरणादुन्मत्त-

---

प्रकाशः

इतीत्यस्याभासे **एतदुपमर्दिके**ति तापोपमर्दिका. **प्रथमस्यापगम** इति,

लेखः

पृच्छतेमा इत्यत्र. **दशमी त्विति**. अधुना सङ्गस्थायाएव दशमो भावो न त्वेतासु कस्याश्चिदपि, अग्रे त्वत्रापि स भावो वक्ष्यते इति भावः. उपसंहरन्ति **एवमिति**. **रसस्थैर्यं** रसासक्तिरित्यर्थः. कार्यलक्षणनिरूपणेन कारणं लक्ष्यं निरूपितं जातमिति प्रतिज्ञात[1]लक्षणतो रसासक्तिनिरूपणं सिद्धमिति भावः ॥१३॥

कार्यकारणभावमुपपादयन्ति **एवमिति**. तापस्तु रसासक्त्यैव भवतीति

---

१. इति ज्ञान° इति जो. पाठः.

वाचो **गोप्यो** जाताः. **कृष्णस्यान्वेषणे कातरा** अपि दीना अपि जाताः. तनुर्वाक् श्रान्ता, मनसि तु त्रयो वर्तन्त इति प्रथमस्यापगमे द्वितीय आविर्भूत इत्याह **लीला** इति. **भगवतस्तास्ताः** पूर्वमुक्ताः कृताश्च **तदात्मिकाः** सत्यः **अनुचक्रुः**. **उन्मत्तवच** इति छान्दसो ह्रस्वः. अथवा. **इति** पूर्वोक्त**मुन्मत्तवचः** एतावदिति, ततो **गोप्यः कृष्णान्वेषणार्थं कातरा** जाता इति. **भगवतो लीलाः** षड्विधाः स्वाभाविक्यस्तासामपि भेदाः **तास्ताः. (हि!)** युक्तश्चायमर्थः भगवति हृदि समाविष्टे लीलाभिः सहिते– यदा यदा भगवानवतरति तदा तदा पूतनासुपयःपानादिकं करोति, तथैव संवत्सरलीलायां पुरुषोत्तमादिषु प्रसिद्धिः. एतासामपि मनसि आविर्भूतेन कर्तव्यं तत्साक्षात्कर्तुमशक्यमिति भावनयैवाविर्भूत इति अनुकरणमात्रं कृतवत्यः ॥१४॥

भक्त्यातिमत्तास्तद्भावमीषन्मत्तास्तु रोषतः ॥(८)॥
द्वेषभावं समाश्रित्य क्रीडन्त्यो जातमत्सराः ।

टिप्पणी

लीला भगवतस्तास्ता इत्यस्याग्रे **भक्त्यातिमत्ता** इत्यादि. एतासां प्रिये स्नेहसाम्येऽपि क्वचिद् भगवद्भावे क्वचित्पूतनादिभावे हेतुमाहुः **भक्त्ये**त्यादि. नायिकाभेदेन हि भावभेदः. एकस्या अपि समयादिहेतुभेदेनापि तथा. एवं सति भगवत्तल्लीलातत्सम्बन्धिनां मध्ये यस्या यदा यादृग्रूपस्य यस्य स्मृतिस्तस्यास्तदा तदात्मकत्वं विशुद्धभावत्वाज्जलादिसम्बन्धिस्फटिकस्येवेति प्रघट्टकार्थः. तथा च भगवन्मात्रज्ञानमतिमत्तत्वम्. तत्सम्बन्धिनामपि ज्ञानमीषन्मत्तत्वम्. लीलासम्बन्धिनां येषां ये भावास्तदात्मकतायां ते भावा अपि स्वतएव भवन्तीति ज्ञापनाय **रोषत** इत्यादिना तदुद्देशः कृतः. भावेषु दृष्टान्तेन वैजात्यज्ञापनाय **सत्त्वाद्युक्तिः** (८-९).

प्रकाशः

ज्वालापगमेन वह्नेरिव प्रश्नान्वेषणरूप-यत्नतिरोधानेन रसासक्तेस्तनुवाग्भ्यां तिरोधान इत्यर्थः. **उक्ताः कृताश्चेति**, प्रमाणादिप्रकरणीयाः फल-प्रकरणीयाश्चेत्यर्थः ॥१४॥

लेखः

भावः. **लीला भगवत** इत्यत्र **कृताश्चे**ति, पूर्वमनुक्ता अपि भगवता कृताः "कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्ये"त्यनेनोक्ता इत्यर्थः ॥१४॥

सत्त्वादिगुणभावेन नवलीलाः प्रपेदिरे ॥(९)॥
अतो न न्यूनभावोऽत्र ह्याविष्टाः शकटादिभिः ।

टिप्पणी

ननु तथापि भगवज्ज्ञानं विहाय पूतनादिज्ञानं यत्र तत्र ततो न्यूनभावता गम्यते, तत्र हेतुरपि वक्तुं न शक्य इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **अतो न न्यूनभाव** इति. **हि** यस्माद्धेतोः **शकटादिभिराविष्टा अतो न न्यून**तेत्यर्थः. अत्रैवं ज्ञेयम्. अत्र ताप-लीला-भगवताम् अन्योन्योपमर्दकभावेनाविर्भाव इति पूर्वमुक्तम्. सपदि तु लीलाया आविर्भाव एतासूच्यते. सा

लेखः

नवलीला इति, तथाच लीलाभेदेऽपि एकैकस्मिन् श्लोके उक्ता एकैकविधा इत्यर्थः (९).

योजना

कस्याश्चित् पूतनायन्त्या इत्यादिलीलानुकृतितात्पर्यकथने **भक्त्यातिमत्तास्तद्भावमित्यादिकारिकास्तासामर्थष्टिप्पण्यां** स्फुटः (८-१०).

कारिकार्थः

इत्युन्मत्तवचो गोप्य इत्यत्र **भक्त्यातिमत्ता** इत्यादि. याः **भक्त्यातिमत्ताः** ताः **तद्भावं** "कृष्णोहं पश्यत गतिमि"ति प्रकारेण भगवद्भावं प्राप्ताः. **ईषन्मत्तास्तु** "कस्याश्चित् पूतनायन्त्या" इत्यादिप्रकारेण पूतनादिभावं प्राप्ताः. तदुक्तं टिप्पण्यां "भगवन्मात्रज्ञानमतिमत्तत्वं तत्सम्बन्धिनामपि ज्ञानमीषन्मत्तत्वमि"ति. लीलासम्बन्धिनां येषां ये भावाः तदात्मकतायां ते द्वेषादिभावा अपि स्वतएव भवन्तीति ज्ञापनायाहुः **रोषत** इति. भावेषु वैजात्यज्ञापनाय उक्तं **सत्त्वादिगुणभावेने**ति. यद्यप्यत्र लीला बहुविधाः तथापि नवसु श्लोकेषु एकैकस्मिन् श्लोके उक्ता एकैकविधा विवक्षिता इति **नवलीला** इत्युक्तम् (८-९).

अथवा सर्वासां तुल्यत्वमेवेत्याशयेन पक्षान्तरमाहुः **अतो न न्यूनभावोऽत्रे**ति. **हि** यस्माद् हेतोः **शकटादिभिराविष्टा अतो न न्यून**तेत्यर्थः. तथा च भगवद्भाववत्याः पूतनादिभाववतीनां च तुल्यत्वमेवेत्यर्थः. प्रक्षान्तरमाहुः भगवद्भावापन्नायाः सकाशात् पूतनोलूखलादिभावापन्ना उत्कृष्टा इति ज्ञापनाय **सर्वत्र हरिबुद्ध्या** वेति. कथंचिदपि चरणारविन्दस्पर्शेच्छया

सर्वत्र हरिबुद्ध्या वा पादस्पर्शेच्छया पुनः ॥(१०)॥
उलूखलादिभावोऽपि तत्सम्बन्धप्रसिद्धये ।

टिप्पणी

च भगवत्कृतितत्सम्बन्ध्यात्मिका विशिष्टा, न त्वन्यतरमात्ररूपा. तथा च यदंशो यत्राविर्भूतस्तत्र स एवांश उच्यते, अन्यथा पूतनासुपयःपानसामयिक-दशापन्नभगवत्स्वरूपभावापन्नैव पूतनायन्त्याः स्तनं कथं पिबेत्? पूतनायन्ती च तस्यामेव पूतनावत् कथमाचरेत्? अतो न क्वापि कुतश्चिन्न्यूनतेति सारम्. अस्मिन्पक्ष एका लीला यत्राविर्भूता तत्र न द्वितीयेति सिध्यति. तथा सति चिरं विलासोऽयं न स्यादिति पक्षान्तरमाहुर्भगवद्भावापन्नायाः सकाशात् पूतनोलूखलादिभावापन्ना उत्कृष्टा इति ज्ञापनाय **सर्वत्रे**ति. अत्युत्कटविरह-भावेनातिदीनतया कथञ्चिच्चरणसम्बन्धं वाञ्छन्त्यो यत्र तत्सम्बन्धः पूर्वमनु-भूतोऽस्ति तद्वदाचरन्ति. मयि चेन्न चरणं स्थापयति तदा पूतनोलूखलादि-बुद्ध्यापि वा स्थापयत्विति भावेन अत्यार्त्यैव सर्वत्र भगवद्बुद्धिः. अतस्तस्य प्रकर्षेण सिद्ध्यर्थं तथेत्यर्थः. **पुनरि**ति पदादेकस्यां लीलायामनुकृतायामप्युत्तरी-त्यात्यार्तौ **पुनरुलूखलादिभावोऽपि** भवतीति ज्ञाप्यते. एवं सति भावप्राचुर्यादत्रोत्कर्षः सिद्ध इति भावः ($१०\frac{१}{२}$).

प्रकाशः

आविष्टा इत्यादि. ननु "लेभे गतिं धात्र्युचितामि"त्यादिवाक्यैः पूतनादीनां मुक्तिकथनाच्छकटाद्यावेशकथनमत्र कथं सङ्गच्छत इत्याशङ्का तु टिप्पण्यां **सा च भगवत्कृतितत्सम्बन्ध्यात्मिका विशिष्टे**ति लीलास्वरूपकथनाद-पनेया, भगवल्लीलानां नित्यत्वेन तासु भगवद्वीर्यरूपाणामाधिदैविकासुराणां सम्बन्धितया प्रवेशेन मुक्तिवाक्यस्य च तदाविष्टजीवविषयत्वे[१] वा भिन्नविषयत्वेनाविरोधात् (१०).

कारिकार्थः

पूतनोलूखलादिभावः इत्यर्थः. "मयि चेत् चरणं न स्थापयति तदा पूतनोलूखलादिबुद्ध्यापि स्थापयतु" इति भावेन तद्वदाचरन्ति. अत्यार्त्यैव सर्वत्र भगवद्बुद्धिरतो भगवच्चरणारविन्दसम्बन्धस्य प्रकर्षेण सिद्ध्यर्थं पूतनादिभावः इत्यर्थः ($१०\frac{१}{२}$).

१. तदाविष्टलीलाविषयत्वे इति मुं. वि. पाठः.

कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम् ।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहन् शकटायतीम् ॥१५॥

प्रथमतो भगवच्चरित्रं पूतनासुपयःपानमिति काचित्पूतना भूता जाता, अन्या "अहं कृष्ण"इत्युक्तवती, तदा तामङ्कं भगवद्बुद्ध्या अगृह्णात्. ततस्तस्याः **पूतनायन्त्याः कृष्णायन्ती स्तनमपिबत्.** तस्यास्तु मरणभावना न स्थितेति सा न मृता नाप्यनुकरणं कृतवती. कृष्णायन्ती च स्तनमात्रमेव पिबति अलौकिकसामर्थ्याभावाद् इति स्तनपानमात्रमुक्तम्. अमङ्गलतानिवृत्तये च शकटभङ्गलीलामाह **तोकायित्वे**ति, तोकवदाचरति, आत्मानं तोकं मन्यते वा, तोकवदात्मानं कृत्वा वा **शकटायतीं** शकटवत् स्थिताम् **अहन्** ताडितवती ॥१५॥

तृणावर्तलीलामाह

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् ।
रिङ्गयामास काप्यंघ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥१६॥

टिप्पणी

कस्याश्चित्पूतनायन्त्या इत्यत्र **अन्या "अहं कृष्ण" इत्युक्तवतीति.** यद्यप्यत्रोक्तिप्रयोजनं नास्ति, पूतनासुपयः[१]पानदशायामुक्तिप्राकट्याभावाच्च नैवं सम्भवति, तथापि यदा तदा "पूतना मां गृह्णात्वन्यथा तु कार्यं न भविष्यती"ति भगवदिच्छा स्थिता, तथा "कृष्णत्वेनेयं मां जानात्वि"ति कृष्णायन्त्या अपि तदेच्छासीदिति ज्ञापनपरा तदुक्तिरिति ज्ञेयम्. **तस्यास्त्वि**त्यादि, अत्र मुख्योपपत्ति**र्भावनयैवाविर्भूति**त्यादिना पूर्वमेवाचार्यैरुक्तेति सर्वमवदातम् ॥१५॥

लेखः

कस्याश्चिदित्यत्र. **तस्यास्त्वि**ति, पूतनाया मया मर्तव्यमिति भावना न स्थितेत्यर्थः. **तोकायित्वे**त्यत्र, आद्यपक्षे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे"ति क्यङ्, तोकवदाचरित्वेत्यर्थः. अग्रे पक्षद्वये प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्टवच्चेति णिच्. **तोकव**दित्यर्थकथनम्, विग्रहस्तु तोकं मन्यते तोकं करोति वा तोकयति, **आत्मानमि**त्यर्थात्. मूले ककारस्य छान्दसो दीर्घः. तथा चात्मानं तोकायित्वा तोकं मत्वा तोकं कृत्वा वेत्यर्थः ॥१५॥

१. पूतनासुपान॰ मू. पा.

दैत्यायित्वेति, दैत्यवदात्मानं कृत्वा कृष्णस्यार्भ बाल्यं भावयन्ती **कृष्णार्भभावनां तामेका** आत्मानं **दैत्यायित्वा जहार. काऽपि अंघ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः रिङ्गयामास** चलितवती, यथा बाल्ये मुग्धप्रभीतवत् घोषप्रघोषरुचिरं भगवान् गच्छति. पूर्वश्लोके चतस्र उक्ताः लीलाद्वयेन, तास्तामसतामस्यः. अत्र तिस्रएव राजसतामस्य इति चरित्रलीलायामुक्ता विशेषा अत्राप्यनुसंधेयाः. अथवा. युगलास्तिस्रो निरूपिताः, गुणातीता त्वेका. पुनः प्रकारान्तरेण बह्व्यः एकभावमापन्नाः भगवदिच्छया प्रधानगुणभावं प्राप्य रजसा अनेकधा विक्षिप्ताः बहुरूपा जाताः ॥१६॥

वृन्दावनक्रीडायां वत्सपालकरूपा जाताः. तत्र प्रकारमाह **कृष्णे**ति.

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन ।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥१७॥

प्रकाशः

कृष्णरामायित इत्यत्र. ननु वत्सपाललीलायां बालकाएव सङ्गे

योजना

रिङ्गयामास काप्यंघ्री इत्यस्य विवृतौ **पूर्वश्लोके चतस्र उक्ता लीलाद्वये** इति. "कस्याश्चित्पूतनायन्त्या" इति श्लोके चतस्रो गोपिका उक्ता– पूतनायन्ती कृष्णायन्ती तोकायन्ती शकटायन्ती चेति. **लीलाद्वये** इति, पूतनामारणशकटभंजनाख्ये लीलाद्वय इत्यर्थः. **अत्र तिस्र एवे**ति, **दैत्यायित्वे**तिश्लोके दैत्यायन्ती कृष्णार्भभावना च रिंगणकर्त्री चेति तिस्र एवेत्यर्थः. **अथवा युगलास्तिस्रो निरूपिता** इति. पूतनायन्ती कृष्णायन्ती चेत्येकं युगलम्, तोकायन्ती शकटायन्ती चेत्येकं युगलम्, दैत्यायन्ती कृष्णार्भभावना चेत्येकं युगलमेवं युगलत्रयं वर्तते यासां ता**स्तिस्रो युगलाः**, 'युगल'शब्दा"दर्शआद्यच्." तथा च युगलास्तिस्रः सगुणा इत्यर्थः. **गुणातीता त्वेके**ति, रिंगणकर्त्री गुणातीतेत्यर्थः. **पुनः प्रकारान्तरेण बह्व्यः** इत्यारभ्य **बहुरूपा जाता** इत्यन्तम्. **एकभावमापन्ना** इति, गोपालकरूपा बह्व्यो जाता इत्यर्थः. **प्रधानगुणभावं** कृष्णबलदेवभावं गोपिके द्वे प्राप्ते. **रजसा अनेकधा विक्षिप्ता बहुरूपा जाता** इति. शृङ्गाररससम्बन्धिना रजोगुणाख्येन भावविशेषेण विक्षिप्ता बहुरूपा गोपालकरूपेषु बहुरूपा जाताः, श्रीकृष्णरूप-बलदेवरूप-गोपबालकरूपभेदेन गोपरूपेषु बहुत्वात् ॥१६॥

द्वे **कृष्णरामायिते** कृष्णरामवत् जाते, **काश्चन गोपायन्त्यः. गोपा** अत्र बालकाः, जातिशब्दोऽयम्. वत्सरूपाश्च काश्चन जाताः **चकारेण** समुच्चिताः. **अन्या पुनर्वत्सायिता** वत्सासुरवदाचरति तां घ्नती च जाता, कृष्णायिता अर्थात्. **चकारात्** फलानि पातयन्ती च. अन्या पुनः **बकायन्तीं** घ्नती जाता. वत्सवधो लोके बलभद्रकृत इत्यपि प्रसिद्धः– "प्रलम्बो निहतोऽनेन वत्सको धेनुकादयः." अत उभयोर्मध्ये एका बकायतीम्, अन्या वत्सायतीम् ॥१७॥

ततः परं गोपरूपेण वृन्दावनलीलामाह **आहूयेति**.

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥१८॥

गोरूपाः काश्चन जाताः, गोपालरूपाः काश्चन. तत्र **यद्वत् कृष्णः दूरगाः** गाः **आहूय** वेणुक्वणनं करोति, एवं **दूरगा** गोपी**राहूय तं** कृष्ण**मनुकुर्वती** काचित् जाता. तां **वेणुं क्वणन्तीं** ततो नानाविधक्रीडां कुर्वतीम् **अन्याः** गोपायिताः साधु**साध्विति शंसन्ति** ॥१८॥

एका पुनः क्रीडायां कृतापि लीला भागवते अनुक्ता तां भावयित्वा तादृशीं लीलां कृतवती, तदाह **कस्याश्चिदिति**.

कस्याचित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु ।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥१९॥

अत्रापि पूर्ववद् युगलास्तिस्रः, चतुर्थ्येषा– कृष्णरामायिते द्वे युगले, साध्वाशंसनसहिता वेणुनादनपरा च तृतीया, एषा तु निर्गुणा. **कस्यांचित्**

प्रकाशः

सन्तीति 'बालायन्त्य' इति वक्तव्ये **गोपायन्त्य** इति कथमुक्तमित्याकांक्षायामाहुः **गोपा** इत्यादि. तत्रोपपत्ति**र्जातीत्यादि** ॥१७॥

लेखः

आहूयेति श्लोके "अंघगम्भीरये"ति श्लोकोक्ता लीला ज्ञेया ॥१८॥

योजना

कस्यांचित्स्वभुजं न्यस्येत्यस्य व्याख्याने **अत्रापि पूर्ववत् युगलास्तिस्र** इति. **अत्रापीति**, "कृष्णरामायिते" इत्यारभ्य **ललितामिति तन्मना** इत्यन्तेन वृन्दावनलीलाकथनप्रसंग इत्यर्थः. **पूर्ववत् युगलास्तिस्र** इति, "कस्याश्चित्पूत-नायन्त्या" इत्यादिना निरूपितयुगलवद् युगलास्तिस्र इत्यर्थः. तत्र

गोपरूपायां **स्वभुजं** स्थापयित्वा **चलन्ती. अपरा** गोपरूपा अतोऽन्या. **ननु** हे गोप्यः **अहं कृष्णः, मे ललितां गतिं पश्यतेति**. दोषाभावार्थमाह **तन्मना** इति. पूर्वं कायिकीं चेष्टां केवलां कृतवती, इदानीं वाचा सहिताम् ॥१९॥

पुनः प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यमाह **मा भैष्टेति**.

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥२०॥

एषैव निर्गुणा. काश्चन गोगोपगोपीरूपा जाता वृष्टिभीता इव. तदा **वातवर्षाभ्यां** हेतुभूताभ्यां **मा भैष्ट, मया तत्त्राणं विहितम्** इत्युक्त्वा **एकेन हस्तेन अम्बरं नयन्ती** पर्वतवत् स्थापयन्ती ऊर्ध्वं **निदधे** गोवर्धनवद् धारितवती. **यतन्ती** प्रयत्नं कुर्वन्ती वा ॥२०॥

सात्त्विक्याश्चेष्टामाह **आरुह्येति**.

लेखः

मा भैष्टेत्यत्र. हेतुभूताभ्यामिति भयहेतुभूताभ्यामित्यर्थः ॥२०॥

योजना

"कृष्णरामायिते"इत्यनेन श्रीकृष्णबलदेवौ निरूप्य "वत्सायतीं घ्नती चान्या तत्रैका तु बकायतीमि"त्यनेन श्रीकृष्णकृतबकमारणलीला-बलरामकृत-वत्समारणलीलोक्ता. अतः श्रीकृष्णरूपा एका अपरा बकरूपेत्येकं युगलम्. बलरामरूपा एका अपरा वत्सरूपेत्येकं युगलम्; इत्थं युगलद्वयम्. तदाहुः "कृष्णरामायिते द्वे युगले" इति. "आहूय दूरगा यद्वदि"ति श्लोके दूरगगवाह्वान-वेणुक्वणन-क्रीडन-कर्त्री कृष्णरूपा एका साध्वाशंसनकर्त्री एकेत्येकं युगलम्, इत्थं तिस्रो युगलाः. युगलं विद्यमानं यासां ता युगला इत्यत्र अर्शआद्यच्. यद्यपि "आहूय दूरगा" इति श्लोके गोरूप-कृष्णरूप-गोपरूपेण त्रित्वं वक्तुमुचितं तथापि गवाह्वानलीलाकर्तृत्वेन एको भगवान् विवक्षितस्तन्मध्ये [1]गोपरूपाणामभिनिवेशादित्यर्थः. **साध्वाशंसनसहिता वेणुवादनपरा च तृतीयेति, वेणुवादनपरा** गोपी श्रीकृष्णरूपधारिणी **साध्वाशंसनकर्त्रीभिर्गोपरूपाभिः सहिता** तृतीया तृतीययुगलसाधिकेत्यर्थः. **एषा त्विति, कस्यांचित्स्वभुजमित्यत्रोक्ता** कृष्णरूपा गुणातीतेत्यर्थः ॥१९॥

---

१. गोरूपाणाम् इति मुं. वि. पाठः.

आरुह्यैकां पदाक्रम्य शिरस्याहापरां नृप ।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥२१॥

एकामारुह्य पदा च आक्रम्य शिरसि पादाघातं कृत्वा. **नृपेति** सम्बोधनं विश्वासाय, एषा लीला कठिना. उपरि वृक्षशाखामवलम्ब्य वा तथा कृतवती. [१](वस्तुतस्तु या लीला यथा प्रभुणा कृता सा तथैवात्राविर्भवति इति निरालम्बनत्वेऽपि नानुपपत्तिः.) हे **दुष्टाहे** कालिय, इतो **गच्छ**, यतो**ऽहं खलानां दण्डधृक् जातः. ननु** इति सम्बोधनं अमारणार्थम् ॥२१॥

तत्रैकोवाचेति.

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् ।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥२२॥

राजसी पुन**स्तत्रैका** जाता, **उवाच** च वक्ष्यमाणम्. गोरूपाः काश्चन, गोपरूपास्तथापराः. एका तु कृष्णरूपा आह **हे गोपा उल्बणं दावाग्निं पश्यतेति**. विरहेण दावाग्निं दृष्टवती, भावनया वा तथा भानम्. सर्वापि क्रीडा भगवद्रूपा तत्र तत्राविशतीति दावाग्नेरपि दर्शनम्. अन्यासां विशेषाकारेण तस्यां भगवद्भावाभावात् न तत्प्रार्थना. एवमेव वातवर्षस्थलेऽपि. अतिमत्तानामेव भगवद्भावेन तल्लीलावेशात् तस्य(स्याः!) एव दर्शनमिति निष्कर्षः ॥२२॥

टिप्पणी

तत्रैकोवाचेत्यत्र विरहेण दावाग्निं दृष्टवतीत्यादि. अत्रेदमाकूतम्. भगवता यदेयं लीला कृता तदा पूर्वं गोपैर्दावाग्निर्दृष्टः ततः प्रार्थितः प्रभुः, अत्र कथं तद्वैपरीत्यमुच्यत इति शङ्कानेन निरस्यते. अतिविगाढभाववत्या एव भगवद्भावो भवति तादृश्याएव च हृदये विरहाग्निः प्रकटो भवतीति सैव स्वामिनी तं[२] दृष्टवती. तदेतदुक्तं **विरहेणे**त्यादिना. तदा पूर्वं ततः पालनमेव कृतमित्यधुनापि स्वामिन्या रक्षैव सम्पन्नेति भावः. अथवैतस्या एवैतल्लीलाभावनाभूदिति सैवोक्तवतीत्याहु**र्भावनया वे**ति ॥२२॥

प्रकाशः

बद्धान्ययेत्यत्र. ननु पूर्वं भगवता पूतनासुपयःपानं ततः शकटभङ्गादिश्च कृत इति तेन क्रमेण पूर्वा लीला उक्त्वा अत्र गोवर्धनोद्धरणादिलीलासु

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्. २. तम् इति मूलपाठे नास्ति.

तामसीमाह बद्धेति.

बद्धान्यया स्रजा काचित् तन्वी तत्र ह्युलूखले ।
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥२३॥

उलूखले कयाचिद् **बद्धा स्रजा** मालया, उलूखलस्थानीयापि काचित्. अन्या तु यशोदारूपा. तदा **भीता** सती **सुदृक्** उत्तमदृष्टियुक्ता **आस्यं पिधाय** हस्तेन सम्पूर्णं मुखमाच्छाद्य **भीत्य**नुकरणं **भेजे.** अत्र क्रमे गुणाएव प्रयोजकाः. तत्तदधिकारानुसारेण तत्तल्लीलाः प्रादुर्भवन्ति. भगवद्वशीकरणान्ता च लीला, अन्यथान्ते उलूखललीला न कृता स्यात्. नातः परं कर्तव्यमस्तीति लीलाया विरतिः. एवं लीलाभावमुपपाद्य भगवद्भावे वक्तव्ये भगवतो भीतिविडम्बनलीलायां सर्वा लीलास्तिरोहिताः. ततः पूर्ववत् पुनः प्रश्न एव स्थितः, तस्य संवेदनपूर्वकत्वात्. एतत्त्वावेशेन जातमिति संवेदनराहित्यम्[१], अतस्त्वस्य नोपसंहारः ॥२३॥

पूर्वं तु "इत्युन्मत्तवच"इति वचनमेवोपसंहृतं, न तु प्रश्न उपसंहृतः.

प्रकाशः

किमिति स क्रमो नोक्त इत्याकांक्षायामाहुः **अत्र क्रम** इत्यादि **विरतिरि**त्यन्तम्. तथा च अनुक्रियमाणलीलाक्रमे चित्तजानां गुणानामेव प्रयोजकत्वात्तदधिकारानुसारिभावनया तत्तल्लीलाप्रादुर्भावात्तासां च भगवद्वशीकरणमेव फलं, यतो वशीकृतएव पदानि दर्शितवानिति वक्तुमत्रैवं कथनं; भगवदिच्छयैवारब्धक्रमत्यागश्चेत्यर्थः ॥२३॥

एवं कृष्णमित्यस्याभासे वचनमेवेत्यादि, एतेनात्रत्यः **पृच्छमाना योजना**

बद्धान्यया स्रजेत्यत्र भगवद्वशीकरणान्ता च लीलेति. साधनानां परमकाष्ठा तु तदैव सिध्यति यदा भगवान् स्ववशे भवतीति पुष्टिभक्तिमार्गव्यवस्था. सा चास्य लीलायां सिद्धेति नातः परं किञ्चित्कर्तव्यमतो लीलानां तिरोभावः. साधनत्वेनाविर्भूय कृतार्थीभूताः अतः प्रयोजनाभावात्तिरोभूता इत्यर्थः. एतावता भगवति वशीभूते पुष्टिभक्तिस्वरूपं सिद्धं, "कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते" इति निबन्धाद्, "यथा दामोदरलीलायां सा पुष्टिरि"ति व्याख्यानाच्च ॥२३॥

१. संवेदनरहितमिति पाठः.

अत इदानीं मध्ये लीलामुक्त्वा तस्यास्तिरोधाने पुनरेव वृन्दावनलतास्तरून् कृष्णं पृच्छमाना जाता इत्याह **एवमिति**.

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून् ।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥२४॥

तदा पुनरनुत्तरे प्राप्ते भगवानाविशन् मोहं दूरीकृत्य सर्वं ज्ञापितवानित्याह **व्यचक्षतेति**. तापापनोदार्थमेव त्रयम्– अन्वेषणं लीलावेशो भगवदावेशश्चेति. तत्र प्रश्नोऽन्तरङ्ग इति सएव सर्वत्रानूद्यते, **वृन्दावनलताः तरून् कृष्णं पृच्छमाना** जाता इति. ततो **वनोद्देशे** वनभूमौ भगवतः **पदानि** दृष्टवत्यः. **परमात्मन** इति पदानां परमपुरुषार्थता सूचिता– भगवदावेशे हि सर्वज्ञता भवति, तेषां च कार्यं भगवत्पददर्शनम्, "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय" इति श्रुतेः[१] ॥२४॥

एता अपि पूर्ववद् दशविधाः, तथैव तासां वचनानि. पदानि प्रत्यक्षयोग्यानि सर्वैरेव दृश्यन्त इति तेषां याथात्म्यज्ञानं साध्यम्. अतः प्रथमम् आहुः **पदानि व्यक्तमेतानीति**.

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः ।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजांभोजचक्रांकुशयवादिभिः ॥२५॥

एतानि पदानि नन्दसूनोरेव. व्यक्तं सत्यं, नात्र संदेहः. चिह्नैः पदानां विशेषज्ञानम्. चिह्नान्येव कथं भवन्तीत्याशङ्क्य तत्रोपपत्तिमाहुः **महात्मन** इति– महतामप्यात्मा महान् वा ब्रह्मरूपः, तस्य तत्तत्कार्यार्थं पदे चिह्नानि भवन्ति. प्रकृतेऽपि तेषामुपयोग इति तदभिव्यक्तिः क्रियते. तानि

प्रकाशः

इत्यनेनोक्तः कायिकाभिनयः कृतो बोधितः. तेनात्यार्तिर्बोधिता. तादृश्यामार्तौ यज्ञातं तद् व्याख्यान आहुः **तदा पुनरि**त्यादिना. ननु भगवदावेशो मूले वाचनिको नेति स्वयं कथमुच्यत इत्यत आहुः **भगवदि**त्यादि. तथा च सर्वज्ञतालक्षणकार्यानुमेयमित्यर्थः. सर्वज्ञतायाः किं ज्ञापकमत आहुः **तेषां चे**त्यादि, सर्वज्ञानामित्यर्थः ॥२४॥

लेखः

व्यचक्षतेत्यत्र. तापापनोदार्थमिति, अन्वेषणेन शान्तिरन्याभ्यां तदस्फूर्तिरिति विभागोऽत्र ॥२४॥

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे द्रष्टव्यम्.

चिह्नान्याह **लक्ष्यन्त** इति, अनुमीयन्ते पदानि असाधारणधर्मैः. **(हि!)** लोकेऽप्येतादृशोऽर्थः प्रसिद्ध इति सम्मतिः. **ध्वजस्य** स्थापनं भक्तानां निर्भयवासार्थम्. **अम्भोज**स्थापनं सुखसेव्यत्वाय. **चक्र**स्थापनं रक्षायै. मनोनिग्रहार्थं **अङ्कुश**स्थापनम्. कीर्तिसिद्ध्यर्थं **यवः**. वज्रादयो**ऽप्यादि**शब्देनोच्यन्ते, पापपर्वतादिनिराकरणार्थाः ॥२५॥

एवमसाधारणधर्मैः पदानि निश्चित्य तन्मार्गेण गता इत्याह **तैस्तैरि**ति.

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः ।

वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन् ॥२६॥

ज्ञानं क्रियापर्यवसायीति क्रिया निरूप्यते. **तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः** जाताः पदान्यन्विष्य तत्पदवीं गता इत्यर्थः. मध्ये तासां प्रतिबन्धमाह **वध्वा** इति. यदि तासां मत्सरदोषो न स्याद्, गच्छेयुरेवान्तिकम्. दोषवशाच्च परं कुण्ठिता भवन्ति. तदाह **वध्वाः** कस्याश्चिद्गोपिकायाः **पदैः सुपृक्तानि** पंक्त्याकारेण गतानि भगवत्पदानि दृष्ट्वा तानि **विलोक्य** च **आर्ता** जाताः. तदा अन्योऽन्यमे**वाब्रुवन्** ज्ञानक्रिययोरुपसर्जनं कृत्वा वाचि प्रतिष्ठिता जाताः. अन्यथा शीघ्रगमने भगवान् प्राप्तः स्यात् ॥२६॥

प्रकाशः

तैस्तैरित्यत्र, अबला जाता इति, देहमनुसन्दधाना जाता इत्यर्थः. **एता** इति पदद्रष्ट्र्य इत्यर्थः ॥२६॥

लेखः

तैस्तैरित्यस्याभासे गता इत्याहेति. "इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुरि"त्यनेन गमनस्योपसंहारात्तावत्पर्यन्तस्याभासोऽयम्. तथाच मध्ये यदुक्तं तदपि गमनाङ्गत्वेनैवेति भावः. **तैस्तैरित्यत्र तत्पदवीं गता** इति, "इत्येवं दर्शयन्त्यस्ता" इत्यन्तस्यार्थोऽयम्. **वध्वाः पदैरित्यत्र तानि विलोक्य चे**ति वधूपदानीत्यर्थः. **जाता** इति, **अन्विच्छन्त्यः** सत्योऽ**बलाः** सत्यः **आर्ताः** सत्यो**ऽब्रुवन्**नित्यन्वये त्रयं तत्तदानन्तर्येण प्राप्तमित्याशयेन तथोक्तम् ॥२६॥

योजना

पदानि व्यक्तमेतानीत्यत्र, **महान्** वा **ब्रह्मरूप** इति, अस्मिन्पक्षे कर्मधारयो ज्ञेयः. महांश्चासावात्मा चेति विग्रहे **महा**पदस्यार्थमाहुः **ब्रह्मरूप** इति ॥२५॥

तासामसूयावाक्यान्याह

॥ श्रीगोप्यः ऊचुः ॥

कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना ।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥२७॥

कस्याः पदानीति, पुरुषोऽत्र न संभाव्यते नापि ग्रामान्तरस्त्रियः, अतोऽस्मन्मध्य एव कस्याश्चिद्भविष्यन्तीति. अयं प्रश्न इतरपरिच्छेदेन विशेषज्ञानार्थः; न त्वत्र पदे लक्षणानि सन्ति. **चकारा**द्भगवतः तस्याश्च चेष्टाज्ञापकानि चिह्नान्यप्युच्यन्ते. सा हि **नन्दसूनुना** सहैव याता, अन्यथा भगवान् न गच्छेत्, तयैव प्रायेण नीतः. स्वापेक्षया तस्या महद्भाग्यमाहुः **अंसे न्यस्तः प्रकोष्ठ**भागो यस्याम्. **प्रकोष्ठ**भागो भगवदीयः करतलादर्वाचीनभागः. तावता करेण क्वचित्सम्बन्धः सूचितः तावदेव नैकट्यं पदयोरिति. किञ्च मध्ये तयोः रसाविर्भावोऽपि जायत इति दृष्टान्तेनाहुः **करेणोः करिणा यथे**ति, [1]**करेणोरंसे करिणा यथा** हस्तः प्रसार्यत इति. करेणुः स्त्री, तस्या अंसे यथा करी हस्तं प्रसारयति तदा पदानि मिलन्ति, संमुखश्च भवति, [2]उद्घृष्टकण्ठा वा भवति. स्पर्शसुखमेव प्रधानमिति गजो दृष्टान्तीकृतः. एवं त्रिविधा गोपिका उक्ताः ॥२७॥

गुणातीताया वाक्यद्वयमाह दोषाभावप्रतिपादकं गुणप्रतिपादकं च, तामसतामसी भगवदाविष्टा न भवतीति, **अनयाराधित** इति द्वाभ्याम्.

टिप्पणी

याताया नन्दसूनुनेत्यत्र प्रभोः सहभावोक्त्या गौणत्वेन सूचितमर्थमाहुः **तयैव प्रायेणे**ति ॥२७॥

प्रकाशः

पदानीत्यस्याभासे, **अनये**त्यत्र **तामसतामसी**ति "विप्रावमन्ता विशतां तमोऽन्धं यथा गज" इति वाक्याद्गजस्तामस इति तद्दृष्टान्तीकरणात्तद्वक्त्री स्वामिनी तामसतामसीत्यर्थः. **नूनं नाराधित** इत्यनेन स्वयमप्याराधितः परं किञ्चिद्द्वारेति लक्ष्यते. नन्वेवं सद्वारकाराधने तत्क्रतुन्यायेन फलमपि सद्वारकं स्यात् नतु साक्षात्सम्बन्ध इत्यत आहुः **भगवदि**त्यादि. ब्रह्मपुराणसमाप्तौ मायानुकीर्तनाध्यायारम्भे भास्करप्रसादात् शंभोः पूजारुचिमुक्त्वा "तुष्टे

१. करेणोः हस्ते इति पाठः. २. उद्घृष्टकण्ठ इति पाठः.

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो तामनयद्रहः ॥२८॥

तत्र प्रथमं तया सह विशेषरमणे तस्या भाग्यं तस्याः पुण्यं हेतुत्वेनाहुः **अनया हरिर्नूनमाराधितः.** यद्यप्यस्माभिरप्याराधितः तथापि नूनं नाराधितः, भगवदनाराधकैरपि फलत्वाद् भगवतः सम्बन्धसम्भवात्. आराधिते तु फलं स्ववशे भवति. तत्रापि तारतम्यम्. ननु तुल्यकर्मणां मध्ये कथम् अवान्तरभेदः? तत्राह **भगवानि**ति. सामग्रीभेदात् कर्माणि सर्वत्र विलक्षणानि भवन्ति. तदवान्तरवैलक्षण्यं सएव जानाति, अतस्तथा फलनिरूपको जातः. ननु तथापि वयं तथा न ज्ञापनीयाः दुःखसाधकत्वादिति चेत्, तत्राहुः **हरि-रि**ति. स हि सर्वदुःखहर्ता, वैलक्षण्यज्ञापनार्थं तथा बोधितवान्. ननु भक्तिः तुल्येति कथं भक्त्यनुसारेण तुल्यं फलं न कृतवान्, तुल्यफलत्वेन कर्म कुतः

टिप्पणी

भगवान्हरिरीश्वर इत्यत्र **वैलक्षण्यज्ञापनार्थमि**ति, तादृशं कर्म स्वकृतमिति स्वदोषज्ञाने मात्सर्यजं दुःखं न भवतीति तथेत्यर्थः. **तुल्यफलत्वेने**ति. यादृक्कर्म तादृगेव फलमिति तुल्यफलकं कर्म भवति. तथा च यथास्मास्वपि

प्रकाशः

त्रिलोचने तस्य भक्तिर्भवति केशव'' इति कथनाद्, एकादशे भगवतापि मयबाणयोः शैवत्वेन प्रसिद्धयोरपि ''वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ बिभीषण'' इत्यादिना स्वपदप्राप्तिकथनाच्च **भगवदनाराधकैः** साधनैरपि तथोक्तत्वान्न साक्षात्सम्बन्धानुपपत्तिरित्यर्थः. एतेनानन्यपूर्वाभिरपि स्वस्य कात्यायनीद्वारक-मेवाराधनं स्मृतमिति प्रतिभाति. ननु यद्येवं तर्ह्याराधिते को विशेषो येन तत्र निश्चय उच्यत इत्याकांक्षायामाहुः **आराधित** इत्यादि. ननु यद्येवं तर्हि भगवानाबाल्यादेतद्वशएव ''गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यदि''त्यादिनोक्तः, इदानीमप्येतद्वाक्यांगीकाराच्चैतद्वशत्वमेव प्रकटीकृतमिति कथं **नूनं नाराधित** इत्युच्यत इत्यत आहुः **तत्रापी**त्यादि, साक्षादाराधनेऽपीत्यर्थः. अन्यथा कथं विहाय गत इति भावः ॥२८॥

लेखः

अनयाराधित इत्यत्र **पुण्यमि**ति, आराधनं पुंण्यम्. तज्जनितं भगवत्प्रसादविषयत्वं **भाग्यशब्देनो**च्यते ॥२८॥

स्वीकृतवान्, तत्राहु**रीश्वर** इति, कदाचिद्भक्तिमुररीकरोति, कदाचित्कर्म, कदाचित् स्वेच्छाम्. न हीश्वरो नियन्तुं शक्यो अस्मान् भक्तिमार्गे योजय(ये!)ति, न कर्ममार्ग इति. अतएव **नः** अस्मान् **विहाय गोविन्दः** साधारणेन्द्रोऽपि **रहः** एकान्ते **प्रीतः** सन् **तामेवानयत्.** कामरसः स्त्रीसमूहापेक्षयाप्येकस्यामेव मुख्यतयोत्पद्यते. तथा करणे प्रीतिर्हेतुः, प्रीतौ भक्तिः कर्म वा ॥२८॥

एवं तस्या भाग्यमभिनन्द्य मात्सर्येऽपि गूढे तथा वचनं भवतीति स्वभाग्याभिनन्दनमप्याहुः **धन्या** इति.

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः ।
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥२९॥

अहो आश्चर्ये, हे **आल्यः** सख्यः, **अमी अंघ्रिरेणवो धन्याः.** मात्सर्याभावार्थं चैतदुच्यते, यथा रेणवः तथा सेति. विश्वासार्थम् अप्रतारणार्थं च सम्बोधनम्. अनेन रेणूत्कर्षेण रेणवएव धार्याः स्वदोषनिवृत्त्यर्थमित्युक्तं भवति. पूर्वमत्रैव ते रेणवः स्थिताः, न तदा तेषामुत्कर्षः. यदा पुनश्चरणसम्बद्धाः तदा धनमर्हन्तीति. धनं कृष्णः, यथेन्द्रो देवानाम्. यथा धनेन सर्वविषयप्राप्तिः एवं प्रभुणापि. तेषां धन्यत्वमुपपादयन्ति **यानिति. ब्रह्मा ईशो रमा** च देवतारूपा पालिका शक्तिः. तेषां स्वस्वाधिकारे

टिप्पणी

कर्मवैलक्षण्येऽप्यस्मान् भक्तिमार्गेऽङ्गीकृतवानिति सा च तुल्येति तुल्यं फलं कृतवान्, तथा चेत्तामप्यङ्गीकुर्यात्तदास्मत्तुल्यैव भवेत्. [1]तस्यामाराधनबललक्षणं कर्माधिकमस्तीति तां तन्मार्गे कुतोऽङ्गीकृतवानित्यर्थः. [2]**गोविन्द**पदतात्पर्यनिरूपणे **साधारणेन्द्रोऽपीति**. यद्यपि "इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य चे"ति वाक्यात् साधारण्येन सर्वस्यैव गोकुलस्येन्द्रः न तु विशेषेणैकस्य कस्यचित् अतस्तादृशस्यास्मदपेक्षया विशेषेणैकस्या भोगोऽनुचितः, तथापीश्वरत्वात्तथोपपद्यत इति भावः ॥२८॥

धन्या अहो इत्यस्याभासे **स्वभाग्याभिनन्दनमपीति**, चरणसम्बन्धाद्रेणूनां धन्यत्वोक्त्या स्वस्यापि तथात्वात्तथात्वमायातीति तथा ॥२९॥

लेखः

यान् ब्रह्मेश इत्यत्र **तन्निवृत्त्यर्थमिति**. धनं प्रभुमर्हन्ति, अतो येषां

१. आराधनलक्षणमिति तु मूलपाठः. २. 'गोविन्दे'त्यारभ्य 'भाव' इत्यन्तं क्वचिन्नास्ति.

दोषसंभवात् तन्निवृत्त्यर्थं **मूर्ध्नि दधुः**. ब्रह्मानन्दरूपाया निवृत्त्यर्थं **देवता**पदम्. अतः कारणादेतद्धारणेन वयमपि निर्दुष्टाः नीयमानगोपिकातुल्या भविष्याम इति ॥२९॥

अन्या रजःप्रकृतय आहुः **तस्या** इति.

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यद् ।
एकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥३०॥

भगवच्चरणारविन्दरजस्तथैव, परमस्याः गोपिकायाः **अमूनि पदानि** सङ्गे गच्छन्त्याः **नो**ऽस्माकं **क्षोभं कुर्वन्ति,** तत्राप्युच्चैरत्यर्थम्. नन्वेकाकी भगवान् गच्छेत् तदपेक्षया ससहायो भक्तिमार्गे युक्त इति चेत्, तत्राहुः **यद्** यस्माद् गोपिकानां सर्वासामेव भागरूप**मच्युताधरं** ता विहाय **एकै**वोप**भुङ्क्ते.** तत्रापि **रहः** एकान्ते तासामनुज्ञाव्यतिरेकेण. ननु विरतो भगवान् बहुस्त्रीसम्बन्धाद्भविष्यति, कुतः सा भोक्ष्यते, तत्राहुः **अच्युते**ति. स हि पूर्णकामएव, न तस्य च्युतिरस्ति ॥३०॥

अन्याः पुनस्ततोऽपि खेदं कृतवत्य इत्याह **न लक्ष्यन्त** इति.

न लक्ष्यन्ते पदान्यग्रे तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः ।
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥३१॥

अहो किमिति विचार्यते अधरामृतं पिबतीति; एतावद्दूरे समागतानि **तस्याः पदानि अग्रे न लक्ष्यन्ते.** न च वक्तव्यं समीचीनं जातमिति, तत्राहुः **तस्याः तृणाङ्कुरैः खिद्यत्** पादतलं जातम्. तदा तादृशी**मुन्निन्ये** ऊर्ध्वं नीतवान्, कटिभागे स्कन्धभागे वा. वस्तुतस्तु हस्ताभ्यामेवोद्धृतवानिति सुतरां खेदे हेतुः. ननु कथमेवं करिष्यतीत्याशङ्क्याहुः **प्रेयसीमि**ति, साप्यत्यन्तं प्रिया, स्वयमपि **तस्याः प्रियः.** अतो ज्ञायते न सा स्कन्धमारूढा किन्तु केवलमुन्निन्ये ॥३१॥

किञ्च तेन प्रकारेण न बहुदूरे गमनं संभवति. अतः क्वचिद्विश्रम्य

लेखः

मूर्ध्नि स्वयं तिष्ठन्ति तेषामपि दोषनिवर्तनेन तत्र योग्यतां सम्पादयन्तीत्यर्थः ॥२९॥

तस्या इत्यस्याभासे **रजःप्रकृतय** इति, सत्त्वप्रधानास्तिस्र उक्ताः, ततो गुणातीताया वाक्यद्वयम्; अत्र रजःप्रधानास्तिस्र उच्यन्त इत्यर्थः ॥३०॥

पुष्पावचयमपि तदर्थे करोतीत्याहुः अत्रेति.

अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः ।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥३२॥

प्रसूनानामवचयो वृक्षादुत्तारणम्. न च स्वार्थं भविष्यतीति शङ्कनीयं, सा हि श्रान्ता अतः **प्रियार्थ** एव. सा तु कर्तुमशक्तैव तदाहुः **प्रेयसा कृत** इति, सा हि भगवदपेक्षया खर्वा प्रपदाभ्यामुत्थातुमप्यशक्ता अतः प्रेयसैव कृतः. यतः **प्रपदाक्रमणे** पादाग्राभ्यामेवाक्रमणं ययोः. अत **एवासकले,** पार्ष्णिभागो नाभिव्यक्त इति. **पश्यतेति** सन्देहाभावार्थं वचनम् ॥३२॥

ततोऽप्यन्या अधिकमेव सूचयन्त्य आहुः **केशप्रसाधनमिति.**

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥३३॥

नखैरेव **केशानां प्रसाधनं** वेण्याकारेण आपीडाकारेण वा. **तु**शब्दोऽन्यथापक्षं व्यावर्तयति, न ह्यत्र ज्ञानोपदेशः सम्भवति. तदाहुः **कामिन्याः कामिना कृतमि**ति. एतद् उत्थायापि भवति, चूडायां पुष्पप्रवेशनं तु उत्थिते न भवति; क्रोडे पुष्पाणि स्थापयित्वा क्रमेण तानि निवेशनीयानि. अतः **तानि चूडयता इहोपविष्टम्. ध्रुवमि**ति सत्यम्. **कान्तामुप** कान्तासमीपे कान्तामुद्दिश्य वा, तथैवाकृतिर्दृश्यत इति ॥३३॥

एवं रसार्थं तस्यानयनं सामग्रीसम्पादनमलङ्करणं चोक्तम्. यदर्थमेतावत्तदाहुः **रेम** इति.

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥३४॥

पुष्टत्वात् कामस्य **आत्मरतः तया च** सह **रेमे. च**कारात् लक्ष्म्या च. अन्तःप्रविष्टाभिर्वा. सापि रेम इति वा. **आत्मन्येव रतिर्यस्य,** तेन

लेखः

केशप्रसाधनमित्यस्याभासे ततोऽप्यन्या इति तमःप्रधाना द्वय्य (?) इत्यर्थः. तामसतामसीस्थाने गुणातीताया वाक्यद्वयमुक्तमित्युक्तमेव ॥३३॥

रेमे इत्यत्र, **तया चे**ति, कामपोषादात्मरतः स्वार्थपरो जातस्तया सह रेमे चेत्यर्थः. आत्मरतत्वे तया सह रमणे च कामपोषो हेतुरिति **च**कारः. मूलस्थचकारार्थमाहुः **चकारादिति. अन्तःप्रविष्टाभिरिति,** अन्तर्गृहगताः

निष्काम एव तस्या यथेच्छं कामं पूरितवान्. अस्यामपि दशायामात्मरतएव, रसाधारत्वाय तस्यामात्मानं स्थापितवान्. **आत्मन्येव** मुख्या **रतिः आत्मन्येव**

टिप्पणी

रेमे तया चात्मरत इत्यत्र **पुष्टत्वात्कामस्ये**त्यादि, यथा प्राकृतः कामी महानपि केवलं स्वार्थपरः सन् स्वयं यदि सुखी भवति तदा स्वकृतेऽपि दुःखिनं नानुसंधत्ते तथा. यथात्मारामत्वलक्षणं स्वधर्ममप्यतिक्रान्तवांस्तथाऽस्मद् दुःखमप्यविचार्य स्वार्थमेवैतावत्सम्पाद्योद्भटभावः स्वयं तादृश्यैव तया च रेम इत्यर्थ इत्याशयेनोक्तं **पुष्टत्वादि**त्यादि. तथा च स्वधर्माविचारकस्य परधर्माविचारे किमाश्चर्यमिति भावः. एवं **सत्यात्मरत** इत्यस्य स्वार्थपरत्वमर्थः पर्यवस्यत्यतो न पौनरुक्त्यमिति ज्ञेयम्. एवं सकामत्वेऽपि न निष्कामताक्षतिरिति ज्ञापनायात्मारामत्वोक्तिरित्याशयेनाहु**र्निष्काम एवे**त्यादि. प्रकारान्तरेणाप्यपौनरुक्त्यमित्याशयेनात्मरतत्वं प्रकारान्तरेणाहुः **रसाधारत्वाये**ति. अत्रेदमाकूतम्. रसात्मकत्वाद्भगवतस्तस्य च स्थायिभावात्मकत्वात्तमेतस्यां प्रकटीकृत्य रेमे, अन्यथैतद्रसानुभवासम्भवात्, न तु प्राकृतभावे सतीति. यद्वा **आत्मरत**

प्रकाशः

रेम इत्यत्र टिप्पण्यां **यथा प्राकृत** इत्यारभ्य **ज्ञेयमि**त्यन्तेन **तया च सह रेमे** इत्येतदेव व्याख्यातं ज्ञेयम्. एवं सति "आत्मरत आत्मक्रीड आत्ममिथुन" इति श्रुत्युक्तं भज्येतेति तत्संग्रहाय सुबोधिन्यां **च**कारं व्याकुर्वते **चकारादि**त्यादि. तथा च लक्ष्मीस्ताश्च न स्वतो भिन्ना इति न श्रुत्युक्तस्य[१] भङ्ग इत्यर्थः. ननु तथापि पूर्वोक्तरमणं तु [२]तद्भञ्जकमेवेत्यत आहुः **निष्काम** इत्यादि. ननु पारार्थ्येऽपि तद्भङ्गो नापैतीत्यत आहुः **अस्यामपी**त्यादि. अर्थस्तु टिप्पण्यां **प्रकारान्तरे**त्यारभ्य **सती**त्यन्तेन विवृतः.

लेखः

सायुज्यं प्राप्ता भगवदन्तःप्रविष्टास्ताभिरित्यर्थः. **रसाधारत्वाये**ति, तस्याः शृङ्गाराधारत्वाय**आत्मानं** शृङ्गारस्थायिभावं **तस्यां स्थापितवानि**ति टिप्पण्यर्थः. **आत्मरत**पदस्यार्थमाहुः **आत्मन्येवे**ति, शृङ्गारस्थायिभावात्मकस्वरूपे एव **रति**रासक्तिरित्यर्थः. **आत्माराम**पदस्यार्थमाहु**रात्मन्येव रमणमि**ति. उभयत्राप्या**त्म**पदं स्थायिभावपरम्, उत्तरपदार्थ एकत्रासक्तिरेकत्र क्रीडेति विभेदः.

१. श्रुत्युक्तकल्पभंगः इति मुं. वि. पाठः. २. निष्कामत्वभञ्जकम्.

रमणं क्रीडा च यस्य, यतो **अखण्डितः** इन्द्रियैरन्तःकरणैर्विषयैर्वा. यदि स्वानन्दोऽन्यत्र गच्छेत् तदान्यत्र रतो भवेत्. ननु कथमेवमसमीचीनस्थाने एतावता प्रयासेन एवं रमणं कृतवानिति? तत्र प्रयोजनमाहुः **कामिनां दर्शयन् दैन्यमिति**, कामिनस्त्वेवमेव दीना भवन्ति. "कामार्ता हि प्रकृतिकृपणा" इति तेषामनुकरणं करोति, अन्यथा तेषां निरोधो न स्यात्. प्रयोजनान्तरमप्यस्तीत्याहुः **स्त्रीणामिति, स्त्रीणां च दुरात्मता** प्रदर्शिता. न तासां काचिदशक्तिरस्ति नापि सौकुमार्यं किन्तु वशीकृते पुरुषे दौष्ट्यमेव कुर्वन्ति, "शालावृकाणां हृदयान्येता" इति. अत उभयबोधनार्थमेवं रेमे ॥३४॥

टिप्पणी

इत्यत्र**आत्म**पदं स्वामिनीवाचकम्. तथा **चात्मारामोऽपि तयात्मरतः** कृतो **रेमे. च**काराद्विशेषरमणं विविधबन्धादिविशिष्टमुच्यते. तथा सति नखदशनादिकार्यसम्भवेनाब्रह्मत्वशङ्का स्यात्, तन्निरासायाहु**रखण्डित** इति, यथा तस्यां रतोप्यात्मारामएव तथा दशनादिभिः खण्डितोऽप्यखण्डित एवेत्यर्थः. **कामिनां दर्शयन्दैन्यमित्यत्र कामिनस्त्वित्यारभ्य एवं रेम** इत्यन्तम्. अत्रायमर्थः.

प्रकाशः

सुबोधिन्यां **रमणं क्रीडेति आत्माराम**पदस्यार्थो ज्ञेयः. "केशप्रसाधनमि"त्यारभ्य सात्त्विकीनां वाक्यानि तन्मध्य इदं सात्त्विकसात्त्विक्या इति बोधयितुं टिप्पण्यां प्रकारान्तरं संगृह्णाहुः **यद्वे**त्यादि. सुबोधिन्या**मसमीचीनस्थान** इति, "तृणाङ्कुरैः खिद्यत्सुजातांघ्रितलामि"त्यनेन सूचित इति ज्ञेयम्. कामुकानुकरणकरणकस्तन्निरोधप्रकारो न स्फुटइति एतद्वाक्यवक्त्रीष्वपि रसभावज-मानस्य

लेखः

इन्द्रियैरिति, एतन्निष्ठैरिन्द्रियैरन्तःकरणै रूपादिविषयैश्चा**खण्डितो**ऽसम्बद्धः स्वानन्दः. स्वानन्द इन्द्रियादिसम्बन्धार्हश्चेद्भवेत् तदा स्थायिभावस्थापनव्यतिरेकेणापि लोकवत्तस्यामिन्द्रियादिद्वारैव सुखं जनयेत्. अयमानन्दः स्वात्मनैव सम्बद्धुमर्हः अतो लोकप्रकारं परित्यज्य तदात्मनि स्वात्मानं स्थापयित्वा तत्र रतो जातः क्रीडां च कृतवानित्यर्थः. **असमीचीनस्थाने** इति तल्पादिसामग्रीरहिते इत्यर्थः. **अन्यथे**ति, कामिषु दैन्यमेव फलतीति ज्ञाने कामिनः कामं परित्यज्य भगवन्तं भजेयुरिति भावः ॥३४॥

एवं सर्ववस्तुयाथात्म्यस्फुरणं भगवदावेशात्तासां निरूपितमुपसंहरति **इत्येवमिति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः ।

एवंप्रकारेण भगवल्लीलाः **प्रदर्शयन्त्यः चेरुः** गतिं कृतवत्यः. तासामनेकविधत्वे हेतुमाह **गोप्य** इति– न हि ताः शास्त्रेण भगवदीया जाताः किन्तु स्वभावेन; स्वभावस्त्वनेकविध इति सर्वमुपपद्यते. किञ्च नहि ताः किञ्चिद् ज्ञात्वा वदन्ति किन्तु **विचेतस**एव. अथवा. **एवं दर्शयन्त्यो विचेतसो** जाताः, प्रकारत्रयस्यापि समाप्तत्वात्. अतस्तासां नाग्रे गतिर्न वचनानि ॥

एवमेतासां स्वरूपं निरूप्य तस्याः स्वरूपं निरूपयति **यां गोपीमिति** सार्धैः त्रिभिः.

टिप्पणी

पूर्वमात्मारामत्वोक्त्या तादृशोऽपि सन् यन्नायिकाधीनत्वमेवं भजते तेन रसात्मको रसवांश्च भगवानेव, अन्ये तु कामिनो रसाभासिनो मलपूर्णे वस्तुन्यासक्त्या बीभत्सरसपूर्णाः भ्रान्ताः सन्तस्तादृशीष्वेव दैन्यमात्रं फलं लभन्त इति ज्ञाप्यते. किञ्च आत्मारामोऽपि यद्रसपरवशस्तत्रैव रसभरवशेन मानादिकं भवति, अन्यासु तु रसाभावान्न स मानः किन्तु दौष्ट्यप्रकटनमेवेति. एतेनात्मारामस्यापि प्रभोर्यत्र रतिस्तत्रैव रसो नान्यास्विति फलितम् ॥३४॥

प्रकाशः

भगवद्धर्मत्वेन खेदबीजं न स्फुटमिति तदुभयं व्यक्तीकुर्वन्ति टिप्पण्या**मत्रायमर्थ** इत्यादिना, **किञ्चे**त्यादिना च. तथा चोक्तप्रकारकज्ञानेन कामिनिरोधः[१] स्वस्मिन्नमुख्यतमो रस इति खेदबीजमिति भावः ॥३४॥

लेखः

इत्येवमित्यस्याभासे **एवं सर्ववस्त्विति**. इदं स्फुरणं भगवदावेशेन नतु पूर्ववत्पददर्शनेन. अत्र पददर्शनं तु भगवदावेशकार्यत्वेनोक्तं न तु स्फुरण-हेतुत्वेनेति भावः. **अथवेति**, **इति चेरुः** प्रकारत्रययुक्तमपि चरणं गमनं समाप्तमित्यर्थः, तत **एवं दर्शयन्त्यो विचेतसो** जाता –एवमन्वयः ॥

स्वरूपमिति, सकार्यं मदं मानं चेत्यर्थः. **दोषदर्शन** इति, निमित्तसप्तमीयम्,

१. कामनिरोधः इति मुं. वि. पाठः.

दोषोऽभिमानवचनं वचनोत्तरमेव च ॥(११)॥
पूर्ववच्च तिरोभावो विज्ञेयं दोषदर्शने ॥
यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥३५॥

यां गोपीं पूर्वमजातदोषाम् **अनयत्,** यतः **कृष्णः** सदानन्दः, तस्यामानन्दं स्थापयितुम्. **अन्यास्तु स्त्रियो** जाताः, सा तु मुग्धैव **गोपी.** अतस्ता **वने विहाय** ताम**नयत्,** वनस्थानां विवेको भवतीति ॥३५॥

स्वयं [1]त्वयुक्तकरणात् प्रकृत्याद्यधिकारिणः ॥(१२)॥

टिप्पणी

यां गोपीमित्यत्र बहिःप्रियसम्बन्धेऽन्तरायहेतुत्वेन माने दोषत्वोक्ति-र्विवृताविति ज्ञेयम्. समानरसत्वेऽप्येतासां तदा मानोऽभून्नैकत्र. तत्राप्यधुना सोऽभूत्, तत्र हेतुमाहुः **स्वगत्ययुक्तकरणादि**ति. नायिकानां हि प्रकृतिः सदा मानिनीत्वम्. प्रकृते चेयदवधि नायकाधीनत्वमेवाङ्गीकृतमिति **स्वस्यापि** नायिकाप्रकृतेर्या **गती** रीतिस्तस्या**मयुक्तकरणा**न्नायकाधीनत्वेन स्थितेर्नायिका-

लेखः

एतासां स्वदोषपरिज्ञानार्थमित्यर्थः. "अन्विच्छन्त्य" इति श्लोकव्याख्याने इदं स्फुटं भविष्यति. **स्त्रियो जाता** इति, अन्याः वने विहाय तामनयत् यतोऽन्याः स्त्रियो जाताः ॥३५॥

योजना

सा च मेने तदात्मानमित्यस्याभासे **स्वयं त्वयुक्तकरणादि**ति कारिका— एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः (१२).

कारिकार्थः

यां गोपीमनयत् कृष्णः इत्यादि सार्धत्रयश्लोकवाक्यार्थनाहुः **दोषो** इत्यादि. **दोषदर्शने** इति निमित्तसप्तमी. तथा च तस्यास्त्यागादिकं तासां स्वदोषस्फूर्तिनिमित्तं विज्ञेयमित्यर्थः. तस्याः तादृगवस्थादर्शनेन तासां स्वदोषस्फूर्तिरभूद् "अस्मद्दोषेणैव वयं त्यक्ता" इति (११ $\frac{1}{2}$).

अत्रैव श्लोके **स्वयन्त्वि**त्यादि. ननु समानरसवत्त्वेऽपि एतासां तदा मानोऽभूत्, नैकस्यां भगवता नीतायां; तत्रापि अधुना मानोऽभूत् तत्र को हेतुः इत्याशंक्याहुः **स्वगत्ययुक्तकरणादि**ति. अत्र टिप्पण्यां "नायिकानां हि

१. गत्ययुक्तेति पाठः सूचितः.

बुद्धिं स्म नाशयामासुः साप्यन्येवाभवत्ततः ॥

तदाह.

सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ।

हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥३६॥

सा च तदा **सर्वयोषितां** मध्ये **वरिष्ठं मेन** इति. **च**कारः पूर्व-समुच्चयार्थोऽप्यर्थे. **त**देति पूर्वं तस्यास्तथात्वं न जातमिति. अनेन समुदायदोषेण न भगवांस्त्यजति किन्तु प्रत्येकदोषेणेति ज्ञापितम्. तस्यास्तथा

टिप्पणी

प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुत्वेनाधिकारिण **इवाधिकारिणो** ये, **आदि**पदात्प्रौढा भावास्ते पूर्वभावान्कोमलान्**नाशयामासुरि**त्यर्थः. **स्वयं त्वयुक्ते**ति पाठे **स्वयं**पदं स्वामिनीपरं, शेषं पूर्ववत्. ननु पूर्वमेवास्या अपि स्वामिन्या मानः कुतो नाभूत् रसप्राप्तेस्तुल्यत्वादिति चेद्, उच्यते. भगवान् हि भक्तेभ्यो भजनानन्दं दातुं लीलां करोति, स्वस्य तद्रसानुभवार्थं च. तथा च बह्वीष्वपि प्रियासु सतीष्वेकस्यां पृथङ्नयनेन विशेषरमणे यो रसः स न सम्भूय रमणे. स च स्वरूपात्मकएवेति तत्स्वरूपं प्रकटीकृतवानिति न काप्यनुपपत्तिः. पूर्वं मानाभावे स्वामिनीभिरेव हेतुरुक्तो"ऽनयाराधित" इत्यादिना (११-१२$\frac{१}{२}$).

प्रकाशः

यां गोपीमित्यस्य टिप्पण्याम्, **अधिकारिणो ये** इति **य**च्छब्दे स्वभावगुणा बोध्याः॥३५॥

कारिकार्थः

प्रकृतिः सदा मानिनीत्वम्. प्रकृते च इयदवधि नायिकाधीनत्वमेव अंगीकृतमिति **स्वस्या** नायिकाप्रकृतेः या **गती** रीति तस्या**मयुक्तकरणात्** नायिकाधीनत्वेन स्थितेः नायिकाप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुत्वेन अधिकारिण इव अधिकारिणो ये प्रकृत्यादयः, **आदि**पदात् प्रौढा भावास्ते पूर्वभावान् कोमलान् **नाशयामासुरि**त्यर्थः". तथा च पूर्वे भावानां कोमलत्वात् मानाभावेऽपि पश्चात् नायिकास्वभाववशात् कोमलभावरूपबुद्धिनाशे **सापि** नायिका **अन्येवाभवत्** मानवती जातेत्यर्थः. एवं च अयं मानो नायिकायाः प्रकृतिसिद्धएव न तु दोषात्मक इति भावः. **स्वयं तु अयुक्तकरणादि**ति पाठे **स्व**पदं स्वामिनीपरं, शेषं पूर्ववत् (१२$\frac{१}{२}$).

दोषे हेतुः **हित्वेति**, **कामयाना** अपि सर्वाः **गोपीः हित्वा असौ मां भजत** इति. तत्रापि **प्रियः** यथैव मम प्रीतिर्भवति तथैव करोति न तु क्वचिदप्य-प्रियविषयः. अतोऽहं वरिष्ठा. अन्यथानुपपत्त्या तथात्वं कल्प्यते ॥३६॥

दोषाभावेनैवोत्तमता न तु धर्मान्तरेण, अतस्तस्या भ्रमः. भ्रान्ताया वाक्यमाह

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् ।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥३७॥

ततो गत्वेति. ततो भोगस्थानादग्रे **गत्वा वनोद्देशम**तिरमणीयम्.

टिप्पणी

ततो गत्वेत्यस्याभासे **दोषाभावेनैवे**त्यादिना दृप्तात्ववक्तुस्तात्पर्यमुच्यते. शक्तौ सत्यामपि प्राकृतकामिवत्कामाधीनत्वेन स्ववशत्वज्ञानेनाशक्तिख्यापने स्वस्कन्धेनापि नेष्यतीति ज्ञानं भ्रमः. यथा भगवद्रमणे दोषाभावासम्भवा-द्भगवद्भावात्मकावेव सौभाग्यमद-मानाविति "तासां तत्सौभगमदमि"त्यत्र निरूपितं, तथा प्रकृतेऽपि प्रियाधीनत्वभावेनात्र रसो दत्त इति स एव भावोऽत्राजनि, न तु दोषरूपः. सएव **हित्वा गोपीरि**त्यनेनोक्तः. [१]एवं सत्यत्र

प्रकाशः

ततो गत्वेत्यस्य टिप्पण्यां पूर्वं भक्तानां भावस्य भगवद्भावात्मकत्वेन स्थापितत्वाद् अत्र च **न तु धर्मान्तरेणे**त्युक्तौ तदापत्त्या पूर्वस्माद्विरोध इति तन्निवारणाय तत्तात्पर्यमाहुः **दृप्तात्वे**त्यादि **भ्रम** इत्यन्तम्. ननु भ्रमस्य सर्वत्र दोषजन्यत्वदर्शनात् कथमेतद्भ्रमजनकभावस्यादोषत्वमित्याकांक्षायां तदुप-पादयन्ति **यथे**त्यादिना. **स एवेति** "प्रियो मद्वश" इत्याकारकः. तथा च यथा लोके रमणस्य दोषत्वेऽपि भगवदीयस्य तस्य न तथात्वं तथैतस्यापि

लेखः

हित्वेत्यत्र **अप्रियविषय** इति, अप्रिया विषया यस्माद्, अप्रियविषय-सम्पादक इत्यर्थः. तथा च मूले **प्रियपदस्य** प्रियविषयसम्पादकत्वमर्थः. स एव **यथैव ममे**त्यनेन विवृतः ॥३६॥

तस्या भ्रम इति जात इति शेषः. भ्रमस्तु टिप्पण्यां विवृतः. **भ्रान्ताया** इति, **केशवमब्रवीदि**त्यन्तेन पूर्वार्धे भ्रमो विवृतः उत्तरार्धे वाक्यमुक्तमिति

१. ततो भोगस्थानेत्यादिग्रन्थतात्पर्यमाहुः एवं सतीत्यादि.

स्वार्थमयं गच्छति न तु मदर्थम्. ततश्चान्यार्थं मया कथं खेदः प्राप्तव्य इति **दृप्ता.** तादृशभगवत्कृपायामनधिकारिणी प्राप्तप्रसादेन जाताजीर्णा ब्रह्मादिभ्योऽपि मोक्षदातारं देहेन्द्रियादिसर्वरहितं परमानन्दरूपं **केशवमब्रवीत्.** तस्या वाक्यमाह **न पारय** इति, **अहं चलितुं न पारये.** तथापीष्टदेशं गन्तव्यमिति चेत्, तत्राह **यत्र ते मनः** तत्र **मां** त्वमेव **नय** ॥३७॥

तदा भगवानतिचतुरः तद्वाक्यस्योत्तरमाह **एवमुक्त** इति.

टिप्पणी

विप्रयोगात्मकरसाननुभवे पूर्णरसदानं न भविष्यतीति ज्ञात्वा प्रभुः संयोगरसदित्सासंकोचमकरोत्. अयमेव भावः **क्रियाशक्तिसंकोचप्रकाशको न पारयेहं चलितुमित्य**नेनोक्तो अन्यथाऽनृतवादित्वं स्यात्; न हि भगवन्तं प्रति तदीयानामेवं सम्भवति. स त्वतिपूर्णरसाविर्भाविन **स्तम्भरूपः** सात्त्विकभावो भवितुमर्हति. दृप्तत्वं ह्यमर्यादत्वं, तथा चोक्तरीत्या निरवधिरसदातुस्तत्संकोचेच्छा रसमार्यादिकी न भवतीति तद्भावोदयोऽत्र **दृप्ता**पदेनोक्तः.

प्रकाशः

तत्सम्बन्धित्वेन भगवदीयत्वादेव न तथात्वमित्यर्थः. अग्रिमस्य भावतथात्वमुपपादयन्ति **एवं सती**त्यादि **अर्हती**त्यन्तम्. मध्यमस्य साधयन्ति **दृप्तत्वमि**त्यादि. **इति तद्भावे**त्यत्र **इति**र्हेतौ, तथा च रसमर्यादाविरुद्धेच्छायाः हेतोरित्यर्थः. **उक्त** इति, मूले सुबोधिन्यां चोक्त इत्यर्थः. **अत्रापीति**, स्वामिन्यामपि संयोगजनकभाव-दूरीकरणाय **तद्भावजननं दृप्ता**पदोक्तभाव-जननमित्यर्थः. तथा च सुबोधिन्यां यत्तादृशकृपानधिकारित्वं जाताजीर्णत्वं **च** यदुक्तं तत्पूर्वापेक्षया सर्वात्मभावाधिक्यज्ञापनार्थम्. तेन यादृश्यन्यासु कृपा तदनधिकारिणी, किन्तु तद्विलक्षणकृपाधिकारिणी प्रसादप्राप्त्या अत्यन्तमुच्छलद्रसेति हृदयं बोध्यम् ॥३७॥

लेखः

विभागः. **जाताजीर्णे**ति, **जीर्णा जाता** वृद्धिं प्राप्ता गरिष्ठा जातेत्यर्थः. **देहेन्द्रियादीति केशव**पदार्थ एवोच्यते. मोक्षदत्वकथने स्वस्यापि देहेन्द्रियादिराहित्यं परमानन्दरूपत्वं च प्राप्तमिति भावः ॥३७॥

वाक्यस्योत्तरमाहेति, इति शुक आहेति शेषः.

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्धमारुह्यतामिति ।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥३८॥

प्रियेति कृत्वा उत्तरमुक्तवान्. उत्तरमाह **स्कन्धमारुह्यतामि**ति. एषा हि नृत्यं कर्तुं वाञ्छति स्वान्तर्गतं रसमभिनेतुम्. तद्भूमौ पदस्थापने

टिप्पणी

रजस्तमोऽधिष्ठात्रोरपि तज्जं भावं दूरीकृत्य अमृतदातेत्यत्रापि पूर्णरसदानार्थमेव तद्भावजननं स्वतिरोधानं चेति ज्ञापनाय **केशव**पदोक्तिः. एवं सति पर्यवसानतो रसमार्यादिकीत्वमप्युक्तेच्छाया ज्ञायते. [1]प्रिया त्विमं वृत्तान्तमजानन्ती पूर्ववदेव प्रियः करिष्यतीति ज्ञात्वा **नय मामि**ति क्रियाशक्तिं प्रार्थितवती. परन्तु **यत्र ते मन** इत्यज्ञात्वाप्युक्तेर्भगवन्मन उक्तकार्येऽस्तीति पूर्ववत्क्रियोद्गमस्याशक्यत्वादुभयोः[2] प्रभुरशक्यमेवोपदिष्टवान्प्रियायाः स्वस्कन्धारोहणं, न तु स्वस्य. अग्रिमरसदित्सया प्रभुः स्वहार्दं न ज्ञापयतीति प्रिया प्रियस्कन्धमेव बुद्ध्वा तथैव कर्तुमुद्यताभूत्. तदा प्रभुस्तथाकरोत्. एतत्सर्वं हृदि कृत्वाचार्यैरुक्त**मेषा हि नृत्यमि**त्यादि. नटो हि नृत्यचेष्टया स्वान्तःस्थं रसं द्रष्टारमनुभावयति, एतद्धर्मसाम्येनात्रापि **नृत्य**पदप्रयोगः कृतः. एतदेव विवृतं **स्वान्तरि**त्यादिना. पूर्वं प्रभुणा सर्वथा तदधीनत्वेन रसो दत्तः सोऽन्तःप्रियाया अस्तीत्यधुना स्वयं तं रसं प्रियमनुभावयितुं वाकृती प्रकटयति. तच्चाशक्यं, भक्तस्नेहेनैव तद्वशीभूतस्तथा रमते, न त्वन्यथापि. प्रकृते हि "न पारयेहमि"त्यादिस्नेहरीतिविरुद्धम्. यद्र-समार्गाविरुद्धमिति तथा कर्तुमुचितं भवतीत्युच्यते, तन्न साधीयः, तथा सति रसस्वाभाव्येन प्रियान्तःस्थरसच्युतेः किं प्रियमनुभावयेत्? अग्रिमरसदानप्रतिबन्धश्च[3] भवेत्. इदमेवोक्तं **तद्भूमावि**त्यादिना. एतदर्थस्तु

योजना

स्कन्धमारुह्यतामितीत्यस्य विवरणे **एषा हि नृत्यं कर्तुं वाञ्छति स्वान्तर्गतं रसमभिनेतुमि**ति. अयमर्थः. भगवता सह रमणे यो रसोऽनुभूतः सोऽन्तस्तिष्ठति. तस्याभिनयो नृत्येन कर्तव्यः, अभिनयस्य नृत्यसाध्यत्वात्.

१. **एषा हि नृत्यमि**त्यादिग्रन्थतात्पर्यमाहुः **प्रियेत्या**दि. २. संयोगविप्रयोगयोरित्यर्थः.
३. प्रतिबन्धकश्च मू. पा.

ऊर्ध्वभावाभावात् रसः च्युतो भवेत्, अतः स्वस्कन्धमेवारुह्यतामिति. स एवात्यन्तं नटवटुः यः स्वस्कन्धमारुह्य नरीनर्ति. अशक्यं ह्युपदिशति, प्रार्थितं तथेति. भगवतो हि मनः अलौकिकरसाभिनयने, तद्भूमौ पदस्थापने न भवति. अशक्ता चेत् कथं वदेत्? अतो मम तत्रैव मनः, यदि तथा करिष्यति

टिप्पणी

तद् उक्ताभिनयनं **भूमौ** स्वान्तर्लक्षणस्थानं त्याजयित्वा बहिःस्वप्रौढ्या तत्प्रकटने न सम्भवतीति शेषः. तत्र हेतु**रूर्ध्वभावे**त्यादि. स्वान्तर्गुप्तो हि रसामृताब्धिरुत्तरोत्तरं भावतरङ्गाननुभावयति, इदमेवोर्ध्वभावत्वम्. सएव बहिःप्रकटितो रसत्वादेव बहिर्भवति. [1]अतोऽयमेवोर्ध्वभावाभावः. **च्युतः** स्वरूपतएव नष्टो **भवेदि**ति यावत्. **अलौकिकरसाभिनयनं** विरहेणार्त्यादिप्रकटनं तत्, लौकिकरीत्या स्वाधिक्यज्ञापनं **भूमौ पदस्थापनम्;** तस्मिन्सति तत्र सम्भवतीत्यर्थः. **अशक्ता चेदि**ति, "यत्र ते मन" इति प्रौढ्या, न तु प्रार्थनरीत्या, सख्येन **कथं वदे**दित्यर्थः.

प्रकाशः

एवमुक्त इत्यत्र सुबोधिन्यां **नटवटुरि**ति वट वेष्टने कर्तरि उप्रत्ययः. तथा च **नटेषु** वटुर्वेष्टकः स्वांगवेष्टनचतुर इत्यर्थः. (टिप्पण्याम्!) **एषा हि नृत्यमि**त्यादिग्रन्थस्य तात्पर्यमाहुः **प्रिया त्वि**त्यादिना. **उभयोरि**ति संयोग-

लेखः

स्वस्कन्धमेवेति, स्वान्तरेवानुभवः कर्तव्यो न तु रसो बहिः प्रकटनीयः, तथा सति अन्यथा भवेत्. लीलारम्भे स्वानन्दस्य स्थानत्यागेनान्यथाभवनाभावार्थं योगमाया-श्रयणमुक्तम्. अत्र भगवदिच्छाभावाद्योगमाया न तथा करोति, अतोऽन्यथा भवेदेवेति भावः. रसाधिक्येन तथाभावानन्तरं यथाक्रमकरणे

योजना

अतोऽभिनयं चिकीर्षुर्नृत्यं कर्तुं वाञ्छतीत्यर्थः. **तद्भूमौ पदस्थापने ऊर्ध्वभावाभावात् रसः च्युतो भवेदि**ति. **भूमौ पदस्थापने** इति, भगवता सह चरणाभ्यां चलने इत्यर्थः. **रसश्च्युतो भवेदि**ति, अभिनायमानः[2] शृङ्गाररसश्च्युतो भवेद् बोधविषयो न भवेदित्यर्थः. **स एवे**त्यारभ्य **नरीनर्ती**त्यन्तं, सङ्गीतशास्त्रे नृत्यविशेषे स्वस्कन्धारोहणमुक्तं. तदतिकठिनम्. अतो यो नर्तकः स्वस्कन्ध-

१. अयमेवो° मू. पा. २. अभिनयाभावाद् इति मुं. वि. पाठः.

तदा नेष्यामीति. नह्यनधिकारी नेतुं योग्यः. भगवांस्तु नान्यथा वदतीति न स्वस्कन्धसम्भावना. तया तु मोहवशात् तथैव बुद्धम्. ततो मोहवशात् तथा चिकीर्षमाणां तां दृष्ट्वा **ततोऽप्यन्तर्दधे,** यतोऽयं **कृष्णः** सदानन्दः. ततः पूर्ववदेव सापि जातेत्याह **सा वधूरन्वतप्यतेति. वधूरिति** सा अनन्यपूर्वा व्रतमध्यस्था, तत्रापि गुणातीता. अतः **अन्वतप्यत** अनुतापं कृतवती ॥३८॥

टिप्पणी

(एवं सति भङ्ग्यन्तरेणाप्येतद्व्याकृतिः सम्भवति. तथा हि. भगवता ह्यस्यै प्रियायै पूर्णः स्वरसो दत्त इति भगवन्निष्ठा भावाः सर्वे हृदि स्फुरद्रूपा[१] जाताः. तथा च सर्वत आधिक्यमपि स्वस्मिन् स्फुरितम्. तदुक्तं **हित्वा**

लेखः

उभयनिष्ठरसच्युतेः शास्त्रसिद्धत्वादत्रापि "क्रिया सर्वापि सैवे"त्युक्तत्वाच्छास्त्ररीत्यैव रसानुभवं करोतीति तथा सम्भावना. भगवतोऽच्युतत्वेऽपि तत्र तथा सम्भाव्य-वियोगोपदेश इति निगूढं विभावनीयम्. **नेष्यामीती**ति, विरहेणार्त्यादिप्रकटनेऽदृश्यरूपेण नेष्यामीत्यर्थः. अतएव "पुनः पुलिनमागत्ये"ति श्लोके तथा व्याख्यास्यते. **सा वधूरित्यत्र वधू**पदेन भगवत्समानत्वमुक्तमित्याशयेनाहुः **गुणातीतेति** ॥३८॥

योजना

मारुह्य नरीनर्ति स अत्यन्तनटश्रेष्ठ इत्यर्थः. नन्वत्र भगवत्स्कन्धारोहणमेव भगवताऽऽज्ञप्तमित्येव कुतो नोच्यत इति चेत्, न, "सत्यं देवानामनृतं मनुष्याणामि"ति श्रुतौ मृषाभाषणस्य मनुष्यासाधारणधर्मत्वान्मनुष्यासाधारणधर्माणां "मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्नि"त्यादिवाक्यैर्भगवत्यभावात्. तदेतदाहुः **भगवांस्तु नान्यथा वदतीति न स्वस्कन्धसम्भावनेति. सा वधूरन्वतप्यते**त्यस्य विवरणे **अनन्यपूर्वा व्रतमध्यस्था तत्रापि गुणातीतेति**, वधूपदस्य अननुभूत-शृङ्गाररसायां नवोढायां "वरवध्वोः सुमङ्गलं" "वधूप्रवेशः खलु मङ्गलप्रद" इत्यादिवाक्यैः शक्तत्वस्य निर्धाराद् इयं **अनन्यपूर्वे**त्युक्तं, **सा वधूरन्वतप्यतेति-वधू**पदात्. **सेति** तच्छब्देन पूर्वोक्तपरामर्शिना **व्रतस्था** ग्राह्या, पूर्वं व्रतस्थानामेव रासक्रीडायां निरूपितत्वात्. **अन्वतप्यते**त्यनुतापकथनाद्गुणातीतत्वम्. अन्यथा रोषादिकं कुर्यात् नत्वनुतापम्, अतो गुणातीतत्वम् ॥३८॥

१. स्फुरिता मू. पा.

टिप्पणीः

गोपीरित्यादिना. एवं सति द्वितीयरसलीलाचिकीर्षा यदाभूत्सापि हृदि स्फुरिता. तामविषह्यां मन्यमानापि न कातरा जाता किन्तु पूर्वरसगरिम्णा दृढा सती प्रियमब्रवीत्. एतदेव **दृप्ता**पदेनोक्तम्. दुष्टगुणव्याप्तयोरप्यमृतं ददाति, अहं त्वेतद्गुणैरेव पूर्णेति अवश्यं सुखमेव दास्यति न दुःखमित्यभिप्रायज्ञापनाय **केशव**पदम्. **ततो भोगस्थानादग्रे वन**सम्बन्धिन**मुत्कृष्टं देशं** स्वयं स्वेच्छया **गत्वा** न तु प्रियेण नीता. [१]**गत्वाऽब्रवीदि**त्युक्त्या प्रियनैकट्यं ज्ञाप्यते. तेन तदधीनएव प्रियस्तत्संगे गत इति ज्ञापितं भवति. अथवा **वनमित्युद्देशो** नाममात्रं, वस्तुतस्तु महारसनिधानम्. तेन रसोद्दीपकमित्युक्तं भवति. "एतादृशे वने मद्वियोगेन मां विचिन्वन् यदि प्रियो भवति तदा कीदृशो रसः स्यादि"त्याशयेनाब्रवीत्. [२]अतएव **दृप्ता**त्वमुक्तम्. पूर्वरसातिमदात्तथा चेत्करिष्यतीति तदाऽहं **चलितुं** स्पन्दितुमपि **न पारये** जीवनमेव न संपत्स्यत इति भावः. एवं चेत् किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह **नये**ति, **यत्र** स्वान्तर्धाने **ते मन**स्तत्रान्तर्धाने **मां नय** तिरोहितां मां कुरु, त्वं मा तथा भवेत्यर्थः. प्रियस्त्विदमत्यशक्यमित्याशयेनोत्तरयति **स्कन्धे**त्यादिना. यथा स्वस्कन्धारोहणमशक्यं, तथा मत्तोऽन्तर्धानं भवत्याः. न हि पूर्णज्ञानशक्तेरविषयः कोऽपि भवितुं शक्नोति. यद्यपि विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन रसात्मकत्वेन च जानन्नेवाजानन्नपि भवितुं शक्नोतीत्येवमुत्तरं न सम्भवति, तथाप्यत्रातिप्रीतिविषयत्वेन "तं धर्मं प्रकटयितुं न पारय" इति भगवदाशयज्ञापनाय **प्रिया**पदमुक्तम्. उत्तरदानमप्यतएव, अन्यथा त्वेवमुक्तस्तूष्णीं तिष्ठेत्तिरोधीयेतैव वा. "प्रियात्वान्ममाशक्यं भवत्यास्तिरोधानं, तत्सामर्थ्याभावाद्भवत्याः [३]स्वतस्तिरोधानं [४]तथे"ति भावः. एवं सति प्रियया प्रार्थितं देयं यद्यपि, तथापि प्रियात्वेन स्वाशक्य**मिति** लक्षणो यो हेतु**स्ततो** हेतोः स्वयमेव तथाऽकरोदित्याह **ततश्चे**ति. एवं करणे प्रभुनिष्ठं हेतुमाह

प्रकाशः

विप्रयोगावस्थयोः. स्वतन्त्रे **स्वतस्तिरोधानं तथे**ति, भगवतः सकाशात्तत्तिरोधानं स्वस्कन्धारोहणतुल्यमित्यर्थः ॥३८॥

१. 'गत्वा' इति नास्ति मूलपाठे. २. अतो दृप्तात्वमुक्तम् मू. पा.
३. भगवतः ४. स्वस्कन्धारोहणतुल्यमित्यर्थः.

न केवलमन्तरनुतापः किन्तु तज्जनितो बहिरपि विलापो जात इत्याह **हा नाथेति.**

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥३९॥

हा इति पश्चात्तापे, अयुक्तं कृतमिति. तथापि हे **नाथ** त्वमेव स्वामी, अतो दोषएव दूरीकर्तव्यो न तु त्यक्तव्या. ननु दूरे स्थित्वा पालनं करिष्यामीति चेत्, तत्राह **रमणेति**, त्वमेव रतिवर्धको भोक्ता, भोग्यरूपाश्च वयम्, अतो निकटएव स्थातव्यमिति भावः. नन्वनुरोधेन केवलं पालनं करिष्यामि, भोक्तुरिच्छाभावात्; न हि भोग्येच्छया भोक्ता भुंक्ते, तत्राह **प्रेष्ठेति**, न ह्यन्यः प्रीतिविषयोऽस्ति येन जीविष्यामि. अत्यन्तं व्याकुलाया वचनमाह **क्वासि क्वासीति**. मोहवशाद् अन्धा पतिता च जाता, तत उत्थापनार्थं संबोधयति **महाभुजेति**, महान् भुजो यस्य. महती क्रियाशक्तिः, अतो दोषएव दूरीकर्तव्यो नत्वहम्. यतोऽहं **दासी**, तत्रापि **ते** तवैवाहं दासी. स्वभावत एवाहं **कृपणा** अनालोचितयाचिका, अतो मद्वचनान्नान्यथाभावः कर्तव्यः. एवं प्रार्थनायां परमकृपालुस्तामुत्थाप्य स्वस्थां कृतवान् अदृश्यरूपेणैव. तदा पुनराह हे **सखे**, स्पर्शेन स्वधर्मारोपात्स्व**संनिधिं दर्शय** वर्तसे निकटे तथापि यथा सान्निध्यं दृष्टं भवति तथा कुरु. एवमेव वदन्ती स्थिता. भगवानपि तत्रैव स्थितः ॥३९॥

ततो यज्जातं तदाह **अन्विच्छन्त्य** इति.

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्यो विचेतसः ।
ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ॥४०॥

पूर्वोक्ता **गोप्यः** भगव**न्मार्गमन्विच्छन्त्यः** अविदूरतएव तां **ददृशुः**. तासां क्रोधाभावायाह **दुःखितामिति**, न हि दुःखितायां क्रोधो भवति. दुःखे हेत्वन्तरनिराकरणायाह **प्रियविश्लेषमोहितामिति**, भगवतएव विश्लेषेण परममोहं मूर्च्छां प्राप्ताम्. सापि तासां **सखी.** अतः सख्यभावेन बह्व्यः तां प्रबोधितवत्यः, "न दुःखं पञ्चभिः सहे"ति ॥४०॥

टिप्पणी

कृष्ण इति, अस्यां दशायां हृदि प्रकटः सन्नेवानन्दात्मकतद्रसपोषको यत इत्यर्थः.)॥३७-३८॥ ॥ इति सप्तविंशोध्यायः॥

पूर्वमेताः "भगवानेवमेव कौतुकार्थं गतः न त्वस्मद्दोषेणे"ति ज्ञातवत्यः. अन्यथा दोषनिराकरणार्थमेव यत्नः कृतः स्यात्. स्वदोषपरिज्ञानं च भगवत्कृपयैव भवति न स्वत इति ज्ञापयितुं सा नीता. पश्चात् त्यक्ता कथनार्थमेव, अतो भगवदिच्छया सर्वं कथितवती. तत्र वक्तव्ये यत्प्रयोजकं तदाह **तया कथितमिति.**

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् ।
अवमानं च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥४१॥

मानप्राप्तिं च माधवाद्, अवमानं च दौरात्म्यादिति तया कथितं यद्यपि बह्वेव श्रुतम्, तत्रैतावानर्थो निर्धारितः— सन्माननं यत्प्राप्तं तन्न स्वगुणैः किन्तु लक्ष्मीपतेरेव गुणैः, लक्ष्म्यंशा एता इति. **दौरात्म्यात्** स्वधर्मादेव **अवमानम्.** चकारात् खेदभ्रमादयः. एवं भगवतः अलौकिकं सामर्थ्यं दृष्ट्वा **परमं विस्मयं** प्राप्ताः. एवं तद्वाक्यैः पदार्थनिर्धारो जातः— अन्वेषणादिना भगवान् न प्राप्तव्य इति ॥४१॥

अतः परं भगवत्प्रसादे को हेतुरिति विचार्य, सर्वपरित्यागेन देहपरित्यागपर्यन्तं साधनमिति निश्चित्य, तथा कृतवत्य इत्याह **तत** इति.

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते ।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुर्हरेः ॥४२॥

ततो वनमविशन्. मोहनिवृत्त्यर्थं वनप्रवेशः. वनं गतानामपि चेन्मोहः तदा किं वनप्रवेशेनेति **चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते** तावद्दूरमेव गताः, अतिनिबिडवनं तु न प्रविष्टाः. यदा पुनर्गाढे वने[१] अन्तश्चन्द्रकिरणा न प्रविशन्ति, तदा तत्र **तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः** निवृत्ता जाताः.

लेखः

तया कथितमित्यत्र. प्रयोजकमिति. प्रयोजनं वक्ष्यमाणार्थनिर्धारस्तज्जनकं मानप्राप्त्यवमानबोधकं वाक्यमित्यर्थः ॥४१॥

तत इत्यत्र. **मोहेति,** मोहो भगवद्भावान्यभावो, दोष इति यावत्, तन्निवृत्त्यर्थमित्यर्थः. **चन्द्रेति,** एतच्चन्द्रस्य स्वामिनी-मनोरूपोडु-रक्षकत्वं पूर्वमुक्तम्, अत एतत्प्रकाशरहिते देशे दोषएव भविष्यति न तु तन्निवृत्तिरिति भावः ॥४२॥ सप्तविंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

१. गाढवने इति बडौदापाठः.

ननु प्रथमं यदुद्योगेन वनं गताः तदकृत्वा कुतो वा निवृत्ता इत्याशंक्याह **हरेरिति**, **हरेः** सकाशाद् **हरेः** सम्बन्धिन्यो वा **ततो** अन्धकारान्निवृत्ताः, न हि भगवदीया अन्धकारं प्रविशन्ति. भगवतैव निवर्तिताः ॥४२॥

निवृत्ताः चेद् गृहं गताः भविष्यन्तीत्याशंकायामाह **तन्मनस्का** इति.

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।

तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥४३॥

ता नात्मागाराणि सस्मरुः. आत्मानं देहम् **अगारं** गृहम् तत्सम्बन्धीनि च वस्तूनि स्मृतवत्यएव न, कुतो गमिष्यन्ति! अस्मरणे हेतवः **तन्मनस्का** इत्यादिभिः पञ्चभिः पदैः पञ्च निरूप्यन्ते. स्मृतिर्मनसि जायते, तन्मनस्तु केवलं भगवत्येव, अत**स्तन्मनस्काः** भगवन्मनस्का **न सस्मरुः.** अन्यद्वाराप्यस्मरणार्थमाह **तदालापा** इति. अन्या अपि चेदन्यवार्तां कुर्युः तदा तत्प्रसङ्गाद् गृहादिस्मरणं भवति, सर्वाएव **तस्मिन्** भगवत्ये**वालापो** यासाम्. अतोऽन्यतोऽपि न स्मरणम्. ननु दैहिकी क्रिया क्षुत्पिपासाकृता आवश्यकी, तया देहादिस्मरणं भविष्यतीति चेत्, तत्राह **तद्विचेष्टा** इति, **तस्यैव** भगवतः पूर्ववच्चेष्टाविष्टाः. ननु तथापि सर्वज्ञानेष्वात्मांशः स्फुरति "घटमहं जानामि, पटमहं जानामी"ति, अतः कथमात्मास्फूर्तिः? तत्राह **तदात्मिका** इति, स एवात्मा यासाम्. सर्वदा **कृष्णात्मभावनैव** चित्ते सहजा तासाम्. अत आत्मत्वेन भगवानेव स्फुरति इति न देहादिस्फुरणम्. ननु "सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधका" इति अदृष्टवशात् कथं न स्मृतिः? तत्राह **तद्गुणानेव गायन्त्य** इति, यदि तूष्णीं तिष्ठेयुः भवेदपि स्मृतिः! अन्यासक्तास्तु ताः कार्यान्तरपराः. यत**स्तस्य** भगवतो **गुणानेव गायन्ति,** गुणैः कृत्वा दुरदृष्टं च नश्यति, अतो नादृष्टद्वारापि स्मृतिबोधः ॥४३॥

तर्हि किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **पुनः पुलिनमागत्येति.**

प्रकाशः

[**यदुद्योगेनेति**, देहत्यागपूर्वकं विवेचनम् उद्योगः. **भगवदीया** इति भगवत्सम्बन्धिनः ॥४२॥]

॥ इति सप्तविंशाध्यायसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ॥

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः ।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षया ॥४४॥

॥ इति श्रीभागवतमहापुराणे दशमस्कन्धपूर्वार्धे सप्तविंशोऽध्यायः ॥

पूर्वं पुलिने स्थिता यत्र तत्रैव **पुनरागताः**. ननु विवेकरहिताः कथं तत्रागताः? तत्राह **कृष्णभावना** इति, कृष्णएव भावना यासाम्. तेन भगवदिच्छया भगवत्प्रेरणया तत्रैव स्थाने भगवान् रतिं करिष्यतीति निश्चित्य तत् स्थानमस्माकं हितकरमिति तत्रैवागताः. ततः "कस्या वा भाग्यात् स्नेहेन कृपया वा आगच्छेदि"ति संदेहात् **समवेता** जाताः. तदा साधनान्तरमलभमानाः **कृष्णं** सदानन्दं **जगुः**, दोषनिवारणे हरिगुणगानमेव साधनमिति. निवृत्ते पुनर्दोषे स्वयमेवायास्यतीति **तदागमनकाङ्क्षया जगुः** ॥४४॥

श्रीकृष्णगोपिकास्तत्र द्विविधा नवधा गुणैः ॥(१३)॥
समुदायेन भिन्ना वा गतगर्वा असाधनाः ।
हरेर्गानं प्रियं मत्वा जीवनार्थमपि प्रियाः ॥(१४)॥

योजना

अध्यायविवृतिसमाप्तौ कारिकाद्वयम् **श्रीकृष्णगोपिकास्तत्रे**त्यादि. **द्विविधा** इति श्रुतिरूपाग्निकुमारभेदेनेत्यर्थः. **नवधे**ति सात्विकादित्रिकभेदेनेत्यर्थः. **समुदायेन भिन्ना वे**ति, समुदायेन यूथेन नवधेत्यर्थः. पूर्वस्मिन् पक्षे गोपिकाः प्रत्येकं सात्विक्यः राजस्यस्तामस्यश्चेति. अस्मिन् पक्षे तु समुदायेन तामसत्वं राजसत्वं सात्विकत्वं च. तथा च कश्चिद्यूथः सात्विकीनां, कश्चिद्राजसीनां, कश्चित्तामसीनाम्. तत्रापि सात्विकीनां त्रिकं राजसीनां त्रिकं तामसीनां त्रिकं चेति नवप्रकारा यूथा इति फलितम् (१३-१४).

॥ इति श्रीमन्निरोधस्कन्धसप्तविंशाध्यायसुबोधिनीयोजना सम्पूर्णा ॥

कारिकार्थः

अध्यायसमाप्तौ **श्रीकृष्णगोपिकास्तत्र द्विविधा नवधा गुणैरिति**. अन्यपूर्वानन्यपूर्वाभेदेन **द्विविधाः** पुनः प्रत्येकं राजस्यादिभेदेन नवधा इत्येवमष्टादशविधा. उपलक्षणविधया एकोनविंशतितमापि ज्ञेया. पक्षान्तरमाहुः **समुदायेन भिन्ना वेति**, समुदायभेदेन भिन्नप्रकारा इत्यर्थः. पक्षद्वयमपि

स्वसंदेहात्तु मिलिता जगुर्नानाविधैर्गुणैः ॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां
श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे सप्तविंशाध्यायविवरणम् ॥

कारिकार्थः

अग्रिमाध्यायकारिकासु स्वयमेव वदिष्यन्ति. **स्वसन्देहात्तु मिलिता** इति, "कस्या वा भाग्येन स्नेहेन कृपया वा आगच्छेदि"ति संदेहात् मिलिता जाता इत्यर्थः. तदुक्तं "पुनः पुलिनमागत्ये"ति श्लोकविवरणे सुबोधिन्याम् (१३-१४$\frac{१}{२}$).

॥ इति सप्तविंशोऽध्यायः ॥

॥ तृतीयः स्कन्धादितः अष्टाविंशोऽध्यायः ॥

अष्टाविंशे हरेर्गानं स्वभावादपराधतः ।
कृतावज्ञा गोपिका हि स्तोत्रं चक्रुरितीर्यते ॥(१)॥
एकोनविंशतिविधा गोप्यः स्वस्याधिकारतः ।
एकोनविंशतिविधां स्तुतिं चक्रुर्हरेः प्रियाम् ॥(२)॥
राजसी तामसी चैव सात्त्विकी निर्गुणा तथा ।
एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्यो निरूपिताः ॥(३)॥

टिप्पणी

अष्टाविंशाध्यायार्थोक्तौ **स्वभावादपराधत** इति, तदवस्थायाएव स्वभावो यद्गुणगानमेव भवत्येव. अतस्त**त्स्वभावादेव गानं चक्रु**रिति सम्बन्धः. पक्षान्तरमाहु**रपराधत** इति. भक्तेभ्योऽपि स्वस्मिन्नाधिक्यज्ञान-लक्षणमपराधं प्राप्य "अस्मान् यदि प्रार्थयिष्यति तदा रसं दास्याम" इति मानलक्षणा **कृताऽवज्ञा** याभिस्तादृश्यो यतोऽतः **स्तोत्रं चक्रु**रित्यर्थः. अवज्ञयाऽप्रसादे स्तोत्रेण प्रसादो भविष्यतीति तथेति भावः. यद्वा. **स्वभावाद्**रसस्वभावाद्यो**ऽपराध** इत्यग्रे पूर्ववत्. **स्तोत्र**मिति गानविशेषणम्, तथा च स्तोत्ररूपं गानं चक्रुरित्यर्थः. अग्रे गुणकथनं भाववैजात्यज्ञापनार्थमिति ज्ञेयम् (१).

लेखः

अष्टाविंशेऽध्याये कारिकासु **इतीर्यत** इति, **इति**हेतोस्त**त्स्तोत्रमष्टाविंशे ईर्यते** इत्यन्वयः (१).

राजसीति, अत्र सत्त्वादिक्रमो न विवक्षित इति ज्ञेयम् (३).

योजना

श्रीगिरिधारी जयति. अष्टाविंशाध्यायार्थोक्तौ **स्वभावादपराधत** इत्यादेरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **राजसी तामसी चैव सात्त्विकी निर्गुणा तथा एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्यो निरूपिता** इत्यादिकाः— **पतिमत्यः** श्रुति-रूपाः गोपानां स्त्रियश्चतुर्षु श्लोकेषु स्तुतिकर्त्र्यो निरूपिता इत्यर्थः (१-३).

प्रकाशः

अष्टाविंशाध्यायं विवरिषवः पूर्वाध्यायसमाप्तावेव कथासङ्गतेरुक्तत्वादर्थमेवाहुः **अष्टाविंश** इत्यादि (१). [**पतिमत्यो** इति अन्यपूर्वा. **सपूर्वा** इति अन्यपूर्वा. **परा** इति सात्त्विकी (३-६). टिप्पण्यां **कुमारीभिरि**ति, एताः

कारिकार्थः

अष्टाविंशाध्याये **अष्टाविंश** इत्यादिकारिकाः. अथ संक्षेपतो विभज्यन्ते द्विविधा गोप्यः. तत्र अन्यपूर्वा दशविधाः कुमारिका नवविधाः. तथा हि– "जयति ते" (श्लो. १) इति सात्त्विकराजसी-१. "शरदुदाशये" (श्लो. २) इति सात्त्विकतामसी-२. "विषजलाप्ययात्" (श्लो. ३) सात्त्विकसात्त्विकी-३. "न खलु गोपिकानन्दन" (श्लो. ४) निर्गुणा-४. "दिनपरिक्षये" (श्लो. १२) इति द्वादशे श्लोके राजसतामसी-५. "प्रणतकामदं" (श्लो. १३) राजसराजसी-६. "सुरतवर्धनं" (श्लो. १४) राजससात्त्विकी-७. "अटति यत्" (श्लो. १५) सत्त्वमिश्रतामसी-८. "पतिसुतान्वय" (श्लो. १६) इत्यत्र तामसतामसी-९. "रहसि संविदं" (श्लो. १७) रजोमिश्रतामसी-१०.

अथ कुमारिकाभेदः– "विरचिताभयम्" (श्लो. ५) सात्त्विकसात्त्विकी-१. "व्रजजनार्तिहन्" (श्लो. ६) सात्त्विकतामसी-२. "प्रणतदेहिनाम्" (श्लो. ७) सात्त्विकराजसी-३. "मधुरया गिरा" (श्लो. ८) इत्यत्र निर्गुणाः-४. "तव कथामृतं" (श्लो. ९) राजससात्त्विकी-५. "प्रहसितं" (श्लो. १०) राजस-तामसी-६. "चलसि यद् व्रजात्" (श्लो.११) राजसराजसी-७. "व्रजवनौकसां" (श्लो. १८) सत्त्वमिश्रतामसी-८. "यत्ते सुजात" (श्लो.१९) रजोमिश्रतामसी-९.

स्वभावादपराधतः इति. विप्रयोगावस्थायाः **स्वभावादेव गानं चक्रुः**. पक्षान्तरमाहुः **अपराधतः** इति, स्वस्मिन् आधिक्यज्ञानलक्षणोऽ**पराधः कृता** मानलक्षणा **अवज्ञा** याभिः तादृश्यः **स्तोत्रं चक्रुः** इत्यर्थः (१).

राजसीतामसीत्यादि. "जयति तेऽधिकं जन्मना व्रज" इति श्लोके सात्त्विकराजसी, "शरदुदाशये" इत्यत्र सात्त्विकतामसी, "विषजलाप्ययाद्" इत्यत्र सात्त्विकसात्त्विकी, "न खलु गोपिकानन्दनः" इत्यत्र निर्गुणा– **एवं चतुर्विधाः पतिमत्यः** अन्यपूर्वा **निरूपिताः** (३).

तदनन्तरं सप्तविधा गोप्यः कुमारिकाः. ततः षड्विधाः पुनः सपूर्वाः. तत्र "दिनपरिक्षये" इति द्वादशे श्लोके राजसतामसी. "प्रणतकामदम्"

तथैवानन्यपूर्वाश्च प्रार्थनामाहुरुत्तमाम् ।
गुणातीताः सात्त्विकीश्च तामसी राजसीस्तथा ॥(४)॥
कृष्णभावनया सिद्धा विशेषेणाह ताः शुकः ।
अनन्यपूर्विकाएव पुनस्तिस्रो मुदा जगुः ॥(५)॥
सात्त्विकी तामसी चैव राजसी चेति विश्रुताः ।
सपूर्वाश्च ततस्तिस्रः तामसी राजसी परा ॥(६)॥

योजना

ततश्चत्वारः श्लोकाः अनन्यपूर्वाणामित्याहुः **तथैवे**त्यारभ्य **राजसी तथे**त्यन्तेन (४).

ततः पुनरपि त्रयः श्लोकाः अनन्यपूर्वाणामेवेत्याहुः **अनन्यपूर्विका** इत्यारभ्य **विश्रुता** इत्यन्तेन. ततः श्रुतिरूपाणां त्रयः श्लोकाः इत्याहुः **सपूर्वा** इत्यारभ्य **परे**त्यन्तेन. **परा**शब्देन सात्त्विकी गृह्यते (५-६).

कारिकार्थः

इत्यत्र राजसराजसी. "सुरतवर्धनम्" इत्यत्र राजससात्त्विकी. "अटति यद् भवानह्नि" इत्यत्र देवनिन्दका सात्त्विकतामस्यः. "पतिसुतान्वय" इत्यत्र भगवन्निन्दकाः तामसतामस्यः. "रहसि संविदम्" इत्यत्र स्वनिन्दका राजसतामस्यः. इत्याभासोक्तः क्रमः. कारिकोक्तक्रमानुसारेण तु देवनिन्दकाः राजसतामस्यः आत्मनिन्दकाः सात्त्विकतामस्यः इत्यायाति. तथा च उक्तं कारिकायां **राजसी तामसी चैव सात्त्विकीति विभेदतः** इति. तथा च अत्र कारिकोक्तक्रमस्य अविवक्षितत्वेन वा तात्पर्यान्तरेण वा कारिकोक्ताभासोक्तपक्षयोः व्यवस्था ज्ञेया. एवं द्वादशादिसप्तदशान्तश्लोकोक्ताः षड्विधा आद्याश्चतस्रश्चेति दशविधा अन्यपूर्वाः.

अथ कुमारिकाः. "विरचिताभयम्" इत्यत्र सात्त्विकसात्त्विकीत्युक्तमाभासे. कारिकायां तु **गुणातीता** इत्युक्तम्. **गुणातीता** इत्यादिपदचतुष्टयं द्वितीयाबहुवचनान्तम**ाह** इत्यनेन सम्बध्यते. "व्रजजनार्तिहन्" इत्यत्र सात्त्विकतामसी. "प्रणतदेहिनाम्" इत्यत्र सात्त्विकराजसी. "मधुरया गिरा" इति श्लोके निर्गुणेति प्रतिभाति, पूर्वोक्तैः त्रिभिः श्लोकैः सगुणानामुक्तत्वात्. "तव कथामृतम्" इत्यत्र राजससात्त्विकी. "प्रहसितम्" इत्यत्र राजसतामसी. "चलसि यद् व्रजाद्" इत्यत्र राजसराजसी. अथ "व्रजवनौकसामि"ति

पुनस्ताएव त्रिविधा अटतीत्यादिभिस्त्रिभिः ।
राजसी तामसी चैव सात्त्विकीति विभेदतः ॥(७)॥
अनन्यपूर्वा द्विविधा राजसी सात्त्विकी तथा ।
तमसा तामसी तत्र नास्तीत्येकोनविंशतिः ॥(८)॥
अथवा प्रार्थनाद्याः याः सप्तान्ते द्विविधा पुनः ।
चतुर्थ्यस्तु समास्तत्र तत एकोनविंशतिः ॥(९)॥

टिप्पणी

गूढाभिसन्धिना पक्षान्तरमाहुः **अथवे**ति. प्रार्थनाश्च ता आद्याश्च **प्रार्थनाद्याः याः** प्रथमद्वितीयतृतीयपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमश्लोकैः कृताः, **अन्ते** त्रयोदशचतुर्दशाभ्यां च सान्निध्यात् कुमारिकाभिः[१] कृताः, अन्ये तु प्रौढाभिरुक्ताः श्लोकाः. **चतुर्थ्यो** गुणातीतभावापन्नाः कोमलभावा इति यावत्. अतस्तथा श्लोकसंख्येत्यर्थः (९).

ननु "तदागमनकाङ्क्षया जगुरि"ति वचनाद्यथा मानेनापराधाद् गतः तथा स्तोत्रेण सन्तुष्ट आगमिष्यतीति भावो लक्ष्यते, एवं सति दोषारोपादिर-

प्रकाशः

अनन्यपूर्वाः. **प्रौढाभिरि**ति, प्रौढास्तु अन्यपूर्वाः पतिमत्यो इत्यर्थः. **अतस्तथे**ति, गुणातीतास्तु समाः सर्वत्र अत एवेत्यर्थः (९). **सेति** अनेकरूपता(१०).]

योजना

ततः श्रुतिरूपा एव त्रिषु श्लोकेषु वक्त्र्य इत्याहुः **पुनस्ता एवे**त्यारभ्य **विभेदत** इत्यन्तेन (७).

ततः श्लोकद्वयमग्निकुमाररूपाणामित्याहुः **अनन्यपूर्वा द्विविधे**ति. एवमेकोनविंशतिश्लोकाः (८).

कारिकार्थः

अष्टादशे श्लोके सत्त्वमिश्रतामसी. "यत्ते सुजात" इति श्लोके रजोमिश्रतामसी. एवं पंचमादिसप्तश्लोकोक्ता अन्तिमश्लोकद्वयोक्ताश्च इति नवविधाः कुमारिकाः. **तमसा तामसी तत्रे**ति, **तत्र** कुमारिकासु **तामसतामसी नास्ती**त्यर्थः. तथा च अन्यपूर्वा दशविधाः नवविधाः कुमारिकाश्चेति ऊनविंशतिभेदाः. अयं कारिकोक्तः प्रथमः पक्षः (४-८).

१. कुमारीभिः इति बपाठः.

तत्तद्वाक्यानुसारेण तासां भावो निरूप्यते ।
अन्यथाऽनेकता स्तोत्रे प्रकारैर्नोपयुज्यते ॥(१०)॥

टिप्पणी

नुपपन्न इत्याशङ्क्य गूढाभिसन्धिमुद्घाटयन्तः स्तुतिस्वरूपमाहुः **तत्तदिति**. स्तुतिर्हि यथाधिकारं भवति. एतासामेतादृश एवाधिकारो येन कुहककितवादि-वचनानामपि स्तुतित्वम्. अन्यथाग्रे तथानुवदिष्यन् "तदागमनकाङ्क्षया

लेखः

अथवेति. टिप्पण्युक्ताः **सप्त अन्ते द्विविधाश्च** एवं नवश्लोकाः कुमारिकाप्रार्थनाया इत्यर्थः. **पुनरप्येवं** प्रौढाप्रार्थनाया अपि नव श्लोका इत्यर्थः. अन्तिमस्तु गुणातीताप्रार्थनायाः, तास्तु कुमारिकासु प्रौढासु च **समाः** अत एकधैवोक्ता इति शेषः (९).

योजना

पक्षान्तरमाहुः **अथवा प्रार्थनाद्या याः सप्तेति**. प्रथमद्वितीयतृतीय-पञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमश्लोकैः कृताः प्रार्थनाः, **अन्ते द्विविधा पुनः** अन्ते त्रयोदशचतुर्दशाभ्यां प्रार्थनाः कृताः– एवं नव श्लोकाः प्रार्थनायास्ते कुमारिकाणाम्. **चतुर्थ्यस्तु समा** इति, **चतुर्थ्यो** "न खलु गोपिकानन्दन" इति चतुर्थश्लोकनिरूपकाः **समा** गुणातीता इत्यर्थः. एवं दश श्लोकाः, नवम-दशमैकादशद्वादशपञ्चदशषोडशसप्तदशाष्टादशैकोनविंशश्लोकाः प्रौढानाम्– इत्थमेकोनविंशतिश्लोका इति बोध्यम् (९).

कारिकार्थः

गूढाभिसन्धिना पक्षान्तरमाहुः **अथवेति**. अत्र टिप्पण्यां "प्रार्थनाश्च ता आद्याश्चे"ति विग्रहः. तथा च प्रथमद्वितीयतृतीयपंचमषष्ठसप्तमाष्टमश्लोकैः कृताः **अन्ते** त्रयोदशचतुर्दशाभ्यां च कृता **याः** प्रार्थनाः ताः कुमारिकाभिः कृताः. अन्ये प्रौढाभिरुक्ताः श्लोकाः नवमादयश्चत्वारः पंचदशादयः पंच चेत्यर्थः. **चतुर्थ्यस्तु** "गुणातीतभावापन्नाः कोमलभावा इति यावद् अतस्तथा श्लोकसंख्या" इति विवृतं टिप्पण्याम्. "न खलु गोपिकानन्दन" इति चतुर्थश्लोकोक्तास्तु कुमारिकासु प्रौढासु च **समाः** एतच्छ्लोकवक्त्र्यः कुमारिकान्यपूर्वोभयविधा अपीत्यर्थः. अस्मिन् द्वितीयपक्षे सात्त्विक्यादिविभागो दुरूहः. अतएवोक्तं टिप्पण्यां "गूढाभिसन्धिना पक्षान्तरमाहुः" इति (९).

तत्र प्रथमं राजस्यः काश्चन गोप्य आहुः **जयतीति.**

॥ श्रीगोप्य ऊचुः ॥

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥१॥

मङ्गलार्थोऽत्र **जय**शब्दः, यथा फलं साधयेत्स्तोत्रं तथा निर्विघ्नार्थः. अन्यथा क्रियामादौ न प्रयुंज्यात्. त्वदवतारेण व्रजः सर्वोऽपि कृतार्थो, वयमेव परमकृतार्थाएवेति यथा वयमपि कृतार्था भवामः तथा यत्नः कर्तव्य इति वक्तुं व्रजस्य तवावतारेण सर्वोत्कर्षो जात इत्याहुः **ते जन्मना व्रजो अधिकं जयतीति.** सर्वोत्कर्षेण स्थितिः **जयो, अधिकजयो** वैकुण्ठादप्युत्कर्षः— न हि वैकुण्ठे भगवानेवंविधां लीलां करोति. यद्यपि मथुरायां जन्म जातं तथापि तेन जन्मना न मथुरा सर्वोत्कर्षेण स्थिता किन्तु व्रजएव. ननु भगवज्जन्मनः सर्वोत्कर्षहेतुत्वं न लोके प्रसिद्धम्, अनन्यत्वेनैकत्वाद्, अतस्तादृश

टिप्पणी

जगुरि"ति न वदेत्. न ह्येवं ब्रह्मादिभिरपि वक्तुं शक्यम्. तथा **च** स्वस्वभावोद्गिरणे तच्छ्रवणेन प्रभोः परमसन्तोष इति **तासां भावएव निरूप्यत** इत्यर्थः. विपक्षे बाधकमाहुः **अन्यथेति.** यद्यन्यस्तुतिवदत्रापि स्तुतित्वमेव स्यात् न भावमात्रनिरूपणं, तदोपालम्भादि**प्रकारैरनेक**रूपता स्तुतौ न सम्भवतीति सा नोच्येतेत्यर्थः (१०).

प्रकाशः

जयतीत्यत्र [**क्रियामादौ** इति, क्रियापदम् आदौ कथने दोषः. नन्दगृहे भिन्नं जन्म इति **तेन जन्मना** इति जन्मप्रकरणे कथितम्.] **अनन्यत्वेनैकत्वादि-**ति, "नित्यः शब्दः शब्दत्वादि"तिवद् व्रजः सर्वोत्कृष्टः भगवज्जन्मन इत्यस्या-

लेखः

जयतीत्यत्र. **मङ्गलार्थ** इति मङ्गलप्रयोजक इत्यर्थः. मङ्गलसाधनं च प्रतिबन्धनिवर्तनेनेत्याहुः **यथेति. निर्विघ्नार्थ** इति, विघ्नानामभावो निर्विघ्नम्, तत्प्रयोजनक इत्यर्थः, "अर्थोऽभिधेये"ति कोशात् ॥१॥

योजना

जयति तेऽधिकमित्यस्य विवृतौ **अन्यथा क्रियामादौ न प्रयुञ्ज्यादिति, जयती**तिक्रियापदं पूर्वं न प्रयुञ्ज्यात् किन्तु कर्तृवाचकं **व्रज**पदमुक्त्वा **जयतीति**

उत्कर्षहेतुर्वक्तव्यो यो लोके प्रसिद्ध इति चेत्, तत्राह **श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हीति**[१]. **अत्र व्रज इन्दिरा** सर्वदा **श्रयते** हीनभावेनाश्रयं कुरुते. वैकुण्ठे तु सैव नियता भार्येति न तस्याः सर्वदा श्रयणं कर्तव्यं भवति, इह तु तादृश्यो वयमनेका इति तस्याः स्वास्थ्याभावात् कदा वा ममावसरो भविष्यतीति निरन्तरं सेवते. अतो लक्ष्मीस्थित्या लोका उत्कर्षं मन्यन्ते सा पुनर्लक्ष्मीः गोकुलाश्रया जाता. **हि** युक्तश्चायमर्थः— पतिव्रता हि सा, यत्र पतिः स्वयमन्याधीनतया तिष्ठति भक्तेषु कृपां ख्यापयितुम्, तदुक्तमुलूखलप्रकरणे, तत्र तद्भार्या सुतरामेवाश्रयत इति किमाश्चर्यम् ! तव जन्मना व्रजस्य सर्वोत्कर्षः सर्वजनीनः, अतस्तव रमणे न कापि न्यूनता न वा लक्ष्म्या मनसि विषादो, अङ्गीकृतत्वात्. अतः कारणादस्मदर्थमागतेन त्वया **दृश्यतामिदं** गोकुलमेकदा द्रष्टव्यम्. वाक्यार्थो वा कर्माग्रे वक्ष्यमाणः. **तावकास्त्वयि धृतासवः दिक्षु त्वां विचिन्वत** इति **दृश्यताम्.** एतादृशोऽर्थोऽनुचित इति अनुचितप्रदर्शनेन बोधयन्ति. लोका हि ब्रह्मादयः त्वमवतीर्णो व्रजे[२] वर्तस इति निश्चित्य समायान्ति, व्रजस्थाः पुनरस्मदादयः दिक्षु विचिन्वन्ति— इयं महत्यनौचिती. ननु व्रजस्थानां भक्तिर्नास्ति, अन्यथा विरहे म्रियेरन्, अतः अभक्ता न पश्यन्तीति युक्तम् इति चेत्, तत्राहुः **त्वयि धृतासव** इति, **त्वदर्थमेव धृता असवः** प्राणा यैः. यदैव त्वदनुपयोगं ज्ञास्यन्ति तदैव त्यक्ष्यन्तीति भावः. अतएव **त्वां विचिन्वते** प्राणानाश्वासयितुम्, अल्पविलम्बेऽपि प्राणा गमिष्यन्तीति. अन्यथा व्रजे गच्छेयुः, प्रातस्त्वमेवायास्यतीति अन्वेषणं

प्रकाशः

प्यसाधारणहेत्वाभासत्वादित्यर्थः [**हीनभावेने**ति दासीवत्. **उलूखलप्रकरणे** इति "रमाक्रीडं व्रजमभूदि"ति. **सर्वजनीन** इति, सर्वदा सर्वजने भवः सर्वजनीनः. **अंगीकृतत्वादि**ति, व्र(ज!)स्य पूर्वमेवांगीकृतत्वात्. **त्वदनुपयोगमि**ति अलभ्यत्वम्. **पश्येदि**ति अन्तर्हितदशायाम्. **तथे**ति दर्शनप्रार्थना.] ॥१॥

योजना

प्रयुञ्ज्यादित्यर्थः. **वाक्यार्थो वा कर्मे**ति, "तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वत" इति **अग्रे वक्ष्यमाणः वाक्यार्थो दृश्यतामि**ति क्रियायाः

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्. २. ब. पाठे नास्ति.

व्यर्थमेव स्यात्. **दिक्षु** त्वदीयाः **त्वयि** सतीति महद्दैन्यम्, अत एकवारं त्वदीयाः पश्येति प्रार्थना. एवमेकया दर्शनं प्रार्थितम्. **दयितेति** सम्बोधनाद् भर्त्रदर्शनेन स्त्रीणां जीवनं न युक्तमिति निरूपितम्. यद्यपि भगवाँश्चेत् पश्येत् तदा न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येत् तथापि दैन्यं दृष्ट्वा आत्मानमपि प्रदर्शयेदिति तथा प्रार्थना ॥१॥

एवं स्वदैन्यानौचित्यादिनिरूपणेन तस्या राजसत्वं निरूपितम्. तामसी तु वधाभावं प्रार्थयितुमदर्शनस्य वधसाधकत्वमाह **शरदुदाशय** इति.

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा[1] ।
सुरतनाथ ते शुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥२॥

शरत्कालीनो योऽय**मुदाशयः** पुष्करिणी, तत्र **साधु** सम्यक् प्रकारेण **जातं यत्सरसिजं** कमलं, तदन्तर्वर्तिनी या **श्रीः**, तामपि **मुष्णातीति** तादृग्रूपया **दृशा** दृष्ट्या, हे **वरद**, यो निहन्ति तस्य **किं वधो न**, अपि तु वधदोषो भवत्येव. येनैव साधनेन परस्य प्राणा गच्छन्ति तत्सम्पादनसाधको घातकः दोषभाग्भवति. अनेन भगवद्दृष्टिः सर्वघातुका निरूपिता, "आयुर्मनांसि

प्रकाशः

शरदुदेत्यत्र [उदाशय इति जलाशयः उदकाशयः. **पुष्करिणी**ति

लेखः

शरदित्यस्याभासे अदर्शनस्येति, **अदृशेति**पक्षमाश्रित्यैवमुक्तम्. व्याख्याने **वधपदस्य** हननार्थकत्वे **निघ्नतो वधो ने**ति कथनं न सम्भवतीति **वधपद**-स्यार्थान्तरमाहुः **वधदोष** इति. "वध्यतेऽस्मै प्रयोजनाये"ति 'कृन्'-मात्रस्य बाहुलकपक्षेण पचा'द्यच्', वधफलमित्यर्थः. **सम्पादनसाधक** इति, सम्पाद्यतेऽनेनेति सम्पादनं साधनं, तत्साधक इत्यर्थः. प्रकृते दृष्टिर्मारणसाधनं तत्साधको भगवानित्यर्थः. **अनेने**ति, अग्रिमवाक्यात् सर्वघातुकी भगवद्दृष्टिर्दृशा

योजना

कर्मेत्यर्थः. **दिक्षु त्वदीयास्त्वयि सतीति महद्दैन्यमिति**, **त्वदीया** इति तु **तावका** इति पदस्यार्थ उक्तः. अस्मिन्पक्षे **त्वयीति** सतिसप्तमी ज्ञेया, तथा च **त्वयि सति** त्वयि व्रजे विराजमाने सति **तावकास्त्वां विचिन्वते इति महद्दैन्यमित्यर्थः** ॥१॥

१. "अदृशा इत्यपि पदच्छेदार्थः" इति ब. पाठे.

च दृशा सह ओज आर्च्छदि''ति वाक्यात्. तथास्मानपि प्रायेण क्रूरदृष्ट्या पश्यसि, अन्यथा कथं प्राणबाधा स्यात्? रूपं त्वानन्दमयमिति तद्दृष्टौ तदेव जीवयेद्, अतस्तदभावात् केवलं घातयस्येव. किञ्च न वयं वधार्हाः यतो **दासिकाः** कुत्सिता दास्यः, न हि स्त्रियः अप्रयोजिकाश्च हन्यन्ते. किञ्च वयं **शुल्कदासिकाः**, त्वं च **सुरतनाथः**. सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन तव सम्बोधनानि यथाधिकारं नियतानि. यथा धर्ममार्गे हे धर्मपालक, हे ब्रह्मण्य, हे यज्ञेश्वरेत्यादीनि, अर्थे हे लक्ष्मीपते, सर्वसिद्धिद इत्यादीनि, तथा मोक्षे हे मुकुन्द, हे योगेश्वर, हे ज्ञाननिधे इत्यादीनि धर्मार्थमोक्षार्थिभिरुच्यन्ते. एवमस्माभिरपि **सुरतनाथे**त्युच्यते. **सुरतं** सम्भोगः[1] जगति यावानस्ति तस्य

टिप्पणी

सुरतनाथेत्यत्र. (**सुरतं संभोग** इत्यादेरयमर्थः. **रतं** लौकिकं 'भोग'-शब्दवाच्यं, तत्तु सृष्टिमारभ्य प्रवर्तते. तत्र न भगवदाज्ञापेक्षा, [2]सृष्टिसमानयोगक्षेमत्वात्तस्य. एवं सति **सुष्ठु** अलौकिकं शोभनरूपं यत् **रतं** तत् 'सम्यग्भोग'शब्दवाच्यम्. तदस्मास्वेव त्वदाज्ञयेच्छ्येति यावत्, तयैव प्रवर्तते. यतो जगत् लौकिकं गच्छति, नश्यत्येव, न तु स्थिरम् अतोत्यलौकिकं स्वरूपानन्दरूपं तत्र प्रकटीभवितुं नार्हति. एतादृशस्य **तस्य भवानेव नाथः** प्रवर्तको रक्षकश्च. एवं सति स रसश्चेत् त्वय्येव निरुद्धस्तिष्ठेत् तदा

लेखः

वधकथनेनात्र निरूपितेत्यर्थः. स्वयमस्मान् पश्यसि स्वात्मानं च न प्रदर्शयसीत्याहुः **रूपं त्विति**. **घातयसी**ति, दृष्टिः प्रयोज्यकर्त्रीति ज्ञेयम्. हननं दोषहेतुरित्युक्तम्, अनुचितं च भवतीत्याहुः **किञ्चे**ति. विपरीतं च भवतीत्याहुः पुनः **किञ्चे**ति. **जगतीति** भक्तेष्वित्यर्थः. नाथत्वं विवृण्वन्तो लौकिके

योजना

वरद निघ्नतो नेह किं वध इत्यस्य विवृतौ **अनेन भगवद्दृष्टिः सर्वघातुके**त्यादि, यद्यपि भगवतः पुरुषोत्तमस्य दृष्टिरानन्दमयीति परमानन्दमेव प्रयच्छति न तु हन्ति, तथापि विरहे स्मर्यमाणा परमक्लेशं जनयतीति एतस्यामानन्दमय्यामेव दृष्टौ घातुकत्वभानाद् भगवतः कालादिरूपे या सर्वघातुका दृष्टिः सात्रानन्दमये निरूपितेति भावः. **अशक्यचौर्यादपि**

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे. २. सृष्टिसमानकालीनत्वादिति पाठः.

भवान् **नाथः**, त्वदाज्ञाव्यतिरेकेण सुरतं जगति न प्रवर्तते. अतो ब्रह्मणा कामेन वा लोके सुरतप्रवृत्त्यर्थं वयं शुल्करूपा दासिका दत्ताः. **शुल्कं**

टिप्पणी

त्वलौकिका अपि भक्ताः [1]शून्यहृदया भवेयुरिति त्वदिच्छां ज्ञात्वा त्वां प्रार्थयित्वा [2]तादृशीर्वयं प्रकटीकृताः यतः प्रतिबन्धनिवृत्तिः. अतएवाग्रे "विखनसार्थित" इति वक्ष्यते. कामो भगवदीयः. मनसः पूर्वरूपत्वाद् वाच [3]उत्तररूपत्वात् "मनश्चक्र" इत्युक्त्वा "जगौ कलं वामदृशां मनोहरं" "ता दृष्ट्वान्तिकमि"त्यादिकं च वाग्रूपमलौकिकभावप्रवर्तकं स्वप्रियास्वित्याशये**नाज्ञा**पदमुक्तम्. "मैवं विभोर्हती"त्यादिवाचां भगवद्भावात्मकत्वात्तासामप्याज्ञारूपत्वमित्याशयः. तैरेव वचनैः प्रतिबन्धनिवृत्तिरपि). **अतो ब्रह्मणे**ति. अत्रायं भावः. "ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामा" इत्यत्र भगवद्भावकामाः सन्तः साक्षात्तमलभमानाः श्रियोपाङ्गा भावोद्वारिणो निरन्तरं प्रियसंगतत्वेन तद्भावात्मकत्वं प्राप्ता इति तत्सम्बन्धे तदनुभावेन कदाचित्स भावोऽपि भवेदित्याशया तत्कामास्तपश्चरन्तीति निरूपितम्. प्रकृते च स्वयं प्रभुः प्रकट इति तन्मार्गप्रकटनार्थं द्वारभूता वयं तेन प्रकटिता इति. अत्र **सुरतशब्देन** सुष्ठु भगवता समं रतं येनेति भगवद्भाव एवोच्यते न तु सम्भोगः, तस्यापामरमनुवर्तमानत्वेन **त्वदाज्ञे**त्यादिना नाथत्वविवरणं यत्तदनुपपत्तेः. एतन्मार्गप्राकट्येन ब्रह्मणो न कोऽपि भावः सिद्ध इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **कामेन वे**ति, भगवदीयभावरूपेणेति ज्ञेयम्. स्वामिनीदर्शने हि भगवतो भाव उद्रिक्तः सन् कामकार्यं करोत्यतस्तेनैव स्वार्थं वयं प्रकटीकृता इत्यर्थः ॥२॥

लेखः

जगति तादृशसुरताप्रवृत्तौ हेतुमाहुः **त्वदाज्ञाव्यतिरेकेणे**ति, आज्ञाऽभावाल्लौकिके जगति न प्रवर्तते, अतस्त्वमेव नाथ इत्यर्थः. **अत** इति, नाथत्वेन प्रवर्तकत्वादित्यर्थः. प्रवर्तको हि प्रतिबन्धनिवृत्तौ सत्यां प्रवर्तयत्येवेत्यर्थः. **कामेन वे**ति भगवत्स्थितेन रिरंसारूपेण भावेनेति ज्ञेयम्. **लोके** इति भगवदीये इत्यर्थः, "तद्द्वारा पुरुषे भवेदि"ति पूर्वोक्तमनुसन्धेयम्. **दत्ता** इति प्रकटीकृता इत्यर्थः. कामपक्षे आकार्यभगवते समर्पिता इत्यर्थः. **सुरतं**

१. शून्यहृदया इति पाठः (?). २. तादृश्य इति स्यात्. ३. पेशलरूपत्वादिति.

मार्गनिर्वाहकं द्रव्यं प्रतिबन्धनिवर्तकम्. सुरतं चेत् भगवत्येव निरुद्धं तिष्ठेत् तदा लोके रसो न भविष्यतीत्यस्मद्द्वारा त्वत्तः तल्लोके प्रसृतं भवत्विति वयमागताः. तत् कार्यं दूरतएव स्थितं, प्रत्युतास्मान्मारयसि. एवं सति सर्वमेव कामशास्त्रं व्यर्थं स्यात् तृतीयः पुरुषार्थश्च न भवेत्. अतः सर्वथा यदर्थं वयं प्रेषितास्तत्कर्तव्यम्. अथवा यदाकदाचित्कर्तव्यम्, इदानीं जीवयितव्या रूपप्राकट्येन. दृशो मारकत्वमुपपादयन्ति **श्रीमुषे**ति. यस्तु चोरो भवति स घातकोऽपि भवति, यथा यथा चौर्ये नैपुण्यं तथा तथा घातकत्वम्. तदर्थमाहुः **उदरश्रीमुषे**ति. तत्रापि ये दुर्गजाताः ते अतिनिपुणाः, तत्रापि जलदुर्गजाः. तत्सरसिजम्. तत्रापि ते दुर्गएव तिष्ठन्ति, तत्रापि ते साधुजाताः प्रभवः, तत्रापि प्रकाशवति काले शीताद्युपद्रवरहिते. एवं देशकालस्वरूपादिभिः अशक्यचौर्यादपि पुरुषात् तदुदरवर्तिसर्वस्वनेता अन्तःस्थितप्राणान् साधारणगोपिकादीनां नेष्यतीति किमाश्चर्यम्! चौर्यं हि क्रियते बलिष्ठेनापकीर्त्यभावाय, तदत्र तु न भविष्यतीत्युक्तं **किं वधः न**

प्रकाशः

सरसि.] **अपकीर्त्यभावाये**ति, प्रसह्य मारयित्वा हरणेऽपकीर्तिरिति तदभावायेत्यर्थः ॥२॥

लेखः

चेदिति, पूर्वोक्तसुरतसम्पाद्यं सुष्ठु रतमित्यर्थः. **कामशास्त्रं व्यर्थमि**ति, भगवल्लीलाप्रतिपादकत्वेन सफलत्वं वक्ष्यते. लीलाप्राकट्याभावे लौकिकप्रतिपादकत्वेन शास्त्रवैयर्थ्यं स्यात्. किञ्च लौकिकपरत्वे तत्प्रतिपाद्यस्य कामस्य पातहेतुत्वमेव स्यात्, न तु पुरुषार्थत्वमिति पुरुषार्थत्रयमेव स्यादित्याहुः **तृतीय** इति. **तत्रापीत्या**रभ्य **रहिते** इत्यन्तेन सरसिजस्वरूपमुक्तं न तु

योजना

पुरुषात्तदुदरवर्तिसर्वस्वनेतेति– चौरविशेषणमेतत्, अतएव **नेते**ति पुल्लिंगनिर्देशः. **चौर्यं हि क्रियते बलिष्ठेन अपकीर्त्यभावाये**ति, ये बलिष्ठा राजादयस्ते स्वापेक्षितं परकीयं वस्तु मूल्येन न ददाति चेत् चौर्येण गृह्णन्ति, न तु बलात्कारेण लुण्टन्ति. तथा सति अपकीर्तिर्भवेदतोऽपकीर्त्यभावाय चौर्येण गृह्णन्तीत्यर्थः. **तदत्र तु न भविष्यतीत्युक्तमि**ति, **तद**पकीर्त्यभावरूपं विचारित**मत्र न भविष्यति** किन्त्वपकीर्तिर्भविष्यतीत्यर्थः ॥२॥

इति. अथवा **अदृशा** अदर्शनेन दर्शनमदत्वा **निघ्नतः किं वधो न?** सुरतार्थमागताः, तद्रतं दूरे, अन्तरा मरणमुपस्थितम्. तथा सति सुरतस्याप्रकटितत्वात् नाथत्वमपि न स्यात्. न हि योगी अश्वनिर्माणसमर्थोऽ'प्यश्वपतिरु'च्यते. प्रकटयति चेत् तदा तथा. किञ्च अस्मद्वधे किमाश्चर्यं, तवादर्शने लक्ष्मीरपि न तिष्ठेत्, तदाहुः **श्रीमुखे**ति. उदरस्थिता श्रीश्चेद् बहिरानीता, तदैव म्रियते, अपुष्टत्वात् आमगर्भवत्. यद्यपि तस्याः जीवने कालद्रव्यदेशवस्तूनि बहून्येव सन्ति, तथापि त्वददर्शने न जीवति, तथा वयमपि. किञ्च त्वं सर्वेषां वरान् प्रयच्छसि, अस्माँस्तु मारयिष्यसीति महदाश्चर्यम्! वरदाता हि प्रत्यक्षो भवति. अथवा **ते** वय**ममूल्यदासिकाः** धर्मदासिकाः, अतो न हन्तव्याः. एवमनेकविधक्रौर्यभावनया काश्चिद्भगवन्तम् उपालभन्ते.

अन्तःस्थितो रसः पुष्टो बहिश्चेन्न विनिर्गतः ।
तदा पूर्णो नैव भवेदिति वाग्निर्गमस्तथा ॥(११)॥२॥

अन्याः पुनः कोमलाः, बहुधा त्वया रक्षिताः इदानीमपि पालयेत्याहुः **विषजलाप्ययादि**ति.

लेखः

यौगिकोऽर्थः. **तदत्र त्वि**ति, अपयशस्तु न भविष्यति, परं वधदोषो भवत्येवे[१]त्यर्थः. दर्शनस्यैतज्जीवनसम्पादकत्वाददर्शनस्य वधसाधकत्वमित्याहुः **दर्शनमदत्वे**ति. तथा च "कारणाभावे कार्याभाव" इति न्यायेनादर्शनस्य स्ववधसाधकत्वमुक्तम्. कैमुत्येनापि साधयन्तीत्याहुः **किञ्चे**ति, अस्मिन् पक्षे **श्रीमुखे**त्यत्र मोषः प्राणहरणम्. [२]**उदरस्थिते**ति समुद्रस्थितेत्यर्थः.[२] श्रियाः पोषो भगवद्दृष्ट्यैव भवतीत्याशयेनाहुः **अपुष्टत्वादि**ति. **शुक्लपदे** 'नञ्'प्रश्लेषेण पक्षान्तरमाहुः **अथवे**ति. **पूर्णो नैवे**ति, बाह्यांशेऽपूर्णएव स्यादित्यर्थः ॥२॥

कारिकार्थः

"शरदुदाशये" इत्यत्र **अन्तःस्थित** इति. **पूर्णो नैव भवेदिति,** गानरूपेण वाग्निर्गमाभावे बाह्यांशे **पूर्णो** रसो **न भवेदिति** हेतोर्गानरूपेण **वाग्निर्गम** इत्यर्थः (११).

---

१. भविष्यत्येव इति जो. पाठः. २. इत्यधिकैका पंक्तिः जो. पाठे.

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद्विश्वतो भयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥३॥

विषजलं कालीयह्रदजलं, तत्पीत्वा सर्वएव बालकाः गावश्च मृताः ते पुनर्जीविताः. **व्यालाः** सर्पाः कालियसुदर्शनादयः, **राक्षसाः** तृणावर्तादयः, तेषामेकवद्भावः; तस्मादपि **रक्षिताः. वर्षमारुता**दिन्द्रकृतात्. तत्रैव **वैद्युतानि अनलो** दवाग्निश्च, तयोरप्येकवद्भावः. **वृषो** योऽयं **मयात्मजः** व्योमासुरः, तस्मादपि **रक्षिताः**. न तासां भूतभविष्यद्विषयकपदार्थज्ञाननिर्बन्धोऽस्ति, सर्वज्ञत्वात्. किम्बहुना, **विश्वत**एव **भयात्**. पालने हेतुः **ऋषभे**ति, भर्ता हि पालयत्येव. अतः सर्वदा पालक इति इदानीमपि पालयेत्यर्थः. ते च मारका बाह्याः, इदानीन्तनस्त्वान्तर इति सर्वथा पालनीयाः ॥३॥

अन्याः पुनः भगवतो महानुभावत्वं ज्ञात्वा तस्य स्वरूपं कीर्तयन्ति, ततश्च ज्ञानिभ्यो यथा मोक्षं प्रयच्छति तथास्मभ्यमपि अस्मदुचितं मोक्षं दास्यतीति. तं स्तुवन्ति **न खल्वि**ति.

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥४॥

भगवतो नन्दसूनुत्वे सर्वे उपालम्भा युक्ता भवन्ति, तदेव नास्ति इति सर्वमयुक्तमुपालम्भनम्[१]. **खल्वि**ति निश्चये, नात्र तिरोहितमिव. **गोपिकायाः**

लेखः

विषजलेत्यत्र. **ऋषभ**पदतात्पर्यमाहुः **ते चे**ति. ऋषभो हि अन्तर्बहिःपालकः, "स वै पतिरि"ति वाक्यात्. अतः सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वादान्तरस्य च बलिष्ठत्वात् सर्वथा पालनीया इत्यर्थः ॥३॥

न खल्वित्यत्र. भगवतो नन्दगृहे प्रादुर्भावस्य व्युत्पादितत्वादत्र तदभावकथनस्य तात्पर्यमाहुः **नन्दसूनुत्वे** इति. यथा मथुरायां वसुदेवाद्देवक्यामागत्य प्रादुर्भावः तथात्र नन्दाद्यशोदायां नागमनं, किन्तु गर्भे मायायाएव स्थितिः, भगवांस्तु तावत्पर्यन्तं भक्तहृदये स्थितः. ततः

योजना

विषजलाप्ययादित्यत्र **व्यालाः कालियसुदर्शनादय** इति. इह **आदि**शब्देन कालियपरिकरभूताः सर्पा ग्राह्याः, कालियनिःसारणे तेषामपि निःसारणात्, "सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धे जगाम हे"ति वाक्यात् ॥३॥

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्.

यशोदाया **नन्दनः** पुत्र इति **न.** तथा सति यथा तया स्वाधीनः कृतो ज्ञातो वा तथा गोपिकानामपि भवेत्, गोकुलस्वामिपुत्रत्वात्. तुल्यतायामेव हि विद्यायोनिसम्बन्धः. किञ्च **न** केवलं **भवान्** वैकुण्ठाधिपतिः पुरुषोत्तमः किन्तु

प्रकाशः

न खल्वित्यत्र, नन्वयं को वा नियमो यद्गोकुलस्वामिपुत्रत्वाभावेऽधीनो न भवतीति, यतस्तदभावेऽपि स्नेहवशादधीनत्वदर्शनादित्यत आहुः **तुल्यतायामि**त्यादि. **हि** यतो हेतोर्वशीकरणहेतुरि[१]ति शेषः अर्थाज्ज्ञेयः. तथा च "ययोरात्मसमं वित्तमि"त्यत्र भगवता यत्र यत्र तुल्यता तत्र तत्रैव विद्यायोनिसम्बन्धस्य वशीकरणहेतुतायाः प्रतिपादितत्वाल्लोके तथा दर्शनाच्च तदैव तथा. यन्नेदानीं तथा, तेन ज्ञायते नियतं तत्तिरोहितमिवेत्यर्थः. अस्मिन्वाक्ये मूलस्थं **भवानि**तिपदमुद्देश्यसमर्पकमपि भातीति भवानित्यर्थतो

लेखः

प्राकट्यसमये मायावृतः सन् प्रादुर्भूतः, ततो लीलार्थमुभयत्र पुत्रत्वबुद्धेः स्थापनाद्व्यस्ततया तत्तत्सूनुत्वमस्त्येव. किन्त्वन्यवन्नन्दाद्यशोदायामागत्यभावात् नन्दसूनुत्वविशिष्टयशोदासूनुत्वं नास्ति. तथा च **गोपिकानन्दन**पदस्य नन्दसूनुत्व-विशिष्टगोपिकानन्दनत्वमर्थः, नन्दसूनुः सन् गोपिकानन्दनो नेत्यर्थः. व्यस्ततया च तत्तत्सूनुत्वमस्तीत्याभासोक्तं महानुभावत्वं समर्थितम्. लोके पितृत्वविशिष्ट-मातृपुत्रत्वस्य दृष्टत्वादत्रापि तथा प्राप्त्या तन्निषेधः. तथा च लोकन्यायेन ज्ञातं गोपिकानन्दनत्वं नेत्यर्थः. एवमे'वाजननी'त्यादि'नञ्'प्रश्लेषेऽप्यर्थो ज्ञेयः. टीकायां **नन्दसूनुत्वे** इत्यस्य नन्दसूनुत्वविशिष्टयशोदासूनुत्वे इत्यर्थः. **तथा सती**ति लोकरीत्या सम्बन्धे सतीत्यर्थः. यशोदायास्तु भक्तवश्यताबोधनार्थं

योजना

न खलु गोपिकानन्दन इत्यत्र यशोदानन्दनत्वनिराकरणं तु लौकिकभाव-कृतपुत्रभावपरं, "जयति जननिवासो देवकीजन्मवाद" इत्यत्र देवकीनन्दनत्व-निराकरणवत्. अतएव "न माता न पिता तस्ये"त्यादि सङ्गच्छते. तथा च पुरुषोत्तमस्य जन्माभावेऽपि पुत्रभावेन प्रादुर्भावाद्यशोदानन्दनत्वं वर्तत एवेत्युपपादितं पुरस्तात्. अथवा व्रजसुन्दरीणां शृङ्गाररसभाववत्त्वात् कटाक्षोक्त्या यशोदानन्दनत्वनिराकरणं ज्ञेयम् ॥४॥

१. तुल्यतायां वशीकरणहेतुः.

अखिलदेहिनां सर्वेषामेवास्मदादीनाम**न्तरात्मानम्** अन्तःकरणं पश्यतीति यद्यस्मद्धृदये तादृशं तापं पश्येत् तदा प्रसन्नएव भवेत्. अतो नास्मिन् वक्तव्यं किञ्चित्. किञ्च आगतश्चास्मदादीनां परिपालनार्थमेव. यदि जानीयाद् एता नश्यन्तीति तदा परिपालयेत्. रक्षणार्थं च प्रार्थितएव, न तु स्वेच्छया समागतः, तदाह **विखनसार्थित** इति. **विखना** ब्रह्मा, विशेषेण खनतीति सर्वथा वेदार्थविचारकः. अतएव वैखानसं मतं ब्रह्मणा कृतं भगवद्भजन-प्रतिपादकम्, तेनैव मार्गेण पूजां भगवान् गृह्णातीति वेङ्कटादौ तथैव पूजा. अतः सर्वेषां पूजामपि ग्रहीतुं ब्रह्मणा प्रार्थितो, **विश्वगुप्तये** इति मुख्यं प्रयोजनम्. एवमन्तरात्मत्वात् सर्वेषामेव जीवानां **भवान् सखा.** तादृशों लोके सख्यं प्रकटयितुं **सात्त्वतां** यादवानां वैष्णवानां वा **कुले उदेयिवान्** प्रादुर्भूतः. अत एतदर्थमेवागतः. पूर्वमपि सखा यथेच्छमेव प्रेरयसि, आगतस्य

टिप्पणी

सख उदेयिवानित्यत्र, पूर्वमपि सखा यथेच्छमित्यादि. "सुपर्णावितौ सयुजौ सखायावि"ति श्रुतेरन्तरात्मा जीवस्य सखा भवति. प्रकृते च स्वरम-णेच्छामनतिक्रम्य तदनुरूपमेवास्मान् प्रेरयसीत्यर्थः. अत एवास्माकं नायिका-भावएव सार्वदिक इति भावः. एतादृशस्यागमनं नायिकार्थे स्वसमर्पणार्थमेव भवतीति तदेव कर्तुमुचितमिति भाव इत्याशयेनाहुः **आगतस्ये**त्यादि ॥४॥

प्रकाशः

विधेयसमर्पकं भवतीति ज्ञेयम्, अग्रे **वैकुण्ठाधिपतिः पुरुषोत्तम** इति तदर्थ-विवरणात्. तथा सति तुल्यताया अभावादुपालम्भो न युक्त एवेति भावः. एतावदुक्तौ भगवति सेवकदुःखानवधातृत्वारोपः पर्यवस्यतीति तदभावाय पूर्वं यशोदाधीनत्वसम्पादनेन गोकुलस्वामिपुत्रत्वे सन्देहाभावादिदानीमधी-नत्वाभावे स्वस्मिन् तादृशविद्याद्यभावएव विचार्यतां, न तूपालभ्यतामित्याशयेन वाक्यान्तरं वदन्तीत्याशयेनाहुः **किञ्चे**त्यादि. अनुपालभ्यत्वादेव भगवति दोषाभावं विशेषाकारेण समर्थयन्तीत्याशयेनाहुः **आगतश्चे**त्यादि ॥४॥

लेखः

वशो जात इति भावः. **सखिपदस्य** तात्पर्यमाहुः **तादृश** इति. तात्पर्यान्तर-माहुः **पूर्वमपीति**, आविर्भावात् पूर्वमित्यर्थः. **आत्मनिवेदनेति**, **आत्मा**

पुनर्विशेषो वक्तव्यः. स चात्मनिवेदनरूपो भवति. अतो वयं किं विज्ञापयामः, यथोचितमेव कर्तव्यमिति भावः ॥४॥

अन्याः पुनः सात्त्विकसात्त्विक्यः, राजसप्रधानाभ्यो विशिष्टाः, अप्रार्थितं च भगवान् न दास्यतीति भगवत्करस्य स्वशिरःसंबन्धं प्रार्थयन्ति **विरचिताभयमिति.**

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते शरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥५॥

हे स्वामिन्, हृदयं स्फुटति. अतः यथा सर्वाङ्गे आप्यायनं भवति तथा **शिरसि करसरोरुहं धेहि.** शीतलं हि कमलं भवति, तत्रापि सरसि जातम्. तत्रापि करएव सरःस्थानं सरसिजस्थानं च, अत उद्धरणादिना न रसालतापगमः. **कान्तेति** संबोधनम्, प्रथमतः शिरसि हस्तस्थापनेन स्वाधीनीकरणं द्योतितम्. किञ्च न केवलं हस्तस्तापमेव दूरीकरोति किन्तु **कामदं** च, अभिलषितं कामं प्रयच्छति. ननु भगवान् पुरुषोत्तमो योगिध्येयः, कथं स्त्रीणां स्पर्शं करिष्यतीति चेत्, तत्राह **श्रीकरग्रहमिति, श्रियाः करस्य ग्रहो** ग्रहणं येन. अतो भगवान् गृहस्थ इति यत्र लक्ष्म्या हस्तं गृह्णाति तत्रास्मच्छिरोग्रहणे किं भविष्यतीति भावः. ननु लक्ष्मीर्विवाहितेति विधिवशात् तस्या हस्तग्रहणम्, भवतीनां ग्रहणे को हेतुरिति चेत्, तत्राहुः **संसृतेर्भयात् शरणमीयुषां विरचिताभयमिति.** यथा विधिर्विवाहे तथैव शरणागतपालनेऽपि.

लेखः

स्वरूपानन्दस्तस्य **निवेदनं** भक्तेष्वनुभावनं[१] तद्रूपो विशेष इत्यर्थः ॥४॥

अप्रार्थितं चेति चस्त्वर्थे, स्वरूपकीर्तनेन मोक्षेऽप्यप्रार्थितं तु न दास्यतीत्यर्थः. **विरचिताभयमित्यत्र** शिरसि स्थापनतात्पर्यमाहुः **हृदयं स्फुटतीति.** हृदयकमलं स्वस्थं सदाप्यायनजनकं भवति, तत्तु स्फुटति, अतस्तत्र नाप्यायनं किन्तु तत्कार्यार्थं शिरसि धेहीत्यर्थः. सरोरुहस्याप्यायकत्वं व्युत्पादयन्ति **शीतलं हीति. तत्रापीति,** न तु यथाकथञ्चिद् जलसेचनेन संवर्धितमित्यर्थः. **उद्धरणादिनेति,** कमलस्योद्धरणे सरोरूपत्वान्न रसालतापगम इत्यर्थः. तथा च **सरोरुहपदेन** तापहरणार्थं करस्थापनमित्युक्तम्. प्रयोजनान्तरमाहुः **किञ्चेति. तत्रापि स्त्रिय** इति, वृष्णिधुर्यत्वात् स्त्रियएव

१. भक्तेषु स्थापनम् इति जो. पाठः.

विवाहापेक्षया शरणागतरक्षा महती, स साधारणधर्मो अयमीश्वरधर्म इति. नन्वयं निषिद्धः प्रकार इति कथं पालनमिति चेत्, तत्राहुः **हे वृष्णिधुर्येति. वृष्णिर्हि** यदुवंशोद्भवः बहुस्त्रीकः बहुवंशकर्ता. तद्वंशेऽपि भवान् **धुर्यः** श्रेष्ठः. तत्रापि स्त्रियः संसारभयात् समागताः, न हि संसारः स्वभावतएव दुष्टः किन्त्वसद्यदुःखहेतुरिति. तथा वयमपि महद् दुःखं प्राप्नुम इति दृष्टादृष्टद्वारा भवांस्तन्निवर्तक इति. अनेनैव निर्भयतापि सूचिता. अतः **कान्त**सम्बोधनाद् भवानेव भर्ता. अतः स्त्रीणां व्रतमनुस्मरन् वाञ्छितं कुर्वित्यर्थः ॥५॥

ततः तामसी किञ्चिद्वैलक्षण्येन धाष्र्ट्येन तमेवार्थं प्रार्थयति **व्रजजनार्तिहन्निति.**

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥६॥

हे भगवन्, एता वक्तुं न जानन्ति, मया तु निर्धारितमुच्यते. हे **सखे** इति अप्रतारणार्थं संबोधनम्. **नः** अस्मान् **भजे**ति हितोपदेशः. ननु कथमेवं धाष्र्ट्यं निषिद्धं च बोध्यते, तत्राहुः **भवत्किंकरीरिति.** "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति हि तव प्रतिज्ञा. अतो यथा किंकर्यो वयं भवन्तं भजामः तथा भवानपि भजतु. किंकरीत्वं तव प्रतिज्ञा **च** प्रसिद्धेत्याहुः **स्मे**ति. न

प्रकाशः

विरचिताभयमित्यत्र. ननु भवतीनां संसारभयं क्वास्ति येन **संसृतेर्भयादि**त्युच्यत इत्याकांक्षायां तत्तात्पर्यमाहुः **न हीत्यादि. अनेनेति** संसारनिवर्तकत्वकथनेनेत्यर्थः. तथा चानया प्रार्थनया दुःखनिवृत्तिरेव प्रार्थितेति भावः ॥५॥

लेखः

पालनीयाः, तत्रापि संसारभीता इत्यर्थः. एतासां संसाराभावादेव तत्कथनमप्रयोजनकमित्याशङ्क्याहुः **न हीति.** दुःखहेतुनिवर्तनस्वभावत्वादस्माकमपि दुःखहेतुनिर्वर्तनीय इत्यर्थः. **अनेनैवेति,** अन्यस्याभयसम्पादनकथनेन स्वस्यापि निर्भयता सूचितेत्यर्थः. **अतः कान्तेति,** अन्यस्याभयसम्पादनात्तेन स्वस्य चाभयसूचनात् "स वै पतिः स्यादि"त्यत्रोक्तं पतित्वं सिद्धमित्यर्थः. **स्त्रीणां व्रतमिति** स्त्रीणां सम्बन्धि व्रतं, ताः पालनीया एवेत्याकारकं नियममित्यर्थः ॥५॥

केवलमस्मद्धजने तव सैवैका प्रतिज्ञा हेतुः किन्तु अन्येऽपि हेतवः सन्ति. प्रथमम् अवतारप्रयोजनं **व्रजजनार्तिहन्निति**, व्रजजनानां आर्तिं हन्तीति तथा. नातः परमन्या आर्तिरस्ति. सामान्यप्रयोजनमेतत्, विशेषप्रयोजनमाहुः **योषितां वीरेति**. कृष्णो [१]भगवान्. वीरैर्हि शूरा निराकरणीयाः अन्यगत-कामादयः. तत्र मुख्यः कामः. स च बहुविधः; अन्तर्बहिः पदार्थेन पूर्णेन पूरयित्वाश्रयाभावान्निवारणीयः. अतएव लोके दातारः कीर्तिमन्तो भवन्ति वीरेभ्यः. अतो भवान् महावीरः अन्तःस्थितेनानन्देन अतिदरिद्राणां ब्रह्मणापि पूरयितुमशक्यानामिच्छापूरकः. अयं चार्थस्तव सर्वजनीनः, अतः **योषितां वीरेति** सम्बोधनम्. न हि कृष्णादन्यो जगति कश्चिदेवं सम्बोधनमर्हति, अपूर्णकामत्वात्. अतोऽवतारसामान्यविशेषप्रयोजनाभ्यां च **नो भज.** ननु सत्यं, तथापि भवतीनामभिमानदोषनिवृत्त्यर्थं भजनं न क्रियत इति चेत्,

प्रकाशः

व्रजजनेत्यत्र. कृष्णो भगवानित्यनेन **योषितां वीरे**तिपदसमुदायार्थः संक्षेपेणोक्तः. सम्बोधने फलितमर्थमाहुः **वीरैरि**त्यादिना ॥६॥

लेखः

व्रजजनार्तिहन्नित्यत्र. **योषितां वीरः** स्वानन्ददातेत्यर्थः. व्युत्पादयन्ति **कृष्ण** इति. **वीरैरि**ति दानवीरैरित्यर्थः. **अन्यगते**ति, दातारो बहुदानेनान्य-स्याभिलाषां निवर्तयन्तीत्यर्थः. **मुख्यः काम** इति, अन्नादिकामापेक्षया कामशास्त्रसिद्धः कामो मुख्य इत्यर्थः. **अन्तर्बहिरि**ति. **पूर्णेन पदार्थेन** स्वरूपा-नन्देना**न्तर्बहिः पूरयित्वे**त्यर्थः. **वीरेभ्य** इति, वीरान्तरेभ्यः सकाशाद्दानवीराः कीर्तिमन्त इत्यर्थः. **अत** इति दानवीरत्वादित्यर्थः. **अयं चार्थ** इति, अत्रापि **स्मे**ति पदं योजनीयमिति भावः. **अभिमानदोषे**ति, वयं सर्वतोऽधिका इत्यभिमानरूपो दोषः **स्मयः**, तन्निवृत्त्यर्थमित्यर्थः. **धर्म एव दुष्ट** इति, दोषो

योजना

व्रजजनार्तिहन्नित्यत्र **अतएव लोके दातारः कीर्तिमन्तो भवन्ति वीरेभ्य** इति, वीरा हि मारणीयं स्वरूपतो मारयन्ति, दातारस्तु दीनगृहं समृद्ध्या पूरयित्वा दारिद्र्यं दूरीकुर्वन्ति. तद्गृहे लक्ष्म्याः पूर्त्या दारिद्र्यस्याव-काशाभावात्ततो दारिद्र्यमपसरतीति हार्दम् ॥६॥

१. भवानिति पाठः सूचितः.

तत्राह **निजजनस्मयध्वंसनस्मितेति. निजजनाः** सेवकाः तेषां **स्मयो** गर्वः तस्य **ध्वंसनार्थं स्मितं** यस्य, निजजनानां स्मयदूरीकरणार्थं परित्यागो नोपायः किन्तु तदर्थं स्मितमेव कर्तव्यम्. स्मितं हि मन्दहासः. "हासो जनोन्मादकरी च माया", तस्या मन्दत्वं भक्तेष्वप्रवर्तनम्. नहि मायामोहव्यतिरेकेण कस्यचित्स्मयो भवति. अतएव हास्यसंकोचएव साधनम्. निजजनानामपि धर्मएव दुष्टः न तु धर्मी, अन्यथा निजजनत्वमेव न स्यात्. इत्यलौकिकोपायः. लौकिकेऽपि तव हास्येन ता अपि आत्मानं तुल्यं मन्यन्ते, यदा पुनर्हास्ये संकोचः तदैव तासां गर्वो निवर्तते. किञ्च अभिमानो हि दोषः, स तावदेव तिष्ठति यावत्तव स्मितयुक्तमाननं न पश्यति. नहि काचित्तादृशमप्याननं दृष्ट्वा स्वाभिमानं पालयितुं शक्ता. नन्वेतल्लोके अप्रसिद्धं साधनत्वेनेति कथं ज्ञातुं शक्यत इत्याशङ्क्याहुः **जलरुहाननं चारु दर्शयेति. जलरुहं** कमलं, तत्सदृश**माननम**मृतस्रावि; नह्यमृते पीते कस्यचिद्दोषस्तिष्ठतीति युक्तिः. साधनत्वे चेत्संदेहः, एकवारं प्रदर्श्य पश्येत्यर्थः. किञ्च अभिमानो हि मनोधर्मः, तव आननं तु **चारु** मनोहरम्; नहि धर्मिणि हृते धर्मस्तिष्ठति. सख्युः सखिभजनं युक्तमेव ॥६॥

राजसी तु तत उत्तमा तमेवार्थं प्रकारान्तरेण प्रार्थयते **प्रणतदेहिनामिति.**

प्रणतदेहिनां पापकर्षणं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥

ते पदाम्बुजं नः कुचेषु कृणु कृणुष्व, छान्दसो लोपः, स्थापय. तस्य प्रयोजनं **कृन्धि हृच्छयमि**ति, हृदये चौरवत् स्थितं कामं कृन्धि. **कुचेष्विति**

प्रकाशः

प्रणतेत्यत्र. न इति बहुवचनेन कुचेषु बहुत्वमायातीत्यरुच्या पक्षान्तर-माहु**र्विरहेणे**त्यादि. संयोगे हि भगवदुपयोगित्वात्तेषु स्वीयत्वेन भानं, विरहे

लेखः

रसप्रतिबन्धकता तद्युक्तः स्मय इत्यर्थः. **अभिमानो हि दोष** इति रसप्राप्तौ प्रतिबन्धक इत्यर्थः. **निजजने**त्यस्य क्रमेण शास्त्रीयप्रकारेण लौकिकप्रकारेण रसमार्गीयप्रकारेण चार्थत्रयमुक्तम् ॥६॥

प्रणतदेहिनामित्यत्र. कृणु स्थापयेति, "कृवि हिंसाकरणयोश्चे"ति भ्वादिस्थस्य रूपम्. कुचेषु करणं स्थापनमेवेति भावः. **लक्ष्मीरिति**, लक्ष्मीर्हि

समुदायाभिप्रायेण बहुवचनम्, विरहेण भिन्नान् वा मन्यन्ते. शिरसि हस्तदानेन निकटे समानयनमुक्तम्, ततो भजनेन संबन्ध उक्तः, अनेन विपरीतरस उच्यते. बंधविशेषो वा तिर्यग्भेदः, एकवचनात्. तावता हि हृदयस्थितः कामो गच्छति. स्त्रीणां समूहे लीलाशयने परितः स्थितानां तथा संबन्धो भवतीति वा. ननु कर्कशेषु स्तनेषु कथं कोमलचरणस्थापनमिति चेत्, तत्राहुः **फणिफणार्पितमि**ति. नहि कालियफणात् क्रूरा अस्मत्स्तनाः; तत्र यथा चरणस्थापनं कृत्वा तदन्तर्गतो दोषो दूरीकृतः एवमत्रापि कर्तव्यः. **अम्बुज**पदेन च प्रत्यक्षतस्तापहारकत्वम्. ननु तथापि स्त्रीणां वक्षसि चरणस्थापनमयुक्तमिति चेत्, तत्राहुः **श्रीनिकेतनमि**ति, लक्ष्म्याः स्थानं तत्. लक्ष्मीः किल तत्र स्पर्शमर्हति अन्यासु कः संदेह इति. ननु भवत्यो मूढाः,

प्रकाशः

तु न तथेति भिन्नान्मन्यन्त इत्यर्थः. तथा चास्मासु चेन्न स्थापयसि तदास्मद्भिन्नेषु तेषु त्वत्परेषु स्थापयेति भावः. अतएव "गणये कुचयोरि"ति तद्भावः प्रभुभिरुपवर्णित इति श्रीहरिरायाः. सर्वत्र मनोरथतौल्यादर्शनादयमपि पक्षो न बहुत्वसाधक इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **स्त्रीणामि**त्यादि. ननु कालियनृत्येनैतच्चरणप्राकट्यमिति वेणुगीते प्रतिपादनादत्र **फणिफणार्पितमि**ति विशेषणं कथं सङ्गच्छत इति चेद्, "इत्युन्मत्तवचो गोप्य" इति पूर्वाध्याये कथनादत्रापि तदनुस्यूतमित्यतः सङ्गतिरिति केचित्. तत्रोन्मत्तवचनोपसंहारपक्षस्यापि सुबोधिन्यामङ्गीकारात्तत्पक्षेऽसङ्गतितादवस्थ्ये तु "चेरुर्गोप्यो विचेतस" इति पूर्वाध्यायोपान्त्ये कथनादत्र च तदनुसीवनादिति भाति. वस्तुतस्तु ज्ञानपूर्वकमेवैवं कथनं, न च पूर्वविरोधः. **तत्र यथे**त्यादिसुबोधिन्यामेव दोषदूरीकरणार्थतां तस्योक्त्वाग्रेऽ**म्बुज**पदव्याख्यानेन मूले क्रमेणोभयविधचरणस्थापनस्य व्यक्तीकरणान्न तदर्थं प्रयासान्तरं कर्तव्यमिति भाति ॥७॥

योजना

फणिफणार्पितमित्यस्याभासे. **ननु कर्कशेषु स्तनेषु कथं कोमलचरणस्थापनम् अयुक्तमिति चेदि**ति. इह **कथं कोमलचरणस्थापनमि**त्युक्त्वा **अयुक्तमि**त्यनेन प्रश्ने उपपत्तिरुक्ता. तथा च यतो **अयुक्तम्** अतः **कथं कोमलचरणस्थापनमि**त्यन्वयो ज्ञेयः. अथवा **अयुक्तं** यत्**कोमलचरण**धारणं **तत्कथमि**ति प्रश्नाशयः. **श्रीनिकेतनमि**त्यस्य विवरणे **अन्यासु कः सन्देह**

कथं भवतीनां हितं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः **तृणचरानुगमिति. तृणचरा** गावः, तेषाम**प्यनुगं** पश्चाद्गच्छति तद्धितार्थं, ते किं भगवता प्रेर्यमाणा इति तृणं परित्यज्यामृतं भक्षयन्ति. तेषां तृणमेवामृतं, तथास्माकमपि काम एवामृतम्. नैतावता परमकृपालोः कश्चनार्थः क्षीयते. ननु भवतीनां जितेन्द्रियत्वाद्यभावात् पापमस्ति, तदपगमे पश्चात्पदं स्थापयिष्यामीति चेत्, तत्राहुः **प्रणतदेहिनां पापकर्षणमिति.** वयं **प्रकर्षेण नताः,** नास्माभिः प्रकारान्तरेण निवर्तयितुं शक्यते किन्तु तव चरणप्रसादादेव नम्राणां पापं गच्छति, तत्रापि **देहिनः.** प्रकर्षेण नतत्वेन धर्ममार्गादिपरित्याग उक्तः. देहाभिमानस्य विद्यमानत्वात् न ज्ञानमपि. प्रणतानां हि नाप्यधोगतिः. अतस्तव पदमेव तेषां पापनाशकं, चिन्तितं दृष्टं स्पृष्टम् आलिंगितं वा ॥७॥

इममेवार्थं ततोऽप्युत्तमा प्रकारान्तरेण प्रार्थयते **मधुरया गिरेति.**

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाप्याययस्व नः ॥८॥

हस्तेन च स्वरूपेण पदा चोपकृतिर्मता ।
मुखेन चोपकारो हि कर्तव्य इति ता जगुः ॥(१२)॥

प्रकाशः

मधुरयेत्यत्र. इममेवेति वाञ्छितोपकाररूपमित्यर्थः. **गिरेत्यस्य**

लेखः

स्पर्शार्हा प्रसिद्धैव, अतोऽ**न्यासु** तस्या एवांशभूतासु **कः सन्देह** इत्यर्थः. **जितेन्द्रियत्वाद्यभावादिति**, उदारहासेनाधुना कामभावस्य सम्पादितत्वेनेन्द्रियवशत्वा[1]द्विषयरीत्या रतेच्छारूपं पापमस्तीत्यर्थः. चरणेनैव स भावो निवर्तिष्यते सर्वात्मभावो भविष्यतीति समाधानम् ॥७॥

मधुरयेत्यत्र. मतेत्यन्तेन श्लोकत्रयानुवाद उक्तः, एतच्छ्लोकार्थमाहुः **मुखेनेति.** लोभस्थितरसस्य तत्र विद्यमानत्वान्मुखोपकारो वक्तव्य एवेति **हिशब्दः. इति** हेतोः **जगुः** अस्मिन् श्लोके इति शेषः (१२). तर्हि

योजना

इति, सर्वासां स्त्रीणां लक्ष्म्यंशत्वाल्लक्ष्म्याः स्पर्शयोग्यतायां तदंशभूतानां योग्यत्वे कः सन्देह इत्यर्थः ॥७॥

१. वशत्वाविषयेति पाठः.

पूर्वोक्तमपि सर्वं हि यावत्स्पष्टं न भाषते ।
तावत्सरसतां याति न कदाचिदिति स्थितिः ॥(१३)॥

हे स्वामिन्, **मधुरया गिरा मुह्यतीरिमा** गोपी**राप्यायस्व.** मोहो हि मरणपूर्वावस्थारूपः. तासामाप्यायने हेतुः **विधिकरीरि**ति, आज्ञाकारिणीः सेवाकारिणीर्वा. असामर्थ्यं तु तव नास्तीत्याहुः हे **वीरे**ति. शौर्यं हि आर्तानामार्तिनिराकरणार्थम्. **इमा** इति प्रदर्शनेन क्षणमात्रविलम्बेन मरिष्यन्ति इति सूचितम्. ननु वाङ्मात्रेण कथं मोहनिवृत्तिरिति चेत्, तत्राहुः **मधुरये**ति. मोहो हि मायारूपः, स भवत्स्वरूपेणैव निवर्तते सच्चिदानन्दरूपेण.

लेखः

लोभप्रार्थनमेव वक्तव्यं न तु वाणीप्रार्थनमित्यत आहुः **पूर्वोक्तमि**ति. **यावन्न भाषते** भगवानिति शेषः **तावत् पूर्वोक्तमपि सर्वं सरसतां न याति.** तूष्णीं रमणे रसो न भवतीति रसमर्यादासूचनाय **स्थितिरि**त्युक्तम् (१३).

मोहनिवारणस्यावश्यकत्वमाहुः **मोहो** हीति. **मध्वि**ति, तादृशो रसः

योजना

मधुरया गिरेत्यत्र **हस्तेन च स्वरूपेणे**ति कारिकाः. **हस्तेनोपकारः** "करसरोरुहं कान्तकामदमि"त्यत्रोक्तः. **स्वरूपेणोपकारो** "व्रजजनार्तिहन्नि"त्यनेनोक्तः. **पदोपकारः** "प्रणतदेहिनामि"त्यनेनोक्तः. **मुखेनोपकारो** "मधुरया गिरे"त्यनेनोक्तः (१२).

कारिकार्थः

"मधुरया गिरा" इत्यत्र "विरचिताभयम्"इत्यादि श्लोकत्रयोक्त-भगवत्कृतोपकारानुवादपूर्वकम् एतच्छ्लोकोक्तमुपकारमाहुः **हस्तेन चे**त्यादि. "विरचिताभयम्" इति श्लोके "शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्" इति **हस्तेनोपकारः.** "व्रजजनार्तिहन्" इतिश्लोके "भज सखे भवत्किंकरीः" इति **स्वरूपेणोपकारः.** "प्रणतदेहिनाम्" इति श्लोके "पदाम्बुजं कृणु कुचेषु" इति **पदा उपकारः.** अस्मिन् "मधुरया गिरा" इति श्लोके **मुखेन च उपकारः कर्तव्य** इति **ता** गोप्यः **जगुः** इत्यर्थः (१२).

मधुरवाणीप्रार्थनप्रयोजनमाहुः **पूर्वोक्तमि**त्यादि, **यावद्** भगवान् मधुरवाण्या भाषणं न करोति **तावत्** पर्यन्तं **पूर्वोक्तं सर्वमपि सरसतां न याति** तूष्णींरमणे रसो न भवतीति रसमर्यादासूचनाय **स्थितिरि**त्युक्तम् (१३).

तत्र तव वाणी आनन्दरूपेत्याह **मधुरयेति**, **मध्व**साधारणो रसः तद्युक्ता मधुरा. **वल्गु** मनोहरं **वाक्यं** यत्र, वाक्यस्य मनोहरत्वं सत्यप्रियप्रतिपादकत्वेन, अतः सद्रूपता निरूपिता. **बुधानां मनोज्ञा** आह्लादकारिणि, अनेन ज्ञानरूपा निरूपिता– ते हि ज्ञानेनैव रता भवन्ति. मुखे नयने वर्तेते इति तयोरपि व्यापारं कृत्वैव वक्तव्यमित्याहुः **पुष्करेक्षणेति**, कमलवत् परतापापहारके ईक्षणे यस्य. किञ्च **अधरसीधुना** अधरामृतेन च **आप्यायस्व**, वक्तव्याः द्रष्टव्याः पाययितव्या इति. मूर्छितानां हि मूर्छानिवारणार्थं महामन्त्राः पठ्यन्ते, कमलादीनि च शीतलद्रव्याणि स्थाप्यन्ते. सर्वथा असाध्ये अमृतमपि पाय्यते. अतिगोप्यान् वा रसान् पाययन्ति. इयं तु मूर्छा नाल्पेन निवारयितुं शक्येति **वीरेति** सम्बोधनम्. अनेनान्तिमावस्था प्रदर्शिता. पूर्वप्रार्थिताश्चार्थाः स्मारकत्वेनाधिकमूर्छाहेतवो जाताः ॥८॥.

एवं [१]पदार्थचतुष्टयं संप्रार्थ्य तददाने स्वयमेव हेतुमाशङ्क्य परिहरन्ति **तव कथेति**.

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ये भूरिदाऽजनाः ॥९॥

ननु सर्वमिदं प्रार्थितं भक्तेभ्यो देयं नत्वभक्तेभ्यः. अभक्तत्वं च विरहेऽपि जीवनादवसीयते. भगवांस्तु सर्वनिरपेक्षः, न तस्य भवज्जीवनेन

प्रकाशः

आप्यायस्वेत्यनेन सम्बन्धः. **पाययते** इति, भिषक्तम इति शेषः ॥८॥

लेखः

प्रीतिः, तस्या आनन्दधर्मत्वात् तद्युक्त आनन्दो मधुर इत्यर्थः. **पुष्करेक्षण**पदतात्पर्यमाहुः **द्रष्टव्या** इति. **अनेने**ति अमृतप्रार्थनेनेत्यर्थः ॥८॥

पदार्थचतुष्टयमि[२]ति "हस्तेन च स्वरूपेणे"ति कारिकोक्तमित्यर्थः.

योजना

मधुरया गिरेत्यत्र वक्तव्या द्रष्टव्याः पाययितव्या इति, **मधुरया गिरे**त्यस्य **वक्तव्या** इति विवरणं, **पुष्करेक्षणेति** सम्बोधनस्य **द्रष्टव्या** इति विवरणम्, **अधरसीधुने**त्यस्य **पाययितव्या** इति ॥८॥

---

१. प्रार्थनाचतुष्टयमिति लेखपाठः कुत्राप्यदृष्टत्वान्न मूले निवेशितः.
२. जो. पाठमनुसृत्य, मुद्रितपाठस्तु प्रार्थनाचतुष्टयम् इति.

कार्यं, लक्ष्मीसदृश्यो यस्य कोटिशो दास्यः. अत"स्त्वयि धृतासव" इत्यप्यसंगतम्. तस्माद्व्यर्थमेव प्रार्थनमित्याशङ्क्य [1]परिहरति– नेदं जीवनमस्मत्कृतिसाध्यं किन्तु तव कथा विरहेण प्राणानां गमने प्रतिबन्धं करोति. कथायाः पुनः यथा तव सामर्थ्यं तथा; सापि षड्गुणात्मिका मोक्षदायिनी परमानन्दरूपा च, तदाहुः **तव कथा अमृतमिव**. अमृतं भगवद्रसात्मकं, सर्वेषां मरणादिनिवर्तकं यद्रूपं तद**मृत**शब्देनोच्यते. अतो मोक्षदातृत्वं परमानन्दरूपता च सिद्धा. इदानीं षड्गुणान्निरूपयन्ति **तप्तजीवनम्**इत्यादिषड्भिः पदैः. **तप्ता** ये संसारे तेषां **जीवनं** यस्मात्. अमृतं हि तापनिवर्तकं प्रसिद्धमेव. वैराग्यं च भगवतो ज्ञानं वा सर्वतापनिवर्तकम्. यत्संस्कारयोग्यं तद् ज्ञानेन नश्यति यदयोग्यं तत्परित्यागेन. अतएव स्मार्तैः

प्रकाशः

तव कथेत्यत्र. **इत्यप्यसङ्गतमि**त्यत्रापि "विधिकरीरिमा" इति संगृह्यते. **परिहरती**ति, अभक्ताः विरहेऽपि जीवनादिति जीवनानुमितमभक्तत्वं हेतोरुपहितत्वव्यञ्जनेन परिहरतीत्यर्थः. तथा च यथा यागीया हिंसा अधर्मः हिंसात्वादित्यत्र निषिद्धत्वमुपाधिः, तथा प्रकृते स्वकृतिसाध्यत्वमुपाधिरिति भावः. तदेतत्प्रदर्शयन्ति **नेदमि**त्यादिना. **उच्यत** इति, "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेने"त्यादिश्रुतिषूच्यत इत्यर्थः. **सर्वतापनिवर्तकमिति**, अत्र "**तप्तजीवनमि**त्यस्य **तप्ते** अयःपिण्डतैलादौ यथा **जीवनं** जलं किञ्चित्पतितं

लेखः

तव कथेत्यत्र. **षड्गुणात्मिकेति**. **षड्गुणा** [2]**आत्मनि** स्वरूपे यस्याः, तत्कार्य-कर्तृत्वात्तद्युक्तेत्यर्थः. कथायाः शब्दरूपायाः तापनिवर्तकत्वं कथमित्याशङ्क्य व्युत्पादयन्ति **अमृतं ही**ति. संसारतापयुक्तानां जीवनजनकं तत्तापनिवर्तकमि-त्यर्थः. **भगवतो ज्ञानमि**ति, भगवद्धर्मरूपं ज्ञानं तत्कृपया जीवेष्वागतं सत् तापं निवर्तयति, कथापि श्रवणद्वारान्तःप्रविष्टा तथा करोतीति भावः. तापनिवृत्तिश्च सांसारिकविषयनाशेन भवतीति व्यवस्थया तन्नाशकत्वमाहुः **यदिति**. **संस्कारयोग्यं** वाचारम्भणविकारराहित्येन ब्रह्मत्वप्रकारकज्ञानविषयत्व-योग्यमित्यर्थः. **तद्वस्तु ज्ञानेन नश्यति** ज्ञानिनं प्रति नश्यति, तदनुभवविषयत्वं वस्तुत्वेन न सम्पद्यते. यच्च स्र्यादिकं वस्तु ज्ञानस्यापि स्वसङ्गेन नाशकं

१. परिहरतीति नास्ति क्वचित्. २. आत्मा स्वरूपमिति पाठः.

संस्काराशक्तैः परित्यागएव बोध्यते. अतो ज्ञानं वैराग्यं च तापनाशके भवतः. आपाततस्तापनाशकत्वं जलादावपि वर्तत इति तदर्थमाह **कविभिरीडितमिति**. **कविभिः** सर्वैरेव शब्दार्थरसिकैः ज्ञानिभि**रीडितं** ज्ञानं वैराग्यं वा. आपाततः स्त्रीषु तथात्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाहुः **कल्मषापहमिति**,

प्रकाशः

सदधिकमेव तापं जनयति, एवं तव कथामृतमपि विप्रयुक्तेऽधिकतापमेव करोतीत्यर्थ" इत्याह वैष्णवतोषिणीकारः. तदविचाररमणीयं, तप्तायःपिण्डे पतितस्य स्वल्पस्यापि जलस्य विद्यमानत्वे स्वानुरूपौष्ण्यनाशकत्वस्य प्रत्यक्ष-सिद्धत्वात्. अन्यथाग्न्यन्तरसंयोगस्येव बहुजलसंयोगस्यापि तापाधिक्यहेतुत्वं स्यात्, तप्ततैलादौ तु तस्योत्तेजकत्वेऽपि तीव्रवह्निना तन्नाशेनात्र च कथाया विद्यमानतया तद्वैधर्म्यात्. तत्रोत्तेजनस्यापि बहिर्वह्निक्षेपणेनेतरतापकत्वमेव न तु जलसंयुक्ततापकत्वमित्यस्यापि तत्र दृष्टत्वाच्च प्रकृतेऽपि परतापकत्व-स्वतापशामकत्वयोरेव सिद्धेश्च. ननु कथायाः सर्वतापनाशकत्वे भगवत्संयोग-स्यावश्यकता नायास्यतीति चेत्, न, भगवदपेक्षया कथायाः स्वल्पत्वेन सांसारिकसकल-तापनिवर्तनमात्र-समर्थतया विरहमहातापनिवारणे तद-सामर्थ्यात्सुखेन भगवत्संयोगावश्यकतोपपत्तेः. अतएव मूले जीवनसम्पादकत्व-मेवोक्तं, **न** तु विरहतापनिवर्तकत्वमपि. किन्तु तदुक्तार्थाङ्गीकारे**ऽमृत**पद-विरोधः, तस्यातापकत्वात्. तथा **भूरिद**पदविरोधश्च. महातापजनक-वाक्यवक्तृस्तुतेस्तादृश-तत्तापतप्त-कर्तृकत्वायोगात्. तत्र काकुविपरीतलक्षणा-द्यंगीकारस्तु साहसमेव. तस्मात्तापनाशकत्वमेवात्रार्थ इति दिक्. **यत्संस्कारे**त्यादि, अत्र प्रथमोदाहरणं अप्रजत्वादितप्तं, "तद्धैक आहुः ऋषयः कावषेयाः किं प्रजया करिष्यामो येषां नो एवायमात्मा नायं लोक" इत्यादिश्रुतेस्तादृशज्ञानादेव तन्नाशात्. द्वितीयोदाहरणं तु जुङ्गितोपगतादितप्तं बोध्यं, स्मृतौ "चतस्रस्तु

योजना

तव कथामृतमित्यत्र ज्ञानं वैराग्यं च तापनाशके भवत इति. **तप्तजीवनमित्य**नेन वैराग्यं ज्ञानं वा ग्राह्यं, तापनाशकत्वस्य ज्ञाने वैराग्ये च सत्त्वात्. तथा च उभयोर्मध्ये एको धर्मोऽनेन विशेषणेन सिद्धः. **कविभिरीडितमित्य**स्य विवृतौ **ज्ञानं वैराग्यं वे**ति. अनेनापि विशेषणेन ज्ञानं वैराग्यं वा ग्राह्यं, कवीडितत्वस्य ज्ञाने वैराग्ये च विद्यमानत्वात्. तथा च

कल्मषं पापमपहन्तीति. "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्ये"त्यपि क्वचित्पाठः. अलौकिकसाधकं च वीर्यं महत् तद्धर्मरूपमेव भवति. धर्म्यं च पुनः कल्मषनिवर्तकं भवति, पूर्वोक्तधर्मविशिष्टं च. कथायाश्च तथात्वं सर्वत्र प्रसिद्धम्. प्रायश्चित्तादीनामपि आपाततस्तथात्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **श्रवणमङ्गलमिति**, तद्धोमयादि-लेपनात्मकमुपवासात्मकं च स्वरूपतोऽप्यमङ्गलं

प्रकाशः

परित्याज्या" इत्यनेन त्यागबोधनात्. **इत्यपीत्यपिना** सूचितं पाठान्तरं तु "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरित" इत्येवमाग्नेयादौ दृश्यते. अत्र 'ईरित' इत्यस्य वाचक ईरित इत्यर्थो ज्ञेयः. **पूर्वोक्तधर्मो**ऽलौकिकसाधकत्वम् ॥९॥

योजना

उभयोर्मध्ये एको धर्मोऽनेन सिद्धः. तत्र यदा **तप्तजीवनमि**ति विशेषणेन ज्ञानं गृह्यते तथा **कविभिरीडितमि**त्यनेन वैराग्यं ग्राह्यं, यदि पूर्वेण वैराग्यं तदा **कविभिरीडितमि**त्यनेन ज्ञानं ग्राह्यम्– एवमेकेन विशेषणेनैकं ग्राह्यम्. इत्थं द्वाभ्यां विशेषणाभ्यां ज्ञानवैराग्यसिद्धिः. **कल्मषापहमि**त्यनेन धर्माख्यो धर्मः सिध्यति, कल्मषनाशकत्वस्य धर्मे स्फुटत्वात्, ऐश्वर्यादिषु षट्सु धर्मेषु पाठान्तरेण धर्मस्य संग्रहात्. तदेतदाहुः **धर्मस्येत्यपि क्वचित्पाठ** इति, "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा" इतिवाक्ये 'वीर्यस्ये'त्यस्य स्थाने **धर्मस्येति** पाठ इत्यर्थः. 'वीर्यस्ये'ति पाठेऽपि **कल्मषापहमि**त्यनेनैव विशेषणेन वीर्यमपि ग्राह्यमित्यत्रोपपत्तिमाहुः **अलौकिकसाधकत्वं च वीर्यं महत्तद्धर्मरूपमेव भवतीति**. अनेन वीर्यधर्मयोरैक्यमुक्तम्. **श्रवणमङ्गलमि**त्यनेन यशो गृह्यते. **श्रीमदि**त्यनेन श्रीर्ग्राह्या. **आततमि**त्यनेन ऐश्वर्यम्. एवं षड्गुणाः कथायामिति भगवत्कथा भगवत्तुल्येति सिद्धान्तितम्. युक्तं चैतत्, "नामरूपे व्याकरवाणी"तिश्रुतौ नामरूपयोस्तौल्यनिरूपणात्. अतएव "आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्ये"त्युक्त्वा "तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वर"इत्यनेन स्वकीर्तौ भगवता स्वभारः स्थापित इत्युक्तमेकादशस्कन्धे. "कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह कलौ नष्टदृषामेष पुराणार्कोऽधुनोदित"इत्यनेन नामात्मके श्रीभागवते कृष्णतौल्यं प्रथमस्कन्धे उक्तम् ॥९॥

घोरात्मकत्वात् श्रवणेऽप्यमङ्गलम्, इदं तूदारचरितं श्रुतमेवानन्दं जनयतीत्यनुभवसिद्धत्वात् **श्रवणमङ्गलम्.** तेन कीर्तितुल्यता निरूपिता. पुत्रजन्मादिश्रवणस्यापि किञ्चिद्धर्मसाम्यात् श्रवणमङ्गलत्वमाशङ्क्य तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **श्रीमदिति**, तद्धनव्ययसाधकं न तु धनसाधकं, कथामृतं तु लक्ष्म्या अप्यपेक्षितत्वात् तद्युक्तं भवति. तेन श्रोतुर्वक्तुश्च तत्सिद्धिः. राज्यप्राप्तिश्रवणं तथा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **आततमिति. आ** सर्वतः **ततं** व्याप्तम्; राज्यादिकं तु परिच्छिन्नं, भगवत ऐश्वर्यं तु न तथा, अन्तर्बहिः सर्वेषां सर्वथा व्याप्तमिति. कथामृतं च पुनः सर्वलोकान् व्याप्य तिष्ठति, स्वसामर्थ्यं सर्वत्रैव सम्पादयति. तस्मात् स्वरूपतो धर्मतश्च भवत्सदृशी भवत्कथेति तया कृत्वा जीवनं, न तु स्वतः. अनेनोत्कर्षोऽप्युक्तः— त्वं कदाचिन्मारयस्यपि, कथामृतं तस्मिन्नपि काले जीवयतीति. भगवान् स्वतन्त्रः कथामृतं परतन्त्रमित्येतावान् विशेषः. त्वं च अवतारे ब्रह्मादिभिः प्रार्थित आगच्छसि, आगतोऽपि तिरोभवसि, कथा तु समागता न तिरोभवति. अतएव तादृशं **कथामृतं ये भुवि गृणन्ति** तएव **भूरिदाः** बह्वर्थदातारः. **य** इति प्रसिद्धाः व्यासादयः. **भूरिदाश्च** ते **अजनाश्च**, ते केवलं भगवद्रूपाः जननादिदोषरहिता वा. परं विरलममृतं केवलं मरणोपस्थितौ तन्निवर्तकमेवेति, न तु संभूयैकत्र रसजनकम्. रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेषो, अन्यथा कथार्थमेव यत्नः कृतः स्यात्. परं विरहे मरणनिवर्तकत्वेन तदुपयोग इति भगवत्त्वेन स्तूयते. अतस्तैर्भगवत्कथाकथकैः बहु दत्तमिति तद्वशाद् जीवनम्. एतत्सात्त्विक्याः ॥९॥

लेखः

तत्परित्यागेन तथा भवतीत्यर्थः. **उदारचरितमिति** उदाराणि चरितानि यत्र. **किञ्चिद्धर्मसाम्यादिति**, ऋणमोचकत्वेन कल्मषापहत्वं ज्ञेयम्. "किं प्रजया करिष्याम" इत्यादिवाक्यानामपि सत्त्वात् **किञ्चिदित्युक्तम्. स्वतन्त्र** इति रसानुभावने इति शेषः. **कथामृतं** तु **परतन्त्रं** सहायसङ्गसापेक्षमित्यर्थः. **बहु दत्तमिति** लोकेभ्य इति शेषः. **तद्वशादिति** कथावशादित्यर्थः. कथावक्तॄणां भूरिदत्वोक्त्या कथाया जीवनसम्पादकत्वरूपं माहात्म्यमुक्तं भवति. तेनात्रापि गोपिकान्तरोक्तकथाया जीवनसम्पादकत्वमिति व्यङ्ग्यं जातमिति भावः ॥९॥

तामस्याः वचनमाह **प्रहसितमिति.**

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥१०॥

यद्यपि कथया स्थातुं शक्यते, यदि त्वदीयैर्धर्मैः क्षोभो नोत्पादितः स्यात्. यथा भगवति षड्गुणाः सन्ति तथा षड् व्यामोहका अपि गुणाः सन्ति. अन्यथा कथयैव चरितार्थता स्यात्. तदर्थं भगवान् मायया कुहकलीलामपि करोतीति स्वस्वभावदोषाद् भगवति तथा स्फूर्तिरिति; यथा ज्वरितस्य अन्ने विरसताप्रतीतिः. अत आह **तव प्रहसिता**दिकं **नो मनः क्षोभयतीति, प्रकर्षेण हसितं,** स्वभावतएव खिन्ना, तां त्यक्त्वा अन्यया सह स्थित इति, ततश्चेत् समागत्य प्रकर्षेण हसति, सुतरां क्षोभं प्राप्नोति. **प्रियेति** सम्बोधनात् तव सम्बन्धोऽपि स्मृतः क्षोभजनको जायते. अतएव यासां न सम्बन्धः तासां न क्षोभः. किञ्च **तव यत्प्रेमवीक्षितं** प्रेम्णा वीक्षितं तदपि क्षोभयति स्मृतं सत्. अन्यविषयकं वा विश्वासजनकत्वाद्वा अन्तःकपटरूपमिति क्षोभजनकम्, अन्यथा कार्ये विसंवादो न स्यात्, मनस उत्तोलकं वा आशाजनकम् आशया च श्रमः. **तव विहरणम**पि क्षोभजनकम्. **विहरणं**

प्रकाशः

प्रहसितमित्यत्र, मोहकगुणसद्भावे किं प्रमाणमत आहुः **तदर्थमि**त्यादि, **तदर्थमिति** मोहनार्थम्. तथा च तदर्थकतादृशलीलैव मानमित्यर्थः. नन्वेवमारोपोऽनुचित इत्यत आहुः **स्वस्वभावे**त्यादि. **त** इत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धे

लेखः

प्रहसितमित्यत्र. शक्यते इत्यस्यानन्तरं तथापीति शेषः. **विहरण**शब्दस्य

योजना

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणमित्यत्र, प्रेमवीक्षणस्य क्षोभकत्वं त्रेधा व्युत्पादयन्ति **स्मृतं सदि**त्यादिना. स्वविषयकं यत्प्रेमवीक्षणं संयोगे, तद्विप्रलम्भ-दशायां **स्मृतं सत्** क्षोभं जनयति. **अन्यविषयकं वे**ति, अन्यनायिकाविषयकं प्रेमवीक्षणं क्षोभजनकमित्यर्थः. **मनस उत्तोलकं वे**ति, प्रेमवीक्षणमस्मन् **मनस उत्तोलकं** परीक्षकमित्यर्थः. अतोऽपि **क्षोभजनकं** सर्वथा प्रेमवतां ज्ञातप्रेमकाणां परीक्षाकरणस्य क्षोभजनकत्वं स्फुटमतः सुस्थम् ॥१०॥

यच्चलनं, वेणुवादनादिना रसो भगवदीय आकाराद् बहिः स्थाप्यत इति, विशेषेण हरणं यस्मादिति त्रिभङ्गललितादिकं भवति. तत्पूर्वमस्माभिर्ध्यातमिति [1]**ध्यानमेव मङ्गलं,** त्वल्लक्षणं शुभफलं प्रयच्छतीति. तदपीदानीं क्षोभजनकं, तिरोहितत्वात्. त इति सर्वत्र सम्बन्धः. अन्यन्माययापि करोतीति मुख्यतया अत्रोक्तिः. एवं रूपसम्बन्धे चतुष्टयं क्षोभकमुक्तम्. नामसम्बन्धि द्वयमाह **रहसि संविद** इति **या हृदिस्पृश** इति, **रहसि** एकान्ते **संविदो** ज्ञानरूपाः भगवद्वाचः. ज्ञानान्येव वा शास्त्रजनितानि बन्धाद्यभिज्ञारूपाणि. तत्रापि **या** वाचो **हृदिस्पृशः** हृदयगामिन्यो भवन्ति. अस्मदनुगुणाएव बन्धसंविदो वा, न तु केवलं नायकानुगुणाः. अतएवमेते सुखहेतवोऽपि, भवान् वञ्चयति चेत्, तदा क्षोभं जनयन्ति. अयमर्थः सर्वानुभवसिद्ध इत्याह **हीति** ॥१०॥

राजस्या वचनमाह **चलसीति**[2].

चलसि यद् व्रजाच्चारयन्पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥११॥

अस्माकं तु स्नेहवशात् त्वद्विषयिकासमीचीनेऽपि खेदबुद्धिर्जायते, तव तु नास्मद्विषयिणी सत्यखेदेऽपि जायत इति न्यायविरोधमिवाह. **यद् व्रजात्पशून् चारयन् चलसि** तत्र चलने **नलिना**पेक्षयापि **सुन्दरं** कोमलं, हे **नाथ, ते पदं** मार्गस्थितैः **शिलतृणाङ्कुरैः– शिलाः** पाषाणाः, तृणानि,

---

प्रकाशः

प्रथमतएव तदुक्तिरुचितेत्यत आहुः **अन्यदित्यादि. अत एवमेत** इति **एवम् एत** इति पदच्छेदो बोध्यः ॥१०॥

लेखः

चलनार्थकत्वं व्युत्पादयन्ति **वेणुवादनादिनेति**. त्रिभङ्गादिरीत्या व्रजागमने तत्सामयिकवेणुनादेन स्वामिनीनामन्तःस्थितो **भगवदीयो रसस्तदाकाराद्बहिः स्थाप्यते** प्रकटीक्रियते, नादश्रवणे पुलकादिकं भवतीत्यर्थः. तथा च **विशेषेण हरणं** रसस्य बहिःस्थापनं यस्मादित्यर्थः. **तिरोहितत्वादिति** अन्तरपीति शेषः, अन्तःस्थित्यज्ञापनादेव मुक्तिः. **अत्रोक्तिरिति, त** इत्यस्यात्रैव सन्निधानमुक्तमित्यर्थः. **चतुष्टयमिति**, प्रियेति सम्बोधनसूचितः सम्बन्धश्चतुर्थः. **द्वयमिति** संविदस्तासां स्पर्शश्चेत्यर्थः ॥१०॥

---

१. ध्यान इति पाठः. २. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्.

अङ्कुराः दर्भादीनां, तामसानि सात्त्विकानि राजसानि; अथवा शिलारूपं यत्तृणं **शिलतृणं** कठिनतृणं, तस्याङ्कुरैः— अतिपरुषतीक्ष्णैः **सीदतीति** क्लेशं प्राप्नोतीति, वस्तुतो न प्राप्नोत्येव तथापि, हे **कान्त** भर्तः, **मनः कलिलतां गच्छति. व्रजादि**ति प्रातरारभ्य खेदः सूचितः. चलनादेव च खेदः अतः प्रथमतस्तदेवोक्तम्. वस्तुतस्तु तव पदे अस्मत्स्थानं विहाय न गच्छतः तथापि भवानेव तथा चालयति. किञ्च व्रजस्थिता गावो अरण्ये नीयन्ते. तासां चारणं न मार्गगमनेन भवति अतो अमार्गेऽपि गन्तव्यम्. भूम्यादीनाम् अनुग्रहार्थं न पादुकाग्रहणं, पाल्यानां चर्म च न परिधेयम्, अतो नलिनसुन्दरं पदमेव

लेखः

चलसीत्यत्र, चलने चारणस्य हेतुत्वोक्त्या भगवतएव तत्कार्यार्थं चलनमभीष्टं न तु पदोस्तदभीष्टमित्याशयेनाहुः **वस्तुतस्त्वि**ति. पदोस्त्वस्मत्स्थानमेवाभीष्टमित्यर्थः. व्रजाच्चलनात् कलिलतां गच्छति, चरणावसादनादपि तथेत्याहुः **किञ्चे**ति. **पादुकाग्रहणमि**ति, चर्मापरिधानस्यैवोपपादनाच्चर्ममय्यौ पादुके न गृह्णाति, दारुमय्यौ तु गृह्णात्यपि. परन्तु ताभ्यां बहुदूरे गमनं न सम्भवतीत्यत्र **तदग्रहणमि**ति ज्ञेयम्. ननु आवश्यकव्यवधानेन भूमेरनुग्रहो नान्यथा भवति, शैत्याद्यर्थमपेक्षित-कुङ्कुमव्यवधानेन वक्षोजयोरिव इत्यरुच्या तात्पर्यान्तरमप्याहुः **पाल्यानामि**ति, व्रजीयाः सर्वएव जीवा भगवतः पाल्याः, तच्चर्मपरिधाने तु तन्मारण-मनुज्ञातमिव भवतीति भावः. चर्मपरिधानाभावस्यैवोपपादितत्वाद्दारुमय्यौ पादुके कदाचित् परिदधात्यपि. अतएव महत्सेवितस्वरूपेषु श्रीमन्मदनमोहन-चरणयोस्तथा. भूमेरनुग्रहस्त्वावश्यकव्यवधानेन नान्यथा भवतीत्यनुपदमेवोक्तम्.

योजना

चलसि यद् व्रजादित्यस्य विवृतौ **पाल्यानां चर्म च न परिधेयमि**ति, **पाल्यानां चर्म परिधेयं च** नेत्यन्वयः. भूम्यादीनामनुग्रहार्थं चरणयोश्चर्म न परिधेयं, चर्म परिधेयं च न भवतीति हेतुद्वयं चर्मापरिधाने, पादुकयोरधारणे तु भूम्यादीनामनुग्रहः एकएव हेतुरित्यर्थः. **जलएव स्थातुं योग्यं जलपूर्णे वा**, नलिनं जलजत्वाज्जले स्थातुं योग्यमित्यर्थः. उद्धृतजले स्थापितमपि तथा न शोभत इति पक्षान्तरमाहुः **जलपूर्णे वे**ति, **जलेन पूर्णे** सरसि **स्थातुं योग्यं** सरोजत्वादित्यर्थः ॥११॥

शिलतृणाङ्कुरैः सीदति. (नलिनं!) जले एव स्थातुं योग्यं, जलपूर्णे वा. नलिनादपि सुन्दरं चेत्, लक्ष्म्यामस्मासु वा स्थातुं योग्यम्. **नाथे**ति सम्बोधनाद् बहव एवात्रार्थे नियोज्याः सन्ति तथापि स्वयमेव गच्छसीति. वने हि त्रिविधा भूमिः— पर्वतरूपा अरण्यरूपा कच्छरूपा च. तत्र क्रमेणैकमेकत्र भवति, सर्वं वा सर्वत्र. अवसादो अशक्त्या एकत्र स्थितिः तदा चिन्ता भवति, स्वयं गत्वा स्वहृदये स्थापनीयमिति. **मनःकान्ते**ति च, तेन मनःस्थापितमपि न तिष्ठतीति ॥११॥

एवं सप्तविधा अनन्यपूर्वा निरूपिताः. चतस्रश्च ताः[१]. अतः परं क्रमेण षट् ताएव निरूप्यन्ते. तत्र प्रथमं राजसतामस्या वचनम्. ता हि बहिर्गत्वा द्रष्टुमशक्ताः. अतो यदा संध्यायां भगवानायाति तदा भगवन्तं दृष्ट्वा मनसि

प्रकाशः

चलसीत्यत्र. **नलिन**पदसूचितमर्थमाहुः **जल एवे**त्यादि, सरस्यादिरूप उत्पत्तिस्थानएवेति यावत्. तेन चालनायोग्यता सूचिता. तेन व्रजएव स्थापनीयमित्याशयः. यदि चेच्चालनं क्रियेत तदापि नीरसे स्थापनं नोचितमित्याहुः **जलपूर्णे वे**ति, शाद्वलेष्वित्यर्थः. अर्थान्तरमाहुः **नलिनादपी**त्यादि ॥११॥

लेखः

जलपूर्णे वेति, स्वस्थानादुद्धृतं **जलपूर्णे** घटादौ तिष्ठतीत्यर्थः. **लक्ष्यामि**ति. जलस्थानीया लक्ष्मीः, जलस्य नलिनस्थानत्वाल्लक्ष्म्याश्च स्वकीयात्वादिति भावः. पात्रस्थानीयाः स्वयम्, उद्धतस्यैव नलिनस्य पात्रे स्थापनादेतासां च परकीयात्वादिति भावः. **सीदती**त्यस्यार्थमाहुः **अवसाद** इति, कण्टके लग्ने चलनाशक्त्या किञ्चित्कालमवस्थितिरित्यर्थः. एतासां भावानुभावेन वनलीलाज्ञानमित्युक्तमेव. **मनःकान्ते**ति, **इति च** व्याख्यानं सम्भवतीति शेषः. मनसः कान्तेत्यर्थः. तदा **मनः**पदस्यावृत्तिर्ज्ञेया ॥११॥

दिनपरिक्षये इत्यस्याभासे **ता ही**ति, अन्यपूर्वाः पत्याद्यनुरोधेन दिवा वनगमनेऽशक्ताः, अतो दिवा प्रयोजनाभावान्न कामभावसम्पादनं किन्तु गुणगानेनैव रमणं, निशि स्वरमणस्य कर्तव्यत्वात् संध्यायां तदुपयोगिकाम-भावसम्पादनम्. अनन्यपूर्वाणां तु दिवापि रमणसम्भवेन तदुपयोगी नित्य

१. अन्यपूर्वा इति ज्ञेयम् (सम्पा.).

कामो भवति. ततो बन्धप्रार्थना अधरामृतप्रार्थना च रजसा सत्त्वेन च भविष्यतः, अनन्यपूर्वाणां तु नित्यएव कामः, **दिनपरिक्षये** इति.

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
धनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥१२॥

दिनपरिक्षये संध्याकाले, क्षयोक्त्या दिने द्वेष्यत्वं ज्ञाप्यते. रजोगुणस्यायं समयः, कामस्य च कालः. **नीलकुन्तला**[१] भ्रमरा इव रसबोधकाः[२]. ये हि मुखकमललावण्यामृतं पिबन्ति ते उद्‌बोधका भवन्ति, अतस्तै**रावृतं वनरुहवत्** कमलवद् **आननं बिभ्रद्**, हे **वीर, नः मनसि स्मरं यच्छसि.** [३](सन्ध्यायां नीलवर्णैरावृतत्वे तत्प्रभाव्याप्तत्वं भवतीति तदुक्त्या वनरुहोक्त्या[४] च कुवलयाभत्वं ज्ञाप्यते. तथा च प्रियामुखेन्दुदर्शनेनोत्तरोत्तरमधिक-

लेखः

एव कामः. अनन्यपूर्वा अग्निकुमारवदन्या अपि तथाविधा इति ज्ञेयम्. तेन अग्निकुमाराणां रात्रावेव विवाहितान्यायेन रमणमिति पूर्वोक्तेन न विरोधः. अत्र सत्त्वादिभेदः समयभेदेनैकस्यामपि बहुधा. अतोऽग्रिमश्लोकद्वयोक्त-प्रार्थना एकस्या अपि सम्भवतीत्याशयेन **ततो बन्धप्रार्थनेत्युक्तम्. तत** इति कामदानलीलास्मरणेनोद्‌बुद्धात् कामाद्धेतोरित्यर्थः. अनन्यपूर्वाणां तु कामस्य नित्यत्वात् कामदानकथनं विनैव "व्रजजनार्तिहन्" "प्रणतदेहिनामि"ति श्लोकाभ्यां बन्धप्रार्थना, "मधुरया गिरे"त्यनेनाधरामृतप्रार्थना चेति भावः. व्याख्याने, एतस्या राजसतामसीत्वं व्युत्पादयन्ति **रजोगुणस्येति**, अतएव तत्समये दोहनादिवैयग्र्यमिति भावः. तमोरूपस्य कामस्य **चोद्‌बोधको** भवति, अतः स कालो राजसतामसः. तत्कालीनलीलाकथनादेतस्या अपि तथात्वमित्यर्थः. **संध्यायामिति**, तथा सत्यधरे लोचनयोश्चापि नारुणिम-

योजना

अनन्यपूर्वाणां तु नित्यएव काम इति, या **अनन्यपूर्वा** अविवाहितास्तासां पतिकृतप्रतिबन्धाभावादिवा वने गमनाद्रात्रौ भगवदन्तिके गमनादहर्निशं रमणं सम्भवतीति तद्धेतुभूतः **कामो**ऽपि **नित्यएव** दिवा रात्रावपि इत्यर्थः ॥१२॥

१. नीलकुन्तलानि इति ब. पाठः. २. रसबोधकानि इति ब. पाठः.
३. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्. ४. वनरुहत्वोक्त्या इति ब. पाठः.

विकासवत्त्वमितः पूर्वमतादृशत्वं च ज्ञाप्यते. तेन प्रियस्य सर्वास्वासक्तिः सूचिता भवति. अतएव 'जल'पदं विहाय **वन**पदमुक्तम्. तेन वने याऽवस्था तां ज्ञापयितुं तान् धर्मान् बिभ्रदेवाननं दर्शयतीति ध्वन्यते.) **धनेन** गोभिः **रजस्वलं मुहुश्च प्रदर्शयन्.** मध्येमार्गं गच्छन् उभयतः स्थिता गोपीः पर्यायेण पश्यति, अतो मुहुः प्रदर्शनम्. अग्रे गच्छन् पुनः पुनर्व्याघुट्य पश्यतीति वा तथा. तादृग्दर्शनं स्वापेक्षाज्ञापकमिति स्मरजनकम्. निरन्तरदर्शनेन तत्रैव रसास्वादनमिति न स्मरोत्पत्त्यवसरः स्यात्. अतो वारंवारं प्रदर्शनं स्मराग्नेः संधुक्षणमिव भवति. तादृशं कृत्वा तत्पूरणार्थं तन्निराकरणार्थं वा युद्धमवश्यं कर्तव्यम्. तत्सूचयन्ति **वीरे**ति. धनेन रजस्वलं च श्रमसूचकं भवति, श्रमनिवृत्तिश्चास्माभिरेव. **वनरुहमि**ति, वन एवैतत्सर्वथा भोग्यम् अतोऽत्रैव समागमनम्. अनेन गृहे रतिं दास्यामीति पक्षो व्यावर्तितः. **बिभ्रदि**ति बलात्कारेण तामेवावस्थां स्थापयति. यदि मुखसंमार्जनं कृत्वा समागच्छेत् तदा प्रसन्नमुखदर्शनाद् ज्ञानं वा भवेत्. धनसम्बन्धि रज इति कामएव, न तु क्रोधः. यथा पात्रं धृत्वा तत्स्थितमन्नं भोगार्थं दीयते तथा मुखं धृत्वा तत्रत्यो रसः कामात्मा मनसि स्थाप्यत इति मुखधारणस्य हेतुत्वम्. अतो भोगार्थं दत्त इति भोगः करणीयः. अयं काम आगन्तुक इति नास्यान्येन पूरणं भवति ॥१२॥

टिप्पणी

दिनपरिक्षय इत्यत्र **बिभ्र**त्पदतात्पर्योक्तौ **ज्ञानं वा भवेदि**ति, भक्त्यात्मकत्वात् मुखस्य स्नेहरसानुभवएव स्यादित्यर्थः ॥१२॥

प्रकाशः

[**उभयस्थिताः** अन्यानन्यपूर्वाः. **तादृग्दर्शनं** व्याघुट्य दर्शनम्. **तादृशं कृत्वे**ति दर्शनम्. **युद्धमि**ति रतियुद्धम्. **वन एवे**ति, वनएव सर्वथा भोग्यमत एव वनरुहाननम् (अतो!) अत्रैव समागमनम्. **व्यावर्तित** इति निवर्तितः. **आगन्तुक** इति आपाततः ॥१२॥]

लेखः

प्रतीतिरिति भावः. **अतएवे**ति आसक्तेरेव हेतोरित्यर्थः. **वनात्** समागतोऽप्यासक्त्या एतद्रमणार्थं पुनर्वनं प्रवेक्ष्यति. तथा च वनस्थत्वमेव सम्पन्नमिति भावः. **भोगार्थं दत्त** इति, सन्ध्यायां त्वया दत्त इत्यर्थः. **अन्येने**ति

तत उत्तमा अनन्यपूर्वावित्स्तनयोश्चरणधारणं प्रार्थयन्ति **प्रणतेति.** अत एव न पौनरुक्त्यं परं पूर्वापेक्षयात्र चरणमाहात्म्यमधिकं– गुणाधायकमेतत्, पूर्वं तु दोषनिवर्तकम्.

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।

चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥१३॥

हे **रमण** रतिकर्तः, **नः स्तनेषु चरणपङ्कजमर्पय.** प्रयोजनमाहुः **आधिहन्** इति, **आर्तिहन्** इति वा. हृदयतापः चिन्ता च निवारणीया. दृष्टोपकारेणैव तापो गमिष्यति; अस्माभिर्हृदये स्थापितं न बहिः समायाति अतस्त्वया बहिः स्थापनीयम्. चरणपङ्कजस्यापि भगवत इव षड्गुणानाह. तत्र प्रथममैश्वर्यं **प्रणतकामदमिति, प्रकर्षेण** ये **नता** अनन्यशरणाः तेषां **कामदमभि**लषितार्थदातृ. ईश्वरएव तथाविधो भवति. तत्रत्यः कामः स्तब्धैर्ग्रहीतुं न शक्यत इति प्रणतत्वमुक्तम्. **पद्मजार्चितमिति** धर्मरू**पत्ता** निरूपिता, ब्रह्मप्रार्थनयैवात्रागतमिति. कीर्तिरूपतामाह **धरणिमण्डनमिति, धरण्या मण्डनम**लङ्करणरूपं श्रीरूपं वा. **आपदि ध्येयं** श्रीरूपं कीर्तिरूपं वा. पङ्कजसाम्यात् स्वरूपोत्कर्ष उक्तः. **शन्तमं** कल्याणतमं ज्ञानरूपम्. **आर्तिहन्निति** सम्बोधनात् **ते चरणपङ्कजमिति** सम्बन्धनिरूपणाद् वैराग्ययुक्तं च.

प्रकाशः

[आभासे **पूर्वमिति**, "फणिफणार्पितमि"त्यादि. व्याख्याने **दृष्टोपकारेणै-वेति**, दर्शनेनैव तापनाशः. **हृदये स्थापितमिति** पदमिति शेषः. **षड्गुणानाहेति** ऐश्वर्यादि. **स्तब्धैरिति** अनम्रैः. **धर्मरूपता** इति, वीर्यरूपम्. **श्रीरूपं वेति**, कीर्तिः श्रीरूपा वा. **आपदीति**, आपदि ध्येयेऽपि द्विरूपता– श्रीरूपता

लेखः

भोगातिरिक्तेनाश्वासनादिप्रकारेणेत्यर्थः ॥१२॥

प्रणतेत्यत्र, अतएवेति, "प्रणतदेहिनामि"त्यत्रानन्यपूर्वा वक्त्र्यः अत्र सपूर्वा इति वक्त्रीणां भेदादित्यर्थः. **गुणाधायकमेतदिति, एतद्** वर्ण्यमानं चरणपङ्कजं भक्तेषु कामादिदायकमित्यर्थः. पाठद्वयेऽप्यर्थमाहुः **हृदयेति चिन्तेति. पङ्कजपदतात्पर्यमाहुः दृष्टोपकारेणैवेति. तत्रत्य** इति, ईश्वरमनसि दातव्यत्वेनोपस्थित इत्यर्थः. **धर्मरूपतेति**, ब्रह्मा धर्मबुद्ध्यैव पूजयति न तु एता इव स्नेहेनेति भावः. पूजायां हेतुमाहुः **ब्रह्मेति. अथवेति** पक्षे अस्मिन्

रमणेति, इष्टप्रापकः. **आर्तिहन्निति**, अनिष्टनिवारकः. अथवा. यल्लोके पञ्चविधमुपकारं करोति तदस्मास्वेकमेव करोत्विति प्रार्थ्यते. **प्रणतासु कामं** ददाति, तत्पूर्वमुक्तं "मनसि नः स्मरं वीर यच्छसी"ति. **प्रकर्षेण नम्रेषु** वा **कामं द्यति** खण्डयति. **पद्मजेन पद्मजया** वा **अर्चितम्** ऐश्वर्यार्थं कामार्थं

टिप्पणी

प्रणतकामदमित्यत्र, अथवा यल्लोक इत्यादि. लौकिककामखण्ड-नैश्वर्यस्वकामदानालंकरणापद्दूरीकरणात्मकं पञ्चविधमुपकारं करोति तच्चरणपङ्कजं तापनिवारणात्मकमेकमेवोपकारमस्मासु करोत्वित्यर्थः. **पद्मजैरर्चितमिति**, चरणपद्मजैर्नखैस्तथेत्यर्थः. लोके तेषां संयोगिद्रव्यत्वेऽपि भगवन्नखानां सच्चिदानन्दरूपत्वेन स्वरूपात्मकत्वेन तथा वक्तुमशक्यं यद्यपि तथापि स्वस्याधुना चरणसम्बन्धेऽत्यार्त्या यदेव तत्सम्बन्धि तदेव

प्रकाशः

कीर्तिरूपता च. **पद्मजया** इति लक्ष्म्या. **पद्मजैरिति** नखैः. टिप्पण्यां **तेषामिति** नखानाम्. **संयोगिद्रव्यत्वेऽपीति**, लौकिकनखकेशादीनां संयोगिद्रव्यत्वं प्रसिद्धं

लेखः

श्लोके तापनिवारणस्यैव प्रार्थनं न त्वभिलषितार्थदानस्य, तत्र हेतुमाहुः **प्रणतास्विति**. स्मरदानं स्वासु पूर्वमुक्तम्, तथा च तेनैव भोगप्रार्थना सिद्धैवेति भावः. इदं च तत्रैव श्लोके व्युत्पादितमन्ते. **नम्रेषु वेति**, प्रथमपक्षोक्तात् कामदानादयं विकल्पः. तथा **चाथवेत्यस्यैव** विवरणं वाशब्देनेति ज्ञेयम्. अस्मिन् पक्षे पूर्वार्धोक्त-विशेषणचतुष्टयोक्त-

योजना

प्रणतकामदमित्यस्य विवृतौ **कीर्तिरूपतामाह धरणिमण्डनमिति धरण्या मण्डनमलंकरणरूपं श्रीरूपं** वेति, **धरणिमण्डनमिति** विशेषणेन यशो ग्राह्यं श्रीर्वेत्युक्तम्. **आपदि ध्येयं श्रीरूपं कीर्तिरूपं** वेति, **ध्येयमापदीति**विशेषणेन श्रीर्यशो वा ग्राह्यम्. तथा च यदि **धरणिमण्डनमित्यनेन** श्रीर्गृह्यते तदा **ध्येयमापदीत्यनेन** कीर्तिर्ग्राह्या, यदा तु पूर्वेण कीर्तिर्गृह्यते तदा **ध्येयमापदीत्यनेन** श्रीर्ग्राह्या– एवं विशेषणद्वयेन धर्मद्वयं ग्राह्यम्. **शंतम-मितिविशेषणेन** ज्ञानरूपतोक्ता. **आर्तिहन्नित्यनेन** वैराग्यमुक्तम्. **चरणप-ङ्कजमितिविशेष्यनिर्देशे** पङ्कजत्वोक्त्या स्वरूपस्य धर्मिणि उत्कर्ष उक्तः ॥१३॥

वा **पद्मजैः अर्चितम्** तत्तुल्यं वा. अन्यथा तानि चरणपङ्कजजन्म कथं प्राप्नुयुः? **धरण्यपि** स्त्री अनलङ्कृता न भुज्यत इति तस्यां पदस्थापनम्. भगवदपेक्षयापि चरणो महान्, **आपदि** ध्यानमात्रेणैवापदं दूरीकरोतीति. यथैतेषां सर्वोपकारकर्तृ तथास्माकमपि करोत्विति प्रार्थना. अनेन सर्वएव सुरतबन्धा आक्षिप्ताः ॥१३॥

तदनन्तरं तत उत्तमाः प्रार्थयन्ते **सुरते**ति.

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥

अधरामृतं वितरेति, अत्राप्यधरामृतं गुणाधायकम्. एतस्य चतुर्गुणत्वमेव विवक्षितं, ज्ञानवैराग्ययोरत्रानुपयोगात्. तस्यैश्वर्यमाह **सुरतवर्धनमि**ति, गोपिकासु परिच्छिन्नः कामः अपरिच्छिन्नेन सह संयोगे क्लिष्टो भवति. यथा रसाः क्षुदुद्बोधका[१] भवन्ति तथायं रसः कामोद्बोधकः. किञ्च न केवलमयं काममेव पोषयति किन्तु सर्वानिवान्तःकरणदोषान्निवारयति. अतः शोकनाशकत्वं

टिप्पणी

पूर्णसाधनमित्याशयेन तथोक्तम्. अस्मिन्पक्ष उपपत्तिमाहु**रन्यथे**ति. उक्तारुच्यैव पक्षान्तरमाहु**स्तत्तुल्यं वे**ति, **तैर**तिशोभा अतस्तैश्चरणपद्मं पूजितमिव भवतीत्यर्थः. ध्वजादिचिह्नानि चोक्तरूपाणि ज्ञेयानि ॥१३॥

प्रकाशः

तथा भगवति न, सच्चिदानन्दत्वात्, तथापीत्यर्थः. सुबोधिन्यां **तानि** इति नखानि. **धरण्यपी**ति, धरणिः भगवता(तः!) स्त्री वाराहलीलायाम् अनुगृहीता ॥१३॥]

[**अत्रापी**ति, तत्र अनन्यपूर्वाविषये दोषनिवर्तक इति प्रकरणभेदेन न पौनरुक्तिः. **चतुर्गुणत्वमि**ति, ऐश्वर्ये चतुर्गुणं वा षड्गुणम्(?). **परिच्छिन्न** इति स्वल्पः. **अपरिच्छिन्नेन** इति, भगवत्कामः. **भवन्ती**ति, ऐश्वर्यद्योतित–.

लेखः

पञ्चविधोपकारकर्तृ-**चरणपङ्कजं नः स्तनेषु शन्तममर्पय** शन्तमत्वेन तापनिवारकत्वेनार्पयेत्यर्थः. **करोत्वितीति**, तापनिवारणात्मकमुपकारमिति शेषः. **सर्वएवे**ति बाह्या विपरीततिर्यक्समा आन्तरं चैकमित्यर्थः ॥१३॥

१. भवन्ति कामोद्बोधका इति ब. पाठे अधिकः.

ज्ञानवैराग्यरूपता च निरूपिता, ऐश्वर्यधर्मरूपता च. यशोरूपतामाह **स्वरितो** नादयुक्तो यो **वेणुः** तेन **सुष्ठु चुम्बितमि**ति, यशो हि नादज्ञैः कीर्त्यते; वेणुश्च परमभक्त इति तेनापि चुम्बितमेव न तु पीतम्. **इतररागविस्मारणमि**ति श्रियो रूपं, सा हि सर्वं विस्मारयतीति. स्वतःपुरुषार्थत्वेन प्रमेयबलमुक्तं पूर्वेण प्रमाणबलं **शोकनाशनमि**ति फलबलं **सुरतवर्धनमि**ति साधनबलम्— एवं चतुर्विधपुरुषार्थप्रदं स्वतःपुरुषार्थरूपम्. **नृणाम**स्माकमधिकारिणां[१] दुर्लभपुरुषार्थानां वा. यद्यपीदं देयं न भवति तथापि वितरणगुणेन दातुं शक्यत इति **वितरे**त्युक्तम्. **वीरे**ति सम्बोधनात् शौर्यं नान्यथा संभवतीति निरूपितम् ॥१४॥

एवं त्रिविधा निरूप्य पुनस्तामस्यः त्रिविधा निरूप्यन्ते— देवनिन्दिकाः[२] सात्त्विकतामस्यः भगवन्निन्दिकाः तामसतामस्यः स्वनिन्दिका राजसतामस्य इति.

प्रकाशः

निवारयतीति, दोषनिवारकत्वेन वीर्यरूपता. **पूर्वेणेति** **स्वरित-वेणुनेति** ॥१४॥]

॥ इत्यष्टाविंशाध्यायसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ॥

योजना

सुरतवर्धनमित्यस्य विवरणे **पूर्वेण प्रमाणबलमिति, इतररागविस्मारणमि**त्यस्मात्पूर्वेण **स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितमि**त्यनेन प्रमाणबलमुक्तम्, वेणुनादस्य वेदात्मकत्वात्. न च वेणोर्वेदात्मकत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यं, "वंशस्तु भगवान् रुद्र" इति कृष्णोपनिषत्सु वेणोः शिवत्वकथनात् "वेदः शिवः शिवो वेद" इति श्रुत्या शिवस्य वेदरूपतया वेणोरपि वेदत्वात्. **नृणामस्माकमनधिकारिणामिति**, **नृ**शब्देन साधारणवाचिना अनधिकारित्वं सूचितम् अतो निःसाधनानां परमपुरुषार्थप्रदत्वादधिक उत्कर्ष उक्तः. **दुर्लभपुरुषार्थानां वेति. नृ**शब्देन पुंजीवाः उक्ताः अतोऽन्यैर्दुर्लभपुरुषार्थो येषां तेषां दुर्लभपुरुषार्थानामित्यर्थो भवति. यदिदमधरामृतमस्माकं **नृ**शब्दवाच्याप्राप्यं तदस्मदितरैर्न प्राप्यत इति भावः ॥१४॥

१. अनधिकारिणामिति पाठः. २. निन्दका इति ब. पाठे सर्वत्र.

अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटि युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥१५॥

अटतीति, **भवान् अह्नि काननं यदटति** तत्र दिवसे त्रुटिः **युगायते.** तत्र निमित्तं **त्वामपश्यतामि**ति. यदा पुनः पश्यामः तदा **कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं ते उदीक्षतां** नोऽस्माकं यः **पक्ष्मकृद्** ब्रह्मा स जडः. यथा देवानां पक्ष्म न करोति अलौकिकद्रष्टृत्वात्, तदपेक्षयाप्यत्यलौकिकद्रष्टृत्वादस्माकमपि पक्ष्मकरणमनुचितम्, अतोऽनुचितकरणाद् जडः. देवा हि बहुकालं जीवन्ति, तथा वयमपि, **त्रुटि युगायत** इति. **त्रुटिश**ब्दो (ऽ!)स्त्रियाम्. यदि सार्थकं गमनं भवेत् तथापि न [१]काचिच्चिन्ता पर**मह्नि काननमेवाटति,** न तु कानने कश्चन पुरुषार्थः. अस्माकं च न बहिर्गमनं संभवति. एवं देवत्वं भगवता संपादितम्. मूर्खो ब्रह्मा तादृशीनां पक्ष्मकृत् ॥१५॥

तदपेक्षया हीना आहुः **पतीति.**

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

हे **अच्युत** स्वतः कामनिवृत्तिभयरहित, **पतिः सुताः अन्वयो** वंशः **भ्रातरः बान्धवाः** संबन्धिनः– एते सर्वथा अविलङ्घ्याः तान**प्यतिविलङ्घ्य ते अन्ति समागताः.** त्वं सर्वेषां गतिं जानासीति **गतिवित्,** सर्वैर्यावती गतिः संपाद्यते तां भवानेव दास्यतीति. वयं वा **गतिविदः** तेषां भजने भगवद्भजने च तारतम्यविदः. किञ्च **तव उद्गीतेन** च **मोहिताः.** अतो मोहयित्वा समानीय उभयभ्रंशार्थम् अरण्ये **निशि योषितः कस्त्यजेत्?** सर्वदैव स्त्रियो न त्याज्याः, सुतरामरण्ये, सुतरां निशि. यदर्थं वा समाहूताः

लेखः

अटतीत्यत्र, त्रुटिशब्दोस्त्रियामित्यनतिप्रयोजनमपि शब्दस्वरूपकथनार्थमुक्तम्. **न तु कानने** इति, द्वितीयया काननस्यैवेप्सिततमत्वेनोद्देश्यत्वकथनात् तत्रत्यः **पुरुषार्थः** पुरुषसम्बन्धिप्रयोजनमुद्देश्यं **नेत्य**र्थः ॥१५॥

पतीत्यत्र, स्वत इति, परस्य कामनिवृत्तौ स्वयं तल्लीलातो निवर्तते न तु स्वत इत्यर्थः. **किञ्चेति**, गतिज्ञानात्तेऽन्त्यागताः मोहाच्चागता इति समुच्चयः. **अरण्ये** इति, **कितवेति** सम्बोधनस्याभिप्रायोऽयं; कितवो ह्यरण्ये

१. कापि चिन्ता इति ब. पाठः.

तदप्यदत्वेत्यभिप्रायेण सम्बोधनम्[१]. कितवानां (वा!)[२] वयं संबन्धिन्यः अतोऽस्माकं तेषु न प्रवेशः ॥१६॥

तत उत्तमाः आत्मानमेव निन्दन्ति **रहसीति**.

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।

बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहं मुह्यते मनः ॥१७॥

नो **मनः अतिस्पृहं** सत् **मुह्यत** इति. तत्र कारणत्रयं गुणत्रयसहितं—

वाक्यं हास्यमुरश्चैव कामानन्दाधिकारिणः ॥

टिप्पणी

रहसि संविदमित्यत्र, गुणत्रयसहितमिति, मधुरत्व-वल्गुवाक्यत्व-बुधमनोज्ञत्व-लक्षणं गुणत्रयं ज्ञेयम्. **रहसि संविदो** ज्ञानानि येन वाक्येन तत्तथा. वाक्यनिरूपणे सति यादृशं तदस्ति तादृशमेव प्राप्यत इति **गुणत्रय-सहितमित्युक्तम्**. अथवा. कारणत्रयस्यैव विशेषणमिदं, कारणोद्देशो **वाक्यमित्यादिना** कृतः. **कामेत्यादिना**, गुणानां बन्धादिबोधकत्वेन **वाक्यं कामोद्बोधकं, हास्यमानन्दस्य**. श्रीधामत्वेन **रसाधिकारिणो** बोध्यन्ते ॥१७॥

लेखः

वञ्चयित्वा त्यजतीति भावः. सम्बोधनस्याभिप्रायान्तरमाहुः **यदर्थं वेति** ॥१६॥

योजना

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानित्यस्य विवरणे **कितवानां वा वयं सम्बन्धिन्य** इति, अस्मिन्पक्षे **कितवयोषित** इति समस्तमेकं पदम्. **सम्बन्धिन्य** इति कितवानां सम्बधिन्यो न तु नार्यः, भगवदेकभोग्यत्वाद्; गोपानां तु भर्तृत्वाभिमानमात्रं, "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि"तिवाक्याद्. राससमये यथा योगमायामोहितैर्गोपैः स्वस्वस्त्रियो भगवन्निकटे स्थिता अपि स्वनिकटे ज्ञाताः, एवं सर्वदैवाभिमानमात्रं नतु तत्कर्तृको भोगो, योगमायामोहितत्वात्. पुत्राद्युत्पत्तिस्त्वलौकिकप्रकारेण भगवतः सकाशादेव. इदं सप्तदशाध्यायटिप्पण्यां स्फुटम्. गोपानां पतित्वाभावेऽपि पतित्वेनांगीकारो रसपोषार्थः, "रसस्तु परकीयायामेवे"ति वात्स्यायनराद्धान्तात्. अतो वस्तुतो भगवदेकभोग्या इति निष्कर्षः. अतएवाग्रे आहुः **अतोऽस्माकं तेषु न प्रवेश** इति ॥१६॥

१. **कितवेति** इति ब. पाठे अधिकम्. २. **वा** इति ब. पाठे योजनानुसारेण च अधिकः.

रहसि एकान्ते या **संविद्** ज्ञानं वा. पूर्ववत् **हृच्छयस्य** कामस्य **उदयो** येन तादृशम्. **प्रहमितयुक्तमाननं** प्रेमपूर्वकं **वीक्षणं** च यस्मिन्. **श्रियो धाम बृहदुरः**. भगवद्रूपस्य वा षड्गुणत्वमुच्यते– **रहसि संविदो** यस्मादिति एतादृशं त्वां, **हृच्छयस्य उदयो** यस्मात्, **प्रहसितमाननं** यस्य, **प्रेमपूर्वकं**

लेखः

रहसीत्यत्र, **या संविदि**ति सा **येने**त्यग्रिमेणान्वयः, टिप्पण्यां तथा व्याख्यानात्. आद्येन वाक्यमुक्तं द्वितीयेन तस्य कामबोधकत्वमुक्तं तृतीयेन हास्यमुक्तं चतुर्थेन तस्यानन्दबोधकत्वमुक्तं पञ्चमेन उर उक्तं षष्ठेन तस्याधिकारिबोधकत्वमुक्तमिति विभागः. **ज्ञानं वे**ति, अस्मिन् पक्षे वाक्यं हास्यमिति प्रकारो नेति ज्ञेयम्. वाक्यस्थाने एव वा ज्ञानं गणनीयम्. **वीक्षणं चे**ति, **यस्मिन्** आनने इत्यर्थः. प्रहसितधर्ममादाय चकारः, तेन स्वस्वाग्रिम-विशेषणयुक्तमिदं त्रयं वीक्ष्येत्यन्वयः. वाक्यपक्षे **वीक्ष्य** ज्ञात्वा श्रुत्वेति यावत्. **षड्गुणत्वमि**ति, प्रमाणादिचतुष्टयबलं यशः श्रीश्चेति षड्गुणा यस्य तत्त्व-मित्यर्थः. अस्मिन् पक्षे **ते** इत्यस्य **बृहदुरः श्रियो धामे**त्यत्रैवान्वयः. **श्रीधाम**

योजना

रहसि संविदमित्यस्य विवृतौ **तत्र कारणत्रयं गुणत्रयसहितमि**ति. भगवद्वचनं हास्यसहिताननं भगवदुरश्चेतिकारणत्रयं, **हृच्छयोदयं प्रेमवीक्षणं श्रियो धामे**ति प्रत्येकं गुणत्रयं ज्ञेयम्. कारणत्रयं विवृण्वन्ति **वाक्यं हास्यमुरश्चैवे**त्यादिना. **भगवद्रूपस्य वा षड्गुणत्वमुच्यत** इति, **रहसि संविदमि**त्यादिषड्गुणा भगवतएवोच्यन्ते. अस्मिन् पक्षे **रहसि संविदमि**त्यादिषु चतुर्षु बहुव्रीहिसमासो ज्ञेय इत्याहुः **रहसि संविदो यस्मादिति एतादृशं त्वामि**त्यादिना. तथा च **रहसि संविदं त्वां, हृच्छयोदयं त्वां, प्रहसिताननं त्वां, प्रेमवीक्षणं त्वां, वीक्ष्य ते बृहदुरः श्रियो धाम** च **वीक्ष्ये**त्यन्वयो ज्ञातव्यः.

कारिकार्थः

"रहसि संविदम्" इत्यत्र **वाक्यमि**त्यादि. संविद् **वाक्यं**, तत् **कामोद्**बोधकम्. **हास्यम्** आनन्दबोधकम्. **श्रीधामे**तिविशेषणेन उरसा लीलाऽ**धिकारिण** उच्यन्ते. अत्र **कामपदमानन्द**पदं च तत्तदुद्बोधकपरं ज्ञेयम् (१३ $\frac{१}{२}$).

वीक्षणं यस्य, **बृहदुरः श्रीधाम** च **वीक्ष्य.** प्रमाणादिबलरूपता भगवद्रूपे निरूपिता. वक्षसि च स्वस्थित्यर्थं यशः श्रीश्च निरूपिता. मुखदर्शनेनैव प्रहसितयुक्तत्वात् पूर्वस्थित्यभावः, ततः कामः, प्रेमवीक्षणेन च तस्य स्थिरीकरणं, ततः स्वयोग्यता, ततो भोगचातुर्यं प्रथमविशेषणेन– एवं सर्वं भविष्यतीति **अतिस्पृहायुक्तं मनः मुह्यते** केवलं मोहं प्राप्नोति, पदार्थालाभात् **मुहुर्मूर्च्छा**[1] समायातीति जीवनमरणान्यतराभावाद् धिग्जीवनमित्यर्थः ॥१७॥

लेखः

चेति ते इति शेषः. **प्रमाणादी**ति, एतेषां **बलं रूपे** यस्य तत्तेत्यर्थः. **यश** इति, उरसो बृहत्त्वेन यश उक्तं, सामुद्रे तथोक्तेः. **पूर्वे**ति, हासस्य मायात्वात् तेन पूर्वस्थितिर्नश्यतीत्यर्थः. **ततः स्वयोग्यते**ति उरसः श्रीधामत्वकथनेनेति शेषः. उपक्रान्तामात्मनिन्दामुपसंहरन्ति **मुहुर्मूर्छे**ति ॥१७॥

योजना

प्रमाणादिबलरूपतेत्यादि. रहसि संविदमित्यनेन वाक्यमुक्तं, भगवद्वाक्यस्य च प्रमाणरूपता स्पष्टा. **हृच्छयोदयमि**त्यनेन प्रमेयबलं, तादृशवाक्यैः शृङ्गाररससम्बन्धिभिः प्रमाणैर्हृच्छयोदयस्यैव प्रमेयत्वात्. **प्रहसिताननमि**त्यनेन साधनं, तादृशहाससहितश्रीमुखस्य सर्वफलसाधकत्वात्. **प्रेमवीक्षणमि**त्यनेन फलं, प्रेमपूर्वकावलोकनस्य साध्यत्वात्. **वक्षसि च स्वस्थित्यर्थं यश** इति. **स्व**शब्देन वक्त्र्यो ग्राह्याः, समयविशेषे वक्षसि स्वस्थित्यर्थं बृहत्त्वेन उरसः यशो निरूपितमित्यर्थः. **पूर्वस्थित्यभाव** इति, प्रहसिताननदर्शनात्पूर्वं या मानादिना स्थितिस्तस्या अभावः प्रहसिताननदर्शनाद्भवतीत्यर्थः. प्रहसितयुत-श्रीमुखसुषमावलोकनजन्य-परमोत्कण्ठा-प्रादुर्भावान्मानः स्थापयितुं न शक्यत इति भावः. **ततः काम** इत्यारभ्य **स्वयोग्यतेत्य**न्तम्. **हृच्छयोदयमि**त्यनेन कामः. अस्मिन्पक्षे **प्रहसिताननमि**त्यस्य **हृच्छयोदयमि**ति विशेषणम्, अत एव **ततः काम** इत्युक्तम्. **ततः** प्रहसिताननरूपविशेष्यदर्शनानन्तरं **कामो** भवति, प्रहसिताननस्य हृच्छयोदयत्वात्. **प्रेमवीक्षणेन च तस्य स्थिरीकरणमि**ति स्पष्टम्. **ततः स्वयोग्यते**ति, **बृहदुरः श्रियो धामे**त्यनेन तत्र बृहदुरसि स्वस्थितियोग्यता निरूपितेत्यर्थः. **ततो भोगचातुर्यं प्रथमविशेषणेने**ति, **रहसि संविदमि**ति विशेषणेन एकान्ते याः रससम्बन्धिसंविदस्ताभिर्भोगचातुर्यं

१. मूर्छामिति पाठः.

पुनरनन्यपूर्वा एतावत्कालं मनोरथाभिनिविष्टा किञ्चित्प्रार्थयते **व्रजवनौकसामिति.**

व्रजवनौकसां व्यक्तिरंग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥१८॥

इयं **ते व्यक्तिः व्रजवनौकसां वृजिनहन्त्री** पापनाशिका. **विश्वस्याप्यत्यर्थं मङ्गलरूपम्.** दोषनिवर्तकं विशेषाकारेणास्माकमेव, गुणाधायकं सर्वेषाम्. अत एतादृशं[१] **मनाक् त्यज.** त्यागावश्यकत्वे हेतुः **त्वत्स्पृहात्मनामिति, त्वय्येव स्पृहायुक्त आत्मा** अन्तःकरणं यासाम्. किं त्यक्तव्यमित्याशङ्कायामाह **स्वजनेति, स्वजनानां** गोपिकानां **हृद्रुजां** हृदयरोगाणां कामरूपाणां **यदेव निषूदनं** भवति, **नितरां सूदनं** नाशनं यस्मात्, केषाञ्चित्पापनाशकः केषाञ्चित्फलदाता, तादृशोऽस्माकं रोगनिवर्तको भवत्विति ॥१८॥

काचिद्राजसतामसी सखेदमाह **यत्त** इति.

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥१९॥

॥ इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कन्धे अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥

सुजातं यच्चरणाम्बुरुहं चरणकमलं **भीताः** सत्यः **स्तनेषु शनैर्दधीमहि.** शनैर्धारणे हेतुः **कर्कशेष्विति. प्रियेति** सम्बोधनात् स्नेहाद्धारणम्. **सुजातमिति,** [२]तथा महत् सम्यक्प्रकारोत्पन्नं शीतलं सुगन्धि तापनाशकं भवति अतः

लेखः

व्रजेत्यत्र विश्वमङ्गलमिति, निषूदनमित्यस्य विशेषणम्. हृद्रोगाणां सूदनं यस्मात्तादृशं वस्तु त्यज अस्मास्विति शेषः, अस्मासु त्यज स्थापयेत्यर्थः. एतादृशं (वस्तु) वस्तुस्वरूपमेव. गोपनीयत्वादेवमुक्तम् ॥१८॥

योजना

भवतीति भावः ॥१७॥

व्रजवनौकसां व्यक्तिरित्यस्य विवरणे **एतादृशीं मनाक् त्यजेति, त्यज** स्थापयेत्यर्थः, इह स्थापनस्य त्यागपदार्थत्वात्. तथा चैतादृशीमानन्दमयीं भवद्व्यक्तिम् अस्मासु स्थापयेत्यर्थो भवति ॥१८॥

---

१. एतादृशीमिति पाठः. २. यथेति पाठः.

स्तनेषु स्थापनम्. **प्रियत्वाद्** धार्ष्ट्येन स्थापनम्. **तेनैवातिकोमलेन** अस्मान् त्यक्त्वा अस्मद्दोषेण इदानी**मटवीमटसि!** स्वयमदुःखेन स्थित्वा यद्यन्यस्मै दुःखं दातुं शक्नुयात् तर्हि प्रयच्छेत्, न तु स्वयमपि दुःखं प्राप्य. तत्रास्माकं संदेहः **किं व्यथते न** वेति. **स्विदित्युत्प्रेक्षायां– किं न व्यथते** अपि तु व्यथत एव. **कूर्पादिभिः** शर्करादिभिः, **कूर्प**शब्देन विषमाः शर्करा उच्यन्ते. तर्हि व्यथत एव, कथमुत्प्रेक्ष्यते, तत्राह **भ्रमति धीरि**ति, बुद्धिः केवलं परिभ्रमति. यदि व्यथत इति निश्चयः स्यात् तदा बुद्धिः शान्तैव भवेत्, पुनर्यदायाति तेन संदेहः. तत्र हेतुः **भवदायुषामि**ति, भवल्लीलार्थमेवायुर्येषाम्. पूर्वं तु खेदेन मनःपीडा निरूपिता, इदानीं तु मूर्च्छा निरूप्यत इत्यन्तस्थितिः. एवं सर्वासां मूर्च्छापर्यन्तं स्थितिर्ज्ञातव्या– पुनर्लीलाप्रवेशे प्रलापः, पुनः

लेखः

अध्यायान्ते **बुद्धि शान्तैवे**ति, मूर्च्छैव स्यादित्यर्थः. **पूर्वं त्वि**ति पूर्वाध्यायान्ते इत्यर्थः. **पुनर्लीले**ति, लीलासहितो भगवानन्तःप्रविष्ट इत्युक्तं, तत्र लीलास्थितौ **प्रलापः** प्रश्न इत्यर्थः. "प्रश्नोऽन्तरङ्ग"[१] इत्युक्तत्वादेतत्कथनेन तदध्यायोक्तं त्रयमप्युक्तं ज्ञेयम्. **स्वरूपस्थितौ गानमे**तदध्यायोक्तमित्यर्थः.

योजना

यत्ते सुजातमित्यत्र **पुनर्यदायाति तेन सन्देह** इति. कूर्पादिभिर्व्यथायाः प्रसिद्धत्वाद्व्यथत इति ज्ञानं, पुनर्वने यद् आयाति तेन न व्यथत इति ज्ञानम्. अन्यथा यदि व्यथा स्यात् तर्हि वनागमनं न स्यात्. एवमुभयकोट्यवगाहि ज्ञानं संशय उत्पद्यत इत्यर्थः. **पूर्वं तु खेदेने**त्यादि, "शिलतृणाङ्कुरैः सीदती"त्यनेन **पूर्वं** भगवच्चरणारविन्दविषयक**खेद**ज्ञानेन स्व**मनःपीडा निरूपिता,** "कलिलतां मनः कान्त गच्छती"ति वाक्यादित्यर्थः. **इदानीं तु मूर्च्छे**ति, **यत्ते सुजाते**त्यनेन तु मूर्च्छा निरूपिता, **भ्रमति धीरि**ति वाक्यात्. उभयत्र चरणखेदस्य स्वतज्जन्यस्वदुःखतौल्येऽप्येतावान् विशेषः– तत्र पीडोक्ता अत्र मूर्च्छेति. **अन्तःस्थितिरि**ति, मूर्च्छाया नवमावस्थात्वात्तदग्रिमावस्थाया अभावान्मूर्च्छैव **अन्तःस्थितिः** पर्यवसानमित्यर्थः ॥१९॥

॥ इति श्रीदशमस्कन्धाष्टाविंशाध्यायसुबोधिनीयोजना सम्पूर्णा ॥

---

१. सुबो. १०।२७।२४ (सम्पा.).

स्वरूपस्थितौ गानमिति. एवं साधनपरीक्षयोर्यावत् तावत्तासां तापो निरूपितः ॥१९॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां
श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणेऽष्टाविंशाध्यायविवरणम् ॥

टिप्पणी

एतावन्निरूपणेन भगवत्प्राप्तौ भक्तकृतसाधनस्य यावती पराकाष्ठास्ति तावत्युक्ता जाता; भगवता च भक्तानां स्नेहपरीक्षायां क्रियमाणायां यावती तस्याः पराकाष्ठा साप्युक्ता जातेत्युपसंहरन्ति **एवं साधने**ति. अत्र **यावत्तावदि**त्यव्ययपदे, तथा चोक्तरीत्या साधनपरीक्षयोर्यावत्स्वरूपं तावद्रूपस्तापो निरूपित इत्यर्थः. ॥ इत्यष्टाविंशोध्यायः ॥

लेखः

तथा चैतदध्यायोक्तं चतुर्थमर्थमादाय "चत्वारोऽत्रे"ति कारिकोक्तानां चतुर्णां पर्यावृत्तिरिति भावः ॥१९॥ अष्टाविंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

॥ इति अष्टाविंशोध्यायः ॥

॥ चतुर्थः स्कन्धादितः एकोनत्रिंशोध्यायः ॥

एकोनत्रिंशकेऽध्याये प्रसादं भगवत्कृतम् ।
रोदनात् प्राप्य तुष्टास्ता निर्णयज्ञा इतीर्यते ॥(१)॥
नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित् ।

प्रकाशः

अथैकोनत्रिंशाध्यायं विवरिषवः कार्यत्वमत्र कथासङ्गतिरिति बोधयन्तोऽध्यायार्थमाहुः **एकोनत्रिंशक** इत्यादि. निर्णयज्ञानस्यापि प्रसादकार्यतया परंपरया तत्कार्यत्वान्न तद्धानिः (१).

लेखः

एकोनत्रिंशाध्याये **प्रसादं भगवत्कृतमि**ति, भगवता सम्पादितं **प्रसादं** मानापनोदं **प्राप्ये**त्यर्थः. मानिन्य एता अन्तःप्रविश्य रोदनरूपेणालौकिकप्रकारेण प्रसादिताः, मानं च वीक्ष्य तासां प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयतेति पूर्वमुक्तमन्तर्धानप्रयोजनं सम्पन्नमिति भावः (१).

प्रकारान्तरेणापि मानापनोदनं कर्तुं समर्थस्य रोदनप्रकारसिद्धिपर्यन्तं प्रतीक्षा अयुक्ता इत्याशङ्क्य, यथान्तर्धाने "आत्मा यावत् प्रपन्नोभूदि"त्यनेन शास्त्रमर्यादोक्ता तथाविर्भावेपीत्याशयेनाहुः **नहीति**. **साधनसम्पत्त्ये**ति, "अनेन साधनेन भगवन्तं प्राप्स्याम" इति ज्ञात्वा कृतेन प्रलापरूपप्रश्नेन गानेन चेत्यर्थः, **प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्य**स्तयोरसाधनतायां **रुरुदुरि**त्यर्थस्य वक्ष्यमाणत्वात्. साधनत्वं ज्ञात्वा कृतानि साधनानि **साधनसम्पत्तिः**, रोदनं तु पूर्वयोरसाधनतायां जातायां **दैन्याज्जातं** सत् स्वतएव **साधन**त्वेन पर्यवसन्नम्, न'त्विदं साधनमि'ति ज्ञात्वा कृतमिति भावः (२).

योजना

एकोनत्रिंशाध्यायार्थोक्तौ **प्रसादं भगवत्कृतमि**ति, आविर्भूय करस्पर्शदानादिरूपं प्रसादमित्यर्थः. **रोदनात्प्राप्ये**ति रोदनं कृत्वा प्राप्येति ल्यब्लोपे पञ्चमी. रोदनं निःसाधनत्वे भवतीति निःसाधनत्वेन केवलदैन्याविर्भावे भगवान् प्रसादं कृतवानिति ज्ञेयम्. **निर्णयज्ञा** इति जाता इति शेषः. "भजतोऽनुभजन्त्येक" इति पृष्ट्वा "मिथो भजन्ति ये सख्य" इत्याद्युत्तरवाक्यश्रवणे निर्णयज्ञा जाता इति हार्दम् (१).

भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम् ॥(२)॥
सन्तुष्टः सर्वदुःखानि नाशयत्येव सर्वतः ।
अतो निर्णयवाक्यानि भजनार्थं न्यरूपयत् ॥(३)॥

एवं पूर्वाध्यायान्ते तासां स्तुतिमुक्त्वा, ततः पूर्वाध्याये तासां प्रलापमुक्त्वा, उभयमप्युपसंहरन् तयोरसाधनतायां जातायां रोदनं कृतवत्य इत्याह **इतीति.**

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥१॥

पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वाएव **गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च** जाताः. अस्माभिरेकः प्रकार उक्तः, तास्तु **चित्रधा** विलापयुक्ता जाताः. यदा तयोरसाधनत्वं जातं तदा सर्वाः सम्भूय महद्रोदनं कृतवत्यः. रोदने निमित्तमाह **कृष्णदर्शनलालसा** इति, न तु स्वदेहरक्षार्थम् ॥१॥

ततो भगवान् ब्रह्मा विष्णू रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्णएव जात[1] इत्याह **तासामाविरभूदिति.**

लेखः

"मिथो भजन्ती"त्यादिना निर्णयकथने हेतुमाहुः **सन्तुष्ट** इति. **नाशयत्येवेति,** स्वमते दुःखस्यानन्दाभावरूपत्वात् प्रतियोगिनाऽभावनाशो भवत्येवेति निश्चयादेवकारः. **अत** इति, यतो दुःखनाशननियमोऽ**तः** सर्वांशेन दुःखाभावाय परोक्ष**भजन**प्रतिपादनार्थं **वाक्यानि न्यरूपयदि**त्यर्थः (३).

योजना

अतो निर्णयवाक्यानीत्यादि, यतः **सन्तुष्टः सर्वदुःखानि नाशयत्यतो** "मिथो भजन्ती"त्यारभ्य "तद्वः प्रतियातु साधुने"त्यन्तानि **वाक्यान्यु**क्तवान्. अन्यथा अस्मानेतावत्पर्यन्तं विहाय दुःखिताः कृत्वा भगवान् गत इति दुःखं व्रजवरवधूहृदयसरसीरुहान्न गच्छेदित्यर्थः (३).

तासामाविरभूदित्यस्याभासे **ततो भगवान् ब्रह्मा विष्णू रुद्रश्च भूत्वे**त्यादि– एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **स्मयमानमुखाम्बुज** इत्यस्य विवरणे

कारिकार्थः

एकोनत्रिंशाध्याये **एकोनत्रिंशक** इति. "मिथो भजन्ती"त्यादिना निर्णयकथने हेतुमाहुः **सन्तुष्ट** इति (३).

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्.

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥२॥

तासां मध्यएव भगवा**नाविर्भूतः** मायाजवनिकां दूरीकृत्य भगवान् प्रकटो जातः यतः **शौरिः** शूरस्य पौत्रः, शौर्यमत्र प्रकटनीयमिति, सर्वेषां

टिप्पणी

एकोनत्रिंशाध्याये **तासामाविरभूदि**त्यस्याभासे **ब्रह्मा विष्णुरि**त्यादि. अत्रेदमाकूतम्. आद्यब्रह्मकल्पे भगवानेव चतुर्मुखो ब्रह्माभूत्, तपश्च पूर्वं कृतवान्. स वाच्यवाचकतया "भगवान् ब्रह्मरूपधृक् नामरूपक्रिया धत्त" इति वाक्या"च्छब्दब्रह्मेति यं विदुरि"ति वाक्याच्छब्दसृष्टिमर्थसृष्टिं च कृत्वा तदेवानुप्रविश्य सर्वं कार्यं[1] कृतवान्, स्वयं रजोरूपश्च. प्रकृते च पूर्वं रजोरूपमानरूपेणाविर्भूतः, ततस्तापरूपेण, ततो विविधगानप्रलापरूपेण, ततो विविधलीलारूपेण. विष्णुश्च विक्षेपरहितः शुद्धसत्त्वात्मको, यथा यस्य पालनं भवति तथा पाति. प्रकृते च सखीवचनश्रवणानन्तरं स्वापराधहेतुकं गमनं प्रियस्य ज्ञात्वा चित्तविक्षेपं त्यक्त्वा पुनः स्वस्थानस्थिताः स्वजीवनार्थं स्वं स्वं भावं प्रकटीकृतवत्य इति तादृग्भावरूपेण प्रकटः. "यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमि"ति श्रुतेः स्पष्टं रुद्रत्वम्. देवाः स्वधनमग्नौ निधाय संग्रामाय यदा गताः, तदाग्निस्तद् गृहीत्वा पलायितः, तदा देवा बलात्स्वकीयं धनमगृह्णन्, स तदा दुःखेनारोदीद्– इति श्रुतावुपाख्यानम्. प्रकृते चादेयं रसं स्वं प्रभुः स्वामिनीभ्यो दत्तवान् स्वभोगार्थम्. स्वामिन्यस्तु मानेन स्वस्मिन्नेव तं रसं निरुद्धवत्यः, तदा मानेऽपहृतेऽतिदैन्यमाविष्कृतवत्य इति "रुरुदुरि"त्युच्यते. यथा स सर्वनिरासकस्तथायं भावोऽखिलशास्त्रोक्तसाधनबलनिरासकः, यतः साधनबलस्फूर्ताबितदनुदयो भगवदनाविर्भावश्च, एतदुदये तत्स्फूर्तिनाशः प्रभोराविर्भावश्च. "कृषिर्भूवाचक" इति वाक्यात् 'कृष्ण'शब्दवाच्यता यद्यपि सदैवास्ति तथाप्येतद्भावोदयाव्यवहितोत्तरक्षणे यदि नाविर्भूयाद्, भक्तानां तदा देहादिसत्त्वैव न स्यात्, दैन्येनैवात्युपमर्दकभावेन प्राचीनसत्त्वनाशात्. अतः स्वयमाविर्भूय स्वस्वरूपात्मकं सत्त्वमानन्दं च तत्र स्थापयतीत्याविर्भूतस्य कृष्णतेति. **स्मय-**

लेखः

तासामाविरभूदित्यत्र, **शौर्यमत्रे**ति पूर्वाध्यायोक्तं दानवीरत्वमित्यर्थः.

१. 'कार्यं' इति नास्ति मूलपाठे.

दुःखनिवारणार्थमेव यदुवंशेऽवतीर्ण इति. तदा तासां दोषनिवृत्त्यर्थं **स्मयमानं मुखाम्बुजं** यस्य, ईषद्धसन्मुखः तासां वैक्लव्येन सन्तुष्टः. स्मितयुक्तं **स्मयमानं, स्मयमानाभ्यां** वा सहितं, **मुखाम्बुजं** यस्य, भक्तानां दोषो भक्तेभ्यो निर्गतो भक्तौ समायातीति ज्ञापनार्थम्. तदानीन्तनं रूपं वर्णयति **पीताम्बरधर** इति, पीताम्बरं हास्यसङ्कोचार्थं हस्ते धृत्वा तिष्ठति. अथवा व्यापिवैकुण्ठरूपेण एतावत्कालं लक्ष्म्या सह रमणं कृत्वा तेनैव रूपेण

टिप्पणी

मानमुखाम्बुज इत्यत्र **स्मयमानाभ्यां** वेत्यादि. "न ह्येतादृशोऽन्योऽस्ति यस्य एतादृशा भक्ता" इति **स्मयः**. अतएव "एताश्चेत् मां प्रार्थयिष्यन्ति तदाऽन्यस्मा अपि मद्भक्तायेमं रसं दास्ये, अन्यथा तु मुक्तिमेवे"ति **मानः**. अतए**वाम्बुजत्व**मुक्तम्. तद्धि रविकिरणसम्बन्धादेव विकसितं सद्रसं प्रकटयति, अत्रैतत्प्रार्थनैव तत्स्थानीयेति भावः. **भक्तानां दोष** इति. विचारे क्रियमाणे भगवद्रसपानानन्तरमेव तादृग्भावोत्पत्तेस्तस्यैव स धर्म इति निश्चीयत इत्यर्थः. **अथवा व्यापिवैकुण्ठे**त्यादि. "मयाऽपरोक्षं भजते"तिवाक्यात् श्रीकृष्णस्त्वेतासा-

लेखः

तदा तासां दोषेति, "निजजनस्मयध्वंसनस्मिते"त्यत्रोक्तप्रकारत्रयेण दोषनिवृत्तिरिति भावः. **भक्तौ समायाती**ति, अयं दोषो भक्तेर्धर्म इति टिप्पण्यामुक्तम् अतो भक्तावेवागत इत्यर्थः. 'पीताम्बरो भगवानि'त्येतावत्येव वक्तव्येऽपि धरणोक्तेस्तात्पर्यमाहुः **हस्ते धृत्वे**ति. वाससा किञ्चिन्मुखाच्छादनेन

योजना

स्मयमानाभ्यां वा सहितमिति, अस्मिन्पक्षे **स्मयो मान**श्चेति द्वन्द्वं कृत्वा **मुखाम्बुज**पदेन समासः. अर्थस्तु टिप्पण्यां स्फुटः. **भक्तानां दोषो भक्तेभ्यो निर्गत** इति. एतदर्थस्तु टिप्पण्यां स्फुटः. **पीताम्बरधर** इत्यस्य विवृतौ **हास्यसंकोचार्थं हस्ते धृत्वा तिष्ठतीति**. अयमर्थः **पीताम्बरधर** इत्युक्त्या लब्धः. अन्यथा **पीताम्बर** एतावदुक्त्या चारितार्थ्ये **धर** इति न वदेत्. **अथवेति**, पूर्वस्मिन् पक्षे मायाजवनिकां दूरीकृत्य प्रकटो जात इत्युक्तं, तत्रागमनं नास्ति तथा (सति!) "तं विलोक्यागतम्" इत्यनेनोक्तमागमनं बाध्येत, अतः पक्षान्तरमाहुः **अथवेति व्यापिवैकुण्ठरूपेणे**त्यादि. अयमाशयः. "तं विलोक्यागतमि"त्यनेनागमनमुक्तम्. तच्च गमनं विना न सम्भवत्यतो

प्रादुर्भूतः. **स्रग्वी** वनमालायुक्तश्च. मध्ये ब्रह्मादिपूजां च गृहीतवान् लक्ष्म्या वा अतो विलम्ब इत्यपि सूचितम्. अतएव प्रथमश्लोके पूर्वाध्याये "श्रयत इन्दिरे"त्युक्तम्. इदानीं तु उपेक्षा कर्तुमयुक्तेति प्रादुर्भूतः. अत आगमन-मुक्तमग्रे. [१](यद्वा तत्र हेतुमाह विशेषणद्वयेन. इदानीमनाविर्भावे तु न रसो

टिप्पणी

मेव निकटे स्थितः. एवं सति "तं विलोक्यागतमि"ति यदागमनकथनं तेन येन रूपेण तत्रास्थितिः पूर्वं तेन रूपेणागमनमित्यवश्यं वाच्यं, तत्र स्थितस्यैव आगमनासम्भवात्. अतो येन रूपेणागमनं तद्रूपमुक्तं **व्यापिवैकुण्ठे**त्यादिना. व्यापिवैकुण्ठे हि पुरुषोत्तम एव, नांशः. व्रजे तु "श्रयत इन्दिरे"ति वाक्या-ल्लक्ष्म्याः कदाचिदपि नावसरः. इदानीमेतन्मानापनोदनं तदार्तिनाशनं चैकदैव करिष्यन् लक्ष्म्या रमणं येन रूपेण करोति तेन रूपेण कृत्वा तत्स्वरूपस्य एतदभिन्नत्वात् तान् धर्मान् प्रकटीकृत्य प्रकट इत्याशयेनागमनमुक्तम्. एवं सत्येतेषां धर्माणां पूर्वमसत्त्वात् तद्विशिष्टस्यापि तथात्वात्तादृशस्यागमनमुक्तं

योजना

गमनं वक्तव्यम्. कुत्र गमनमित्यपेक्षायां गमनस्थलस्यानुक्तत्वा"द्विशेषानुक्तौ सामान्यं ग्राह्यमि"तिन्यायेन सामान्यस्थलस्य ग्राह्यत्वाद् व्यापिवैकुंठं च भगवतो नित्यनिवासत्वेन सामान्यं स्थलमतस्तदेव ग्राह्यमित्याशयेनाहुः **व्यापिवैकुण्ठरूपेणे**त्यादि. [२]वनमालायाः सर्वदा प्राप्तत्वेन पुनःकथनस्य निष्प्रयोजनत्वं स्याद् अत आहुः[२] **मध्ये ब्रह्मादिपूजां वे**ति, ब्रह्मणा कृतायां पूजायां माला समर्पिता तां परिधाय समागत इति **स्रग्वीत्युक्तम्**. ब्रह्मा हि यत्र यत्रावतारस्तत्र तत्र दर्शनार्थं गच्छति. अतोऽत्राप्यवतारादर्शनार्थं गतो भगवन्तं पूजितवान्. अत्राप्यवतारोऽस्ति, व्यापिवैकुण्ठादवतरणाद्, अवतारो नाम व्यापिवैकुण्ठाद्भगवतः प्रपञ्चे समागमनमित्यवतारलक्षणात्. अतएव **तासामाविरभूच्छौरिः** इत्यनेनाविर्भावः उक्तः. **पीताम्बरधरः स्रग्वी**तिविशेषणद्वयस्य तात्पर्यान्तरमाहुः **यद्वे**ति. **इदानीमनाविर्भावे तु न रसो न वा कीर्तिरि**ति, यदि प्रभुर्नाविर्भवेत् तदा व्रजसुन्दरीणां तिरोभावो भवेत्, तदा रसो न स्यात् कीर्तिश्च न स्यादित्यर्थः. भगवतस्तु रसापेक्षा

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणामित्यस्मन्मतिः. २-२. मांड. पाठे एतावान् अंशो अधिकः.

न वा कीर्तिः, स्वयं त्वाच्छादनेन रसत्वसाधक**पीताम्बरधरः** कीर्तिमय**स्रग्वाँश्च** अतः प्रकट इत्यर्थः. अन्यथा तु भक्तानां स्वरूपतिरोधाने उक्तोभयाभावः स्फुट इति भावः.) ननु कन्दर्पेण कथं न वशीकृतः, स्वपूतना खिन्नेति, तत्राह **साक्षान्मन्मथस्यापि मन्मथः.** आधिभौतिको **मन्मथः** देवतारूपः. तत आध्यात्मिकः सर्वहृदयेषु **साक्षान्मन्मथः.** तस्याप्ययं **मन्मथः** आधिदैविकः,

टिप्पणी

भवतीति भावः. **ननु कन्दर्पेणेति पूतनो**क्तेरिदमाकूतं ज्ञायते— पूतनया हि परपक्षनिरासः क्रियते. दुःखिता तु सा न तं कर्तुं समर्था किन्तु सुखिता. स्वामिनीभिरपि सर्वात्मभावविरुद्धाः सर्वे भावा निरस्ताः. तथा च सर्वात्मभाववत्सु भक्तेषु दुःखसम्भवे मर्यादामार्गीया भक्ता अप्यस्मिन्मार्गे दुःखसम्भावनारहितान्मोक्षादप्याधिक्यं न ज्ञास्यन्तीत्येतन्मार्गप्रवृत्तिर्न भविष्यतीति ज्ञात्वा— कुतोऽतिरोधानं न कृतवानिति. तथा च **कन्दर्पशब्दः** सर्वात्मभावपरः, एतासां कामभावोऽपि सर्वात्मभावात्मक एवेति ज्ञापनाय **कन्दर्पपदप्रयोगः. स्वपूतना खिन्नेति** भविष्यतीति शेषः. यद्वा. दैन्येनाविर्भूतो न तु हेत्वन्तरेणेतीममर्थं स्फुटं कर्तुमत्रापि लौकिकरीतिं जानतो भ्रान्तस्याशङ्कामनुवदन्ति **ननु कन्दर्पेणे**त्यादिना. **साक्षादि**त्यनेनाद्यपक्षे समाधानमेवं ज्ञेयम्. अस्मिन्मार्गे मोक्षादाधिक्यज्ञानाभावः किं रसवार्ताभिज्ञस्यापाद्यते उत तदनभिज्ञस्य? तत्रान्त्ये 'ओमि'ति ब्रूमः. आद्ये तु विवरणोक्ताध्यात्मिकमन्मथरसस्यैव यत्र विप्रयोगे महारसत्वमुच्यते तत्र तस्यापि तद्रूपस्य विप्रयोगे महारसत्वेन ज्ञाने का शङ्का नामेति द्वितीयपक्षसमाधानं विवरणे स्फुटम् ॥२॥

योजना

[१]कीर्तिश्चापेक्ष्या[१] अतः प्रादुर्भाव एव कृतः. रसापेक्षासूचकम्[२] आच्छादकं पीताम्बरं हि, "गुप्तो हि रसो रसत्वमापद्यते" इति शास्त्रात्. कीर्त्यपेक्षासूचिका वनमाला. अतो रसकीर्त्योरुभयोरपेक्षितत्वात् प्रादुर्भूतः. अतः **पीताम्बरधरः स्रग्वी** च. **भक्तानां स्वरूपतिरोधाने उक्तोभयाभाव** इति, रसकीर्त्योरुभयोरभाव इत्यर्थः. **साक्षान्मन्मथमन्मथ** इत्यस्याभासे, **ननु कन्दर्पेणेति**— एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥२॥

१-१. मांड. पाठे एतावान् अंशो अधिकः.

२. रसापेक्षासूचकः इति मुद्रितः पाठः. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

सर्वस्यापि सर्वत्वात्. अतः कन्दर्पोऽपि मुग्धः कन्दर्पस्याप्यशक्यमोहः कन्दर्परूपश्च. अतस्तासां दैन्ये प्रादुर्भूते तन्निवारणार्थं कामरूपमेव प्रकटीकृतवान्. अतस्तेन पूर्ववत् कामसम्पन्नाः ताः कृताः ॥२॥

ततो यज्जातं तदाह **तं विलोक्येति.**

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः ।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥३॥

तमागतं विलोक्य युगपत् सर्वा उत्थिताः. पूर्वमाविर्भावमुक्त्वा अधुना यदागमनमुक्तं तद्विलोकनसमये स्वामिनीभावानुवादरूपम्. पूर्वमन्तःस्थितोऽधुना बहिरागत इति वा ज्ञापनाय तथोक्तिः. ननु किमाश्चर्यं भगवत्यागते उत्थिता इति? तत्र न ह्येताः सजीवाः स्थिताः किन्तु निर्जीवा इति वक्तुं दृष्टान्तमाह **तन्वः** करचरणाद्यवयवाः **प्राणमागतमिवेति.** प्रयत्ने हि एकमेवाङ्गं व्यापृतं भवति, प्राणे तु सर्वाणि सम्भूय, अतो बहुवचनं युगपदुत्थानार्थम्. उत्थानं पञ्चानां भाव्यं देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवानाम्.

प्रकाशः

तं विलोक्येत्यत्र, इति वक्तुमिति एवं प्रकारकमाश्चर्यं वक्तुम्, अन्यथा दृष्टान्तमेतं न वदेत्, प्रयोजनाभावादित्यर्थः. **प्राणे तु सर्वाणि सम्भूयेति,** बृहदारण्यके "यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं चे"ति ब्राह्मणे सर्वेन्द्रियाणां शरीरस्थितेश्च मुख्यप्राणाधीनत्वं प्रतिपादितं, प्रत्यक्षमपि तथेति तथेत्यर्थः. **पञ्चानां भाव्यमिति,** यद्यपि देहस्यैव प्रतीयते तथापि व्युत्पाद्यमानरीत्या तथेत्यर्थः. तत्र जीवस्य व्युत्पादयन्ति **तत्रे**त्यादि. तथा **च** "चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठते"ति तृतीये तदागमनेनैव पुरुषोत्थानस्योक्तत्वादन्यत्रापि तथेत्यर्थः. ननु पूर्वं जीवाभावे पूर्वाध्यायद्वयोक्त-

लेखः

हास्यसङ्कोचो रसिकानुकरणसिद्धः. **अतः कन्दर्पोऽपीति,** आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकरूपत्वं क्रमेणोक्तम्. **पूर्ववदिति** "उदारहासे"तिवदित्यर्थः ॥२॥

तं विलोक्येत्यत्र. पूर्वश्लोके "तासां मध्यएवाविर्भूतो" जात इत्युक्तम्. **अथवेति** पक्षेऽपि टिप्पण्यां धर्माणामेवागमनमुक्तं जातम्. धर्म्यागमनस्वरूपमाहुः **पूर्वमाविर्भावेति. भगवत्सङ्गे समागत** इति, अन्तःस्थिते भगवति

तत्र जीवस्यान्याधीनमुत्थानं परं तस्मिन्नागते सर्वाण्युत्तिष्ठन्ति. स तु भगवति प्रविष्टो भगवत्सङ्गे समागतो भगवत्युत्थित एवोत्थितः. अन्तःकरणं तु उत्थितमित्यत्र हेतुमाह **प्रेष्ठमिति**, अत्यन्तं प्रियो भगवान्, तं दृष्ट्वा उत्थितम्. भगवति या **प्रीतिस्तया** कृत्वा **उत्फुल्ला दृक्** यासाम्– अनेन प्रीत्या इन्द्रियाणामुत्थानम्. [१](एतासां विलोकनार्थमेवागमनमित्यागमनमात्रेण विलोकनमादौ सम्पन्नम्. उत्फुल्लता तु ततो भिन्ना. तस्याः पुष्पधर्मत्वेन तदुक्त्या दृशां कमलत्वं व्यज्यते. तत्र प्रीतेर्हेतुत्वोक्त्या इयदवधितत्कार्या-भावेनाधुनैव तत्प्राकट्यं ज्ञाप्यते रवेरिव. विरहे सर्वतिरोधानादेत-त्तिरोधानमप्यासीद्, अतएव**बालत्व**मुक्तं कार्यमात्रे स्वसामर्थ्याभावज्ञापनार्थम्. दृष्टान्तेनैव प्राणानामुत्थानं, प्राणानां भगवान् प्राण इति. शरीरं तु

प्रकाशः

कार्यं कथं निरपद्यतेत्यत आहुः **स त्वि**त्यादि. तथा च पूर्वं भगवानन्तःप्रविष्ट इति सुषुप्ताविव **सोऽपि भगवँति प्रविष्टः**. अतएव "जगृहुस्तदात्मिका" इत्यारम्भएवोक्तम्. एवं च सुषुप्तौ प्राज्ञस्य सम्परिष्वङ्गमात्रं नान्या क्रियेति सुखमात्रं, जीवस्य तमोऽभिभवादज्ञानं च. प्रकृते तु भगवतो ब्रह्मविष्णुरुद्रभावेन लीला चिकीर्षितेति तमोऽभिभवाभावात्सर्वं कार्यं निरपद्यतेति न काचिदनुपपत्तिरिति भावः. शेषं स्फुटम् ॥३॥

लेखः

तत्र स्थितो भगवति बहिरागते अयमपि स्वस्थाने समागत इत्यर्थः. तथा**चागतमि**तिपदेनोक्तमागमनं जीवोत्थाने हेतुरित्यर्थः ॥३॥

योजना

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठमित्यस्य विवृतौ. **जीवस्य अन्याधीनमुत्थानमि**ति, लीलासहिते हृदयस्थिते भगवति जीवस्य स्थितत्वाद्भगवदुत्था-ना[२]धीनमुत्थानमित्यर्थः. अन्तःकरणोत्थाने भगवन्निष्ठं प्रेष्ठत्वं हेतुः अतः **प्रेष्ठमिति** विशेषणम्. इन्द्रियाणामुत्थाने प्रीतिर्हेतुः अतः **प्रीत्युत्फुल्लदृश** इत्युक्तम्. **दृष्टान्तेनैव प्राणानामुत्थानमि**ति, तच्च **प्राणमिवागतमि**ति दृष्टान्तेन प्राणानामुत्थानमुक्तम्. शरीरोत्थाने पूर्वोक्ताभिलषितपदार्थता हेतुः अत**स्तमि**ति विशेषणमुक्तम् ॥३॥

१. ( ) प्रभूणां स्यादिति.

२. भगवदुत्थाधीनम् इति मुद्रितः पाठो ह्यशुद्धएव. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

पूर्वोक्ताभिलषितपदार्थत्वेन निरूपणाद् उत्थितमित्यत्र **तमिति** हेतुः) ॥३॥

एवमुत्थितानां भगवता सह स्थितानां कार्यमाह **काचिदिति** पञ्चभिः.

काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा ।
काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम् ॥४॥

पूर्वमनेकविधा अपि भगवत्याविर्भूते सप्तविधा एव जाताः. एको भगवान् सर्वार्थे प्रकटीभूतः. तत्र या अग्रे स्थिताः ता अपि निकटस्थिता एव पूर्वमुच्यन्ते— शुद्धसात्त्विक्यः शुद्धरजोयुक्ता रजःसात्त्विक्यश्च निर्गुणाश्च, शिष्टाः सप्तविधा गण्यन्ते. **काचिदत्र शौरेः कराम्बुजं मुदा अञ्जलिना**

टिप्पणी

काचित्कराम्बुजमित्यत्र, पूर्वमनेकविधा अपीति, अनाविर्भावे चित्तविक्षेपादनेकविधत्वं पूर्वाध्याय उपपादितं वचनरीत्या, अधुना तु प्रभु'र्भग'शब्दार्थं प्रकटीकृत्य स्वयमाविर्भूत इति ता अप्याविर्भूतस्वरूपैकनिष्ठा इति तदात्मिका जाता इत्यर्थः. एवं सति स्वरूपस्य रसात्मकत्वेन तद्धर्माणामपि तथात्वाद् भ्रुकुटिबन्धनादिभावा अप्युपपद्यन्त इति भावः. **निर्गुणाश्च शिष्टा** इति **च**कारात्तमस्सजातीयभाव उच्यते ॥४॥

लेखः

काचिदित्यत्र एको भगवानिति, अयं सर्वासामर्थे प्रकटः अत**स्तत्र** सङ्घे **या अग्रे** दूरे **स्थितास्ता अपि निकटस्थिता एव** ज्ञेयाः, सर्वासामर्थे प्राकट्यात्. सर्वत्रैव प्रकटीभूय सर्वासामेव नैकट्यं सम्पादितवान्, अतः कराम्बुजधारणादिकार्यं युगपदेव सर्वासां सम्पन्नमिति भावः. **काचिदि**त्येकवचन-मेकजातीयभाववत्त्वेन, वस्तुतस्तु तादृश्योऽपि बह्व्य इति ज्ञेयम्. सप्तविधत्वस्य धर्मधर्मिभेदेन विवक्षितत्वेऽपि पूर्वोक्तोऽप्यंशोऽधुना तिष्ठतीत्याशयेन गुणप्रकारेण सप्तविधत्वमाहुः **शुद्धसात्त्विक्य** इति. **रजःसात्त्विक्यश्चे**ति **च**कारेण सत्त्वप्रधानराजस्यः. **निर्गुणाश्चे**ति **च**कारेण तमःसजातीयभाववत्य इति टिप्पण्यामुक्तमेव. एवं षट्. **शिष्टाश्च**तस्र[1] एकविधा अत्रोक्ता, एवं सप्त.

योजना

काचित्कराम्बुजमित्यत्र पूर्वमनेकविधा अपीत्यादि, एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥४॥

---

१. सत्त्वप्रधानतामस्यः, रजःप्रधानतामस्यः, तमःप्रधानसात्त्विक्यः, तमःप्रधानराजस्यः.

अगृह्णात्. एकएव हस्तो भगवता प्रसारितः, "पीताम्बरधर" इति द्वितीयेन हास्यनिवारणार्थं पीताम्बरग्रहणात्. बहुमानेन ग्रहणमञ्जलिना भवति. **शौरे-रि**ति वीरत्वज्ञापनाय. **मुदे**ति पूर्वोक्तक्लेशव्यावृत्त्यर्थम्. अन्या पुनस्ततोऽप्य-न्तरङ्गा भविष्यामीति **तद्बाहुमंसे दधार** यथालिङ्गितैव भवति. अग्रे एतस्या विनियोगो वक्तव्यः "भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु" इति. अतएव तदीयो धर्मोऽन्तःस्थितस्तस्या निरोधं साधयिष्यतीति **चन्दनरूषितमि**त्युक्तं, **चन्दनेन रूषितं** लिप्तम्. चन्दने हेतुः पूजा लक्ष्मीर्वा पूर्वोक्ता ॥४॥

काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात् ॥५॥

तथा ताम्बूलेऽपि. एवं सामग्रीप्रकटनेन तासां देवोत्तमानां च कृत्यं प्रदर्शितम्— एता आरोढुकामाः देवोत्तमास्तु पूजका इति. अतः **काचित्ताम्बूल-**

प्रकाशः

काचित्कराम्बुजमित्यत्र, [**सप्तविधा** इति, एको भगवान् षड्गुणैः प्रकटीभूत इति सप्तविधः. **टिप्पण्यां तदात्मिका** इति भगवदात्मिका. सुबोधिन्यां **कदा नु** इति भ्रमरगीते भुजधारणम्.] नन्वत्रानुभूतस्यैव तत्र स्फूर्तिनियमात्तत्रैतत्सत्त्वे "चन्दनसुगन्धमि"ति वदेदित्यत आहुः **अतएवे**त्यादि. यतस्तत्रेयमेवातो भगवद्बाहुसम्बन्धी स्वाभाविको धर्मश्चन्दनान्तःस्थस्तथा करिष्यतीति बोधयितुं चन्दनस्यागन्तुकत्वाय तथोक्तमित्यर्थः. अतएव दह्यमानपूतनादेहस्य भगवत्सम्बन्धादपहतपाप्मत्वेन धूमस्यागरुसौरभत्वमुक्तं "दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागरुसौरभ" इत्यतो न कोपि विरोध इति दिक्. [**निरोधमि**ति, निरोधो प्रपंचविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिः. **पूजा** इति ब्रह्मादि-(कृता!).] ॥४॥

लेखः

पञ्चमाध्याये तु "काचित्सममि"त्यादिना भगवद्गुणरूपत्वमेव वक्ष्यते, **निर्गुणाश्चे**त्यत्र क्रमाविवक्षया पूर्वं तामसी ततो निर्गुणा निरूपयिष्यत इति ज्ञेयम्. **एतस्या विनियोग** इति, एतस्यां विनियोगो बाहोरिति शेषः. **तदीयो धर्म** इति बाहुनिष्ठो धर्म इत्यर्थः. **पूजा लक्ष्मीर्वे**ति, **स्रग्वि**पदसूचितायाम् उभयकृतपूजायां **पीताम्बरधर**पदसूचितलक्ष्मीरमणे वा चन्दनालेप इत्यर्थः ॥४॥

चर्वितमञ्जलिना अगृह्णात्. तस्याः ताम्बूलयोग्यतामाह **तन्वीति**, कोमलाङ्गी. **एका** पुनर्बहिःस्थिता साक्षात्सम्बन्धमलभमाना उत्थातुं वा अशक्ता उपविश्यैव **तदङ्घ्रिकमलं स्तनयोरधात्.** अनुत्थाने धारणे च हेतुः **सन्तप्तेति**, सा ह्यत्यन्तं विरहातुरा ॥५॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।
घ्नन्तीवैक्षत् कटाक्षेपैः सन्दष्टदशनच्छदा ॥६॥

एकेति, अन्या पुनर्दूरस्था तामसी तमसा **भ्रुकुटिमाबध्य कटाक्षेपैः घ्नन्तीव ऐक्षत्.** अत्र सवर्णे वर्णलोपः, कटाक्षक्षेपैरित्यर्थः. **प्रेम्णा** सहितो

टिप्पणी

चन्दनरूषितमित्यत्र एवं सामग्रीत्यादि. एतास्वनुग्रहविशेषो ज्ञापित इति भावः ॥५॥

प्रकाशः

[**तथा ताम्बूलेऽपीति**, तथा ताम्बूलमपि भोगसूचकं पूजासूचकं च. **देवोत्तमानामिति** देवेभ्यो उत्तमानां ब्रह्मादीनाम्. **एका पुन** इति निर्गुणाः ॥५॥]

लेखः

स्रगादिप्राकट्यपूर्वकमाविर्भावे तात्पर्यमाहुः **एवं सामग्रीति. अत** इति, उभयकृत्यप्रदर्शनेनानुग्रहज्ञापनादित्यर्थः. **ताम्बूलयोग्यतामिति**, कोमलाङ्ग्या मृदुत्वचि ताम्बूलप्रतिफलनेऽधिका शोभा रसशास्त्रसिद्धा, अतस्तादृशशोभावलोकनाय ताम्बूलं दत्तवानिति भावः. **बहिःस्थितेति**, मण्डलाद्**बहिर्दूरे स्थितेत्यर्थः.** सर्वासां नैकट्यं पूर्वं व्युत्पादितमिति पक्षान्तरमाहुः **उत्थातुं वा अशक्तेति** ॥५॥

दूरस्था तामसीति, यावता तादृगीक्षणेन मानभावस्तिष्ठति तावद्दूरस्थे-

योजना

अंसे चन्दनरूषितमित्यत्र तासां देवोत्तमानां च कृत्यं प्रदर्शितमिति, देवोत्तमानां ब्रह्मादीनां पूजारूपं यद्भगवति **कृत्यं तत्तासां** व्रजसुन्दरीणां **प्रदर्शितं** व्रजसुन्दरीभ्यः प्रदर्शितमित्यर्थः, पूजायां स्थापितस्य चन्दनादेर्व्रजसुन्दरीभिर्बाहुधारणे प्रत्यक्षीकरणात्. **ताम्बूलयोग्यतामाह 'तन्वी'ति कोमलांगीति**, कोमलांगीत्वाच्चर्वितताम्बूलं कण्ठे प्रतिफलत्यतः परमसौन्दर्यं सूच्यते. इयमेव ताम्बूलयोग्यता नाम ॥५॥

यः **संरम्भः** क्रोधः तेन **विह्वला सम्यक् दष्टः दशनच्छदो** यया तादृशी च जाता. **भ्रुकुटि**बन्धनेन चित्तकौटिल्यम्. प्रेमसहितसंरम्भेण इन्द्रियवैक्लव्यम्. सन्दंशेन देहक्षोभः. **घ्नन्तीवेति** प्राणैर्बलस्फूर्तिः. ज्ञानसाधनमपि तस्या विकृतं— प्रान्तदृष्टिः **कटाक्षः** तत्रापि **आक्षेप**भावः. यथा वाचावगुरणं तथा कटाक्षाएव आक्षेपरूपाः निरन्तरं प्रवृत्ताः. तादृशभावस्य पूर्णत्वाय कालनियमनार्थं वा भ्रुकुटिभङ्गः. स्वभावनियमनार्थं **च संरम्भः**. लोभनाशार्थं

टिप्पणी

एका भ्रुकुटिमाबध्येत्यत्र, तादृशभावस्येत्यादि. पूर्वं मानमात्रं निरूपितम्, अधुना तु "शतधापि मानापनोदनार्थं यत्ने कृते मानमहं न त्यक्ष्यामी"ति[१] गाढमानो निरूप्यते. तथा हि कालविलम्बेन हि मानः शिथिलो भवति, व्यभिचारित्वेनाचिरस्थायित्वात्. तथा चायं मानस्तथा यथा न भवति [२]गाढता तादृश्यैवास्य सार्वदिकी भवति. तथा कृतिरेव कालनियमनम्. प्रियवचनादिभिर्मानिमवश्यं त्यजतीति **नायिकास्वभाव**:, "स मा भवतु, मानस्वभावएव मम तिष्ठत्वि"ति प्रयत्नस्तन्नियमनं स्वभावनियमनं नाल्पेन भवतीति **संरम्भ** उक्तः. मानस्य प्रियसंगमविलम्बहेतुत्वेन दुःखदत्वात् किमित्येवंकरणमित्याशङ्क्यैतद्विचारानुदयं तत्र हेतुत्वेन वक्तुमेतद्धेतुमाह **विह्वलेति** मूले. पूर्वानुभूतसंगमसुखस्मरणे तल्लोभात् कदाचिन्मानत्यागः स्यादिति तदभावाय दंशः. एवमत्याग्रहेऽपि हृदि प्रियस्थितेरावश्यकत्वा-

प्रकाशः

एका भ्रुकुटीत्यस्य टिप्पण्यां, **[यत्ने कृते** इति, "अहं मानं न त्यक्ष्ये; कस्माद् एतावत्कालं खेदिता" इति. **मानस्तथेति** शिथिलः. **संरम्भ** इति,

लेखः

त्यर्थः. **तादृशभावस्येति**, पूर्णतास्थापनाय कालनियमनं कर्तव्यं तदर्थं भङ्ग इत्यर्थः. भृकुटिभङ्गकार्यं चित्तकौटिल्यं पूर्वमुक्तम् अतोऽत्र **वाशब्दः** ॥६॥

योजना

तादृशभावस्य कालनियमनार्थमित्यारभ्य लौकिकी भक्तिरित्यन्तम्, एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥६॥

१. त्यक्ष्य इति मू. पा. ब.पाठश्च.

२. गाढतादृशैवास्य इति पाठः, 'गाढतादशैव' इति तु मूलस्थः पाठः ब.पाठश्च.

दंशः. मोक्षाभावार्थं ज्ञानवक्रता. प्रमाणनिराकरणार्थं हननमिति. यतो लौकिकी भक्तिः पुष्टा भवति. एतदर्थमेषा निरूपिता ॥६॥

एवमतिपुष्टां निरूप्य अत्युत्तमां निरूपयति **अपरेति.**

अपराऽनिमिषदृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नातृप्यत्सन्तस्तच्चरणं यथा ॥७॥

एषा हि भगवद्दर्शनेन गतदोषा, अतो ध्यानेन भगवन्तं हृदये स्थापयितुकामा नेत्राभ्यां नेत्रद्वारा भगवन्तं हृदि स्थापितवती. अत्र लावण्यामृतं पेयं, **मुखस्याम्बुजत्वोक्तेः. अनिमिषदृग्भ्यामिति** पानकरणम्.

टिप्पणी

न्मानस्यापि तत्रैव सत्त्वात् कदाचिदस्य तस्मिन् लयः स्याच्चेत्तदापि मानराहित्यं भवेदिति तदभावाय ज्ञाने कौटिल्यम्. निर्दोषभावे हि धर्मिणो मुक्तिः, तस्यातथात्वे तत्सम्बन्धाद्यत्र धर्मिणोऽपि न मुक्तिस्तत्र **तस्य** कथं **सा** भवेदिति भावः. **प्रमाणनिराकरणार्थमिति**, "सर्वस्येशानः" "य आत्मानमन्तरो यमयती"त्यादिश्रुतिभ्य ईशितृत्व-नियामकत्वादि-धर्मवत आज्ञोल्लङ्घनं, तदग्रे स्तब्धत्वादिकं, प्रभुश्चान्तःकरणं मानान्निवर्तयितुं यतते अन्तःकरणं च न निवर्तत इति प्रमाणविरुद्धत्वान्न सम्भवति, तच्च प्रमाणबलनिराकरणे सम्भवतीति तद्धननमेव कृतं भवतीत्यर्थः. **यतो लौकिकी भक्तिरिति** लोकरीत्यनुसारी स्नेह इत्यर्थः ॥६॥

अपराऽनिमिषदित्यत्र एषा हीत्यादि. गतदोषा विस्मृतपूर्वदुःखेत्यर्थः ॥७॥

प्रकाशः

संरम्भो अवष्टम्भः. **तत्रैवेति** हृदये.] **अस्य तस्मिन्निति** हृदयस्य भगवतीत्यर्थः. [**कौटिल्यमिति**, कौटिल्यं कृतं भवति. **तस्यास्तथात्वे** इति मुक्तेः सदोषत्वे.] **तस्यातथात्वे** इति भावस्य सदोषत्वे. [**तस्येति** धर्मस्य. **सेति** मुक्तिः.] ॥६॥

लेखः

अपरेत्यत्र, अत इति गतदोषत्वादित्यर्थः. नेत्रद्वारा सेवनपदार्थमाहुः **हृदि स्थापितवतीति.** पूर्वोक्तं ध्यानेन स्थापनं, स्वाधीनत्वेन[१] स्थापनमिति विभेदः. स्वाधीनत्वेन स्थापनरूपमेव पान**मापीतमि**त्यनेनानूदितम्. पेयमाहुः **लावण्यामृतमिति**, अम्बुजस्थापने मकरन्द इव मुखस्थापने लावण्यं स्थापितं

१. ननु अन्तर्गृहगतानामिव इति भावः (सम्पा.).

द्रवद्द्रव्यस्यान्तर्निवेशनं पानम्. मध्ये रसविच्छेदो भविष्यतीति **अनिमिषदृग्भ्यां** पानम्. नेत्रयोरञ्जलित्वं, लावण्यामृतस्य विरलत्वात्. प्रीतिसेवनमत्राभिप्रेतम्. यद्यपि **आसमन्ताद्धर्मसहितं** सर्वमेवाभिनिविष्टं स्वाधीनं जातं, यदैवेच्छति तदैव हृदये पश्यतीति, त**थापि नातृप्यद्** अलंभावं न कृतवती. तत्र हेतुर्विषयसौन्दर्यं न तु प्रयोजनाभावः प्रतिबन्धकः. एतदर्थं दृष्टान्तमाह **सन्तः तच्चरणं यथे**ति. सन्तो हि जातकार्याः, तथापि चरणारविन्दे सहजो रसो, न तु किञ्चित् प्राप्तव्यं निवर्तनीयं वा ॥७॥

प्रकाशः

अपरेत्यत्र, ननु विषयसौन्दर्ये सत्यपि प्रतिबन्धके विद्यमाने पानं न सम्भवतीत्यत आहुः **न त्वि**त्यादि ॥७॥

लेखः

भवतीति भावः. हृदिस्थापनस्य पानत्वं व्युत्पादयन्ति **द्रवद्द्रव्यस्ये**ति. दृग्भ्यां पाने हेतुमाहुः **नेत्रयोरि**ति. **अञ्जलित्वं** पुटाकारत्वमित्यर्थः, विरलं ह्यमृतं पुटेनैव पातुं शक्यमिति भावः. 'जुषी'धातोः पानार्थकत्वं कथमित्याशङ्क्याहुः **प्रीतिसेवनमि**ति, धात्वभिप्रेतोऽर्थस्त्वयमेव परं हृदि स्थापनं विना प्रीतिसेवनं न भवतीति तद्धेतुत्वेन सोऽर्थ उक्त इति भावः. **आपीतमि**त्यत्राङोऽर्थमाहुः **स्वाधीनं जातमि**ति. अतो **ध्याने**नेत्यनेनोक्तं कार्यं सम्पन्नमित्यर्थः. तथाच स्वाधीनं जातमपि मुखाम्बुजं नेत्राभ्यां हृदि स्थापयन्ती नातृप्यदित्यर्थः ॥७॥

योजना

अपरानिमिषदृग्भ्यामित्यत्र **प्रीतिसेवनमत्राभिप्रेतमि**ति, **जुषाणा तन्मुखाम्बुजमि**त्यत्र "जुषी प्रीतिसेवनयोरि"ति जुषधातुना यद्यपि कुत्रचित्प्रीतिरुच्यते कुत्रचित्सेवोच्यते, तथाप्यत्र प्रीत्यर्थकधात्वन्तरं सेवनार्थकधात्वन्तरं विहाय जुषधातोः प्रयोगः कृतोऽतो ज्ञायते प्रीतिसेवनमत्राभिप्रेतमिति. मुखाम्बुजस्य प्रीतिसेवनं नाम तन्निष्ठलावण्यामृतपानम्. अतएव**आपीतम**तः **स्वाधीनं जातमि**ति, **आपीतमि**त्याङः प्रयोगात् **आसमन्ताद्धर्मसहितं** पीतमतः **स्वाधीनं जात**मित्यर्थः. तस्य स्वाधीनत्वस्य स्वरूपमाहुः **यदैवेच्छती**त्यादिना ॥७॥

एका पुनर्दूरस्था अनया तुल्यशीला योगानुसारेण भगवन्तं गृहीतवतीत्याह **तं काचिदिति.**

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च ।
पुलकाङ्ग्युपगूह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता ॥८॥

पूर्वं लौकिकी पश्चाद् भक्तिमार्गानुसारिणी निरूपिता. इयं योगानुसारिणी अतोऽस्याः सर्वावयवे दृष्टिः. उभयोरेकीकरणम्, अन्यथा दृष्टिभेदः स्यात्.

टिप्पणी

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेणेत्यत्र, **पूर्वं लौकिकी**त्यारभ्य **दृष्टिभेदः स्यादि**त्यन्तम्. "एका भ्रुकुटिमि"त्यनेन लौकिकसरूपभाववती निरूपिता, तद्यथा तथोपपादितम्. भक्तिमार्गे हि स्नेहवशाद् बहिर्मुखारविन्ददर्शने तेनैव विस्मृतसर्वा तदन्यन्नापेक्षते, सा "त्वपरे"त्यनेन निरूपिता. योगे हि ध्याने प्रत्येकमङ्गं पृथक् चिन्त्यते, धारणायां तैः समुदितमेकत्वेन स्वरूपं चिन्त्यते, परस्परसम्बन्धास्मरणपूर्वकमेकाङ्गस्मरणस्यानुचितत्वेनापराधरूपत्वात्. प्रकृते तु स्वरूपस्य रसात्मकत्वेन भावात्मकत्वादेकैकस्यैवाङ्गस्य स्वामिनीभावविषयत्वे तत्र परस्परं भेदापत्तिः स्यात्, सा च अनेन भावेनापास्यते. इदमेवोक्त**मन्यथा दृष्टिभेदः स्यादि**त्यनेन, दृष्टिकृतो भेदः स्वरूपे स्यादित्यर्थः. न च विषयत्वेन स्वरूपस्य भावाद् भेदो वाच्यः, एतन्नियमाभावात्, "सर्वं ज्ञानं प्रमेयमि"त्यादौ व्यभि-

प्रकाशः

तं काचिदित्यस्य टिप्पण्यां, **रसात्मकत्वेन भावात्मकत्वादि**ति, इदं यथा तथा विचारितं "चूतप्रवाले"त्यत्र. [**विषयत्वेने**ति, नेत्रयोः स्वरूपविषयः.] **भेदो वाच्य** इति, तथा सति दृष्टिभेदो न दोषायेति भावः. [**एतन्नियमाभावादि**ति, दृष्टिकृतो भेदः विषयस्वरूपे न भवति इति

लेखः

तं काचिदित्यत्र, **सर्वावयवे** इति, सम्पूर्णस्वरूपस्यैव नेत्रद्वारा हृदि स्थापनादिति भावः. **उभयोरि**ति, 'सर्वेषामि'ति वक्तव्येऽपि संयोग उभयोरेव, अन्येषां पुनस्तेनेत्याशये**नोभयोरि**त्युक्तम्. टिप्पण्यां **योगे ही**ति कथनादयं

योजना

तं काचिदित्यत्र, [1]**अन्यथा दृष्टिभेदः स्यादि**ति[1] एतदर्थष्टिप्पण्यां

१-१. मांड. पाठे एतावान् अंशो अधिकः.

पूर्वस्यास्तु दर्शनमेव प्रयोजनम्. एषा विरलेति **काचिदित्युक्तं**, **तं** पूर्वोक्तं, "न खलु गोपिकानन्दनो भवानि"ति यथा निरूपितम्. **नेत्ररन्ध्रेणेत्येकवचनं** रूपप्रवेशार्थम्. **हृदि कृत्येति** हृदि कृत्वा, असमासेऽपि ल्यप्. **हृदिकृत्येत्यलुक्समासो** वा. ततो "अन्तःप्रविष्टो बहिर्मा गच्छत्वि"ति **निमीलनं** कृतवती, न हि तस्या बुद्धौ भगवान् बहिरवशिष्टोऽस्ति स्वकीयो वा

टिप्पणी

चारात्. ईश्वरज्ञानस्य सर्वविषयकत्वेन स्वविषयकत्वस्यापि सर्ववादिसम्मतत्वेन प्रकृते च स्वयंप्रकाशचिद्रूपत्वात् स्वरूपस्य न काप्यनुपपत्तिः. एतेषां भावानां व्यभिचारिभावत्वे तु न स्वरूपभेदकत्वं स्यात्. स्थायिभावत्वेन तद्भेदकत्वमावश्यकमिति तत्समाधानमावश्यकमिति भावः. **स्वकीयो वा भाग** इति, प्रभुरेताभ्यः प्रत्येकमाविर्भूय रसं ददातीति सर्वासां भागरूपो भवति. तथा च यदर्थमाविर्भूतं यद्रूपं तत् तस्या भागरूपमिति तथा. एतेन पितृधने पुत्राणामिव प्रभुस्वरूपे स्वामिनीनामेव स्वत्वमिति ज्ञापितं भवति॥८॥

प्रकाशः

नियमात्. **व्यभिचारादिति**, प्रमेयं ज्ञानं व्यभिचारि भवति तस्य स्थाईत्व अ(यित्वा!)नियमात्. **ईश्वरज्ञानस्येति**, ईश्वरस्य ज्ञानं सर्वविषयकं भवति अथ च स्वविषयकमपि भवति– "अहं सर्वविषयक ज्ञानवान्" इति. अत्र स्वयंप्रकाशः चित् ज्ञानरूपत्वात् सर्वं सुवचम्.] **न काप्यनुपपत्तिरिति**, विषयविषयिणोरभेदानुपपत्तिः दृष्टिभेदकृतापराधानुपपत्तिश्च नेत्यर्थः. प्रकारान्तरीयानुपपत्तिं हृदिकृत्याहुः **एतेषामित्यादि**. [**एतेषामिति** भक्तानाम्. **यदर्थमाविर्भूतमिति**.स्वरूपानन्ददानाय. **स्वत्वमिति** स्वकीयत्वम्. सुबोधिन्यां **हृदि कृत्वेति** हृदये इति. तत्र **हृदि** इति लिप्(ल्यप्!)प्रत्ययः. **ल्यबिति**

लेखः

दोषो योगमार्ग एवेति पूर्वत्र नायं दोषः प्राप्नोतीत्याशयेनाहुः **पूर्वस्या** इति. सा तु भक्तिमार्गानुसारिणीति दर्शनमेव फलं न तु रूपकल्पनापेक्षेत्येवकारः. परिदृश्यमानमेवं स्वरूपं हृदिस्थितं भवतीति भावः. अत्र टिप्पण्यां **प्रकृते त्विति**. केवलयोगमार्गेऽपराधमात्रं, योगानुसारिभक्तिमार्गे तु स्वरूपेऽपि भेदापत्तिः स्यादित्यर्थः. [१]**रूपप्रवेशार्थमिति**, समुदितस्वरूपस्यैकत्वादिति भावः.

१. सुबोधिन्याम्.

भागस्तया गृहीत इति. **चकारात्** सर्वेन्द्रियनिवर्तनम्. ततोऽन्तरानन्दे पूर्णे **पुलकाङ्गी** जाता. केवलानन्देन पुलके गोपीत्वं न भविष्यतीति तदर्थं विशेषमाह **उपगूह्यास्त** इति. अयं रोमाञ्चः सात्त्विकभावे प्रविष्टो, अतएवान्त**रुपगूह्यालिङ्ग्य आस्ते** तामेव स्थितिं धारितवती अवस्थान्तराभावाय. ननु तस्या उत्तरत्र कार्यं– भगवता सह सम्भोगः कर्तव्यः, आलापाः, गृहे च गन्तव्यमिति कथं तामेवावस्थां स्थापितवती? तत्राह **योगीवेति**, योगी हि तयैवाग्रे सर्वं कार्यं साधयति तथेयमपि तयैवावस्थया सर्वं साधनीयमिति स्थिता. किञ्च **आनन्दसम्प्लुता** आनन्दे निमग्ना, अतएव बहिःसंवेदनरहिता. संवेदनायामेव कार्यानुसन्धानं, न हि पूर्णे आनन्दे कश्चन कामोऽस्ति ॥८॥

एवं विशेषाकारेण कृत्यमुक्त्वा सर्वासां सामान्याकारेण प्रयोजनमाह **सर्वास्ता** इति.

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥९॥

प्रकाशः

प्रत्ययः.] असमासे ल्यपो व्याकरणान्तरसिद्धत्वेन पक्षान्तरमाहुः **अलुक् समास** इति, "हृद्द्युभ्यां चे"ति सूत्रेण तथेत्यर्थः. [**उत्तरत्रेति**, अग्रे अवस्थान्तरा भवति तत्कथं?] ॥८॥

लेखः

केवलानन्देनेति आत्मानन्देनेत्यर्थः. **किञ्चेति**, योगिवत् "तथा साधयिष्यामी"ति ज्ञानात्तथास्ते आनन्दसम्प्लवेन तादृशानुसन्धानाभावाच्च[१] तथास्ते इति समुच्चयः ॥८॥

सर्वासामिति, भगवता **सामान्याकारेण सर्वासां** सम्पादितं विरहज-तापनिवृत्तिरूपं **प्रयोजनं** फलमा**हेत्**यर्थः. **सर्वास्ता** इत्यत्र. **अतएवेति**,

योजना

स्फुटः. **स्वकीयो वा भाग** इति, एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **केवलानन्देन पुलके गोपीत्वं**[२] **नेति**, योगिनो हि अन्तर्भगवदाविर्भावे आनन्देन पुलकिताङ्गा भवन्ति. तद्वन्नेयं किन्तु उपगूहनं कृतवतीति कामभावोऽस्या मुख्य इति गोपीत्वमेव प्रधानं न तु योगरीतिरिति हार्दम् ॥८॥

१. तादृशानुभावाच्च इति जो. पाठः. २. योगित्वं नेतीति मांड. पाठः.

यो हि बलिष्ठरजस्तमोभ्यां व्याप्तयोरपि फलसम्पादकः तस्य क्षुद्रगुण-क्षोभयुक्तानामासामुद्धारे कः प्रयास इति वक्तुं **केशवेत्युक्तम्**. तस्य योऽयम**आलोकः** आलोकनं प्रकाशो वा अन्तर्बहिः. अतएव सएव **परमोत्सवो**, यथा लौकिकानां महाराज्यप्राप्तिः पुत्रोत्सवो वा. तेन **निर्वृताः सर्वाएव** जाताः. एवं तासामिष्टसिद्धिरुक्ता, अनिष्टनिवृत्तिमाह **जहुर्विरहजमिति**. नन्वेवं सति मुक्ताएव ता भवेयुः; नहि संसारे निवृत्ते भगवत्साक्षात्कारेण

टिप्पणी

सर्वास्ताः केशवालोकेत्यत्र क्षुद्रगुणक्षोभयुक्तानामिति, एतासां भगवतश्च गुणाः सर्वे महान्तः, परोक्षभजनस्याज्ञानं क्षुद्रो गुण एतासामिति हृदयम्. **मुक्ताएव ता** इत्यादि. तदात्यार्तितः प्राणेन्द्रियान्तःकरणजीवा भगवत्येव प्रविष्टास्तत्सम्बन्धेन च परमानन्दं प्राप्तवत्य[१] इति पुनर्बहिरनुसन्धानमेतादृशी-

प्रकाशः

सर्वास्ता इत्यत्र. [**व्याप्तयोरपीति** ब्रह्माशिवयोः **फलसम्पादकः** मोक्षदाता. **क्षुद्रगुणेति**, अन्तर्हितनिकटस्थस्य भगवतो ज्ञानाभाव क्षुद्रगुणो, तेन **क्षोभो** मानात्मकः. **केशवेत्युक्तमिति**, "क(ब्रह्मा)श्च ईश(शिव)श्च केशौ, तयोः(वं!) मोक्षसुखं यस्माद्" इति केशवः. अतएव **केशवपदप्रयोजनम्**. **निर्वृताः** इति सुखिताः. **नन्वेवं सतीति**, मोक्षे "स्वाप्ययसम्पत्त्योः

लेखः

अन्तर्बहिर्विद्यमानत्वादेवेत्यर्थः. **सर्वाएवेति**, एकत्रोक्तं नेत्ररन्ध्रेण हृदिस्थापनादि सर्वास्विव प्रकारभेदैर्ज्ञेयमित्यर्थः. **इष्टसिद्धिरुक्तेति** पूर्वानुवादः. **नन्वेवं सतीति**, अनूदिते प्रकारे सतीत्यर्थः. तमाहुः **संसारे** इति. **स्वसम्बन्धेति**, न तु स्वस्मिन् लयं सम्पादयितुमित्यर्थः ॥९॥

योजना

सर्वास्ताः केशवालोकेत्यत्र केशवपदतात्पर्यमाहुः **बलिष्ठरज-स्तमोभ्यामि**त्यादिना. **बलिष्ठरजस्तमोभ्यां व्याप्तयो**र्ब्रह्मशिवयोरित्यर्थः. **फलसम्पादको** मोक्षसम्पादक इत्यर्थः, कश्च ईशश्च केशौ केशयोर्वं मोक्षात्मकं सुखं यस्मादिति **केशव**पदव्युत्पत्तेः. **तस्य क्षुद्रगुणक्षोभयुक्तानामिति**– एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥९॥

१. प्राप्तवन्त इति मू. पा. स्तु ब.पाठानुसारेण संशोधितः.

परमनिर्वृतौ सत्यां कश्चन पुरुषार्थोऽवशिष्यते, तत्राह **प्राज्ञं प्राप्येति**. **प्राज्ञः** सुषुप्तिसाक्षी. स्वाप्यये भगवदाविर्भावो निरूपितः. तत्र च जीवानां प्रवेशो वासनासहितानाम्. तं **प्राप्य यथा जनाः** अधिकारिणो मनुष्याः पुनरायान्ति एवमत्राप्यागमिष्यन्तीति भावः. **यतो जनाः** जायमानाः, न तु उत्तमाधिकारिणः. स्वसम्बन्धख्यापनार्थमेव परं भगवान् प्रकटः ॥९॥

एवं तासां कृत्यमुक्त्वा ताभिर्भगवत्कृत्यमाह **ताभिरिति**.

टिप्पणी

नामसम्भावितमित्यर्थः. **एवमत्रापीति**. एतास्तु न लौकिक्यो नापि प्रसिद्धमुक्तिमार्गीयाः किन्तु बहिः प्रियसंगमाभिलाषवत्यो, भगवांश्च एतन्मनोरथं पूरयत्येवेति तथैव संपत्स्यत इत्यर्थः ॥९॥

प्रकाशः

अन्यतरापेक्षम्" इति सूत्रे. टिप्पण्यां **एतादृशीनामसम्भावितम्** इति वादिमतम् **एवमत्रापीति** इति समाधानं च. सुबोधिन्यां **प्राज्ञ** इति, सुषुप्तिसाक्षी भगवान् **प्राज्ञ**शब्देन उच्यते.] **स्वाप्यय** इत्यादि, स्वाप्ययः सुषुप्तिः, "स्वमपीतो भवती"ति श्रुतेः. तत्र भगवदाविर्भावः "एवमेवायमात्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त" इति श्रुतौ सम्परिष्वङ्गकथनेन बोधित इत्यर्थः. [**जना** इति, **यनाः** यननशीलाः (जना जननशीला!)] **अधिकारिण** इति संसाराधिकारिणः. एतस्यैव व्याख्यानं **यत** इत्यादि. [**नन्विति**, ननु अनुत्तमाधिकारिणां जनानां सुषुप्तौ कथं भगवदावेशः तत्राह **स्वसम्बन्धेति**.] नन्वेवं तत्तौल्ये "तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्तीति, सति सम्पद्य न विदुः, सति सम्पद्यामह" इत्यादिश्रुत्या तत्राज्ञानकथनादत्रापि तथा स्यादित्यत आहुः **स्वसम्बन्धे**त्यादि. तथा च तादृशावस्थायामपि यद् ज्ञानं तत्परोक्षभजनदशायामपीदानीमिवाहं स्थितः परं भवतीभिर्न ज्ञात इति तदानीन्तनस्वसम्बन्धख्यापनार्थमिदानीं प्रकट इति नाज्ञानमित्यर्थः. एतेन दृष्टान्तवैलक्षण्यमपि बोधितम्. तदेव टिप्पण्यां विवृतम् **एतास्तु ने**त्यादिना. अतो मुक्ताधिकारवैलक्षण्यमात्रएव दृष्टान्त इति भावः ॥९॥

लेखः

तासां कृत्यमिति, अयं "काचित् कराम्बुजं शौरे"रित्यारभ्य सर्वेषा-

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥१०॥

तासां सम्बन्धे प्राकृतीनां भगवतोऽन्यथात्वं शङ्क्येत, तन्निवर्त्यते. [1]अन्यथा स्वार्थमेव भगवत्तिरोधानं स्यात्, "स नैव व्यरमत्[2], तस्मादेकाकी न रमत" इति श्रुतेः. लोकोऽपि केवलं भगवन्तं पश्यन् न निर्वृतो भवति

टिप्पणी

ताभिर्विधूतेत्यत्र प्राकृतीनामिति प्राकृतीत्व इत्यर्थः ॥१०॥

प्रकाशः

ताभिर्विधूतेत्यत्र. [मूले **तात** इति हे राजन्. **भगवतोऽन्यथात्वमिति** कश्चित् प्राकृतत्वम्[3].] ननु भगवतः सर्वदैव रोचमानत्वेन परापेक्षाभावादत्र ताभी रुच्याधिक्यं किमित्युच्यत इत्याकांक्षायामाहुः **तासामित्यादि.** तथा च तासां तथात्वे भगवतः प्राकृतवत् क्षीणरसत्वं शंक्येतेति तन्निवृत्त्यर्थं तथोच्यत इत्यर्थः. ननु तदनिवृत्तौ को दोष इत्यत आहुः **अन्यथेत्यादि. स्वार्थमिति** रमणाभावार्थम्. [**भगवत्तिरोधानमिति**, तिरोधानं न कृतवान्, यदि स्वार्थ-परः भगवान् स्यात्. प्रणिपातादिना लौकिकवत् मानापनोदनं तदा कृतवान्.] ननु रसरूपत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वात्कथमेतच्छङ्कोदय इत्यत आहुः **स वा** इत्यादि. तथा च सिद्धे रमणाभावे तदिवेदमपि रमणं कादाचित्कं स्यात्, ततश्च पूर्वाशंकापुष्टौ रसरूपत्वमपि तथा स्यात्, "प्रशमाय प्रसादाये"ति पूर्वोक्तमपि विरुध्येतेति तन्निवृत्त्यभावे दोष इत्यर्थः. तथापि दृष्टान्तस्य किं

लेखः

मनुवादो ज्ञेयः. दृष्टान्तेन पुनरागमनरूपं कृत्यमस्मिन्नपि श्लोके निरूपितमिति भावः. **ताभिरिति, ताभिः** सह स्थितस्य **भगवतः कृत्यम**धिकशोभासम्पादन-मित्यर्थः. **ताभिरित्यत्र, अन्यथात्वमिति,** भगवतोऽपि प्राकृतत्वं शङ्क्येत, अतस्तासां प्राकृतीत्वं शोभाकथनेन निवर्त्यत इत्यर्थः. उपपादयन्ति **अन्यथेति,** तासां प्राकृतीत्वे तत्सम्बन्धेन स्वस्यापि प्राकृतत्वेऽलौकिकशोभातिरोभावशङ्कया भगवत्तिरोधानमिति स्यात्, कुतस्तरां तत्सहितस्य शोभेत्यर्थः. **स नैवेति, इति श्रुतेः** रिरंसायामपि सत्यां यत्तिरोहितवांस्तत्पूर्वोक्तशङ्कयैव **स्यादिति**

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्.

२. रेमे इति पाठः. ३. प्राकृतत्वं कश्चित् शंक्येत इति अन्वयो अवभासते - सम्पा.

किन्तु सर्वशक्तियुक्तं परं, "पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न"ति वाक्यात्. पूर्ववत् ता दुःखिताश्चेत् तदोत्तमता न भवतीत्याह **विधूत-शोकाभिरिति. ताः** पूर्वोक्ताः; गुणास्तासामुक्ताएव, सर्वथा प्रपन्ना इति. मध्ये शोकः समजनि. तस्मिन्निवृत्ते यथापूर्वमेव ताः. **भगवांश्च** षड्गुणैश्वर्ययुक्तः. तथापि प्राकृत इव यदि परिच्छिन्नकामः स्यात् तथापि वैलक्षण्यात् न रोचेत, भगवाँस्तु पूर्णकाम इत्याह **अच्युत** इति. अतः **ताभिर्वृतः अधिकं व्यरोचत**

प्रकाशः

प्रयोजनमत आहुः **लोकोऽपी**त्यादि. [**निर्वृतो** आनंदितः. **पुंसः स्त्रियाश्चे**ति दशमस्कन्धे श्रीरुक्मिणीवाक्यं श्लोकम्. रमणे अतिशोभा पुंसः स्त्रियोः (पुंस्त्रियोः!) सुखसहितयोः भवति, न तु एकःसुखी एको दुःखी सत्यां भवति (एकः सुखी अपरस्यां दुःखिन्यां सत्यां भवतीति भावः!). **गुणा** इति सर्वात्मभावसहिता गुणाः. **यथापूर्वमेवे**ति प्रेमपूर्णः. **परिच्छिन्नकाम** इति स्वल्पः. **वैलक्षण्यादि**ति बहुव्रीकात्. **अच्युत** इति नास्ति क्षरणमिति. **आह** इति, सहजस्वभावात् ताभिः वृतः सन् अधिकं व्यरोचत् इति ताभिः कृत्वा अधिकशोभा चेत्, प्राकृतत्वं भगवति आयाति परन्तु राजा "शुकोक्तं सर्वं सत्यमेव" इति शुकस्य हृदयं पुष्णाति विश्वासेन; तथा च विश्वासेन सन्तुष्टः

लेखः

पूर्वोक्तेनैवान्वयः. **लोकोऽपी**ति. ताः स्वसहितस्य भगवतो दर्शनेन निर्वृताः न तु पूर्वाध्यायद्वयवद्भावनया केवलदर्शनेनेति पूर्वश्लोके निरूपितं, लोकोऽपि तथैवेत्यपिशब्दः. **परमि**ति, दुःखितत्वेऽपि लोकनिर्वृतिस्तु भवति परन्तु भगवति रसोत्तमता न भवतीत्यर्थः. **परिच्छिन्ने**ति, काल**परिच्छिन्नो**ऽनित्यः **कामो** यस्येत्यर्थः. एतासामपरिच्छिन्नकामत्वं **ताभिरि**त्यनेन स्मारितया सर्वथा प्रपत्त्या निरूपितम्. अनित्यकामत्वे कामाभावदशायां प्रपत्त्यभावात् सर्वथा प्रपत्तिर्न भवेदिति भावः. तथा च भगवतः परिच्छिन्नकामत्वे वैलक्षण्यं स्यादित्यर्थः. **भगवांस्त्वि**ति **तु**शब्देनैतासां व्युदासः. भक्तानामपि पूर्णकामत्वे भगवदपेक्षा न स्यादिति "आनन्दादयः प्रधानस्ये"ति सूत्रे निरूपणादिति भावः. एता अपरिच्छिन्नकामाः, भगवाँस्तु पूर्णकामएव, अतस्तत्कामस्य परिच्छेदः सम्भावयितुमपि न शक्य इत्यर्थः. **अत** इति, उभयोरपरिच्छिन्न-कामत्वादित्यर्थः. **व्यरोचते**ति, शोभाया अन्यदर्शनसापेक्षत्वेऽप्यन्योन्यमेव

सहजापेक्षया. उक्तार्थविश्वासेन हि श्रोता वक्तारं पुष्णातीव पितेव पुत्रं स्वार्थम्. अतएवाग्रेऽतिगुप्तार्थकथनेन वक्ता श्रोतारं सुखयति, अन्यथानधिकारिणं मत्वा न वदेदलौकिकमर्थम्. प्रकृते चास्मिन्नर्थे राज्ञो विश्वासं दृष्ट्वातिसन्तोषेण स्नेहेन, न पितृत्वेन, सम्बोधयति **ताते**ति. नन्वेवं सति भगवत्कान्तेः तारतम्यात् सहजत्वं न स्याद्, अत आह **पुरुषः शक्तिभिर्यथे**ति. यथायं प्राकृतोऽपि पुरुषः सर्वसामर्थ्येषु लीनेषु लोकप्रतीत्या न रोचत इव, स चेत् क्रियाज्ञानादिशक्तीराविष्करोति तदाधिको रोचते, तथा अयमपि **भगवान्** रोचमानएव प्रकटासु शक्तिषु गोपिकासु सर्वप्रतीत्या[१] भावुकानामप्यन्तःकरणेन **अधिकं व्यरोचत** अतिसौन्दर्यं प्राप्तवान्. ततो **भगवान्**, परमानन्दयुक्तः स एव, "एष ह्येवानन्दयाती"ति श्रुतेः ॥१०॥

तासामानन्दजननार्थं यत् कृतवाँस्तदाह **ताः समादाये**ति.

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ।
विकसत्कुन्दमन्दार-सुरभ्यनिलषट्पदम् ॥११॥

ताः सम्यग् आदाय समीचीने **पुलिने निर्विश्यो**पविश्य **विभुर्जा**तः.

प्रकाशः

शुकः **तात** इति सम्बोधनं राजार्थे वदति. अतः तत्समाधानाय **पुरुषः शक्तिभिरि**ति. **इवे**ति, पाचक-पाठकादिसामर्थ्यगुप्तेषु लोकप्रतीत्या न रोचते परन्तु तस्मिन् ताः क्रिया सन्त्येव, लोकप्रतीत्यां सत्याम् अधिकं व्यरोचत इत्यर्थः. **परमानन्दयुक्तः** कृष्णः. **ह्येवानन्दयाती**ति, आनन्दयति इति वैदिके आनन्दयाति.] ॥१०॥

[**विभुर्जात** इति **जात** इति शेषः. **द्यती**ति, कलिं कलहः परस्परविवादो,

लेखः

स्वस्वसहितदर्शनं, तद्भावयितॄणां भक्तानां च भावनया तद्दर्शनमित्याहुः **सर्वप्रतीत्या भावुकानामप्यन्तःकरणे**नेति ॥१०॥

ताः समादायेत्यस्याभासे **यत्कृतवानि**ति, विभुत्वं प्रकटितवानित्यर्थः. अत्र श्लोके क्रियाया अनुक्तत्वात् क्रियान्तराध्याहारापेक्षया स्वरूपधर्मविभुत्व-प्राकट्यकथनमेव वरमित्याशयेनाहुः **विभुर्जात** इति, व्यापको जातः सर्वासामेव निकटे स्थितो जात इत्यर्थः. **तासामन्योन्यमि**ति, मदो

१. सर्वप्रीत्या इति ब. पाठः.

कालिन्दी कलिन्दकन्या, "कलिं द्यती"ति कलिन्दः, अतस्तस्याः **पुलिने** तासामन्योन्यं भगवता वा कलहो न भविष्यतीति ज्ञापितम्. पुलिनं वर्णयति क्रीडायोग्यत्वार्थं सार्धेन— सर्वत उपरि अधश्चेति. प्रथमतः सर्वतः सौभाग्यमाह **विकसन्ति कुन्दमन्दारपुष्पाणि** तेषां **सुरभ्यनिलः षट्पदा** भ्रमराश्च यत्र. वायोस्त्रयो गुणाः स्पष्टाः. मकरन्दोऽपि पुष्पेष्वधिकः. तेन मत्ता भ्रमरा अपि नादसाधकत्वेन गानादावुपयुज्यन्ते. विकासो वाय्वर्थएव. कुन्दगन्धः शान्तः मन्दारगन्धः पुष्टः, तेन गुप्तागुप्तकामयोरुद्बोधको निरूपितः. [१](शत्रन्तोक्त्या

प्रकाशः

तं द्यति खण्डयतीति कलिन्दः. **अधश्चेति**, इति स्थलस्य त्रिभिः प्रकारैः क्रीडोपयोगित्वमाह. **त्रयो गुणा** इति, पुलिनसम्बन्धेन शीतः कुन्दादिसम्बन्धेन सुरभिः अतिमकरन्देन मन्दत्वम् इति त्रिगुणो वायुः. **वाय्वर्थ** इति, वायुसुगन्धार्थे पुष्पाणां विकासः. **शान्त** इति मधुरः, **पुष्ट** इति उग्रः.

लेखः

मानश्चेत्यर्थः. स्वस्मिन् सर्वत आधिक्यज्ञानरूप-मदेनैवान्योन्यसापत्न्यभावेन कलहो भवतीति भावः. अत्र पुलिने यमुनायाः कलिखण्डनरूपो धर्मः प्रकट इति पूर्वलीलापुलिनाद्विशेषः. तत्र तु मदमानौ सम्भविष्यत इति यमुनाया एतद्धर्माप्राकट्यं सूचयितुं "नद्याः पुलिनमाविश्ये"ति श्लोके 'नदी'पदमेवोक्तम्. **षट्पदा भ्रमराश्चेति**, **तेषामित्यस्यात्राप्यन्वयः**. तथा च सुरभ्यनिलश्च षट्पदाश्चेति द्वन्द्वं कृत्वा विकसत्कुन्दमन्दाराणां ते यत्रेति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः कर्तव्य इति भावः. वायोर्गुणान्तराकथने हेतुमाहुः **स्पष्टा** इति. एवं समासे तात्पर्यमाहुः **मकरन्दोऽपीति**, उभयत्र पुष्पसम्बन्धकथने **पुष्पेष्वधिको मकरन्दोऽपि** उक्तो भवति, भ्रमरा अपि तत्सम्बन्धान्मत्ता इत्युक्तं भवेत्. **भ्रमरा अपि** इति स्यादिति शेषः. **मन्दारैः सुरभिरिति** तृतीयासमासे तु भ्रमरेषु पुष्पसम्बन्धाभावान्मादो नोक्तः स्यादिति भावः. भ्रमरेषु मादकथनप्रयोजनमाहुः **नादेति**, यत इति शेषः. अधुना विकासस्य प्रयोजनमाहुः **वाय्वर्थमिति**, वायौ स्वगन्धसम्पादनार्थं न तु पूर्ववत् प्रसूनावचयेन वेण्यादिषु प्रसूनस्थापनार्थमित्येवकारः. **परितो जलमिति**, पुलिनस्य विशेष्यत्वादस्मिन्नप्यर्थे जलमुक्तमेवेति भावः ॥११॥

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्.

प्रभुनिवेशनसमये एव विकासारम्भो न तु पूर्वमपीति ज्ञाप्यते. अन्यथा 'विकसिते'ति वदेत्. एवं सति यस्मिन् क्षणे यस्यार्थस्योपयोगः तस्मिन्नेव क्षणे तत्कार्यं भवति नान्यदेति लीलामात्रोपयोग्येवात्रत्यं [1]सर्वमपि इति ज्ञापितं भवति. अन्यथा सार्धाध्यायत्रयोक्तलीलायां क्रियमाणायां भूयस्येव रात्रिरतीतेत्यधुनैव विकासे हेत्वन्तराभावात् स न भवेद्, अतएव न वदेदपि. एवं सत्येतादृक्कुन्दादिसम्बन्धित्वेनोक्तत्वादनिलादयोऽप्यधुनैव प्रवृत्ताः न पूर्वमपीति ज्ञेयम्.) स्वतन्त्रतयापि सौरभ्यप्रतीत्यर्थं सुरभिरनिल उक्तः. एवं परितो जलं, परितः सुगन्धः, परितः पुष्पाणि, परितो वायुः, परितो नाद इति निरूपितम् ॥११॥

उपर्युक्तमताामाह **शरदिति**.

शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमःशिवम् ।

कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम् ॥१२॥

शरत्कालीना ये **चन्द्रांशवः** तेषां ये **सन्दोहाः** समूहाः तैर्ध्वस्तं **दोषाया** रात्र्यास्**तमो** यत्र, तेन अत्यन्तं **शिवं** कल्याणरूपम्. अन्धकारे गतेऽपि यदि भूताद्यभिनिविष्टं भवेत् तथापि तदाप्यसमञ्जसमिति कल्याणरूपता निरूपिता, निर्विघ्नमग्रिमेष्टकार्यसम्पादकत्वज्ञापनाय च– परितश्च निकृष्टाः पदार्थाः

प्रकाशः

शत्रन्तोक्त्या इति, शत्रन्तप्रयोगे वर्तमानार्थे **विकसदिति**. **हेत्वन्तराभावादिति**. सार्धाध्यायलीलाकरणे रात्रिः सार्धप्रहरिका गता भवति. तत्समये विकसितं कुन्दादि इति लीलासमये विकास सूचितम्(तः!). अन्यथा सार्धप्रहररात्रे विकासः कथं वदेत् हेत्वन्तराभावात् ॥११॥]

लेखः

शरदित्यत्र, शिवत्वे हेत्वन्तरस्यानुक्तत्वात् समभिव्याहारेण पूर्वविशेषणमेव हेतुरित्याशयेनाहुः **तेनात्यन्तं शिवमिति**. अर्धद्वयार्थमुपसंहरन्ति

योजना

शरच्चन्द्रांशुसन्दोहेत्यस्य विवृतौ **परितश्च निकृष्टाः पदार्था नोपर्यधश्चेति, परितः उपरि अधश्च निकृष्टाः पदार्था ने**त्यन्वयः. सर्वत्रैवोत्कृष्टाः पदार्थाः सन्तीति भावः ॥१२॥

---

१. सर्वम् इति ब. पाठः.

नोपर्यधश्च. अधस्तस्य पुलिनस्य गुणानाह **कृष्णेति**. सापि भगवत्सनाम्नी भूसंस्कारं कृतवती भगवद्रमणार्थम्. **कृष्णाया हस्तरूपाः तरलास्तरङ्गाः** तैः **आचिताः कोमलवालुका** यत्र. अन्यथा हस्तरूपताभावे समता न स्यात्. तेन शैत्यं कोमलत्वं समता चोक्ता. तादृशं पुलिनं निर्विश्य तत्र गत्वा वा स्थितः. उपवेशनमग्रे वक्ष्यति. भावेनैवोपवेशनम् ॥१२॥

ततो गोपिकानां कृत्यमाह **तद्दर्शनाह्लादेति.**

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥१३॥

शोके गतेऽपि कामस्तापात्मको वर्ततएव, सम्बन्धस्याजातत्वात्. यदा पुनस्तादृशस्थाने तदर्थं गतः तदा **तद्दर्शनेन** तस्य तदवस्थामापन्नस्य दर्शनेन योऽयम**ाह्लादः** भाव्यर्थनिश्चयात् तेन **विधूताः हृद्रुजो** यासाम्. एवं निवृत्ते दोषे तासां यज्जातं तदाह **मनोरथान्तं ययुरिति**. ताभिर्यथाकथञ्चित्

प्रकाशः

[**ज्ञापनाय चेति**, ज्ञापनाय च कल्याणरूपता निरूपिता. **सापीति** कृष्णा. **आचिताः** समाः ॥१२॥]

श्रुतयो यथेत्यत्र, [**वर्तत एवेति**, स्पर्शसंगमनं जातम् अतः तापो वर्ततएव. **तादृशस्थाने** रमणयोग्यस्थाने. **तदर्थं** रमणार्थम्. **तस्येति**, **तस्य** भगवतः **तदवस्थापन्नस्य** उद्बुद्धरसात्मकस्य. **भाव्यर्थनिश्चयादिति**, भावि अर्थः सुरतं, तस्य निश्चयो जातः; तेन विधूतहृद्रुजो यासाम्. **निवृत्ते दोषे** इति हृद्रुजे. **मनोरथान्तमिति**, स्वल्पं प्रार्थितम् अनन्तगुणं प्राप्तमिति

लेखः

परितश्चेति; **नेत्यस्य** देहलीदीपन्यायेनोभयत्राप्यन्वयः. **पुलिनं निर्विश्येति विभुर्जात** इति पूर्वानुसन्धानेनान्वयः. विभुत्वस्य सार्वदिकत्वादधुना प्राकट्यारुच्या पक्षान्तिरमाहुः **तत्रेति**, निर्विश्य स्थित इत्यर्थः. अधुनोपवेशनाकथने हेतुमाहुः **भावेनैवेति**, ताभिर्भावेनासने कृते **सत्युपवेशनं** भवतीति शेषः. अतोऽ**ग्रे वक्ष्यतीत्य**न्वयः ॥१२॥

गोपिकानां कृत्यमिति, मनोरथान्तप्राप्त्या आसनक्लृप्तिरित्यर्थः. **तद्दर्शनेत्यत्र**. "विधूतशोकाभिरि"त्युक्तत्वा**द्विधूतहृद्रुज** इति पुनरुक्तिर्भवेदि- त्याशङ्क्याहुः **शोके गतेऽपीति**. अत्र **मनोरथस्यान्तो** यत्र तादृशमानन्दं **ययुः**

सम्बन्धोऽभिलषितः, जातस्तु ततोऽनन्तगुणसामग्रीसहितः, अतो **मनोरथ-स्याप्यन्तो** यत्र तादृशं **ययुः.** नन्वनभिलषितं कथं प्राप्नुयुः? तत्राह **श्रुतयो यथेति.** श्रुतयो हि निरन्तरं भगवद्गुणवर्णनपराः. तेन धर्मेण वाचः पूर्वरूपं यन्मनः तस्यापि यदगम्यं भगवत्स्वरूपं तत् प्राप्तवत्यः. "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे"ति भगवदानन्दो मनोरथान्तो भवति, तत्प्रतिपादिकाः

टिप्पणी

श्रुतयो यथेत्यत्र, श्रुतयो हीत्यारभ्य युक्ति[1] **वेत्यन्तम्.** अत्रायं भावः. श्रुतिष्वस्त्यंशद्वयम्– भगवत्स्वरूपानुभूतिः अन्येषां तत्सम्पत्तौ साधनत्वं च. तत्र स्वशक्त्यैव चेत्तदनुभवो जातो भवेत्तदा "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे"ति न वदेयुः. भगवदनुग्रहेणानुभवैकवेद्यत्वाभावे श्रुतीनां वाग्रूपत्वादेवं कथने वदद्व्याघातश्च स्यात्. अतः श्रुतीनां पूर्वं तदप्राप्तिः, सततं तद्गुणवर्णनेन तदनुग्रहात्पश्चादनुभवो भगवदानन्दस्येति तथोक्तिरिति मन्तव्यम्.

प्रकाशः

मनोरथान्तम्. **तादृशमिति** सम्बन्धम्.] **तादृशमिति** अवाङ्मनसगोचरम्. ननु श्रुतीनामवाङ्मनसगोचरप्राप्तिर्न प्रसिद्धेति दृष्टान्तसङ्गतिः कथमित्याशङ्क्य तासां तामुपपादयन्ति **श्रुतयो** हीत्यादि. [**भगवत्स्वरूपमिति**, यतो यस्माद् वाचः मनसा सहैव अप्राप्य निवर्तन्त एतादृशम् अगम्यम् अप्राप्यं भगवत्स्वरूपम्. ततएव भगवदानन्दं कथं प्राप्नुयुः? मनोरथान्तं कथं सम्भवति?] **प्राप्तवत्य** इति ज्ञातवत्यः. एवं प्राप्तिं प्रतिज्ञाय तत्र मानमाहुः **यत** इत्यादि. [**तत्प्रतिपादिका** इति ब्रह्मप्रतिपादिका.] ननु प्रतिपादनमात्रेण कथं प्राप्तिनिश्चय इत्याकांक्षायां तदुपपादयन्ति टिप्पण्याम् **अत्रायं भाव** इत्यादिना. [**तत्सम्पत्तौ** भगवत्सम्पत्तौ **साधनत्वं च** इति द्वयम्.] प्रथमांशं निश्याययन्ति **तत्र स्वेत्यादिना.** [**स्वशक्त्येति** श्रुतीनाम्. **तदनुभवो** ब्रह्मानुभवः. **वाग्रूपत्वादिति**, "निश्वसितमस्य वेदा" इति श्रुतेः.] **एवं कथन** इति वाङ्निवृत्त्युत्तरं विद्वत्त्वकथने. [**वदद्व्याघातश्चेति**, यदेव वदति तस्य व्याघातो इति दोषापत्तिः.] **स्यादिति**, तद्बोधकप्रमाणान्तराभावात्स्यात्. [**तदिति** ब्रह्मस्य-(णः!). **तद्गुणेति**, भगवद्गुणवर्णनेन **तदनुग्रहाद्** भगवदनुग्रहात्.] **मन्तव्यमिति** श्रुतार्थापत्त्या मन्तव्यमित्यर्थः. ननु "यतो वाच" इत्यत्र निषेधमुखेनैव

१. युक्तिर्वा इति ब. पाठः.

श्रुतयो जाताः. सर्वे च मन्यन्ते– "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि", "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम" इति, "सर्वे वेदा

टिप्पणी

एतदेवोक्तं **श्रुतयो जाता** इत्यन्तेन ग्रन्थेन. अपरश्च. "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी"त्यादिश्रुतिभ्योऽन्येषां भगवज्ज्ञानं श्रुत्यादिभिरेव भवतीति निश्चितम्. तच्च श्रुतीनां वाग्रूपत्वा"द्यतो वाचो निवर्तन्त" इत्यादिश्रुतिभ्योऽसम्भावितम्. एवं सत्युभयविरोधपरिहाराय श्रुत्युक्तभगवद्धर्मश्रवणेन तत्कृत्या च भगवदनुग्रहे भक्तौ जातायां स्वयमेव तदानन्दानुभवयोग्यता [1]भवतीति वाच्यम्. तदेतदुक्तं **सर्वे चे**त्यारभ्य **युक्ति**[2] **वे**त्यन्तेन ग्रन्थेन. एवं सति प्रकृतेऽशद्वयबोधनार्थमयं दृष्टान्तः. तेन सार्धाध्यायत्रयेण निरूपितस्नेहेन वशीकृतेन प्रभुणा कृत्वैतासां मनोरथान्तप्राप्तिः. अन्येषामपि कृतपुण्यपुञ्जानामेतदुक्तिश्रवणकीर्तनादिना एतद्भावानुसारेण भजनेन च भगवदानन्दानुभावो[3] भविष्यतीत्युक्तं भवतीति.

प्रकाशः

प्रतिपादनमभिप्रेतं न विधिमुखेनेति कथं तत्प्राप्त्यवगम इत्यत आहुः सुबोधिन्यां **सर्वे चे**त्यादि. तथा चोक्तश्रुतिस्मृतिभ्यां विधिमुखप्रतिपादनं सर्वैरेवाभियुक्तैरङ्गीक्रियते, तेन तथेत्यर्थः. [**तंत्विति**, **तम् औपनिषदम्** उपनिषत्प्रतिपाद्यं **पुरुषं पृच्छामि** इति वेदप्रतिपाद्यं निश्चितम्.] एतदेव टिप्पण्यां विवृण्वन्ति **अपरश्चे**त्यादिना. [**उभयविरोध** इति, वाग्रूपत्वे सति "यतो वाचो निवर्तन्त" इत्यादि न सम्भवति (इति!) उभयविरोधः. **तत्कृत्या** इति करणेन. **जातायां** सत्याम्.] **श्रुत्युक्तभगवद्धर्मः** सर्वभावेन भजनं, "यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमं स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते"ति गीतास्मृतेः. एवम् **अपरश्चे**त्यादि **वाच्यमि**त्यन्तेन द्वितीयांशो विवृतः. इदमंशद्वयं दार्ष्टान्तिके योजयन्ति **एवं सती**त्यादि **भवती**त्यन्तम्. [**मनोरथान्तप्राप्तिरि**ति, प्रभुणा एतासां मनोरथान्तप्राप्तिः. **कृतपुण्यपुञ्जानां** भक्तानाम्. **कीर्तनादिनेति आदि**शब्देन मननिदिध्यासने. **एतदि**ति व्रजभक्तभावानुसारम्.] नन्वभियुक्ताङ्गीकारमात्रेण श्रुत्यर्थो न निर्णेतुं शक्य इत्यतः सुबोधिन्यामाहुः **सर्वे वेदा** इत्यादि. [**आमनन्तीति** 'मना'भ्यासे धातुः.

१. योग्या भवन्तीति ब. पाठः. २. युक्तिर्वेति ब. पाठः.
३. °नुभवो इति मू.पा.स्तु ब.पाठानुसारेण संशोधितः.

यत्पदमामनन्ति" इत्यादिवाक्यैः ब्रह्मणि श्रुतयः प्रमाणमित्यध्यवसीयते;

प्रकाशः

सर्ववेदान्तप्रत्ययमिति सूत्रम्.] तथा च प्रत्यक्षश्रुत्या व्यासवाक्येन च विधिमुखप्रतिपादनमेव निर्णीयत इत्यभियुक्ताङ्गीकारोऽपि तदनुसारित्वात्तथेत्यर्थः. ननु विधिमुखप्रतिपादनस्य पदपदार्थसम्बन्धाधीनत्वाद् ब्रह्मणोऽ-

लेखः

प्राप्तवत्य इत्यर्थः. **श्रुतयो जाता** इत्यन्तेन भगवत्स्वरूपानुभूतिरूपष्टिप्पण्युक्तः श्रुत्यंशो निरूपितः, द्वितीयांशमाहुः **सर्वे चे**ति, श्रुतिभ्य इति शेषः, **सर्वे** श्रुतिभ्य एव भगवत्स्वरूपं **मन्यन्ते** जानन्तीत्यर्थः. एतस्य द्वितीयांशत्वसूचनाय

योजना

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुज इत्यस्य विवृतौ **तत्प्रतिपादिकाः श्रुतयो जाता** इति **सर्वे च मन्यन्त** इति, वेदैर्ब्रह्म प्रतिपाद्यते इति लोका मन्यन्ते इत्यर्थः. लोका वेदानां ब्रह्मप्रतिपादकत्वं मन्यन्ते तत्र किं मानमित्याकांक्षायां श्रुति-भगवद्गीतावाक्य-श्रुतीरुपन्यस्यन्ति– "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" "अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति". "तं त्वौपनिषदमि"त्यत्र प्रश्नकर्त्र्या औपनिषदत्वं ब्रह्मण उच्यते, अत उपदेशात्पूर्वमेव प्रष्टुरेतावज्ज्ञानमस्ति यद् "उपनिषत्प्रतिपाद्यं ब्रह्मे"ति. अतो "वेदप्रतिपाद्यत्वं ब्रह्मणो लोका मन्यन्ते" इति यदुक्तं तत्सत्यमेव. भगवतापि गीतासु "वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम" इत्यनेन वेदप्रतिपाद्यत्वमुक्तम्. **सर्वे वेदाः** पदरूपं पद्यते प्राप्यत इति **पदं** प्राप्यं **यद्** ब्रह्म **आमनन्ति** अभ्यस्यन्तीत्यर्थात् वेदप्रतिपाद्यत्वमुक्तम्. अतो वेदैर्ब्रह्म प्रतिपादितमिति मनोरथान्तप्राप्तिः श्रुतीनाम्. सा च भगवदनुग्रहेणैव, अन्यथा "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे"ति श्रुतेर्मनोवागप्राप्यस्य प्रतिपादनं कथं स्यात्? अतो मनोरथस्यापि यत्र गतिर्नास्ति तादृशं ब्रह्म श्रुतयो निरूपयन्ति. तद्भगवतोऽनुग्रहविशेषसाध्यम्. तथा व्रजसुन्दरीणां मनोरथान्तप्राप्तिः. अत्र भौतिक्य शब्दात्मिकाः श्रुतयो दृष्टान्तरूपाः, आधिदैविक्यो व्रजसुन्दरीसंज्ञकाः श्रुतयो दार्ष्टान्तिकाः. अतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः श्रुत्योरेव, व्रजवरवधूटीनामपि श्रुतिरूपत्वात्, "न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किले"ति भृगुं प्रति बृहद्वामनपुराणे ब्रह्मवाक्यात्, "गोप्यो गावरुचस्तस्ये"ति कृष्णोपनिषद्धि-

"सर्ववेदान्तप्रत्ययमि"ति न्यायाच्च. अलौकिको वेदार्थः अलौकिका वेदशब्दाः, लोके च न सङ्केतः, तथापि निरन्तरं भगवत्कार्यं कथयन्तीति लोकाः

प्रकाशः

लौकिकत्वेन तत्र पदानां सम्बन्धासम्भवे तद्ग्रहस्याप्यसम्भवात्कथं तथा प्रतिपादनं? कथं वा तन्निश्चायकस्तेषां तादृशो बोधोऽङ्गीकर्तुं शक्य इत्यत आहुः **अलौकिक** इत्यादि. परानपेक्षप्रामाण्ये वेदे जैमिनिनार्थानुपलब्धावप्यव्यतिरेकाच्चोदनांशस्य यथाऽलौकिको धर्मोऽर्थः स्वीकृतः, तथा "हिरण्यपर्णप्रदिवस्ते अर्थमि"त्यादिभिः प्रत्यक्षैर्मन्त्रवर्णैर्यजमानर्त्विजां वेदादेव स्वस्वकार्यावगमप्रत्यक्षाज्ञमदग्नीनां पश्चावत्तमित्याद्यनुमानाच्च व्यासपादैर्मन्त्राद्यंशस्याप्यलौकिकः पुरुषावयवरूपोऽर्थः स्वीकृतः; **शब्दाश्च** स्वरादिवैशिष्ट्यादिना स्फुटमेव**अलौकिकाः**, अतो **न** तेषां **लोके संकेतः, तथापि** जैमिनीयानुसारेणाकृतौ व्यासचरणोक्तपक्षान्तरानुसारेण प्रवाहे वा शब्दसम्बन्धमवधार्य तच्छ्रवणे लोकाः प्रवर्तन्ते. परं वेदशब्दास्तु पूर्वोक्तश्रुत्या **निरन्तरं भगवत्कार्यं कथय-**

लेखः

चकारः. नन्वेवं सति वागगम्यत्वं स्यादित्यत आहुः **अलौकिक** इति. वेदप्रतिपादितो यज्ञस्तदङ्गभूताः पश्वादयश्च भगवत्तदवयवभूताः, अन्यथा लोकसिद्धानुवादकत्वे अनधिगतार्थगन्तृत्वाभावात् प्रामाण्यं न स्यादित्यर्थः.

योजना

गोपिकानां श्रुतिरूपताकथनात्. **अलौकिका वेदशब्दा** इति. वेदे येऽग्निवाय्विन्द्रादिशब्दा दध्यादिशब्दास्ते सर्वे न लौकिकाः. अतएव "वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः" इत्यनेन वेदाक्षराणां हरिनामत्वमुक्तम्. यत्र हरिनामत्वेनाक्षराणामलौकिकत्वं तत्र तादृशाक्षरसमुद्भूतशब्दानामलौकिकत्वं(त्वे!) किं वाच्यमित्यर्थः. "निःश्वसितमस्य वेदा" इति श्रुतेर्वेदस्य भगवन्निःश्वासरूपत्वमुक्तम्. वेदाश्च "इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थो" इत्यादिशब्दरूपाः. अतः शब्दानामलौकिकतैव, "वेदो नारायणः साक्षादि"ति वाक्याच्च. **लोके च न संकेत** इति, एतेषां शब्दानामलौकिकत्वादेषां लोके संकेतो नास्ति. लौकिकशब्दसादृश्यं दृष्ट्वा लौकिकसंकेतबलेनार्थकल्पनायां तु वेदार्थो यः कल्प्यते, न स वेदार्थः. अतो वेदानां संकेताभावादर्थज्ञानं दुर्लभमिति कृष्णानुग्रहैकलभ्यो वेदार्थ इति

तच्छ्रवणेन शुद्धान्तःकरणाः स्वयमेवालौकिकविषये सामर्थ्यं मन्यन्ते. श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिका भगवदिच्छया, नात्र लौकिकं साधनमपेक्षते युक्तिं वा. तथा

टिप्पणी

ननु सर्वथा वागविषयत्वे त्वेवं कथनमपि न सम्भवति, अनेनैव प्रकारेण तथात्वस्य प्राप्तेः. किञ्च. भगवदानन्दानुभवहेतुत्वेन हि गुणवर्णनं श्रुतीनां पूर्वमुक्तं तदप्येवं बाधितं भवेत्. तथा सत्येवं निरूपणमपि बाधितम्, अतो निषेधमुखेनैव वाग्विषयत्वं न विधिमुखेनेत्यस्याः श्रुतेस्तात्पर्यमिति चेत्, तत्राहुः **श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिके**त्यादि. प्रतिपादनं हि तद्बोधकवाक्यकथनं,

प्रकाशः

न्तीति तच्छ्रवणेन तद्बलेन **शुद्धान्तःकरणाः** सन्तो यथौत्पत्तिकमनीषया हर्यश्वादयो नारदीयवाक्कूटार्थमवधारितवन्तः, तथा **स्वयमेव** पूर्वोक्तेऽ**लौकिके विषये** तेषां **सामर्थ्यं मन्यन्त** इति तद्ग्रहे सति सुखेन विधिमुखप्रतिपादनं तथा बोधश्चाङ्गीकर्तुं शक्य इत्यर्थः. शुद्धान्तःकरणैरप्यलौकिकार्थविषयकविधिमुखबोधस्य वाग्रूपवेदशब्दजन्यताया एवाङ्गीकारात् पुनराशंकान्तरं टिप्पण्यामाहुः **नन्वि**त्यादि. **एवं कथनमि**ति निरन्तरं भगवत्कार्यं कथयन्तीति कथनम्. **तथात्वस्ये**ति कार्योक्तिद्वारा भगवत्स्वरूपे वाग्विषयत्वस्य. **एवमि**ति भगव-

लेखः

व्युत्पादितं च वैदिकसृष्टेर्भिन्नत्वं "शब्द इति चेन्नातः प्रभवादि"ति सूत्रे. **अलौकिका** इति तामसाहंकारकार्यशब्दरूपा नेत्यर्थः. अतएव नामसृष्टेर्व्यवस्था भिन्नैवोक्ता. तथाच सङ्केतग्रहाभावान्न शब्देन ज्ञानं किन्तु चित्तशुद्ध्या स्वरूपयोग्यता सम्पाद्यते इत्यर्थः. **स्वयमेवे**ति, भगवदनुग्रहादेवास्माकमलौकिकविषयज्ञाने सामर्थ्यं जातमिति मन्यन्त इत्यर्थः. ननु शक्तिग्रहाभावे तदुक्तधर्मज्ञानमपि कथं भवेदित्यत आहुः **श्रुतिश्चे**ति, भगवदिच्छयैव तद्बोध

योजना

भावः. **तथापि निरन्तरमि**त्यारभ्य **मन्यन्त** इत्यन्तं, वेदाः भगवद्यशो गायन्ति, अतो वेद**श्रवणेन शुद्धान्तःकरणाः** पुरुषाः वेदस्य **स्वयमेवालौकिकविषये** भगवत्स्वरूपविषये प्रतिपादनसामर्थ्यं[1] **मन्यन्त** इत्यर्थः. **श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिके**त्यारभ्य **युक्तिं** वेत्यन्तस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः.

१. प्रतिपादनम् इति मुद्रितः पाठः मांड.पाठमनुसृत्य संशोधितः.

टिप्पणी

बोधश्च न शक्तिग्रहं विना. लोके तद्वाचकशब्दाप्रसिद्ध्या सोऽपि न सम्भवति, अतस्तदर्थबोधो भगवदिच्छयैवेत्यर्थः. अतएव भगवतोक्त"मतोस्मि लोके वेदे च प्रथित" इति. मुक्त्युच्छेदाभावाय तथेच्छा. यदप्युक्तं "सर्वथा वागविषयत्वे"त्यादि, तत्राप्युच्यते– जीवानां सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं हि

प्रकाशः

त्स्वरूपस्य सर्वथा वाङ्मनसागोचरत्वे. **एवं निरूपणमि**ति दृष्टान्ते मनोरथान्तप्राप्तिनिरूपणम्. **तात्पर्यमि**ति, न तु पूर्वं सर्वथा वागविषयस्यानन्तरमिच्छया वाग्विषयत्वे. तथा च प्राप्तिमात्रे दृष्टान्त इति व्याख्याय विरन्तव्यम्, न तु मनोरथान्तप्राप्तिं कथञ्चित्प्रकल्प्य तत्र दृष्टान्त इत्यत्र यतनीयमित्यर्थः. समाधानं व्याकुर्वन्ति **प्रतिपादनमि**त्यादि. **बोध** इति वाक्यार्थबोधः. अयमर्थः. सर्वेषां मते वाक्यार्थबोधे पदजन्यपदार्थोपस्थितेस्तन्त्रत्वात्तस्याश्च पदशक्तिग्रहाधीनत्वात्तस्य च "शक्तिग्रहं व्याकरणे"तिश्लोकोक्तवाग्विशेषादिरूपकारणाधीनत्वात्तेषां च लोकवर्तिवाचकशब्दसापेक्षत्वादुक्तश्रुत्या वागादिनिवृत्तिकथनेन भगवत्स्वरूपवाचकशब्दाप्रसिद्धौ सिद्धायां तद्विषयकः शक्तिग्रहो न सम्भवतीति तन्मूलकस्तादृशस्वरूपप्रतिपादकवाक्यार्थबोधोऽपि लौकिकसाधनयुक्त्योरभावान्न सम्भवति. तथापि तस्य यो विधिमुखो बोधः स केवलं भगवदिच्छयैवेति. ननु स जायत इत्यत्र किं मानमत आहुः **अत एवे**त्यादि. अत्र हि क्षरातीतत्वकथनेन क्षरांशशक्तशब्दरूपाणां वाचां तादृशमनसश्चागोचरत्वं स्वस्य बोधितम्, अक्षरादुत्तमत्वकथनेन "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रृश्यमग्राह्यमि"त्यादिश्रुत्युक्त-परविद्यारूपवाचां तत्पूर्वरूपमनसश्चागोचरत्वं बोधितम्. तत एताभ्यामेव हेतुभ्यां स्वस्य पुरुषोत्तमत्वेन प्रथितत्वमुक्तं, तच्च तदगोचरत्वेन बाधितं सत् तदतीतत्व-तदुत्तमत्वाभ्यां पुरुषोत्तमत्वेन प्रथितत्वस्येच्छयैव लोकवेदगोचरत्वं बोधयतीति श्रुतार्थापत्तिरेव मानमित्यर्थः. तादृशेच्छायां प्रयोजनमाहुः **मुक्ती**त्यादि, "मोक्षमिच्छेज्जनार्दनादि"तिवाक्यान्मोक्षो भगवतएव. स च "तमेवं विद्वानि"त्यादिश्रुतेर्ज्ञानादेव. यदीच्छा न स्यात्तदा साधनान्तराभावेन ज्ञानाभावे मुक्त्युच्छेदएव स्यादतस्तदभावाय तथेत्यर्थः. ननु "शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूलमर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिरि"त्येकादशस्कन्धेऽपि निषेधमुखेनैव वाग्विषयत्वस्यादृतत्वा-

टिप्पणी

भगवान् वेदमाविश्चकार. तत्र येन रूपेण साधनात्मकेन यः पुरुषार्थो यादृशाधिकारिणः सिध्यति, तद्रूपं तं पुरुषार्थं तमधिकारिणं च श्रुतिर्निरूपितवती मोक्षपर्यन्तम्. एवं करणे संतुष्टो भगवान् यद्रूपं प्रकटीकृत्य यमानन्दं दत्तवान्, तद्रूपं स आनन्दश्च पूर्वं न ज्ञातौ, अधुनापि मनोवागविषय इत्येतादृशमपि फलात्मकं वस्त्वस्तीति ज्ञापनाय चाहुः "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चने"ति. अत्र पूर्वार्धमानन्दस्य विशेषणम्. तथा चैतस्मात्पूर्वं "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती"त्यादिना यद् भगवत्स्वरूपं निरूपितं तत्सर्वात्मभावैकलभ्यं न त्वन्यथेति ज्ञापयितुं सर्वात्मभावस्य निर्वचनमशक्यमिति तद्व्यञ्जकं धर्ममाहोत्तरार्धेन– एतादृश**मानन्दं यो विद्वान्** ज्ञातवान् वा स **कुतश्चन** लोकाद्वेदात्, किं बहुना परीक्षार्थं साक्षाद् भगवदुक्तोल्लङ्घनान्माना-दिदशायां तदतिक्रमादपि **न बिभेती**त्यर्थः. मोक्षसाधनस्य स्वकृतिसाध्यत्वेन तत्र श्रवणादीनि साधनान्युक्तानि, अत्र तु भगवदनुग्रहैकलभ्यत्वेन स्वकृत्य-

प्रकाशः

त्तदुपगमे को दोष इत्याकांक्षायामाहुः **यदपी**त्यादि. **येन रूपेणे**ति साधनात्मकेन. **निरूपितवती**ति, यथा वीणावादकस्येच्छादिना तत्तदर्थकशब्दाविर्भावो वीणातः तथा भगवदिच्छानुसारेण निरूपितवतीत्यर्थः. **एवं करणे संतुष्ट** इत्यादि **दत्तवानि**त्यन्तम्. यथा वैणिकेच्छानुरूपशब्दाविर्भावे वीणोपरि संतुष्टः स तां विविधविधाभिर्गोपायति, तथा श्रुतिभ्यो रूपं प्रकटीकृत्यानन्दं दत्तवानित्यर्थः. **एतस्मादि**ति फलरूपवस्त्वनुभवात्. शेषं स्फुटम्. तथा च निषेधमुखेन वाग्विषयत्वोपगमे स्वरूपबोधकस्य पदस्य सम्बन्धषष्ठीपक्षे ब्रह्मणः षष्ठ्याश्च विरोधएव दोष इत्यर्थः. न चैकादशीयवाक्यविरोधः, तत्रापि "यर्ह्यब्जनाभ-चरणे"त्यग्रिमे "साक्षाद्यथाऽमलदृशोः सवितृप्रकाश" इतिदृष्टान्तेनात्माविर्भाव एवात्मप्रकाशस्य बोधनादत्रोक्तस्यैव प्रकारस्य सिद्ध्या सर्वथा वागाद्यविषयत्वएव तात्पर्येण निषेधबोधे तात्पर्याभावात्. उक्तरीत्यादरे ""को अद्धा वेदे"ति, "वेदा अवेदा" इत्यादीनां "नायमात्मे"त्यादीनां स्वारसिकसङ्गतिसिद्धेश्चेति. तस्मान्मूले मनोरथान्तप्राप्तिपर्यन्तो दृष्टान्तः, न तु प्राप्तिमात्र इति सुबोधिन्युक्तं सर्वं निःसन्देहमेवेत्यर्थः ॥१३॥

एतासामपि मनोरथान्तप्राप्तिः. एवं परमपुरुषार्थदातुर्भगवतोऽन्यत्राभिनिवेशे आधारधर्मसम्बन्धात् स्वस्य कृतार्थता न भविष्यतीति पूजार्थमात्मनिवेदनार्थं च आसनं चक्रुरित्याह **स्वैरुत्तरीयैरि**ति. तद्देशस्थानां स्त्रीवस्त्राणि त्रीणि भवन्ति– परिधानीयं कुचपट्टिका उपरिवस्त्रं च. सर्वाभिरेव स्वोपरिवस्त्राणि आसनार्थं दत्तानि. उपरिवस्त्राण्यपि द्विविधानि भवन्ति– सर्वदा परिधेयानि भोगसमये च. तानि सूक्ष्माणि भवन्ति. तान्येव भगवते दत्तानीति ज्ञापयितुमाह **कुचकुङ्कुमाङ्कितैरि**ति. शुष्काण्यपि कुङ्कुमानि क्रीडायामार्द्राणि भवन्ति, अतस्तेनाङ्कितानि उत्तरीयाणि **अचीक्लृपन्** कल्पयामासुः. ननु स्वोपरिपिरिधेयं कथमधः कल्पयाश्चक्रुरित्याशङ्क्याह **आत्मबन्धव** इति, **आत्मनः** सएव **बन्धुः,** रक्षित आत्मा तदर्थमेव– देहः स्वात्मा च, अत उपर्याच्छादनमपि तदर्थमिति तस्यासनक्लृप्तिरुचिता ॥१३॥

टिप्पणी

साध्यत्वादनुवादएव कृत इति. **स्वैरुत्तरीयैरि**त्यस्याभासे **आधारधर्मसम्बन्धादि**त्यादि. स्वामिन्यो हि सर्वांशे स्वसम्बन्धमेव प्रियस्यापेक्षन्ते, तद्भावस्वाभाव्यात्; प्रभुश्च तदर्थमेवाधुना प्रकट इति न तदन्यस्य तत्सम्बन्धयोग्यतापि. अतएवाग्रे वक्ष्यति "कल्पितासन" इतीति भावः ॥१३॥

लेखः

इत्यर्थः. **आत्मबन्धवे** इत्यत्रात्मपदस्यार्थमाहुः **देहः स्वात्मा चे**ति ॥१३॥

योजना

स्वैरुत्तरीयैरित्यस्याभासे **आधारधर्मसम्बन्धात् स्वस्य कृतार्थता न भविष्यतीतीति.** यदि भगवते आसनार्थं स्वकीयवस्त्राणि न दद्युः तदा भगवान् स्वसम्बन्धातिरिक्तवस्तुन्युपविशेत्, तदा तावत्यंशे कृतार्थत्वाभावो भवेत्. पुष्टिमार्गे हि कृतात्मनिवेदनानां यस्मिन्क्षणे येन वस्तुना येनेन्द्रियेण वा भगवत्सेवोपयोगो न स्यात्, तस्मिन्नेव क्षणे तस्य वस्तुनस्तदिन्द्रियस्य कृतार्थता नास्तीति सिद्धान्तो निरुद्धानाम्. तथा च निरुद्धानां भक्तानां सर्वत्र सर्वेषु पदार्थेषु भगवत्सम्बन्धोऽभिलषितः; तत्सत्त्वे कृतार्थत्वं तदसत्त्वे ह्यकृतार्थत्वम्. अत आधारसम्बन्धाभावेऽप्यकृतार्थता स्याद्, अतः आसनं ददुरित्यर्थः ॥१३॥

ततो भगवान् तासु सर्वत्र निविष्ट इति ख्यापयितुं तद्दत्तासन उपविष्ट इत्याह **तत्रोपविष्ट** इति.

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥१४॥

भगवानिति तेषां कार्यसाधकत्वम्. ननूत्तरीयवस्त्रापगमे सभायां रसाभासो भवेद्, अतः कथमुपविष्ट इति चेत्, तत्राह **स ईश्वर** इति. **सः** पूर्वं प्रार्थितः, **ईश्वरः** सर्वकरणसमर्थः, अतस्तासां दिव्यानि वस्त्राणि सम्पन्नानीति बोधितम्, येषां जलक्रीडायां **न** वाससामार्द्रता. अतः सर्वकरणसमर्थः **तत्रोपविष्टः सः** प्रार्थितः. [1](यद्वा. पूर्वं वरदानसमये वस्त्रेष्वपहृतेषु सर्वथा तदभावे यस्य रसाभासो न जातः तस्य केवलमुत्तरीयाभावे कथमधुनापि स भवेदिति वक्तुं **स** इत्युक्तवान्. ननु तदानीमपि कथं न रसाभास इत्यत आह **ईश्वर** इति. कर्तुं सामर्थ्यवत्त्वात् यदि स भवेत् तदा तथा न कुर्यादिव. अकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासहेतुत्वेऽपि तद्दत्तमासनं त्यक्तुमशक्यमेव. अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासप्रकारेणापि रसमुत्पादयितुं शक्तः. अतस्तादृशे न किञ्चिदनुपपन्नमिति भावः.) ननु भगवान् अपवित्रे

टिप्पणी

स ईश्वर इत्यत्र **येषां जलक्रीडायामित्यादि**, [2]जलक्रीडानन्तरं येषामार्द्रता न तिष्ठतीत्यर्थः. **योगेश्वरान्तर्हृदीत्यस्याभासे अपवित्रेत्यादि**,

लेखः

तत्रोपविष्ट इत्यस्याभासे, आसनक्लृप्तिकथनेनैवोपवेशनस्य प्राप्तावपि **तत्रोपविष्ट** इत्यनेन पुनस्तत्कथनस्य तात्पर्यमाहुः **तासु सर्वत्रे**ति. वसनद्वारा तत्परिधात्रीषु सर्वासु निविष्ट इत्यर्थः. मूले **तत्रोपविष्टः** सर्वासूपविष्ट इत्यर्थः. व्याख्याने, वसनानामेवं सामर्थ्ये हेतुमाहुः **भगवानितीति**, **तेषां** वसनानां **कार्यसाधकत्वं** स्वद्वारा भगवत्सम्बन्धसम्पादकत्वम् उपवेष्टुर्भगवत्त्वादित्यर्थः. तथा च स्वसमर्पितपदार्थाङ्गीकारे तद्द्वारा भगवत्सम्बन्धः स्वस्यापि भविष्यतीति भावेन भगवते पदार्थाः समर्पणीया इति स्वीयेभ्य उपदेशोऽपि सूचितः. **दिव्यानी**ति कामरूपाणि व्रतचर्यायां दत्तानीत्यर्थः. तत्रोक्तं स्मारयन्ति **येषामि**ति ॥१४॥

---

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्. २. अत्र स्वतन्त्र व्याख्यानं प्रथम परिशिष्टे.

भोगादिलेपयुक्ते कथमुपविष्ट इति चेत्, तत्राह **योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासन** इति. योगेश्वराणां हृदयं शुद्धं, तत्राप्यन्तर्हृदयम्. तत्रापि कल्पितमेव भगवदासनं न तु क्लृप्तम्. मानसी मूर्तिस्तिष्ठति, न तु कदाचिदपि स्वयमुपविष्ट इति मुख्यमासनमेतदेव. अतश्च**कास** परमशोभां प्राप्तवान् पूर्ववद् **गोपीनां परिषदं गत**श्च जातः. परितो गोपिका उपविष्टा इत्यर्थः. सभापतिर्भगवान् अतस्ताभि**रर्चितः**. ततो भगवान् तासामर्थे **त्रैलोक्ये** यावन्ति **लक्ष्मी**रूपाणि इन्द्रपदादीनि तासां **यदेकं पदं**, यस्यांशविलासाः तत्तल्लक्ष्मीभोक्तारः, तादृशं **वपु**र्धृतवान्. अस्मिन्नर्थे देशकालादिभेदेन यावन्त उत्कृष्टा अर्था अपेक्ष्यन्ते तान् प्रकटितवान् तादृशवपुर्धारणेन ॥१४॥

एवं प्रसन्नं भगवन्तं दृष्ट्वा स्वान्तःकरणदोषदूरीकरणार्थं– स्वकृतघ्नतां पूर्वं भगवति कल्पितवत्य इति तन्निराकरणार्थं लोकदृष्ट्या भगवति कृतघ्नतालक्षणो दोषोऽस्ति न वेति निर्णयार्थं– किञ्चित् प्रष्टुमुद्यता इत्याह **सभाजयित्वे**ति.

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमद्भ्रुवा ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥१५॥

प्रश्नार्थं प्रथमतः **सभाजनं** स्तोत्रं कृत्वा. ननु किमनेन विचारेण

टिप्पणी

लोके वेदे च पवित्रत्वेन यादृशं वस्तु नोपादेयं तादृशमप्येतत्सम्बन्धियोगेश्वरान्तर्हृदयादपि भगवत उपादेयं यत्र, तत्र लोकादिषूपादेयत्वेन प्रसिद्धं यादृशं तादृशस्य एतत्सम्बन्धिनो वस्तुनः का वार्तेति ज्ञापयितुमेवं कथनमिति ज्ञेयम् ॥१४॥

सभाजयित्वेत्यस्याभासे **स्वान्तःकरणदोषे**त्यादि, दोषस्यैव विवरणं **स्वकृतघ्नतामि**त्यादिनोच्यते. परोक्षं भजता प्रभुणा तादृशो रसो दत्त इति तदज्ञानं स्वकृतघ्नता. प्रभौ दोषाभावात्तदारोपएव तत्र सम्भवति. स च गृह्यमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा वस्तुनः सम्भवति. स्वामिनीनां तु प्रियातिरिक्तधर्मास्फूर्तिनियमेन स्वनिष्ठस्यैव एतस्यायमारोप इति भावः. यद्यप्ययमपि रसमध्यपात्येवेति न दोषत्वं वक्तुमुचितं, तथापि भगवति दोषाभावस्य शास्त्रसिद्धत्वादारोपस्य च भ्रमत्वनियमाच्छास्त्ररीतिमवलम्ब्य तथोक्तम्. अग्रेऽपि **दोष**पदं यत्र तत्रेदमेव तात्पर्यं ज्ञेयम्. **विभ्रमद्भ्रुवे**त्यत्र,

साम्प्रतं, जातं फलं भुज्यतामिति चेत्, तत्राह **अनङ्गदीपनमिति**, अनङ्गं दीपयति निरन्तरमेव, अङ्गाभावं सम्पादयतीति च ध्वनिः. अतो नैकेन भोगेन कार्यनिष्पत्तिः, पुनस्तेनापि भोगेनाग्रे अधिकएव खेदः स्यात्. स चेत् स्वदोषेण, तदा दोषो दूरीकर्तव्यः. भगवद्धर्मेण चेत्, वाङ्निर्बन्धं कारयित्वा प्रार्थयित्वा वा फलानुभवः कर्तव्य इति भावः. अनङ्गदीपने साधनमाह **सहासेति**. साधनाभावार्थं वा प्रार्थनीय इति साधनकीर्तनम्. **हासपूर्वकं यल्लीलेक्षणं**, तेन **विभ्रमन्ती** या **भ्रूः**, तया अनङ्गं दीपयति. पञ्चात्र साधनानि– हासो लीला ईक्षणं विलासाः भ्रूश्चेति. पञ्च चेद्धेतवः कार्यमप्रतिहतं भवति. (हासो!) माया व्यामोहिका स्वरूपविस्मारणार्थम्. लीला स्वासक्तिं साधयति. ईक्षणं तत्र ज्ञानजनकम्, अन्यथा ज्ञानान्तरेण तन्निराकरणं स्यात्. विलासाः पोषकाः. भ्रूर्यमः नियन्ता काल इति, यावत्प्रसाददाता वा तत्रैव. ततः प्रश्नार्थम् उपढौकनं कुर्वन्ति **संस्पर्शनेनेति**. **अङ्के कृतः** स्थापितो यो भगवद**ङ्घ्रिः**, तत्सम्बन्धिनौ यौ **हस्तौ**, तयोः

टिप्पणी

भ्रूर्यम इत्यादि, यमयति नियमयतीति **यमः** कालः. तथा च कालविलम्बेन स भावः कदाचिन्नश्येतेति तदभावाय तस्यैव भावस्य नियमनं सदा स्थितिं तादृशी भ्रूः करोतीति तथा. अथवा. फलस्यैव नियमनमत्राभिप्रेतम्. [1]एतदेवाहुः **यावत्प्रसादेति**, **तत्रैवानङ्गभाव** एवाशेषस्वरूपानन्ददाता नान्यत्रेत्यर्थः.

प्रकाशः

[टिप्पण्यां **तत्रैवानंगभाव** इति, अंगराहित्यं सम्पूर्णद्विदलात्मकं स्वरूपानन्ददानम्. सुबोधिन्याम् **उपढौकनं कुर्वन्तीति** उपायनं कुर्वन्ति; स्पर्श

लेखः

सभाजयित्वेत्यत्र, **अङ्गाभावमिति** देहानुसन्धानाभावमित्यर्थः. **अत** इति अनङ्गदीपनत्वादित्यर्थः. **पञ्च चेदिति**, पञ्चभिः साधितं कार्यम् अप्रतिहतं भवतीति लोकप्रसिद्धिः. **स्वस्वरूपेति** भक्तस्वरूपेत्यर्थः. **स्वासक्तिमिति** लीलासक्तिमित्यर्थः. **तत्रेति** लीलायामित्यर्थः. दृशा सूचने चिकीर्षितलीलाज्ञानं भवतीति भावः. यमः कालः, भ्रुवस्तद्रूपत्वे हेतुमाहुः **नियन्तेति**, नियन्तृत्वात् कालत्वमित्यर्थः. **उपढौकनमिति** उपगमनमित्यर्थः. उपगमनस्वरूपमाहुः

१. तदेवाहुः इति ब. पाठः.

सम्यक्स्पर्शनेन सँल्लालयन्त्य इत्यर्थः. संस्पर्शनेन सहिताः तत आभिमुख्यार्थं **संस्तुत्य.** एवं सर्वभावेन प्रपन्नानपि त्यजतीति भगवति दोषदृष्ट्या **ईषत्कुपिताः,** साधनैर्निवर्तितोऽपि दोषो न सम्यक् निवर्तते यावद् भगवान्न निवर्तयतीति. अतो विवादमिव कुर्वन्त्यो **बभाषिरे** ॥१५॥

टिप्पणी

ईषत्कुपिता इत्यत्र **साधनैर्निवर्तित** इत्यत्रापि **दोषपदं** पूर्ववज्ज्ञेयम्. "काचित्कराम्बुजमि"त्यादिनोक्त-स्वकृतकराम्बुजधारणादीनि साधनानि. ननु स्वरूपेणानिवर्तितो दोषो वचनेन कथं निवर्तिष्यते? तस्मात्तस्य दुर्बलत्वात्तदुपपादितमाद्येऽध्याय इति चेद्, अत्रायं भावः– "रसो वै स" इत्यादिश्रुतिभिर्भावात्मको हि भगवान्. स चाधुना दोषात्मको, रसस्वरूपस्यैव तथात्वात्. स्वामिनीभावाविर्भावमूलकारणं वेणुनादात्मकः शब्दः इति निर्दोषपूर्णगुणरूपभावाविर्भावोऽपि वाग्रूपशब्देन भविष्यतीति किमनुपपन्नम्? किञ्च यथा वीक्षणेन यो रसः स न स्पर्शादिना, सम्भाषणेन च यः स नेक्षणादिनेति तत्तद्रसस्वभावः, तथास्मांस्त्यक्त्वा गतः कथमिति भावस्तादृग्वचनैरेवेति शिशिरय निजहृदयम्. आद्येऽध्यायेऽप्येवमेव ज्ञेयम्. अतः सुष्ठूक्तं **साधनैर्निवर्तित**

प्रकाशः

एव उपढौकनं उपायनम्. **आभिमुख्यार्थं** सन्मुखीकरणार्थम्. टिप्पण्यां **दोषपदमिति,** भ्रमएव दोषम्(षः!). **भावात्मको** इति, स्थाई(यि!)भावो रसः स्मृतः. **वाग्रूपशब्देन** इति, स्वामिनीषु भावाविर्भावमूलं कारणं नादं शब्दात्मकम् अतो शब्देनैव. **नेक्षणादिनेति,** परस्परेन्द्रियादिद्वारे भिन्नरसत्वात्. **निजहृदयमिति,** वचनेनैव हृदयं शिशिरयति. **प्रभुविषयकस्योद्देशो** इति,

लेखः

संलालयन्त्य इति. **तत्सम्बन्धिनौ यौ हस्ताविति,** भगवान् स्वामिन्यङ्ककृतस्वचरणे हस्तौ स्थापयित्वा स्थित इति स्वच्छन्दस्थित्यनुकरणम्. **तत** इति, अत्रायं क्रमः– पूर्वं सभाजनरूपं स्तोत्रं सम्यक्तमागतमित्यादिरूपं, ततोऽङ्घ्रिहस्तसंस्पर्शनं, तत आभिमुख्यार्थं स्तुतिः 'हे स्वामिनि'त्यादिरूपेति. **साधनैरिति,** कराम्बुजधारणादीनि साधनानि इति टिप्पण्यामुक्तं तथा च कृत्येत्यर्थः. **भगवानिति.** वाचेति शेषः ॥१५॥

तासां प्रश्नमाह **भजत** इति.

॥ श्रीगोप्य ऊचुः ॥

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् ।
नोभयांश्च भजन्त्यन्ये एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥१६॥

त्रयः पक्षाः सन्दिग्धाः– फलतः स्वरूपतश्च भजनाभजनाभ्याम्. तत्रैके ये यथा भजन्ति ते तथा तानपि भजन्ति. एके पुनरभजतोऽपि भजन्ति.

टिप्पणी

इत्यादि. ननु भजनाभजननिर्णयस्य प्रभुविषयकस्योद्देश्ये[1] सति साधारण्येन प्रश्ने को हेतुरिति चेद्, उच्यते– भगवद्विषयकप्रश्नस्यैवाद्धा क्रियमाणत्वे[2] "वयमेतादृश्यो भक्तास्त्वमेतादृशीरस्मान्कथं त्यजसि?" इति हि प्रश्नः स्यात्. स च नायिकोत्तमानां स्त्रीरत्नानामग्रे भगवता स्तुत्यानां स्वामिनीनां मुखाम्बुजान्न निःसर्तुमर्हति किन्तु ग्राम्याणां रसाभासयुक्तानामेव स्यात्. न हि विकचशारदसरोरुहात् तिन्तिणीरसस्पन्दः सम्भवति. अतो व्याजेन प्रश्ने भावगोपनेन महान् रस इति मुख्यरसस्वाभाव्यादेव तथोक्तिरिति बुध्यस्व. भगवांस्तु जीवेभ्यः स्वस्य वैलक्षण्यं वक्तुं तत्स्वरूपज्ञानं विना ततो वैलक्षण्यं ज्ञातं न भविष्यतीति तत्स्वरूपमुक्त्वा स्वस्वरूपमुक्तवान्. अन्यथा स्वामिनीतात्पर्यविषयः स्वयमेवेति तान्न निरूपयेत् ॥१५॥

प्रकाशः

अन्योक्तरीत्या प्रभुविषये उद्देशे. **तत्स्वरूपज्ञानमिति, तदिति** भजनम्. **तान्** इति भजनाभजनवाक्यान् ॥१५॥]

योजना

भजतोनुभजन्त्येक इत्यस्य विवरणे **त्रयः पक्षाः सन्दिग्धाः फलतः स्वरूपतः भजनाभजनाभ्यामि**ति. तत्र भजनकर्तृन् भजन्तीत्येकः पक्षः. तदाहुः **तत्रैके ये यथा भजन्ति ते तथा तानपि भजन्ती**ति. द्वितीयं पक्षमाहुः **एके पुनरभजतोऽपि भजन्तीति एक एतद्विपर्ययमि**ति मूले पठितस्यार्थ

१. उद्देशे इति ब. पाठः. २. क्रियमाणे इति मू.पा.स्तु ब.पाठानुसारेण संशोधितः.

प्रकीर्णदीपिका

"भजतोनुभजन्ति" (श्लो. १६-२२) इत्यत्र **प्रकीर्णदीपिका. फलतः स्वरूपतः च**[सुबो.] इति. त्रयाणां मध्ये उभयोः किं फलं पूर्वस्य कीदृशं स्वरूपं च इति अर्थः. **भजनाभजनाभ्याम्**[सुबो.] इत्यग्र

अन्ये तु उभयानपि न भजन्ति. तेषां त्रयाणाम् उभयोरपि प्रतियोगिनोः

टिप्पणी

भजतोऽनुभजन्त्येक इत्यत्र **तेषां त्रयाणामित्यादि**. भजनानुसारेण भजनकर्ता प्रथमः, अभजतो भजनकर्ता द्वितीयः, उभयाभजनकर्ता तृतीयः. द्वितीयो यमभजन्तं भजते स एकः प्रतियोगी, तृतीयो यं भजन्तं न भजते स द्वितीयः प्रतियोगीति ज्ञेयम् ॥१६॥

प्रकाशः

भजत इत्यत्र **उभयोरित्यादि**, टिप्पण्यां विवृतयोरभजद्भजनकर्तृभजद-भजनकर्त्रोः फलविषयः सन्देहो निवारणीय इत्यर्थः. तेन स्वरूपविषयस्तु

योजना

उक्तः. एवं भजने प्रकारद्वयं, तृतीयमभजनपक्षमाहुः **अन्ये तूभयानपि न भजन्तीति. उभयानपीति** भजतः अभजतश्चेत्यर्थः. एवं भजनाभजनाभ्यां त्रयः पक्षाः भवन्ति. **उभयोरपि प्रतियोगिनोरिति. एक एतद्विपर्यय-मित्यनेनोक्तस्य** अभजद्भजनकर्तुः अभजनकर्ता प्रतियोगी एकः, **नोभयांश्च भजन्त्यन्ये** इत्यनेनोक्तस्य भजदभजनकर्तुः भजनकर्ता प्रतियोगी द्वितीयः. तस्य भजनस्यावश्यं फलं वाच्यम्. **ये भजनानुसारेण भजन्ति ते किं कृतघ्ना** इति. भजनरूपोपकारममत्वा भजनस्य फलं दातुमवाञ्छन्तो भजनमेव कुर्वन्ति, नतु प्रत्युपकारम्, अतः कृतघ्नत्वं सम्भाव्यते, प्रत्युपकारसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात्. **आहोस्विद्धूर्ता** इति. अयं अस्मान् भजति धनाप्तये, एतस्मै धनं तु न देयम्, एतस्यापि भजनमस्माभिः कर्तव्यमिति बुद्ध्या भजन्ते तत्र धूर्तत्वं सम्भवति, धनार्थिने तदर्थमेव भजनं कुर्वते धने विद्यमानेऽपि धनादानात्. द्वितीयपक्षे अभजद्भजनरूपे क्वचिद्दोषमाहुः **अभजतो भजन** इत्यादिना ॥१६॥

प्रकीर्णदीपिका

अर्थः श्लोकस्य व्याख्यानान्ते **भजतः पुरुषान्**[सुबो.] इत्यारभ्य **एव**[सुबो.] इत्यन्तेन उक्तो ज्ञेयः. **तेषां त्रयाणाम्**[सुबो.] इति, त्रयाणां मध्ये इति शेषः. **उभयोरपि प्रतियोगिनोः**[सुबो.] इत्यस्य अर्थः टिप्पण्यां **द्वितीयोऽयम्**[टिप्प.] इत्यादिना उक्तः, तदनुसारेण श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशे **अभजद्**[प्रका.] इत्यादिना उक्तएव ज्ञेयो, न अन्यत्रप्रकारेण विचारणीयः. प्रथमप्रश्नस्य फलविषयकः सन्देहो न उक्तः.

फलं वक्तव्यं– ये भजनानुसारेण भजन्ति ते किं कृतघ्नाः आहोस्विद् धूर्ताः आहोस्वित् समीचीना इति. केनचित् पादप्रक्षालनं कृतं, सोऽपि चेत् करोति, तदा किं स्यात्. फलार्थकरणे फलं देयम्. तेनापि तदेव कर्तव्यमिति करणे तदेव कर्तव्यम्. निरपेक्षकरणे तु सन्देहएव– अभजतो भजने क्वचिद्दोषः स्यात्

प्रकाशः

सर्वेषां वारणीय इति फलति. तदाहुः **य** इत्यादि. **किं कृतघ्ना** इति, भजनानुसारिभजनोत्तरं [१]पूर्वभजनस्यानुपकारत्वादिकं स्वकृतस्य तत आधिक्यं चानुसन्दधानाः पूर्वकृतं निकर्षन्ति न मन्वत इति तादृशा इत्यर्थः. **धूर्ता** इति, पूर्वकृतावुपकारत्वानुसन्धानेऽपि स्वकृतौ तत्साम्यमनुसन्दधानाः[२] पूर्वकृतं नोत्कर्षन्ति वञ्चयन्तीति तादृशा इत्यर्थः. समीचीनत्वं व्युत्पादयन्ति **केनचिदित्यादि**. **किं स्यादित्यस्यैव** विवरणं **फलार्थेत्यादि**. **निरपेक्षेत्यादि**, पूर्वेण [३]तथाकरणे उत्तरेण प्रत्युपकारस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्संदेह इत्यर्थः. तथा च फलदाने तत्करणे सन्दिहानत्वेन[४] स्वस्मिंस्तद्वाराङ्गीकारे च समीचीना[५] इत्यर्थः. सन्देहबीजं तु लोके त्रिविधानां दर्शनमेव. एवं प्रथमपक्षे स्वरूपसन्देहो विवृतः. द्वितीये फलसन्देहं विवृण्वन्ति **अभजत** इत्यादि. दोषोदाहरणं भागवतीयं तार्तीयं कश्यपादित्युपाख्यानम्. उपकारोदाहरणं

लेखः

भजत इत्यत्र, **कृतघ्ना** इति, तत्कृतं भजनं घ्नन्ति स्वभजनरूप-प्रत्युपकारेण मुख्यफलासम्पादकं कुर्वन्तीत्यर्थः. अयमेव पक्षोऽग्रे निर्धारणीयः.

---

१. पूर्वकृत. २. स्वकृतिसदृशमेव, न त्वधिकम्. ३. निरपेक्षभजनकरणे **उत्तरेण** पुरुषेण.
४. कोटिज्ञानं सन्देहः. अयं प्रत्युपकारः कर्तव्यो वाऽयं प्रत्युपकारः इति सन्देहः. कस्य कस्याधुना कामभावः. आग्रहेण कृतं चेत् दुःखदम्.
५. भजनानुसारेण भजन्ति ते त्रिविधाः समीचीनान्ताः ज्ञेयाः.

प्रकीर्णदीपिका

तदभिप्रायः **यो भजनकर्ता**[लेख.] इत्यादिना उक्तो द्रष्टव्यः. **तेनापि तदेव कर्तव्यम् इति करणे**[सुबो.] इति, "यथा अहम् अस्य पादप्रक्षालनं करोमि तथा तेनापि मम पादप्रक्षालनं कर्तव्यम्" इति भावेन करणे इति अर्थः. **तदेव कर्तव्यम्**[सुबो.] इति, तस्यापि पादप्रक्षालनमेव किं कर्तव्यम् इति अर्थः. **तथाकरणे**[प्रका.] इति निरपेक्षभजनकरणे इति अर्थः. **द्वितीयः प्रतियोगी**[टिप्प.]

यथा निष्कामे कामिनी, क्वचिदुपकारो अपेक्षितश्चेदर्थः, क्वचित् स्नेहः क्वचिद्धर्म इति; एकं फलं निर्धारितं वक्तव्यम्. यो वा न भजति पूर्वः तस्य वा किं फलमिति? ये वा नोभयविधान् भजन्ति तेषामुभयविधानां वा किं

प्रकाशः

पाश्चमिकमाग्नीध्रोपाख्यानम्[१]. स्नेहोदाहरणं नावमिकमुर्वश्युपाख्यानम्. धर्मोदाहरणं [२]भारतीयं सुदर्शनोपाख्यानं पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये चित्रोपाख्यानं च. एवं नानाफलस्मरणात् द्वितीयप्रतियोगिफलविषयकः सन्देहो विवृतः. स्वरूपसन्देहोऽत्रानुषङ्गिको बोध्यः. अनुयोगिविषयकमाहुः **यो वे**त्यादि. अर्जुन उर्वशीशापस्य, नारदे जराशापस्य, मार्कण्डेये वरूथिनीप्रत्याचक्षाणे ब्राह्मणे धर्मवृद्धेश्च दर्शनेन सन्देहोऽत्र बोध्यः. अत्रापि कृतनिन्दनाद्यैः पुनर्भजनापेक्षातदनपेक्षाभ्यां च कृत्वा कृतघ्नत्व-धूर्तत्व-समीचीनत्वैः स्वरूपसन्देहो बोध्यः. तृतीये सन्देहमाहुः **ये वे**त्यादि. **तेषामि**ति भजदभजदभजनकृतामुदासीनानाम्. **उभयविधानामि**ति उक्तोदासीनभजनकर्तॄणां तदभजनकर्तॄणां चेत्यर्थः. अत्रापि

लेखः

यथेति, **निःकामे** पुरुषे **कामिनी** चेद्भजते इति शेषः, तदा **दोषः** कामिन्याः **स्यादि**ति पूर्वेणान्वयः. **अपेक्षितश्चेदि**ति, भजनकर्तुरर्थापेक्षायामर्थः फलं भवतीत्यर्थः. **ये वा नोभयविधानि**ति, भजनकर्तुः प्रतियोगी यो भजनकर्ता तस्य फलं द्वितीयकृतं भजनं स्पष्टमेवेति तदत्र नोक्तम् ॥१६॥

१. ब्रह्मप्रेरिताः गताः न तु स्वमनीषया.

२. भारते उत्तरो भजति पूर्वो न भजतीत्यर्थः सुबोधिन्याम्.

प्रकीर्णदीपिका

इति टिप्पण्यां, द्वितीयो यम् अभजन्तं भजते स एकः प्रतियोगीति द्वितीयो अभजद्भजनकर्ता प्रथमप्रतियोगी इति ज्ञेयः. **आनुषङ्गिकः**[प्रका.] इति, **फलतः स्वरूपतः च**[सुबो.] इत्यत्र उक्तः स्वरूपसन्देहो बोध्यः. **यो वा न भजति पूर्वः**[सुबो.] इति, द्वौ अत्र अभजनकर्तारौ, तन्मध्ये **पूर्वः** यो भजतः करुणान् न भजति तस्य वा किं फलम् इति अर्थः. **अर्जुने उर्वशीशापस्य**[प्रका.] इत्यारभ्य **बोध्यः**[प्रका.] इत्यन्तेन भजदभजनकर्तुः फलसन्देहे उदाहरणानि उक्त्वा पुनरपि **अत्रापि**[प्रका.] इत्यारभ्य बोध्यः[प्रका.] **इत्यन्तेन** तस्यैव स्वरूपसन्देहे तान्येव उदाहरणानि उक्तानि. तत्र **कृतनिन्दन...**[प्रका.] इति, उर्वश्या अर्जुनस्य निन्दनं कृतं तेन कृत्वा अर्जुनस्य कृतघ्नत्वं

फलमिति? कृतस्य साधनस्य कुत्र वा उपयोगः— **एतत्** सर्वं **ब्रूहि साधु** यथा भवति तथा. **भो** इति सम्बोधनं सावधानार्थम्. **भजतः** पुरुषा**ननु** तदनुसारेण **भजन्ति** एके पुनः भजनव्यतिरेकेणैव भजन्ति— इत्युभये भजनकर्तारः. **अन्ये** तु भजनरहिताएव ॥१६॥

प्रकाशः

सूर्यस्य किमुदासीनस्य यत् फलं तद्, उत कृतघ्नादेर्यत्तत्? तथोत्तरस्य किं धर्मात्मनां यत् तद्, उत मूर्खाणां यत् तत्? एवं तृतीयस्य किमुदासीनस्य यत्तद्, उत धूर्तस्य यत्तद्वेति. अत्रापि पूर्ववत्स्वरूपसन्देहोऽपि बोध्यः. साधनविषयकमाहुः **कृतस्येत्यादि. कुत्रेति** अपूर्वजनने स्नेहे लौकिकप्रशंसायां वेत्यर्थः ॥१६॥

प्रकीर्णदीपिका

लक्ष्यते. तथैव जरयापि पुनः भजनापेक्षा कृता परं नारदेन तस्याः भजनं न कृतं, तेन कृत्वा नारदस्य धूर्तत्वं लक्ष्यते. तदेव उक्तं नारदेन "मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्नाभयं पतिम्" इति. तथा वरूथिन्यातु मार्कण्डेयं जितेन्द्रियं ज्ञात्वा तदनपेक्षणं कृतं, तेन मार्कण्डेयस्य समीचीनत्वं लक्ष्यते. **तृतीये**[प्रका.] इति, तृतीयप्रश्ने इति अर्थः. **उदासीनानाम्**[प्रका.] इति, आत्मारामपूर्णकामानाम् इति अर्थः. अत्रापि उदासीनादीनां फलकथने उदाहरणानि आहुः **अत्रापि**[प्रका.] इत्यादिना. तत्र **सूर्यस्य**[प्रका.] इति, सूर्यस्य उदासीनस्य यत् फलं भवति तद् आत्मारामाणां पूर्णकामानां फलं भवति किम्? अथवा कृतघ्नादीनां यद् भवति तद् भवति किम्? एवम् आत्मारामपूर्णकामानां फलसन्देहे उदाहरणानि उक्त्वा तद्भजनकर्तॄणाम् अभजनकर्तॄणां च आहुः **तथा**[प्रका.] इत्यादिना. **उत्तरस्य**[प्रका.] इति, आत्मारामपूर्णकामानां भजनकर्तॄणाम् अभजनकर्तॄणां च. तदेव उक्तम् **उभयविधानां किं फलम्**[श्लो.] इति, तत्र भजनकर्तॄणां धर्मात्मनां यत् तदुक्तं तद् ज्ञेयम्. अभजनकर्तॄणां मूर्खाणां यद् उक्तं तद् ज्ञेयम्. मूर्खत्वन्तु आत्मारामादीनाम् अभजनकरणाद् ज्ञेयम्. एवं **तृतीयस्य**[प्रका.] इति, तृतीयप्रश्नविषयस्य अकृतज्ञस्य गुरुद्रोहिणः च इति अर्थः. **साधनविषयकम्**[प्रका.] इति, अभजतां भजनकर्तुः साधनविषयकम् इति अर्थः ॥१६॥

एतेषां भेदान् फलं चाह भगवान् **मिथो भजन्तीति** त्रिभिः.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते ।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥१७॥

तत्राद्यपक्षस्य निर्धारमाह– **ये मिथो भजन्ति ते स्वार्थैकान्तोद्यमाः स्वार्थएव एकान्तः** एकं फल**मुद्यमस्य**[1], ते हि ज्ञात्वैवान्योन्यं भजन्ते तरतमभावेन च भजनमनुवर्तयन्ति. अतो न तेष्वन्योन्यं वञ्चनापि सम्भवति. अतः **स्वार्थमेव** लौकिकार्थमेव तेषा**मुद्यमः**. ननु उभये ब्राह्मणाः

प्रकाशः

मिथ इत्यत्र. स्वार्थैकान्तोद्यमत्वमुपपादयन्ति **ते हीत्यादि**, **मिथःशब्द-**बोधितायामन्योन्यतायां यौगपद्यस्याशक्यत्वात्पूर्वापरभाव आवश्यकः. तत्रोत्तरेण क्रियमाणे भजने पूर्वकृतभजनतुल्यता-दर्शनेनोत्तरस्य तदनुरूपं ज्ञानमनुमीयते. तदुत्तरं पूर्वेण पुनस्तथा तदकरणात् पूर्वस्यापि तादृशं ज्ञानमनुमीयते. असकृत्कृतौ तूभयोस्तथा ज्ञानं सुस्पष्टानुमानम्. एवं तरतमभावानुवृत्त्या तयोः स्वार्थपरत्वमपि सुस्पष्टानुमानम्, अन्यथा तथा नानुवर्तयेयुः. अनुवृत्त्या काकतालीयता निवारिता. एवञ्च पौनःपुन्ये कृतावाधिक्यानुसन्धानबाधा-त्कृतघ्नता वञ्चनासम्भवाद्धूर्तता च निवारिता. एवं दोषकोटिव्यावृत्तौ उपकार-स्नेह-धर्मान्यतमसम्भवेन समीचीनता सम्भवति. तत्रोपकारस्य तुल्यतायामुपक्षीणत्वान्न समीचीनतानिर्वाहकत्वमित्यन्याभ्यां समीचीनत्वं **नन्वित्यादिनाशंक्य** परिहारं व्युत्पादयन्ति **क्षणेनैवेत्यादि**. उदाहरणं तु

योजना

मिथो भजन्तीत्यस्य विवरणे **स्वार्थएव एकान्तः एकं फलमुद्यमो यस्येति**. स्वार्थ एकान्तो यस्येति बहुव्रीहिं कृत्वा स्वार्थैकान्त उद्यमो यस्येति पुनर्बहुव्रीहिः. तथा च स्वार्थएव एकान्तः फलं यस्य तादृश उद्यमो यस्येति

१. उद्यमो यस्येति पाठ.

प्रकीर्णदीपिका

मिथो[भाग.] इत्यत्र, **क्रियमाण...**[प्रका.] इति, पूर्वस्य उत्तरेण भजने. क्रियमाणे इति अर्थः. **अनुमीयते**[प्रका.] इति, पूर्वेण अनुमीयते इति अर्थः. **अनुमीयते**[प्रका.] इति, उत्तरेण अनुमीयते इति

अतोऽन्योन्यभजनेन धर्मः स्नेहो वा भवेत्, कथं स्वार्थ एवेत्याशङ्कयाह **न तत्र सौहृदमिति**, क्षणेनैव द्वितीयस्याभजनं ज्ञात्वा क्रोधकरणात्. अतो न सौहार्दम्. **नापि धर्मः**, "सम्भोजनी नाम पिशाचभिक्षा नैषा पितॄन् गच्छति नोत देवान् इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्से"ति. गुरुसेवायामपि यदि दृष्टार्थतोभयोः तदापि न धर्मः. शास्त्रानुसारी चेत्,

---

प्रकाशः

गजेन्द्रमोक्ष अगस्त्यक्रोधः. ननु धर्मत्वे किं बाधकमत आहुः **नापी**त्यादि. तथा चोक्तवाक्यसूचितमन्योन्यभजनं न धर्मो, अन्योन्यभजनत्वात्, पिशाचभिक्षावदित्यनुमानमेव बाधकमित्यर्थः. ननु "यत्र- यत्रान्योन्यभजनत्वं न तत्र धर्मत्वमि"ति व्याप्तिर्गुरुसेवायां व्यभिचरतीत्यसदनुमानत्वान्नास्य बाधकतेत्याशङ्कायां दृष्टार्थायां तस्यामपि न धर्मत्वमित्याहुः **गुरुसेवायामि**त्यादि. **दृष्टार्थते**ति वृत्तिप्रतिष्ठाद्यर्थता. तथा च तत्र शास्त्रप्रयुक्त्यभावेन तादृश-गुरुसेवायां धर्मत्वस्याशक्यवचनत्वान्मिथो भजनं धर्मः, मिथो भजनत्वात्, गुरुसेवावदित्यत्र तादृशी सा न धर्मः, दृष्टार्थत्वाद्वाणिज्यवदिति प्रत्यनुमानेन

लेखः

मिथो भजन्तीत्यत्र. स्वार्थ एकान्तो यस्य तादृश उद्यमो येषामिति विग्रहः. **दृष्टार्थते**ति, गुरुः प्रशंसते चेत् सेवां करोति, तूष्णीं तिष्ठति चेत् न करोतीत्यर्थः. **शास्त्रानुसारी**ति, शास्त्रविहितसेवाकर्ता शिष्यश्चेदित्यर्थः.

प्रकीर्णदीपिका

अर्थः. **अन्याभ्याम्**[प्रका.] इति, स्नेहधर्माभ्याम् इति अर्थः. **उक्तवाक्ये**[प्रका.] इति, "सम्भोजनी नाम पिशाचभिक्षा" इति उक्तवाक्ये इति अर्थः. **व्याप्ति...**[प्रका.] इति प्राप्ति... इति अर्थः. **असदनुमानत्वाद्**[प्रका.] इति, पिशाचभिक्षावदिति असदनुमानत्वाद् इति अर्थः. **नास्य बाधकता**[प्रका.] इति, अस्य अन्योन्यभजनस्य गुरुसेवायां धर्मत्वे न बाधकता इति अर्थः. **वृत्तिप्रतिष्ठाद्यर्थता**[प्रका.] इति, गुरुशिष्ययोः च उभयोः इति अर्थः. अत्र गुरुसेवादिरूपा पूर्वोक्ता या व्याप्तिः "सा वाणिज्यवद्" इति प्रत्यनुमानेन खण्डयन्ति **तथाच**[प्रका.] इत्यादिना. अत्र **मिथोभजनम्**[प्रका.] इत्यारभ्य **इति अर्थः**[प्रका.] इत्यन्तस्य अयम् अन्वयः कर्तव्यः. तत्रापि **गुरुसेवावद्**[प्रका.] इति, "गुरुः सेवावान्, मिथोभजनत्वाद्" –"गुरुशिष्ययोः मिथोधर्मत्वाद्, मिथोभजनं धर्मः" इति. अत्र

मिथोभजनाभावः. विद्या तु फलरूपा. **सख्य** इति सम्बोधनादप्रतारणा. **य**

प्रकाशः

तन्निरासात्स्वार्थैव सेति न सापि धर्म इत्यर्थः. ननु दृष्टार्थतायामपि शिष्यस्य गुरोश्च "वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः" "उपनीय तु यः शिष्यमि"त्यादिशास्त्रानुसारित्वे गुरुसेवा धर्मो, विहितत्वाद्यागवदिति शास्त्रसनाथानुमानेन तस्यां धर्मत्वे सिद्धे पूर्वोक्तहेतोः[1] साधारणत्वनिश्चयान्न तस्यानुमानस्य बाधकतेत्यत आहुः **शास्त्रे**त्यादि. तथा च यदि वृत्त्याद्यभिसन्धानं तदा तदंशे शास्त्राभावाद्दाम्भिकत्वेन पाषण्डत्वादिकमेव तत्रेति न हेतोः साधारणत्वम्. यदि च न तादृगभिसन्धानं तदा तु शास्त्रस्यैव प्रयोजकत्वेन तस्यां मिथो भजनत्वमेव न किन्तु विहितत्वमेवेति तेन रूपेण व्याप्तेरबाधान्न बाधकत्वहानिरित्यर्थः. ननु दृष्टार्थत्वेन मिथोभजनरूपाया गुरुसेवाया

योजना

फलितम्. **शास्त्रानुसारी चेदि**ति, यः[2] स्वस्मै भोजनं दत्तवते ब्राह्मणाय भोजनं ददाति. परंतु ब्राह्मणसेवा भोजनादिरूपातिशयपुण्यजनिका इति ज्ञात्वा ब्राह्मणभोजनादि कारयति स धर्मभाग्भवत्येव, धर्मबुद्ध्या क्रियमाणत्वात्. तत्र न मिथो भजनमित्यर्थः. तथा च न स्वार्थैकान्तोद्यमत्वं तत्रेति ज्ञेयम्. ननु शिष्यः सेवते, तादृशाय गुरुर्विद्यां ददाति, तत्र पुण्यं गुरोर्भवतीति श्रूयते, पूर्वोक्तविचारे तु सेवाकृताविव पाठयतीति मिथो भजनमापतत्यतः स्वार्थपरतैव भवतीत्याशंक्याहुः **विद्या तु फलरूपे**ति, विद्यारूपफलाप्त्यर्थं सेवाकरणे विद्या

१. दृष्टार्थत्वादिति हेतोः, वृत्तिप्रतिष्ठाद्यर्थत्वादिति यावत्.

२. मिथः इति मुद्रितः पाठः मांड. पाठमनुसृत्य संशोधितः.

प्रकीर्णदीपिका

"**ननु यत्र-यत्र**"प्रका. इत्यादि पूर्वोक्ता, तादृशी तव या व्याप्तिः, दृष्टार्थत्वाद् न धर्मः, कुतो न इति आशंक्य आह **वाणिज्यवद्**प्रका. इत्यादिना. सा इति, अन्योन्यभजनता इति अर्थः. **सापि**प्रका. इति, गुरुसेवापि इति अर्थः. **पूर्वोक्तहेतोः**प्रका. इति, 'वाणिज्यवद्' इति हेतोः इति अर्थः. **तस्य**प्रका. इति, गुरुसेवारूपानुमानस्य इति अर्थः. **न हेतोः**प्रका. इति, पूर्वोक्तहेतोः न साधारणत्वम् इति अर्थः. **व्याप्तेः**प्रका. इति, गुरुसेवारूपा(प!)व्याप्तेः इति अर्थः. **न बाधकत्वहानिः**प्रका. इति, "यत्र

इति प्रसिद्धास्ते वणिज इव, स्वार्थएव तेषां प्रवृत्तिः. यद्यपि धर्मादयोपि

प्रकाशः

धर्मत्वाभावसाधनमसङ्गतम्, विद्यारूपस्य दृष्टार्थस्य वैधसेवायामपि सत्त्वादित्याकांक्षायामाहुः **विद्येत्यादि**. "तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तममि"त्यादौ 'जिज्ञास्वा'दिपदानां "चित्रया यजेत पशुकाम" इत्यादिषु 'पशुकामा'दिपदवत्फलबोधकत्वादिच्छाविषयाया विद्याया दृष्टत्वेऽपि शास्त्रएव प्रवेशेन [1]धर्मत्वाभावसाधकहेतौ वैधभिन्नत्वस्य विशेषणीयत्वान्न दोष इत्यर्थः. ननु धर्मादयः पुरुषार्थताविषया इति शास्त्रीयत्वेऽपि स्वार्थत्वस्य तेषु निर्बाधित्वात्स्वार्थार्थत्वेन मिथोभजननिन्दा न युक्ता. तथा "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वेति" सन्दर्भे "देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथे"ति वाक्येन यज्ञस्य मिथोभजनत्वसिद्धेर्मिथोभजनत्वेन धर्मत्वाभावसाधनमप्ययुक्तमित्यत आहुः **यद्यपीत्यादि**. अत्र हि लौकिको-

लेखः

स्वार्थैकान्तोद्यमा इत्यनेन सर्वेषां निराकरणसम्भवेऽपि धर्मसौहार्दयोः पृथङ्निराकरणे हेतुमाहुः **यद्यपीति**. एतयोरपि स्वार्थत्वात् तेनैव तयोर्निरा-

---

१. धर्मार्थत्वाभावसाधकहेतौ इति मांड. पाठः.

प्रकीर्णदीपिका

अन्योन्यभजनत्वं न तत्र धर्मत्वम्" इति व्याप्तेः, गुरुसेवायां पूर्वं यद् बाधकत्वम् उक्तं तस्य बाधकत्वस्य न हानिः इति अर्थः. **यद्यपि**[सुबो.] इत्यारभ्य **सिध्यन्ति**[सुबो.] इत्यन्तस्य अर्थः प्रकारद्वयेन आशंकाम् उद्भाव्य (प्रकाशे!) उक्तः. तत्र प्रथमः प्रकारः **ननु धर्मादयः**[प्रका.] इत्यारभ्य **मिथोभजननिन्दा न युक्ता**[प्रका.] इत्यन्तेन उक्तः. कथं निन्दा न युक्ता? इति चेत्, तत्रैव उक्तं **पुरुषार्थताविषया**[प्रका.] इति, "धर्मस्य ह्यापवर्गस्य" इत्याद्युक्तप्रकारेण धर्मादीनां मोक्षपर्यवसायित्वात् न निन्दा युक्ता इति अर्थः. द्वितीयप्रकारश्च **तथा**[प्रका.] इत्यारभ्य **अयुक्तम्**[प्रका.] इत्यन्तोक्तः. इत्यतः **आहुः**[प्रका.] इति, एवम् उभयोः धर्मयोः यथार्थत्वेऽपि एतयोः मध्ये मिथोभजने कस्य निन्दा इत्यतः आहुः इति अर्थः. **यद्यपि**[सुबो.] इति, उभयविधाअपि धर्मादयो यद्यपि स्वार्थाएव, तथापि अन्योन्यभजने ते मोक्षपर्यवसायिनो धर्मादयो न सिध्यन्ति इति अर्थः. यद्वा **अन्योन्यभजनेन**[सुबो.] इति, तृतीयान्तपक्षे ते लौकिकाः सिध्यन्तीति

स्वार्था एव तथाप्यन्योन्यभजने न ते सिध्यन्ति. तथा सौहार्दमपि, यद्यन्यमपेक्षेत.

प्रकाशः

पयोगि स्वार्थाभिसन्धानपूर्वकं यन्मिथो भजनं तन्निन्द्यते, "भजतोऽनुभजन्ती"ति प्रश्नवाक्येन तत्स्वरूपनिश्चयात्, न तु यत्किञ्चित्स्वार्थाभिसन्धानम्, अतो धर्मादीनां स्वार्थत्वेऽप्यदोषः. न च [1]तेषामन्योन्यभजने सिद्धिः, तथा सति हविर्ग्रहणायात्रागत्य फलं ददतां देवानामपि धर्मापत्तेः. न च तेन तेषां कोऽपि धर्मः, "भजन्ति ये यथा देवान्देवा अपि तथैव तान् छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः" "देवाः स्वार्था न साधव" इत्यादिनिन्दादर्शनात्. एवं सत्युक्तसन्दर्भस्थं परस्परभावनमपि स्वार्थसाधनत्वेनैव फलति न तु धर्मसाधकत्वेन, "श्रेयः परमवाप्स्यथे"ति फलकथनेन अकरणे दोषबोधनेन च तथा निश्चयात्. तदेतदुक्तं **न ते सिध्यन्तीति**. **अन्योन्यभजनेनेति** तृतीयान्तपक्षेऽपि तेन ते सिध्यन्ति[2], न तु तद्रूपा इत्यर्थो बोध्यः. अनुपपत्तेरुक्तत्वात्[3]. एवं "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इत्यत्रापि द्रष्टव्यम्, "एवं मदर्थे"त्यस्य टिप्पण्यां तस्य भजनस्य प्रावाहिकधर्मरूपताया वक्ष्यमाणत्वात्. एवं मिथो भजने धर्माभावं साधयित्वा क्वचित्तदकरणे[4] क्रोधाभावे सौहार्दं तु स्यादेवेति तन्निषेधो नोपपद्यत इत्याकांक्षायां तदभावमप्युपपादयन्ति

१. धर्मादीनाम् इति मांड. पाठः. २. लौकिकान्योन्यभजनेन धर्मादयः लौकिकाः सिद्ध्यन्ति न तु तद्रूपा अलौकिकाः इत्यर्थः. (मांड.).
३. फलं ददतां देवानां धर्मानुपपत्तेरुक्तत्वात् मांड. पाठः. ४. प्रतिभजनाकरणे.

प्रकीर्णदीपिका

ते निन्द्याः इति योज्यम्. तदेव उक्तम् **अत्रहि**[प्रका.] इत्यादिना. **धर्मादीनाम्**[प्रका.] इति, मोक्षपर्यवसायिधर्मादीनां स्वार्थत्वे सत्यपि न निन्दा युक्ता इति अर्थः. **तेषाम्**[प्रका.] इति, मोक्षपर्यवसायिधर्मादीनाम् इति अर्थः. **तेन तेषाम्**[प्रका.] इति, फलदानेन देवानाम् इति अर्थः. **दोषबोधनेनच**[प्रका.] इति, "इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेनएव स" इति, दोषबोधने(न!) च इति अर्थः. **तेन**[प्रका.] इति, लौकिकान्योन्यभजनेन **ते** धर्मादयो लौकिकाः **सिध्यन्ति. नतु तद्रूपाः**[प्रका.] इति, अलौकिकाः मोक्षविषयाः धर्मादयो न सिध्यन्ति इति अर्थः. **अनुपपत्तेः उक्तत्वाद्**[प्रका.] इति, फलं ददतां देवानां धर्मानुपपत्तेः उक्तत्वाद् इति

तस्य साधनस्य विनियोगमाह **स्वार्थार्थमिति**, अन्यार्थमपि प्रतीयमानं स्वार्थमेव. एवं सेवादिदानेष्वपि, दुःखनिवृत्तिस्तत्र फलम्. अत्रार्थे सर्वोऽपि लोकः प्रमाणमिति **हिशब्दः**. **अन्यथा** परोपकाराय **न**, अन्यस्य हृदये तत्प्रतीकारार्थं चिन्ताजननात्. अतः फलं स्वार्थसिद्धिः लौकिकी. नाममात्रेणैव तेषां धर्मत्वं न तु वस्तुतः ॥१७॥

ये पुनः अभजतोऽपि भजन्ति ते द्विविधा इत्याह **भजन्तीति**.

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा ।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥१८॥

ये अभजतोऽपि तूर्ष्णीस्थितान् **भजन्ति**, तत्र निमित्तद्वयं लौकिकं

प्रकाशः

तथेत्यादि **हिशब्द** इत्यन्तम्. **दुःखनिवृत्तिरि**ति सेवाकर्तुर्दुःखनिवृत्तिः. शेषं स्पष्टम्. अत्र च "यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिगि"ति फलितं बोध्यम् ॥१७॥

लेखः

करणं न भवेदित्यर्थः. पुनः **स्वार्थार्थमि**ति अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्त इति न्यायेनोक्तमित्याशयेनाहु**रन्यार्थमपीति** ॥१७॥

योजना

तु देयैव, यो यदर्थं यतते तस्मै तद्दाने धर्मो भवत्येव, न तत्र मिथो भजनमिति भावः. **तथा सौहार्दमपि यद्यन्यमपेक्षेते**ति, भोजनवसनादिदानेन सौहार्दमिव कुर्वन्नपि "यद्ययं ममेष्टं साधयती"त्यपेक्षया कर्ता न सौहार्दवान् भवतीत्यर्थः ॥१७॥

प्रकीर्णदीपिका

अर्थः. तत्र **अकरणे**[प्रका.] इति, द्वितीयेन प्रतिभजनाकरणे सति इति अर्थः. **तथा सौहार्दमपि यदि अन्यम् अपेक्षेत**[सुबो.] इति, यथा धर्मादयो न सिध्यन्ति तथा सौहार्दमपि यदि अन्यत् यत्किञ्चित् फलम् अपेक्षेत, तदा क्रोधाभावेऽपि सौहार्दमपि न सिध्यति इति अर्थः. **सेवादिदानेष्वपि**[सुबो.] इति, सेवां कारयित्वा धनादिदाने सेवाकर्तुः दुःखनिवृत्तिः फलं नतु धर्मफलं कस्यापि इति अर्थः. **अन्यस्य**[सुबो.] इति, यस्य उपकारं करोति तस्य इति अर्थः ॥१७॥

वैदिकं वा, स्नेहो विधिश्च. तत्र सौहार्दं धर्मश्च फलं क्रमेणैव. यः पूर्वः तस्य सौहार्दे अवसरे कर्तव्य एवोपकारः, अन्यथा कृतघ्नः स्यात्. धर्मशेषश्चेत्

टिप्पणी

भजन्त्यभजतो ये वा इत्यत्र **धर्मशेषश्चे**त्यादि, धर्मार्थं यो भजते तस्य धर्मएव मुख्य इति भजनीयस्तच्छेषः. एवं सति भजनकर्तुः पातकादिसम्भवे तद्दोषो निवर्तनीयएव कृतघ्नतापरिहारायेत्यर्थः. ननु पुण्येनैव पापनिवृत्ति-

प्रकाशः

भजन्त्यभजत इत्यत्र, **पूर्व** इति भजनकर्ता. **कर्तव्य** इति, अभजता उत्तरेण कर्तव्य इत्यर्थः. **विधेयमि**ति भजनीयेन विधेयम्. तदेव टिप्पण्यां विवृतं **धर्मार्थमि**त्यादिना. **पातकादीत्यादि**पदेन लौकिकानिष्टम्. तथा च "श्रोत्रियस्य ब्रह्मचारिणो दीक्षितस्य व्रतिनो लिङ्गिनो वामां दृष्ट्वा जातरागस्य मुमूर्षोर्मित्रवाक्यादानृशंस्याच्च गमनं धर्मोऽधर्मो वेति संशय" इति कामसूत्रोपदर्शितादिस्थले भजनीयस्तदर्थं स्वयं प्रायश्चित्तादिकं कुर्यादित्याशयः. उदाहरणं तु पाद्मवैशाखमाहात्म्यप्रथमाध्यायस्थं चित्रोपाख्यानं बोध्यम्. तत्र

लेखः

भजन्तीत्यत्र, यः पूर्व इति, **यः** सौहार्देन भजनकर्ता **तस्यावसरे** प्राप्ते भजनीये**नोपकारः कर्तव्यो** भवति, तदकरणात् सौहार्दं **निरपवादम**पवादरहितम्. धर्मार्थं भजने प्रायश्चित्तं विधेयम्, तदकरणाद्धर्मो निरपवाद इति शेषः. **अन्यथा कृतघ्नः स्यादि**ति मध्यस्थमुभयत्रान्वेति.

प्रकीर्णदीपिका

भजन्त्यभजतः[भाग.] इत्यत्र **अवसरे**[सुबो.] इति, पुत्रादीनां सामर्थ्ये प्राप्ते सति इति अर्थः. **पातकादिसम्भवे**[टिप्प.] इति, निरुपवादधर्मे न पातकादिसम्भावना, सापवादधर्मे सम्भावना. तदेव उक्तं **लौकिकानिष्टम्**[प्रका.] इति. तदेव विचारितं कामसूत्रेण **तथाच**[प्रका.] इत्यादिना. तत्र **लिङ्गिनः**[प्रका.] इति, अन्येऽपि भक्तिमार्गीयादिलिङ्गिनः इति अर्थः. **मित्रवाक्याद्**[प्रका.] इति, यस्याम् आसक्तः सैव मित्रं, तस्याः वाक्याद् इति अर्थः. **आनृशंस्याद्**[प्रका.] इति, लज्जां त्यक्त्वा इति अर्थः. संशयपरिहारस्तु व्याख्यानान्ते **तथाच ब्राह्मणस्य** इत्यादिना उक्तो द्रष्टव्यः. **तदर्थम्**[प्रका.] इति, सापवादभजनं कृतं येन तदर्थम् इति अर्थः. **वेश्याभूतया**[प्रका.] इति, पञ्चपुरुषाणां

प्रायश्चित्तं विधेयम्, तदीयएव धर्मः तद्द्वारा तेषु गच्छतीति. तत्र धर्मे यत्र

टिप्पणी

रित्यस्य तत्र नोपयोग इत्यत आहुः **तदीयएवे**ति, धर्मशेषीयएव धर्मो भजनद्वारा भक्तेषु गच्छतीत्यर्थः. ननु विहितत्वात्तद्भजनस्यापूर्वएव धर्मस्तेनोत्पद्यत इति चेत्, मैवम्, तादृक्फलसाधकत्वेन तद्भजनविधाने भजनीयनिष्ठ-तादृग्धर्मवत्त्वस्यैव प्रयोजकत्वात्, "तेजस्कामोऽग्निमेव तेजस्वन्तं स्वेन

प्रकाशः

हि वैश्यजातीयया वेश्याभूतया विचित्रैः सुरतोपचारैरदृष्टबुद्ध्या संसेवितोऽतिथिस्तीर्थान्यटमानो यसुदेवनामा[१] विप्रो रेवायां वैशाखस्नानोपदेशं विधाय तया सार्धं तत्र स्नानं कुर्वन् कारयन् दयया तदुपरोधेन वसंस्तां स्वात्मानं चोद्धृत्य स्वयं पाण्ड्यदेशाधिपो वीरसेनाख्यो जन्मान्तरे जातः. सा च काशिपतेर्वैष्णवतमस्य[२] दिवोदासस्य सुता दिव्यादेवीनाम्नी जातेत्युक्तम्. **पुण्येनैव पापनिवृत्तिरि**त्यादि, "धर्मेण पापमपनुदती"तिश्रुतौ कर्त्रैक्यस्य विवक्षितत्वादन्यथातिप्रसङ्गाच्च तथेत्यर्थः. **धर्मशेषीय** इत्यादि. "पतिं त्वपतितं भजेदि"त्यादिस्मृता'वपतित'इत्यादिविशेषणात्तथेति तथा. [**भक्तेषु गच्छती**ति, यथा गुरुसेवाकृतौ सत्यां गुरोः ...त्वं सेवाद्वारा सेवकेषु आयाति.

१. वासुदेव इति मांड. पाठः. २. वैष्णवोत्तमस्य इति मांड. पाठः.

प्रकीर्णदीपिका

सङ्गं या करोति सा वेश्याप्राया भवति, तथाभूतया इति अर्थः. **अदृष्टबुद्ध्या**[प्रका.] इति, "मद्दोषम् अयं नाशयिष्यति" इति बुद्ध्या इति अर्थः. **तथा**[प्रका.] इति, अस्य भजनीयस्य न उपयोग इति अर्थः. '**अपतित' इत्यादिविशेषणात् तथा**[प्रका.] इति, यदि स्वयम् अपतितः तदा भजनकर्तुः पापं निवर्तयितुं समर्थो भवति इति अर्थः. तदेव उक्तम् **अन्यथा तेजस्वन्तम् इति न वदेद्**[टिप्प.] इति. **तथा**[प्रका.] इति भजनीयकर्तृकं भजनं पूर्वभजनकर्तृषु गच्छति इति अर्थः. **अस्य(?)**[टिप्प.] इति, भजनीयस्य इति अर्थः. **भक्तेषु**[टिप्प.] इति, भजनकर्तृषु इति अर्थः. **तद्भजनस्य**[टिप्प.] इति, धर्मार्थि यो भजते तस्य इति अर्थः. **तेन**[टिप्प.] इति, भजनकर्तुः भजनेन इति अर्थः. **तादृक्फलसाधकत्वेन**[टिप्प.] इति, पापनिवृत्तिरूप-फलसाधकत्वेन इति अर्थः. **तद्भजनविधाने**[टिप्प.] इति, भजनकर्तुः भजनकरणे इति अर्थः. **तादृग्धर्मवत्त्वस्यैव**[टिप्प.] इति, प्रायश्चित्तरूपधर्मवत्त्वस्यैव इति अर्थः.

कर्म प्रधानं यत्र वा देवता तदुभयं न विवक्षितं, प्रतियोगिनि भजनशङ्काभावात्.

टिप्पणी

भागधेयेनोपधावती"त्यादिश्रुतिभ्यस्तथा निर्णयात्. अन्यथा 'तेजस्वन्तमि'ति न वदेत्. न चामूर्तत्वं बाधकमिति वाच्यम्, अलौकिकस्यार्थस्य लोकरीत्या निर्णेतुमयुक्तत्वात् "अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदि"ति श्रुतेश्चेति दिक्. निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वनियमेनात्र चापवादनिषेधोक्तेर्यत्र धर्मापवादसम्भावना सएवात्र धर्मः परिगृहीतो, यत्र न तत्सम्भावना न सोऽत्र विवक्षित इत्याशयेनाहुः **तत्र धर्मे यत्रे**त्यादि. नित्यं कर्म कर्तव्यत्वेनैव यत्र क्रियते तत्र तदेव प्रधानम्. यत्र देवताराधनेनैव धर्मस्तत्र सा प्रधानम्. न चोक्तेषु धर्माभावादविवक्षितत्वमिति वाच्यं, भगवता हि निर्णयः क्रियते, स च सन्दिग्धे कर्तुमुचितः, उक्तेषु सन्देहाभावादत्राविवक्षितत्वात् ॥१८॥

प्रकाशः

तेजस्वन्तमिति, तेजस्कामः तेजस्वन्तं अग्निमेव भजतु, तेन तत्भजनेन तेजत्वं(स्त्वम्!) आयाति. **वाच्यमि**ति, तेजस्य(सः!) आगमने(नं!) मूर्त्यभावात् कथं सम्भवति?] **दिगि**ति, जातेष्टि-गयाश्राद्ध-पुण्यदानादिशास्त्रेभ्योऽपीत्यर्थः. अत्र निर्णीयमानोऽभजद्भजनरूपो धर्मः को वेति निष्कृष्टं वदतीत्याशयेनाहुः **निषेधे**त्यादि. **धर्मापवादे**ति धर्मे अपवादेति समासो बोध्यः. [**धर्म** इति, यत्र धर्मस्य संशयः तस्यैव भगवता निर्णयः क्रियते, न तु निःसंदेहधर्मस्य निर्णयः.] **कर्तव्यत्वेने**ति, "कार्यमित्येव यत्कर्मे"ति, "एतान्यपि तु कर्माणि" इत्यादिवाक्यादित्यर्थः. [**सा देवता**.] **न चे**त्यादि, कर्मदेवतागवादिषु जडत्व-स्वर्गवासित्वाज्ञत्वैर्धर्मानुत्पत्तेस्तस्याविवक्षितत्वं, न तु प्रतियोगिनि भजनशङ्काभावादित्यर्थः. **उक्तेष्वि**त्यादि. बहुलाव्याघ्रसंवादादिना इन्द्राद्यश्व-

योजना

भजन्त्यभजतो ये वा इत्यस्य विवृतौ **धर्मशेषश्चे**दित्यस्य **तदीयएव धर्म** इत्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **तत्र धर्मे यत्र कर्म प्रधानं यत्र वा देवते**त्यादेरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥१८॥

प्रकीर्णदीपिका

कर्मदेवतागवादिषु[प्रका॰] इति, सुबोधिन्युक्तं कर्मादिषु इति योज्यम्. **प्रतियोगिनि**[प्रका॰] इति,

यत्र वा असमानता, गोः पङ्कोद्धारणवत्, तत्रापि तथा. यत्र पुनराधारे प्रत्युपकारः सम्भवति तत्र प्रवृत्तौ पूर्वस्याभजने उत्तरभजने निरपवादो धर्मः सौहृदं च फलम्. अधिकारिविशेषणं तु एकत्र करुणा अपरत्र दैहिकः

प्रकाशः

मेधकथादिभ्यश्च निमित्तवशात्तत्रापि धर्मोत्पत्त्यवगतेर्न तेन तथा किन्तूक्त-शङ्काभावादेव तथेत्यर्थः. सुबोधिन्यां **यत्र पुनरि**त्यादि, अत्र निरपवाद-धर्मोदाहरणमानुशासनिकपर्वस्थं सुदर्शनोपाख्यानं बोध्यम्. तत्र ह्योघवत्या स्वपत्युर्गृहस्थधर्मं रक्षन्त्या स्वात्मप्रदानेनातिथिर्ब्राह्मणः पूजित उटजान्निर्गत्य स्वस्वरूपं धर्म इति प्रकटीकृत्य, अग्रे "एषा हि तपसा स्वेन संवृता ब्रह्मचारिणी, पावनार्थं च लोकस्य सरिच्छ्रेष्ठा भविष्यति, अर्द्धेनोघवती नाम त्वामर्द्धेनोपयास्यति, यत्र नावृत्तिमभ्येति शाश्वतांस्तान्सनातनान्, अनेनैव तु देहेन लोकांस्त्वमभिपत्स्यसे" इत्यादि सुदर्शनं प्रत्युवाचेत्याद्युक्त्वा "धन्यं यशस्यमायुष्यमिदमाख्यानमुत्तमम्" इत्यादिना भीष्मेण श्रवणकथनफलकथनात्. नन्वेवं सम्भावितापवादमप्यभजद्भजनं चेन्निरपवादधर्मात्मकं तर्हि सर्वः प्रवर्त्स्यत इति मर्यादा भंक्ष्यत इत्यत आहुः **अधिकारी**त्यादि. **एकत्रे**ति

प्रकीर्णदीपिका

सुबोधिन्युक्तगवादिप्रतियोगिनि भजनशंकाभावाद् अत्र धर्मे अविवक्षितत्वम् इति अर्थः. **तत्रापि**[प्रका.] इति, गवादिष्वपि इति अर्थः. **न तेन तथा**[प्रका.] इति, गवादिषु अज्ञत्वादिना धर्माभावाद् न अविवक्षितत्वम् इति अर्थः. **उक्तशंकाभावादेव तथा**[प्रका.] इति, प्रतियोगिनि भजनशंकाभावाद् अविवक्षितत्वम् इति अर्थः. **यत्र पुनः**[सुबो.] इत्यादिना निरपवादो धर्मो वक्तव्यः तत्र प्रथमं मूलश्लोकस्य एवम् अन्वयः कर्तव्यो— **भजन्त्यभजतो ये वै**[(श्लो. १८)सुबो.] इति, "ये करुणाः पितरौ **अभजतः वै** निश्चयेन **भजन्ति** तदा धर्मो निरपवादो भवति" इति योज्यं, निश्चयेन भजनन्तु प्रत्युपकाररहितम् इति ज्ञेयम्. तदेव उक्तम् **आधारे प्रत्युपकारः सम्भवति**[सुबो.] इति, भजनीये प्रत्युपकारसामर्थ्ये सत्यपि इति अर्थः. **तत्र प्रवृत्तौ**[सुबो.] इति, तस्य भजनकरणे इति अर्थः. **पूर्वस्य**[सुबो.] इति, भजनकर्तुः अभजने इति अर्थः. **उत्तरभजने**[सुबो.] इति, अभजनकर्तुः केवलभजनकरणे इति अर्थः. तादृशं निरपवादभजनम् ओघवत्या ऋषिपत्न्या कृतं तदुदाहरणं **अत्र**[प्रका.] इत्यादिना उक्तं द्रष्टव्यम्. ननु एवं भजने मर्यादाभङ्गो भविष्यति इति

सम्बन्धः, तदाह **करुणाः पितराविति**. अन्यत्रापि दृश्यत इति तद्धर्मातिदेशमाह **यथेति**. ये संसारिणः क्रूराः तेऽपि कदाचिद्दीनेषु भजनं कुर्वन्ति स्निग्धा इव च भवन्ति तेषां सङ्ग्रहार्थं **यथेति**. सम्बन्धस्तु जन्मान्तरीयोऽपि भवतीति उपमानोपमेययोरभेदादेकविधाएव. **निरपवाद** इति, एतदुपकारेण हि

प्रकाशः

धर्मजनके तस्मिन्. अत्र सौहृदधर्मानुषङ्गिकमर्थस्वभावादेवानुबध्यते. **अपरत्रेति** सौहृदजनके. **अन्यत्रापि दृश्यत** इति, सांसिद्धिककरुणास्नेहरहितेष्वप्यभजद्भजनं दृश्यत इत्यर्थः. अतिदेशप्रयोजनमाहुः **य** इत्यादि. ननु राजधर्मे "सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा धर्मात्मा पञ्चमो मित्रमि"ति पञ्चविधमित्रेषु सहजभजमानौ निरुपधी उक्ताविति तयोर्भावभेदेन स्नेहेऽपि भेदात्कथमेकएवात्र दृष्टान्त इत्यत आहुः **सम्बन्ध** इत्यादि. तथा च कर्मणां गहनगतित्वेन सम्बन्धादेव तथाभाव इति भावभेदेऽपि निरुपधित्वेनैक्यादेकविधाएवेत्यर्थः. एतेन स्नेहाद्भजने जन्मान्तरीयसम्बन्ध एव प्रयोजक इति न तत्र

प्रकीर्णदीपिका

आशंक्य सुबोधिन्याम् आहुः **अधिकारिविशेषणम्**[सुबो.] इत्यादिना, एंवं भजने को अधिकारी इति अधिकारिविशेषणम् इति अर्थः. **धर्मजनके**[प्रका.] इति, अतितेजस्विनि करुणा कर्तव्या, यथा ओघवत्या कृता, नतु सर्वत्र, अतो न मर्यादाभङ्ग इति भावः. **सौहृदजनके**[प्रका.] इति, पुत्रादिषु सौहृदं कर्तव्यम् इतिं अर्थः. एवं निरपवादधर्मं निरूप्य सापवादधर्मं निरूपयन्ति **अन्यत्रापि**[सुबो.] इत्यादिना. **तद्धर्मातिदेशम् आह**[सुबो.] इति, स्वाभाविक-करुणा-रहितानां धर्मान् दृष्टान्तार्थम् आह इति अर्थः. **यथा**[माग.] इति, "यथा अन्ये संसारिणोऽपि करुणाः पितरौ अभजन्तं भजन्तीति दृष्टान्तार्थं तथा" इति योज्यम्. तदेव उक्तं **ये संसारिणः**[सुबो.] इत्यादिना. ननु दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः एकविधनियमात् सापवाद-निरपवाद-भजनकर्तारः कथम् एकविधाः भवन्ति? अतः कथंवा दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः एकविधत्वम्? इति आशंकापरिहाराय आहुः **संबन्धस्तु**[सुबो.] इत्यादिना. तदर्थः **ननु राजधर्म...**[प्रका.] इत्यादिना उक्तः. तत्र **संबन्धादेव तथा भावः**[प्रका.] इति, भजनीयानां कर्मप्राबल्याद् भजनकर्तृणां निरुपाधिकभावो भवति इति अर्थः. **भावभेदेऽपि**[प्रका.] इति, उभयेषां भावभेदेऽपि इति अर्थः. **एकविधाएव**[प्रका.] इति, एकविधाएव प्रतीयन्ते, नतु

तस्यापवादः, तदभावान्निरपवादएव. **अत्र** [1]तादृशेऽर्थे, अनेन यत्र प्रत्युपकारसम्भावनापि न तत्र धर्म इति सूचितम्. अतएव केचित् क्रियमाणमपि नाङ्गीकुर्वन्ति. सौहार्देऽपि धर्मोऽस्तीति **चकारः**. **सुमध्यमा** इति सम्बोधनमुक्तविश्वासाय. धर्मेणैव उत्तममध्यमता ॥१८॥

प्रकाशः

धर्मसंभावनेति सूचितम्. **एतदुपकारेणे**ति अभजता कृतेन [2]प्रत्युपकारेणेत्यर्थः. एतेन स्नेहाद्भजने पूर्वसम्बन्धस्याशक्यज्ञानत्वादपवादोऽपि सम्भवतीति सूचितम्. एवं व्याख्याय धर्मस्थलं निष्कर्षन्ति **अनेने**त्यादि. **क्रियमाणमि**ति, प्रत्युपकारं मिथोभजनत्वभिया नाङ्गीकुर्वन्तीत्यर्थः. तथा च "ब्राह्मणस्य कामपरवशस्य प्राणत्राणार्थं गमनं धर्मो निरनुबन्ध" इति कामसूत्राद्युक्तसजातीयादिस्थले धर्मानुबन्धधर्मस्थले च धर्मः. तथा "तस्यैव लोकविद्विष्टस्य मायाविनो वा तथाभूतस्यैव शरीररक्षणार्थं गमनं धर्मोऽधर्मानुबन्ध" इति कामसूत्राद्युक्तस्थलेऽप्यनुबन्धस्य बलिष्ठत्वात् श्येनवदधर्म एवेति भावः. **धर्मोऽस्तीति**, करुणालेशस्य तत्रापि सत्त्वात्तथेत्यर्थः [**उत्तममध्यमता** इति, उत्तमं मध्यमं (वा!) हृदयम्.] ॥१८॥

लेखः

सम्बन्धस्त्विति, आधुनिकसौहार्देन जन्मान्तरीयसम्बन्धस्यादृष्टस्यानुमेयत्वाद् बहुत्वेन तत्र **यथे**त्युक्तम्, यथा पितरौ तथा भ्रात्रादयोऽपीत्यर्थः. करुणा दृष्टत्वेनैकैवेति तत्रोपमानोपमेययोरेकत्वमुक्तमित्यर्थः. **धर्मेणैवे**ति, स्वापेक्षया उत्तमानभजतो ये भजन्ति ते उत्तमाः, मध्यमान् ये भजन्ति ते मध्यमा इति धर्मकृतएव उत्तममध्यमभावस्तेष्वन्योन्यमित्यर्थः ॥१८॥

१. एतादृशेऽर्थे इति ब. पाठः. २. प्रत्युपकारेण तस्य भजनस्य बाधः नामापवादः.

प्रकीर्णदीपिका

एकविधाः इति अर्थः. तदेव उक्तम् **एतेन**[प्रका.] इत्यादिना. तेन पूर्वोक्ता शंका परिहृता ज्ञेया. सुबोधिन्याम् उपमानोपमेययोः **अभेदाद्** एकविधत्वं यद् उक्तं तदपि दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः एकविधत्वज्ञापनाय, नतु एकविधत्वाभिप्रायेण इति भावः. **तस्यैव**[प्रका.] इति, ब्राह्मणस्यैव इति अर्थः. **श्येनवद्**[प्रका.] इति, श्येनपक्षिवत् छलेन धर्षणकर्तुः गमनम् अधर्मएव इति भावः. **उक्तविश्वासाय**[सुबो.] इति, मध्यमाधिकारिणामपि उक्तधर्मे विश्वासो भवति, नतु हीनाधिकारिणाम्

ये तु पुनः सर्वथैव न भजन्ति, भजनार्थं भजतः, सौहृदेन वा भजतः, धर्मार्थे तु न शङ्का, तानुभयविधानपि केचिन्न भजन्ति. अभजतो दीनान् धर्माधिकारिणश्च तानपि न भजन्ति. तेषां स्वरूपमाह **भजतोऽपीति.**

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः ।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥१९॥

केचिन्महापुरुषा **भजतोऽपि न भजन्ति, अभजतः कुतो** भजिष्यन्ति?

प्रकाशः

भजतोपि न वै केचिदित्यत्र, ये त्वित्यादिनोक्तस्यैव विवरणं **भजनार्थमित्यादि. धर्मार्थे तु न शङ्केति, सौहृदेन भजतोऽ**वसरे प्रत्युपकारस्य कृतघ्नतापरिहारायावश्यकतया शङ्कासत्त्वेपि[१] धर्मार्थे तस्मिंस्तदर्थं प्रायश्चित्त-क्रियामात्रेण चारितार्थ्यात्तथेत्यर्थः. [**पूर्वोक्तन्यायेन** इति, **पूर्वोक्तः**

लेखः

मूले **भजत** इति पदस्यार्थमाहुः **भजनार्थमिति. तानुभयानपी**[२]ति, भजनार्थं भजतः सौहृदेन वा भजतः पुरुषानित्यर्थः. मूले **अभजत** इतिपदं विवृण्वन्ति **दीनानिति**, येषां भजनेन भजत्सु दया सिध्यति तानित्यर्थः.

---

१. कृतघ्नतादोषरूपा शङ्काऽभजतः पुरुषस्य. २. उभयविधानिति मू. पा.

प्रकीर्णदीपिका

अतो भवतीनान्तु अधुना मम प्रतिभजनापेक्षया मध्यमाधिकारित्वं जातं, पुनरपि मदुक्तविश्वासाद् अग्रे उत्तमाधिकारित्वं भविष्यति इति भावः ॥१८॥

भजतोऽपि न वै केचिद्[भाग.] इत्यस्य आभासे **भजनार्थं भजतः**[सुबो.] इति, "मिथोभजन्ति" इत्यत्र उक्ताः ज्ञेयाः. **सौहृदेन वा**[सुबो.] इति, "भजन्त्यभजतो ये वै" इत्यत्र उक्ताः ज्ञेयाः. **धर्मार्थेतु न शंका**[सुबो.] इति, तत्रैव उक्ताः ये करुणाः ते आत्मारामस्य पूर्णकामस्य धर्मार्थं भजनं कुर्वन्ति, तेषां भजनमात्रेण धर्मः सिध्यति, अतो न प्रायश्चित्तार्थं शंका इति भावः. तदेव उक्तं **धर्मार्थेतु**[प्रका.] इत्यादिना. तत्र **तस्मिन्**[प्रका.] इति, अवसरे इति अर्थः. **तदर्थम्**[प्रका.] इति, कृतघ्नतापरिहारार्थम् इति अर्थः. **प्रायश्चित्तक्रियामात्रेण चारितार्थ्यात् तथा**[प्रका.] इति, आत्मारामाप्तकामानां प्रायश्चित्तं नाम पापनिवृत्तिरूपा या स्वाभाविकी क्रिया तन्मात्रेण चारितार्थ्याद् इति भजनकर्तॄणां फलसिद्धेः, अतः तदर्थं पृथक् प्रायश्चित्तकरणेन तेषु शंका

ते पूर्वोक्तन्यायेन चतुर्विधाः. तन्मध्ये उभये समीचीनाः, उभये न– ये [1]धर्माधिकारिणस्ते अधमाः ये लौकिकनिमित्तास्ते उत्तमा इति. तान् गणयति

टिप्पणी

भजतोपि न वै केचिदित्यत्र ये [2]**दयाधर्माधिकारिण** इत्यादि, धर्मार्थं भजत्सु धर्मं सम्पादयितु**मधिकारिणः** समर्थास्तान् **ये** न भजन्ति **ते त्वधमा** इत्यर्थः. अकृतज्ञत्वादिदोषवत्त्वेन तएवाग्रे वाच्याः. लौकिकमेव निमित्तं भजने येषां ते **लौकिकनिमित्तास्तान् ये** न भजन्ति **ते उत्तमा** इत्याहुः **ये लौकिकनिमित्ता** इति. तएव आत्मारामत्वादिधर्मवत्त्वेनाग्रे वाच्याः ॥१९॥

प्रकाशः

भजतोपि न भजन्ति.] **येदयाधर्मेत्यत्र अदया** इति [3]विछेत्तव्यम्, **ये कृतं** **नेत्या**द्यग्रिमग्रन्थस्वारस्यात्. [टिप्पण्यां **न भजन्तीति**, समर्थास्तान् ये न भजन्ति ते अधमाः. सुबोधिन्यां **सांकर्याभावाय** इति, परस्परमेलनं न भवेत्

लेखः

धर्माधिकारिण इति धर्मसम्पादने समर्थान्, येषां भजनेन धर्मः सिध्यति तानित्यर्थः. एते एव व्याख्याने **दयाधर्माधिकारिण** इत्यनेनोक्ता इति ज्ञेयम्. **दयायां धर्मे चाधिकारिणः** समर्थास्तद्द्वयसाधकास्तान् **ये** न भजन्ति **तेऽधमा**

योजना

भजतोऽपि न वै केचिदित्यस्य विवृतौ **ये दयाधर्माधिकारिणस्ते अधमा** इति– अस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **आत्मारामा ह्याप्तकामा** इत्यस्य

१. दयाधर्माधिकारिण इति पाठः न संबद्धः, अतः अदया इति छेत्तव्यमिति श्रीपुरुषोत्तमाः. दयाधर्मेति पाठो लेखकृतामपि संमतः. मूले तु दयेति नास्ति श्रीविट्ठलरायाणां पुस्तके.

२. धर्माधिकारिण इति ब. पाठः.

३. छेत्तव्यम् इति मुद्रितपाठः मांडपाठमनुसृत्य संशोधितः.

प्रकीर्णदीपिका

इति अर्थः. **अभजतः**[सुबो.] इति, "अभजतः कुतः" इत्यत्र उक्तान् अभजनकर्तॄन् दीनान् धर्माधिकारिणः च इति अर्थः. तदेव उक्तं प्रतिभजने असमर्थान् समर्थान् च इति अर्थः. **पूर्वोक्तन्यायेन**[सुबो.] इति, "नोभयांश्च भजन्त्यन्ये" इत्यत्र उक्त-'भजदभजन'न्यायेन इति

साङ्कर्याभावाय. **आत्मारामा** इति आत्मन्येव रमन्त इति अन्येन भजनीयो देहादिनिरपेक्षित इति भजनमेव न मन्यन्ते. तेषां भजनार्थं च साधनत्वेन स्वदेहादिकमपि न मन्यन्ते. तथा अन्ये **आप्तकामाः– आप्तः** प्राप्तः **कामो** यैः. यो भुक्तवन्तं ब्रूयात् "त्वं भुङ्क्ष्व-मा भुङ्क्ष्वे"ति वा. एकत्राप्रवृत्तिः अपरत्र सिद्धसाधनत्वेनानुवादः, उभयथापि वैयर्थ्यम्. प्रवर्तमानस्य धर्मः

प्रकाशः

तस्माद् इति सांकर्याभावः.] लौकिकनिमित्ताभजनकर्तारः कथमुत्तमा इत्यपेक्षाया**मात्मारामा**दिपदतात्पर्यमाहुः **अन्येने**त्यादि. [**स्वदेहादिकमपी**ति, आत्मारामाः देहादिकं न मन्यन्ते. तर्हि कथं भजते भजनीयतेति? **एकत्राप्रवृत्तिरि**ति, भुक्ततृप्तस्य द्विधाकथनमेव अयुक्तः– "त्वं भुंक्ष्व मा भुंक्ष्वे"तीति. **सिद्धसाधनत्वेने**ति भोजनसाधनकृते. **अनुवाद** इति, एकं वस्तु यस्मिन् वर्तते तस्य तत्रैव कथनम् अनुवादः.] कृतस्य विनियोगापेक्षायामाहुः **उभयथे**त्यादि. एवं प्रतियोगिविचारेण साधनवैयर्थ्येऽपि कर्तृविचारेण विनियोगमाहुः **प्रवर्तमानस्ये**त्यादिना. तथा च ज्ञातुस्तेन धर्मोऽज्ञातुस्तु स्वरूपं

लेखः

इत्यर्थः. **साङ्कर्याभावाये**ति तद्धर्माणामिति शेषः. **प्रवर्तमानस्ये**ति, 'भुङ्क्ष्वे'ति कथने **प्रवर्तमानस्य** तादृशवाक्यवक्तुर्**धर्मः**. 'मा भुङ्क्ष्वे'ति वक्तु**रज्ञानमि**त्यर्थः.

योजना

विवरणे **एकत्राप्रवृत्तिरि**ति, भुक्तवन्तं प्रति 'भुंक्ष्वे'ति कथने अस्य भुक्तवतः भोजने प्रवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः. **सिद्धसाधनत्वेनानुवाद** इति, भुक्तवन्तं प्रति 'मा भुंक्ष्वे'त्युक्ते अनुवादएव. तस्य कृतभोजनस्य भोजनेच्छाभावाद्भोजनं न करिष्यत्येव, अतो भोजनाभावकथनमनुवाद एवेत्यर्थः. **उभयथापि वैयर्थ्यमि**ति, भुक्तवन्तं प्रति 'भुंक्ष्वे'त्युक्तावपि भोजनाभावदर्शनाद्**वैयर्थ्यम्, अर्थो** भोजनं भोजनप्रेरयितुः अपेक्षितत्वात् तादृशस्य भोजनस्याभावाद्वैयर्थ्यमित्यर्थः.

प्रकीर्णदीपिका

अर्थः. **तद्धर्माणाम्**[लेख] इति, आत्मारामादिचतुर्णां धर्माणां पृथक्करणार्थम् इति अर्थः. **प्राप्त कामो यैः**[मूल] इति, "काममयोऽयं पुरुषः", "पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः" इति श्रुत्युक्तः प्राप्तः कामो यैः तेऽपि भक्ताः न अन्येषां भजनं कर्तुं शक्नुवन्ति इति भावः.

सेत्स्यति. अज्ञानं वा. उभये तु अधमा इत्याह. ये **कृतं** न जानन्ति तदुपकारं ते प्रत्युपकारसमर्था अपि उभयविधानपि न भजन्ति. तेषामज्ञानमेव हेतुरभजने. ज्ञात्वा चेदभजनं, **गुरुद्रोहः.** यः कश्चित् स्वस्य पुरुषार्थसाधकः स गुरुः, स पूज्यः. तस्यापदि स्वशक्तौ सत्यां तदुपेक्षायां तद्द्रोहः अनेनैव कृत इति गुरुद्रोहकर्ता भवति. एवं सर्वेषां गुणदोषा निरूपिताः ॥१९॥

प्रकाशः

ज्ञातं भवतीत्यर्थः. अधमेष्वपि ज्ञानाज्ञानाभ्यां विशेषमाहुः **ये कृतं नेत्यादि.** तथा चाज्ञाने करण(णा!)संभवादज्ञातारोऽल्पदोषाः, ज्ञातारस्तु ज्ञानेऽप्यकरणा-

लेखः

तदुपकारमिति दयां धर्मं चेत्यर्थः. **पुरुषार्थसाधक** इति दयाधर्मसम्पादक इत्यर्थः ॥१९॥

योजना

भुक्तवन्तं प्रति 'मा भुंक्ष्वे'त्युक्तौ अनुवादएव, तस्य भुक्तवत्त्वाद्भोजनेच्छाया अभावादेव भोजनाभावे सिद्धे 'मा भुंक्ष्वे'ति कथनस्य वैयर्थ्यम्. एवमुभयथापि वैयर्थ्यमिति हार्दं, तस्याप्तकामत्वात्. आप्तकामे 'भुंक्ष्वे'ति कथनं न फलसाधकं यतस्तस्य तृप्तत्वान्न भुंक्ते, 'मा भुंक्ष्वे'ति कथनमपि फलसाधकं न, तृप्तत्वादेव च भोजनाभावस्य सिद्धत्वाद्भोजनाभावविधानमकिञ्चित्करमेवेत्युभयथा वैयर्थ्यम्. **प्रवर्तमानस्य धर्म** इति, यो 'भुंक्ष्वे'ति भोजनार्थं प्रेरयति कारुण्याद्यधीनस्तस्य धर्मः सेत्स्यति, परोपकारार्थं प्रवृत्तत्वात्. **अज्ञानं चेति,** "अयं तु कृतभोजन [1]एनं कुतः भोजनार्थं प्रेरयामी"त्याद्याकारकज्ञानाभाव इत्यर्थः ॥१९॥

१. एवं भोजनार्थं कथम् इति मुद्रितः पाठः मांडपाठमनुसृत्य संशोधितः:.

प्रकीर्णदीपिका

प्रतियोगी[प्रका.] इति, पूर्णकाम इति अर्थः. **स्वरूपं ज्ञातं भवति**[प्रका.] इति, आप्तकामस्य पूर्णत्वं स्वस्य च अज्ञत्वं ज्ञातं भवति इति अर्थः. **दयां धर्मं च**[लेख.] इति, येषां भजने दया धर्मः च भवति तान् पूर्वोक्तान् दीनान् धर्माधिकारिणः च उभयविधान् न भजन्ति ते अकृतज्ञाः ज्ञेयाः. **दयाधर्म...**[लेख.] इति, सएव दयाधर्मसम्पादकः, तान् न भजन्ति ते गुरुद्रुहः इति अर्थः. तदेव उक्तम् **अकरणे अज्ञानसम्भवाद्**[प्रका.(१)] इति, दयाधर्मसम्पादकानां भजनाकरणे अज्ञानमेव हेतुः

(१) नात्र प्रामाणिकः पाठो, अस्मन्मुद्रितम् एतत्पुस्तकं द्रष्टव्यम् अत्र.

प्रकाशः

दधिकदोषा इत्यर्थः. [**तदुपेक्षायाम्** इति, आपत्सहनम् उपेक्षा.] अत्रेदं सिद्धं – शास्त्रीयफलातिरिक्त-लौकिकफलाभिसन्धिपूर्वकं यदितरेतरभजनं तन्मिथोभजनम्. तत्र न धर्मः, पिशाचभिक्षान्यायात्. न सौहृदम्, इतरेणाभिसंहिताप्रतिकरणे क्रोधाद्, अक्रोधेऽपि सौहार्दशैथिल्यस्य लोकसिद्धत्वाच्च. [1]सेवादिदानेष्वपि सेवाकर्तुर्दुःखनिवृत्तिरेव फलं, न तु धर्मः. अतएव पुराणादिषु तन्निन्द्यते. अदाने त्वाशाभङ्गादिना पापमपवादश्च लोकादेवावगम्यते. [2]इदं च निरपवादे तादृग्भजने. संभावितापवादे तु पापमपवादोऽपि. अतस्तत्कर्तारो वणिज इव स्वार्थपराएव. साधनं स्वार्थमात्र-एवोपक्षीयत इति नाममात्रेणैव तस्य धर्मत्वं, न तु वस्तुत इति. अभजद्भजनं तु लौकिकवैदिकभेदेन द्विविधम्. तत्र स्नेहप्रयुक्तं लौकिकम्. तत्र [3]भजतो अभजत्सौहार्दं[4] फलम्. धर्मस्त्वानुषङ्गिकत्वादल्पः. सौहार्दप्रयोजकस्त्वैहिको जन्मान्तरीयो वा सम्बन्धः. तत्रापि जन्मान्तरीयसम्बन्धस्य दुर्ज्ञेयत्वात्संभाविता-

---

१. सेवादानं कलौ युगे इति पुराणेषु निंद्यते.
२. मूले अन्यथेतिपदस्य परोपकाराय नेत्यर्थः. स्वार्थार्थमेव न परोपकारार्थं मिथो-भजनभावादिति यावत्. परोपकारविषये द्वितीयस्य.
३. पुरुषस्य.
४. अभजतो भजने सौहार्दं फलम् इति मुं. वि. पाठः.

प्रकीर्णदीपिका

इति अर्थः. **अत्र इदं सिद्धम्**[प्रका.] इत्यादिना, "मिथोभजन्ति" इत्यादिश्लोकत्रयाणां समुदायार्थकथने. तत्र **अभिसंहिते**[प्रका.] इति, मिलने इति अर्थः. **क्रोधाद्**[प्रका.] इति, यथा इन्द्रद्युम्नं प्रति अगस्त्यक्रोधाद् इति अर्थः. **इति**[प्रका.] इत्यन्तग्रन्थे प्रथमश्लोकस्य व्याख्यानम्. **स्नेहप्रयुक्तम्**[प्रका.] इति, स्नेहेन प्रेरितं सौहृदार्थं पुत्रादीनां भजनं तद् लौकिकम् इति अर्थः. **धर्मफलम्**[प्रका.] इति, पुत्रादीनां भजनकाले सुखजननाद् धर्मफलम् इति अर्थः. **अल्पः**[प्रका] इति सौहार्दस्य मुख्यत्वाद् इति अर्थः. **प्रयोजकः**[प्रका.] इति, सौहार्दकरणे प्रयोजकः इति अर्थः. **ऐहिकः**[प्रका.] इति, अस्मिन्नेव जन्मनि प्रथमतः सम्बन्धः इति अर्थः. **दुर्ज्ञेयत्वाद्**[प्रका.] इति, ऐहिकः पारलौकिको वा सम्बन्धो न ज्ञायते इति अर्थः. अतो अयं सापवादो धर्मो वा निरपवादः इत्यपि न ज्ञायते. तर्हि कदा ज्ञायेत? इति आशंकायां ज्ञानप्रकारम् आहुः **सम्भावितापवादस्थले**[प्रका.]

प्रकाशः

पवादस्थलेऽपवादोऽपि अभजतः[१]. प्रतियोगिनस्तु[२] यथावसरं तत्प्रत्युपकारः कृतघ्नतापरिहाराय कर्तव्यएव. अन्यथा[३] "कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिरि"ति शास्त्रान्महादोषः स्यात्. अत[४]एव "वृद्धौ च मातापितरौ साध्वीं भार्यां शिशुं सुतं, गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन्मृत" इत्यादिवाक्यानि. वैदिकं तु विधिप्रयुक्तम्. तच्च कर्मप्रधानदेवताप्रतियोगिकासमानप्रतियोगिकसमान-प्रतियोगिकभेदाच्चतुर्विधम्. तत्राद्यत्रये भजतो धर्मो निःसन्दिग्धः. तुरीयं तु निरपवादसंभावितापवादभेदाद् द्विविधम्. अत्राप्याद्ये निःसंदिग्धो धर्मः. द्वितीये तु प्रतियोगिकृतप्रत्युपकारसंभावनाराहित्ये निरपवादो धर्मो भजतः, संभावितापवादे तु संदिग्धो, नृणामनित्यचित्तत्वात्. [५]अभजतस्तु प्रायश्चित्तं विधेयं स्वार्थं तदर्थं च, यदि तदर्थं न तत्कुर्यात्तदैतद्धर्मो भजति गच्छेत्ततश्च पापभागी स्यादिति. अभजन्तस्तु यद्यात्मारामा आप्तकामा वा तदा निर्दोषा एव. तत्राद्यप्रतियोगिकं साधनं धर्मे उपयुज्यते. द्वितीयप्रतियोगिकं तु भजतोऽज्ञतां ज्ञापयद्व्यर्थमेव. संभावितापवादे तु निर्बन्धेन प्रवृत्तौ दोषमप्युत्पादयति भजतः. यदि चाभजन्तो नैतादृशास्तदापि उपकाराज्ञाने

१. पुरुषेण. २. भजनकर्तुः. ३. प्रत्युपकाराभावे.
४. कृतघ्नतापरिहारार्थमेव. ५. अभजतः पुरुषस्य तु प्रायश्चित्तं भजनकर्त्रा विधेयम्.

प्रकीर्णदीपिका

इति, यदा भजनीयः सौहार्दलक्षणं प्रत्युपकारं करोति तदा तत्स्थले भजनकर्तुः अपवादोऽपि भवति इति अर्थः. **प्रतियोगिनस्तु**[प्रका.] इति, अभजतो भजनकर्ता तस्य इति अर्थः. **वैदिकम्**[प्रका.] इति, भजनम् इति अर्थः. **प्रतियोगिक...**[प्रका.] इति, देवताभजनकर्ता इति अर्थः. **असमान...**[प्रका.] इति, गोः पङ्कोद्धारकर्ता. **समान...**[प्रका.] इति, प्रत्युपकारं कर्तुं समर्थः इति अर्थः. **नृणाम् अनित्यचित्तत्वाद्**[प्रका.] इति, भजनकाले निरपवादभावः कालान्तरप्रत्युपकारं गृह्णातीति अनित्यचित्तत्वम् इति अर्थः. **प्रायश्चित्तम्**[प्रका.] इति, यथा वासुदेवविप्रेण कृतम् इति अर्थः. **धर्मः**[प्रका.] इति, तीर्थाटनादिधर्मः इति अर्थः. **स्याद् इति**[प्रका.] इत्यन्तो द्वितीयः. **सम्भावित...**[प्रका.] इत्यारभ्य **भजतः** इत्यन्तग्रन्थः पूर्वं गोपिकानां प्रश्ने, सुबोधिन्याम् "अभजतो भजने क्वचिद् दोषः स्याद् यथा निष्कामे कामिनी" इत्यत्र उक्ताभिप्रायेण अत्रापि अभजतो भजनप्रस्तावे

गोपिकानां हृदये भगवानेतन्मध्ये क इति जिज्ञासायाम्— अभजनकर्तृत्वाद् भजनसामर्थ्यस्यापि विद्यमानत्वान्मिथोभजनपक्षः अभजनभजनपक्षश्च व्यावर्तितः. ननु द्वितीये पक्षे गोपिकानां भजने स्नेहाद्

प्रकाशः

अज्ञाताप्रयुक्तदोषभाजः, ज्ञात्वा प्रत्युपकाराकरणे गुरुद्रोहिण इति ॥१९॥

नाहमित्यत्र, एवं भगवति भजनसामर्थ्यसत्तया भक्तानां धर्मार्थ-भजनपक्षव्यावृत्तावपि **स्नेहाद्**भजनस्याव्यावर्तितत्वात्तत्र भक्तानां प्रवेशे शिष्टानां वाक्यानामसङ्गतिरित्यतस्तमपि[१] व्यावर्तयितुमुद्भावयन्ति **नन्वि**त्यादि.

योजना

ननु द्वितीयपक्षे इति, "भजतोनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययमि"ति प्रश्ने द्वितीयो यो अभजद्भजनकर्ता तत्कर्तृकभजनपक्षगः[२] इत्यर्थः. **गोपिकानां भजन** इति गोपि-काकर्तृकभगवद्भजन इत्यर्थः. **स्नेहाद्भजनमस्तु** इति, गोपिकाकर्तृकं भजनं स्नेहभजनमस्त्वित्यर्थः. **गोपिका भोग्या** इत्यारभ्य

१. तामपि इति मुं. वि. पाठः.

२. पक्ष इति मुद्रितपाठः मांड.पाठमनुसृत्य संशोधितः.

प्रकीर्णदीपिका

उक्तो ज्ञेयः. यथा अभजतो वासुदेवविप्रस्य भजने दोषे सती जाता तथा अत्रापि आत्मारामस्य भजने दोषो भवति इति भावः. **नैतादृशाः**[प्रका.] इति, अभजनकर्तारो न आत्मारामादिसदृशाः, केवलदीनाः धर्माधिकारिणः च इति अर्थः. **द्रोहिणः इति**[प्रका.] इत्यन्तः तृतीयः ॥१९॥

नाहम्[भाग.] इत्यस्य आभासे **गोपिकानां हृदये**[सुबो.] इति, "सभाजयत्वि" इत्यत्र 'अनङ्गदीपन' पदस्य अर्थविचारे पूर्वमपि विचारः उत्पन्नो— अस्मद्दोषेण स्वदोषेण वा त्यक्ता! – इति, तदुत्तरजातं निर्धारयन्ति. तदनुवादः श्रीमदाचार्यैः कृतो **अभजन...**[सुबो.] इत्यादिना. तत्र भजनसामर्थ्यस्यापि विद्यमानत्वाद् अभजनकर्तृत्वात् मिथोभजनपक्षो अभजद्भजनपक्षः च व्यावर्तितः इति अन्वयः. तेन भगवति दोषो निर्धारितः सोऽपि परिहृतो **ननु**[सुबो.] इत्यादिना. **भजनसामर्थ्यासत्तया**[प्रका.(१)] इति, अभजनकर्तृत्वाद् असामर्थ्यम् उक्तम् इति ज्ञेयं नतु सामर्थ्याभावः इति भावः. **शिष्टानाम्**[प्रका.] इति, "नाहन्तु" इत्यादीनाम् इति अर्थः. **तमपि**[प्रका.] इति, स्नेहभजनपक्षम् इति अर्थः.

(१) भजनसामर्थ्यसत्तया इति शुद्धः पाठः.

भजनमस्तु, अतो भगवान् निरूपकत्वेन नैषामन्तर्भूतः ईश्वरश्च नैषामन्तर्भवतीति कथमेवं विचार इति चेत्, मैवम्. गोपिका भोग्या इत्यविवादम्. ताश्च भोग्यसमर्पकत्व एवोपक्षीणाः. अतो भगवतएव विचारः कर्तव्यः. ईश्वरोऽपि

प्रकाशः

निरूपकत्वेनेति स्नेहविषयतया भजनप्रयोजकत्वेन. **एषामि**ति आत्मारामादिचतुर्णाम्. तथा च बालादिवदविचार्यएवेत्यर्थः. [**नैषामि**ति, **एषां** गोपिकानाम् अन्तःकरणेन **अन्तर्भूतः ईश्वरः एषां न अन्तर्भवति** (इति!) कथं विचार इति चेत्, मैवम्.] ननु सामर्थ्यसत्तायां तेऽपि विचार्याएवेत्यत आहुः **ईश्वरश्चे**त्यादि. अत्र प्रतिभजनशङ्कायाएवाभावात् पञ्चमोऽयमिति तथेत्यर्थः. [**नैषामि**ति, **न एषां** जीवानां अन्तर्भवतीति.] तथा च भजदभजतोरुभयोरप्यविचार्यत्वादेव प्रश्नोत्तरसिद्धावग्रिमवाक्यानां न सङ्गतिरिति शङ्काग्रन्थाशयः. अत्र समादधानाः सङ्गतिं व्युत्पादयन्ति **मैवमि**त्यादि. **उपक्षीणा** इति, तावतैव तादृग्भजनसिद्धेर्न विचारार्हा इत्यर्थः. [**भगवत एवे**ति, भोग्यं सर्वं भोगाय समर्पितं तदा विचारः कः? अतो भगवतो विचारः

लेखः

भजनसामर्थ्यस्येति, सामर्थ्याभावे तु गोः पङ्कोद्धारणवदविवक्षितत्वमेव स्यादिति भावः. **नन्वि**ति, द्वितीयपक्षस्था गोपिका भवन्तु, भगवांस्तु

योजना

उपक्षीणा इत्यन्तम्. गोपिकाभिर्भजनं यत्कृतं तद्गोपिकानां भोग्यत्वाद्भोग्यसमर्पकत्वे उपक्षीणम्, भोग्यत्वसिद्धये देहादीनां भगवदुपयोगः कृतः कृतात्मनिवेदनत्वात्[१]. एतावतै**वोपक्षीणाः** प्रतिभजनावश्यकत्वानर्हा इत्यर्थः. **ईश्वरोपी**त्यारभ्य **न विचार्य** इत्यन्तं, फलार्थं सेव्यमानादीश्वरात् फलं प्राप्तव्यम् नतु तत्कर्तृकभजनापेक्षेति भजनाभजनयोस्तदीययोर्न विचारः कर्तव्य

१. कृतात्मनिवेदितत्वात् इति मुद्रितः पाठः. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

प्रकीर्णदीपिका

अतः[सुबो.] इति, **यतो** गोपिकानां भजनसिद्ध्यर्थं प्रथमतः स्वयं भजनं करोति, अतो न लौकिकात्मारामादिसदृशो भगवान् इति अर्थः. **बाला...**[प्रका.] इति, "पितरो यथा" इत्यत्र उक्ताः ज्ञेयाः. **पञ्चमो अयम्**[प्रका.] इति, आत्मारामाद्यतिरिक्तो "नाहन्तु" इत्यत्र उक्तो भजदभजनकर्ता इति अर्थः. **तथा**[प्रका.] इति, अविचार्यः इति अर्थः. **उभयोः**[प्रका.] इति, उभयोः मध्ये

फलार्थं सेव्यश्चेत्, न विचार्यः. व्यवहारे दृष्टार्थश्चेद्, दीयमानग्रहणाग्रहणाभ्यां विचार्य एव. पूर्वं गृहीतत्वात् नात्मारामता, नापि पूर्णकामता. प्रथमप्रवृत्त्या तृप्तावपि परित्यागो नोचितः. ततस्तृतीयपक्ष एवाभिनिवेश उचितः. तदपि सर्वज्ञस्यानुचितम्, ईश्वराणां फलदातॄणां कदाचिदेवं भवतीति – शङ्कायाः

प्रकाशः

कर्तव्यः.] नन्वीश्वरत्वाद्भगवानविचार्य इत्यत आहुः **ईश्वरोऽपीत्यादि. नोचित** इति, कालान्तरेऽपेक्षया नोचितः. **तृतीयपक्ष** इति अकृतज्ञतादौ. [पूर्वमस्माकं ग्रहणं, तेन न आत्मारामता नापि आप्तकामता. आप्तकामानाम् अस्माकं ग्रहणे को(क्वो!)पयोगः? अतः तृतीये अकृतज्ञे अभिनिवेशः उचितः.]

लेखः

कस्मिन्नपि पक्षे नान्तर्भवतीत्यर्थः. **प्रथमेति**, पूर्णकामत्वेन तृप्तौ सिद्धायामपि परित्यागो नोचितः, तत्र हेतुः **प्रथमप्रवृत्त्येति**, परित्यागे करिष्यमाणे प्रथमत एव प्रवृत्तिः किमर्थं कृतेत्यर्थः. **नाहं त्वित्यत्र, अहं राम एवेति, अहं** तु

योजना

इत्यर्थः. **व्यवहारे दृष्टार्थश्चेदित्यारभ्य विचार्य एवेत्यन्तम्**. भजनकर्ता दृष्टमेव पश्वादिरूपं फलम् अर्थो यस्य एतादृशश्चेत्तदा दृष्टं फलं चेन्न प्राप्तं तदा भजनविषय ईश्वरो विचार्यः— किमस्माभिः कृतायां पूजायां ह्यर्पितान् गन्धाद्युपचारानीश्वरो गृहीतवान्नवेति. यदि गन्धाद्युपचारा गृहीताः स्युस्तदास्मन्मनोभिलषितं स्यात्. तस्मान्न गृहीतवानित्येका कोटिः, शास्त्रोक्तयथावदुक्तमर्यादया कृतत्वाद्गृहीतवानेवेति द्वितीया कोटिः— एवं कोटिद्वयोपस्थितौ निर्णयसिद्ध्यर्थमीश्वरो विचार्य एव. ननु भगवानात्मारामः, तस्य प्रयोजनाभावाद्भवतीनां भजने प्रतिभजनं न कुर्यादिवेति किमर्थमत्र भजनाभजनविचार इत्याशङ्क्याहुः **पूर्वं गृहीतत्वान्नात्मारामता नापि पूर्णकामतेति**. अस्मत्समर्पितस्य देहादेः पूर्वं गृहीतत्वाद् अङ्गीकृतत्वान्नात्मारामता किन्तु व्रजसुन्दरीगणविहारैकतानतेत्यर्थः. अत एव पूर्णकामतापि नास्तीति भावः. ननु मास्त्वात्मारामता पूर्णकामता वा, तथापि पूर्वरमणस्य कृतत्वात्तृप्तो भगवान्न रमते, किमत्र दूषणमित्याशङ्क्याहुः **प्रथमप्रवृत्त्या तृप्तावपि परित्यागोऽनुचित** इति. पूर्वकृतेन रमणेन तृप्तिरास्तां नाम, परन्त्वस्माकं परित्यागस्त्वनुचित एवेति भावः.

परिहारमाह [1]**नाहं तु सख्य** इति.

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥२०॥

तुशब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति. नापीश्वरभजनपक्षः शङ्कनीय इत्याह **सख्य** इति, गोपिकास्तु **सख्यः** रसे तुल्याः एकार्थाभिनिवेशाश्च. **अहमि**ति भगवान् न तु जीवः, तेन आत्मारामादिपक्षा व्यावर्तिताः. अहं राम एव, न

प्रकाशः

ईश्वराणामित्यादिना द्वितीयापि कोटिर्विारिता तेन[2] भगवद्धर्मसंदेहएव पर्यवसन्न इति तन्निवृत्त्यर्थानि वाक्यानीति नासङ्गतिरित्यर्थः. **तं पक्षमि**ति पूर्वोक्तकोटिपञ्चकम्. [जीवपक्षं व्यावर्तयति, जीवस्मात् (जीवाद्!) व्यतिरिक्ता व्यवस्था भगवतो ज्ञेया.] **न तु जीव** इत्यनेनाकृतज्ञत्वादिव्यावृत्तिः. तथाप्यात्मारामत्वादेर्भगवति श्रौतत्वात्कथं तद्व्यावृत्तिरित्याकांक्षायां तद् व्युत्पादयन्ति **तेने**त्यादि. तथा च शुकादिभिः स्वप्रतिष्ठत्वेन [3]आत्मारामत्वाय

योजना

नाहं तु सख्य इत्यस्य विवृतौ, ननु ईश्वरोऽपि प्रतिभजनं फलदानादिना करोत्येवेति वयमपि प्रतिभजनं प्रतीक्षामह इत्याशङ्क्याहुः **नापीश्वरभजनपक्ष** इत्यादि. तत्र हेतुः **सख्य** इति– "यतो भवतीभिः फलमुद्दिश्य भजनं न कृतं किन्तु शुद्धपुष्टिरीत्या कृतम् अतः फलदानादि मयापि न कृतम्. अपि च भवतीनां मयीश्वरबुद्ध्यभावात्सख्यमात्रेण रमणं

१. मर्यादामार्गे भजनं न करोति. २. तेन च भगवद्धर्मसन्देहः इति मांड. पाठः.
३. रामत्वाय इति मुद्रितपाठः मांडपाठमनुसृत्य संशोधितः.

प्रकीर्णदीपिका

भगवान् अविचार्यः इति अर्थः. **द्वितीया...**[प्रका.] इति, आत्मारामाः सकामरूपाः इति प्रथमा कोटिः, अकृतज्ञादिरूपा इति द्वितीया ज्ञेया. **पूर्वोक्तकोटिपञ्चकम्**[प्रका.] इति, व्याख्याने "भजतोऽनुभजन्त्येके" इत्यत्र [1]"मिथो भजनकर्त्रोः कीदृक् स्वरूपम्?" इति प्रश्नरूपा एका कोटिः, "एक एतद्विपर्ययम्" इत्यत्र [2]अभजद्भजनकर्तुः, [3]तस्य अभजतः च किं फलम्? "नोभयांश्च भजन्त्यन्ये" इत्यत्र [4]भजदभजनकर्तृणाम् आत्मारामादीनां; [5]तेषाञ्च भजनकर्तृणां किं फलम् इति पञ्चकोट्यः. **शुकादिभिः**[प्रका.] इत्यादेः, अयम् अर्थः–शुकादीनाम् आत्मनि

त्वात्मारामः. ममात्मव्यतिरिक्तपदार्थाभावान्न व्यावर्त्यमस्ति. कामाभावादेव नाप्तकामत्वम्. अतो मम भिन्नैव व्यवस्था, न तु जीवतुल्यता. **नाहं तु सख्य** इति तामेव व्यवस्थामाह— **भजतोऽपि जन्तून् अहं न भजामि.** तत्रान्य एव हेतुः **अमीषामनुवृत्तिवृत्तय** इति, **अमीषां** जीवानाम्. **जन्तु**पदेन

प्रकाशः

तथोच्यते, न तु व्यावर्त्यव्यावृत्तय इति न स पक्ष इत्यर्थः. [**न त्वात्माराम** इति. यदा ममातिरिक्तोऽन्योऽस्ति तदा तं विहाय आत्मनि रमन्ति(!) तदा आत्मारामता. तत्तु नास्ति अतो आत्मारामता नास्ति किन्तु रामता एव.] एवं "सोऽकामयते"त्यादावभिध्यैवोपदिश्यते, न तु काम इति. "न ह्यपुत्रः पण्डितपुत्रो भवती"तिन्यायेन सोऽपि पक्षो निरस्तो बोध्यः. [**अमीषामनुवृत्ति-**

लेखः

रामएव, स रमते सर्वत्रैव तादृशएवेति. बाहुलकात् कर्तरि घञ्. **ममात्मेति**, जीवानामात्मानात्मविवेकोऽस्ति, मम तु देहादिकं विषयाश्चात्मरूपा एवेत्यर्थः.

योजना

कृतमिति न तत्र प्रतिभजनापेक्षे"ति भावः. **नत्वात्मारामः ममात्मव्यतिरिक्त-पदार्थाभावान्न व्यावर्त्यमस्तीति. आत्माराम**पदे **आत्म**शब्देनात्मन्येव रमते नान्यत्रेत्युच्यते, तथा **चात्म**शब्दस्याव्यावर्तकत्वमस्ति[1], अतः आत्मारामत्वं भगवति नास्ति, "आत्मैवेदं सर्वं, स सर्वं भवती"त्यादिश्रुतेर्भगवतः सर्वरूपत्वे**नात्मव्यतिरिक्तपदार्थाभावाद्** आत्मन्येव रमते नान्यत्रेति व्युत्पत्तेः

१. आत्मशब्दस्यान्यव्यावर्तकत्वमस्ति इति मुद्रितः पाठः. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

प्रकीर्णदीपिका

स्थित्वा भगवान् रमते, अतो भगवान् 'आत्मारामः' इति उच्यते इति अर्थः. **नतु व्यावर्त्यव्यावृत्तये**[प्रका.] इति, भगवतितु "अयम् आत्मा भिन्नो अस्ति – तस्मिन् अहं (न!) रमे" इति भेदो नास्ति. अतः शुकादिभिः न व्यावर्त्यव्यावृत्तये 'आत्मारामः' इति उच्यते इति अर्थः. तद् उक्तं **मम**[सुबो.] इत्यादिना. **न स पक्षः**[प्रका.] इति, आत्मारामेति पक्षो न इति अर्थः. **एवम्**[प्रका.] इति, वेदे "सोऽकामयत" इति **अभिध्यैव उपदिश्यते**[प्रका.] इति, कथनमात्रेण उपदिश्यते इति अर्थः. तत्र दृष्टान्तम् आह **नहि**[प्रका.] इत्यादि. **सोऽपि पक्ष**[प्रका.] इति, आत्मकामपक्षः इति

प्राणिमात्रम्. भगवतो न केनाप्युपयोगः, भगवान् फलरूप इति सर्वेषामेवोपयोगः. तथा सति तेषां भजनमेव इष्टमिष्टसाधनं वा. तत्राहं चेत् साधनत्वेन प्रविशामि तदा भजनमेव नाशयामि, अग्रे भजनस्य प्रतिबन्धात् पूर्वभजनस्य च वैयर्थ्यापादनात्. चतुर्धा हि भगवदुपयोगः– भगवान् भोग्यो भोक्ता वा, भोग्यपक्षे कामनापूरकत्वेन स्वातन्त्र्येण वा, भोक्तापि भक्त्या

प्रकाशः

वृत्तय इति. **अमीषां** जीवानां यथा मयि **अनुवृत्तिः** भजनबुद्धिर्भवति अतो अहं न भजामि. मम भजने तु तेषा**मनुवृत्तिः** अंतरायः.] **तत्रे**ति भजनस्येष्टसाधनत्वपक्षे. [**वैयर्थ्यापादना**दिति, **पूर्वभजनस्य** क्रियमाणभजनस्य तुच्छफल-

लेखः

इष्टमित्यनेन फलरूपं भजनमुक्तम्, **इष्टसाधनमि**ति साधनरूपम्. कामनापूरकत्वेन भोग्यत्वपक्षे विषयत्वेन भोक्तृत्वपक्षे चेष्टसाधनत्वम्, इतरयोः पक्षयोरिष्टत्वमिति विभेदः. **तत्रे**ति, उभयोर्मध्ये **साधनत्वेन** भजने क्रियमाणे **चेदहं प्रविशामि,** कामपूरकत्वेनेति शेषः, तदा कामभोगे**नाग्रे भजनप्रतिबन्धा**द्भजनं नश्येदित्यर्थः. भगवतएवेष्टत्वात् तत्साधनत्वं भजनस्य न जातमेवेति भावः. **वैयर्थ्यापादना**दिति, नित्यफलासाधकत्वे भजनफलं न सिद्धमेवेत्यर्थः. एतदेव विशदयन्ति **चतुर्धा ही**ति– **भगवानि**ति, भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन वा भगवदुपयोग इत्यर्थः. **कामने**ति, परिरम्भादिभिरभिलाषां

योजना

असम्भवादित्यर्थः. **चतुर्धा हि भगवदुपयोग** इति, भोग्यत्वेन द्वेधा भोक्तृत्वेन च द्वेधेत्येवं चतुर्धेत्यर्थः. तत्र भोग्यत्वे प्रकारद्वयं– **कामनापूरकत्वेन**

प्रकीर्णदीपिका

अर्थः. **नाहम्**[भाग.] इत्यत्र **जीवानाम्**[सुबो.] इति, "अमीषां व्रजीयजीवानाम् अनुवृत्तिवृत्तये परोक्षभजनं करोमि" इति योज्यम्. एतदर्थो **न पारयेऽहम्**(श्लो. २१) इत्यस्य टिप्पण्याम् आभासे "प्रकृते" इत्यादिना उक्तो द्रष्टव्यः. **प्राणिमात्रम्**[सुबो.] इति, 'प्राणिमात्र'शब्देन "साधनमार्गीयजीवान् भजतोऽपि नाहं भजामि, तेषान्तु फलं दत्त्वा निश्चिन्तो भवामि" इति योज्यम्. एतदर्थोऽपि तत्रैव टिप्पण्यां "साधन..."[टिप्प.] इत्यादिना "अग्रे निरुध्य"[टिप्प.] इत्यादिना उक्तो द्रष्टव्यः ॥२०॥

भक्तदत्तपदार्थस्वीकाराद् विषयत्वेन भोगाद्वा. आद्ये भजनं नश्येद्, अल्पफलदानात्, स्वरूपतो महत्त्वेऽपि कालपरिच्छेदात्. द्वितीये तु तथात्वमतिभजनेन भवति, तद् गोपिकानां नास्तीति तत्सिद्ध्यर्थमभजनम्.

प्रकाशः

त्वाद् वैयर्थ्यम्. **स्वातन्त्र्येणेति**, स्वातन्त्र्यं गोपिकावद् रसरूपत्वेन. **आद्ये** विषयत्वे. **कालपरिच्छेदादिति** समयान्तरविनाशि. **तथात्वं** भोग्यत्वम् **अतिभजनेन भवति.** **तद्** अतिभजनं **गोपिकानां नास्ति** अतो अपेक्षाकृता अभजनता कृता.] **पूर्वमुक्तमिति** अनुपदमेव **द्वितीये त्वित्यादिनोक्तम्** ॥२०॥

लेखः

कामिन्याः पूरयतीत्येवं तद्भोग्यो भवतीत्यर्थः. **स्वातन्त्र्येणेति**, भक्तो यथैवेच्छति तथैव स्वरूपानन्दमनुभवतीत्यर्थः. **भक्त्येति** हेतौ तृतीया, **भक्तदत्तपदार्थस्वीकारात्** तस्य भक्तिसिद्ध्यर्थं तद्दत्तपदार्थ**भोक्तेत्यर्थः**. **विषयत्वेनेति**, काममात्रपूरकत्वे भोग्यत्वं स्वेच्छया भोगे भोक्तृत्वमिति भावः. **निभृतानामिति**, स्वातन्त्र्येण भगवतो भोग्यत्वं **प्रयोजनं** फलमित्यर्थः ॥२०॥

योजना

स्वातन्त्र्येण चेति. भोक्तृत्वे प्रकारद्वयं– **भक्त्या भक्तदत्तपदार्थस्वीकारेण विषयत्वेन भोगेन** चेति. एवं चतुर्धा. **आद्ये भजनं नश्येतेति**, कामनापूरकत्वेन भोग्यत्वपक्षे इत्यर्थः. कामनापूरकत्वेन यदि भगवान् भोग्यः स्यात्तदा जीवकामनायाः[१] अल्पत्वात्तावत्कामनापूर्तौ अग्रे प्रयोजनाभावाद्भजनं न स्यादित्यर्थः. अतो भजनं नश्येतेत्यर्थः. तत्र हेतुमाहुः **अल्पफलदानादिति**, अल्पफलं प्राप्य कामनाया निवृत्तौ भजनानुवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः. ननु भगवतस्त्वगणितानन्दत्वात्कामनापूर्त्यर्थमपि भगवत्सम्बन्धे पूर्णानन्दानुभवएव भविष्यतीति किं बाधकं कामनापूरकत्वेन भोग्यत्व इत्याशङ्क्याहुः **स्वरूपतो महत्त्वेऽपि कालपरिच्छेदात्**, भगवतः **स्वरूपतो महत्त्वं** पूर्णानन्दत्वं यद्यप्यस्ति तथापि **कालपरिच्छेदात्** कालेन कामनाविषयस्य रमणस्य परिच्छेदात्तावता रमणेन मनोरथपूर्तौ अग्रे भजनानुवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः. **द्वितीये त्विति**, द्वितीये पक्षे स्वतन्त्रत्वेन भोग्यत्वपक्षे इत्यर्थः. **अतिभजनेन भवतीति**, अहर्निशं विप्रयोगसंयोगभेदेन चेदतिभजनं कुर्युः तदा स्वतन्त्रत्वेन फलरूपतया भोग्यत्वं भगवतो

१. तदातीव कामनाया इति मुद्रितः पाठः. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

अपेक्षाभावात् नाहं विषयन्यायेन भोक्ता. भक्त्यर्थं तु अभजनमेवेति सिद्धान्तसङ्ग्रहः. यथा अभजने अनुवृत्तिः सिध्यति तथा प्रकारमाह **यथाधन** इति. पूर्वम**धनः** पश्चाल्लब्धं **धनं** तच्चे**द्विनष्टं** तदा **तच्चिन्तया व्याप्तः निभृतः** तदेकनिमग्नः सन् **अन्यन्न वेद**– एतत्तु लोकप्रसिद्धम्. तथा गोपिकानामपि पूर्वमप्राप्तो भगवान् प्राप्तश्चेत्तिरोभवति, तदा निभृताः तत्रैव मग्नचित्ताः न प्रपञ्चं स्मरिष्यन्ति. निभृतानां प्रयोजनं पूर्वमुक्तमेव ॥२०॥

एवं स्वस्याभजने हेतुमुक्त्वा प्रकृते तदभावमाह **एवमिति.**

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं नार्हथ तत्प्रियं प्रियाः ॥२१॥

यदुक्तं ताभिररण्ये स्त्रियो रात्रौ कथं त्यक्तव्याः तदर्थमेवमुच्यते. द्वयमत्र कर्तव्यं– भजनानुवृत्त्यर्थमभजनं, रात्रौ रक्षार्थं भजनं च. तत् परोक्षभजनेन सिध्यतीति **मया परोक्षं** [1]**भजता तिरोहितम्.** भजने हेतुमाह **एवमिति, मदर्थमेव उज्झिता लोकवेदस्वा** याभिः. वृथापरित्यागव्यावृत्त्यर्थं मोक्षार्थपरित्यागव्यावृत्त्यर्थं च **मदर्थमुज्झितेत्युक्तम्.** आद्ये त्यागोऽनिष्टहेतुः,

प्रकाशः

एवं मदर्थेत्यत्र, [आभासे **तदभावमिति, तद्** (इति!) अभजनस्य **अभावमाह.** व्याख्याने **यदुक्तमिति** "कस्त्यजेन्निशि" इति पूर्वम्. **परोक्षभजनेनेति, परोक्षभजनं** तिरोहितलीलया भजनम् अतिरोहितं, तेन. **मोक्षार्थेत्यादि,** निषेधो **व्यावृत्तिः,** तस्यार्थं **मदर्थोज्झितेत्युक्तम्,** अन्यथा

लेखः

एवमित्यस्याभासे. तदभावमिति अभजनाभाव**माह,** अहं तु भजन्नेव

योजना

भवतीत्यर्थः. अतो विप्रयोगदानार्थं भगवता तिरोहितमिति भगवतः सरणिरन्यैव, नतु आत्मारामादिषु चतुर्ष्वन्तर्भाव इति भावः. अतः परं विषयन्यायेन भोक्तृत्वेन उपयोगं दूषयन्ति **अपेक्षाभावादि**त्यादिना. **भक्त्यर्थं त्विति,** भक्त्या दत्तस्य पदार्थस्य भोक्ता भवतीति पक्षे तु **भक्त्यर्थं** निरन्तर-भक्तिसिद्ध्यर्थ**मभजनं** भगवता कृतमतो यदा निरन्तरं भक्तिर्भविष्यति तदा भोक्ता भगवान् भविष्यतीति भावः ॥२०॥

---

१. भजतातिरोहितम् इति ब. पाठः.

द्वितीये न मम भारः. त्रयः पदार्थास्त्यक्तव्याः. लोको दुस्त्याज्यः. आर्यमार्गो वैदिकः, प्रकारस्तादृश इति, मयैव लोके तथैव प्रतीतिजननात्. पतिपुत्रादयो दुस्त्याज्याः. तत्रापि न मयि प्राप्ते, किन्तु **मदर्थे** मत्कामनायामेव, तदा मे विचिकीर्षितो भवतीति. "सर्वधर्मान् परित्यज्ये"ति तादृश एव मम भाव इति त्रितयपरित्यागे मया भजनं कृतम्. [१](वस्तुतस्तु **स्वपदं** स्वात्मपरम्, अन्यथा पतिपुत्रादीनामपि लोकवेदमध्यपातात्तेनैव तत्प्राप्तेः **स्वपदमनर्थकं**

प्रकाशः

उज्झितेत्युक्तं भवति. **आद्ये** इति वृथापरित्यागे. **द्वितीये** इति, मोक्षार्थपरित्यागे **ममोपरि न भारः. त्रय** इति, लोकवेदस्वकीयत्वं च त्रयः. **लोक** इति, प्रथतः(मः?) लौकिको दुस्त्याज्यः. **तादृश** इति दुस्त्याज्यः. **तथैव** दुस्त्यजैव. **तत्रापीति, तत्रापि मयि प्राप्ते न** त्याज्या **किन्तु मदर्थे एव** कामनामात्र एवेति.] **मे विचिकीर्षित** इति विशिष्टः सर्वाधिकश्चिकीर्षितः, "यदा पुमांस्त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे" इति वाक्यादित्यर्थः. [**विचिकीर्षितो** कर्तुमिच्छागोचरो, "मया अस्य किं कर्तव्यमि"ति.

लेखः

स्थित इत्यर्थः. व्याख्याने. **तादृश इतीति**, दुस्त्याज्य इत्यर्थः. तस्य दुस्त्याज्यत्वे हेतुमाहुः **मयैवेति. विचिकीर्षितो भवतीति**, कृतिर्लीला तदिच्छाविषयो भवतीत्यर्थः. तस्मिन् लीलां कर्तुमिच्छामीत्यर्थः. **वः युष्मानिति. व** इति

योजना

आद्ये त्यागोऽनिष्टहेतुरिति, वृथा त्यागो विध्यभावात्त्याज्यानां दुःख-सम्पादकत्वाच्चानिष्टहेतुरित्यर्थः. **द्वितीयेन मम भार** इति, **द्वितीयेन** मदर्थ-त्यागेनेत्यर्थः. मदर्थत्यागेन हेतुना ममोपरि भवतीनां **भारः** मयि ऋणित्व-मित्यर्थः. तथा च ऋणित्वपरिहारार्थं परोक्षभजनं कुर्वता मया तिरोहितमित्यर्थः. वस्तुतस्तु भवतीनामृणी भवाम्येवेत्यग्रिमश्लोके वक्ष्यते ॥२१॥

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्.

प्रकीर्णदीपिका

एवं मदर्थ...[भाग.] इत्यत्र, त्रयः पदार्थाः त्यक्तव्याः[सुबो.] इति उक्तं, तत्र, 'स्व'पदस्य अर्थः पतिपुत्रादयो दुस्त्याज्याः[सुबो.] इति उक्तः, तदर्थं अरुचिं मत्वा वस्तुतस्तु[सुबो.] इत्यादिना,

स्यात्. तथा च स्वात्मत्वेन स्नेहविषयत्वाभावएव तत्त्यागः, एतासां भगवदर्थत्वेन प्रीतिविषयत्वादात्मादीनामिति सारम्.) **(हि!)** युक्तश्चायमर्थो, अनन्याः पालनीया इति. **वः** युष्मान्. **मय्यनुवृत्तय** इत्येकं फलम्. **अबला** इति सम्बोधनात् न सतामिव प्रत्यक्षेण भवतीनां भजनं सिध्यतीति ज्ञापितम्. **परोक्षं भजता अतिरोहितं** वा. भजनं भोगो वा, भोक्त्रैव **मया** भोगं कुर्वता **तिरोहितं** भवतीभिर्न दृष्ट इत्यर्थः. अनेनाभजनपक्षो व्यावर्तितः. तस्मिन् सत्यसूया सम्भवति अकृतज्ञत्वादिदोषारोपणेन, **मा माम् असूयितुं नार्हथ.** यतः **प्रियम्,** प्रिये दुष्टे स्वस्यापि तथात्वस्यावश्यकत्वात् त्यक्तुमशक्यत्वात्. किञ्च **प्रिया** यूयम्. कृतज्ञत्वादयो हि धर्मा न प्रीतिविषये

प्रकाशः

स्वात्मपरमिति, न तु पतिपुत्रादिपरम्. **तत्त्यागः** इति आत्मत्यागः. **प्रीतिविषयत्वादि**ति, आत्मादीनां यद्धर्मः तत् स्वार्थे त्यक्तं, तत्पालनादिकं भगवदर्थएवेति स्वत्यागः. **युक्तश्चायमर्थः** इति हीति. **इत्येकमि**ति, इति एकं फलम्. **सतामिव** ज्ञानिनामिव. **व्यावर्तितः** निवर्तितः. **तस्मिन्** अभजनपक्षे. **मा मामि**ति, मा इति **माम्. तथात्वस्ये**ति, दुष्टत्वम् अवश्यम्. **आवश्यकत्वादि**ति, यथा दुष्टेऽप्यासक्तिः दुष्टत्वं करोति. **धर्मा** इति, **कृतज्ञत्वादि**अकृतज्ञत्वादिधर्मा **प्रीतिविषये** न प्रतीयते(न्ते!) न गण्यन्ते, औदासीन्ये भव(वं!)ति.] ॥२१॥

लेखः

पदमावृत्तमेकत्र षष्ठ्यन्तमेकत्र द्वितीयान्तम्. तथा च त्यक्तलोकादीनां युष्माकमेवमभजनसिद्धानुवृत्तिप्रकारे**णानुवृत्तये वः** युष्मान् **परोक्षं भजता तिरोहितमि**त्यन्वयः ॥२१॥

प्रकीर्णदीपिका

उक्तः 'स्व'पदस्य अर्थो ज्ञेयः. **एकं फलम्**[षगो] इति, "**वो** युष्माकम् अनुवृत्तये इति एकं षष्ठ्यन्तं फलं, **वो** युष्मान् परोक्षं भजता तिरोहितम् इति द्वितीयं तं फलम्" इति योज्यम्. **न सतामिव**[षगो] इति, सतां यथा मम प्रत्यक्षमात्रेण फलसिद्धिः भवति, न तथा भवतीनां किन्तु विप्रयोगेणैव अनुवृत्तिरूपं फलं भवति. तत्करणे भवतीनाम् असामर्थ्याद् 'अबला' इति उक्तम्. अतो मया तिरोहितम् इति भावः. **कृतज्ञत्वादयो हि**[षगो] इति, 'आदि'पदेन अकृतज्ञत्वधर्माअपि. **न प्रीति-**

भवन्ति, औदासीन्यसामानाधिकरण्यात् ॥२१॥

एवं तासां मनोमार्जनमुक्त्वा भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुं ताः स्तौति **न पारयेऽहमिति**.

टिप्पणी

न पारयेहमित्यस्याभासे भक्तिमार्गविरोधमित्यादि, ननु "नाहं तु सख्य" इत्यादिना साधनमार्गीयभक्तविषयकमभजनमुक्तम्, प्रकृते च परोक्षभजनमुक्तम्, अनुवृत्तिवृत्त्यर्थं परोक्षभजने च हेतुत्वे"नैवं मदर्थे"त्या-द्युक्तम्. तथा चैतद्भजनानुरूपमेव स्वभजनमुचितं न तु कामपि मर्यादां स्थापयित्वा, तथा सति भक्तिमार्गविरोधापत्तिः. एतादृशीनां दुःखदर्शनमपि

प्रकाशः

न पारये इत्यस्य टिप्पण्याम् **उक्तमिति** 'जन्तु'पददानादुक्तम्. **वृत्त्यर्थमिति** सिद्ध्यर्थम्. **तथा सतीति** मर्यादालेशस्थापने सति. **विरोधापत्तिरिति**, "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इति वाक्यात्तथेत्यर्थः. [**तथा सतीति**, भजति सति भक्ताः भजन्ति स्वयं तथा न भजति इति विरोधापत्तिः.]

योजना

न पारयेहमित्यस्याभासे भक्तिमार्गविरोधमिति— एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥२२॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्यवर-श्रीविठ्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनाम-दीक्षितबालकृष्णेन कृतायां दशमस्कन्धैकोनत्रिंशाध्याय-सुबोधिनीयोजना सम्पूर्णा ॥

प्रकीर्णदीपिका

विषये[सुबो.] इति, यत्र 'प्रीति'पदार्थः तत्र न भवन्ति. तदेव उक्तं वृत्रस्य चतुःश्लोक्यां "प्रियं प्रियेव" इति पदस्य व्याख्याने श्रीमत्प्रभुचरणैः " 'प्रिय'पदात् निरुपाधिकः स्नेहो निरूपितः" इति. स्नेहस्य तथात्वं तदभिज्ञेन उक्तम्— "आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि, क्षीयेतापि नवापराधविधिना नत्या न वै वर्धते, पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतां दुःखद्रुहः साम्प्रतं, प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठता गौरवम्" इति. अत्र "येन" इति, स्नेहेन इति अर्थः. अतः उभयोः मध्ये सोपाधिकः स्नेहो न केनापि कार्यः इति सारम् ॥२१॥

टिप्पणी

स्वस्य तद्विरुद्धमिति प्राप्त उच्यते– अत्र स्वामिनीभजनानुरूपं न भजनमिति हि तवाशङ्का. तत्तु प्रावाहिकधर्मरूपम्. एतदेव भगवताप्युक्तं मद्दत्तयत्फलार्थिनो यादृशं भजनं तत्फलं दत्वा ततो विमुच्य[१] इत्याशयेन "ये यथा मामि"त्यादि. अत्र 'यथा-तथे'ति पदाभ्यां भजनप्रकारयोरप्येकरूपत्वमुच्यते. प्रकृते च दास्यं प्रकारः. स च भक्तधर्मएव, नत्वीश्वरे सम्भवति. कदाचित्क्रियमाणमप्यनुकरणवद् भवति. न हि महाराजः कदाचित् संतोषेण स्वसेवकाङ्गमर्दनं कुर्वन् दासो भवति. तथा प्रकृतेऽपि रसवशात् मानिनीपदपद्मपरागानुरागं कुर्वन्नपि पतिरेव न त्वन्यथा भवतीति क्व प्रत्युपकृतिसम्भवो भजनानुरूपं भजनं वा? एवं सति प्रत्युपकृत्यपेक्षया तदभावेन दोषारोपो न कार्यो अशक्यत्वादित्युक्तं भवति.

नन्वेवं सति सुतरां परोक्षभजनमनुपपन्नं, न ह्यप्रत्युपकार्यभजनासु दुःखहेतुकृतिः सम्भवतीति चेद्, अत्र ब्रूमः. रसात्मक प्रभुरित्यविवादम्. स च संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः. तत्रान्यतराभावे त्वसम्पूर्णएव सः स्यात्, अतः सम्पूर्णं रसं दत्वा तदुत्तरकालीन-दोषारोपात्मक-व्यभिचारिभावोत्पत्तौ

प्रकाशः

तदिति भजनानुसारेण भजनम्. [**तव** प्रतिवादेः (प्रतिवादिनः!). **मद्दत्तयत्फलार्थिनो** इति, मया दत्तं यत्फलं तदेव अर्थो येषां ते, तत्फलं दत्वा अहं विमुच्येत इति "ये यथा मामि"त्यादि.] **विमुच्ये** इति निश्चिन्तो भवामि. [**"ये यथा मामि"**ति, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति 'यथा-तथा' इति पदाभ्यां भजनप्रकारयोः एकरूपत्वम्.] गीतावाक्यस्यायमेव विषय इत्यत्र किं गमकमित्यपेक्षायां तदुपपादयन्ति **अत्र यथे**त्यादि, **भजनं** वेत्यन्तम्. [**प्रकृते** प्रस्तावे. **दासो भवती**ति, किन्तु न भवत्येव. **पतिरेव** प्रभुरेव. **अप्रत्युपकार्यभजनासु** गोपिकासु. **अन्यतराभावे** इति, एकस्य भावे एकस्य अभावः इति अन्यतराभावः. **सः** रसः. **तदुत्तरे**त्यादि, **तद्**रसस्य

१. विमुच्यते मू. पा.

प्रकीर्णदीपिका

न पारयेऽहम्[भाग] इत्यस्य टिप्पण्यां **मर्यादाम्**[टिप्प] इति, एतासां भजनानुरूपभजनं दासभावेनैव कार्यं, तत्र ऐश्वर्यादिरूपा मर्यादा न कापि स्थापनीया इति अर्थः. **एतेन**[टिप्प]

टिप्पणी

तच्छान्तिर्वचनैः कृता तस्याग्रिमरसानुभवविरोधित्वादिति न किञ्चिदनुपपन्नम्. एतेनैतादृशीषु दुःखदर्शनं स्वस्य भक्तिमार्गविरुद्धमित्यपि निरस्तम्. एवं सतीश्वरत्वमेवाशक्तौ हेतुरित्याशयेन प्रभुराहेत्याहुः **भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुमि**ति.

नन्वेतेन स्वस्येश्वरत्वमेवोक्तं भवति न त्वेतत्स्तुतिरिति चेद्, अत्रायं भावः. यद्यपीश्वरत्वेनोक्तरीत्या प्रत्युपकारकरणं न सम्भवत्येव तथापि तर्कितमुच्यते– यदि कथञ्चिन्मयि दास्यमापद्येत तथापि निरन्तरं दास्यकरणेऽपि कदाप्यनृणो न भवामीति प्रभुणा निरवध्युत्कर्ष उक्त इति का वान्या स्तुतिरेतदग्रे! अन्यथा **विबुधायुषापी**ति न वदेत्, **स्वसाधुकृत्यं न पारये** इत्येतावतैव चारितार्थ्यात्.

नन्विदमितरभक्तसाधारणमिव भाति. तथा हि. चतुर्वर्गार्थिषु तद्दानस्य प्रत्युपकृतिरूपत्वेऽपि प्राप्तात्यन्तिकभक्तियोगेषु सेवातिरिक्तानपेक्षणात्तस्याश्च. स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात् किं वा प्रत्युपकृतित्वं भजेत? प्रकृतेऽपि दास्यातिरिक्तानपेक्षणान्न प्रत्युपकृतिः सम्भवतीति कोऽत्र विशेष इति चेद्, अत्रेदं प्रतिभाति. न ह्यपेक्षितत्वेन प्रत्युपकृतित्वं सम्भवति, स्वल्पं कृत्वाऽधिकप्रेप्सोरधिकं कृत्वा स्वल्पप्रेप्सोश्चार्थे व्यभिचारात्. अतः स्वरूपतः पूर्वकृत्यनुरूपत्वं मृग्यम्.

प्रकाशः

उत्तरकाले संपूर्णदानानन्तरं **दोषारोपो** मानात्मकः. **तस्य** दोषारोपात्मक-व्यभिचारिभावस्य. **प्रभुराहे**ति, ईश्वरत्वाद् दासस्य प्रत्युपकृतिकरणे असमर्थता अतएव प्रभुः. **न त्वेतदि**ति, **एतद्** इति गोपिकानाम्.] **कथञ्चिदि**ति "अकरोः सचिवं दूतमि"त्यादाविव लीलयेत्यर्थः. [**इतरभक्तसाधारणमिवे**ति मर्यादा-मार्गीयभक्तवत्. **चतुर्वर्गार्थिषु** धमर्थिकाममोक्षार्थिषु.] **अर्थ** इति तस्मै

प्रकीर्णदीपिका

इति, "**विप्रयोगाभावे स रसो असम्पूर्णएव स्याद्**"[टिप्प.] इत्यादिना, उक्तेन इति अर्थः. **एवं सति**[टिप्प.] इति, "**प्रकृते दास्यम्...**"[टिप्प.] इत्यादिपूर्वोक्तप्रकारेण ईश्वरत्वमेव अशक्तौ हेतुः इति आशयेन. **प्रभुः आह**[टिप्प.] इति, "न पारयेऽहम्" इति प्रभुः आह इति अर्थः. **इति आहुः**[टिप्प.] इति, श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिमार्गे विरोधं परिहर्तुं ताः स्तौति इति आहुः इति

टिप्पणी

तत्रापेक्षानपेक्षे अप्रयोजिके. स्वामिनीभजनानुरूपं भजनमीश्वरेऽपि न सम्भवति, किं पुनर्जीवे! यच्चोक्तं 'प्राप्तात्यन्तिके'त्यादि तत्राप्युच्यते— ते हि पूर्वं सकामत्वेन नित्यकर्तव्यत्वज्ञानेन वा प्रवृत्ता मध्ये भगवदनुग्रहेण सेवारसानुभवे जातेऽन्यापेक्षां त्यक्तवन्तः स्वार्थं, न तु तदर्थं तथा. एवं सत्युत्तरोत्तरं तादृक्सेवासम्पादनेन तदेकसाध्यसुखदानमेव प्रत्युपकृतिस्तेषु. अत्र तु "त्वदुपासनाशाः" "एवं मदर्थोज्झितलोकवेदे"त्यादिवाक्यैस्तत्प्राप्तेः पूर्वमेव त्यागः. प्रभौ सहजस्नेहोऽतः तत्सुखे स्वोपयोगं मत्वा तत्प्रतिबन्धकं दूरीकृत्य स्वं निवेदितवत्यः. अतएव "यत्ते सुजाते"त्याद्युपपद्यते. अतए"वैवं मदर्थोज्झिते"त्यत्र स्वत्यागोऽप्युक्तः. स्वार्थमन्यत्यागो लौकिकानामलौकिकानां च पुंसां सम्भवति, न तु यथाकथञ्चिदपि स्वत्यागः. अत्र 'स्व'पदेनात्मोच्यते. तथा च स्वात्मत्वेन स्नेहविषयत्वाभाव एवैतत्त्यागो, भगवदुपयुक्तत्वेनैव तस्य देहादेश्च स्नेहविषयत्वात्. एवं सति भगवदर्थमात्मा प्रियो न त्वात्मार्थं भगवानित्यागतम्. खण्डितादिष्वपि स्वसम्पाद्यसुखानङ्गीकृतिरेव दुःखे माने च हेतुः. तथा च भगवत्सुखसम्पादनं केन प्रत्युपकृतं भवेत्? न चैतत्साधन-सम्पादनमेव प्रत्युपकृतिरस्त्विति वाच्यम्, अत्र भावस्यैव साधनरूपत्वात् तस्य पूर्वकक्षापन्नत्वात्सदैकरूपत्वेन नित्यत्वेनासाध्यत्वाच्च. किञ्च भावबले-नैव यद् भवति तत्र न भगवत्कृत्यपेक्षा, "वशे कुर्वन्ति मां भक्त्ये"ति वाक्यात्. अन्यच्च "नैकात्मतां मे स्पृहयन्ती"त्युपक्रम्य सेवाकथारसासक्ति-युक्तानां तेषां "पश्यन्ति ते म" इत्यनेन स्वरूपरसानुभवमुक्त्वा एतादृशानपि "भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्त" इति कपिलदेवेनोक्तम्. इह तु रसमार्गरीत्याङ्गीकार इति न कदाचिदपि तदिच्छाननुरूपा कृतिः सम्भवति,

प्रकाशः

दीयमानेऽर्थ इत्यर्थः. एवं प्रत्युपकृतिस्वरूपमेतद्भजनस्वरूपं च निश्चित्य

प्रकीर्णदीपिका

अर्थः. **पूर्वकक्षापन्नत्वाद्**[टिप्प.] इति, पूर्वं भावे विद्यमाने पश्चाद् अन्यानि साधनानि भवन्ति, ननु पूर्वस्थितानि साधनानि भावं सम्पादयन्तीति भावस्य पूर्वकक्षापन्नत्वम्. **सदैकरूपत्वेन नित्यत्वेन**[टिप्प.] इति, सच भावः स्वामिनीषु सदा एकरूपो नित्यः चेति कथं सम्पादनं

टिप्पणी

तस्य रसस्य तादृशत्वादेव. अपरश्च स धर्ममार्गोऽयं धर्मिमार्ग इत्यन्येभ्य इयान् विशेष इति कथं वदामः, खद्योतेभ्य इव तरणेः? अतः सुष्ठूक्तं **न पारय** इति.

यद्यपि गेहशृङ्खलाछेदस्य भावस्वभावकार्यत्वात्तस्य च भगवदनुग्रहैकलभ्यत्वाद् गेहशृङ्खलाछेदोऽपि भगवतैव कारितो भवतीति नैतदुत्कर्ष आयाति, तथाप्येताभ्यएवायं भावो दत्तो नान्येभ्य इत्येतदुत्कर्षः. अतएव एतस्यैव प्रत्युपकृतिरूपत्वं भगवतोक्तम्. तर्हि **न पारय** इत्यनुपपन्नं, प्रत्युत एतादृग्भावदातरि प्रत्युपकृत्यसम्भवाद्वैपरीत्यमापततीति चेद्, अत्रेदं प्रातिभाति. पूर्णाखिलशक्तिपूर्णस्यापि प्रभोरशक्तिर्यत्करणे तद्वस्त्वत्यन्ताभावएवेति निश्चयः. न हि सर्वसामर्थ्यवत्त्वेन द्वितीयमीश्वरं कर्तुं समर्थः. अतएव प्रभुणोक्तं "न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि ही"ति. तथा प्रकृतेऽपि केवलभावस्य

प्रकीर्णदीपिका

सम्भवति इति अर्थः. **अतएव**[टिप्प.] इति, यतो भगवतैव भावदानं कृतं तद् **एतस्यैव**[टिप्प.] भावदानस्यैव **प्रत्युपकृतिरूपत्वं**[टिप्प.] जातम् इति अर्थः. **तर्हि**[टिप्प.] इति, तर्हि भावदानस्यैव प्रत्युपकृतिरूपत्वे भगवता उक्तं "न पारये" इति **अनुपपन्नं**[टिप्प.] स्याद् इति योज्यम्. **वैपरीत्यम्**[टिप्प.] इति, प्रत्युत एतासां प्रत्युपकृतित्वे अशक्यत्वम् आपद्यते इति अर्थः. **नहि**[टिप्प.] इति "यथा नहि" इति योज्यम्, अग्रे **तथा प्रकृते**[टिप्प.] इति वक्ष्यमाणत्वाद् इति अर्थः. असमर्थे दृष्टान्तम् आह **अतएव**[टिप्प.] इत्यादिना. **न शक्यन्तेतु**[टिप्प.] इति, "जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशो न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुम् अनन्तत्वाद् मयापि हि" इति मुचुकुन्दं प्रति भगवता उक्तम्. यथा मम जन्मकर्मादीनि अनन्तत्वात् परिसंख्यातुं मया न शक्यन्ते तथा सर्वसामर्थ्यवत्त्वेऽपि द्वितीयम् ईश्वरं कर्तुम् असमर्थो अहम् इति अर्थः. **केवल...**[टिप्प.] इत्यारभ्य **मन्तव्यम्**[टिप्प.] इत्यन्तस्य अयम् आशयः— यद्यपि स्वामिन्यः संयोगे विप्रयोगे भावात्मकरसात्मकस्य अनुभवं कारयन्ति, तथा एतासामपि भगवान् कारयतीति तदनुरूपभजने न अशक्तिः, तथापि एतासाम् "एवं मदर्थोज्झित..." इत्यत्र स्वत्यागोऽपि उक्तः, अतः स्वप्रत्युपकृतिः स्वात्मगामिन्येव भवतीति अशक्तिरेव निष्प्रत्यूहा इति मन्तव्यम् इति अर्थः. **अन्यथा**[टिप्प.]

टिप्पणी

रसात्मकत्वेन भगवदात्मकत्वात्तदनुरूपवस्त्वभावादशक्तिरेव निष्प्रत्यूहेति मन्तव्यम्, अन्यथा ईश्वरत्वमेव न स्यात्, श्रुत्युक्तरूपाभावादिति बुध्यस्व. वैपरीत्यापत्तिरिति दूषणं यदुक्तं, तत्रोच्यते— कर्मज्ञाने साधनमार्गीयभक्तिं च जीवार्थं कृतवान् भगवान्, फलमार्गीयभक्तिमार्गं तु स्वार्थमाविश्चकार. अन्यथा रसात्मक-स्वस्वरूपानन्दानुभवो न स्यात्, "तस्मादेकाकी न रमत" इति श्रुतेः. तथा च भावदानादेरपि स्वार्थत्वान्नोक्तदूषणम्. नन्वेवमपि **न पारय** इति नोपपन्नमिति चेत्, न, अस्यानन्दस्य स्वरूपात्मकत्वेऽप्येताभ्यएव तदनुभवादनुभूतस्य च वस्तुन एवैतादृशत्वेनैवं कथनस्य तत्स्वरूपनिरूपकत्वात्. यथा "विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेरि"त्यत्र वस्तुस्वरूपनिरूपणं तथात्रापीति सर्वमनवद्यम्.

प्रकाशः

साधारण्यपरिहारायाहुः **यच्चेत्यादि**. **श्रुत्युक्तरूपाभावादिति**, अनुरूपवस्तु-सत्तायां "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत" इति श्रुत्युक्तरूपाभावादित्यर्थः.

प्रकीर्णदीपिका

इति, तदनुरूपवस्तुसत्त्वे इति अर्थः. **ननु एवमपि**[टिप्.] इति, स्वार्थत्वेऽपि इति अर्थः. **न उपपन्नम्**[टिप्.] इति, भगवता स्वरूपात्मकानन्दः स्वभोगार्थं स्वामिनीषु स्थापयित्वा स्वयं भुज्यते चेत् स्वामिनीकृतोपकाराभावात् "न पारये" इति कथनं न उपपन्नम् इति अर्थः. **एताभ्यः**[टिप्.] इति, एतत्स्वामिनीद्वारा इति अर्थः. **एतादृशत्वेन**[टिप्.] इति, एताभ्यएव तदनुभावत्वेन इति अर्थः. **एवं कथनस्य**[टिप्.] इति, "न पारयेऽहम्" इति कथनस्य इति अर्थः. स्वरूपनिरूपणमेव आह **यथा**[टिप्.] इत्यादिना, "**यन्मर्त्यलीलौपयिकस्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतं, विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्**" इत्यत्र **वस्तुस्वरूपनिरूपणम्**[टिप्.] इति, यथा तृतीयस्कन्धे उद्धवैः वस्तुस्वरूपनिरूपणं कृतं, तत्र भगवत्सौन्दर्यस्य सर्वदा विस्मापकत्वेऽपि विस्मापकं स्वस्य इति यद् उक्तं, तद् भगवतः दर्पणादिदर्शनेन विस्मयो भवतीति वस्तुस्वरूपनिरूपणम् इति अर्थः. **तथा अत्रापि**[टिप्.] इति, भगवतो रसात्मकस्वरूपं श्रुतिसिद्धं सर्वदा अस्त्येव, तथापि यदा स्वामिनीसम्बन्धेन रसानुभवं करोति तदा रसात्मकस्वरूपानुभावात् स्वस्य विस्मयो भवति इति अर्थः. **सर्वमनवद्यम्**[टिप्.] इति, एवं

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलां संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धपूर्वार्धे रासक्रीडायां गोपीसान्त्वनं नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥

निरवद्यसंयुजां निर्दुष्टभजनयुक्तानां **स्वसाधुकृत्यं** स्वप्रत्युपकारकरणं **विबुधायुषा** ब्रह्मायुषा मन्वन्तरपरिमितायुषा वा **विशेषेण बुधानां** ज्ञानिनामनन्तायुषा वा **न पारये,** भजनप्रत्युपकारयोर्वैसादृश्यात्— भवतीनां भजनं निष्कपटम् अस्मद्भजनं सकपटमिति. न ह्यल्पजलस्यापि तुल्यं बह्वपि मरुमरीचिकाजलं भवति. सत्यभजनं तु ब्रह्मणोऽशक्यमेव, जीवधर्मत्वात्. तत्रापि विशेषमाह **या माभजन्निति. दुर्जरा** हि **गेहशृङ्खला,** या जीर्यतोऽपि न जीर्यत इति. तां **संवृश्च्य** छित्त्वा **याः** [१]भवत्यः प्रसिद्धाः **मा मामभजन्.** यैः पूर्वं बद्धाः स्थिताः स्वार्थं तेषामर्थमात्मानं च मय्येव समर्पितवत्यः. बहिःशृङ्खला त्यक्तुमपि शक्या, न तु सर्वत आवृते गृहं = शृङ्खला. एवमलौकिककर्त्रीणां यद् भजनं **तद्** भवतीनामेव **साधुना,** भावप्रधानो

प्रकाशः

न स्यादिति स्वस्य न स्यादित्यर्थः. [सुबोधिन्यां **जीवधर्मत्वादिति,** सत्यभजनं दास्येन भवति, तत्तु जीवधर्मत्वात्. **जीर्यतोऽपि न जीर्यत** इति, स्वयं **जीर्यतोऽपि** गेहशृंखला **न जीर्यते** न जीर्णायति. **मा मामभजन्** इति, **मा** इति **माम्. यैः** पत्याद्यैः. **तेषां** पत्यादीनाम्. **गृहं शृंखला** इति, गृहशृंखला

लेखः

न पारयेहमित्यत्र, निरवद्यं यथा स्यात्तथा संयुञ्जन्तीति निरवद्यसंयुजः, कर्तरि क्विप्, तादृशीनामित्यर्थः ॥२२॥ एकोनत्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

१. याः प्रसिद्धास्ताः इति ब. पाठः.

प्रकीर्णदीपिका

सर्वाशङ्कापरिहारोक्त्या "न पारयेऽहम्" इत्यादिना उक्तं सर्वमनवद्यम् इति अर्थः. **तत्रापि विशेषम् आह**सुबो. इति, निष्कपटभजनादपि सर्वत्यागपूर्वकभजने विशेषम् आह इति अर्थः. **जीर्यतोऽपि**सुबो. इति, देहादिः जीर्यतोऽपि इति अर्थः. **यैः**सुबो. इत्यारभ्य **समर्पितवत्यः**सुबो. इत्यन्तेन भजनरूपम् आह. तत्र **यैः**सुबो. इति, प्रतिबन्धाद्यैः इति अर्थः. **बहिःशृङ्खला**सुबो. इति, लोहकाष्ठादिरूपा इति अर्थः. टिप्पण्यां **तथा(च) भजने**टिप्प. इति,

निर्देशः, साधुत्वेन **प्रतियातु** प्रत्युपकृतं भवतु. साधवो हि महत् कर्म कृत्वा स्वयमेव तुष्यन्ति न तु प्रत्युपकारमपेक्षन्ते. अतो मयि भजनं नास्ति, भजनस्य जीवधर्मत्वात्. अतोऽग्रेऽपि यदि स्वतएव सन्तुष्टाः तदा भजत, नो चेत् यथासुखं विधेयमिति भावः. न ह्यशक्यं कश्चित् कर्तुं शक्नोतीति ॥२२॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां
श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे एकोनत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

टिप्पणी

अत्र पूर्वार्धेनैवैतत्स्तुतिसंपत्तावप्युत्तरार्धकथनस्य तात्पर्यमाहुः **अतो मयी**त्यादिना. अत्रोपकृतेरेव प्रत्युपकृतिरूपत्वोक्त्या तद्भिन्नतदपेक्षायां सोपाधिभजनं कार्यं भवति, तथा च भजनएव तत्सम्भवात्. एतदेवोक्तं **नो चेदि**त्यनेन. तच्च भवतीष्वसम्भावितमशक्यत्वादित्याहुः **न ह्यशक्यमि**त्यनेन. प्रत्युपकृत्यशक्तावयं भगवन्निष्ठोऽपि हेतुरिति ज्ञेयम् ॥२२॥ इत्येकोनत्रिंशोध्यायः ॥

प्रकाशः

तु सर्वतः आवृत्य अंतर्बहिस्तिष्ठति. **साधुना** इति, साधुकृत्यत्वेन तत्प्रत्युपकृतं च भवतु. टिप्पण्याम् **अत्रोपकृतेरेवे**ति, उपकृतेरेव प्रतिकृतिः कथिता.] **तद्भिन्नतदपेक्षायामि**ति उपकृतिभिन्नप्रत्युपकृत्यपेक्षायामित्यर्थः. [**तत्सम्भवादि**ति, **तत्** प्रत्युपकृतिः. सुबोधिन्यां **स्वतएवे**ति स्वकृत्यैनैव. टिप्पण्यां] **नो चेदि**ति सुबोधिनीस्थं प्रतीकम्. [**तच्चे**ति, **तत्** सर्वोपाधिभजनम्. उपकृतिर्भिन्ना प्रत्युपकृतिर्यदा वाञ्छन्ति तदा सोपाधिभजनं कार्यम्. सोपाधिभजने अहमपि सोपाधिभजनं करोमि तदा प्रत्युपकारः संभवति. तत्तु भवतीनां सोपाधित्वं नास्ति.] **अयमि**ति अशक्यकृत्यशक्तिरूप इत्यर्थः ॥२२॥ इत्येकोनत्रिंशाध्यायसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ॥

प्रकीर्णदीपिका

प्रत्युपकारापेक्षया(१) भजने इति अर्थः. **तत्सम्भवाद्**[टिप्प.] इति, सोपधिभजनसम्भवाद् इति अर्थः. **नो चेद्**[सुबो.] इति, यदि भवतीनाम् अधुना प्रत्युपकारापेक्षा जाता तदा यथासुखं

(१) प्रत्युपकल्पापेक्षया इति पाठः.

प्रकीर्णदीपिका

तथा भजनं विधेयं, तथा अहमपि प्रत्युपकारार्थं भजनं करिष्यामि तथापि मे प्रत्युपकारो न भविष्यत्येव इति. अतएव उक्तं **नहि अशक्यम्**[सुबो.] इत्यादि. **अयं भगवन्निष्ठोऽपि हेतुः**[टिप्प.] इति, सोपधिभजनासम्भावनारूपो हेतुः भगवन्निष्ठोऽपि ज्ञेयः. भगवति स्वामिनीविषयकं सोपधिभजनं न सम्भवति, अतः प्रत्युपकृतिः अशक्या इति अर्थः ॥२२॥

इतिश्री श्रीमत्-कल्याणरायचरणसन्निधौ वृषभानुपुरे
गोस्वामिश्रीप्रद्युम्नात्मज-गोस्वामिश्रीसात्त्वतेशसहायेन
श्रीमत्पञ्चाध्यायीचतुर्थाध्यायीय- "भजतोनुभजन्त्येके" इत्यत्रोक्त-
सुबोधिन्यादेः प्रकीर्णदीपिका
पाहाडश्रीविश्रामात्मजहरिकृष्णेन कृता
समाप्तिम् अगमत् ॥

॥ इति एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥

॥ पञ्चमो स्कन्धादितः त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

त्रिंशत्तमे हरिः प्रीतो लीलां कामकृतामपि ।
इन्द्रादिदुर्लभां चक्रे स्वानन्दार्थमितीर्यते ॥(१)॥

टिप्पणी

त्रिंशत्तमाध्यायार्थकथने **त्रिंशत्तमे हरिरि**त्यादि, **इति**शब्दो हेतुवाची. **लीलां चक्रे** इति लोके प्रकटामिति शेषः. तथा सत्ययं वाक्यार्थः– यद्यप्यतिगोप्यत्वादियं लीला न वक्तुमुचिता, तथापि प्रभुर्लोके प्रकटां **लीलां चक्र इति** हेतो**रीर्यत** इति, अन्यथा "रासलीलेर्यत" इत्येव वदेयुः. सा च "यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिरि"त्यन्तेन ग्रन्थेनोक्ता. एतदग्रेऽतिदेशेन कामशास्त्रोक्तरीत्यापि सोक्तेत्याहुः **कामकृतामपी**ति. इन्द्रो विषयभोगेऽभियुक्त इति तन्नामग्रहणं, वस्तुतस्तु ब्रह्मादीनामपि दुर्लभैव. **कामकृता** सा हि लोकानुसारिणी भवति. एवं सति यत्र सापीन्द्रादिदुर्लभा तत्र पूर्वोक्तलीलायास्तथात्वे किं वाच्यमिति भावः (१).

प्रकाशः

अथ त्रिंशाध्यायं विवरिषवः पूर्ववदेव कथासङ्गतेर्ज्ञातुं अशक्यत्वाद-ध्यायार्थमेवाहुः **त्रिंशत्तम** इत्यादि. अर्थस्तु टिप्पण्यामेव स्फुटः.

[टिप्पण्यां **सा** चेति रासलीला. **अभियुक्त** इति मुख्यः. **सा** लीला. **तथात्वे** दुर्लभत्वे. सुबोधिन्यां **लीलां** प्रकटामिति शेषः. **इतीर्यते** इति, **इति** अतः हेतोः **ईर्यते,** अन्यथा गुप्ता लीला शुको न वदेत्.] (१).

लेखः

त्रिंशेऽध्याये, **त्रिंशत्तमे ईर्यत** इत्यन्वयः. "तासामाविरभूदि"त्यस्याभासे "कृष्ण एव जात" इत्यनेनोक्तं तासु स्वसत्तानन्दस्थापनमधुनैतादृशलीलाकरणे

कारिकार्थः

त्रिंशेऽध्याये **त्रिंशत्तमे** इत्यादि. एतच्च टिप्पण्यां विस्तरेण व्याख्यातमपि संक्षेपतो लिख्यते. **लीलां चक्रे** इति लोके प्रकटामिति शेषः. तथा सति **हरिः प्रीतः** सन् **कामकृतामपि लीलां** लोके प्रकटां **चक्रे इति** हेतोर्गोप्यापि लीला **त्रिंशत्तमे**ऽध्याये **ईर्यते** इति वाक्यार्थः (१).

अस्याः सर्वोपकाराय फलश्रुतिरुदीर्यते ।

टिप्पणी

लीलोक्तिप्रस्तावे फलश्रुतिरसंगतेत्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः **अस्या** इति. लोके कामकथा तदुद्बोधिका दृष्टेति तच्छङ्कया वैराग्यार्थी कदाचिन्न शृणुयात्. तथा भक्त्यर्थ्यपि मातॄणां रहस्यवार्ता न श्रोतुमुचिता तथा सति चित्तवैषम्येऽतिमहान्दोषः स्यादिति शङ्कया न शृणुयात्. एवं सति विषय्येवावशिष्यते. तथा सति तु हीनाधिकारिविषयत्वेनोत्तमत्वं न स्यादित्येतत्सर्वपरिहाराय फलश्रुतिरित्यर्थः. विषयिणः पूर्वं विषयत्वेन श्रवणेऽपि तत्स्वभावादेव दोषनिवृत्तिपूर्वकं परमपुरुषार्थप्राप्तिरिति भावः. अन्ते प्रश्नोत्तरयोस्तात्पर्यमाहुः

प्रकाशः

[**अस्याः** लीलायाः. टिप्पण्याम् **एवं सतीति**, एवं सति विषयी एव अवशेषः. सएव शृणोति तदा लीलायाः हीनाधिकारिविषयत्वाद् उत्तमत्वं न भवतीत्याशंकापरिहाराय फलश्रुतिः. **तत्स्वभावादेव** लीलाकथास्वभावादेव. **परमपुरुषार्थे**ति भक्तिः. **अन्ते** इति, अध्यायान्ते प्रश्नोत्तरं तस्य तात्पर्यमाह.

लेखः

हेतुत्वेनानुवदन्ति **प्रीत** इति. प्रीतेरानन्दधर्मत्वात् तद्युक्तः सन्नित्यर्थः. तथा च तासु स्वसत्तानन्दस्थापनपूर्वकत्वं प्रथमाध्यायापेक्षया विशेष इति भावः. **लीलामि**ति, अलौकिकचन्द्रप्रकाश्यासु रात्रिष्वलौकिकप्रकारिकामित्यर्थः. **कामकृतामि**ति कामशास्त्रोक्तरीत्या कृतां लौकिकचन्द्रप्रकाश्यासु रात्रिषु लौकिकप्रकारिकामित्यर्थः. तथा च द्विविधामपि **लीलां** प्रकटां **चक्रे इति** हेतोरुभय्यपि लीला **त्रिंशत्तमे ईर्यते** इति टिप्पण्यनुसारेणार्थः. अलौकिकलीला "यथा मदच्युदि"त्यन्तेनोक्ता. लौकिकलीला "एवं शशांकांश्वि"ति श्लोके 'काव्यकथा'पदे अतिदेशेनोक्तेति ज्ञेयम् (१-२).

कारिकार्थः

लीलोक्तिप्रस्तावे फलश्रुतिरसंगता इत्याशंक्य तत्तात्पर्यमाहुः **अस्याः सर्वोपकारायेति**. वैराग्यार्थिनां भक्तानां च **सर्वेषामुपकाराय अस्याः** लीलायाः "विक्रीडितं व्रजवधूभिरि"त्यादिना **फलश्रुतिरुदीर्यते.** लोके कामकथा तदुद्बोधिका दृष्टेति तच्छंकया वैराग्यार्थी कदाचिन्न शृणुयात् तथा भक्त्यर्थ्यपि मातॄणां रहस्यवार्तां न शृणुयादिति सर्वेषां निःशंकश्रवणप्रवृत्तिसिद्धये

लौकिक्यपि यदा दृष्टिस्तदा सिद्धान्त ईर्यते ॥(२)॥
रसात्मकस्तु यः कामः सोत्यन्तं गूढएव हि ।

टिप्पणी

लौकिक्यपीति. सर्वथा प्रपन्ना दृष्ट्वाऽदेयमपि स्वरूपानन्दं दत्तवानिति तु वस्तुस्थितिः. भगवतो रसात्मकत्वेन तत्स्वरूपमध्यपातित्वमेतासामिति च. पूर्वमन्यत्र विवाहाभावे रसस्वरूपमेव न सम्भवति, यतस्तद्रसस्वरूपमर्यादा तथा. एतादृशेऽर्थे विषयत्वेनोभयोः प्रवृत्तिः अतोऽनुचितमिदमिति बुद्धिः कस्यचिच्चेत्स्याद्, वस्तुतस्तु उपेक्ष्यएव सः, तथापि प्रभुः सर्वोद्धारक इति तादृशस्याप्यलौकिकी बुद्धिर्यथा भवति तथा वक्तव्यमिति प्रश्नतात्पर्यम्. शुक"स्तुष्यतु दुर्जन" इतिन्यायेन तन्मतमेवानुसृत्योत्तरितवान्. अन्यथाग्रे "गोपीनां तत्पतीनामि"त्यनेन परदारात्वस्यैव दूषितत्वेन तद्दोषाप्रसक्त्या "तेजीयसां न दोषाये"ति निषेधोऽनुपपन्नः स्यात्, "नैतत्समाचरेदि"त्यादिरपि. एवं सति "कुतएव बन्ध" इत्यन्तमुक्तरीत्योक्तम्, अग्रे तु वस्तुस्थितिमनुसृत्येति भावः (२).

नृत्यबन्धादेरुपयोगमाहुः **रसात्मक** इति (३-४).

प्रकाशः

वस्तुस्थितिरिति, श्रीकृष्णवस्तुस्थितिः स्वभावः. **तत्स्वरूपे**ति, भगवत्स्वरूप-मध्यपातित्वं गोपिकानाम् (२).]

कारिकार्थः

फलश्रुतिरित्यर्थः. अन्ते प्रश्नोत्तरयोस्तात्पर्यमाहुः **लौकिक्यपीति. यदा** कस्यचिद् **दृष्टिः लौकिकी** भगवति दोषारोपात्मिका भवति **तदापि सिद्धान्त ईर्यते** प्रश्नोत्तराभ्यां निर्णय उच्यते इत्यर्थः. भगवतो रसात्मकत्वेन स्वरूपात्मककामरसभोक्तरि भगवति दोषारोपवान् वस्तुतस्तु उपेक्ष्यएव तथापि प्रभुः सर्वोद्धारक इति तादृशस्यापि अलौकिकीबुद्धिः यथा भवति तथा वक्तव्यमिति प्रश्नतात्पर्यम्. स च प्रश्नः "संस्थापनाय धर्मस्य" इत्यादिना राज्ञा कृतः. शुकस्तु "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेन तन्मतमेवानुसृत्य "तेजीयसां न दोषाये"त्यादिना उत्तरं कृतवान्. अग्रे "गोपीनां तत्पतीनां च" इत्यादिना यदुत्तरं तत्तु वस्तुस्थितिमनुसृत्येति भावः (२).

अतः शास्त्रं प्रवृत्तं हि तृतीयं भारतं तथा ॥(३)॥
अतोऽत्र भगवांश्चक्रे नृत्यं कारितवांस्तथा ।
सर्वाङ्गेषु तु यो लीनः स यथा व्यक्ततां व्रजेत् ॥(४)॥

लेखः

रसात्मक इत्यस्याभासे **टिप्पण्यां नृत्यबन्धादेरिति**, अलौकिकप्रकारक-रमणे इति शेषः. **जलानिलयोरिति**, "ततश्च कृष्णोपवने" इति श्लोकोक्तयोरि-त्यर्थः. **तस्योद्बुद्धेति**, अत्रोद्बोधकानामुक्तत्वात् प्रभुरपि लोकमनुसृत्य लीलां कृतवान् न तु स्वरूपप्राधान्येनेति ज्ञायते. अतः स्वरूपमपि विशेषतो न वक्तुं शक्यम् इति भावः. सुबोधिन्यां, कामस्य गूढत्वमर्थापत्त्या साधयन्ति **अतः शास्त्रमिति**, तस्य गूढत्वाच्छास्त्रोक्तनृत्यबन्धादिभिरेव स प्रकटो भवति. अन्यथा महता समारम्भेण शास्त्रद्वयं न प्रवृत्तं स्यादित्यर्थः (३).

योजना

त्रिंशत्तमाध्यायविवरणारम्भे **रसात्मकस्तु यः कामः सोऽत्यन्तं गूढएव हीति**. त्रिषु लोकेषु रसात्मकः कामो गूढएव. देवादयोऽपि कामेन रसमुत्पाद्यानुभवन्ति, न तु तेषां रसात्मकः कामः. तत्रापि रसलेश एवानुभूयते, न तु रसः. **रस**शब्देनानन्दो बोध्यः, "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती"ति श्रुतेः. अतो भगवता कीदृशो रसोऽनुभूयते इति जिज्ञासायां तादृशरसस्य सर्वत्रैवाभावान्निरुपमत्वेन बोधयितुं न शक्यते. अतो भगवता भुज्यमानस्य रसस्यात्यन्तं गूढत्वं, "रसो वै स" इति श्रुतेः स्वरूपाभिन्नानन्दत्वात्[१]. तद्रसस्य गूढस्य बोधनार्थं वात्स्यायनभरतयोः प्रवृत्तिरित्याहुः **अतः शास्त्रं प्रवृत्तं हि तृतीयं भारतं तथेति**. **तृतीयं** कामशास्त्रं वात्स्यायनप्रणीतम्. **भारतं** भरतकृतसूत्राणि (३).

कारिकार्थः

नृत्यबन्धादेरुपयोगमाहुः **रसात्मक** इति. **अतः शास्त्रप्रवृत्तं हीति**, **अतो** रसात्मककामस्य गूढत्वात् तज्ज्ञापनाय भरतोक्तं वात्स्यायनोक्तं च **शास्त्रं प्रवृत्तं** धर्मार्थकाममोक्षशास्त्रेषु **तृतीयं** कामशास्त्रम्. **अतोऽत्र भगवांश्चक्रे** इति, कामस्य गूढत्वात् तदुद्बोधार्थं स्वयं **नृत्यं चक्रे** स्वामिनीभिर्नृत्यं **कारितवांश्च**. बन्धोपयोगमाहुः **सर्वांगेष्विति** (३-४).

१. स्वरूपाद् अभिन्नत्वाद् इति मुं.वि. पाठः.

जलं वायुश्च सामग्री श्रमात् शीताच्च जायते ।

टिप्पणी

नृत्यबन्धाभ्यामुद्बुद्धे रसे भोगः संपन्न एवेति स्वरूपेणैवानन्ददानाच्च जलानिलयोः क्वोपयोग इत्याशङ्क्याहुः **जलं वायुश्चे**ति. रमणं जलस्थलभेदेन द्विविधम्. तत्राद्ये जलं सामग्री, द्वितीयेऽनिलः. तयोस्तथात्वे हेतुः स्वामिनी-भगवतोः **श्रमः. शीत**त्वं जलानिलनिष्ठो हेतुरत्र सामग्रीत्वभवने. तथा च **जलं वायुश्च** रमण उक्तहेतुभ्यां **सामग्री जायत** इति योजना. **जायत** इति पदादपूर्वा सा भगवल्लीलार्थमेव तदैव जायत इति ज्ञाप्यते. **शीतादि**ति भावप्रधानो निर्देशः.

ननु भरतवात्स्यायनप्रणयनं हि जीवार्थं; तथा च तदुक्तरीत्या

प्रकाशः

रसात्मकस्तु यः काम इत्यादिकारिकाद्वयेन यदुक्तं तदाक्षिपन्ति टिप्पण्यां **नन्वि**त्यादिना. **प्रणयनं हि जीवार्थमि**ति "तदेतद्ब्रह्मचर्येण परमेण

लेखः

अतोऽत्रेति, कामस्य गूढत्वात् तदुद्बोधार्थमित्यर्थः. **नृत्यं कारितवानि**ति स्वामिनीभिरिति शेषः. बन्धोपयोगमाहुः **सर्वाङ्गेष्वि**ति, नायकस्य स्वरूपे कामस्थितिः. नायिकानां विभेदेन प्रत्यङ्गेषु कामस्थितिरिति विभेदः शास्त्रसिद्धः.

योजना

तस्यालौकिकस्यानन्दरूपस्य सर्वाङ्गेषु स्थितस्य गुप्तत्वात्तत्प्रकटनार्थं भगवान् नृत्यं करोति कारयति चेत्याहुः **अतोऽत्र भगवांश्चक्रे नृत्यमि**त्यारभ्य **व्रजेदि**त्यन्तम् (४). **जलं वायुश्च सामग्री**त्यादेः **अत्रैव लोके प्रकटमि**त्यादेरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः (५ $\frac{1}{2}$).

कारिकार्थः

जलानिलयोः उपयोगमाहुः **जलं वायुश्च सामग्री**ति. रमणं जलस्थलभेदेन द्विविधम्. तत्र आद्ये जलं सामग्री द्वितीयेऽनिलः. तयोः सामग्रीत्वे हेतुः स्वामिनीभगवतोः श्रमः. शीतत्वं जलानिलनिष्ठो हेतुः अत्र सामग्रीत्वभवने. तथा च **जलं वायुश्च** रमणे श्रमशीतत्वाभ्यां **सामग्री जायते** इति योजना. **शीतादि**ति भावप्रधानो निर्देशः. "सोऽम्भस्यलम्" इति श्लोकोक्ता जलक्रीडा "ततश्च कृष्णोपवने" इति स्थलक्रीडा (४ $\frac{1}{2}$).

टिप्पणी

प्रवृत्तस्य जीवस्यापि तथानन्दसम्भवादत्रावैशिष्ट्यापत्तिः. न च प्रभुस्वरूपमेव विशेषः, तस्योद्बुद्धरसात्मकत्वेन तदुद्बोधकानामप्रयोजकत्वादिति चेत्, मैवं, अत्र हि रसात्मकं स्वरूपमेवोच्यते. तच्चोद्बोधकविशिष्टमेवोद्बुद्धं, न तु केवलम्. अन्यथा रसात्मकत्वं न स्यात्, तत्स्वरूपस्यैव तथात्वात्. तच्च

प्रकाशः

समाधिना[१] विहितं लोकयात्रार्थं,[२] न रागार्थोऽस्य संविधिरि''ति शास्त्रसमाप्तौ वात्स्यायनसूत्रादवगम्यते. एवं भरतग्रन्थादपि बोध्यम्, अध्यायानां शतसहस्रेण ब्रह्मणा चतुर्वर्गप्रणयनकथनाच्चेत्यर्थः. तथा च रसाभिव्यञ्जनार्थक-प्रणाड्यङ्गीकारे रसस्य भगवद्रूपत्वहानिः, भगवद्रूपतायां च प्रणाडीवैयर्थ्यान्मूल-विरोध इत्युभयतः पाशारज्जुरिति पूर्वपक्षतात्पर्यम्. तत्र समादधते **मैवमि**त्यादि. **अत्रे**ति मूले कारिकायां चेत्यर्थः. अत्रायमर्थः. श्रुतौ हि "असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानं स्वयमकुरुत, तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति, यद्वै तत्सुकृतं, रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती''त्येवं पूर्वसृष्टेरसाधुत्वं, ततः सृष्ट्यन्तरस्य साधुत्वं, साधुत्वे स्वात्मरूपत्वरूपं हेतुः, तस्य सुकृतत्वं, सुकृतस्य रसत्वं, रसस्यानन्दरूपता च बोधिता. तत्र यद्युद्बोधकादिप्रणाडी न विवक्षिता स्याद्, आत्मकरणं न वदेत्. यदि वा सर्वसामान्या स्यात्, पूर्वसृष्टेरसाधुत्वमनेवंरूपतां च वा न वदेत्. यदि च रसस्य मनोविकारत्वं लौकिकत्वं वा विवक्षितं स्यात्, तदाप्यात्मकरणम् आनन्दरूपत्वं च न वदेत्. अत उद्बोधकादिवैशिष्ट्यं श्रुतिसिद्धम्. तदेतदुक्तं **तत्स्वरूपस्यैव तथात्वादि**त्यन्तेन. तथा च प्रणाड्यङ्गीकारेऽपि न भगवद्रूपत्वहानि-रित्यर्थः. किञ्च अनुकृत्यधिकरणे सर्वस्य भगवदनुकारित्वं "तमेव भान्तमनुभाति विश्वमि''ति विषयवाक्येन प्रतिपादितम्. अतः प्रकृतेऽपि यदि लौकिको रसः प्रतिपाद्यते तदापि [३]मूलरसानुकारितयैव तत्स्वरूपं सिध्यतीत्येतद्दृष्टान्तेन[४] [५]सोऽपि रसोऽनुमीयताम्– अयं लौकिकः परिच्छिन्नो[६], मात्रोपजीवनश्रुतेः, स त्वपरिच्छिन्नो, भूमत्वात्[७]. तथा च लोकेऽनुकरणमात्रेण तदाभासस्यैव प्राकट्यं, न तु तस्येति जीवस्य तत्करणेऽपि न तद्रससम्बन्धलेशः. शास्त्र-

१. मया गौतमेन रसशास्त्रं कथितम्. २. निर्वाहार्थम्. यात्रार्थमिति रसरूपभगवत्प्राप्त्यर्थम्. ३. भगवद्रसानुसारि. ४. लौकिकः. ५. अलौकिकः. ६. परिमितः. ७. व्यापकत्वात्.

अत्रैव लोके प्रकटमाधिदैविकमुत्तमम् ॥(५)॥
कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापरः ॥

टिप्पणी

विशेषतो न भावयितुं शक्यमज्ञानादिति तज्ज्ञानार्थं भरतवात्स्यायनाभ्यां तत्स्वरूपं निरूपितम्— एवं भगवता नृत्यमकारि, एवं च रमणमिति. जीवास्तु ब्रह्मपरां श्रुतिमिवैतदपि द्वयं जीवपरमिति ज्ञात्वा प्रवृत्ताः क्लिश्यन्ति परमिति बुध्यस्व.

एतदेवाहुः **कृष्णो भुङ्क्ते न चापर** इत्यनेन. तत्र हेतु**रुत्तममि**ति, क्षराक्षराभ्यामुत्तमं पुरुषोत्तमस्वरूपात्मकमित्यर्थः. न हि भगवत्स्वरूपमन्येन भोक्तुं शक्यमिति भावः. एतल्लीलाया भूमौ प्राकट्यकरणे प्रयोजनमाहुः **अत्रैवे**ति. आधिदैविकत्वे संपन्ने हि पुरुषोत्तमभजनं साक्षात्सम्पद्यते. तच्च वैकुण्ठे भवति. प्रभुस्तु अस्मिन्नेव **लोके आधिदैविकं** रूपं जीवानां **प्रकटं** यथा भवति तथा **भुङ्क्त** इत्यर्थः. एतल्लीलाश्रवणेऽपि तथा भवतीति तथा. **उत्कृष्टमि**ति मोक्षसुखादपीति शेषः (५ $\frac{1}{2}$).

प्रकाशः

प्रणयनं तु दूरतस्तस्यैव परिचायनायेति तत्रैव स्फुटम्. वस्तुतस्तु पाद्मे पातालखण्डे रामाश्वमेधे शेषवात्स्यायनसंवादादृषेर्वैष्णवत्वमवगम्यते. एवं भरतस्यापि, नाट्यशास्त्रज्ञातुर्मोक्षकथनात्. किञ्च [1]आञ्जनेयोऽपि प्रणेता नाट्यशास्त्रस्य. स च परमभक्तो जनकतनयाप्राणनाथस्य. अतस्तादृशां य एतावान् प्रयासः स न त्रिवर्गोपयोगितया जीवार्थः, अपि तूक्तरीत्या मोक्ष-साधनतापर्यन्ततया. किञ्च वात्स्यायनेन सांप्रयोगिकाधिकरणे "ऋचां दशतयीनां चतुःषष्टिसंज्ञितत्वादिहापि तदर्थसम्बन्धात्पाञ्चालसम्बन्धाच्च बह्वृचैरेषा पूजार्थं संज्ञा प्रवर्तितेत्येक"[2] इति सूत्रयता संप्रयोगाङ्गचुम्बनादीनामृगर्थत्वं प्रदर्शितम्. "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इति श्रुतिस्मृतिभ्यां वेदस्य भगवत्परत्वं सिद्धम्. एवं सत्यस्य शास्त्रस्य तत्सामानाधिकरण्ये वेदवत् परोक्षवादेन लीलासहितभगवत्प्रतिपादकत्वं युक्तमेव. गान्धर्वस्य सामवेदोपवेदतया च. अतएवमर्थाज्ञातॄणां जीवानां भ्रान्तिरित्येतदाद्यभि-सन्धायोक्तं **तच्चे**त्यादि **बुद्ध्यस्वे**त्यन्तम्. तस्मान्न कोऽपि शङ्कालेश इति दिक्.

१. हनुमान्. २. ऋग्वेदार्थत्वम्.

एवं पूर्वाध्याये तासां सर्वभावेन प्रमाणेन प्रमेयेन दुःखं दूरीकृतवान्. तद् दुःखमज्ञानतश्चेत्, तदैव दूरीकृतं भवति. अन्यथा भगवतैव दुःखं दत्तं स्यात्. अतो भगवता त्यक्त्वा न गतमिति न भगवान् दुःखे हेतुः, किन्त्वज्ञानमेव. अतो भगवद्वाक्यादज्ञाने गते तन्मूलकं दुःखमपि गतमित्याह **इत्थमिति**.

टिप्पणी

प्रमाणेन वचनैरित्यर्थः. **प्रमेयेण** स्वरूपेणेत्यर्थः. **इत्थं भगवतो गोप्य**

लेखः

अत्रैवेति, आधिदैविकं जीवानां रूपमिति शेषः. तच्च कामरहितं लौकिकवासनात्मकलिङ्गरहितमिति यावत्. "कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोती"तिवाक्ये लिङ्गभङ्गः[1] फलमुक्तम्. लौकिकलिङ्गरहितमेवाधिदैविकं रूपमिति भावः. तथा च जीवाना**माधिदैविकं** रूपम् **अत्रैव लोके प्रकटं** यथा स्यात्तथा **कामाख्यमुत्तममुत्कृष्टं सुखं कृष्णो भुङ्क्ते** इति टिप्पण्यनुसारेणान्वयः. उत्तमत्वं मोक्षेऽप्यस्तीति ततोऽप्युत्कृष्टमित्युक्तम् (४ $\frac{१}{२}$).

इत्थमित्यस्याभासे, वाचां शब्दरूपत्वाद् ज्ञानजनकत्वं न तु तापनिवर्तकत्वमित्याशङ्क्य तद्व्युत्पादनाय पूर्वाध्यायार्थमनुवदन्ति **एवमित्यारभ्य दुःखमपि गतमित्यन्तेन**. तथा च शब्दादज्ञाननिवृत्तिः, ततो विरहरूपदुःखनिवृत्तिः, ततस्तापनिवृत्तिः. तथा च मूले **इत्थममुना** प्रकारेण **श्रुत्वे**त्यनेन दुःखनिवृत्तिपर्यन्तार्थमनूद्य तापत्यागो विधीयते इति भावः. तथा **चेत्थमित्य**नेनोक्तायां प्रकारतायाम् अज्ञाननिवृत्तिदुःखनिवृत्त्योर्निवेश इति ज्ञेयम्.

योजना

प्रमाणेन प्रमेयेन दुःखं दूरीकृतवानिति, प्रमाणेनेति "नाहं तु सख्य" इत्यारभ्य "तद्वः प्रतियातु साधुने"त्यन्तेन भगवद्वाक्येनेत्यर्थः. **प्रमेयेन** स्वरूपेणाविर्भूतेनेत्यर्थः.

कारिकार्थः

एतल्लीलायाः भूमौ प्राकट्यकरणे प्रयोजनमाहुः **अत्रैव लोके** इति. **प्रकटम्** इति क्रियाविशेषणम्. तथा च अस्मिन् **लोके आधिदैविकं** रूपं जीवानां **प्रकटं** यथा भवति तथा **भुंक्ते** इत्यर्थः. एतल्लीलाश्रवणे जीवानाम् आधिदैविकं रूपं प्रकटीभवतीति तथा. **उत्तममिति** क्षराक्षराभ्यामुत्तमं पुरुषोत्तमस्वरूपात्मकमित्यर्थः (५ $\frac{१}{२}$).

१. जो. पाठानुसारेण. लिंगभंगफलमिति मुद्रितः पाठः.

॥श्रीशुक उवाच ॥
इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥१॥

भगवतो वाचः श्रुत्वा विरहजं तापं जहुः, भ्रमादेवास्माकं विरहो जात इति. ननु वचनमात्रेण कथमज्ञाननिवृत्तिः? तत्राह **भगवत** इति. **गोप्य** इति विपरीतभावनानिवृत्त्यर्थम्. ननु ता वाचः कथं न मनसि सन्देहमुत्पादितवत्यः? तत्राह **सुपेशला** इति अतिमनोहरा इतिं. मनसि

टिप्पणी

इत्यत्र, **विपरीतभावने**त्यादि, नागरीवत्कुतर्कोपहतमतयो न भवन्तीति तथा. **ननु ता वाच** इत्यादि, अनुभवविरोधित्वाद्वचनानां भगवति चाप्तत्वनिश्चयादिति

लेखः

इत्याहेति **इति** हेतोराह तापनिवृत्तिमिति शेषः. व्याख्याने, अज्ञाननिवृत्तिं विवृण्वन्ति **भ्रमा**दिति. **विरहो** विरहजन्यं दुःखमित्यर्थः. **इति ज्ञातवत्य** इति शेषः. परोक्षभजनाज्ञानं निवृत्तमित्यर्थः. **वचनमात्रे**णेति, वक्तर्याप्तत्वनिश्चय-व्यतिरेकेणेत्यर्थः. भगवत्त्वेनाप्तत्वनिश्चयादिति भावः. तर्हि पूर्वानुभवस्यापि दृढत्वेनोभयविधज्ञानात् संशयः स्यादित्याहुः **नन्विति**. **शब्दस्वाभाव्यादिति**,

योजना

इत्थं भगवत इत्यत्र **भ्रमादेवास्माकं विरहो जात इती**ति. ननु विरहस्य शृङ्गाररसद्वितीयदलात्मकस्य भगवद्रूपत्वाद् भ्रमजन्यत्वं कथं सम्भवतीति चेत्, सत्यं, यस्य विरहस्य भगवदात्मकत्वं स भिन्नएव, न तस्य निवृत्तिः. स रसरूपः. यत्र तु भगवान् अस्मान् विहाय गतो अतो नास्माकं भगवत्सम्बन्ध इति बुद्धिः; नत्वन्तर्भगवत्स्फूर्तिः भगवद्रमणं वा लीलास्फूर्तिर्वा सम्भवति किन्तु यत्कृतघ्नत्वबुद्ध्या प्रकटीभूतेऽपि भगवति सम्यक्त्वेन न सुखानुभवः, सोऽज्ञानजन्मा विरहः, स भगवद्वचोभिर्नाश्यते. एतासां तु विरहद्वयमप्यस्ति. तत्र भगवदात्मकस्य विरहस्य त्वाविर्भूते भगवति तिरोभावो, द्वितीयस्य तु भगवद्वाक्यैर्निवृत्तिरिति बोध्यम्. अतएव द्वितीयविरहस्याज्ञानजन्यत्वेन वास्तवत्वाभावाद् "भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचिदि"त्यनेन तदभावो भगवता बोधितः. **मनसि विचिकित्सायामेवे**ति –अस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥१॥

विचिकित्सायामेव सन्देहः. शब्दस्वाभाव्यादेव मनसि सन्देहो न जातः. अतो **विरहजं तापं जहुः** नास्माकं विरहो जात इति ज्ञातवत्यः, यथा स्वप्नादुत्थितः स्वाप्निकं दुःखं न मन्यते. **तस्य** भगवत **अङ्गैरुपचिता आशिषो** यासाम्. भगवत्कार्यव्यतिरेकेणैव भगवदवयवैरेव सर्वमनोरथाः पूरिताः ॥१॥

एवं दुःखाभावसुखयोः प्रतिबन्धकं रूपेण वाचा च निवार्य स्वकर्तव्यमारभते **तत्रारभतेति**.

टिप्पणी

भावः. **मनसि विचिकित्सायामेवेति**, मिथो विरुद्धत्वज्ञान एवेत्यर्थः. प्रकृते भगवद्वचनानुभावात्पूर्वसान्निध्यानुभवोऽधुना सम्पन्न इति नानुभवविरोधोऽतो न सन्देह इति भावः ॥१॥

लेखः

एतद्वाचां स्वभावो मनोहरणमुक्तं, तच्च स्वोक्तस्य परोक्षभजनस्य मनस्यनुभावनमिति भावः. **भगवत्कार्येति**, भगवत्कृतस्पर्शादिव्यतिरेकेणेत्यर्थः. **भगवदवयवैरिति**, 'सहासलीलेक्षण'-'विभ्रमद्भ्रुवा'-'ऽनङ्गदीपनमि'त्युक्त्वा 'अङ्कृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्पर्शनेने'त्युक्त्वा च भ्रुवादिभिरङ्घ्रिहस्ताभ्यां चेत्यर्थः. तथा च तत्रैतद्विशेषणोक्त्या भाविरमणमेतैः सूचयन्नेव वाक्यान्युक्तवानिति निरूपणादवयवानामपि वचनाङ्गत्वादेतत्कृतोपचयोऽपि वाक्कृतएवेति भावेनाग्रिमश्लोकाभासे सुखप्रतिबन्धस्य वाचा निवारणमनुवदिष्यन्तीति ज्ञेयम् ॥१॥

तत्रारभतेत्यस्याभासे, पूर्वाध्याये "सर्वास्ता" इति श्लोके "तापं जहुरि"त्युक्तम्, अत्रापि "तापं जहुरि"त्युक्तम्. अनयोस्तापयोर्विभेदमनुवादेनाहुः **एवं दुःखाभावेति**, प्रतियोगिनो अभावे प्रतिबन्धकत्वाद्दुःखाभावप्रतिबन्धकं दुःखं पूर्वत्र 'ताप'शब्दवाच्यम्. तं तापं स्वरूपेण निवारितवानिति "सर्वास्ता" इति श्लोके निरूपितम्. अतए"वानिष्टनिवृत्तिमाहे"ति तत्रोक्तम्. 'अनिष्टं' दुःखं, तन्निवृत्तिमाहेत्यर्थः. वक्ष्यमाणसुखे प्रतिबन्धकमवयवेषु कार्श्यादिकमत्र 'ताप'शब्दवाच्यम्. अतएव "तदङ्गोपचिताशिष" इत्युक्तम्. आशिषो व्रतचर्यायां वसनदानेन कालक्रमं विनैव सम्पादितावयवाः उपचिता यासामित्यर्थः. कार्श्यादौ विद्यमाने क्षीणरसतां स्यादतस्तन्निवर्तनमिति भावः. **स्वकर्तव्यमिति स्वस्य** भगवतः कर्तव्यमित्यर्थः. उभयविधतापनिवृत्तिस्तु

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥

गोविन्द इति, एतदर्थमेवेन्द्रो जातः. अतोऽसाधारणो भोगश्च तस्याव-श्यक इति च. **अनुव्रतैः स्त्रीरत्नैरन्वितः रासक्रीडामारभत.** बहुनर्तकीयुक्तो नृत्यविशेषो **रासो,** रसस्याभिव्यक्तिर्यस्मादिति. रसप्रादुर्भावार्थमेव हि नृत्यम्. **रासे क्रीडा** लीला स्वस्य. क्रीडायां मनसो रसस्योद्गमः. नृत्ये देहस्य. कामस्तु भोक्तृनिष्ठ इति स्वप्राधान्यम्. समाजेनापि रस उत्पद्यत इति एक-

लेखः

प्रतिबन्धकाभावरूपा स्वरूपदर्शनेन वचनश्रवणेन च स्वतएव सिद्धा, न तु तदर्थं भगवत उद्यम इति भावः. व्याख्याने, **इति चेति**, आधिदैविक-रूपप्राकट्यार्थं लीलां कृतवानित्युक्तं, गोविन्दत्वाच्च तथेत्यर्थः. **अभिव्यक्तिर्यस्मादिति**– इदमर्थकथनं, विग्रहस्तु रसस्यायं **रासः** रसाभिव्यञ्जकं नृत्यमित्यर्थः. रासक्रीडयोर्विभेदमाहुः **क्रीडायामिति, नृत्ये** इति. अत्र नायिकाप्राधान्ये वक्तव्येऽपि भगवतः प्राधान्यकथने हेतुमाहुः **कामस्त्विति**. क्रीडायाः कामरूपमनोरसोद्गमहेतुत्वमुक्तम्, तस्य च भोक्तृनिष्ठत्वाद्भोक्तुरेव

योजना

तत्रारभतेत्यस्य विवृतौ **अतोऽसाधारणो भोगश्च तस्यावश्यक इति चेति**. एतासामङ्गीकारस्य कृतत्वात्फलदानार्थं रासक्रीडा कर्तव्या. **गोविन्द-**पदेनेन्द्रत्वनिरूपणाद् "इदि परमैश्वर्ये" इति धातुना परमैश्वर्यकथनादसाधारणो भोग आवश्यक इत्यर्थः. "गोविन्द इति चाभ्यधादि"त्यत्र 'च'कारेण गोपेन्द्रो व्रजेन्द्रो गोकुलेन्द्र इत्यादिनामानि प्रकटीभूतान्यतो गोकुलेन्द्रत्वात्तत्सम्बन्ध्य-साधारणो भोगो भगवता कर्तव्य इति भावः. **बहुनर्तकीयुक्तो नृत्यविशेषो रास** इति. रूढिसिद्धमिदं लक्षणं; "रसानां समूहो रास" इति यौगिकी व्युत्पत्तिः. **क्रीडायां मनसो रसस्योद्गमः, नृत्ये देहस्येति**, मानसिकस्यानन्दस्य क्रीडायामाविर्भावः, नृत्ये दैहिकानन्दस्याविर्भावः. नृत्यं तु **रास**पदवाच्यमतो रासे दैहिकानन्दस्याविर्भाव इति क्रीडाया रासस्य **च** भेदो ज्ञेयः. अतएव **रासे क्रीडा** इति पूर्वं रासक्रीडयोर्भेदेन व्याख्यानम्. यद्यपि 'रस'शब्दवाच्य-स्यानन्दस्याविर्भावो मनस्येव; तथापि भगवत्परिकरस्यालौकिकत्वेन सच्चिदा-नन्दरूपतया सर्वत्रानन्दस्य विद्यमानत्वाद्देहेप्यानन्दाविर्भावो युक्त एवेति

वचनम्. तदा हीक्षुरसवद् भक्तिरसवद्वा कामरसोऽप्युत्पद्यते. गोपिकानां रस-योग्यतामाह **अनुव्रतैरि**ति, अनुव्रतं यासां तासामपि रसोत्पादनमावश्यकमिति. यादृशो भगवतोऽभिप्रेतः तादृशएवेति च. नन्वयं रसो अलौकिको न लौकिकेषूत्पद्यते, अतो व्यर्थ आरम्भो, न हि सिकतासमूहात् तैलमुत्पद्यत इति चेत्, तत्राह **स्त्रीरत्नैरि**ति, स्वभावतः **स्त्रियस्त्रि**विधाः लोकभेदेन. तत्रापि मानुषीषु जातिभेदाश्चत्वारः पद्मिन्यादयः. वासनाभेदाश्चतुर्दश अश्वप्रकृत्यादयः.

लेखः

तत्र प्राधान्यमित्यर्थः. क्रीडाया अनेकविधत्वेऽप्येकवचने हेतुमाहुः **समाजेनापी**ति. **रसः** एक इति शेषः. **तदा हीति** समाजे कृते इत्यर्थः. **इक्ष्विति**, यथा बहुभ्य इक्षुभ्योऽपि निर्गतो रस इक्षुरसत्वेनैकएव, यथा वा भक्तिरूपोऽ-धरसुधारसोऽनेकस्वामिनीमुखारविन्देभ्योऽपि निर्गतः सुधारसत्वेनैकएव; अतएव "अन्तः प्रविष्टो भगवानि"ति कारिकायामेकवचनमेवोक्तम्, तथा कामरसोऽपि सर्वाभ्योऽपि निर्गतः कामरसत्वेनैकएव. **सोऽप्युत्पद्यते** एक इति शेषः. भगवता एकीकृत्य भुज्यते इत्यर्थः. **अपि**शब्दान्नृत्यरसः. तथा च **रासे क्रीडा** काम**लीले**त्यर्थः. अतएव **स्वस्ये**त्युक्तम्, कामभोक्तुरित्यर्थः. अग्रे तु नृत्यकामरसयोः प्रत्येकपर्यवसानं वक्ष्यते. **तादृशएवे**ति तासामभिप्रेत इति शेषः. तथा चानुव्रतत्वेनावश्यकत्वादेकाभिप्रायकत्वाच्च रसोत्पादनमित्यर्थः. **लौकिकेष्वि**ति, "पादन्यासैरि"त्यत्र वक्ष्यमाणप्रकारेणावयवेभ्यो रसनिर्गमार्थं हि रासारम्भः. तथा चैतदात्मनामलौकिकत्वेऽप्येतदवयवानां तु लौकिकत्वम्, अन्यथा तत्तदवयवलक्षणक-पद्मिनीत्वादिव्यवहार एतासु न स्यात्, परिचयार्थं लौकिकैरेवावयवैः शास्त्रे लक्षणकरणात्. अतः स रसो **लौकिकेष्व**वयवेषु **नोत्पद्यते** न तिष्ठत्यतस्ततः कथं निर्गम इत्यर्थः. उत्पत्तेः सत्तार्थकत्व"मौत्पत्ति-

योजना

बोध्यम्. **अनुव्रतैरि**त्यस्य विवृतौ **अनुव्रत**पदतात्पर्यमाहुः **तासामपि रसोत्पादन-मावश्यकमितीति**, यथा भगवतो रमणोत्कण्ठया रसोत्पादनमावश्यकं तथा तासामपि रसोत्पादनम् आवश्यकं, रिरंसाधिक्यादतोऽनुव्रतात्वमित्यर्थः. अथवा तासाम् अनुव्रतानामुपरि परमानुग्रहाद्रसोत्पादनं भगवता कर्तव्यमेवेति भावः. **अनुव्रतपदस्यार्थान्तरमाहुः यादृशो भगवतोऽभिप्रेतस्तादृशएवेति चे**ति, ताभिरभिव्यक्तीक्रियत इति शेषः. तासामनुव्रतात्वेन भगवदभि-

सर्वास्वेवैता **रत्न**भूताः स्वासाधारणधर्मैस्तद्धर्मप्रकाशिकाः. अतः सर्वभावेन रसोत्पत्तियोग्यता. तै**रन्वित** इति– स्वयं नायकमणिः, तद्योग्या एते मणय इति. एकरसत्वाय च मेलनम्. अनेन रसप्रकटनार्थं शुल्कदासिका भगवते दत्ता इति यदुक्तं तदपि समर्थितम्. नन्वेते जीवाः, भगवानानन्दमयः, कथं वैषम्याद्रसोत्पत्तिरिति चेत्, तत्राह **प्रीतैरिति**– ता अपि भगवत्सदृश्यो जाताः, सर्वतः प्रीता इति. तासामभिनिवेशप्रकारमाह **अन्योन्याबद्धबाहुभिरिति**, ताः परस्परमासमन्तादुभयतः **बद्धौ बाहू** यासां, न तु भगवता सह ॥२॥

भगवान् पुनः हस्तमण्डलाद् बहिःस्थितो यथा सम्बध्यते तथा सन्निवेशमाह **रासोत्सवः सम्प्रवृत्त** इति.

लेखः

कस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध" इति सूत्रे व्याख्यातम्. **स्वासाधारणेति**, **स्वस्यासाधारणा** ये **धर्माः** पद्मिनीत्वादयस्तेषां यत्किञ्चित् स्थापनेन लौकिकीनां लौकिकेष्वप्यङ्गेषु पद्मिनीत्वादि**धर्मप्रकाशिकाः.** नैतावता तासां स धर्मः किन्त्वेतदवयवानामेवेति भावः. यथा श्रीपुष्ट्यादीनां लौकिकेषु यत्किञ्चित्स्थापनेन तेष्वपि श्रीपुष्ट्यादिमन्त इति व्यवहारो, न तु वस्तुतस्तास्तेषां शक्तयः किन्तु भगवतएवेति सिद्धान्तः, तथात्रापीति ज्ञेयम्. तथा च **रत्नानि** रत्नसदृश्य इत्यर्थः. यथा कङ्कणादिषु स्थितानि रत्नानि स्वासाधारण-धर्मैश्चाकचिक्यादिभिः कृत्वा कङ्कणादिष्वपि चाकचिक्यादिप्रकाशकानि तथैता अपीति सादृश्यम्. **अनेनेति** क्रीडार्थमन्वितत्वकथनेनेत्यर्थः. एवं कथनेन कामेन हेतुनान्वितो जात इत्युक्तं भवति. तथा च भगवते कामेन **समर्पिता** इति सिद्धमेवेत्यर्थः. **भगवत्सदृश्यो जाता** इति, प्रीतेरानन्दधर्मत्वात् तद्युक्ता आनन्दरूपा जाता इत्यर्थः ॥२॥

सन्निवेशमाहेति, "गृहीतानां कण्ठे" इत्यन्तस्याभासोऽयम्. **सर्वेषामिति**, कामलीलान्तःपातिनामाश्लेषादीनामित्यर्थः. "मह उद्भव उत्सव" इति

योजना

प्रायानुकूलएव रसोऽभिव्यक्तीक्रियत इति भावः. **स्त्रीरत्नैरित्यत्र** **स्वासाधारणधर्मैरित्यादि. असाधरणधर्मैरित्यादि, असाधारणधर्मैः** कृशाङ्गीत्व-मृगनयनीत्व-चन्द्रमुखी-त्वादिरूपैः स्त्रीरत्नत्वप्रकाशका इत्यर्थः ॥२॥

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥३॥
यं मन्येरन्, नभस्तावद्विमानशतसङ्कुलम् ।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥४॥

सर्वेषामेव गुणभावाद् रसप्राधान्याद् **रासोत्सव**एव **सम्यक् प्रवृत्तः.** **उत्सवो** नाम मनसः सर्वविस्मारक आह्लादः. उत्सवत्वसम्पादनाय सजातीयानेकरसोत्पादनार्थं विशेषमाह **गोपीमण्डलमण्डित** इति, **गोपीनां मण्डलैर**नेकविधैर्**मण्डितः**. उत्सवोऽप्यनेकविधैर्ब्राह्मणादिमण्डलैर्मण्डितो भवति. अत्रापि तुल्यस्वभावाः रसार्थमेकीकृताः पृथङ्मण्डलभाजः, तैरपि मण्डितः. पोषकाश्च रसास्तत उत्पादिता इति उत्तरोत्तरमण्डलैः पूर्वपूर्वरसः पोष्यत इति नायं रसोऽन्यत्र भवितुमर्हति. **सम्यक्प्रवृत्ति**र्निरन्तरमाविर्भावः. ननु कालकर्मस्वभावानां प्रतिबन्धकत्वादनेकत्र जायमानो रसः कथमेकीभवति? तत्राह **योगेश्वरेणे**ति, स हि सर्वोपायवित्. सर्ववस्तुषु विद्यमानं भगवदैश्वर्यादिकं योगएवोद्घाटयतीति साधनेषु योगः प्रधानम्. तत्रैश्वर्ये सर्वत्रैव मूलभूतो रस उत्पादयितुं शक्यत इति सिद्धमेव. किञ्च. **कृष्णो**ऽयमिति स्वयमेव सदानन्दः.

टिप्पणी

गोपीमण्डलमण्डित इत्यत्र, **उत्तरोत्तरे**ति, उत्तरोत्तरक्षणसम्बन्धिभिरित्यर्थः. **पूर्वपूर्वे**ति, पूर्वपूर्वक्षणसम्बन्धीत्यर्थः ॥३॥

लेखः

कोशप्रसिद्धमुत्सवलक्षणमाहुः **उत्सव** इति. अतएव **नामे**त्युक्तम्, प्रसिद्धमित्यर्थः. **उत्सवत्वे**ति, रासजन्यह्लादस्य सर्वविस्मारकत्वं संपादयितुमित्यर्थः. तथाच रासजन्याह्लादो रासोत्सव इत्यर्थः. **पोषकाश्चे**ति, अतोऽपि **मण्डल**पदमित्यर्थः. मण्डलस्य पोषकत्वं व्युत्पादयन्ति **उत्तरे**ति. **कालकर्मस्वभावानामि**ति, प्राकृतानां पूर्वमेव निरस्तत्वात् "तमद्भुतं बालकमि"त्यत्रोक्तानां भगवद्रूपाणामित्यर्थः. तेषामपि लीलार्थं तथा स्वभावत्वादिति भावः. **तत्रे**ति,

योजना

गोपीमण्डलमण्डित इत्यत्र, **उत्तरोत्तरमण्डलैः पूर्वपूर्वरसः पोष्यत** इतीति, एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोरि**त्यस्य विवृतौ **तासां**

उद्गतोऽग्निः सर्वत्रैवाग्निं लीनं जनयितुं शक्नोति. तस्य भगवतस्तासु सन्निवेशप्रकारमाह **तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोरिति**. मण्डलीकृता यावत्यो गोप्यः तासां द्वयं द्वयं भिन्नतया भावनीयम्. द्वित्वद्वयस्य नैकाधिकरणता भाव्या. अतो मण्डलमध्ये यत्र हस्तद्वयग्रन्थिः तत्र भगवदुदरं यथा भवति तथा भगवानुत्थितो जातः. तथोद्गतस्योभयत्र सम्बन्धमाह **द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन** भगवता **कण्ठे गृहीतानामिति**, हस्तद्वयेन पार्श्वस्थितयोः कण्ठे ग्रहणम्. एवं षोडशगोपिकानामष्ट[१] कृष्णा भवन्ति. अन्यथा रसाभासः स्यात्, कृष्णद्वैविध्यप्रतीतेः. इममेवार्थमाह **स्वनिकटं स्त्रियः यं मन्येरन्निति**, स्वस्यैव

प्रकाशः

सुबोधिन्यां **तासां मध्य** इत्यत्र **अन्यथेति** षोडशकृष्णपक्षे चतुःकृष्णपक्षे

लेखः

योगे इत्यर्थः. **अग्निं लीनमिति**, एतास्वपि "कृष्णएव जात" इत्यनेन स्वानन्दस्थापनस्योक्तत्वादिति भावेन दृष्टान्तः.

सन्निवेशप्रकारमाहेति, **रासोत्सव** इत्यत्रोक्ताभासस्यानुवादोऽयम्. **नैकाधिकरणतेति**, गोपीनां द्वित्वद्वयमेकस्मिन् भगवति **न** एकं भगवन्तवलम्ब्य न तिष्ठति; किन्तु द्वित्वान्तरे द्वितीयो भगवानित्यर्थः. **अन्यथेति** समसङ्ख्याया-

योजना

द्वयं द्वयं भिन्नतया भावनीयमिति, गोपिकाद्वयं भावयित्वा श्रीकृष्णभावना कार्या, ततः पुनः गोपिकाद्वयं भावनीयं, पुनः श्रीकृष्णो भावनीयः. एवं सति सर्वासाम् एकस्मिन् पार्श्वे भगवान्, तेन सह क्रीडा. भगवतस्तु वामपार्श्वे व्रजसुन्दरी तया सह क्रीडा, दक्षिणपार्श्वे चैका तया सह क्रीडा इत्येकस्य भगवत्स्वरूपस्योभाभ्यां गोपिकाभ्यां क्रीडेति बोध्यम्. **द्वित्वद्वयस्य नैकाधिकरणता भाव्येति** गोपिकाद्वित्वद्वयस्य एकाधिकरणता न भाव्या. गोपिका-चतुष्टयमेकं भगवत्स्व[२]रूपमवलम्ब्य तिष्ठतीति न भावनीयं किन्तु गोपिका-द्वयमेकं भगवन्तमवलम्ब्य तिष्ठतीति भावनीयम्. तत्राप्येकस्या वामभागे भगवान्, अन्यस्या दक्षिणभागे हरिरिति ध्येयम्. इह द्वित्वद्वयं भिन्नभिन्नतया **भावनीयमिति** श्रीमदाचार्यैर्भावनायां कृत्यप्रत्ययस्योक्तत्वादवश्यं जपादिसमये सर्वदैवैतादृशं रूपं स्मर्तव्यम्. **एवं षोडशगोपिकानामष्टकृष्णा भवन्तीति**,

१. गोपिकानां मध्येऽष्टेति पाठः सूचितः.
२. एकभगवत्स्वरूपम् इति मुद्रितः पाठः. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

निकटे न त्वन्यासाम्. स्वसम्मुखस्थित-गोपिकाकण्ठालिङ्गित-भगवद्दर्शनमपि भगवदिच्छया तासां न जायत इति. प्रयोजनार्थं हि रूपकरणं, तदर्धसङ्ख्यैव प्रयोजनं भवतीति न समसङ्ख्या मृग्या. "यावतीर्गोपयोषित" इत्यग्रे समसङ्ख्यां भगवतो वक्ष्यति. यत्पुनः कैश्चिदुक्तम् "अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधव" इति, तत्रापि सविसर्गः पाठो ज्ञेयः, द्विवचने बहुवचनप्रयोगश्च.

प्रकाशः

चेत्यर्थः. तत्राद्यपक्षे हेतुमाहुः **कृष्णेत्यादि**. द्वितीये हेतुर्मूलादेव स्फुटती-त्याशयेनाहुः **इममित्यादि**, **इमं** अष्टकृष्णपक्षरूपम्. तथा च चतुःकृष्णपक्षे अष्टानां सम्बन्धाभावेन मूलं विरुध्येतेत्यष्टकृष्णपक्षएवादर्तव्य इत्यर्थः. प्रकारान्तरेण रसाभासमाशङ्क्य परिहरन्ति **स्वसंमुखेत्यादि**. ननु भगवदिच्छया दर्शनाभावसमर्थने षोडशपक्षोऽप्यदुष्ट इत्यत उपपत्त्यन्तरमाहुः **यावतीरित्यादि**. नन्वस्त्वेवं, तथापि भक्तानां प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्याद् बिल्वमङ्गलैश्च समसंख्यादर्शनान्नैकान्ततोऽष्टसंख्यानिर्णय इत्यत आहुः **यदित्यादि**. तथा च

लेखः

मित्यर्थः. **तासां द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन** भगवता **कण्ठे गृहीतानां** सम्बन्धी **रासोत्सवो योगेश्वरेण कृष्णेन सम्प्रवृत्त** इत्यन्वयः. **स्वस्यैवेति** स्वद्वित्वस्यै-वेत्यर्थः. ननु स्वपार्श्वस्थ-द्वित्वस्थित-भगवद्दर्शनेऽपि संमुखस्थितं तद्दर्शनं तु स्यादित्यत आहुः **स्वेति**. **सविसर्ग** इति, अङ्गना अङ्गना अन्तरे इत्यत्र लुप्त-

योजना

षोडशगोपिकानामेकं मण्डलम्, एवं नानामण्डलानि. तत्र षोडशगोपिका भगवतः कलारूपाः, ताभिः कलारूपाभिः सहितः श्रीवृन्दावनचन्द्रो भगवान् बोधितः. अतएव षोडशैव गोपिकाः गणिताः, तावतीनामेव मण्डलं निरूपितम्. अनेन प्रमाणप्रकरणे एकादशाध्याये वृन्दावनगमनप्रसङ्गे "गोपवृद्धा महोत्पातानानुभूय बृहद्वने" इत्यारभ्य "राममाधवयोर्नृपे"त्यन्तैः षोडशभिः श्लोकैः षोडशसंख्यातात्पर्येण सूचितं श्रीकृष्णस्य चन्द्रत्वं फलप्रकरणे स्फुटीकृतं षोडशगोपिकामण्डलकथनेन. **अन्यथा रसाभासः स्यादिति**, यदि एकामेकां गोपिकां प्रति एकं एकं कृष्णस्वरूपं स्यात् तदा मण्डलमध्ये एकस्या एकस्या गोपिकायाः पार्श्वद्वये भगवान् स्यात्. तदा भगवत्स्वरूपद्वयेन एकैकस्याः सम्बन्धे रसाभासः स्यादित्यर्थः. तदेवाहुः **कृष्णद्वैविध्यप्रतीतेरिति**.

अन्यदेव वा तन्मण्डलं, न भागवतोक्तं, मध्ये वेणुनादस्योक्तत्वाद्, अत्र तु रसार्थे नृत्यमिति गानार्थमपेक्षायामपि देवैरेव तत्सिद्धिः. "मध्ये मणीनां हैमानामि"त्यत्र तु दर्शनार्थमुक्तत्वाद् गोपिकानां देवानां च दर्शनं तथैवेति नानुपपन्नं किञ्चित्. एवं रसार्थं सर्वसामग्र्यामुक्तायां स रसः प्रादुर्भूतः सर्वेषां

प्रकाशः

तद्वाक्ये कालवशेनाधुना पाठभ्रमो, **वा** तादृशपाठस्य प्रामाणिकत्वे **तद्दृष्टं मण्डलमन्यदेव** रसपोषोत्तरभावीति निश्चेयमित्यर्थः. ननु मध्ये 'वेणुनादो'-क्तिर्नान्यत्वगमिका, रसार्थेऽपि मण्डले गानस्यापेक्षितत्वादित्यत आहुः **गानार्थमि**त्यादि. नन्वत्राप्यग्रे समसंख्यापक्षस्य संभवदुक्तिकत्वान्नैकान्ततः संख्यानिर्णय इत्यत आहुः **मध्ये मणीनामि**त्यादि. तथा च यथात्र भगवदिच्छया संमुख-स्थित-कण्ठालिङ्गित-दर्शनाभावः, तथा तत्र देवानां समसंख्यादर्शनं, न तावतात्र तादृक्संख्यासिद्धिरित्यर्थः. अत्र बीजं **तासां मध्ये**

लेखः

विसर्ग इत्यर्थः. इदं बहुवचनं च महत्त्वविवक्षया द्विवचनार्थे. तथा चाङ्गनयोः अन्तरे इत्यर्थः. द्विवचनान्तत्वे पररूपापत्त्या 'अङ्गनेङ्गनेन्तरे' इति स्यात्, तथाच छन्दोभङ्ग इति भावः. **नृत्यमितीति**, नृत्यस्यैव रसोद्बोधार्थकत्वात् तदुद्बोधको वेणुनादो नोक्त इति शेषः. नन्वेवंप्रकारकमण्डले सति "मध्ये मणीनामि"त्यनेन भगवत एकस्य स्थितिः कथमुक्तेत्याशङ्क्याहुः **मध्ये मणीनामिति**. तत्र तु **दर्शनार्थं** दृष्टान्त**स्योक्तत्वाद् गोपिकानां देवानां** चकाराद् गन्धर्वादीनां **दर्शनं तथैव** परितो गोपिकाः मध्ये एको भगवानिति

योजना

मध्ये मणीनां हैमानामित्यत्र त्विति, "हैमानां मणीनां मध्ये महामारकतो यथे"त्युक्ते एको भगवान् बह्वीषु नृत्यतीति प्रतीयते. तच्च पूर्वोक्तविरुद्धं, पूर्वं **तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः प्रविष्टेने**त्युक्तत्वादित्याशंक्य समादधते **"मध्ये मणीनां हैमानामि"त्यत्र तु दर्शनार्थमुक्तत्वाद्गोपिकानां देवानां च दर्शनं तथैवे**त्यनेन. पूर्वं यथा भगवान् मण्डलमध्ये रूपाणि कृत्वा प्रविष्टः तथा वर्णितं भगवतो बहुरूपत्वं शुकेन, "मध्ये मणीनामि"त्यत्र तु यथा देवानां[१] दर्शनं जातं "बह्वीषु गोपिकास्वेको भगवानि"ति तथैव शुकेन वर्णितमि-

१. देवानाम् इति मुद्रितः पाठः. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

भविष्यतीति देवादयः सर्वे अलौकिकज्ञानयुक्ता दर्शनार्थमागता इत्याह **नभस्तावदिति**, **तावन्नभो विमानशतसङ्कुलमासी**त्. मण्डपे हि नृत्यं रसजनकम्. अन्यथोपरि वैचित्र्यं न स्यात्. तदर्थमपि विमानशतेन सङ्कुलम्. यथा रसोत्पादनार्थं स्त्रियः पुरुषाश्च सम्बद्धाः नानाबन्धयुक्ताः चित्रे स्थाप्यन्ते तदर्थं भगवता ते चित्रप्रायाः स्थापिताः. अत एवाग्रे **औत्सुक्यापहृतात्मनामि**ति वक्ष्यति. स्वलीलार्थं सर्वं तथा प्रेरयतीति न औत्सुक्येनान्यथासिद्धिः. तासां रसग्रहणार्थमागमनं, भगवदिच्छा तु चित्रार्थम्. विमानस्थितान् तत्सम्बन्धिनो वर्णयति **दिवौकसामि**ति. स्वर्गएव स्थानं येषाम्. **सदाराणामि**ति तेषां भावान्तरव्युदासार्थम्. स्त्रीणामुपसर्जनत्वं तासां भावार्थं, स्वर्गस्थिता रसाभिज्ञा रसयोग्याश्च भवन्तीति. नन्वीश्वरलीला न द्रष्टव्येति कथं तेषां दर्शनार्थं

प्रकाशः

द्वयोर्द्वयोः "यावतीरि"तिवाक्यद्वयार्थापत्तिरेव बोध्येत्याशयेनाहुः **नानुपपन्नं किञ्चिदि**ति. नन्वौत्सुक्यस्य भगवद्दर्शने प्रयोजकत्वात्तेन कथमात्मापहार इत्यत आहुः **स्वे**त्यादि ॥३॥

लेखः

प्रकारकमेवेत्यर्थः. तथा च तत्र दृष्टानुवाद इति भावः. **सर्वेषामि**ति द्रष्टृणामपीत्यर्थो, यथाधिकारमिति शेषः. **सामग्र्यामि**त्यस्यानन्तरं सत्यामिति शेषः. **उक्तायां सामग्र्यां** सत्यामित्यर्थः. **अन्यथे**ति विमानाभावे इत्यर्थः. **तदर्थमपी**ति, दर्शनार्थमागमनं वैचित्र्यार्थमपीत्यर्थः. **अन्यथासिद्धिरि**ति प्रद्युत्यात्रागमनमित्यर्थः. **तत्सम्बन्धिन** इति, दारसाहित्यकथनात् मिथुनरससम्बन्धिन इत्यर्थः. **औत्सुक्येने**ति, उत्सुकतया विचाररहितं लीलाक्षिप्तं च मनो जातमत आत्मनोऽपहार इत्यर्थः ॥३-४॥

योजना

त्यविरोधः. **गोपिकानां देवानां चे**ति सुबोधिनीफक्किकायां **गोपिकानां दर्शनं** गोपिकाकर्मकं दर्शनमित्यर्थो बोध्यः. **देवानां चे**ति तु देवकर्तृकं दर्शनमित्यर्थो बोध्यः. तथा च देवानां भगवद्दर्शने एको भगवान् नृत्यति मध्ये इति दर्शनं, गोपिकानां तु बह्वीनां तु दर्शनं मारकतमणेः परितो योजितानां हैममणीनामिवेत्यर्थो भवति. एवं सति गोपिकानां परितः स्थितानामेव देवैर्दर्शनं कृतम्, न तु गोपिकासम्बन्धिनी काचिदन्तरङ्गा लीला दृष्टेति फलितम् ॥३॥

प्रवृत्तिः? तत्राह **औत्सुक्यापहृतात्मनामिति**, **औत्सुक्येन** विचाररहित-लीलाक्षिप्तमनसा **अपहृत आत्मा** स्वरूपं बुद्धिर्वा येषाम्. अतः स्वधमदिव प्रवृत्ताः, न तु भगवद्धर्मं विचारितवन्तः ॥३-४॥

ततो नृत्यारम्भे यद् भाव्यं तज्जातमित्याह **तत** इति.

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥५॥

आदौ **दुन्दुभिवादनं**, "परमा वा एषा वाग् या दुन्दुभावि"ति श्रुतेः. ततः प्रथमतः **पुष्पवृष्टिर्मङ्गलार्था**. पुष्पाञ्जलिः प्रसिद्धः, आगतो रसः तदधिष्ठाता वा पूज्यत इति. नानाविधानां पुष्पाणां भिन्ना वृष्टय इति बहुवचनम्. ततो गानं साधारणं जातमित्याह **जगुर्गन्धर्वपतय** इति, भगवान् श्रोष्यतीति उत्तमैरेव गानम्. **गन्धर्वपतयो** विश्वावसुप्रभृतयः. ते ह्यधिकारिण इति नटानामिव तेषां दर्शनं न दोषाय. अन्यथा भगवद्धस्तस्थितेन्द्रादीनामपि

टिप्पणी

जगुर्गन्धर्वपतय इत्यत्र, **अन्यथा भगवद्धस्तेत्यादि**. अत्रायं भावः. यथा भगवल्लीलामात्रोपयोगिनो नटा इव विश्वावसुप्रभृतयः, तथा भगवद्रहस्सदनादि-मात्रोपयोगिक्रियाशक्तिमन्त इन्द्रादयो दिक्पालेभ्यो भिन्नाः सन्ति. ते त्वेतद्भुजदण्डमात्रावलम्बाः, तयो रसरूपत्वेन रसात्मकक्रियाशक्तिप्रधानानामेव तत्र स्थितेरुचितत्वात्. अतः सुष्ठूक्तं **भगवद्धस्तेत्यादि** ॥५॥

प्रकाशः

जगुरित्यत्र **नटानामिति** नर्तकीशिक्षकाणामित्यर्थः. **अन्यथाबुद्धिरिति**

लेखः

ततो दुन्दुभय इत्यत्र, **दोषत्वमिति**, दोषयतीति[१] दोषस्तत्त्वं दोषजनकत्वमित्यर्थः. **अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थ** इति, "अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावेऽ-तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेषत्वादि"ति प्रतितन्त्रसूत्रादित्यर्थः. अतस्**तेषां दर्शनं न दोषायेति** पूर्वेणान्वयः. **तथापीति**, तद्दर्शनस्य भगवति दोषावहत्वाभावेऽपि तेषु दोषावहत्वं स्यादित्यर्थः. **वैषयिकेति**, तत्र तथाबुद्ध्यभावेऽपि चित्रदर्शनेनेव

योजना

जगुर्गन्धर्वपतय इत्यत्र **अन्यथा भगवद्धस्तेत्यादि**, अस्यार्थष्टिप्पण्यां

१. दूषयति इति जो. पाठः.

दोषत्वं स्यात्. "अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो बलीयानि"ति न्यायात्. तथापि तेषामन्यथाबुद्धिः सम्भाव्येतेति विशेषणमाह **सस्त्रीका** इति. वैषयिकदोषव्यावृत्त्यर्थमाह **अमलं तद्यश** इति. तद्धि मलनिवर्तकम्, अतो न तासां तेषां वा तत्कालोपयोगिपदार्थादतिरिक्तो भाव उत्पद्यते ॥५॥

एवं बाह्यगीतवाद्यादिकमुक्त्वा नृत्यमध्ये रसोपयोगिवादित्राण्याह **वलयानामिति**.

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।
सप्रियाणामभूत् शब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥६॥

स्थानत्रये हि वादित्राण्यपेक्ष्यन्ते— नीचस्थाने भूमाविव, मध्ये उपरि च; तथैव तालभेदाः. अतोऽत्रापि उपरि **वलयानां शब्दः,** अधो **नूपुराणां,** मध्ये **किङ्किणीनाम्.** अन्योन्याबद्धबाहवएव मध्ये मध्ये हस्तद्वयं योजयन्तीति

प्रकाशः

मर्यादामार्गादिरीतिमनुसृत्येत्यर्थः. **सस्त्रीका** इति विशेषणेन स्वस्त्रीणामपि दर्शनं भवतु एताश्चोपयुज्यन्तामिति भावस्तेषां स्फुटतीति भक्तिमार्गीयत्वान्न तथेति भावः ॥५॥

लेखः

स्वस्त्रीष्वेव कामोद्बोधः स्यादित्यर्थः. **तासां तेषां वे**ति गन्धर्वीणां गन्धर्वाणां चेत्यर्थः ॥५॥

अन्योन्येति. ग्रन्थियुक्ते हस्ते एव तालाभिव्यक्त्यर्थं मध्ये मध्ये द्वितीयं हस्तं योजयन्तीत्यर्थः. **पादन्यासैरिति** इति श्लोके 'भुजविधुतिमि'ति शेषः.

योजना

स्फुटः. **सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलमित्यस्य** विवरणे **वैषयिकदोषव्यावृत्त्यर्थमाहेति,** देवानां भगवल्लीलादर्शने भगवत्परिकरविषयकदोषोत्पत्त्यभावेपि स्वभोग्यस्त्रीषु कामोद्बोधः स्यात्तन्निवृत्तये यशो जगुः. तद्यशःस्वरूपमाहुः **अमलं तद्यश** इति. न मलं यस्मादिति पञ्चम्यन्ते अन्यपदार्थे बहुव्रीहिणा मलनिवर्तकं यश इत्यर्थः सिध्यति. तदाहुः **तद्धि मलनिवर्तकमिति. अतो न तासां तेषां वे**त्यादि. **तासां** देवस्त्रीणामित्यर्थः, **तत्कालोपयोगिपदार्थादतिरिक्त** इति स्वस्वपुरुषविषयकः काम**भाव** इत्यर्थः. **तेषां वे**ति, **तेषां** देवानां भगवत्परिकरविषयकः स्वस्वस्त्रीविषयकश्च काम**भावो नोत्पद्यत** इति भावः ॥५॥

वलयानां शब्दः. अथवाग्रे शब्दोत्पत्त्यर्थं प्रकारं वक्ष्यति "पादन्यासैरि"ति. **सप्रियाणां** कृष्णसहितानाम्. अतएव सर्वलास्यसम्पत्तिः सर्वासां भगवत्सम्बन्धार्थम्. **च**काराद् अन्येऽपि कूजितशब्दा मुखशब्दाश्चोक्ताः. सर्वः एकीभूय **तुमुलो** भूत्वा, यथा दूरस्थानामवान्तरग्रहणं न भवति. तथा सति किं स्याद्, अत आह **रासमण्डल** इति, रसानां समूहमण्डले. यथानधिकारित्वेन शूद्रस्य वेदश्रवणे तदध्येतुर्मन्त्रस्य च शक्तिह्रासः शूद्रे च पापसम्भवः, तथैतद्भक्तातिरिक्तानामेतच्छ्रवणेऽप्यनधिकारादस्य रसस्यालौकिकत्वादेतच्छ्रवणे मण्डले सर्वेषां रसो गच्छेत्. श्रवणे सति तदन्वेषणपरत्वं स्यात्. तत्तेषामेवानिष्टकरमिति तदेव पापरूपम् ॥६॥

एवं नृत्यमध्ये प्रविष्टो भगवान् गुणभावात् कदाचिन्न भासेतेत्याशङ्क्य सर्वजनीना भगवच्छोभा तदा जातेत्याह **तत्रे**ति.

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा ॥७॥

स्वभावशो भातोऽ**प्यतिशयेन शुशुभे.** तदुक्तं शक्तिभिः सहितोऽधिकां शोभां प्राप्नोतीति. कदाचित् स्वतएव शोभां प्रकटयेदिति तद्व्यावृत्त्यर्थं **ताभिरि**त्युक्तम्. ननु सहजशोभायुक्तस्य कथं ताभिरतिशोभा, तत्राह **भगवानि**ति, यथा गुणैः. ननु गुणाः सर्वोत्तमाः, न तथैता इति चेत्, तत्राह **देवकीसुत** इति, भक्त्या यथा देवक्या अपि पुत्रो जातः, स्त्रीणामेवोपकारायाविर्भूतः, अतस्तास्वपि स्वसामर्थ्यमेव दत्वा शोभां प्राप्तवान्. सहजस्य

लेखः

सर्वलास्येति, कुलाङ्गनानामसम्भावितनृत्याभ्यासानामेतावत्प्रकारकज्ञानं भगवदनुभावादेवेत्यर्थः. **सम्बन्धार्थं चे**ति, **सप्रियाणामि**ति पदमुक्तमिति शेषः. **तुमुलो भूत्वे**ति स्थित इति शेषः ॥६॥

तत्रातिशुशुभे इत्यस्याभासे, शोभायाः सार्वदिकत्वेऽपि कथनस्य प्रयोजनमाहुः **नृत्यमध्ये** इति. तथा च गौणत्वसंभावितशोभाभावस्य कैमुत्येन निरासो वाक्यतात्पर्यार्थ इति भावः ॥७॥

योजना

तत्रातिशुशुभे इत्यस्य विवरणे **तदुक्तं शक्तिभिः सहितोऽधिकां शोभां प्राप्नोती**ति, "व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथे"त्यत्रोक्तमित्यर्थः ॥७॥

कृत्रिमैः शोभा न भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **मध्ये मणीनामिति**— **महामारकतो** गरुडोद्गारी स मणिः सहजः, सुवर्णमणयः कृत्रिमाः, तथापि ते परितः क्लृप्ताः सहजमणिमप्यतिशोभयन्ति ॥७॥

एवं पूर्वपीठिकामुक्त्वा मुख्यं नृत्यमाह **पादन्यासैरिति.**

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैः
भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाऽग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥८॥

पादन्यासाः सर्वएव चारीकरणरूपाः. **भुजानां विधुतयश्च** सर्वहस्तक-भेदाः; एकेनावयवेन शिष्टावयवाः तथा संविधानयुक्ता इति ज्ञेयम्. मन्द-हाससहिताः सर्वएव कटाक्षा उक्ताः, भ्रूभेदाश्च, तत्तद्रसे हृदयाविष्टे तथैव

लेखः

देवकीसुतपदेन तासामपि तथा व्यवस्थापितत्वाद् अग्रिमश्लोके शोभासाधकान्तरं नृत्यसामयिक-पादन्यासादिकमेव वाक्यार्थ इत्याशयेन तदाभासमाहुः **मुख्यं नृत्यमाहेति.**

पादन्यासैरित्यत्र, अत्र सङ्केतादिसूचनाभावेऽपि भ्रूविलासकथने हेतुमाहुः **तत्तद्रसे** इति, स्वतएव भवन्त्यत उक्ता इत्यर्थः. **रसाभिनिविष्टानामिति,**

योजना

पादन्यासैरित्यस्य विवृतौ **एकेनावयवेनेत्यादि,** चारीकरणरूप-पादन्यासादिसमये सङ्गीतशास्त्रोक्तप्रकारेण यादृशी भुजविधुतिरपेक्षिता तादृश्येव जायते, तस्मिन्नेव **चारीकरण**-भुजकम्पनादि-व्यापारे यादृशो नेत्रव्यापार उचितो यादृशो भ्रुव्यापारस्तादृशः कर्तुं शक्यते, भगवदीयपरिकरस्य परमालौकिकत्वात्. तथा **चैकेन** नृत्यव्यापारितहस्ताद्य**वयवेन सह शिष्टावयवा** भ्रूचरणादिरूपा**स्तथा संविधानयुक्ता** यथोचितविधानकरणशीला इति फक्किकार्थः. ननु पादन्यास-भुजविधुत्यादि-समये यथोचिता भ्रूप्रभृतिव्यापाराः कथं जायन्त इत्याकांक्षायामाहुः **तत्तद्रसे हृदयाविष्टे** इत्यादि. अयमाशयः— नृत्ये हि संयोगशृङ्गारस्याभिनयः क्रियते, स च संयोगस्फूर्ति विना न सम्भवत्यतः स्मर्यमाणो यादृशसंयोगरसस्तस्मिन् क्षणे हृदये आविष्टो भवति तादृगेव व्यापारो भवतीत्येतासां हृदये भगवत्संयोग आविष्टोऽस्ति, स च

भवन्तीति. **भज्यद्** भङ्ग्युक्तानि **मध्यानि** उपरिभागपरिवर्तनात्मकानि, रसाभिनिविष्टानां तासां सर्वावयवातिभ्रमणेन रस एकीभवतीति. परिवर्तनादिभिरेव वा **चलेषु कुचेषु पटा** इति सर्वाण्येव कम्पनान्युक्तानि. **कुण्डलैर्गण्डलोलैरिति** सर्वएव शिरोभेदा उक्ताः. शिरोभेदेष्वेव वक्तव्येषु कुण्डलानां यच्चलननिरूपणं तद्विद्युतामिव शोभार्थम्. **गण्डलोलैरिति** सर्वा कान्तिस्तत्रोपक्षीणेति ज्ञापनार्थम्. [1]गण्डे हि केवलो रसः, पेयो रसस्ततएव पीयत इति. विद्योतनं तस्यैवाभिव्यक्त्यर्थम्. ततोऽन्तःस्थितो रसः पुष्टोऽभिव्यक्त इति ख्यापनार्थमाह **स्विद्यन्मुख्य** इति, **स्विद्यत्** स्वेदयुक्तानि **मुखानि** यासामिति. **कबररशनासु**

लेखः

रसार्थं मण्डले अभिनिविष्टानां अवयवेषु स्थितो रसो भ्रमणेनैकीभवतीत्यर्थः. प्रसिद्धमर्थमाहुः **परिवर्तनादिभिरिरि**ति. एतैः कृत्वान्तःस्थितो रसोऽनुभूयते, न त्ववयवेषु स्थितस्यैकीभवनमिति पक्ष **इत्येवकारः**. **केवलो रस** इति, नत्वधरादिवत् कामादिधर्मसहितः. अतएव मात्रादिभिरपि तत्र चुम्बनं क्रियत इति भावः. धर्मसहितापाने हेतुमाहुः **रस** इति, नृत्ये इति शेषः. तथा च "केवलो नाट्ये प्रसिद्ध" इत्युक्तत्वान्नृत्ये लोभादिग्रहणासम्भवाच्च केवलस्यैवाभिव्यक्त्यर्थं गण्डविद्योतनमुक्तमित्यर्थः. गण्डशोभां पश्यन्नृत्यतीत्यर्थः.

योजना

सर्वगुणयुक्त इति तस्मिन् आविष्टे सर्वएवावयवा यथोचितविधानयुक्ता भवन्तीति भावः. **रस एकीभवतीति**, नृत्ये सर्वेषामवयवानां भ्रमाधिक्यात्सर्वत्रावयवेषु सच्चिदानन्दरूपेषु स्थितः आनन्द एकीभवतीत्यर्थः. **विद्युतामिवेति**, भगवद्गण्डेषु व्रजसुन्दरीकुण्डलसम्बन्धे श्यामगौरप्रभामेलनाद् घनेषु विद्युच्छविरिव शोभा भवतीति भावः. **गण्डलौलैरि**त्यस्य विवरणे **सर्वा कान्तिस्तत्रैवेति**. गण्डेषु सम्बन्धं प्राप्य कुण्डलानां सौन्दर्यगर्वो गच्छति. अतएव गण्डं प्राप्य कुण्डलानां लोलत्वं भवति. युक्तं चैतद्, यो यस्माद्गुणन्यूनः स तस्याग्रे लोलतामापद्यत इति. **गण्डे हि केवलो रस** इति, सर्वस्नेहवद्भोग्यत्वात्सर्वसाधारण इत्यर्थः. न तत्र शृङ्गाररसवत्येकभोग्यताऽधरवत्. अतएव बाल्यभाववतीभिरपि गण्डचुम्बनं क्रियते, अतः साधारणत्वम्. तत्र गण्डे स्थित्वा कुण्डलैरधरे पेयो रसः प्रकाश्यत इत्याहुः **पेयो रस** इत्यारभ्य **अभिव्यक्त्यर्थमित्यन्तेन**. **रसेन सर्वावयवस्थेनेत्यादि, रसेन**

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्.

च **अग्रन्थयो** जाताः. रसेन सर्वावयवस्थेन एकीभूतेन देहः सूक्ष्मतामापन्नो, अतः केशपाशे रशनायां च ग्रन्थिः शिथिलः. नन्वेवं कथं श्रमः? तत्राह **कृष्णवध्व** इति, सदानन्दस्य हि फलस्य ता उपभोक्त्र्यः अतः क्रियायां श्रमो भवत्येव. एतादृश्योऽप्यन्तःसन्तोषेण **गायन्त्यो** जाताः. एवं कायादिश्रमैरपि **ता विरेजुः** अतिशोभायुक्ता जाताः. ननु लोकानां दर्शनसापेक्षा शोभा, तास्तदा कथं सर्वैर्दृष्टा इति? तत्राह **तडित इव ता** इति. नहि **तडिद्** बहुकालं दर्शनयोग्या भवति, **मेघचक्रे** शोभामेव परं सम्पादयति. तथा कृष्णसमूहे भगवता आच्छादिताः परितः कदाचिदेवोद्गताः केनचिदंशेन दृष्टा भवन्ति. अतस्तासां शोभा न दोषावहा जाताः किन्तु विशिष्टैव जाता ॥८॥

गाढनृत्यमुक्त्वा मध्यनृत्यमाह **उच्चैर्जगुरिति.**

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥९॥

नृत्यमाना नृत्यं कुर्वन्त्यएव **उच्चैर्गा**नयुक्ता जाताः. अथवा आदावुच्चैर्जगुः ततो **नृत्यमाना** नृत्यन्त्यो जाताः. उभयत्र हेतुमाह **रक्तकण्ठ्यो**

लेखः

कामलीलायां तु सर्वं वक्ष्यते एवेति भावः. **उपभोक्त्र्य** इति, न लौकिकवद्रसानुभवमात्रं किन्तु मूर्तिमत आनन्दस्य क्रियारूपम् उपभोगं कुर्वन्त्य इत्यर्थः. **कायादिश्रमैरपीति**, **देवकीसुत**पदेन तासु स्वसामर्थ्यस्थापनमुक्तं तेन **ता विरेजुः**, पादन्यासादिभिरपि विरेजुरि**त्यपि**शब्दः. **सर्वैर्दृष्टा** इति अन्योन्यं ताभिः भावुकैश्चेत्यर्थः ॥८॥

उच्चैरित्यस्याभासे. प्रथमव्याख्याने नृत्यस्य गौणत्वेऽपि द्वितीयव्याख्यानानुसारेणाभासमाहुः **गाढेति**. पूर्वश्लोके 'गायन्त्य' इत्यनेन गानस्य गौणत्वमुक्तम्, अत्रोभयोः समत्वमुच्यते इत्यर्थः. व्याख्याने, **रक्त** इति, रञ्जकस्वरस्यैव राग-

योजना

आनन्देनेत्यर्थः. एतासां देहस्य सच्चिदानन्दात्मकत्वात् सर्वदेहे आनन्दोऽस्ति. स स आनन्दः एकत्रागतस्तदा तदितरत्र कार्श्यं भवति. तदा पूर्वं स्थौल्यानुसारेण कृता ग्रन्थिः पश्चात् शिथिला भवतीति भावः. **उपभोक्त्र्य** इति. उपभोक्तृत्वं पुंधर्मः, स च रसाधिक्यादेतास्वागतः, अत उपभोगे श्रमो भवतीति युक्तम्. एतच्च **कृष्णवध्व** इति मूलस्थस्य पदस्यार्थः उक्तः ॥८॥

रतिप्रिया इति– **रक्तः** रञ्जकस्वरेण युक्तः **कण्ठो** यासामस्तीति **रतिरेव प्रिया** यासामिति. गानेन व्यामोहनं नृत्येन च तासां प्रसिद्धम्. ननु पूर्वनृत्येन जातश्रमाः कथमेवं कृतवत्य इत्यत आह **कृष्णाभिमर्शमुदिता** इति. भगवतः **अभितो मर्शः** प्रोञ्छनादिविशेषरूपः, तेन **मुदिताः** अन्तःपूर्णानन्दाः. इतरविस्मारणार्थं नादाधिक्यमाह **यद्गीतेनेदमावृतमिति**, **यासां गीतेनेदं** जगद् व्याप्तम्. अथवा. यदर्थमेतन्नृत्यादिकं तत् सफलं जातमित्याह **यद्गीतेने**ति, लोकैः क्रियमाणेन **गीतेन** एतत्प्रकाशकेन एतज्जगद् रसेन व्याप्तमित्यर्थः. लोके रसप्राकट्यार्थमेवैतत् कृतमिति ॥९॥

उत्पन्नस्य नादस्यामृतमयत्वाय भगवतापि नादः कृतः. स च मधुर एव कर्तव्यः. तेन च जगत् पूरणीयम्. ततोऽघटमानमेतदिति तदर्थमाह **काचिदिति**.

लेखः

पदार्थत्वादेवमुक्तं, "योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः रञ्जको जन-चित्तानां स रागः कथ्यते बुधैरि"तिवाक्यात्. तथाच रञ्जनयुक्त इत्यर्थः; कर्तरि क्तः. **रतिरेवेति**, रतिप्रियत्वात् तत्कर्तुर्भगवतो व्यामोहनार्थं नृत्यमित्यर्थः. **तासामिति** स्त्रीणामित्यर्थः, कर्तरि षष्ठी. **इतरविस्मारणार्थमिति** नायिकान्त-रकृतनादविस्मारणार्थं भगवत इति शेषः. स्वयुगलस्थो भगवान् युगलान्तरकृतं नादं विस्मरत्विति भावेनेत्यर्थः. अस्मिन् पक्षे नादाधिक्यं वाच्योऽर्थः, अग्रिम-पक्षे उपनिबद्धश्रवणानुपपत्तिलभ्यमिति भेदः. **लोकैरिति**, अत्यनुगृहीतैरे-तल्लीलान्तःपातिभिर्गोविन्ददासप्रभृतिभिरित्यर्थः. **रसप्राकट्यार्थमिति**, अत्रैव लोके जीवानामाधिदैविकरूपप्रकटनेन रसानुभवार्थमित्यर्थः. एतस्य भगव-च्चरित्रफलत्वादनुवदिष्यमाण-भगवद्गीतसहितं गीत**मेतत्**पदेनोच्यते. एवं च प्रथमपक्षेऽपि **यासां गीतेनेत्**यत्र भगवद्गीतसहितेनेति शेषो ज्ञेयः ॥९॥

अमृतमयत्वायेति, स्वामिनीनां भगवद्विषयकभावोत्पादनेन रसानुभावक-त्वायेत्यर्थः. तथा च स्वामिनीनामेव रसानुभावनार्थं कृतत्वात् तेन जगतः पूरणं न घटेतेत्यर्थः. अन्यदप्याहुः **स चेति**, भगवता कर्तव्यो नादो मूले सहभावोक्त्या मधुरएव. तथा सति गीतकर्तृणामश्रवणे तदुपनिबन्धाभावादपि तेन जगत्पूरणं न घटेत. तथा चैतदर्थं "कृष्णो भुङ्क्ते" इति विरुध्येतेति भावः. **तदर्थमाहेति**. भगवन्नादेन जगत्पूरणार्थं मुकुन्दसाहित्यकथनेन मोक्षो-

टिप्पणी

काचित्समं मुकुन्देनेत्यस्याभासः, उत्पन्नस्य नादस्येत्यादि, अत्रायं भावः— अयं नादो न लौकिकः पूर्वसिद्धो वा किन्त्वलौकिकोऽपूर्वः. स **च** भगवतोऽन्यभावनिवृत्तिपूर्वकं स्वमात्रविषयकभावोत्पत्त्यर्थं प्रत्येकं कृतः. अयं च स्वामिनीनामप्युक्तभावानुरूप-भगवद्विषयकभावविशेषोत्पत्तौ रसानुभावको भवति. मूलकारणत्वात्स्वामिनीगानस्य तथात्वम्. **इदमेवामृतमयत्वम्**. सा च भगवन्नादेनेति तथा कृतः. अपरश्च. स्वामिन्याः स्वरजात्युन्नयने

प्रकाशः

काचित्सममित्यस्याभासे उत्पन्नस्य नादस्य अमृतत्वायेति. अत्रेदं प्रतिभाति. आहतानाहतभेदेन नादो द्विविधः. तत्रानाहतः प्राणघोषात्मा, स न रञ्जकः. आहतस्तु "आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः, देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्, ब्रह्मग्रन्थि स्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्, नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम्, नादोऽतिसूक्ष्मः सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः, इति पञ्चाभिधा धत्ते पञ्चस्थानस्थितः क्रमात्, व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते, कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः, तस्य द्वाविंशतिर्भेदाः श्रवणाच्छ्रुतयो मताः" इत्यादिरूपेणोत्पन्नो रञ्जकः. स आसन्यांशो लोकेऽपि तुल्य इति तस्य नामृतप्राचुर्यम्. स यदा आसन्यात्मा मूलरूपोऽपहतपाप्मा पूर्णो भवति तदा तथेति तत्प्रचुरत्वायेत्यर्थः. ननु स्वामिनीगानस्य भगवन्नादेनामृतमयत्वं किमित्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यां प्रभवस्तदाशयं स्फुटीकुर्वन्ति **अत्रायं भाव** इत्यादि. 'कथमेतदवगम्यत?' इत्याकांक्षायामलौकिकत्वमपूर्वत्वं च कार्यद्वारा परिचाययन्ति **स चेत्यादि तथात्वमित्यन्तम्. मूलकारणत्वादिति**, मूले भगवद्गाने प्रयोजकत्वादित्यर्थः. **इदमिति** कार्यद्वयजनकत्वम्. **सा चेति** भगवद्विषयकभावविशेषोत्पत्तिश्चेत्यर्थः. **तथा कृत** इति मूलासन्यरूपः प्रकटीकृत इत्यर्थः. तथा च कार्यात्तस्य तथात्वमवगन्तव्यम्. यदि सामान्यः स्याद् भगवता न पोष्येतेति तर्काच्च. नन्वेवं भगवन्नादस्यैवैतत्कार्ये प्राधान्यमायातीति नैवं स्वामिनीगानस्य तथात्वसिद्धिरित्याकांक्षायां तस्य तथात्वं विशदीकर्तुमाहुः **अपरश्चेत्यादि रूपत्वादित्यन्तम्**. तथा चैवं स्वामिनीनादप्राधान्यात्तस्यैव तत्कार्यमित्यर्थः. तर्हि प्रभुगानस्य किं मुख्यं कार्यमित्याकांक्षायां तदाहुः **एवं सतीत्यादि**.

टिप्पणी

प्राधान्योक्त्या प्रभोस्तत्सहभावोक्त्या ततः सकाशादस्य माधुर्यं लक्ष्यते. अन्यथा प्रभोस्तारनादेनास्याभिभवे रसाभास एतद्वैयर्थ्यं च स्यात्. साम्ये तूभयोः स्वातन्त्र्येण करणात्परस्परानानुगुणत्वेन च मिथो रसानुपयोगित्वप्रसंगः. स्वयं नादस्वरूपमज्ञात्वा भगवन्नादं श्रुत्वा [१]तत्स्वरूपनादकरणेऽपि तथा. अतो भगवद्विचारितानुपूर्वी स्वयं ज्ञात्वा तथैवोन्नीतवतीति ज्ञेयम्. पूर्णरसोदयो भगवति जात इत्यपि ज्ञापनाय तदधीनत्वमपि ज्ञापयितुमेवं कथनम्, नायिकाप्राधान्यस्य एतद्रसस्वभावरूपत्वात्. एवं सति तारनादसाध्यजगत्पूरणं मधुरेण न भवति, अन्यधर्मनिवृत्तौ ह्येतेन पूरणं भवति. तदर्थमेतत्स्वरूपे रसाभिज्ञा निरूपिकाश्चैताएवेति यथा "तं त्वौपनिषदं पुरुषमि"ति श्रुतेस्तदुक्तमेव ब्रह्मस्वरूपं तथैतन्निरूपितधर्मवदेव पुरुषोत्तमस्वरूपं नान्यधर्मविशिष्टमित्येतद्गानस्योपनिषद्वाक्यरूपत्वाद् एतच्छ्रवणेन भगवति प्राकृतधर्मराहित्यज्ञानं स्वस्मिंश्च तत्सम्बन्धित्वेनान्यधर्मराहित्यं तज्ज्ञानं च भवति. तदनन्तरं भगवदानन्दानुभवो भवति. एतत्प्रभुगानकार्यम्. एवं सत्येतेन जगत्पूरणं भवत्येवेति सर्वमवदातम्.

प्रकाशः

तदर्थमिति सुबोधिनीप्रतीकं, जगत्पूरणार्थमित्यर्थः. **षड्जादय** इत्यादि,

लेखः

पयोग्युपनिषद्रूपत्वं स्वामिनीनां निरूपयन् स्वरजात्युन्नयनमाहेति टिप्पण्यनुसारेणार्थः. टिप्पण्यां **स्वस्मिंश्चे**ति, श्रोतृषु विषयान्तरसश्चाराभावो भवति तत-स्तज्ज्ञानं भगवन्नादश्रवणं भवतीत्यर्थः. **एतदि**ति भगवदानन्दानुभव इत्यर्थः.

व्याख्याने एतत्समाधानम्– गीतकर्तॄणामुपनिषच्छ्रवणवदेतन्नादश्रवणेन विषयान्तरसश्चाराभावो भवति, ततो भगवन्नादस्य मधुरस्यापि श्रवणं भवति, ततो भगवदानन्दानुभवो भवति, तेन तत्तदुपबन्धने तत्तच्छ्रवणेनास्मदादीनामपि तत्तत्फलं भवति, एवं जगत्पूरणमिति. तथा चैतत्कृपया

योजना

उत्पन्नस्य नादस्यामृतमयत्वायेति, एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः.

१. तत्सरूप. मू. पा.

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधुसाध्विति ॥
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात् ॥१०॥

मुकुन्देन समम् अमिश्रिताः स्वरजातीः काचिदुन्निन्ये. काचित् सम्यग् भगवद्भावं प्राप्ता. भगवतो नादकरणे हेतुः **मुकुन्देनेति**, मोक्षदानार्थमेव उपनिषदि स्वनादं पूरितवान्. उभयोरेकता नादे तुल्यता. मोक्षे कार्यद्वयं— पूर्वसङ्घातान्निवर्तनं ब्रह्मप्रापणं च. तदर्थमितरनिवारणार्थमुपनिषदामुपयोगः.

लेखः

भविष्यतीति प्रथमस्यापि समाधानं सम्पन्नमिति ज्ञेयम्. **भगवद्भावं प्राप्तेति**, इमां स्वरजातिमुन्नेष्ये इति भगवदाशयं ज्ञातवतीत्यर्थः. नादः सर्वसाधारणः, भगवद्विचारितानुपूर्विकोन्नयनमेतस्या एवेति भावः. **मोक्षेति**, आधिदैविकरूप-प्रकटनेनान्येषां भगवद्भजनार्थं स्वामिनीनां च भगवद्विषयकभावोत्पादनेन रसानुभावनार्थमित्यर्थः. **उपनिषदीति** स्वामिनीनादे इत्यर्थः. **सममित्यस्य** तुल्यार्थकत्वमपीत्याशयेनाहुः **एकतेति**, मोक्षरूपैककार्यकर्तृत्वमित्यर्थः. इयमेव **तुल्यता.** तत्रांशद्वयमाहुः **मोक्षे** इति. प्रथमांशः स्वामिनीनादेन द्वितीयांशश्च

योजना

काचित्सममित्यत्र मोक्षदानार्थमिति, अयमर्थः— "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयादि"तिश्रुतेर्मोक्षे ब्रह्ममात्रैकस्फूर्तिस्तथा स्वमात्रविषयकासक्ति-सम्पादनेन केवलं शृङ्गाररसात्मक-कृष्णाद्वैत-स्फूर्तिर्व्रजसुन्दरीणां यथा भवेत्तथोपायो भगवतश्चिकीर्षितः. स च तादृशनादो भवति. नादेन हि परमाह्लादोत्पत्त्या तदितरविस्मृतिर्लोके प्रसिद्धा. एवं सति शृङ्गाररसात्मक-कृष्णाद्वैत-स्फूर्तिर्मोक्षपदवाच्या. ततश्च **मोक्षदानार्थमित्यस्य** शृङ्गाररसात्मक-कृष्णाद्वैत-स्फूर्त्यर्थमित्यर्थो भवति. **उपनिषदि स्वनादं पूरितवानिति**, व्रजसीमन्तिनी-कृतनादोऽत्रो**पनिषत्**पदवाच्यः, स्वामिनीनादस्य भगवत्स्वरूपप्रकाशकत्वात्. स्वामिनीनादेन रसात्मकप्रभुस्वरूपमेव गीयते. यादृशं प्रभुस्वरूपमेताभिर्गीयते तादृगेव स्वरूपमस्ति, तत्स्वरूपस्य तदेकमात्रज्ञेयत्वात्. अत उपनिषद्रूपे स्वामिनीनादे स्वनादं पूरितवानित्यर्थः सिद्धः. **मोक्षे कार्यद्वयमित्यारभ्य उपयोग** इत्यन्तं, व्रजसुन्दरीकृत-भगवद्गुण-गानेन हि तद्गानश्रोतृणां पूर्वसंघाता-

स्वरा षड्जादयः. तेषां **जातिभेदाः**— यथा मयूरः षड्जं वदति तथा अन्येऽपि पक्षिणः मनुष्या अन्येऽपि जीवाः षड्जं वदन्ति, तथापि तेषामवान्तरजातिरस्ति. ते चेद्यथाक्रमेण यथारसाभिव्यक्तिः यदभिप्रायेण सृष्टावुत्पादिताः तथैव[१] योजिताश्चेत्, तदा स्वरजातयः **अमिश्रिताः** भवन्ति. तद्भगवता कर्तुं शक्यं नान्येन. तासां चेदुन्नयनं तदा युक्तएव सन्तोषः. तदाह **पूजिता तेन** भगवतेति. स्वस्य ब्रह्मत्वात् स्वविचारितानुपूर्वीति स्वस्य तथा गानं नाश्चर्यहेतुः. अन्ये तु तत्स्वरूपमेव न जानन्ति कुतः पुनः करिष्यन्तीति **तेनैव पूजिता.** किञ्च कार्यमपि उन्नयनेन जातमिति **साधुसाध्विति. प्रीयता** प्रीतिं कुर्वता भगवता. स्वरूपतः फलतश्च साधुत्वाय द्विरुक्तिः. प्रीतिश्च तुल्यत्वात् सर्वथा कार्यानुगुणत्वात्. अन्या पुनः उन्नीतमेव यावद् भगवता पुनर्गृह्यते तावत्तथैवोन्नयनं कृतवतीत्याह **तदेवेति, तदेवो**न्नीतं **ध्रुवं** निश्चलं यथा भवति तथा **उन्निन्ये** तं नादं **ध्रुव**नादे योजितवती. ध्रुवनादः कारणनादः स्थायी स्वरः— "यत्रोपविशते रागः स्वरः स्थायी स कथ्यते". भगवन्नादएव वा,

प्रकाशः

"स्यातां निषादगान्धारौ द्विश्रुती, धैवतर्षभौ त्रिश्रुती वेदश्रुतयः षड्जमध्यमपञ्चमाः, मयूरचातकच्छागक्रौञ्चकोकिलदर्दुराः; गजश्च सप्त षड्जादीन् क्रमादुच्चारयन्त्यमी"त्यादिषु बोधिता इत्यर्थः. **तदेवे**त्यत्र. "गानक्रिया वर्णसंज्ञया सङ्गीते व्यवह्रियते, गानक्रियोच्यते 'वर्णः' स चतुर्धा निरूपितः, स्थाय्यारोह्यवरोही च संचारीत्यथ लक्षणम्, स्थित्वा स्थित्वा प्रयोगः स्यादेकैकस्य स्वरस्य यः, स्थायी वर्णः स विज्ञेय" इति तस्य लक्षणान्तरात्प्रकृते को वा स्थायी विवक्षित इति सन्देहानपायात्पक्षान्तरमाहुः **भगवन्नादएव वे**त्यादि. "चतुर्विधाः स्वरा वादी संवाद्यथ विवाद्यपि, अनुवादीति वादी

लेखः

भगवन्नादेन सम्पाद्यत इत्यर्थः. **पुनः करिष्यन्ती**ति पूजामिति शेषः. **कार्यमपी**ति, भगवतः स्वामिनीविषयक-भावोत्पादनमित्यर्थः. **अन्या पुनरि**ति

योजना

न्निवर्तनं ब्रह्मप्राप्तिश्च भवति. तदाहुः **तदर्थमितरनिवारणार्थमुपनिषदामुपयोग** इति, **उपनिषदां** रसात्मकश्रीकृष्णस्वरूप-प्रतिपादकानां व्रजसुन्दरीकृतनादाना-

१. तात्तथेति पाठः.

भगवता तथैव गीतमिति. ध्रुवतालादिषु योजितवतीति केचित्, तन्न विचारक्षमम्. एवं ध्रुवयोजनायां भगवाँस्तस्यै बह्वेव सन्मानमदात्, चकारादभीष्टमपि. एवं तासामन्तःसामर्थ्यं जातमिति बहिःसामर्थ्यं किं वक्तव्यमिति भावः. बह्विति सर्वगोप्यधिकम्. ऐश्वर्यवीर्यरूपे चैते निरूपिते.

प्रकाशः

तु प्रयोगे बहुलः स्वरः, श्रुतयो द्वादशाष्टौ[१] च ययोरन्तरगोचराः, मिथः संवादिनौ तौ स्तो निगावन्यविवादिनौ, रिधयोरेव वा स्यातां तौ तयोर्वा रिधावपि, शेषाणामनुवादित्वं वादी राजात्र गीयते, संवादी त्वनुसारित्वादस्यामात्योऽभिधीयत" इति सङ्गीते निरूपणाद्भगवन्नादो वादी. सएव राजत्वाद् ध्रुव इति तस्मिन्नेव संवादिनादं स्वामिनी योजितवतीत्यर्थः. तत्र हेतुमाहुः **भगवता तथैव गीतमिति**, यादृशे नादे स्वामिनीनादयोजनं भवति तथा गीतमित्यर्थः. **न विचारक्षममिति**, तावतः कार्यस्य सुकरतया तादृक्संमाननप्रयोजकत्वासंभवेन **तस्यै मानं च बह्वदादिति** ग्रन्थासङ्गतेस्तथेत्यर्थः ॥१०॥

लेखः

द्वितीयपार्श्वस्थितेत्यर्थः. **तन्न विचारक्षममिति**, तथा सति 'ध्रुवे उन्निन्ये' इति सप्तम्युक्ता स्यादिति भावः. **ऐश्वर्यवीर्यरूपे चैते** इति, तत्तद्धर्मस्थापनेऽयोगोलकन्यायेन तत्तद्रूपत्वमेव सम्पन्नमिति भावः. **चकारा**दुपनिषद्रूपत्वम् ॥१०॥

योजना

मुपयोग इत्यर्थः. **ऐश्वर्यवीर्यरूपे** इति, **काचित्समं मुकुन्देने**त्यत्रोक्ताया गोपिकाया भगवदेकोन्नेयस्वरजात्युन्नयन-सामर्थ्यवत्त्वादैश्वर्यमेतस्या ज्ञेयम्, ईश्वरतुल्यकार्यकरणात्. **तदेव ध्रुवमुन्निन्ये** इत्यत्रोक्तायां वीर्यवत्त्वम्, उन्नीतमेव यावद्भगवता पुनर्गृह्यते तावत्तयोन्नीयमानत्वात्. न हि तादृशवीर्यं विना भगवदुन्नयनात्पूर्वं केनाप्युन्नयः कर्तुं शक्यतेऽतो वीर्यवत्त्वमङ्गीकार्यम्. **ऐश्वर्यवीर्यरूपे** इत्यत्र ऐश्वर्यवीर्ये रूपयत इति ऐश्वर्यवीर्यरूपे, **एते** गोपिके हि स्वनिष्ठसामर्थ्यप्रकटीकरणेन स्वसामर्थ्यकारणीभूतं भगवदैश्वर्यं वीर्यं च यथाक्रमं सूचयतः अत ऐश्वर्यवीर्यरूपता एतयोर्ज्ञेया ॥१०॥

१. वादिषु द्वादश संवादिषु अष्ट इति मुं. बि. पाठे टिप्पणी.

अन्याश्रतम्रः क्रमेण बोद्धव्याः ॥१०॥

कीर्तिर्हि भगवन्तमेवावलम्बते. अतः कायिकं व्यापारं द्वयोराह **काचिदिति.**

काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥११॥

रासेन परितः श्रान्ता स्वस्यैकस्मिन् **पार्श्वे** विद्यमानस्य **स्कन्धं स्वबाहुना जग्राह. गदाभृत** इति भगवतः स्थिरत्वाय. अधिकप्रयत्ने अन्यथा क्रियमाणे रासो भज्येत. परिश्रमो रसाधिक्याद्, अन्यथा रसार्थं प्रवृत्तिर्न स्यात्. मण्डलपरित्यागे मण्डलसिद्ध्यर्थं भगवतापि हस्तग्रहणं सम्भवति. अत

टिप्पणी

काचिद्रासपरिश्रान्तेत्यत्र भगवतः स्थिरत्वायेति, कदाचित्प्रभुर्गदामवष्टभ्य तिष्ठति चलति वा. यथेतस्ततश्चरणस्खलनं न भवति तथा

प्रकाशः

काचिद्रासपरिश्रान्तेत्यत्र, ननु श्रान्तत्वे स्थिरे भगवति स्वभारनिक्षेपादिकमेव श्रमाभावाय वक्तव्यं, न तु स्कन्धग्रहणमात्रमित्यत आहुः **अधिकेत्यादि.** नन्वयं रसाधिक्यजन्यएव श्रम इत्यत्र किं गमकमत आहुः **अन्यथा रसार्थमित्यादि**, परिश्रमस्य देहक्लेशजनितत्वे उपवेशनादिरेव स्यात् न तु स्कन्धग्रहणमित्यर्थः. ननु स्कन्धग्रहणे हस्तपरित्यागेन मण्डलभङ्गे रासभङ्ग इत्यत आहुः **मण्डलेत्यादि. हस्तग्रहणमिति** स्वामिन्यन्तरस्येत्यर्थः. रसार्थप्रवृत्तौ

लेखः

कीर्तिर्हीति, पूर्वद्विकस्य वाचिकव्यापार उक्तः, अस्य द्विकस्य कायिकव्यापार उच्यते. तत्र श्रिया भगवति कायिको व्यापारः प्रसिद्ध इति तद्रूपायाएव स्वामिन्यास्तादृशव्यापारस्य वक्तव्यत्वेऽपि **हि** यतः **कीर्तिरपि भगवन्तमेवावलम्बतेऽतः कायिकं व्यापारं** कीर्तिश्रीरूपयोर्द्वयोरपि स्वामिन्यो**राहे**ति श्लोकद्वयाभासकथनम्. **स्थिरत्वायेति, स्कन्धं स्वबाहुना जग्राहे**ति पूर्वेणान्वयः. गदाभृत्त्वात् स्थित्यर्थमवष्टम्भाय गदां स्मरेदिति शङ्कया स्वयमेवावष्टम्भं सम्पादयतीत्यर्थष्टिप्पण्युक्तः. गदाग्रहणे बाधकमाहुः **अधिकेऽति**, स्थित्यर्थम**धिकप्रयत्ने** गदया क्रियमाणे इत्यर्थः. **अन्यथेति**, परिश्रमस्थितावित्यर्थः. **मण्डलेति**, नृत्यावेशेन कदाचित् स्वामिनीहस्तग्रन्थिवियोजने

एकस्मिन् पार्श्वे भगवानेव. पार्श्वभागे विद्यमानस्य भगवतः कण्ठग्रहणं वृक्षाधिरूढालिङ्गनं भवति. भगवता पूर्वं कण्ठे सा गृहीता, तथापि भगवान् गृहीत इति मित्रवत् स्थितिः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमाह **श्लथद्वलयमल्लिकेति**, **श्लथन्ती वलयाकारा मल्लिका** यस्याः. कबरे वलयाकारेण मल्लिकामाला बद्धा, सा च शिथिला जातेति वैकल्यं प्रदर्शितम्. आप्तता च प्रदर्शिता ॥११॥

टिप्पणी

तद्गृहीतस्कन्धएव यथापूर्वं मण्डलं नृत्यं चानुवर्तयतीति ज्ञाप्यत इत्यर्थः. **वृक्षाधिरूढालिङ्गनमिति**, "रमणचरणमेकेनोरुणाक्रम्य खिन्नश्वसितमपरपादेनाश्रयन्ती तदूरुं निजमथ भुजमेकं पृष्ठतोऽस्यार्पयन्ती"त्यादिना रसशास्त्रे निरूपितम् ॥११॥

प्रकाशः

गमकमाहुः **पार्श्वभागेत्यादि**. एतस्यार्थस्य मूलाभिप्रेतत्वं प्रकटयितुं तुरीयपादं व्याकुर्वन्त आहुः **भगवतेत्यादि**. **आप्तता च प्रदर्शितेति**, शुकेन स्वस्य यथादृष्टार्थवादित्वं चैतेन दर्शितमित्यर्थः ॥११॥

लेखः

मण्डलसिद्ध्यर्थं स्वामिन्यन्तरहस्तस्थाने भगवतापि स्वहस्तो ध्रियते, तदा पार्श्वे भगवानेव न तु भगवद्व्यवहिता सा[१] स्वामिनीत्यर्थः. **कण्ठे सा गृहीतेति**, "द्वयोर्द्वयोः प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे" इति पूर्वमुक्तत्वादिति भावः. **तथापीति**, एकेन हस्तेन ग्रन्थिः स्थापिता द्वितीयेन बाहुना स्कन्धं गृहीतवती, तथा च सांमुख्यं जातमिति ज्ञेयम्. अयं प्रकारो द्वितीयस्वामिनीस्थितौ न भवतीति **पार्श्वे भगवानेवेत्युक्तम्**. **वलयाकारेणेति**, शिरःप्रान्ते शिखायां कङ्कणाकार-परिवर्तनेनेत्यर्थः. **सा चेति**, कबररशनाग्रन्थिशैथिल्यं चकारार्थः. **आप्तता चेति**, कबरे धृत्वा चुम्बनं रसातिमादे भवतीति तथाकरणे मल्लिकाशैथिल्यं जातमिति महारसदानेनाप्तता प्रदर्शितेत्यर्थः. अतएवाङ्गुलीभिः पुष्पाणामेव शैथिल्यं न मालाया इति भावः ॥११॥

योजना

काचिद्रासेत्यस्य विवृतौ **भगवतः स्थिरत्वायेति**, अस्यार्थष्टिप्पण्यां

१. सा इति अधिकं जो.पाठमनुसृत्य.

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥१२॥

अन्या पुनः स्वस्य **एकांसगतं बाहुम्** उत्पलापेक्षया अधिकपरिमलयुक्तं **चन्दनेनालिप्तं बाहुमाघ्राय** अन्तःप्रविष्टामोदा पूर्णानन्दा सती **हृष्टरोमा बाहुमेव चुचुम्ब.** रूपस्पर्शौ पूर्वमेव स्थितौ, गन्धरसयोरप्यनुभवं कृतवतीति. हेत्याश्चर्ये. **तत्रे**ति तस्मिन्नेव समये, तत्रैव भगवति वा. उभयपार्श्व-स्थयोर्गोपिकयोस्तथा सति विनियोग उक्तो भवति. **एकांसगत**मिति वा. सैव तथा कृतवतीति केचित्. सदानन्दत्वात् सर्वत्रैव समरसता. उत्पलं हि रात्रिविकासि, तत् स्त्रीणां मनोज्ञम्. आघ्राणे चन्दनजसौरभमेव न हेतुः किन्तु ततोऽपि विलक्षणं साधारणजनावेद्यं तदपेक्षयापि सौरभयुक्तत्वेनात्यलौकिक-भाववतीनामेव वेद्यम्. सहजसौरभमित्यपि ज्ञापनायेदं विशेषणम्. चन्दनालेपः

टिप्पणी

हृष्टरोमा चुचुम्ब हेत्यत्र **सदानन्दत्वादि**ति, चुम्बनेन हि रस आस्वाद्यते, अधरादिवद् बाहौ न रसोऽतः कथं तथेत्याशङ्कानिरासायेदमुक्तम्.

लेखः

अन्या पुनरिति द्वितीयपार्श्वस्थितेत्यर्थः. अनयोर्विनियोगः कालभेदेन. अतः "पार्श्वे भगवानेवे"त्युक्तेन न विरोधः. **तस्मिन्नेव समये** इति पक्षे तु भगवदनुभावेनैव द्विकान्तरस्थभगवत इवान्योन्यमप्यदर्शनम्. **तथा सती**ति, अन्या एवं कृतवतीति पक्षे सतीत्यर्थः. **सैवे**ति वक्ष्यमाणपक्षे तूभयोर्विनियोगो नोक्तो भवेदिति भावः. **तत्रैका** इति प्रथमान्तं विकल्पेनोक्तम्. **सैवे**ति, पूर्वश्लोकोक्तैवेत्यर्थः. तथा सति कीर्तिश्रीरूपत्वेन तयोर्भेदः पूर्वोक्तो बाधितो भवेद्, अतः **केचिदि**त्यस्वरस उक्तः. आघ्राणस्य सर्वसमत्वेऽप्यस्यास्तत्कथने विशेषमाहुः **घ्राणेने**ति. **अस्यायं विशेष** इत्यर्थः ॥१२॥

योजना

स्फुटः. **श्लथद्वलयमल्लिके**त्यस्य विवृतौ **आप्तता च प्रदर्शिते**ति. क्रीडायां परस्परं स्वोत्कर्षएव ख्याप्यते, न तु परिश्रान्तत्वम्. इह त्वनया भगवत्स्कन्धो गृहीतस्तेन च श्रमज्ञापनात्क्रीडायां नोत्कर्षो ज्ञापितः किन्तु यः स्वकीय इष्टो भवति तदवलम्बनं क्रियत एवेति भगवति **आप्तता** स्वेष्टता **प्रदर्शिते**ति भावः ॥११॥

विवेकधैर्यनाशनार्थः. घ्राणेनान्तःप्रवेशनमस्या विशेषः. एषा श्रीरूपा ॥१२॥

कयाचिद्भगवद्गृहीतताम्बूलं ज्ञानवद्गृहीतमित्याह **कस्याश्चिदिति.**

टिप्पणी

चन्दनालेपतात्पर्यमाहुः **विवेकधैर्येति**, अङ्गरागस्यानुभावात्मकत्वेन प्रचुरभावविशेषजननात्तेन तयोर्नाश इत्यर्थः. बाहौ तथा कृतिर्न लोकसिद्धाऽतः "सखीनां समक्षं कथमेवं करोमी"ति विवेकः, एकान्तसमयप्रतीक्षया स्थितिर्धैर्यकार्यम् ॥१२॥

प्रकाशः

कस्याश्चिदित्यत्र आभासे इयं स्वामिनी पूर्वाध्याये "काचिदञ्जलिने"ति श्लोकोक्तेति ज्ञापयितुमाहुः **गृहीतमिति**, अन्यथा मूले **प्रादादिति** पदेन विरोधापत्तेः. **इत्याहेति**, **इतीदं** दानकथनमुखे**नाहे**त्यर्थः. अत्रैतद् बोध्यं— द्वितीयस्कन्धे निरोध[१]लक्षणे द्वासप्ततिर्नाडीरूपा देहशक्तयः स्वस्य द्वादशश्रियादयः शयनं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदेन त्रिविधमिति [२]स्कन्धस्याध्यायसंख्याबीजमुक्तम्. तच्च स्थूलतया, "अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां [३]शतं शतं एकैकस्यां द्वासप्तति प्रतिशाखानाडीसहस्राणी[४]"ति प्रश्नश्रुतेः, अत्रापि[५] वाक्यप्रकरणादिप्रतिपाद्यविचारेणानन्त्याद्; एवं "परास्य शक्तिर्विविधैवे"ति श्रुतौ स्वशक्तेर्विविधत्वेन श्रावणादत्रापि[६] [७]गुणधर्मादिभेदेन नानात्वात्[८].

लेखः

कस्याश्चिदित्यस्याभासे, पूर्वाध्याये "काचिदञ्जलिने"ति श्लोकोक्तताम्बूलस्य श्रीसमर्पितत्वमुक्तम्. इदं तु ताम्बूलं **कस्याश्चिदिति** षष्ठ्या सम्बन्धसूचनादेतयैव समर्पितमित्याशयेनाहुः **भगवद्गृहीतेति**, यथा ज्ञानं गुरूपसत्त्यादियत्नेन गृह्यते, तथा **भगवद्गृहीतताम्बूलमनया** गण्डसन्धानयत्नेन **गृहीतं** ग्रहणानुकूलव्यापारविषयीकृतम्, **ज्ञानवद्**ग्रहणार्थं गण्डसन्धानं कृतमिति यावद्, **इति ज्ञानवद्ग्रहणाद्धेतोः आह** भगवत्कृतं ताम्बूलदानमिति शेषः.

योजना

हृष्टरोमा चुचुम्ब हेत्यस्य विवरणे **विवेकधैर्यनाशनार्थ** इति, एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥१२॥

१. निरोधोऽस्यानुशयनमित्यादि. २. दशमस्कन्ध. ३. "शतं चैका च हृदयस्य नाड्य" इति श्रुतेः. ४. अनन्तानि. ५. निरोधस्कन्धेपि. ६. भक्तानां निरोधेपि. ७. भगवतः. ८. भक्तेषु.

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्त-कुण्डलत्विष-मण्डितम् ।
गण्डं गण्डे सन्दधत्या प्रादात्ताम्बूलचर्वितम् ॥१३॥

कस्यैचित् ताम्बूलचर्वितमदादिति. स्वगण्डं भगवद्गण्डे **सन्दधत्या** इति तस्या अपेक्षा लाघवं **च** सूचितम्. सम्मुखत्वाभावेऽपि लाघवेनैव **प्रादात्.** अनेन तस्यै स्वविद्या दत्तेति ज्ञापितम्. तेनेयमेवोपदेष्ट्री भगवदसन्निधाने सर्वासां भविष्यति. तस्याः विद्यायोग्यतां वक्तुं लौकिकक्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वमाह

टिप्पणी

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तमित्यत्र **अनेन तस्यै स्वविद्ये**ति, यथा सर्ववेदान्तवाक्यानां निष्पीडितोऽर्थो ब्रह्मविद्या तथोपनिषदादि-वागधिपतिना रसात्मकेन स्वान्तरेव भक्तविषयकस्नेह-कलाभिर्निष्पीड्य स्थापितं ताम्बूल-चर्वितमिति तथेत्यर्थः. दानप्रयोजनमाहु**स्तेनेयमेवे**ति, विप्रयोगदशायामुपस्थित-मरणनिवर्तकवाक्यकथनेन सखीनां जीवयित्री भविष्यतीत्यर्थः. ब्रह्मविद्या हि ब्रह्मप्रापिका, अत्रापीयं स्वामिनी प्रियं प्रापयिष्यतीति भावः ॥१३॥

प्रकाशः

सर्वास्वन्तरङ्गास्तु धर्मरूपा एव, [१]भगवत्त्वनिर्वाहकत्वात्. तत्र प्रकृतलीलास्थास्ता-एवेति संख्याबलान्निश्चीयते. तत्रैश्वर्यादिचतुरूपाणां[२] निगमनं [३]तत्तत्कार्यैरेव जायत इति तत्र विशेषो न स्पष्टीकृतः. प्रकृतस्वामिन्यास्तु ज्ञानरूपतागमकं[४] कार्यमत्राग्रे च न स्फुटमिति योग्यतैव च स्फुटेति योग्यताबलात्तथात्वं[५] स्फुटीकर्तव्यम्. यथा "अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहुयादि"त्यत्र सक्तुस्थिति-योग्यताबलादञ्जलेर्व्याकोशत्वम्. तत्र भगवद्धर्मा ऐश्वर्यादयो भगवति नित्याः

लेखः

व्याख्याने, **कस्यैचिदि**ति, तस्याः सम्बन्धितया समर्पितं तस्यै अदादित्यर्थः. **अनेने**ति दाने प्रकर्षकथनेनेत्यर्थः. वाक्पतिना भक्तानां जीवनसम्पत्त्या द्वितीयदलानुभवार्थं स्नेहेन भक्तविषयकेण निष्पीड्य स्थापितोऽर्थो विद्यासादृश्याद्विद्येति टिप्पण्यनुसारेणार्थः. मायानिर्मितव्युदासाय **स्व**पदम्. तथा चैतेन तादृक्सामर्थ्यं दत्तं येन द्वितीयदलानुभावनं भवतीति भावः. **लौकिके**ति लोकसिद्धा, संयोगरसानुभाविका या क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिश्च

१. भगवद्रूपत्वज्ञान. २. अत्रैव पूर्वोक्तानां. ३. "काचित्समम"ित्यादि. ४. प्रमाणकम्. ५. ज्ञानत्वम्.

नाट्यविक्षिप्त-कुण्डलत्विष-मण्डितमिति. नाट्येन विक्षिप्तस्य कुण्डलस्य त्विषा मण्डितं गण्डम्. नाट्ये क्रियाशक्तिः प्रतिष्ठिता, कुण्डले ज्ञानशक्तिः.

प्रकाशः

इतरत्रागन्तुका इति "युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैरि"त्यत्र [१]स्थितम्. अत-एव प्रकृते रसस्वरूपान्तःपातितया धर्मरूपतया चैतासां भगवदभेदेऽप्यवतारेण भेदात्तत्रागन्तुकमेव [२]तदिति कार्यद्वारापि परिचायितम्. तथा सति ज्ञानमपि [३]तथेति संप्रदानस्य[४] साधनतः स्वरूपतश्च योग्यतादानकारणीभूतः प्रसादश्च मूले सूचित इति ताभ्यां देयस्वरूपं स्फुटीकरिष्यन्तो व्याख्यानमुखेन [५]तौ प्रदर्शयन्ति **नाट्ये** इत्यादि. तत्र भगवत्कुण्डलयोः सांख्ययोगात्मकत्वादत्रापि तदभेदेनैतत्कुण्डलयोरपि तथात्वात्स्वामिन्याश्च वामदक्षिणपार्श्वस्थत्वयोरेकतर-निर्णायकस्यात्राभावात्पक्षद्वयेन वदिष्यन्तः प्रथमं सांख्यपक्षेणाहुः **कुण्डले ज्ञाने**त्यादि. अभ्यास[६] आवृत्तिरिति पूर्वोत्तरतंत्रयोः[७] स्थितम्. तथा च सांख्यपक्षे ज्ञानपूर्वकभगवद्विचारितरीतिक-कर्मात्यावृत्त्या[८] योग्यतेत्यर्थः. योगपक्षे

लेखः

तद्वत्त्वं भक्तेराहेत्यर्थः. तथा च प्रथमदलानुभवसामर्थ्यस्य सिद्धत्वाद् द्वितीयदलानुभव-सम्पादकविद्या-ग्रहणयोग्यतेति भावः. अनुकरणे तादृक्शोभां दृष्ट्वा प्रीतस्ताम्बूलं प्रादादिति. **कुण्डलपदेन** ज्ञानशक्तिः. पक्षान्तरमाहुः

योजना

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तेत्यस्य विवृतौ **नाट्ये क्रियाशक्तिः प्रतिष्ठिते**ति, इह हि आध्यात्मिकरीत्या सिद्धोऽर्थ उच्यते. तदुनसारेण यः शास्त्रार्थः सेत्स्यति स शिक्षायां साधनं कुर्वता ग्राह्यः. **नाट्य**स्य कर्मेन्द्रियजन्यत्वेन **क्रियाशक्तिः प्रतिष्ठिता** प्राधान्येन स्थितेत्यर्थः. **कुण्डले ज्ञानशक्ति**रिति. "बिभर्ति सांख्यं योगं च देवो मकरकुण्डले" इति द्वादशस्कन्धवाक्याद्भगवत्कुण्डलस्य सांख्य-रूपत्वात्सांख्यस्य च ज्ञानपर्यवसन्नत्वात्कुण्डले ज्ञानशक्तिप्रतिष्ठोक्ता. यद्यपि कुण्डलयोः सांख्यरूपत्वं योगरूपत्वं चोक्तं, तथापि **गण्डं गण्डे सन्दधत्या** इत्यत्रोक्तस्यैकगण्डस्य **कुण्डलत्विषमण्डितमि**त्यनेन विशेषितत्वादेकमेव कुण्डलं

१. विशालस्थलत्वम्. २. ऐश्वर्यादि. ३. आगन्तुकम्. ४. प्रादात्ताम्बूलेपि.
५. क्रियाज्ञानरूपौ. ६. एतस्यैव पर्यायः आवृत्तिः.
७. पूर्वमीमांसायां उत्तरमीमांसायां चेत्यर्थः. ८. कर्मावृत्त्या इति मुं. वि. पाठः.

क्रियाशक्त्या **विक्षेपो**ऽत्यभ्यासः. योगात्मकत्वात्, साधनानि वा. तस्य कान्तिरनुभवः, तेनालङ्कृता भक्तिः भगवत्प्रेम्णा सम्बद्धा. यथा सा भगवति

प्रकाशः

आहुः **योगे**त्यादि, "योगः कर्मसु कौशलमि"तिवाक्यात् कौशलेन कृतानि शमादीनि विक्षेप इत्यर्थः. तथा च योगपक्षे तादृशसाधनसमुदायेन योग्यतेत्यर्थः. तादृशं च कर्म ज्ञानपर्यवसायि ज्ञानं च प्रकाशकं तदत्राहुः **तस्ये**त्यादि. रूक्षं तु तदक्षरपर्यवसायि, प्रकृते तु भक्त्यङ्गं विवक्षितं सन्धानकथनादिति तदाहुः **तेने**त्यादि. एवमत्र योग्यतायाः काष्ठा निरूपिता. एतादृशी योग्यता प्रसादे कारणमिति तत्फलभूतप्रसादकाष्ठामाहुः **यथे**त्यादि,

लेखः

योगात्मकत्वादिति. **साधनानि कुण्डल**पदार्थ इत्यर्थः. **तस्ये**ति योगस्येत्यर्थः. तथा च क्रियाशक्त्यभ्यस्त-योगरूप-साधनानुभवसहिता भक्तिरित्यर्थः. ज्ञानस्य **कुण्डल**पदार्थत्वपक्षे तस्य कान्तिः प्रकाश इत्यर्थः. **अलङ्कृता भक्ति**रिति, स्वामिनीगण्डं, भगवद्विषयकः स्नेह इत्यर्थः. **भगवत्प्रेम्णे**ति, भगवद्गण्डेन,

योजना

गृह्यते; अतः सांख्यस्यैव ग्रहणं **न** तु योगस्य. किं च सांख्यरूपत्वं यद्यपि भगवत्कुण्डलस्योक्तं तथापि व्रजसुन्दरीणामपि भगवच्छक्तिरूपत्वेन भगवद्-भेदात्कुण्डलस्यापि सांख्यरूपता युक्तेति **ज्ञानशक्तिः प्रतिष्ठिते**त्युक्तम्. **क्रियाशक्त्या विक्षेपो अत्यभ्यास** इति, एवं सति **नाट्यविक्षिप्ते**त्युक्त्या **नाट्येन** क्रियाशक्त्या **विक्षिप्तम्** अत्यभ्यस्तं यज्ज्ञानमिति यावत्, कर्मेन्द्रिय-व्यापारेण गुरुपरिचर्यादिना साधितं यज्ज्ञानमिति फलितोऽर्थः. **योगात्मक-त्वात्साधनानि वे**ति. एकगण्डस्योक्तत्वादेकमेव कुण्डलं ग्राह्यम्. तत्र सांख्य-ग्रहणे योऽर्थः सिद्धः स उक्तः. कुण्डलस्य योगरूपत्वमप्यस्त्यतो योगग्रहणपक्षे **नाट्यविक्षिप्तकुण्डले**त्यत्र **नाट्येन** क्रियाशक्त्या **विक्षिप्तम्** अत्यभ्यस्तं यत्**कुण्डलं** योगात्मकं साधनमित्यर्थो भवति. कर्मेन्द्रियव्यापारेणासनप्राणायामादिना साधितं यत् योगात्मकं साधनं चित्तैकाग्र्यमिति फलितं, "परो हि योगो मनसः समाधिरि"ति वाक्यात्, चित्तैकाग्र्यस्य 'योग'पदार्थत्वात्. **तस्य कान्तिरनुभव** इति, मूले **कुण्डले त्विषे**त्युक्त्या क्रियाशक्त्या अभ्यस्तं यज्ज्ञानं चित्तैकाग्र्यं वा, तस्य या त्विट् कान्तिरनुभव इत्यर्थः. **तेनालंकृता भक्ति**रिति,

रता एवं तस्यामपि भगवान् रतः. तत्रापि गण्डमिदं साध्यरूपा भक्तिरुच्यते.

प्रकाशः

ईदृश्यपीयं भक्तिर्न फलरूपा किन्तु "चेतस्तत्प्रवणं सेवे"त्युक्तसाध्यरूपैवेति वदनैकदेशबोधक-**गण्डपदेनोभयनिष्ठोच्यत**[१] इत्याशयेनाहुः **तत्रापी**त्यादि, **तत्रापी**ति सम्बन्धेऽपि. तथा चेदृशत्वेऽपि ज्ञानोपक्षीणत्वात्साध्यरूपैव, न तु फलकाष्ठारूपेत्यर्थः. एवं मूलव्याख्यानेन योग्यताप्रसादौ स्फुटीकृत्य ताभ्यां देयस्वरूपनिश्चायनप्रकारमाहुः **ता**मित्यादि. भगवत्स्वरूपज्ञत्वं तदुपदेष्टृत्वं

लेखः

स्वामिनीविषयकस्नेहेनेत्यर्थः. **तस्यामपी**ति, भगवानात्मन्यपि रत **इत्यपिशब्दः**. अतएव "आत्मारामोऽपि लीलये"ति वक्ष्यते. **सा** तु **भगवत्येव रता** आत्मापि भगवदर्थमेव प्रिय इति भावः. **तत्रापी**ति, भक्ता**वपीदम**त्रोक्तं **गण्डं साध्यरूपा भक्तिः** लोभस्थरसानुभवसहितेत्यर्थः, न तु "कुण्डलैर्गण्ड-

योजना

मण्डितं गण्डमित्यनेन भक्तिरुच्यते, मुखस्य भक्तिरूपत्वात्. **तेन** ज्ञानानुभवेन चित्तैकाग्र्यानुभवे**नालंकृता** या **भक्ति**रित्यर्थः. एतावता नाट्येन विक्षिप्तं यद् व्रजवल्लवीकुण्डलं तस्य या त्विट् तया मण्डितं यद् व्रजवल्लवीगण्डं तस्य स्वरूपमाध्यात्मिकपक्षेणोक्तम्. तथा च कर्मेन्द्रियव्यापारेण नृत्येन हस्तग्रहणादिना जातं यत्पुरुषोत्तमस्य रसात्मकत्वज्ञानं चित्तैकाग्र्यं भगवदेकतानत्वं, तस्यानुभवेन सिद्धा या पुरुषोत्तमविषया व्रजसुन्दरीहृदये भक्तिः स्नेहरूपेति सिद्धम्. **भगवत्प्रेम्णा सम्बद्धे**ति, मूले **गण्डं गण्डे सन्दधत्या** इत्युक्त्या गोपिकया स्वगण्डं भगवद्गण्डे स्थापितम्. गण्डस्य भक्तिरूपत्वेन भक्तेः स्नेहरूपतया स्वस्नेहो भगवत्स्नेहे स्थापित इत्यर्थः. तदेतदुक्तं **तेनालंकृता भक्तिर्भगवत्प्रेम्णा सम्बद्धे**ति. इदं व्रजसुन्दरीणां गण्डस्य भगवद्गण्डे यद्धारणं तस्य तात्पर्यमाध्यात्मिकपक्षेणोक्तम्. तथा च गोपिकागण्डरूपाया भगवद्विषयकप्रेमभक्तेः नाट्यरूपक्रियाशक्तिहेतुक-विक्षेपात्मकाभ्याससिद्ध-कुण्डलात्मकज्ञानस्य चित्तैकाग्र्यस्य वानुभवेन या अलंकृतता तया विशेषितत्वात्कर्मेन्द्रियाणां अभ्यासस्य च ज्ञानस्य योगस्य च भक्तिशेषत्वमिति[२] सिद्धान्तनिष्कर्षः.

१. पुरुषोत्तमगोपीनिष्ठोच्यते. २. भक्तिदातृत्वम् इति मुं. वि. पाठः.

तां लक्ष्मीं प्रति **मूलपर्यटनमिति** लक्ष्मीवन्तं प्रति पुनः पुनरावर्तत इति

योजना

ताम्बूलचर्वितमित्यत्र ताम्बूलचर्वितमित्यस्य प्रकारान्तरेण **तामिति** विभज्यार्थमाहुः **तां लक्ष्मीं प्रति मूलपर्यटनमितीति**, **तां लक्ष्मीं प्रति** तां लक्ष्मीरूपगोपिकां प्रति **मूलचर्वितं मूलस्य** तादृग्ग्रमणे मूलस्य गोपिकाविषयक-भगवत्स्नेहस्य **स्नेहरूपगण्डस्य पर्यटनं** पुनः पुनः गोपिकागण्डे धारणमित्यर्थः. **गण्डं गण्डे सन्दधत्या** इति वाक्यात्तया भगवद्गण्डे स्वगण्डं स्थापितम्. गण्डस्य स्थापनं च स्नेहेन भवति. तथा च यया[१] यथा स्नेहेन भगवद्गण्डे गण्डस्थापनं कृतं तथा भगवतापि स्वगण्डस्थापनं तद्गण्डे स्नेहेन कृतमिति भावः. तथा **च प्रादात्ताम्बूलचर्वितमित्यत्र तामिति** तच्छब्देन यया गण्डे गण्डधारणं कृतं सा गृह्यते. तदेतद्विवृतं **तां लक्ष्मीं प्रतीति**, लक्ष्म्याः[२] प्रवेशाल्लक्ष्मीत्वमुक्तम्. ततश्च **तां प्रति मूलचर्वितं** मूलस्य स्नेहरूपगण्डस्य चर्वितं पुनः पुनर्धारणं **प्रादात्** यथा तया स्वगण्डं स्थापयित्वा स्नेहः प्रदर्शितः तथा भगवतापि स्वगण्डं स्थापयित्वा तद्विषयकस्वस्नेहः प्रदर्शित इति सिद्धम्. युक्तं चैतत्, चर्वितताम्बूलदानं परमप्रेम्णैव भवतीति. अनेन "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति भगवत्प्रतिज्ञापि सिद्धेति ज्ञेयम्. **ताम्बूल**शब्दे **तामि**ति द्वितीयान्तं कृत्वा **मूल**शब्दस्य व्याख्या कृता. तत्र यद्यपि **बूल** इति **ब**कारोऽस्ति न तु **म**कारः, तथाप्यार्षे एतावानाग्रहो न रक्षणीय इति **ब**कारस्थाने **म**कारकथनेऽप्यदोषः. किञ्च **ताम्बूल**पदे "वापदान्तस्ये"ति परसवर्णेन **म**कारोऽप्यस्तीति **मूल**पदोक्तिरप्यविरुद्धा(?!). वस्तुतस्तु नैरुक्तीयं व्युत्पत्तिरिति वर्णसाम्येन शब्दार्थो वक्तव्य इति नात्यन्तं साधुत्वासाधुत्वविचारो, "अप्यक्षरवर्णसाम्येन निर्ब्रूयान्न संस्कारमाद्रियेते"त्यनुशासनात्. **लक्ष्मीवन्तं प्रति पुनः पुनरावर्तत इति ज्ञानताम्बूलयोस्तुल्यतेति**, **लक्ष्मीवन्तं** भगवन्तं **प्रति** गोपिकागण्डं **पुनः पुनरावर्तते** स्नेहेन सा गोपिका पुनः पुनर्भगवद्गण्डे गण्डं धारयति. यथा ज्ञानोपदेष्टुः सकाशाज्ज्ञानं प्राप्य यादृशं बुध्यते तादृशं ज्ञानं पुनरुपदेष्टुरग्रे निवेद्यते, संशयशमनाय पुनः पुनरावृत्तिः क्रियते, एवं **पुनः** पुनर्लक्ष्मीवन्तं भगवन्तं प्रति गण्डधारणं क्रियत इति ज्ञानताम्बूलयोस्तुल्यतेत्यर्थः. यथा ज्ञानवतः सकाशादुपदेशद्वारा ज्ञानं गृह्यते तथा लक्ष्मीवतः पुरुषोत्तमाद्भगवतः

१. तया यथा इति मुद्रितः पाठः, मुं. वि. पाठः गृहीतः.

२. लक्ष्मीप्रवेशादिति मुद्रितः पाठः, मुं. वि. पाठः गृहीतः.

ज्ञानताम्बूलयोस्तुल्यता **चर्वितमिति** साधनप्रयासाभावेन सिद्धदानम् ॥१३॥

प्रकाशः

कूर्मपुराणादौ लक्ष्म्याः सिद्धम्. अत्र च साधनप्रकरणीय-ब्रह्मानन्द-मज्जनोद्धरण-कथयैतासु योग्यताबोधनेन लक्ष्मीत्वं सिद्धम्. [1]वृत्तिरूपं ज्ञानं मनोधर्म इति "ह्रीर्धीर्भीरि"त्यत्र श्रावितं; विद्यात्मकं ज्ञानं च तथेति प्रकृते तदभिप्रेतम्. 'प्रति'र्लक्षणे कर्मप्रवचनीय इति तद्योगे द्वितीया. तथा च **तां** पूर्वोक्तरीत्या **लक्ष्मीं प्रति** लक्षीकृत्य **मूलपर्यटनं** विद्यामूलस्य भगवन्मनसः परित आवृत्ति**रिति** मूले "'धाञ्'पोषणार्थ" इत्याभीक्ष्ण्यसिद्ध्या **लक्ष्मीवन्तं** धर्मिणं लक्षीकृत्य **पुनः पुनरावर्तते** सन्धानायोद्युज्यत **इति ज्ञानताम्बूलयोः** उक्तरीतिकयोग्यतायां देययो**स्तुल्यता.** तथा च यथा सादृश्येन व्रीहिस्थले नीवारग्रहणं तद्द्रव्यैक-देशभाक्तया, तथात्रापि तयोः सिद्धायां तुल्यतायां तादृशज्ञानांशभाक्तया तद्दानमिति भावः. एतदेवाभिप्रेत्य टिप्पण्यामुक्तं **तथा सर्ववेदान्ते**त्यादि. तथा सरस्वतीताम्बूलचर्वितग्रहणेन ग्रहीतुः [2]कवित्वशक्त्यादिकं लोकेऽपि प्रसिद्धमित्युपदेष्टृत्वेऽपि न संदेह इति सर्वमसन्दिग्धमिति दिक् ॥१३॥

लेखः

लोलैरि"त्यत्रेव केवलरसग्रहणसहितेतेत्यर्थः. **तां लक्ष्मीमिति**, **तां** कुण्डलशोभां प्रति **मूलस्य** स्वामिनीविषयकस्नेहरूपभगवद्गण्डस्य **पर्यटनं** जायते **इति** हेतो[3]स्तथेत्यर्थः. भगवांस्तच्छोभां लक्षीकृत्य स्वगण्डं पुनः पुनस्तत्र संयोजयतीति यावत्. ज्ञानरूपत्वकथनस्य निगूढाशयमाहुः **लक्ष्मीवन्तमिति**, तादृशशोभावन्तं गण्डं **प्रति** मुखान्तःस्थितं ताम्बूलं **पुनः पुनरावर्तते** इति चर्वणानुकरणम्. भगवज्ज्ञानमपि तादृग्गण्डं प्रत्येवावर्तते, पुनः पुनस्तद्विषयकं भवतीति यावद्, अतस्तुल्यतेत्यर्थः. ताम्बूलदानानन्तरं भगवान् कुण्डलत्विषमण्डित-ताम्बूलावृत्तिचलद्गण्ड-शोभापहृतचित्तस्तदेव पुनः पुनः पश्यति, अतो ज्ञायते

योजना

सकाशाद्गण्डस्थापनेन चर्वितताम्बूलं गृहीत्वा ज्ञानं गृह्यते, "भगवान्मय्यत्यन्त-मनुरक्त" इति 'रसिकशिरोमणिरि'ति च. एवमस्यां ज्ञानं निरूपितम् ॥१३॥

१. ह्रीर्धीरिति श्रुतिव्याख्याने वृत्तिरूपं ज्ञानं मनोधर्म इति श्रावितम्. २. श्रीमद्विठ्ठल-नाथैस्ताम्बूलचर्वितदानेन गोपालदासेषु कवित्वं प्रदर्शितम्. ३. प्रादादिति पाठः.

अपरा पुनः वैराग्यात्मकं क्रियारूपमच्छिद्रं ज्ञाने सहायार्थं भगवद्धस्तं स्वहृदये स्थापितवतीत्याह **नृत्यती**ति.

टिप्पणी

नृत्यती गायतीत्यस्याभासः, **अपरा पुनर्वैराग्यात्मकमि**त्यादि, अत्रायं भावः– स्वस्यापि स्नेहातिभरेण विप्रयोगासहिष्णुत्वेऽन्यासां समाधानं न सम्भवतीति तदापि यथान्यासां समाधाने शक्तिर्भवति तथा पूर्वदत्तज्ञान-कार्यसिद्ध्यर्थं क्रियाशक्तिरूपमच्युतीयत्वेन तदापि कार्यक्षममच्छिद्रत्वेन फलाव्यभिचार्यब्जत्वेन तदापि तापकार्यनिवर्तकं तथाऽकरोदिति तापनिवर्तकत्वं ज्ञानसहायत्वं च वैराग्ये प्रसिद्धम्. यद्यपि स भावोऽन्याप्रतिबध्यस्वभावस्तथापि प्रभुसम्बन्धित्वेन यथा स तथा तथा हस्ताब्जमपि तथेति. तदोभयोरनुवृत्त्यो-भयकार्यसम्भवेन विचित्रो महारसात्मको भाव उत्पद्यत इति भावः. ननु पूर्वोत्तरश्लोकोक्त-नायिकयोर्मिथो भेदेनेदं सर्वमनुपपन्नमिति चेत्, मैवम्, अत्र ह्यैश्वर्यादिषड्गुणरूपा एताएव. अत एतद्विशिष्टमेव स्वरूपं 'भगवच्'छब्द-वाच्यमिति निरूप्यते. धर्मयोर्भेदश्चावश्यकः, तथापि धर्म्यभेदात्सर्वोपपत्तेः. तथाच भगवतो ज्ञानवैराग्ये वियोगदशायां स्वामिनीनामेवार्थ उपयुज्यत इत्युक्तं भवति. एतेन तस्मिन्समये प्रभोरपि रसात्मकत्वेन स्वामिनीविरहज-भावकार्यशान्तिरेताभ्यां भवतीति सूच्यते.

प्रकाशः

नृत्यतीत्यत्र टिप्पण्यां वैराग्यात्मकत्व उपपत्तिं स्फुटीकुर्वन्ति **तापनिवर्तकत्वमि**त्यादिना. तथा च तत्सम्बन्धेनोपदेशसाहाय्यरूपभक्तकार्यद्वारा वैराग्यरूपत्वं श्रीहस्ते निश्चेयमित्यर्थः. किञ्च शक्तिबाणाद्यग्रभागे फलव्यवहारो लोके दृश्यते; हस्तश्च क्रियाशक्त्यात्मकस्य बाह्वोरग्रभागः, वैराग्यं च कर्मणां फलम्, अतोपि तथा. अच्छिद्रत्वमप्यग्रभागत्वादेव, प्रान्तएवाच्छिद्रकरणादिति

लेखः

ताम्बूलव्याजेन ज्ञानमेव तस्यै दत्तवांस्तस्यां स्वज्ञानं स्थापितवानिति निर्गलितोऽर्थः. **त्विष** इति घञर्थे 'क'विधानम्. स्त्रीत्वविवक्षाभावान्न 'टाप्'. कुण्डलयोस्त्विट् कुण्डलत्विषमिति समासान्तो वा, पद्मनाभ इतिवत् ॥१३॥

नृत्यतीत्यस्याभासे, **अपरे**ति द्वितीयपार्श्वस्थेत्यर्थः. **अच्छिद्रमिति**, कर्णादिवत् सच्छिद्रं नेत्यर्थः. व्याख्याने, **अनेने**ति भावोद्दीपककूजनकथनेनेत्यर्थः.

प्रकाशः

बोध्यम्. ननु वैराग्यलक्षणं तत्काष्ठा च पतञ्जलिना "दृष्टानुश्रविकविषय-वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यं, तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमि"ति सूत्राभ्यां दर्शिता. तदर्थश्च भाष्ये व्यासपादैरेवं प्रदर्शितः— "स्त्र्यन्नपानैश्वर्यादिरूपे 'दृष्टविषये' स्वर्ग-वैदेह्य-प्रकृतिलयत्व-प्राप्तिरूप 'आनुश्रविकविषये वितृष्णस्य' तद्दोषदर्शिनः पुरुषस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य 'वशीकारसंज्ञा' उपेक्षाबुद्धिः— कषायेषु रागादिरूपेषु पक्वेषु इन्द्रियाणां विषयेष्वप्रवृत्त्या चित्ते औत्सुक्यरूपेणापि रागाद्यस्थित्या या एकाग्रता— सा 'वैराग्यम्'. इतोप्युत्कृष्टं तु 'गुणवैतृष्ण्यम्', तच्च विविक्तात्मज्ञानवतो भवतीति ज्ञानपरमकाष्ठारूपं कैवल्यमेतदविनाभूतमि"ति. एवं सति गुणपर्यन्तेषु यावद्विषयेषूपेक्षापूर्विका चित्तस्यात्मैकतानता वैराग्यमिति फलति. अत्र च भगवति परस्परं च रागस्य मात्सर्यस्य चोक्तत्वेनात्मैकतानत्वाभावान्न मुमुक्षुसाधारणं वैराग्यम्. न च यतमानसंज्ञादिरेवात्रेति शङ्क्यं, तल्लक्षणस्याप्यत्राभावात्. किन्तु "सन्त्यज्य सर्वविषयान्" – "यत्पत्यपत्य" – "कुर्वन्ति ही"त्येतेषु यावद्विषयवैतृष्ण्यस्य सिद्धत्वात्तदेव वैराग्यत्वेन वक्तव्यम्. किञ्च विप्रयोगे आत्मानमप्यनिच्छतीनां भगवदेकतानतेत्येवमात्मैकतानत्वेऽपि पूर्वोक्तवैराग्याद्विशेषः. तदुभयमत्र सर्वसाधारणमिति किमत्र वैराग्यं विवक्षितमिति चेद्, अत्रैवं प्रतिभाति— नवमस्कन्धे "नाहमात्मानमाशास" इत्यादिवाक्येषु भगवतो भक्तेषु कृपा तदतिरिक्ते रागाभाव इत्याकारकं तत्सिद्धम्. तथा वेणुगीते "उत्कर्षश्चापि वैराग्य" इति कारिकया भक्त्या भगवत्क्लेशहारकसेवारूपो वैराग्योत्कर्ष उक्तः. एवं सति स्वसमानानां भगवद्विप्रयोगसामयिक-नवमाद्यवस्था[१]निवृत्त्य-भावे भगवतः क्लेशसंभवात् तादृशक्लेशं स्वयं सोढ्वापि सखीनां तन्निवारणरूपा या सेवा तदात्मको यो वैराग्योत्कर्षः स उक्तरूपभगवद्वैराग्यं विना न सम्भवतीति तदेवात्र विवक्षितम्, भक्तेषु कृपायास्तदितरेषु रागाभावस्य चात्र स्फुटत्वादिति. तदेतत्सर्वं हृदि कृत्वा प्रभुचरणैरुक्तम् **अत्रायं भाव** इत्यारभ्य **सूच्यते** इत्यन्तमिति न किञ्चिदनुपपन्नम्. सुबोधिन्यां वैराग्याधिकारबोधनाय स्वामिनीविशेषणानां तात्पर्यमाहुः **शाब्दमि**त्यादि. अन्यथा न वदेत्, नृत्यादेः सर्वसाधारणत्वादिति भावः. ननु पूर्वक्रियापरित्यागो

१. मूर्छापर्यंतम् इति मुं. वि. पाठः.

**नृत्यती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम् ॥१४॥**

सा नृत्यं गानं च कुर्वती स्थिता. तत्राभिनये यथान्यहस्तः स्थाप्यते, स्वहस्तो वा, तथा भगवद्धस्तमेव स्थापितवती. शाब्दं ज्ञानं तदर्थानुष्ठानं च तस्या वर्तत इति ज्ञापनार्थं नृत्यगानयोः कथनम्. **कूजती नूपुरे मेखला** च यस्याः, उपरि गानाभिनयनं पादयोर्नृत्यम् अतएव नूपुरयोर्मेखलायाश्च शब्दः. स च [1]भावोद्दीपकः. अनेन तस्याः पूर्वस्थिता सर्वैव क्रियाशक्तिः सफलेति सूचितम्. एकस्मिन्नेव **पार्श्वे** विद्यमानस्य भगवतः **श्रान्ता** सती तत्तापहरणार्थं **स्तनयोरधात्**. तापहारकत्व**मब्जस्य** प्रसिद्धम्. श्रमो निर्वृतिसूचकः. स्वस्याः पूर्वक्रियापरित्यागो बाह्यतएवेति भगवत एकस्मिन्

प्रकाशः

वैराग्यबोधकः, स चात्रोक्तएवेति किमवशिष्टं वैराग्य इत्यत आहुः **स्वस्या** इत्यादि. तथा चान्तस्तः(?!) स्वक्रियात्यागो भगवत्क्रियाशक्त्यैवाग्रे भाव्य इतीदानीमन्तस्तत्सत्त्वैवावशिष्टेत्यर्थः ॥१४॥

लेखः

तथा च भगवान् नूपुरमेखलाकूजनेनोद्दीप्तभावो अन्याज्ञातप्रकारेण तदभिलषितं सर्वं हस्तेनावयवस्पर्शेन पूरितवांस्ततो निर्वृत्या श्रान्ता जाता, वियोगे तापसम्भावनया तापस्य हरणार्थं च तद्धस्तं स्तनयोरधादिति मूलार्थः. अभीष्टपूरणात् **क्रियाशक्तिः** पूर्वमेतद्भावनया कृता **सर्वैव सफला** जातेति शेषः. श्रमे नृत्यपरित्यागे भगवतः स्थितिः पार्श्वे किमर्थेत्याशङ्क्याहुः **स्वस्या** इति.

योजना

नृत्यती गायती काचिदित्यस्याभासे वैराग्यात्मकक्रियारूपमच्छिद्रमिति, एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **नृत्यती गायतीत्यस्य** विवृतौ **शाब्दं ज्ञानं तदर्थानुष्ठानं च तस्याः वर्तत** इति. इहैकस्याएव गानं नृत्यं चोच्यते. तथा च **गायतीत्युक्त्या** शाब्दं ज्ञानं तस्या वर्णितं, यादृशं गीयमाने प्रबन्धे नृत्यस्वरूपमुक्तं तादृशं जानातीति. अतो ज्ञात्वा गायतीत्युक्तम्. यादृशं स्वगीयमानप्रबन्धे नृत्यस्वरूपं वर्णितं तादृशमेव नृत्यं करोतीति **नृत्यतीत्यनेनोक्तम्**. तदेतदाहुः **तदर्थानुष्ठानं चेत्यादिना**, **तदर्थस्य** गीयमानप्रबन्धार्थभूतस्य नृत्य-

१. रसोद्दीपक इति पाठः.

भागे स्थितिरुक्ता. भगवत्क्रियाशक्तेरक्षयत्वसूचनाया**च्युते**ति, अग्रे सम्बन्धस्यापि करिष्यमाणत्वात् तदविघातार्थं च. तस्य पुनः कामाद्युद्बोधकत्वेन तापानाशकत्वमाशङ्क्याह **शिवमि**ति, तदेव कल्याणरूपम्, आनन्दरूपत्वाच्च भगवतः ॥१४॥

एवं षण्णां स्वरूपमुक्त्वा स्वरूपेण सर्वासां साधारणीं लीलामाह **गोप्य** इति.

गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ॥१५॥

अच्युतः कान्तो भगवानेव भवति, अन्तर्बहिश्च नित्यानन्ददायी. अतएव सर्वस्त्रीणां मूलभूतायाः **श्रिय एकान्ततो वल्लभः** परमः प्रियः. तादृशं **लब्ध्वा तमेव गायन्त्यो विजह्रिरे.** ननु परमानन्दे प्राप्ते क्रियाया अपगम एवोचितः, न तु पुनः क्रिया, तत्कथं विहार इति चेत्, तत्राह **तद्दोर्भ्यां गृहीतकण्ठ्य** इति, भगवत्क्रिययैव व्याप्ताः, न तु स्वक्रिया काचित्, कण्ठे क्रियायाः स्थापितत्वाद्गानं क्रिया च सम्भवतः. इयं क्रिया शक्तिरूपेति

लेखः

श्रमावसरेऽपि नृत्यपरित्यागो बाह्यतएव, अन्तस्तु नृत्याभिलाषस्तिष्ठत्येव, अतः पुनर्नृत्यार्थं भगवतस्तत्रैव स्थितिरित्यर्थः. स्पर्शमात्रेणाभिलाष-पूरणमच्युतत्वादित्याहुः **भगवत्क्रिये**ति. अनेनैव कार्यसिद्धावग्रे मुख्यभोगो न स्यादित्याशङ्काप्य**च्युत**पदेनैव निरस्तेत्याहुः **अग्रे** इति. **आनन्देति**, **शिवत्वेना-**नन्दसाधनत्वाद् भगवत्सम्बन्धित्वेनानन्दरूपत्वाच्च तापाजनकतेत्यर्थः ॥१४॥

योजना

स्यानुष्ठानं करणमित्यर्थः. **क्रियाशक्तेरक्षयत्वे**त्यादि, नृत्यरूपक्रियाशक्तेरक्षय-त्वसूचनाया**च्युत**पदमित्यर्थः. **अग्रे सम्बन्धस्यापी**ति, सम्बन्धस्य मुख्यरमणस्य करिष्यमाणतया तत्र प्रच्युतत्वा[१]दिदोषपरिहाराया**च्युत**पदमित्यर्थः ॥१४॥

गोप्यो लब्ध्वाच्युतमित्यस्य विवरणे **कण्ठे क्रियायाः स्थापितत्वादि**ति, **गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्याम्** इति वाक्यात्कण्ठे भगवत्क्रिया स्थापिता. अतः कर्मे-न्द्रियरूपवाग्व्यापारो गानं सम्पन्नं, कण्ठाधीनत्वाद्गानस्य. क्रियायाः स्थापित-त्वा**द्विजह्रिरे** इतिवाक्यसिद्धा विहाररूपा क्रिया च सम्पन्नेत्यर्थः ॥१५॥

१. न्यूनतेति मुद्रितः पाठः चिन्त्यः. मुं. वि. पाठः गृहीतः.

स्वातन्त्र्यं तासां निरूपितम् ॥१५॥

अतः परं राधा[1]दामोदरवदुभयोर्नृत्यमाह **कर्णे**ति.

टिप्पणी

गायन्त्यस्तं विजह्रिर इत्यत्र **इयं क्रिया शक्तिरूपे**ति, **शक्तिरूपा** भगवत्सामर्थ्यरूपेत्यर्थः. तस्मिन्सति स्वातन्त्र्यमुचितमिति भावः ॥१५॥

उपक्रमात्प्राप्तेऽपि नृत्ये यत्पुनर्वाद्योक्तिपूर्वकं नृत्यकथनं तत्कञ्चन विशेषमाश्रित्येति तमाहुः **अतः परं राधादामोदरवदि**ति. अथवा रसावेशजनिता मर्यादारहिता क्रिया विहार इति तदुक्त्योत्तरस्यादिना पूर्वस्यावसानमिति न्यायवत् पूर्वनृत्यविरामो ज्ञाप्यते. तथा सति पुनर्नृत्योक्तिरुचिता. तच्चेत्पूर्ववदेव स्यात्तदा तत्त्यागो न स्याद्, रसार्थमेव तत्करणात्तदुदयं विना तत्त्यागासम्भवात्. एवं सत्यपूर्वरसार्थमेवापूर्वमेव नृत्यमथोच्यत इति ज्ञाप्यते. तदेवाहु**रतः**

प्रकाशः

कर्णोत्पलेत्यत्र टिप्पण्याम् **अतः परमि**त्यादिप्रतीकेन प्रकृतनृत्ये उभयोस्तौल्यमेव विशेष इति बोधितम्. तेन उभयतौल्यविशिष्टं पूर्वनृत्यमेवेदमित्यर्थः. ननु फले विशेषाभावे साधननिष्ठविशेषाङ्गीकारो न युक्त इति पुनर्नृत्योक्तिरनुपपन्नेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **अथवे**त्यादि, तथा चोक्तविहारजनकरसाविर्भावः पूर्वनृत्यफलं, प्रकृतस्य त्वपूर्वरसाविर्भाव इति फलभेदात्प्रकारभेदाच्च नृत्यान्तरत्वबोधनाय पुनस्तदुक्तिरिति नानुपपत्तिरित्यर्थः. सुबोधिन्यां,

लेखः

कर्णेत्यस्याभासे, **अतः परमि**ति, अत्र समुदायरमणं प्रत्येकरमणं च वक्ष्यते. तत्तद्रमणानुकूलभावोद्दीपनाय नृत्यमपि तथा तथा वाच्यं; तत्र समुदायनृत्यं पूर्वमुक्तम्, अस्मिन् श्लोके प्रत्येकनृत्यमुच्यते इत्याहुः **उभयोरि**ति. प्रतिगोपीमेकैकस्वरूपो भगवानासीदित्येका स्वामिनी एको भगवानित्येवं प्रकारकं नृत्यमित्यर्थः. तत्र दृष्टान्तो **राधे**ति. यथा पूर्वं समुदायरमणानन्तरं युगलरसानुभवार्थम् एकां गोपीं पृथङ् नीतवानिति द्वितीयाध्याये "ततो गत्वे"त्यस्य टिप्पण्यां निरूपितं, तथात्रापि युगलरसानुभवार्थमिदं नृत्यमित्यर्थः. एतावान् परं विशेषः— तत्रैकस्याएव युगलरसानुभवः अन्यासां तु विरहानुभवः, अत्र सर्वासामेव तथेति. षष्ठ्यर्थे 'वतिः', तयोरिव तयो रमणमिवेत्यर्थः.

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथमपरिशिष्टे मुद्रितम्.

कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलधर्म-
वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः ।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-
स्रस्तस्रजोभ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥१६॥

रासार्थमेवैतदपि, परं प्रत्येकं रस उत्पद्यत इति **गोष्ठी**मात्रमुक्तम्, उभयोर्गाढनृत्ये विनियोगात्. **भ्रमरो गायकः**, वाद्यं तु पूर्ववदेव भविष्यति. तदाह **वलयनूपुरघोषवाद्यैरि**ति, **वलयानां नूपुराणां घोष**शब्देन किङ्किणीनां शब्दाएव **वाद्यशब्दाः**. अत्यन्तं नृत्याभिनिवेशार्थं **स्वकेशात् स्रस्ताः स्रजो**

प्रकाशः

ननु यदीदमुभयनिरूपितं तदा **गोप्य** इति बहुवचनस्य कथं सङ्गतिरित्यत आहुः **गोष्ठीमात्रमि**ति. तथा च टिप्पण्युक्तरीत्या सिद्धे नृत्यान्तरत्वे अत्र प्रत्येकं पर्यायेण नृत्यमित्यन्यासां द्रष्टृतया सभ्यत्वबोधनाय बहुवचनमिति भावः. ननु पूर्वं सामान्यनृत्ये "किंकिणीनां च योषितामि"त्यनेनोक्तत्वाद्गाढनृत्ये तस्य कथनावश्यकत्वमिति कुतस्तदनुक्तिरित्यत आहुः **घोषे**त्यादि, तथा च "उच्चैर्घुष्टं तु घोषणे"ति कोशाद्घोषशब्दस्य 'उच्चैःशब्द'वाचकतया तेनैव तस्यापि संग्रहान्न पृथक् तदुक्तिरित्यर्थः. **वाद्य**पदमजहत्स्वार्थया वाद्यशब्द-बोधकमित्याशयेनाहुः **वाद्यशब्दा** इति. उद्बुद्धरसात्मकस्य नानुभावकापेक्षेत्य-

लेखः

युगलरसानुभवार्थकत्वेन साधर्म्यम्. सङ्गे नीता या 'राधे'ति नामा इति सहस्रनामनामावलीपाठादवगन्तव्यम्. व्याख्याने; "बहुनर्तकीयुक्तो नृत्यविशेषो रास" इत्युक्तत्वादिदं प्रत्येकं भगवतोऽवस्थानं रासाननुगुणं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः **रासार्थमेवैतदपी**ति. भगवांस्तावद्रूपः सन् प्रत्येकं रसमुत्पादितवांस्तावता बहुनर्तकीयुक्तत्वं न क्षतं परं समुदितैकरसाभावात् पूर्ववत् 'क्रीडामि'त्येकवचनं नोक्तं किन्तु प्रत्येकरसोत्पादनाद्गोष्ठीपदमुक्तम्. गोष्ठ्यां हि यथाधिकारं सर्वैर्भिन्नो रसोऽनुभूयते इति भावः. **घोषशब्देने**ति, घोषयन्तीति घोषा इति व्युत्पत्त्या **घोष**शब्देन किङ्किण्य उच्यन्ते. तत्त्रयाणां

योजना

कर्णोत्पलालकेत्यस्य विवरणे **रासार्थमेवैतदपी**ति, उभयोर्नृत्यं रासार्थ-मित्यर्थः. "रसानां समूहो रास" इति व्युत्पत्त्या रससमूहोत्पादनार्थं

यासामित्युक्तम्. [१](यद्वा गायकास्तु भ्रमरा निरूपिताः, ते च मकरन्दार्थिनः, स च पुष्पेष्वेव तिष्ठति, तानि च वियुक्तानि तद्रहितानि च भवन्तीति स्वनृत्यानुरूप-गानकरणाद् अतिप्रसन्नास्तेभ्यः स्रजएव दत्तवत्यः. अन्यथा रसार्थं स्वकेशेषु शोभाहेतुत्वेन [२]धृतानां तासामुपेक्षा न भवेत्. तेन भ्रमराणां गाननैपुण्यं प्रभुप्रियाणां च तदभिज्ञत्वं च ध्वन्यते.) नृत्यारम्भे तासां शोभामाह **कर्णे**ति. अन्यथा पूर्वोक्तनृत्येन श्रान्तानां पुनर्नृत्यमनुचितमेव स्याद्; न वा रसालम्. **कर्णे उत्पलस्थापनं** तस्य अपातने चातुर्यार्थम्, तत्सहिता **अलकाः** भ्रमरा इव रसपातारः, तेषां **विटङ्कः** अलङ्करणरूपं स्थानम्, एतादृशौ कपोलौ. तत्र **यो धर्मः** अन्तरुद्गतश्रमजलं नृत्याभिनिवेशाज्ञातं तैः कृत्वा **वक्त्रे श्रीर**लौकिकी काचित् सम्पन्ना, यथा मुक्ताभिर्मण्डितं भवति कपोलद्वयम्. अनेन मुखे श्रमो निवारितः, ताभिः सह भगवतो नृत्ये अनुभावकश्च भवति, स्वतो वा. क्रीडानिवृत्तिरनेन सूचिता. **गोप्य** इति

टिप्पणी

परमित्यादिना. **कर्णोत्पलालके**त्यत्र **स्वतो वे**त्यादि, श्रमाभावज्ञापकधर्मश्रीकथनेन रसावेशादेवैतदपि नृत्यं जायत इति तस्मिन्भवति सति स्वतएव पूर्वविहारनिवृत्तिर्जातेति सूच्यत इत्यर्थः. अथवा क्रीडाया अनिवृत्तिः **क्रीडानिवृत्तिः**, श्रमाभावसूचनेन पूर्वक्रीडाया निवृत्तिर्न स्वामिनीनामशक्त्येति

प्रकाशः

रुच्या पक्षान्तरमाहुः **स्वतो वे**त्यादि. टिप्पण्यां **श्रमाभावे**त्यादि, तथा "चोत्तरस्यादिना पूर्वस्यावसानमि"ति न्यायोऽत्रापि बोध्यते, तेन **स्वत** इत्यस्य 'अथदिव' इत्यर्थो बोध्य इत्यर्थः. न्यायस्य पूर्वं सूचितत्वेनापुष्टार्थमिदमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **अथवे**ति. अस्मिन्पक्षे **स्वत** इत्यस्य स्वामिनीशक्त्येत्यर्थो बोध्यः ॥१६॥

लेखः

शब्दाः अतस्रयाणां वाद्यत्वमित्यर्थः. **अन्यथे**ति शोभाकथनाभावे इत्यर्थः. **अनेने**ति, कपोलयोः स्वेदेन मुखश्रीकथनेनेत्यर्थः. **श्रमो** म्लानतेत्यर्थः. स्वेदश्रीदर्शनेन चुम्बनादिना अनुभावको धर्म इत्याहुः **ताभिरि**ति. धर्मश्रीकथनस्य प्रयोजनान्तरमाहुः **स्वतो वे**ति. नात्र सहार्थे **सममि**ति किन्तु तुल्यार्थे; तथा

१. प्रभूणां स्वतन्त्रः. २. श्रान्तानामिति पाठः.

भगवतएव तासामेतावत्त्वं न स्वत इति ज्ञापितम्. अतो **भगवता समं** यथा यथा भगवान् नृत्यति तथा तथा ता अपि नृत्यन्तीति ॥१६॥

एवं प्रादुर्भूते रसे अत्यन्तोद्गमनार्थं साक्षात्कामशास्त्रोक्ताश्चेष्टा निरूपयति **एवमिति**.

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श-स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥१७॥

आलिङ्गनादयस्तत्र निरूपिताः. एवमेव रसोद्गमनार्थं **परिष्वङ्गः** आलिङ्गनं, ततः **कराभिमर्शः** तत्तदवयवेषु भगवद्धस्तस्पर्शः, ततः **स्निग्धेक्षणं** भावोद्गारि, तत **उद्दामो विलासः** अमर्यादो भोगः, ततो **हास्यानि** पूर्णमनोरथानाम्. एवं परिष्वङ्गादिहासान्ताः सर्वासु. ननु प्राकृतीभिः कथं

टिप्पणी

सूच्यत इत्यर्थः. **गोप्य इति भगवत एवे**त्यादि. भगवत्साम्येन नृत्यकृतिर्नि पूर्वशिक्षया गोपजातीयानां, तत्रापि कुलवधूनां, तदसम्भवात्; किन्तु तथा रसाविर्भावो येन तथा नृत्यं स्वतएवाभूदिति ज्ञापनायेत्यर्थः ॥१६॥

प्रकाशः

एवं परीत्यत्र, [1]मूलस्थातिदेशः प्रयोजनांशे एव न तु प्रकारांशे इत्याशयेनाहुः **एवमेव रसोद्गमार्थमि**ति. नन्वेवं सर्वभावेन रमणे रसोद्गम उभयोस्तुल्यतायामेव भवति, न तु न्यूनाधिकभावे, प्रकृते च "न तत्सम" इत्यादिश्रुत्या भगवत्तुल्यस्याभावात्कथं रसोद्गम इत्याशङ्कां हृदि कृत्वाहुः **ननु**

लेखः

च भगवत्प्रधानकमेव नृत्यमित्येताभिः सहेत्युक्तम्. **अत** इति, भगवता तुल्यतायाः सम्पादितत्वादित्यर्थः. **भगवता समं** तुल्यमित्यर्थः. भगवन्नृत्यं दृष्ट्वा तदनुसारेण ननृतुः, अतो भगवतः प्राधान्यमिति भावः ॥१६॥

साक्षात्कामेति, नृत्यादयः परंपरया कामोद्बोधकाः, आलिङ्गनादयस्तु साक्षादुद्बोधकाः. तथा च साक्षात्त्वेन कामशास्त्रोक्ता इत्यर्थः.

योजना

प्रतियुवतिभेदेन प्रकटीभूत इति भावः. **अतो भगवता सममि**ति, **सम**शब्दोऽस्मिन् पक्षे तुल्यपर्यायः, तथा च **भगवता समं** भगवता तुल्यं ननृतुरित्यर्थः ॥१६॥

---

१. मूलस्य इति मुं. वि. पाठः.

रेमे? तत्राह **रमेश** इति, रमाया ईशः, सर्वत्र तासु रमापि भगवदाज्ञया

टिप्पणी

रेमे रमेश इत्यस्याभासे **ननु प्राकृतीभिरि**त्यादि. अत्राप्राकृतीत्वं निरूपयितुं तद्विपरीतधर्मोक्तिः पूर्वपक्षे. सिद्धान्तस्तु— ब्रह्मानन्दरूपत्वेनाप्राकृती रमा, भगवांस्तु तदीशत्वेनाप्राकृतीरमणैकस्वभावः, तेनात्र रमणोक्त्यैवा-प्राकृतीत्वमप्युक्तमेव भवतीति भावः. किञ्च. स्वामिनीनामप्राकृतत्वे का नाम शङ्का, यत एतत्सम्बन्धद्वारैव रमापि प्रभुसम्बन्धं प्राप्तवती नान्यथेत्याहुः **रमापि भगवदाज्ञये**त्यादि. तदुक्तं "श्रयत इन्दिरे"त्यादि. तथा च स्वामिनीषु प्रभोः स्नेहभरदर्शनेन स्वयं तत्र प्रविश्य तद्द्वारा प्रभुसम्बन्धं प्राप्तुमिच्छन्त्यपि तन्महत्त्वस्फूर्त्या स्वयं न प्राविशत् किन्तु तदार्तिं दृष्ट्वा तन्निवृत्त्यर्थं प्रभुणाज्ञापिता तथाकरोदिति ज्ञापनायोक्तं **भगवदाज्ञये**ति. अपरश्च. यदा नागरीवदस्मदतिरिक्तायाः प्रभुसम्बन्धो मा भवत्विति चित्तकौटिल्यं स्यात्

प्रकाशः

प्राकृतीभिरित्यादि, प्राकृतशरीरत्वमन्तर्गृहस्थितास्वेव, न तु रासमण्डल-मण्डलायमानास्वपीति "उक्तं पुरस्तादि"त्यस्य स्वतन्त्रे एतत्कथोपक्षेपार्थापत्त्या प्रभुचरणैः स्थापितम्, न तु मूले[१] पांक्तं न वा श्रीमदाचार्यैरुक्तम्, अतो न तथा तत्राशयः; अत्र सिद्धवत्प्राकृतीत्वकथनाच्चेत्याशङ्कायां तदुभयगोचरत्वं बोधयितुं प्राकृतीत्वोक्तितात्पर्यं प्रभवष्टिप्पण्यामाहुः **अत्राप्राकृती**त्यादि. अप्राकृतीत्वं मूले कुतः सिद्धमित्याकांक्षायां तत्सिद्धिप्रकारं वदन्त आहुः **सिद्धान्त** इत्यादि, तथा चासाधारणस्वभावपरिचायकाद्**रेमे रमेश** इति समभिव्याहारादेव सिद्धमित्यर्थः. नन्वयमेव श्रीमदाचार्याशय इति कथं विनिगन्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः **किञ्चेत्यादि आज्ञयेती**त्यन्तम्. तथा चोक्तवाक्येन बोधिते रमानिवेशे भगवदाज्ञाया हेतुत्वकथनाद्विनिगन्तव्य-मित्यर्थः. ननु यद्येवं तदा **अधिष्ठानयोग्या** इत्यनेन रमापेक्षया निकर्षइव किमिति बोध्यते इति शङ्कायां नात्र निकर्षबोधनमपि तूत्कर्षार्थमेवैतदित्याहुः **अपरश्चे**त्यादि, तथा च यदि निकर्षाभिप्रायेणात्र योग्यता बोध्या स्यात् तदा मूले **व्रजपदं** न वदेत् किन्तु "किल सुन्दरीभिरि"त्येव वदेत्. अतो मूले **व्रजपदात्** श्रीमदाचार्याणामपि तथैवाशय इत्यर्थः. एवं च "न तत्सम"

१. मूलेऽप्युक्तम् इति मुं. वि. पाठः.

निविष्टा. ता अपि अधिष्ठानयोग्या इत्याह **व्रजसुन्दरीभिरिति.** नन्वात्मारामः

टिप्पणी

तदा रमा न तथा कर्तुं शक्नुयाद्, एतास्तु सर्वथाङ्गीकृतव्रजसम्बन्धिन्य इत्यतिसौजन्यादिगुणवत्य इति सुखाराध्या इति रमायास्तथाकरण-मित्याशयेनाहु**स्ता अप्यधिष्ठानयोग्या इत्याहेति.** नन्वेतद्रसप्रार्थ्यं ह्येतदाज्ञापनम्. सा चोभयोरपि दम्पतित्वभावस्य जागरूकत्वेनात्रासंभाविता. एवं सति प्रियस्यापि पूर्वभावविलक्षणभावोत्पत्त्या रसाभासप्रसंगेन पूर्वरसस्यापि भञ्जिकेयमाज्ञा, स्वौधःस्पर्शमप्यसहमाना शिक्यस्थमपि क्षीरं नीरे पातयन्ती

प्रकाशः

इत्यादिभिर्यद्यपि साम्यं निषिद्धं तथापि "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"ति भगवद्वरणेनानञ्जनत्वे तस्यापि [१]श्रावणादत्र तथात्वस्य सिद्धत्वान्न रसोद्गमानु-पपत्तिरिति भावः. नन्वेवं रसोद्गमविचारे रमणस्य पारार्थ्यमायाति. तादृशं तु षड्विंश एव "अरीरमदि"ति णिजन्तेन बोधितम्. प्रकृते तु **रेमे** इति कर्तृसमवेतक्रिया-फलबोधकात्मनेपदेन रमणस्य स्वार्थता लभ्यते इत्यात्मा-रामत्वभङ्गमाशङ्क्य मूले दृष्टान्तेन तन्निरस्यत इत्याशयेन **नन्वित्यादिना** दृष्टान्तमवतार्य, **एताभिरिति** पदेन साम्येऽपि भिन्नाभी रमणमात्मारामत्व-भञ्जकमिति **कथं रेम** इत्यनेनाशङ्क्य, लक्ष्मीवद्धर्मरूपत्वेन तादात्म्याददोष इति समाधाने, ब्रह्मानन्दरूपत्वाभावेन तदभावं लक्ष्म्यावेशेन समाधाने ब्रह्मभावाभावेनावेशदौर्घट्यं च दोषं बोधयित्वा, तेन लक्ष्म्यामेतासु च रमणस्य भिन्नविधत्वसूचनेन पूर्वपक्षं दृढीकृत्य, ततो **बालको** **हीत्यादिना** व्याख्यानेन सामर्थ्यादिभिरेव रमणान्नात्मारामत्वभङ्ग इति समाहितम्. तथा सति धर्मात्मकव्यतिरिक्तासु न रमणमित्यायातीति श्रीमदाचार्याणां कथं तथाशयोऽवगन्तुं शक्य इत्याकांक्षायां "रेमे तया चात्मरत" इत्यत्र "साधारत्वाय तस्यामात्मानं स्थापितवानि"ति यदुक्तं तदनुसन्धाय मूलस्य दृष्टान्तद्वयगर्भत्वस्फुटीकरणाद् द्वितीयदृष्टान्तावतारिकायामात्मारामत्वनिर्वाहक-रमणसाधकसिद्धान्ताक्षेपात्तत्र तादृशसिद्धान्तावतारिकाक्षेपस्यार्थतो लाभाच्चा-वगन्तव्य इत्याशयेन पूर्वदृष्टान्तं द्वितीयावतारिकां च विवरीतुं पूर्वदृष्टान्ताक्षेपं पूर्वं तत्र स्फुटीकुर्वन्ति **नन्वेतद्रसेत्यादि. सेति** आज्ञा. **तत्सम्पादनमनुचितमिति,**

१. अनञ्जनत्वस्यापि श्रवणाद् इति मुं. वि. पाठः.

कथमेताभी रेमे? लक्ष्मीस्तु ब्रह्मानन्द इति रमणमुचितमपि. एतास्वावेशोऽप्यनुचितः ब्रह्मभावाभावादिति चेत्, तत्राह **यथार्भक** इति, बालको हि दर्पणजलादिकं पुरतः स्थापयित्वा तत्र तत्रात्मानं पश्यन् **रमते** तथा भगवानपि स्वसामर्थ्यं स्वरूपं वा तत्र स्थापयित्वा ब्रह्म ब्रह्मानन्दं चाविर्भावयित्वा रेमे. नन्वेतदप्यनुचितं, किमनेनेति चेत्, तत्राह **यथार्भकः**,

टिप्पणी

गौरिव, अतस्तत्सम्पादनमनुचितम्. किञ्च ब्रह्मभावे हि ब्रह्मानन्दाविर्भावो, रमा चैतद्रूपा, स्वामिन्यस्तु ततोऽधिकभगवद्रसभाववत्यो अतस्तत्सम्बन्धोऽत्राशक्यवचन इत्याहुर्**नन्वेतदप्यनुचितमि**त्यादिना. अत्रार्भकदृष्टान्तेन समाहिते-

प्रकाशः

आज्ञया तासु रमानिवेशसम्पादनमनुचितं, रमणस्य स्वार्थताबोधनात्तादृशरमणविघटकत्वेनानुचितम्. ननु मूलवाक्यात्तदावेशे सिद्धे आज्ञायां को दोष इत्याकांक्षायां तमप्याक्षिपन्ति **किञ्चे**त्यादि. तथा च रसात्मत्वेनैतासु रमणौचित्येऽपि भगवत आत्मारामत्वेनाप्येवं रमणस्य सप्तविंशे उक्तत्वात्तदभङ्गेन कथं रेमे? न च लक्ष्मीवत्, तस्याः ब्रह्मानन्दरूपतया ब्रह्माभिन्नत्वेन तथा रमणौचित्येऽप्येतासु ब्रह्मानन्दरूपत्वाभावेनाभेदस्य दुर्वचत्वात्. **एतल्लक्ष्मी**-वद्रमणम् **अपि**शब्देन रमावेशकृतभेदाभेदात्पूर्वदृष्टान्तप्रतिपादितं रमणं च ब्रह्मभावाभावेनावेशस्याशक्यवचनत्वाद**नुचितमि**त्येवं पूर्वावतारिकायास्त-

लेखः

एवमित्यत्र, **नन्वात्माराम** इति, **आत्मनि** स्वार्थभूतायां रमायां दाम्पत्येन **रमणकर्ता** रमेशो रमासमक्ष**मेताभिः कथं रेमे**? ननु यथैतत्समक्षं लक्ष्म्या रेमे तथा लक्ष्मीसमक्षमेताभिरपीत्याशङ्क्याहुः **लक्ष्मीस्त्वि**ति. सा तु ब्रह्मानन्दत्वादात्मनोऽर्धं, स्वीयेति यावत्. अतोऽन्यसमक्षं तया रमणमुचितमपि. **अपि**शब्दात्तत्रापि अस्वारस्यं— मुख्यरसप्राप्तिस्तु तस्याः अपि न भवत्येव किन्तु यथाकथञ्चिद्रमणं स्यात्, परमेताभिस्तु सह लक्ष्मीसमक्षं रमणमपि न स्यादेवेत्यर्थः. आशङ्कान्तरमाहुः **एतास्वि**ति. द्वितीयाशङ्कासमाधानं सुबोधिन्यां स्फुटमनुक्तं टिप्पण्यामेवोक्तमिति ततोऽवधारणीयम्. **नन्वेतदि**ति, अतो दृष्टान्तस्याभासान्तरं वक्तव्यमिति शेषः. **नन्वात्माराम** इत्याभासादाभासान्तरमाहुः **किमनेने**ति. कैमुत्येनाप्राकृतत्वसूचनार्थकेन रमानिवेशनेन

यथा बाललीलां कृतवान् तथैतदपि कृतवानित्यर्थः. [१](यद्वा.

टिप्पणी

रयमाशयः— यदुक्तं रमावेशे रसाभासप्रसंगः पूर्वरसविच्छेदश्चेति, तत्रोच्यते, यथा स्वप्रतिबिम्बं पश्यन् बालो दर्पणादौ गृहादिप्रतिबिम्बे सत्यपि स्वप्रतिबिम्बएव रमते, न तु तदन्यस्मिन्, अतएव मूले **स्व**पदोपादानम्; तथा स्वामिनीषु रमासमागमेऽपि स्वस्य रसरूपत्वेन तदात्मकान् भावान् यत्र दृष्टवांस्तत्रैव तदनुरूपभावचेष्टावानेव रेमे, न तु रमास्फूर्तिरपि, येन भार्यात्वज्ञानेन पूर्वरसविच्छेदः स्यात्. तस्य रसस्य तादृक्स्वभावत्वादेव तथात्वं प्रभोः, अर्भकत्वस्वभावस्य तथात्वात्तस्येव. रमायास्तु भगवति भर्तृभाववत्त्वेन न मुख्यरसप्राप्तिः; अतएव "नायं श्रियोङ्ग उ नितान्तरतेरि"ति श्रीमदुद्धववचनं, किन्तूक्तभावविशिष्ट-प्रियाङ्गसंगिव्रजाङ्गना-ऽङ्गसंगित्वेनैव पूर्वमननुभूतजातीयः कश्चनानन्दविशेषः समजनि, येन सर्वविस्मृतिरभूत्. एतेनैव रमाप्रवेशे स्वामिनीनां भाववैलक्षण्येन पूर्वरसविच्छेद इति निरस्तम्. नहि प्रतिबिम्बाश्रयस्तज्ज्ञानं लोके क्वचिद्दृष्टचरं, ज्ञानस्यात्मधर्मत्वेन तत्र

प्रकाशः

सिद्धान्तस्य चार्थोऽत्राक्षिप्तो बोध्योऽतोऽत्र न त्वदभिमतोऽर्थ इत्यर्थः. नन्वेवं पूर्वावतारिकार्थस्तदा स्याद्यदि पूर्वदृष्टान्तव्याख्याने तदनुसारी समाधिर्दृश्येत, तत्र त्वर्भकदृष्टान्तेन समाधानान्न तथार्थ इत्याशङ्कायां तदाशयमाहुः **अत्रे**त्यादि, **अत्रे**ति उक्ताशङ्कायाम्. **अयमि**ति वक्ष्यमाणः. कथमित्याकांक्षायां तथात्वमुपपादयन्ति **यथे**त्यादि. नन्वेवं सति **रमेश**पदबोधितरमावेशो व्यर्थः स्यादित्याशङ्कायां तन्निरासायाहुः **रमाया** इत्यादि. तथा च रमार्थं रमावेशोऽतो न व्यर्थ इत्यर्थः. नन्वस्त्वेवं तथाप्यावेशे स्वस्मिन् रमात्वानुसन्धानात्पूर्वरसविच्छेद इत्यत आहुः **एतेने**त्यादि. नन्वस्त्वेतासामज्ञानं तथापि प्रभोः सर्वज्ञत्वेन तदनुपपन्नं, ताम्बूलग्रहणादिना एतासामपि तथेत्याशङ्कायां द्वयोस्तदनु-

लेखः

स्वामिनीनां तु स्वाच्छन्द्यहान्या रसन्यूनतैव भवेद्, अतस्तासां किं फलं सम्पादितवानिति प्रश्ने तासु रसविच्छेदाभावं दृष्टान्तेनाहेत्यर्थः. अस्मिन्पक्षे

१. यद्वेत्यारभ्य श्लोकान्तं व्याख्यानं प्रभूणामिति प्रतिभाति.

टिप्पणी

तदसम्भवात्. अपिच. स्वामिनीनां प्रभोश्च तज्ज्ञानेऽपि न काचित्क्षतिः, यतो रसाभासभावाभासैर्मुख्यो रसः पोष्यते. प्रकृते च तदावेशतः क्षणमात्रं तथा-भावो अग्रिमक्षण-जायमानरस-विशेषानुभावक इतीष्टएव. अतः प्रस्तुतस्वौधोभार-धाराभरेण शिक्यस्थभाण्डान्यप्यतिशयेन पूरयन्त्यद्भुता गौरिवेयमाज्ञेत्युचिततरा.

यच्चोक्तं ब्रह्मभावाभावात् तदानन्दरूपाया रमायाः सम्बन्धोऽनुपपन्न इति, तत्रोच्यते— न हि ब्रह्मभावात्मकसाधनेनाविर्भवद्ब्रह्मानन्दो रमा, तस्य तद्विशिष्टेषु पुरुषेष्वप्याविर्भावाद् अस्याः पुरुषोत्तमैकनिष्ठत्वात्, किन्तु पुरुषोत्तमस्य रसात्मकत्वेन स यावद्विधस्तावद्विधोऽयं निरूपणीयः. तथा च स्निग्धदम्पतीभावोऽप्येकस्तत्प्रकार इति तदात्मकानन्दप्रकाशिका "अर्धो वा

प्रकाशः

सन्धानेऽप्यक्षतिरित्याहुः **अपि चे**त्यादि **उचिततरे**त्यन्तम्. तथा चावेश-स्योक्तत्रितयार्थत्वेऽन्यतरार्थत्वे वा क्षत्यभावान्नाज्ञायामनौचित्यग्रास इत्यर्थः.

नन्वस्त्वाज्ञाया उचितत्वं, तथापि रमायाः ब्रह्मानन्दरूपत्वस्य पूर्वं स्थापितत्वात्सर्वत्र तथा प्रसिद्धेश्च तस्याः ब्रह्मानन्दरूपत्वमविवादम्, अत्र च धर्मात्मकव्यतिरिक्तासु तथात्वाभावः स्फुट इति तमादाय या न्यूनता तामनुसन्धायैव श्रीमदाचार्यैरावेशाभावपूर्वपक्षे ब्रह्मभावाभावो हेतुत्वेनोक्त इति तद्विरोधो नापैतीति कथं तथाशय इत्याशङ्कायां तमनूद्य विरोधं परिहरन्ति **यच्चे**त्यादि; **तत्रोच्यत** इत्यादि च. अयमर्थः— एतासु न्यूनत्वमापादयता भवता रमास्वरूपं कीदृक् प्रतिपन्नं, किं "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे"त्यादिप्रतिपादितब्रह्मभावात्मक-साधनीयफलात्मक-ब्रह्मानन्दरूपम्, उत पुरुषोत्तमाभिन्नानन्दरूपम्? तत्राद्यस्तु न युक्तो, **न ही**त्यादिनोक्तदोषात्. अतो द्वितीय एवाङ्गीकार्यः. तथा सति पुरुषोत्तमस्वरूपं पूर्वं विचारणीयम्. तच्च रसरूपमिति पूर्वं निर्णीतम्. अतो रमायास्तदभेदेऽपि दाम्पत्यस्य प्रसिद्धत्वात्सिद्धे शक्तिशक्तिमद्भावे सोऽभेदस्तादात्म्ये पर्यवस्यन् रमायास्तदानन्दैकदेशतां व्यवस्थापयतीत्येतादृशं रमास्वरूपं शास्त्रविचारेण सिद्धम्. तथा सति न ब्रह्मानन्दभावहेतुक-रमावेशाभाव-शङ्कायां श्रीमदाचार्या-भिप्रायः किन्तु 'ब्रह्मानन्द'पदेनात्रान्यदुच्यत इति तदादायात्र शङ्केति न

टिप्पणी

एष आत्मनो यत्पत्नी''ति श्रुतेः स्वयमपि तदर्धत्वेनानन्दरूपा ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य या शक्तिः सा रमा 'ब्रह्मानन्द'शब्देनोच्यते. तथा च एतादृश्याः सम्बन्धयोग्यतास्तीत्यत्र प्रवेश उपपद्यत इति स्वामिनीनां प्रभोश्च रमाननुसन्धानपक्षमाश्रित्य **बालको हीत्यारभ्य स्थापयित्वेत्यन्तो** ग्रन्थ उक्तः. अनुसन्धानपक्षमाश्रित्य **ब्रह्मे**त्यादिः. अत्र **ब्रह्म**पदेनोद्दीपकानुभावकवाक्कृतिभिराविर्भावितो व्यभिचारिभावपुष्टो मुख्यो रस उच्यते. अविकृतो नित्योऽयं रस इति ज्ञापनाय **ब्रह्म**पदोपादानम्. **ब्रह्मानन्द**पदेन पूर्वोक्तो मुख्यरसपोषको रमावेशजनितो भावविशेष उच्यते.

ननु स्वसामर्थ्यादिस्थापनेनैव चेद्रमणं, तदा स्वत उत्तमनायिकात्वाप्रात्या स्वामिनीषु भगवतश्च स्वसामर्थ्यादियोजनव्यासंगेन उत्तमरसाननुभवप्रसंग इत्यरुच्या पक्षान्तरं वक्तुं तामुद्भावयन्ति **नन्वेतदपी**त्यादिना. सामर्थ्यादि योजयित्वा रमणे क्लिष्टकर्मत्वप्रसंगेनानुचितमिदमित्यर्थः. पक्षान्तरे

प्रकाशः

त्वदुक्तरीतिकः श्रीमदाचार्योक्तिविरोध इत्याशयेन रमास्वरूपं निर्धारयन्ति **किन्त्वि**त्यादि. रमास्वरूपनिधरिण यत्सिद्धं तदाहुः **तथा चैतादृश्या इत्यारभ्योच्यत** इत्यन्तम्. अत्र प्रथमपक्षे तस्याः मूर्तरूपेण न स्थापनं किन्त्वमूर्तस्वसामर्थ्यात्मना रूपात्मना वा, तेनाननुसन्धानपक्षसंग्रहः. अनुसन्धानसंग्राहके द्वितीयपक्षे च मुख्यरसं तत्पोषकं चाविर्भावयित्वा रेम इत्यर्थो भवति. तथा सति तत्पूर्वपक्षे रमायास्तादृशरसभावाभावात्तदावेश एतास्वनुचित इत्यर्थोऽभिप्रेत इति न विरोधगन्धोऽपीति पूर्वोक्तएवाशयः. एवं सति "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित" इति प्रश्ने "स्वे महिम्नी"ति "अन्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित" इतिवच्छ्रावितस्योत्तरस्य विचारे स्वमहिमात्मक-शक्तिरूपत्वमेतास्वपि निर्बाधमिति शक्तिशक्तिमद्भावस्य रमायामिवैतास्वपि तौल्यात्स एवात्रापि समाधिरिति रसरूपत्वादिकमात्मारामत्वं चैवमविरुद्धं, न तु तथेत्यर्थः.

एवं पूर्वदृष्टान्तव्याख्यानतात्पर्यं स्फुटीकृत्य द्वितीयं व्याख्यानं स्फुटीकर्तुं तदवतारिकासूचितामरुचिं स्फुटीकुर्वन्तस्तामवतारयन्ति **ननु स्वे**त्यादिना. **इदमि**ति पूर्वोक्तरीतिकव्याख्यानम्. नन्वावश्यकत्वे क्लिष्टकरणमप्यदुष्टं, यथा "महद्भयं वज्रमुद्यतमि"त्यादावित्याकांक्षायां तद्वैधर्म्यं बोधयितुं

कदाचित्प्रकारसाम्येऽपि नैतद्रसानुभवो लक्ष्म्यां भवितुमर्हति किन्त्वेतास्वेवेति ज्ञापयति पदद्वयेन **रमेशो व्रजसुन्दरीभिरिति, रमाया ईशः** स्वामी भर्तेति यावत्. एतास्तु **व्रजसम्बन्धिन्योऽन्यसम्बन्धिन्यः सुन्दर्यो,** न तु विवाहिता इति. रमारमणदशायां एतादृग्रसानुभवो नोभयोरपि सम्भवति, रसस्वरूपस्यैव तादृशत्वादिति भावः. नन्वीश्वरे नेदमुचितमित्यत आह **यथार्भक** इति,

टिप्पणी

दृष्टान्तस्याभासमाहुः **किमनेनेति चेदिति**, स्वामिनीनामेवार्थे अस्या लीलायाः क्रियमाणत्वाद्रमावेशेन रमणेन स्वामिनीनां किं फलं सम्पादितवानित्यर्थः. इयमाशङ्का दृष्टान्तेनापास्यते. तथाहि– यदा यशोदारोहिण्यादिसमक्षं तत्संकोचतः स्वयमाश्लेषाद्यकरणेनात्यार्तानां व्रजसुन्दरीणामार्तिहरणार्थं बालभावव्याजेन तदुरस्सु विविधविहारान् करोति तदैतासां रसरीत्यैव रसपूर्तिरार्तिहरणं च भवति, अन्यासां तु विचित्रबालचेष्टात्वभानेन बाल-लीलारसानुभव एव भवति. एवमिहापि स्वामिनीनां निजरसभावानुरूपएव रसानुभवो रमायास्त्वेतत्प्रसंगेन निजभावानुरूपएव स इत्यर्थः. तथा च दृष्टान्तद्वयमत्र ज्ञेयं– यथार्भको रेमे तथेत्येको, अग्रिमश्चापरः. सान्निध्यात्स एव तथाविधो यथेति. अत्रावृत्ते**नार्भक**पदेन लौकिकः स उच्यते. द्वितीयो दृष्टान्तः पूर्वोक्तप्रकारकएवेत्याचार्यैरत्र नोक्तः. एवं सति रमाप्रवेशतएवात्र रमणयोग्यतेति कश्चिन्मन्येतेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **यद्वे**त्यादि ॥१७॥

प्रकाशः

वदन्तीत्याशयेनाहुः **पक्षान्तरे**त्यादि. अत्राभासार्थकथनेन तद्वैलक्षण्यं बोध्यते, तस्य नियमनायावश्यकत्वाद्, अत्र तदभावादिति. **इयमिति** अनावश्यकत्व-बोधिका. यथा नियमनार्थं तदावश्यकम्, एवं रमाया अपि भक्तत्वेन तदभि-लाषपूर्तिरप्यावश्यकीति तथा करणम्. न च क्लेशो, मुख्यरसपोषार्थत्वादि-त्युक्तमित्याशयेन दृष्टान्तार्थं व्युत्पादयन्ति **तथा ही**त्यादि. एवं व्याख्यान-योरनुपपत्तिं परिहृत्य मूलग्रन्थं स्फुटीकुर्वन्ति **तथा चे**त्यादि. **द्वितीय** इति लौकिकार्भकसम्बन्धी. **एवं सतीति**, उक्तरीत्यापि रमावेशे स्वीकृते सतीत्यर्थः.

लेख

स्वप्रतिबिम्बविभ्रम इतिपदस्यार्थष्टिप्पण्यामावृत्तिकथनेनोक्तः– यथा बालो गृहादिप्रतिबिम्बे सत्यपि स्वप्रतिबिम्बे रमते, तथा भगवानपि लक्ष्मीसमक्षमपि

"सम्मुष्णन् नवनीतमन्तिकमणिस्तम्भे स्वबिम्बोद्गमं दृष्ट्वे"त्यादिवाक्यनिरूपित-मुग्धलीला वान्यथा निरूप्यते, पूर्णज्ञानोऽपि तद्रसस्वरूपस्य तथात्वात्. तथेहापि "रसो वै स" इति श्रुतेरिदं सर्वं रसमध्यपातित्वेन स्वरूपात्मकमेवेति तदुच्यत इति नानुपपत्तिः काचित्, शङ्कायाएवानुदयादिति भावः.) एतेन यथा प्रभुस्तद्भावो वा तथैता एतद्भावोऽपीति ज्ञापितं भवति तथा प्रतिबिम्बस्वभावात्. अत्र रमणं बहूनामप्येकदा भवति द्वयोश्च. अग्रे तु प्रत्येकपर्यवसानं वक्ष्यति ॥१७॥

एवं सर्वभावेन भगवद्धर्मविशे तासां देहादिविस्मरणपूर्वकं महारसाभि-निवेशमाह **तदङ्गेति.**

तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥१८॥

तस्य भगवतः **अङ्गसङ्गेन** यः **प्रकृष्टो मदो** देहादिविस्मारको भाव

प्रकाशः

(सुबोधिन्याम्) नन्वस्मिन्पक्षे आत्मारामत्वस्य कथं समर्थनमित्या-कांक्षायामाहुः **एतेनेत्यादि.** तथा च पूर्वोक्तश्रुत्या रसात्मकत्व-**रसवत्त्वाभ्यां** न स्वरूपभेदः. एवं ताभिरपि न भेदः, तासामपि रसस्वरूपान्तःपातित्वात्, तेजःस्थले किरणप्रवेशेनैव प्रतिबिम्बात्. अतोऽत्रापि दृष्टान्तेनैव पूर्वोक्तरीत्या तत्समर्थनमित्यर्थः. पूर्वत्र रमास्थापनम्, अत्र तु स्वस्थापनमिति विशेषः, अतो न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥१७॥

लेखः

तत्तद्योग्यमेव रसमनुभावयत्यनुभवति चेत्यर्थः. प्रथमपक्षे प्रतिबिम्बाश्रया एताः अस्मिन् पक्षे वक्ष्यमाणपक्षे च प्रतिबिम्बरूपा इत्याशयेनाहुः **एतेन यथा प्रभुरिति.** स्वसामर्थ्यादियोजनप्रकारो नानयोः [१]पक्षयोरिति ज्ञेयम्. **अत्र रमणमिति, बहूनां** प्रमदाजनानामित्यर्थः. रमारमणसमाधानेन यत्र तत्राप्येवं, तत्रैतासां बहुत्वे किमाश्चर्यमिति भावः. नृत्यं प्रत्येकमुक्तं, रमणं समुदायेन. अग्रे तु रमणमपि प्रत्येकं वक्ष्यतीत्यर्थः ॥१७॥

तदङ्गेत्यस्याभासे, भगवद्धर्मावेश इति, स्वरूपानन्दस्य ऐश्वर्यादिधर्माणां चावेश इत्यर्थः. भगवतो धर्माणां चावेश इति समासः. **रसाभिनिवेशमिति,**

१. नास्मिन् पक्षे इति जो. पाठः.

उत्पन्नः तेन **आकुलानीन्द्रियाणि** यासाम्. सर्वा इतिकर्तव्यतामूढा जाताः. ततः **केशपाशं** परिहितदुकूलं **कुचपट्टिकां वा** स्वयम**ञ्जसा** सामस्त्येन **प्रति** सम्मुखतया **विशेषेण वोढुमलं न** जाताः पुनरल्पेनैव तथाविधा जाता इत्यत्र हेतुमाह **व्रजस्त्रिय** इति. श्रमोऽपि जात इत्याह **विस्रस्तमालाभरणा** इति, आकुलेन्द्रियत्वान्न विचारो लौकिकः, गोपिकात्वान्न पारमार्थिकः, [१]श्रमान्न दैहिकः; अत आद्यन्तमध्येषु तासु युक्ता भगवतैव धृताः न ताभिरित्यर्थः. यद्यप्यन्यप्रतीत्या ध्रियमाणा इव तथापि न स्वतो धारणम्. **कुरूद्वहे**ति सम्बोधनमभ्रमाय विश्वासार्थं च ॥१८॥

एवं समुदायलीलां निरूप्य तस्याः परिज्ञानं केषामपि न जातमिति वक्तुं देवस्त्रीणां चन्द्रस्य च विस्मयमाह **कृष्णे**ति.

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः ।
[२]कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥१९॥

नहि कस्याश्चित् पतिः परमानन्दो भवति. नहि निरानन्देनानन्दो दातुं शक्यते, "एष ह्येवानन्दयाती"ति श्रुतेः 'एव'कारेणेतरनिषेधश्च. तत्रापि

लेखः

महारसाभिनिवेशनव्यापारजनितं फलमाहेत्यर्थः. व्याख्याने, **विशेषेण वोढुमि**ति विवोढुम्. 'वोढुमि'ति, वकारस्य छान्दसो लोपस्ततो यण्, व्योढुम्. **पुनरल्पेनैवे**ति. "गायन्त्यस्तं विजह्रिरे" इत्यत्र नृत्यादिविरामकथनेन तत्स्वभाव-प्राप्तमाकुलेन्द्रियत्वादिकमप्युक्तमेव. "कर्णोत्पलालके"त्यनेन पुनर्भावोद्बोधे "एवमि"ति श्लोकेन विहार उक्तः. अत्राल्पेनैव विहारेण पुनराकुलेन्द्रियत्वादिकं जातं तत्र व्रजस्त्रीत्वेन विशुद्धभाववत्त्वं हेतुरित्यर्थः. **लौकिक** इति, आदि-विचारो लौकिकः, परिधानीयाभावे लोकेभ्यस्त्रपासंभवात्. अन्तविचारः पारमार्थिकः, केशविश्लेषे परमार्थे दोषसम्भवात्. मध्यविचारो दैहिकः, कुच-पट्टिकाभावेऽवयवयोरन्यथाभावात्. अत्र हेतवः क्रमेण– इन्द्रियाणां रसोन्मुख-त्वात्, गोपिकात्वेन प्रमेयमार्गीयत्वात्, **श्रमाच्चे**ति. **गोपिकात्वादिति– व्रज-स्त्रिय** इत्यस्यैवार्थोऽयम्. इदमेवोपसंहारव्याजेनाहुः **आद्यन्तमध्येष्वि**ति ॥१८॥

कृष्णेत्यस्याभासे **केषामपी**ति, गन्धर्वादीनां तु दर्शनमेव न, स्त्रीणां चन्द्रस्य च विस्मयः, अतः केषामपि न जातमित्यर्थः. व्याख्याने, **निरानन्देने**ति निर्गत आनन्द आनन्दत्वं यस्मात्तादृशेन. सच्चिदानन्दानां

१. श्रमाच्चेति टीकापाठः. २. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथम परिशिष्टे.

विशेषेण क्रीडा, नहि जीवो विशेषक्रीडां जानाति. **खेचराणां स्त्रिय** इति तासां सर्वदर्शनार्थं भगवद्दत्तो वरो निरूपितः; स्त्रीणां च दर्शनं न दोषाय. तासां मोह एवोत्पन्नो न तु परिज्ञानं रसो वा. लौकिकोऽपि चन्द्रो दृष्टवान्, सोमात्मकत्वाद् देहस्य, "सोमः प्रथम" इति श्रुतेश्च. साधारण्यश्च स्त्रियः. तथापि तस्य दर्शनं तस्यैव हितकारि न भवतीति निरूपयितुमाह **शशाङ्क**

लेखः

सत्ताज्ञानानन्दा धर्मा इत्यानन्दस्यानन्दत्वरूपत्वा**दानन्द**-पदमेवोक्तम्. तथा चानन्दव्यतिरिक्तेनेत्यर्थः. आनन्दस्यैवानन्ददातृत्वे प्रमाणमाहुः **एष ह्येवेति**, आनन्द एवेत्यर्थः. **तत्रापीति** क्रीडायामपीत्यर्थः. **वीक्ष्येति** गौणक्रियां विवृण्वन्ति **चन्द्रो दृष्टवानिति**. दोषाभावार्थमाहुः **सोमात्मकत्वादिति**, अलौकिकचन्द्रस्य भगवद्भावात्मकत्वमिव, एतस्य स्वामिनीभावात्मकत्वम्. अतः स्वामिनीदेहस्य सोम आत्मनियतस्य तादृशत्वम्. अत एतस्याध्यात्मिक-रूपेण देहएव विद्यमानत्वात्तद्दर्शने न दोष इति भावः. "लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि"तिन्यायानुसारार्थमाहुः **सोम** इति, "सोमः प्रथमो विविदे" इति श्रुतेस्तस्य पूर्वमपि भोक्तृत्वाददोष इत्यर्थः. एतस्य स्वामिनीभावरूपत्वाददोषः. **साधारण्यश्चेति**, खेचरस्त्रियोऽपि दृष्टवत्य इत्यर्थः. **तथापीति** दर्शनेऽपीत्यर्थः.

योजना

कृष्णविक्रीडितमित्यस्य विवृतौ **लौकिकोऽपि चन्द्रो दृष्टवान् सोमात्मकत्वाद् देहस्येति**, **शशाङ्क**पदेन लौकिकश्चन्द्रएवायातीति तेन चन्द्रेण दर्शनं कृतमित्यर्थः. ननु रासक्रीडायां समागतानां रमणीनां दर्शने सोमस्य दोष उत्पद्यते, तत्कथं दृष्टवानित्याशङ्क्य दोषाभावे कारणमाहुः **सोमात्मकत्वा-द्देहस्येति**, "अग्निषोमात्मकं जगदि"ति श्रुतिसम्मतत्वाद्देहस्य सोमात्मकत्वेन स्वाभिन्नत्वात्तद्दर्शनं न दोषजनकमित्यर्थः. ननु व्रजसुन्दरीणां देहस्यालौकिकत्वा-त्कथं सोमात्मकत्वमित्याशङ्क्य समादधते **साधारण्यश्च स्त्रिय** इति. **चकारो** 'अपि'शब्दार्थः, गोपिकाभ्यो भिन्नाः **साधारण्यो**ऽपि **स्त्रियः** रासे समागता इत्यर्थः. इह भगवदेकभोग्याः कृष्णवध्वो व्रजरमण्यएव रासे समागताः रासक्रीडारूपपूर्णफलसिद्ध्यर्थम्. रासदर्शनार्थं तु बह्व्योऽङ्गनाः साधारण्योऽपि समागताः. अतएव ब्रह्मवैवर्ते रासक्रीडायां बह्वीनां गोपिकेतरवधूटीनां समागमनं निरूपितमतः साधारणीनां गोपवधूनां दर्शनं चन्द्रस्य न दोषावहं, तासां देहस्य लौकिकत्वेन सोमात्मकत्वात्. **निसर्गात्सुखमितिपक्ष** इति.

इति. स हि कलङ्की, आनन्दमयोऽपि. **सगणो** नक्षत्रसहितः. तेनोद्दीपनेऽपि **न** तस्यान्यासु चित्तसम्भवः. **चकारात्** सोऽपि मुमुहे. *यथा* पुनरेताः मोहनानन्तरं पुनःपुनर्दर्शने उद्बुद्धकामा जाताः, "गत्वास्माभिरपि कामरूपतया क्रीडा कर्तव्ये"ति **कामार्दिता** जाताः, तथा चन्द्रोऽपि भगवति निवेशनार्थं यत्नं कृतवान् अतः कामार्दितो जातः. अनेनाग्रे निसर्गात् सुखमिति पक्षे

टिप्पणी

कामार्दिता शशाङ्कश्चेत्यत्र, एकस्मिन् वाक्य उक्तयावद्धर्मविशिष्टेन येन समं यस्योक्तस्यानुक्तस्योभयोर्वा समुच्चयस्तस्य तयोर्वा तावद्धर्मवत्त्वमावश्यकमिति चन्द्रेऽपि कामार्दितत्वं चकारेण बोध्यते. तत्रैतस्मिन्वाक्येऽनुक्तोऽकलङ्कश्चन्द्रोऽप्यनेन समुच्चीयत इत्याहुः **आनन्दमयोऽपीति**. अग्रे लौकिकेन्दोर्निरूपणम्. उक्तसमुच्चितमर्थमाहुः **चकारादित्यारभ्य तथा चन्द्रोऽपीत्यन्तेन**. **भगवति निवेशनार्थमित्यारभ्य जात** इत्यन्तेनालौकिकस्येन्दोः कथनम्. अन्यथा **तथा चन्द्रोऽपी**त्यतिदेशेनैव कामार्दितत्वं प्राप्तमेवेति पुनर्नोक्तं स्यात्. अत्रैवं निरूपणे नियामकमाहुः **अनेनाग्र** इत्यादिना.

लेखः

तस्यैवेति, भगवतो दोषाभावेऽपि तस्यैव तथेत्येवकारः. **तस्य हितं** स्वामिनी-प्राधान्येन रमणं, तदधुना अलौकिकप्रकारकरमणेन सम्पन्नम्. आतिदेशिक-लौकिकरमणे तु नायिकाचरणप्रणिपातादिकं वक्ष्यत्येवेति भावः. **स हि कलङ्कीति**, "आनन्दादयः प्रधानस्ये"तिन्यायेन भगवतः सकाशादानन्दमभि-काङ्क्षते स्वामिनीभावरूपत्वात्, न तु स्वतएव पूर्ण इत्यर्थः. अतः पूर्वोक्त-स्वहिताकाङ्क्षा स्थितैवेति भावः. **आनन्दमयोऽपीति** दृष्टवानिति शेषः. लौकिकं चन्द्रमाहुः **सगण** इति. **चकारात् सोऽपीति** लौकिक इत्यर्थः. खेचरस्त्रीषु लौकिकचन्द्रे च **कामार्दित**पदार्थस्तुल्य एवेत्याहुः **यथेति**. चन्द्रस्य तद्भावरूपत्वात् तासामिवाभिलाष उचित इति भावः. अलौकिकचन्द्रे कामार्दितत्वं भिन्नमाहुः **भगवतीति**, पूर्वोक्तयोर्भगवद्विषयक-कामार्दितत्वम्,

योजना

"सिषेवात्मन्यवरुद्धसौरत" इति वक्ष्यमाणवाक्योक्तपक्षे त्वलौकिक्येव रीतिः, न तु लोकानुसारिणी. **निसर्गात्सुखमिति** लोकानुसारिणि **पक्षे** चन्द्रस्य भगवद्रेतोरूपत्वाच्चन्द्रस्य भगवति प्रवेशे निसर्गपक्षे **उपपत्तिरुक्ते**त्यर्थः ॥१९॥

उपपत्तिरुक्ता– अस्यैव चन्द्रस्य अंशास्ततो निवर्तिष्यन्त इति. अन्यथा "सहस्रवणान्मुक्तिरि"[१]त्येतत्सूत्रं विरुध्येत, सहस्रवणाभावात्. किञ्च, **सगणः** स्वस्त्रीसहितोऽपि **विस्मितो** जातः, विस्मयरस एवोत्पन्नो नान्यो रस इति ॥१९॥

एवमाधिभौतिकानामाधिदैविकस्य च भगवदुत्पादितरसाभिनिवेश-मुक्त्वा "नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुर्वि"ति प्रत्येकप्रार्थनया व्रतं कृतमिति प्रत्येकं रेम इत्याह **कृत्वेति.**

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।
रेमे स भगवाँस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥२०॥

गोपजातीया योषितो यावत्यस्तावन्तमात्मानं कृत्वा तत्र तत्र मायोद्घाटनेन तथा तथा प्रकटो भवति– एतन्महासौरतम्. एवं करणे

टिप्पणी

अत्रेदमाकूतम्– "एवं परिष्वङ्गे"त्यादिना रसशास्त्रोक्तरीत्या रमणोक्त्या सहस्रवणादिकमपि प्राप्तमेव भवति, तस्य तावद्रूपत्वात्, परन्त्वखण्डरूपे भगवति स्वबुद्ध्या तन्नोपपादयितुं शक्यत इति गोप्यत्वाच्च प्रकटं न वक्तुं शक्यमित्यनेन प्रकारेण शुकदेवैर्ज्ञापितमित्याचार्यैस्तथाऽगादि. सोमस्य रेतोरूपत्वं श्रुतिसिद्धमिति नानुपपत्तिः काचिदंशनिवर्तन इति दिक्. ननु स्वरूपस्य रसात्मकत्वेनैव सर्वमुपपत्स्यत इति किमेतत्प्रवेशेनेति चेत्, मैवम्, अस्य रेतोरूपत्वात्तस्य चाध्यात्मिकरूपत्वेन स्वरूपान्तर्गतत्वात्तेन रूपेण प्रवेश-स्यावश्यकत्वात्. न च तस्य तत्रैव स्थितेर्नेदं साधीय इति वाच्यं, प्रकारबो-धनपरत्वादस्य लीलायाः. अन्यथा तमिस्रायामियं लीला न स्यादिति ॥१९॥

लेखः

एतस्य कामिनीविषयक-कामार्दितत्वमिति भेदः. **उपपत्तिरिति**, निसर्गे चन्द्रांशनिवर्तनरूपोपपत्तिरित्यर्थः. **अन्यथेति** निसर्गाभावे इत्यर्थः ॥१९॥

आधिभौतिकानामिति, स्वामिनीदेहाधिष्ठितानां चन्द्रात्मकभावाना-मित्यर्थः. **आधिदैविकस्येति**, अलौकिकचन्द्रस्य भगवद्भावरूपस्येत्यर्थः. **भगव-दुत्पादितेति**, भगवतोत्पादितो यः कामरसः तत्राभिनिवेशस्तदर्दितत्वमित्यर्थः. तथा चोभयोरुदितभावत्वमग्रिमश्लोकोक्तरमणे हेतुरिति भावः.

१. अत्र "सहस्रदर्शनाद्" इति पाठस्तु प्रामादिक एवेति संशोधितः (सम्पा.).

सामर्थ्यं यतः **स भगवानिति**, **स** इति तदर्थमेवावतीर्णः. अत्र तासां व्रतार्थं **ताभिः** सहैव **रेमे**, न त्वात्मारामता पूर्ववत्. इममर्थमाह **आत्मारामोऽपीति**. न त्वात्मारामएव चन्द्रप्रवेशाद् रमणं सम्भवति. अस्यामपि दशायामात्मारामत्वमेव. "अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिरि"ति. तत्रापि आत्मरमण एव मुख्यतेत्याह **लीलयेति**. यथा महानपि लीलया विसदृशं करोति, स्वयं पदातिरिव मृगयायां गच्छति, यथा अन्या अपि अवतारलीलाः, तथैतामपि कृतवानित्यर्थः ॥२०॥

ततस्तासां सुरतान्तो जात इत्याह **तासामिति**.

तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः ।

प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ॥२१॥

अतिविहारेणानेकबन्धैः सम्यक् श्रान्ता जाताः. ततोऽग्रिमलीलार्थं **तासां वदनानि** स्वहस्तेन **प्रामृजत्**. यतः **स** कृष्णः तदर्थमेवावतीर्णः. सर्वत्रैव तथाविधं जातमिति ज्ञापयितुं बहुवचनम्. तथा करणे हेतुः **करुण** इति, करुणायुक्तः. सा करुणा उदासीना न भवतीत्याह **प्रेम्णेति**. मार्जने क्लेश

टिप्पणी

आत्मारामोऽपि लीलयेत्यत्र चन्द्रप्रवेशादिति, रेतःपोषस्य भावपोषकत्वादिति भावः. **अस्यामपि दशायामिति**, प्रमाणसिद्धत्वेनोभयोरत्र विरोधाभावादिति भावः. एतद्विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमस्माभिः. वस्तुतस्तु लीला स्वरूपात्मिकेति तन्मध्यपातिन्योऽपि तथैवेत्यात्मरमणमेवात्रापीत्याशयेनाहुः **तत्रापि आत्मरमणएवेति**. अतएवाग्रे वक्ष्यति "गोपीनां तत्पतीनां चे"ति श्लोकम्. **लीलापदध्वनितमर्थमाहुः यथा महानपीत्यादिना**. ईश्वरोऽपि सन्नायिकाप्राधान्येन स्वस्य गौणभावेन रेमे, तस्य रसस्य तथात्वादित्यर्थः ॥२०॥

लेखः

कृत्वेत्यत्र, कुमारिकासु गोपसम्बन्धि-योषित्त्वं नास्तीत्यत आहुः **गोपजातीया** इति. तथा च गोपरूपा योषित इत्यर्थः. **ताभिः सहैवेति**, पूर्वाध्याये तु गोपीरेवारमयत् स्वयं त्वात्मारामएवेत्युक्तम्, अत्र ताभिः सहैव न तु भिन्नस्थित्येत्येवकारः. अधुना स्वप्राधान्येन स्वेच्छया रमणे हेतुमाहुः **चन्द्रप्रवेशादिति** ॥२०॥

एव निवर्तत इति ज्ञापयितुं **शन्तमेने**त्युक्तम्. अङ्गेति सम्बोधनमप्रतारणाय. एवं तासां दुःखनिवारणपूर्वकं परमानन्दं स्थापितवान् ॥२१॥

ततोऽतिमुदितानां कृत्यमाह **गोप्य** इति.

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्-गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन ।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥२२॥

गोप्यो मानं दधत्यः तत्**कृतानि जगुः**. गाने हि रजोगुणाभिनिवेशो हेतुः. तदर्थं सहजमेकं भगवत्कृतं च हेतुद्वयमाह. तत्र प्रथमं सहजं निरूपयति— **स्फुरत्** **पुरटं** सुवर्णं दाहोत्तीर्णमुज्ज्वलीकृतं च तस्य ये **कुण्डले कुन्तलाश्च** तेषां **त्विषा** सहिता या **गण्डश्रीः**, उज्ज्वला गण्डश्रीः, पीता वा;

टिप्पणी

गोप्यः स्फुरदित्यत्र **गाने ही**ति, एवमत्र ज्ञेयं— पूर्वश्लोकेन हि स्वाधीनभर्तृकात्वमुक्तम्, अस्मिन्नपि कुण्डलकुन्तलगण्डशोभा प्रियकरकमल-सम्पादितैव. अतएवास्या मानधारणे हेतुत्वम्. स्वनिष्ठत्वेन सहजत्वमस्य. एवं सत्युत्साहविशेषो यो गानजनकः स **रजोगुण**शब्देनोच्यते. तथा च पूर्वं मानेन दुःखमभूदिति तादृशत्वाभावाय गुणगानमिति. अत्रैव **मूलभूतगुणे**ति,

प्रकाशः

प्रामृजदित्यत्र **क्लेशएव निवर्तते** इति, **क्लेशो निवर्ततएवे**त्येवं योजना ॥२१॥

लेखः

तासामित्यत्र **क्लेशएवे**ति. लोके मार्जनेन **क्लेशएव निवर्तते** न त्वधिकसुखप्राप्ति**रिति** हेतोरत्र द्वयं स्थापयितुं **शन्तम**पदमित्यर्थः. इदमेवोपसंहारव्याजेनाहुः **एवमिति** ॥२१॥

गोप्य इत्यत्र, **सहजमेकमि**ति, एकं सहजमेकं भगवत्कृतमेवं **हेतुद्वयमि**त्यर्थः. **उज्ज्वला नीला चेतर** इति, कुण्डलश्रीरुज्ज्वला तत्र हीरका-दिकान्त्येति भावः, कुन्तलश्रीर्नीलेत्यर्थः. कान्तीनां भगवच्चातुर्यकार्यत्वमुप-

योजना

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलेत्यस्य विवृतौ **उज्ज्वला गण्डश्रीः पीता वे**ति, व्रजसीमन्तिनीषु काश्चित्तडिद्गौर्यस्तासां गण्डश्रीः उज्ज्वला, काश्चिच्चम्पककोर-कवत्पीतास्तासां गण्डश्रीः पीतेत्यर्थः. **उज्ज्वला नीला चेतरे** इति, कुण्डलश्री-

उज्ज्वला नीला चेतरे. एवं कान्तित्रयं मूलभूतगुणकार्यरूपम्. तेनासां सर्वोत्कर्षयोग्यता. **सुधितं** सुधामिव प्राप्तं **यद्धासपूर्वकं निरीक्षणम्.** अत्राप्यन्तःस्थितो रागः निरीक्षणं हासश्चेति त्रितयमुक्तम्. भगवदीयमेतत्. अत उभाभ्यां **सम्माननमभिमानं** वा **दधत्यः** स्वहृदयकृतविपरीतबुद्ध्या जातदोषनिराकरणार्थं **तत्कृतानि जगुः**. तेषां न केवलं पापनिवर्तकत्वं किन्तु पुण्यरूपत्वमपीत्याह **पुण्यानीति**. भगवता **कृतानि** पापनिवर्तकानि पुण्यजनकानि च, अतस्तासां दोषाभावो अग्रिमलीलायां पुण्योपचयश्चोक्तः. पूर्वक्लेश-विस्मरणार्थमानन्दाविर्भावमाह **तस्य** भगवतः **कररुहा** नखाः, तेषां **स्पर्शेन** जातपीडया स्मृतसम्भोगाः **प्रमुदिताः** जाताः. अन्तःपूर्णानन्दा गानेनापि जाता इति अन्ते विशेषणम् ॥२२॥

ततस्ताभिस्तुल्याभिर्भगवान् जलक्रीडां कृतवानित्याह **ताभिर्युत** इति.

टिप्पणी

भगवच्चातुर्यकार्यमित्यर्थः. गानजः पुष्टो भावविशेषोऽलौकिकेष्टसाधकत्वेन **पुण्यपदेनोच्यते** ॥२२॥

ताभिर्युत इत्यस्याभासे **तुल्याभिरिति**, निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भावैरानन्दा-त्मकत्वेन च तुल्याभिरित्यर्थः. अतएव प्रतिषेकः सम्पत्स्यते. रमणं जलस्थल-

लेखः

पादयन्ति **तेनासामिति**, **आसां** कान्तीनाम् **सर्वोत्कर्षे** मानसम्पादने **योग्यता** मानधारणहेतुत्वमित्यर्थः. **विपरीतबुद्ध्येति**, सर्वत आधिक्यज्ञानेन जातमान-निवृत्त्यर्थमित्यर्थः. **पापनिवर्तकत्वमिति** अभिमाननिवर्तकत्वमित्यर्थः. [1]**पुण्यरूपत्वमिति** टिप्पण्युक्तपुण्यजनकत्वमित्यर्थः.[1] मूले **पुण्यानि** पुण्यजनकानीत्यर्थः. **पूर्वक्लेशेति**, **शन्तमपदसूचितसुखजनने** क्लेशनिवृत्तिरुक्ता न तु विस्मरणम्, अनेनानन्देन विस्मृतिरुच्यते इत्यर्थः ॥२२॥

योजना

रुज्ज्वला कुन्तलश्रीर्नीलेत्यर्थः. **मूलभूतगुणकार्यमिति**, सर्वस्य कार्यमात्रस्य मूलभूता मुख्यकारणभूता ये भगवद्गुणा भगवच्चातुर्यादयस्तेषां कार्यभूतमित्यर्थः. इदं कान्तित्रयं भगवता स्वचातुर्येणैव निर्मितं, नत्वस्यान्यः कोऽपि कर्तेति भावः ॥२२॥

१. इयं पंक्तिः जो. पाठे अधिका.

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-
घृष्टस्रजः स्वकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः ।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः
श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥२३॥

ताभिः सर्वाभिरेव **युतः** महारात्रसमये यमुनायां जलक्रीडार्थं प्रविष्टः. तत्र प्रयोजनं **श्रममपोहितुमि**ति, तासां सर्वाङ्गश्रमं जलक्रीडयैव दूरीकुर्वन्. भगवतस्ताभिः सह गमने जायमानां शोभां वर्णयति **स्रजः गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत** इति. यमुनाया वा विशेषणानि. गन्धर्वाणां रक्षकाः **गन्धर्वपाः** गन्धर्वोत्तमाः, ते च ते **अलयश्च**, तैर**नुद्रुतः** सङ्गे शीघ्रं गतो **वाः आविशत्.** आमोदस्य निवारणार्थं च तथाकरणम्. सम्भोगेन श्रमोदके पद्मिनीनां कमलरूपो गन्धो भवति. तदुपरोधेन च **द्रुत**पदविन्यास इत्यनुद्रवणम्. ते च भ्रमरा भगवदीया एवेत्याह— **अङ्ग्योः सङ्गेन घृष्टा** या **स्रक्** तस्यास्ते. यस्यां वा **स्रक्** तादृशी. **स्वा** चासौ **कुचकुङ्कुमरञ्जिता** च. भगवतएव माला. कालिन्दी च कुचकुङ्कुमै रञ्जिता. तत्र देहामोदः पुष्पामोदः कुङ्कुमामोदश्चेति स्वकीयत्वेनासाधारण्यं च. आधिदैविकास्ते भ्रमरास्तद्गन्धभोक्तार इति विशेषणं **गन्धर्वपे**ति. **श्रान्त इभराडिवे**ति अविचारे हेतुः. **श्रान्त** इति विशेषणं लीलया

टिप्पणी

भेदेन द्विविधम्. तच्च पूर्णरात्रिसाध्यम्. तत्रैकस्य पूर्तावितरस्यारम्भ इति **महारात्रसमय** इत्युक्तम् ॥२३॥

लेखः

ताभिर्युत इत्यत्र, **सर्वाङ्गश्रममि**ति [१]अधुना क्रीडायां पुनः प्राप्तमिति शेषः[१]. क्लेशनिवर्तनेऽपि क्वचित् क्वचित् स्थितं श्रमोदकं **दूरीकुर्वन्** मार्जयन्निवार्थः. **जलक्रीडयैवे**ति न तु पूर्ववन्मार्जनेनेत्येवकारः. **आमोदस्ये**ति, सम्भोगसूचकस्य प्रातः स्थापयितुमशक्यत्वादिति भावः. **च**काराच्छ्रमनिवृत्त्यर्थं **तथाकरणं** जलक्रीडाकरणमित्यर्थः. आमोदस्य भोगसूचकत्वमाहुः **सम्भोगेने**ति. **तदुपरोधेन चे**ति, भ्रमरोपरोधेन **च**कारात् स्वामिन्युपरोधेनेत्यर्थः. **स्व**पदस्य भगवद्वाचकत्वात् षष्ठीसमासानुपपत्त्या कर्मधारयमाहुः **स्वा चासावि**ति. **तत्रे**ति मालायामित्यर्थः. **स्रज** इत्यन्तस्य यमुनाविशेषणत्वपक्षेऽप्यलीनां

---

१. अधुनेत्यारभ्य शेष इत्यन्तोंऽशो जो. पाठे अधिकः.

गमनार्थम्. प्रत्येकसम्भोगावधि भगवतोऽन्यो भावो निरूपित इति तदपगमात् श्रमलीलाप्याविष्कृता. **गजीभिरित्यन्यश्रमो** निवारितः. **सेतवो** बध्यन्ते जलरक्षार्थं, ते सर्वे **भिन्नाः** तादृशगजेन भवन्ति. भगवतापि ब्रह्ममर्यादा आत्मारामत्वरूपा जीवानां च मर्यादा तथा सति निवृत्ता कामरूपस्पर्शात् परदाराणामभिमर्षणाच्च. [1]पूर्वं तासां भगवत्स्पर्शएव स्थितो, न तु भगवता

लेखः

मालासम्बन्धित्वबोधनाय **गन्धर्वपे**ति विशेषणमित्याहुः **आधिदैविकास्ते** इति. **आधिदैविका** अन्तरङ्गलीलास्थास्**तद्गन्धभोक्तारः** सम्भोगजनित-वनमाला-दिव्यगन्धभोक्तार इत्यर्थः. **गन्धर्वपा** गायकश्रेष्ठा अन्तरङ्गलीलासमयेऽपि स्थित्वा गानं कर्तुं योग्या इत्यर्थः. **अन्यो भाव** इति उपरिचन्द्रस्थापनरूपो भाव इत्यर्थः. **तदपगमात्.** चन्द्रांशनिवर्तनादित्यर्थः. **कामरूपस्पर्शादि**ति, **कामात्मकं** पुरुषोत्तमस्वरूपम् "अत्रैव लोके प्रकटमि"ति कारिकोक्तः कामस्तेन **स्पर्शस्तासां** भोग इति यावत्, तेनात्मारामत्वं निवृत्तं, परदारास्पर्शाज्जीवमर्यादा, नम्रतया दास्यकरणरूपा, निवृत्तेत्यर्थः. स्वीयानां तु तावानधिकारो दत्तएव भवतीति **परे**त्युक्तम्. वस्तुतः परत्वस्य दूषितत्वेऽपि रसार्थं परकीयात्वं स्थापयित्वैव लीलाकरणादिति भावः. ननु रमणं तु पूर्वमप्युक्तमेवेत्याशङ्क्य पूर्वाध्यायैतदध्यायरमणयोः विशेषमाहुः **पूर्वमि**ति, पूर्वाध्याये तत्कर्तृकएव भगवत्स्पर्शः, "इति विक्लवितमि"त्यस्य टिप्पण्यां "सदयं रेमे" इत्यन्वये[2] तदनुरोधेनैव रमणनिरूपणात्. तत्र हेतुः

योजना

ताभिर्युत इत्यस्य विवृतौ **भगवतापि ब्रह्ममर्यादा आत्मारामत्वरूपे**ति, **ब्रह्ममर्यादा** अविकृतत्वरूपमयदित्यर्थः. शृङ्गाररसात्मकानेकविकाराणां भगवत्या-विर्भावाद् **ब्रह्ममर्यादा निवृत्ता** तिरोहितेत्यर्थः. **आत्मारामत्वरूपे**ति. यावद्रसे-ऽत्यन्तपुष्टत्वं न जातं तावद्भगवता व्रजवामलोचनाः स्वाभिन्नत्वेनैव ज्ञाताः, ताभिः क्रीडा च कृतेति आत्मारामत्वमेव स्थितम्. यदा पुनरत्यन्तपोषः शृङ्गाररसस्याभूत् तदा ज्ञानांशस्य तिरोभावात् केवलानन्दांशस्यैवाविर्भावा-दात्मत्वस्फूर्तिरपि व्रजसुन्दरीषु नाभूत् किन्तु नायिकाभावस्फूर्तिरेवेत्यात्मारामत्व-मर्यादापि **निवृत्ता** तिरोहितेत्यर्थः. **देशकालमर्यादा चे**ति, **देश**शब्देन

१. अत्र स्वतन्त्रव्याख्यानं प्रथम परिशिष्टे. २. अन्वयेन इति जो. पाठः.

ताः स्पृष्टा इति, कामाभावात्. देशकालमर्यादा च भग्ना. अतो हस्तिश्रेष्ठ

प्रकाशः

सोम्भसीत्यत्र, पूर्वं तासामित्यादि, अत्र श्रीहरिरायाः– अयं भावो– अध्यायचतुष्टयलीलायां यद्यपि भगवत्स्पर्शोऽस्ति, तथा"प्यात्मारामोऽप्यरीरमत्" "रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽपि" "तासामाविरभूत्" "काचित्कराम्बुजमि"त्यादिवाक्यैस्तासामिच्छयैव भगवता रमणं कृतं, न स्वार्थं स्वयावत्सामर्थ्यप्रकटनेन. अतएव "त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदमि"ति तत्र न निरूपितं किन्त्वेतल्लीलोपक्रम एव निरूपितम्. अतएवाचार्यैरेतदध्यायारम्भे "स्वानन्दार्थमितीर्यत" इत्युक्तम्. तथा च पूर्वाध्यायेषु रमणसत्त्वेऽपि श्रमलीला नाविरभूत्. इह तु स्वेच्छया सर्वं कृतमिति लौकिकसजातीयकामभावः सुरतान्तश्च जातः. तथा च लौकिकसरूपभावे जाते यथात्मारामत्वादिमर्यादा भग्ना तथा देशकालमर्यादापि भग्ना; देशो रसानुभवदेशः, कालो रसावष्टम्भकालः. अतएव तथाभूतः सन् जलक्रीडार्थं जले प्रविष्ट इत्यर्थ इति.

मम तु प्रतिभाति– गजदृष्टान्तभिन्नसेतुत्वयोरितः पूर्वलीलाया-मनुक्तत्वात्तत्रात्मारामत्व-भक्तविक्लवयोरनुसन्धानपूर्वकमेव तत्करणम्. अव्यवहितपूर्वायां तु दृष्टान्तविशेषणाभ्यां तदभावो बोध्यते. ततएव लोकतौल्यप्राप्त्या राज्ञोऽपि धर्मसेतुभङ्गसन्देहादत्र प्रश्नः. वस्तुतस्त्वत्र दृष्टान्तेन पूर्वं 'लीलये'ति प्रयोगाच्च ब्रह्मधर्मादिभञ्जनेऽप्यायासाभावो बोध्यते,

लेखः

कामाभावादिति, कामो न विद्यते इति तत्र निरूपणात्. अध्यायकारिकायामत्र तु कामनिरूपणाद्भगवता यथेच्छं भोग इति विशेष इत्यर्थः. **देशे**ति, तत्तदवयवे तथा तथा चुम्बनदंशादिना भोग इति रसानुभवदेशमर्यादा. प्रतिपदादिषु तथा तथा बन्धादिकं कर्तव्यमिति रूपा "पद्मिनी तुर्ययामे" इति रूपा च कालमर्यादेत्यर्थः. **च**कारात् पूर्वोक्ता ब्रह्ममर्यादापि. **आविशदित्याङो**ऽर्थमाहुः **जलदेवतां दूरीकृत्ये**ति ॥२३॥

योजना

स्वामिनीनामवयवा. रसशास्त्रे सर्वत्र तत्र तत्र स्पर्शादयो वर्णिताः; **तन्मर्यादा** निवर्तिता, यथेच्छं स्पर्शादिविधानात्. अस्मिन् प्रहरे एवम् इयं नायिका तोषणीयेति **कालमर्यादा**पि दूरीकृता, यथेच्छं क्रीडायाः कृतत्वादित्यर्थः ॥२३॥

इव जलक्रीडार्थं जलदेवतां दूरीकृत्य स्वयं तत्र प्रविष्ट इत्यर्थः ॥२३॥

तत्र जलक्रीडां च कृतवानित्याह **स** इति.

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग ।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरात्तगजेन्द्रलीलः ॥२४॥

स पूर्वोक्तः स्त्रीसहितो **अम्भसि अलं युवतिभिः परिषिच्यमानो** जातः, ततः **प्रेम्णा ईक्षितश्च. प्रहसतीभिः** कौतुकाभिनिविष्टाभिः **इतस्ततः सिच्यमानो,** यदभिमुखमेव व्रजति तयैव सह **रेमे** इति. एवं सर्वाभिः. यथा स्वयं माहात्म्यज्ञानपूर्वकं निर्भरस्नेहेन निर्दोषभावेन वदति शुकः तथैव राजापि शृणोतीति ज्ञात्वा स्नेहेन स्वमध्यपातित्वं सूचयन् सम्बोधयति **अङ्गे**ति, अतएव तुभ्यमिमां लीलां वदामीति भावः. ननु देवैः कथं न

टिप्पणी

वैमानिकैरित्यस्याभासः, ननु देवैरिति, अविचारमत्यर्थं बहुभिरेकदा कृतः परिषेको लोके व्याकुलतासम्पादको दृष्ट इत्यत्रापि तथा सम्भावनयान्तरङ्गभक्तैः स्वामिनीषु शनैः परिषेकः कार्यो नैवमिति विज्ञप्तिः कथं न कृतेत्यर्थः. अन्यस्य भक्तस्यापि तदा दर्शनं दुर्लभं, परन्तु पूर्वं "विमानशतसंकुलमि"त्युक्तमिति तत्स्थितानां दर्शनं सम्भाव्यते. तेषां तु प्रभुलीलोपयोगिमण्डपस्थितिलक्षण-सम्बन्धेनैव जनितानन्देन भगवदिच्छया पुष्पवृष्टिस्तुतिरसाभिनिवेशएव भवति, न तु दर्शनमपीति भावः. यद्यपि दर्शनेऽपि तैर्न

प्रकाशः

अक्लिष्टकर्मत्वाय. अतएव भङ्गेऽप्यभङ्गश्च. ततश्च निरङ्कुशमात्मतन्त्रत्वं समर्थ्यते, अन्यथा स्वधर्माधीनस्वातन्त्र्यं भज्येत. देशकालाभ्यां रसस्यानुभवेऽवष्टम्भे च तदधीनतायां ब्रह्मरूपत्वं तस्य भज्येत. अतस्तदुभयनिवृत्त्यर्थं[१] देशकालमर्यादाभङ्गः. तेन मर्यादान्तरभङ्गमाहुः **अत** इत्यादि ॥२३॥

लेखः

क्रीडां चेति प्रवेशमादाय **च**कारः.

---

१. अतोऽस्य तदुभयनिवृत्त्यर्थम् इति मुं. वि. पाठः.

निषिध्यते तत्राह **कुसुमवर्षिभिर्वैमानिकैरीड्यमान** इति, सर्वे देवा अभिनन्दनमेव कुर्वन्ति न तु निवारणमिति, अन्यथा लोके कामरसो न व्यक्तो भवेदिति. **युवत्य** इत्यविचारे. परिषेके वीररसो भवत्विति **प्रेम्णैव ईक्षितः. स्वयमिति** पदेन बलात्कारेणापि तथेति सूच्यते. तदापि **स्वस्मिन्नेव. रतिर्यस्य** परं स्वीकृता **गजेन्द्रलीला** येन. यथायथा जलेनोक्षणं तथातथा सुखमिति गजदृष्टान्तः. महासौरतं च ॥२४॥

ततः पुष्पावचयक्रीडामाह.

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल-प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥२५॥

तत इति, जलक्रीडानन्तरं **कृष्णायाः** यमुनाया **उपवने जलस्थलप्रसूनानां**

टिप्पणी

किञ्चिद्वक्तुं शक्यं, भगवदतिरिक्तस्यैतासु वक्तुमनधिकारात्, तथापि यदन्यत्र दुःखदं दृष्टं तदेताभिः कृतं प्रभोरतिसुखदमिति ज्ञापयितुमाचार्यैराभासस्तथोक्तः. अत **एवात्तगजेन्द्रलील** इत्युक्तम्. अतएवोक्षिप्तजलप्रतीकार उत्तानपाणिभ्यां सम्भवत्यपि प्रभुर्न करोति, प्रत्युत तदभिमुखमेव बाहू प्रसारयतीत्याशयेनाहुः **सर्वे देवा** इत्यादि. बाह्वोर्देवतारूपत्वेन तदवयवभूताङ्गुली-करतलादीनामपि देवत्वमिति भावः. **अन्यथा लोके** इति, भगवता निवारणे कृते स्वामिनीलक्षणे लोके तथा न भवेदित्यर्थः ॥२४॥

लेखः

स इत्यत्र, तृतीयचरणस्य प्रत्यक्षेण परोक्षेण चार्थद्वयं टिप्पण्यां विवृतम्. तत्र परोक्षवादे विशेष्यस्यैव बाहौ लक्षणा, न तु विशेषणयोः. अतो वैमानिकत्वं कुसुमवर्षित्वं च बाहौ नान्वेतव्यं, यथा "गभीरायां घोष" इत्यत्र गभीरत्वं नदीत्वं च तीरे नास्ति तथेति ज्ञेयम् ॥२४॥

योजना

ननु देवैः कथं न निषिध्यत इति एतदाशङ्क्य **सर्वे देवा अभिनन्दनमेव कुर्वन्तीति** समाहितम्. एतदाशङ्कासमाधानयोरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **युवत्य इत्यविचारे** इति **सोम्भस्यलं युवतिभिरित्यनेन** युवत्य उक्तास्तत्तात्पर्यमुक्तम्. यतो युवत्यो अतः शृङ्गारकौतुकाविष्टा अविचारेण परितः सेचनं कुर्वन्तीति भावः ॥२४॥

ये **गन्धाः** तत्सम्बन्धिना वायुना **जुष्टाः दिक्तटाः** सर्वदिग्भागा यस्मिन् वने तत्र पुनश्चचार. **भृङ्गैः प्रमदागणैश्चावृतः**. पुनर्भृङ्गाणां गमने हेतुं दृष्टान्तेनाह **यथा मदच्युत्** मदस्रावी गण्डयोरन्यत्र च **द्विरदो** हस्ती **करेणुभिः** सहितो भवति, भ्रमरैश्च सहितः. सहजएवान्तःस्थितो रस आविर्भूत इति भ्रमराणामनुद्रवणम्. **चचारे**ति सर्वत्र नानाविधलीला निरूपिता. क्वचिल्लतानां भङ्गः क्वचिद् वृक्षशाखानां तथा मर्यादामार्गः लौकिकश्चान्यथाकृत इति. एषा त्रिविधा लीला अत्यलौकिकी. तत अविचारेण रमणमिति ॥२५॥

एवं लीलामुक्त्वोपसंहरति **एवमि**ति.

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः ससत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्युपरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः ॥२६॥

शशाङ्कांशुभिः चन्द्रकिरणैः लौकिकैः या **विराजिता निशाः** ता[१] **एवं** रेमे. पूर्वोक्तप्रकारस्तु सर्वदा लीलारूपः, स केनापि न विरुध्यते. नन्वेवं

टिप्पणी

यथा मदच्युदित्येतत्तात्पर्योक्तौ **ततो अविचारेणे**ति. पूर्वस्यां लीलायां देशकालनायिकाविचारपूर्वकं रमणं कृतं, तदनन्तरं न तथेत्यर्थः ॥२५॥

लेखः

तत इत्यत्र, **पुनरिति**, जलक्रीडायां कुङ्कुमस्रगादिनिवर्तनात् पुनर्भ्रमराणां गमने हेतुर्वक्तव्यएवेति भावः. **एषा त्रिविधे**ति, **एषा** कामलीला स्थलजलपुष्पावचयभेदेन **त्रिविधात्यलौकिकी** अलौकिकप्रकारिका. लौकिक-प्रकारिकामग्रिमश्लोके 'काव्यकथा'पदेन वक्ष्यते इति भावः. **तत** इति ॥२५॥

एवमित्यत्र, **ता एवं रेमे** इति, पूर्वमेकस्यां रात्रौ रमणमुक्तम्, अस्मिन् श्लोके सर्वास्वपि तदतिदिश्यते. **एवं** लौकिकीषु रात्रिषु अलौकिकी-स्थापनादिप्रकारेण सर्वासु **रेमे** कामलीलां कृतवानित्यर्थः. **पूर्वोक्ते**ति, नृत्येनान्तर्भावोद्बोधेनान्तररमणरूप इत्यर्थः. तत्र हि यो भावो यस्या अन्तःस्थापितः सा तं भावं सर्वदानुभवति. अतएव ज्ञानात्मकताम्बूलवत्याः

योजना

यथा मदच्युद्द्विरद इत्यस्य तात्पर्योक्तौ **ततो अविचारेण रमणमितीति**, एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥२५॥

१. अत्र स्वतन्त्रटिप्पणी प्रथमपरिशिष्टे मुद्रिता.

रमणे को हेतुरिति चेत्, तत्राह **ससत्यकाम** इति. **सत्यः कामो** यासां ताः सत्यकामाः, ताभिः सहित इति **ससत्यकामः. स** इति तथा प्रार्थितो वा. एवमपि क्रीडायां कामः सत्यएव स्थितः, न तु क्षीणो असद्विषयको वा जातः. **अनुरता अबलागणा** यस्य, सर्वथा रतासु नित्यसम्बद्धासु स्वविवाहितासु न कापि शङ्का, सर्वथा प्रपन्नासु च. अग्रे मर्यादाभङ्गो रसपोषाय. तदुक्तं

प्रकाशः

एवं शशाङ्केत्यत्र सर्वथा रतास्वित्यादि, अत्र प्रथमा कुमार्यो, द्वितीया नित्यलीलास्थाः श्रुतिसिद्धा अन्तर्गृहगताश्च, तृतीया द्वारकालीलास्थाः, तुरीया गोपगृहसम्बन्धिन्यो बोध्याः. एतासूक्तविशेषणकत्वान्नात्मारामत्वभङ्ग-प्रयोजकता. इतोऽतिरिक्ता यद्यप्यत्र स्फुटं नोक्ताः तथापि भिन्नसेतुत्वाद्युक्ति-बलान्निबन्धोक्तरीत्या ज्ञातव्याः. एतदेव पूर्वश्लोकेऽप्युक्तं "मर्यादामार्गो लौकिकश्चान्यथा कृत" इत्यनेनेति. तदेतदभिसन्धायाहुः **अग्र** इत्यारभ्य

लेखः

कार्य भगवदसन्निधाने सर्वोपदेष्टृत्वं तत्रोक्तम्. **केनापीति**, गृहगमनादि-नापीत्यर्थः. अतएव "स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशमि"त्युक्तम्. तथा च तस्य दिवसेऽपि विद्यमानत्वात् तत्र नालौकिकीस्थापनादिप्रकार इति भावः. **एवं रमणे** इति कामलीलया रमणे इत्यर्थः. **सत्यः काम** इति. कुमारिकाणां "पतिं मे कुरु" इति कामप्रकारकोऽभिलाषः. श्रुतिरूपाणां "कामिनीभाव-मासाद्ये"ति वाक्यात् तथाभिलाषः. अन्तर्गृहगतानां तु स्पष्टएव कामाभिलाषः. अतस्त्रयाणामप्यभिलाषस्य सत्यत्वात्तत्पूरणायैवं कृतवानित्यर्थः. **स इतीति**, अस्मिन् पक्षे **सत्यकाम**पदं भगवद्वाचकम्. तद्विवृण्वन्ति **एवमपीति**. भगवद्धर्माणां नित्यत्वेन कामः क्षीणो न जात इत्यर्थः. **असद्विषयक** इति, भगवद्धर्माणां नित्यसत्त्वस्य व्यवस्थापितत्वेन विषयतोऽप्यसत्सम्बन्धाभावादिति भावः. ननु लोकदृष्ट्या परदारत्वस्य विद्यमानत्वादसद्विषयकत्वं शङ्क्यतैवेति शङ्कानिवारणार्थं विशेषणान्तरमित्याहुः **अनुरता** इति. गणानां पूर्वव्याख्यातरीत्या त्रिविधत्वम्, अतो बहुवचनम्. **सर्वथेति** विशेषणत्रयेण क्रमेण श्रुतिरूपास्वन्तर्गृहगतासु कुमारिकासु चानुरतत्वं व्याख्यातम्. कुमारिकाणां लोकन्यायेन विवाहाभावेऽपि "पतिं मे कुरु" इति प्रार्थनाद्वरसिद्धो विवाहः. अतएव **स्वेत्युक्तं**, स्वेनैव न तु लोकसमक्षमिति भावः. एतादृशीषु मनोरथपूरणार्थरमणे दोषशङ्का

"शास्त्राणां विषयस्तावद् यावद् मन्दरसा नराः रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रम" इति. तथापि तासु सत्यएव कामः स्थापितो यो मोक्षपर्यवसायी. स कामो भगवन्तं प्रापयिष्यत्येव. **एवं निशाः सिषेवे.** तदनन्तर**मात्मन्येव उपरुद्धं सौरतं** यस्य तथा जातः, न तु तासु रतिं स्थापितवान्; तथा सति तासु स्वस्मात् पुत्रा भवेयुः. **सर्वाएव निशा** एवं नीताः, **शरद**पि नीता, **काव्यकथा** अपि नीताः, काव्योक्तप्रकारेण गीतगोविन्दोक्तन्यायेनापि, रतिं कृतवान्. तत्र हेतुः **रसाश्रया** इति, कामरसस्तेष्वेव प्रसिद्धो, यावत् पुरुषो

प्रकाशः

प्रापयिष्यत्येवेत्यन्तम्. **तेष्वेवे**ति निशादिकथान्तेष्वेव. अर्थान्तरमाहुः **शरद**दित्यादिना. तथा च लौकिककाव्येष्वपि सरस्वती भगवदीयमेव वदति,

लेखः

नेत्यर्थः. प्रसङ्गात् साधारणमपि पक्षमाहुः **सर्वथे**ति. इदमनुरतत्वं सर्वसाधारणमित्यर्थः. तर्हि तावद्रमणमेवोचितं, न त्वमर्यादरमणमित्यत आहुः **अग्रे** इति, तथाऽकरणे रसपोषाभावात्तावदपि न सिध्येदिति भावः. **तथापी**ति, एवममर्यादरमणे कृतेऽपीत्यर्थः. स्थापनप्रयोजनमाहुः **मोक्षे**ति. **न तु तासु रतिमि**ति, सहस्रत्वेऽपि चन्द्रांशान् स्वस्मिन्नेव स्थापितवान् न तु तास्वित्यर्थः. यथा घृतस्य द्रवीभूतस्य तस्मिन्नेव पात्रे स्थितिस्तथेति ज्ञेयम्. **स्वस्मादि**ति, यद्यपि तदुत्पादनमपि भगवतएव केनचित् प्रकारेण तथाप्यधुना रतिस्थापने स्वस्मात् प्रकटस्वरूपा भवेयुरित्यर्थः. **तत्रे**ति गीतगोविन्दोक्त-लौकिकप्रकारकरमण इत्यर्थः. **तेष्वेवे**ति काव्येष्वित्यर्थः ॥२६॥

योजना

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशा इत्यस्य विवृत्तौ **यो मोक्षपर्यवसायी स कामो भगवन्तं प्रापयिष्यत्येवे**ति, इह **मोक्ष**पदेन नित्यलीलाप्रवेश उच्यते, तृतीयाध्याये सूत्रभाष्ये नित्यलीलाप्रवेशरूपा पुष्टिमार्गीयाणां मुक्तिरिति बहुशो व्यवस्थापितत्वात् ॥२६॥

कारिकार्थः

एवं शशांकांशुविराजिता इत्यत्र **शास्त्राणां विषय** इत्यादि. एतद्वाक्यं वात्स्यायनीयसप्ताधिकरण्यां साम्प्रयोगिकाख्ये द्वितीयाधिकरणे द्वितीयाध्याय-समाप्तिस्थम् आरम्भतस्तु सप्तमाध्यायस्थम् ॥२६॥

रसे गौणभावं न प्राप्नोति, तावन्न रसिको भवतीति. **शरद्वर्णनायां** वा यत् काव्यं तत्र याः **कथाः** तासां **रसाश्रया** इति. निशा एता न लोकप्रसिद्धाः किन्तु काव्योक्ताएव. तत्र हि नियतिकृत्यादिराहित्यं ह्लादैकता अनन्याधीनता; तथा अन्येऽपि गुणाः तथा भगवल्लीलारात्रयो जाता इत्यर्थः ॥२६॥

एवमेतां लीलां श्रुत्वा राज्ञः सन्देह उत्पन्नः, तन्निवारणार्थं शङ्कते **संस्थापनायेति** त्रिभिः, अवतारविरुद्धं लोकवेदविरुद्धं प्रमेयविरुद्धं चेति. तादृशकरणे अवश्यं हेतुर्वक्तव्यः, तदभावेऽपि लीलायाः सिद्धत्वात्. तत्र प्रथममवतारविरोधमाह.

॥ राजोवाच ॥

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥२७॥

धर्मसंस्थापनाय भगवदवतारो, "धर्मसंस्थापनाय चे"ति वाक्यात्. अधर्मनिवृत्तये **च.** तदुभयार्थमेव भगवदवतारः. दैत्यादिवधो भूभारहरणं च अधर्मनिवृत्तये. एतदर्थमेवावतारो नान्यार्थमिति **हि**शब्द आह. **भगवानिति** तस्य साधनम्, अन्यथा पूर्णकामस्यावतारो न घटेतेति. लोकोपकारश्च

प्रकाशः

लौकिकाएव त्वन्यथाभिमन्यन्त इति भावः. अतएव लौकिकासु गाथास्वपि जीवनाम दूरीकृत्य भगवन्नाम तत्र निक्षिप्य ताः प्राश्नो गापयाश्चक्रुः ॥२६॥

संस्थापनायेत्यत्र, ननु दैत्यनाश-भूभारहरणयोरप्यवतार(कार्य)त्वात्तद्व-दिदमप्यस्तु कार्यमित्यत आहुः **दैत्यादीति**, तथा चास्य तदनुपयोगित्वान्न तादर्थ्यमिति नावतारगौणकार्यत्वमपीत्यर्थः. **तस्य साधनमिति**, धर्मो हि 'भग'शब्दवाच्यान्तर्गत इति तद्रक्षणावश्यकतया रक्षणसाधनं भगवत्त्वमित्यर्थः.

लेखः

संस्थापनायेत्यस्याभासे राज्ञः सन्देह इति, कस्यचिद् भ्रान्तस्य अस्यां लीलायां विषयत्वेनानौचित्यबुद्धिः स्यादिति शङ्कोत्पन्नेत्यर्थः. **तन्निवारणार्थमिति**, राज्ञः शङ्कायां शुकेन तत्समाहितावन्यस्य सा बुद्धिर्निवर्तिष्यते इत्यर्थः. व्याख्याने, **तस्य साधनमिति**, गुणाएव लीलायां साधनमित्यर्थः. **अन्यथेति** धर्मस्थापनरूपप्रयोजनाभावे इत्यर्थः. मोक्षदानमपि प्रयोजनमित्यत आहुः **लोकोपकारश्चेति**, लोकानामुपकारो मोक्ष इत्यर्थः ॥२७॥

एताभ्यामेव. **अंशेन** बलभद्रेण. आगत्य तथाकरणे हेतुः **जगदीश्वर** इति, स हि सर्वरक्षकः अतः पालनार्थमेवं कृतवान् ॥२७॥

किमतो यद्येवम्, एवमेतदित्याह **स कथमिति.**

स कथं धर्मसेतूनां कर्ता वक्ताभिरक्षिता ।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥२८॥

धर्ममर्यादापालकानां निर्माता. स्वयं **वक्ता** च, उपघातेऽ**भिरक्षिता** च तादृशः **प्रतीपं** प्रतीकूल**माचरद्**– धर्मो नष्टो, अधर्मः स्थापितः, अधर्मः कृतः उक्तः रक्षितश्च. अतः प्रतीपाचरणमयुक्तम्. तत्र हेतुर्वक्तव्य इति **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनम्. ये पञ्चपदार्था उक्ताः तेषां स्वरूपमेकत्रैवेति तन्निर्दिशति **परदाराभिमर्शनमिति** ॥२८॥

ननु कामात् करणमिति चेत्, तत्राह **आप्तकाम** इति.

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥२९॥

टिप्पणी

प्रश्नतात्पर्यं तु "लौकिक्यपि यदा दृष्टिरि"(का.२)त्यत्र निरूपितम्.

प्रतीपमाचरदित्यत्र धर्मो नष्ट इत्यादि. अधर्मनाश-धर्मस्थापन-तत्करण-तदुक्ति-तद्रक्षाणां पूर्वमुक्तानां प्रतीपा अर्था अनेनोक्ताः ॥२८॥

प्रकाशः

एताभ्यामिति धर्मस्थापनाधर्मनिवृत्तिभ्याम् ॥२७॥

लेखः

स कथमित्यत्र, धर्मसेतुकर्तृत्वं विवृण्वन्ति **धर्मेति.** एतत्**पालकानां** मन्वादीनां **निर्माता** स्रष्टा, अतस्तद्द्वारा मर्यादां करोतीत्यर्थः ॥२८॥

योजना

परदाराभिमर्शनमित्यस्याभासे ये पञ्चपदार्था उक्ता इति. "संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य चे"त्यस्य(चेत्यत्र!) धर्मस्थापनार्थमधर्मप्रशमनार्थं भगवदवतारमुक्त्वा **प्रतीपमाचरदित्यनेन धर्मो नष्टो अधर्मः स्थापित** इति द्वयमुक्तम्. **वक्ता कर्ताभिरक्षितेत्युक्त्वा प्रतीपमाचरदित्यनेन अधर्मः कृतः उक्तो रक्षितश्चेति** त्रयमुक्तम्. एवं पञ्च पदार्थाः निरूपिताः ॥२८॥

स्वतएव**आप्ताः कामा** येन. **यदुपतिरि**ति विद्यमानायामपि कामनायामनेकस्त्रीप्राप्तिः. तादृशोऽपि भूत्वा **जुगुप्सितं** लोकनिन्दितं **कृतवान्.** तत्र करणे कोऽभिप्रायः? परस्परविरुद्धार्थत्वादुभयोर्ग्रहणं न सम्भवति, नैकतापि विरुद्धानाम्. विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेऽपि प्रयोजनं वक्तव्यम्. नैतत् कर्म लोकहितं, नापि स्वहितं, स्वस्य पूर्णत्वात्. लोकस्य मर्यादैव हितकारिणी, तथा गोपिकानामपि. अन्तर्यामिण ईश्वरस्य न किञ्चिदसाध्यम्. अत एवं सति **किमभिप्राय** एतत् **कृतवान्** कः अभिप्रायो यस्येति **एतं नो**ऽस्माकं सर्वेषामेव **संशयं छिन्धि.** किञ्च **सुव्रत** हे सदाचारलक्षणव्रतयुक्त, यदीदमसङ्गतमिव स्यात् त्वया नोक्तं स्यात्. यदि वा अधर्मः स्यात् तव रुचिर्न स्यात्. प्रतीयते च विपरीतम्, अतो निर्णयो वक्तव्य इत्यर्थः ॥२९॥

प्रकाशः

आप्तकाम इत्यत्र **उभयोरि**ति धर्माधर्मयोः. ननु "द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छती"ति न्यायादुभयग्रहणे को दोष इत्याकांक्षायामाहुः **प्रयोजनं वक्तव्यमि**ति. ननु गोपिकाकामपूर्तिरेव प्रयोजनमिति चेत्तत्राहुः **अन्तर्यामिण ईश्वरस्ये**ति, तथा च तास्तथैव प्रेरयेत् उद्वहेद्वेत्यर्थः ॥२९॥

लेखः

आप्तकाम इत्यत्र, **नैकतापी**ति एकाधिकरणत्वमित्यर्थः. तर्हि न कृतवानिति विपरीतनिश्चयएवास्त्विति शङ्कायामाहुः **अन्तर्यामिण** इति, असाध्यमपि नास्ति, तत्र दृष्टान्तार्थं विशेषणद्वयं– यथान्तर्याम्यपि **सन्नीश्वरो** बहिरपि फलदाता तथेदमपि विरुद्धमसाध्यं नास्ति. तथाप्यभिप्रायः क इत्यर्थः. राज्ञः [१]पूर्वं सन्देहाभावेऽप्यभिप्रायसंशयोऽस्त्येवेत्याशयेनाहुः **सर्वेषामि**ति. **किञ्चे**ति, पूर्वं तस्यासङ्गतत्वं साधितं, सन्देहस्वरूपार्थं द्वितीयकोटेरपि

योजना

आप्तकामो यदुपतिरित्यस्य विवरणे **तथा गोपिकानामपी**ति, **गोपिकानामपि मर्यादैव हितकारिणी**ति पूर्वेणैवान्वयः. ननु किं कर्तव्यं, गोपिकानां भक्तत्वात्तासां मनोरथपूर्तिरावश्यकीति तथा करणमित्याशङ्क्याहुः **अन्तर्यामिणः न किञ्चिदसाध्यमि**ति, अन्तर्यामित्वादन्यथैव गोपीः प्रेरयित्वा मनोरथान्तरमेव कुतो नोत्पादितवानिति भावः ॥२९॥

१. पूर्वम् इति जो. पाठमनुसृत्य, मुद्रितपाठस्तु पूर्वसन्देह॰ इति.

प्रथमतो अवतारविरुद्धं कृतवानिति यदुक्तं तत्रोत्तरमाह **धर्मव्यतिक्रम** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥३०॥

किमेतदीश्वराणां चरित्रं न भवतीत्युच्यते आहोस्विदन्यार्थमागतोऽन्यत् करोतीति? नहि किञ्चिद्‌घटनार्थमागतः किञ्चिन्न विघटयति. न ह्यन्यार्थमप्यागतः स्वधर्मं परित्यजति. प्रकाशनार्थमागतो दीपो गृहेण स्पृष्टश्चेत् दहत्येव. अत ईश्वरधर्मोऽयम्, अन्यथा ईश्वरएव न भवेत्. नहि वणिजामिव प्रभोर्नियमोऽस्ति सर्वकर्मसु. ईश्वरधर्माश्चैते इति तान् गणयति **धर्मव्यतिक्रमः साहसमित्यादयः. धर्मव्यतिक्रमो** विद्यमानोल्लङ्घनं, **साहसम**विद्यमानकरणम्—

प्रकाशः

धर्मव्यतिक्रम इत्यत्र द्वितीयपक्षं दूषयन्ति **नही**त्यादि. तत्र हेतुः **न ह्यन्यार्थमि**त्यादि, यथा मृगयार्थं निःसृतो राजा उपवने विहरति, विहरन्नपि सेवकादीन् शास्ति तथेत्यर्थः. न च तासां बन्धसम्भव इत्याहुः **प्रकाशनार्थमि**त्यादि, तथा च "नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृपे"त्यवतारकार्यं प्रागुक्तं, तच्चैवमप्युपपन्नमेव, धर्मस्थापनाऽधर्मप्रशमावप्येतदर्थाविति प्रकारान्तरेण तत्सिद्धौ न तयोरावश्यकत्वम्, अतो नावतारविरुद्धमित्यर्थः. लोकप्रमेययोर्विरोधं परिहरन्ति **अत** इति, साधनविरुद्धफलदानादित्यर्थः. इदमेव "न मय्यावेशितधियामि"त्यत्र सिद्धम्. तथा च वेदस्यापि नियामकोऽयं, न तु तन्नियम्य इति बोधयतीत्याहुः **ईश्वरधर्मोऽयमिति. न भवे**दिति स्वस्य न भवेत्. वेदविरोधं परिहरन्ति **विधी**त्यादि, तथा च नियोज्यत्वाभावान्न वेदविरोधीत्यर्थः ॥३०॥

लेखः

समुच्चयोऽनेन क्रियत इत्यर्थः. जुगुप्सितत्वशङ्का अभिप्रायशङ्का चेति प्रश्नद्वयं सम्पन्नम्. आद्यान्येषां, द्वितीया स्वस्यापि. द्वितीयशङ्कासमाधान"मनुग्रहाय भक्तानामि"त्यनेन करिष्यते ॥२९॥

धर्मव्यतिक्रम इत्यत्र, **दहत्येवे**ति, स्वरूपं योजयति, स्वसदृशं करोतीत्यर्थः. तथा भगवानपि धर्मस्थापनार्थमागतस्तथाभावेन गृहीतश्चेत् स्वरूपानन्दं

एतदुभयमीश्वरे **दृष्टम्.** "नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम". **च**कारादीश्वर-सेवकानामपि, वीर्यादिमतां वा. एतदेव वा **साहसं,** सहसा क्रियमाणत्वात्. नन्वेवं सति तत्कर्मफलं कथं न भवेदित्याशङ्क्याह **तेजीयसामिति**– अतितेजस्विनामेतन्नाधर्मजनकं, विधिनिषेधवाक्यानां नियोज्यविषयत्वात्. यथा लोके तथा वेदेऽपि. अतितेजस्विनां सर्वकर्मदहनसमर्थानां न दोषजनकं भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह **वह्नेः सर्वभुज** इति. नहि सर्वान् दहन् वह्निर्वधभाग् भवति, सर्वं भक्षयन् अभक्ष्यभक्षको वा, तथा सर्वं पिबन् सर्वत्र प्रविशन् सर्वसम्बद्धः तत्तत्कारी भवति. मिथ्याज्ञानसलिलावसिक्तायामेव आत्मभूमौ कर्मबीजं धर्माधर्माङ्कुरतामारभते, न तु तत्त्वज्ञाननिदाघ-निष्पीत-सलिलतयोषरायाम् ॥३०॥

ननु "तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यमि"ति न्यायाद् "यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पत" इति विरोधाच्च कथमेतत् कर्तुं शक्यत इति चेत्, तत्राह **नैतत् समाचरेदिति.**

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।

विनश्यत्याचरन्मौढ्याद् यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥३१॥

एतदीश्वरकृतमनीश्वरो न समाचरेत्. ऐश्वर्यसमानाधिकरणमेवैतत् नानिष्टं करोति. अतो **जातु** कदाचिदपि औत्सुक्यादपि **न समाचरेत्.** किं बहुना, **मनसापि.** ऐश्वर्यतुल्यमेव तेषां तत्कर्म. यथैश्वर्यकामनायामपि

टिप्पणी

नैतत् समाचरेदित्यस्याभासः, ननु तेजीयसामपीत्यारभ्य न्यायादित्यन्तः. यद्यप्येतत्समाहितिर्नैतेन श्लोकेन भवति तथाप्युत्तरार्धेऽन्यस्य कर्तुर्नाशोक्त्ये-श्वराणामनाशज्ञापनेन च समाहितिर्भविष्यतीत्याशयेनेदमप्युक्तमिति ज्ञेयम्. "अन्तरङ्गैरेवे"(सुबो. ३४)त्यग्रे वक्ष्यन्ति च ॥३१॥

लेखः

स्थापयत्येवेति दृष्टान्तसामञ्जस्यम्. **वीर्यादिमतामिति, ईश्वरपदेनैश्वर्यमुक्तमिति चकारेण** वीर्यादीनां समुच्चयो युक्त इति भावः. पूर्वोक्तसाहसस्यात्र प्रसङ्गाभावात् पक्षान्तरमाहुः **एतदेव वेति. तत्तत्कारी भवतीति नहि भवतीति** पूर्वेणान्वयः. **आत्मभूमाविति** अन्तःकरणे इत्यर्थः॥३०॥

नैतदित्यत्र हिशब्दसूचितां युक्तिमाहुः **ऐश्वर्यतुल्यमेवेति** ॥३१॥

अनीश्वरो वधमर्हति, यथा महाराज्यानधिकारी तदिच्छां कुर्वन्. अतो **मनसापि न समाचरेत्.** विपरीते बाधकमाह **विनश्यतीति**, **मौढ्यादै**श्वर्यसहभावं तस्य कर्मणो अज्ञात्वा केवलं तत् कर्म **आचरन्** तेनैव कर्मणा नष्टो भवति. नन्वेकमेव कर्म कथं धर्मान्तरसहितं न नाशकम् इतरथा नाशकमिति चेत्, तत्राह **अरुद्रोः** रुद्रव्यतिरिक्तः रुद्रसमानपराक्रमरहितो **अब्धिजं विषं** कालकूट**माचरन्** आसमन्ताद् भक्षयन् **विनश्यति** तथेत्यर्थः. निन्दितं कर्मापि कालकूटवन्नाशकं, तदीश्वरस्यैव शोभाकरं, येन नीलकण्ठो भवति. तथैव गोपीजनवल्लभ इति ॥३१॥

ननूक्तं "यद्वृत्तमनुतिष्ठन्ति"ति, तत्राह **ईश्वराणामिति.**

ईश्वराणां वचस्तथ्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां स्वच्छन्दचरितं बुद्धिमान्न समाचरेत् ॥३२॥

ईश्वराणां वचएव **तथ्यं** न त्वाचरितं; **क्वचिदाचरितम**पि वचनानुगुणं चेत्. ईश्वराणां बहवो धर्माः; यथैश्वर्यं तथा धर्मात्मत्वं तथा दया. तत्रैश्वर्यज्ञानवैराग्यैर्यत् करोति तत् **स्वच्छन्दचरितमि**त्युच्यते. **बुद्धिमान्** तन्न

प्रकाशः

ईश्वराणामित्यत्र **न त्वाचरितमिति**, उक्तं चरितं न लोकसंग्रहार्थं किन्तु निरङ्कुशैश्वर्यबोधनार्थं, तेन तत्प्रतीयमानरूपेण न तथ्यमित्यर्थः.

लेखः

ईश्वराणामित्यत्र, **ईश्वराणां वच एवे**ति. वचसि तथ्यत्वं करणीयप्रतिपादकत्वम्, आचरिते तथ्यत्वं स्वसजातीयत्वेन ग्रहविषयत्वमिति ज्ञेयम्. **तत्रैश्वर्येति**, अग्रिमश्लोके 'एषामि'त्यनेनैश्वर्यं 'निरहङ्कारिणामि'त्यनेन ज्ञानवैराग्ये च विवरिष्यते इति भावः. वचसस्तथ्यत्वं व्युत्पादयन्ति **ते ह्यन्यथेति** ॥३२॥

योजना

तेषां स्वच्छन्दचरितमित्यस्य विवरणे **तत्रैश्वर्यज्ञानवैराग्यैर्यत्करोति तत्स्वच्छन्दचरितमित्युच्यत** इति, "कुशलाचरितेनैषामि"त्यग्रिमश्लोके 'निरहंकारिणामि'त्युक्त्या ज्ञानं वैराग्यं चोक्तम्. "किमुताखिलसत्त्वानामि"ति श्लोके 'ईशितुरि'त्युक्त्या ऐश्वर्यं निरूपितम्. तथा चैश्वर्यज्ञानवैराग्यवतां न किञ्चिद् बाधकमतो भगवता यदैश्वर्यज्ञानवैराग्यैः क्रियमाणं स्वच्छन्दचरितं बुद्धिमानन्यो नाचरेदिति भावः ॥३२॥

समाचरेत्. ते ह्यन्यथा न वदन्ति, अन्यार्थं कथनमन्याधिकारेणेति; अतस्तद्विरुद्धं न कथयन्तीति ॥३२॥

ननु यथान्यस्मै न कथयन्ति तथा स्वयमपि कुतो न कुर्वन्ति? तत्राह **कुशलाचरितेने**ति.

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते ।
विपर्ययेण वानर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो ॥३३॥

एषामीश्वराणां **कुशलाचरितेन अर्थः** प्रयोजनं **न विद्यते,** ततोऽप्यनन्तफलस्य प्राप्तत्वादेव. **विपर्ययेण** अकुशलाचरितेन **अनर्थो**ऽपि **न विद्यते.** ईश्वराणामेव निषिद्धकर्मणा अनिष्टाभाव इति न किन्तु ज्ञानिनामपीति ज्ञानवैराग्ययोस्तुल्यं स्वरूपमाह **निरहङ्कारिणामि**ति, अहङ्काररहितानां न केनापि किमपि, कर्तृत्वाभिमानाभावात्. **प्रभो** इति सम्बोधनमीश्वरस्य लोकविलक्षणत्वज्ञापनार्थम् ॥३३॥

यत्र ज्ञानसहकृतमेव तत्कर्म नानिष्टजनकं किं वक्तव्यमैश्वर्यसहकृतमित्याह **किमुते**ति.

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥३४॥

ईश्वरस्य सेवकमारणे सेवकानामन्यथाकरणे च न काचित् शङ्का भवति, यथैहिकी तथा पारलौकिकी. नियामकाद्धि शङ्का, भगवतो न नियामकोऽन्योऽस्तीत्याह **अखिलसत्त्वानां** सर्वजीवानां **तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसां** गुणत्रयकार्याणां जीवजडानामप्राकृतानां वा सर्वेषामेव **ईशितुः** प्रभोः कृष्णस्य

प्रकाशः

वचस्तथ्यमित्यत्रोपपत्तिं वदन्ति **ते ही**त्यादि ॥३२॥

लेखः

कुशलाचरितेनेत्यत्र चरणत्रयेणेश्वराणामिष्टानिष्टसम्बन्धाभावं[१] प्रतिज्ञाय **निरहङ्कारिणामि**त्यारभ्य "किमुते"ति श्लोकेन कैमुत्येन तदेव साधितमित्याशयेनाहुः **ईश्वराणामेवे**ति. अत्र कैमुत्येन दृष्टान्तसाधका अन्येऽपि सन्तीत्यर्थः ॥३२॥

किमुतेत्यत्र, गुणत्रयेति, तिर्यगादीनां क्रमेण तमोरजःसत्त्वरूपत्वादिति

---

१. संबन्धम्.

चकारादात्मनश्च **ईशितव्यानां** सेवकानां सम्बन्धी तत्कृतगुणदोषाभ्यां **कुशलाकुशलयोरन्वयः** कुतः! नहि दासीभिः स्वात्मभूताभिः सम्बन्धे अनियम्यस्य ऐहिके पारलौकिके वा कश्चनापकारः सम्भवति. अन्तरङ्गैरेव तथा ज्ञायत इति न सुश्लोक्यतानिवृत्तिः ॥३४॥

नापि कर्ममार्गविचारेण कर्मप्राधान्यपक्षेऽपि दोषः शङ्कनीयो यथा "परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्" "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" "स आत्मानमेवावैत्" इत्यादिश्रुतिषु, यथा ज्ञानकर्मभ्यामुत्कर्षः एवमपकृष्टज्ञानकर्मभ्यामपकर्षोऽपि सम्भाव्यत इति तत्राह **यत्पादे**ति.

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥३५॥

नहि सर्वेषामेव जीवानां समानकर्मणा समानं फलमुपलभ्यते, अन्यथा

लेखः

भावः. तथा चाद्यस्य द्वितीयं विशेषणम्. उभयोर्भिन्नत्वेन व्याख्यानमाहुः **जीवे**ति, **अखिलसत्त्वानामि**त्यनेन **जीवाः**. तिर्यगादीनां देहत्वेन **जडा** उक्ताः. **पूर्वेणाप्राकृता** द्वितीयेन **प्राकृता** इति **वे**त्यर्थः. **ईशितव्यानामि**त्यस्य चतुर्थचरणेनान्वय इत्याहुः **सेवकानां सम्बन्धी**ति, सम्बन्धं विवृण्वन्ति **तत्कृते**ति, सेवकसम्बन्धकृतगुणदोषाभ्यां **कुशलाकुशलान्वय** इष्टानिष्टसम्बन्ध इत्यर्थः. **नही**ति, ईशितृत्वाद्दा**सीभिः च**कारसूचितात्मत्वात् **स्वात्मभूताभिः** ईशितृत्वा**दैहिकेऽनियम्यस्य** आत्मत्वेन ब्रह्मत्वात् **पारलौकिकेऽनियम्यस्ये**त्यर्थः. ईशितव्यसम्बन्धा**दन्तरङ्गैरे**वेत्युक्तम् ॥३४॥

श्रुतिष्विति, आद्यश्रुतौ कर्मणोत्कर्षो द्वितीयश्रुतौ ज्ञानेनोत्कर्ष उक्तः. तन्न्यायेनापकर्षोऽपि शङ्कनीय इति शेषः. इदमेव विवृण्वन्ति **यथा ज्ञाने**ति.

योजना

यत्पादपङ्कजेत्यस्य विवरणे **नहि सर्वेषामेव जीवानां समानकर्मणा समानं फलमुपलभ्यते** इति, निषिद्धं कर्म कृत्वा यदि प्रायश्चित्तं कुर्यात् तस्य नानिष्टं भवति. यदि ज्ञानी योगी वा निषिद्धं कर्म कुर्याद्भगवद्भक्तो वा कुर्यात्तस्य निषिद्धेनापि कर्मणानिष्टं न भवत्यतः **समानकर्मणा समानं फलं**

शास्त्रवैफल्यापत्तिः. उत्कृष्टकर्मादौ प्रवृत्तो नापकृष्टकर्मणा कादाचित्केन अपकृष्टो भवति. तत्र मार्गत्रयं, त्रिष्वपि प्रवृत्तो नापकर्षं यातीत्याह. तत्र प्रथमं भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य तत्र पुष्टस्य न केनाप्यपकर्ष इत्याह, **यस्य** भगवतः **पादपङ्कजस्य परागभूता** ये सेवकाः तेषां **निषेवो** निषेवणं तेन **तृप्ताः** भगवद्भक्तैः सह भगवद्गुणस्मरणेनैव विस्मारितदृष्टश्रुतसुखलेशाभासाः **स्वैरं चरन्ति**, न तेषां कर्मोत्कर्षापकर्षौ साधकबाधकौ. तथा कर्ममार्गेऽपीत्याह **योगप्रभावेति. योगो** हि महान् धर्मः, "अयं हि परमो धर्म" इति स्मृतेः. तस्य **प्रभावः** अणिमाद्यैश्वर्यसम्पत्तिः ज्ञानादयश्च, तेनैव **विशेषेण धुताः**, पूर्वकर्मजनिता अपि अखिलकर्मबन्धाः विशेषेण धुता भवन्ति. तेऽपि **स्वैरं चरन्ति.** ज्ञानमार्गेऽप्याह **मुनयोऽपि स्वैरं चरन्ती**ति. सर्वएव **न नह्यमानाः** अबध्यमानाः. " 'णह' बन्धने", सर्वत्रैव असम्बध्यमानाः. यत्र भगवत्प्रवर्तित-मार्गेष्वप्येषा व्यवस्था तत्र भगवतः किं वक्तव्यमित्याह **तस्येच्छयात्तवपुष** इति. **इच्छया** भोगार्थम् **आत्तानि वपूंषि** "यावतीर्गोपयोषित" इति तावन्ति

टिप्पणी

इच्छयात्तवपुष इत्यत्र **वपुष्**शब्दस्य वपुष्प्राकट्यपरत्वमित्याचार्याणा-

प्रकाशः

यत्पादेत्यत्र मार्गत्रयमिति हेतुरिति शेषः. **विस्मारितदृष्टे**त्यादि, एतेनातादृशा इदानीं ये मार्गप्रवेशमात्रेण स्वैरमाचरन्ति ते दुष्टा बोध्याः.

लेखः

यत्पादेत्यत्र, **अन्यथा शास्त्रे**ति, ज्ञानादिशास्त्रस्येत्यर्थः. **तृप्ति**पदार्थमाहुः **तत्र पुष्टस्ये**ति. योगस्य कर्मत्वं व्युत्पादयन्ति **योगो ही**ति ॥३५॥

योजना

नास्तीति यदुक्तं तद्युक्तमेव. **अन्यथे**ति, यदि साधारणजनानामिव प्रायश्चित्तं कुर्वतामपि ज्ञानि-योगि-भगवद्भक्तानामनिष्टं फलं स्यात्तदा प्रायश्चित्तशास्त्रस्य, "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुने"त्यादिशास्त्रस्य, "योगेनैव दहेद्हं" इति शास्त्रस्य, "नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्दहने मम तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जन" इत्यादिशास्त्रस्य वैफल्यं स्यादिति भावः. **तस्येच्छयात्तवपुष** इत्यत्र आत्तानि प्रकटीकृतानीत्यभिप्रायः सुबोधिन्या इति टिप्पण्यामुक्तम्. **यो हि तावद्रूप** इत्यारभ्य **भवेदि**त्यन्तं, येन रूपेण कर्म

येन **तस्य कुतएव बन्धो** भवेत्? यो हि तावद्रूपो भवति, कार्यं कृत्वा च तान्याच्छादयति, तस्य केन कर्मणा बन्धो भवेत्? कर्म हि प्रतिनियतं व्यवस्थितम्. तत्र यदि भिन्नो भिन्नो जीवः स्यात् तदा तेन कर्मणा बन्धो वा भवेत्. आकाशवद् भगवद्रूपाणि प्रतिपदमन्यान्येव भवन्ति,

प्रकाशः

नापि कर्ममार्गविचारेण कर्मप्राधान्यपक्षे दोषः शङ्कनीय इति यदाभासे उक्तं तद् व्युत्पादयन्ति **कर्म** हीत्यादिना. **प्रतिनियतमिति**, नियतं नियतं प्रति लक्षीकृत्येत्यर्थः. **तत्रेति** वपुषि. **तेनेति** वपुषा. **बन्धो वेति** वाशब्दः **कर्मणान्वेति. यथान्नेत्यादि**, अन्नं पृथिवी, "यत्कृष्णं तदन्नस्ये"त्यादिश्रुत्या तथा सिद्धत्वात्. तथा च लौकिके देहे वृद्धिविपरिणामादिदर्शनेन पार्थिवांशानां समवायव्यवायसन्देहभेदेनापि यथा सन्तत्यैक्याद् अवच्छेदैक्याद्वा एकदेह-व्यवहारः, तथात्र पृथिव्यात्मकस(म!)हादेशैक्यादवच्छेदैक्याद्वा एकदेहव्यवहार

योजना

कृतवान् तद्रूपस्य कर्मणश्च आच्छादनं तिरोधानमेव, नतूत्पत्तिनाशौ. एवं सर्वेषां भगवत्कर्मणां नित्यत्वादुचितानुचितकर्मणोः सर्वदा विराजमान-त्वात्केन कर्मणा बन्धो भवेत्, मोचककर्मणामपि विद्यमानत्वात्! मोचक-कर्मव्यधिकरणमेव बन्धकं कर्म प्राणिनं बध्नाति. मोचककर्मसमानाधिकरणेन बन्धककर्मणा न बन्धो भवत्यतो न भगवति बन्धसम्भावनेति भावः. तदे-तदाहुः **यो हि तावद्रूप** इत्यारभ्य **आच्छादयतीत्यन्तेन, आच्छादयति** तिरोभावयतीत्यर्थः. तिरोभावेन कर्मणां सर्वेषां नित्यत्वं सूचितम्. तेन सर्वेषां बन्धकमोचककर्मणां सर्वदा विद्यमानत्वान्न भगवतो बन्धो न वा मोक्ष इति भावः. **कर्म हि प्रतिनियतमिति**, प्रतिजीवं कर्म व्यवस्थितं– ब्राह्मणेनेदं कर्म अस्मिन् समये कर्तव्यं यथा "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत", राजन्येनेदम् अस्मिन् काले कर्तव्यमस्मिन्काले अनेनाधिकारिणा इदं न कर्तव्यमित्यादिप्रकारेण कर्म नियतं व्यवस्थितमित्यर्थः. **तत्र यदि भिन्नो भिन्नो जीवः स्यादिति**, यदि ब्राह्मणक्षत्रियादिप्रकारेण जीवो भिन्नो भिन्नो भवेत्तदा तस्य तस्य जीवस्य तेन तेन कर्मणा बन्धो भवेत्. इह तु रूपबहुत्वेऽपि जीवाभावात्तस्य तस्य रूपस्यैवात्मत्वाद् ब्राह्मणक्षत्रियादिभावाभावाद् भगवतो न किञ्चित्कर्म विहितं न वा निषिद्धमिति **न** बन्ध इति भावः ॥३५॥

यथान्नभेदेनाप्येकदेहव्यवहारः एवं देशभेदेनापि भगवतः सर्वतः पाणिपादान्तस्य तावत्परिच्छेदेन प्रादुर्भाव इच्छयेति. स्वामिनीनां वा वपूंषि. अतः सर्वथा प्रमाणप्रमेयविचारेणापि न बन्धः सम्भवति ॥३५॥

ननु तथापि लोकमर्यादाया भग्नत्वाद् "यद्यदाचरति श्रेष्ठ" इति न्यायेन शब्दबलविचारेण बन्धो भवेत्. ते ह्यवधूतास्त्रयोऽपि, न ते व्यवहारनियामकाः, अतो विषमो दृष्टान्त इति चेत्, तत्राह **गोपीनामिति.**

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम् ।

योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥३६॥

नहि स्वस्पर्शः स्वस्य क्वापि निषिद्धः. परा चासौ स्त्री च परस्य च स्त्री. उभयमपि न भगवति, यतः भगवान् **गोपीनां तत्पतीनां च** आत्मा. बान्धवाः सर्वे लौकिकाश्च न मन्यन्त इति चेत्, तत्राह **सर्वेषामपि देहिनाम**यमात्मेति. **यो** भगवान् **अन्तश्चरति,** आसन्यो जीवो वा.

टिप्पणी

माशयः. [१](अत्रैवाग्रे **यथान्नभेदेनेति**, यावद्यस्यान्नेन देहः पोषितो भवति तावत्तदीयत्वेन लोके व्यवह्रियते. पुनरन्यस्यान्नेन पोषितः स एव तावत्तदीयत्वेनापि व्यवह्रियते. एवमेकदेहस्यान्नभेदेन भेदव्यवहार इत्यर्थः.) ॥३५॥

प्रकाशः

इत्यर्थः. तदेव व्युत्पादयन्ति **भगवत** इत्यादि. ननु भगवतः सर्वतः पाणिपादान्तत्वेनैतत्समाधान**मात्तवपुः**पदाद्विरुध्यत इत्यस्वरसात्प्रकारान्तरेण समादधते **स्वामिनीनामि**त्यादि. तथा च व्यवस्थापकाभावान्न कर्मणात्र (सं)बन्ध इति प्रमाणविचारेण समाधिरुक्तः ॥३५॥

तत्राहेति तादृशाशङ्कायां तेषां भ्रान्तत्वमाहेत्यर्थः. **क्रीडनेनेत्यादिना** भ्रान्तौ हेतुर्विशदीकृतः ॥३६॥

योजना

योऽन्तश्चरतीत्यत्र जीवो वेति, पूर्वस्मिन्पक्षे अपरितोषाज्जीवो **वेत्युक्तम्**, अतोऽयमेव पक्ष उत्तमः. अतो भगवतो गोपीजीवरूपत्वाद्गोपीदेहो भगवद्देह एवेति न कश्चिद्दोष इत्यर्थः. अतएव पूर्वमुक्तं **नहि स्वस्पर्शः स्वस्य क्वापि निषिद्ध** इति ॥३६॥

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं श्रीहस्ताक्षरपुस्तके नास्ति.

सर्ववादिसिद्धान्तसङ्ग्रहाय सामान्यवचनं **योऽन्तश्चरतीति**. **स** एवायं भगवान**ध्यक्षः** प्रत्यक्षः **क्रीडनेन** कृत्वा नटवत् पुरुष**देहं भजते.** वस्तुतस्तु नायं पुमान्, न च स्त्री नाप्यन्यः कश्चित्, "न स्त्री न षण्ढो न पुमानि"ति श्रुतेः. अतः केनापि विचारेण नास्य दोषसम्भवः ॥३६॥

ननु तथापि एवंकरणे कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह **अनुग्रहायेति.**

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडाः याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥३७॥

भक्तानामनुग्रहार्थमेव भक्तसमानरूपं **देहमास्थितः**, विजातीये तेषां विश्वासो न भवेदिति. ततो यथा मनुष्यानुग्रहाय **मानुषो** देहः प्रदर्शितः एवं गोपिकानाम**प्यनुग्रहाय** स्वानन्दं गोकुले दातुं **तादृशीः क्रीडाः भजते,** तत्तद्धर्मप्रवेशव्यतिरेकेण तस्य तस्य दोषस्यानिवृत्तत्वात्. यद्वा **भक्तानां मानुषं देहं** प्रति **आस्था** सञ्जातास्मिन्निति स तथा. तत्रापि महान् पूर्णकामः

टिप्पणी

योन्तश्चरतीत्यत्र वस्तुतस्तु नायमित्यादि, देहकृततत्तन्निषेधोऽत्र क्रियते. प्रभुस्तु स्वतएव पुमान्, अतएव श्रुतावेकस्मिन्नेव वाक्ये "पुरुषं पुरुषविधमि"त्युक्तम् ॥३६॥

भजते तादृशीः क्रीडा इत्यत्र, **तत्तद्धर्मप्रवेशेति** श्रोतृणामिति शेषः. यल्लीलाश्रवणमेव भगवद्भावसाधकं तल्लीलामध्यपातिनां स्वरूपं किं वक्तव्यमिति भावः ॥३७॥

लेखः

अनुग्रहायेत्यत्र, सञ्जाताऽस्मिन्नित्यर्थकथनं, विग्रहस्तु षष्ठ्यन्तेनैव तेन "तदस्य सञ्जातमि"त्यनेन 'इतच्'प्रत्ययः. अस्मिन् पक्षे **भक्तानां मानुषं देहमास्थितोऽनुग्रहाय तादृशीः क्रीडा भजते** इत्यन्वयः. **अनुग्रह**पदतात्पर्यमाहुः **तत्रापीति**. भक्तमानुषदेहास्थायामपि सत्यामनुग्रहोक्त्या स्वस्य पूर्णकामत्वान्निषिद्धप्रकारेण दातुं न शक्तः. अतो नायं निषिद्धः प्रकार इति

योजना

अनुग्रहाय भक्तानामित्यत्र तत्तद्धर्मप्रवेशव्यतिरेकेणेति, एतस्यार्थ-ष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥३७॥

सर्वं दातुं शक्तः न त्वेवं निषिद्धप्रकारेणात्मानं दातुमिति. अत एतां लीलां निरोधपूर्वकादेयदानरूपां यः श्रोष्यति सः सर्वथा भगवत्परो भविष्यतीति भगवता तथाचरणं कृतम्. तदाह **याः श्रुत्वा तत्परो भवेदि**ति ॥३७॥

ननु तथापि लोकव्यवहारे स्त्रियोऽन्याधीना इति अदत्तोपादानं, गोपानां मनसि खेदः, तैः क्रियमाणा अपकीर्तिश्च भवेदित्याशङ्क्याह **नासूयन्निति**.

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान्स्वान्दारान् व्रजौकसः ॥३८॥

ते भगवन्तं **नासूयन्** असूयया न दृष्टवन्तः. प्रथमतः प्रवृत्तिं ज्ञात्वापि भगवन्मायया **मोहिता नासूयन्**. अग्रे तु **स्वपार्श्वस्थानेव स्वान् स्वान् दारान् मन्यमाना** जाताः. यतो **व्रजौकसः** पूर्वापरानुसन्धानरहिताः. सर्वथाङ्गीकृता इतिं वा, एतादृशानां प्रभौ दोषारोपासम्भवादिति भावः. अयमर्थः सर्वजनीन

प्रकाशः

नासूयन्नित्यत्र, अज्ञानादनारोपे[1] तेषामनङ्गीकृतत्वमायातीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **सर्वथाङ्गीकृता इति वे**ति. अस्मिन्पक्षे **माया**पदं बुद्धिवाचकम्, "स्यान् माया शाम्बरी क्रिया दम्भो बुद्धिश्च"त्यनेकार्थकोशात्. तथा च **तस्य मायया** भगवत्सम्बन्धिन्योत्कृष्टत्वबुद्ध्या **मोहिता** अतिस्नेहकलायुताः सन्तो **नासूयन्. खलु** प्रसिद्धौ, **स्वपार्श्वस्थांस्तान्मन्यमानाः** संमानितवन्त इत्यर्थो बोध्यः. एतदेव विशदीकुर्वन्ति **बुद्धिरेवे**त्यादि. अत्र पक्षद्वयनिरूपणाद्ये

लेखः

भावः. अनिषिद्धत्वं व्युत्पादयन्ति **आत्मानं दातुमि**ति, स्वरूपभूतमेवानन्दं दातुं शक्तः. अतो जीववदिन्द्रियद्वारा सुखोत्पादनाभावान्निषिद्धत्वं नेत्यर्थः. **अत** इति निषिद्धप्रकाराभावादित्यर्थः ॥३७॥

योजना

नासूयन्खल्वित्यस्य विवृतौ **प्रथमप्रवृत्तिं ज्ञात्वे**त्यादि, "न न्यवर्तन्त मोहिता" इति वाक्यान्निषेधेऽपि भगवन्निकटे तासां प्रवृत्तिं ज्ञात्वापि नासूयन्. तत्र हेतुमाहुः **भगवन्मायामोहिता नासूयन्निति.. अग्रे तु स्वपार्श्वस्थानित्यादि**, भगवन्निकटगमनाद् आरभ्य पुनः स्वगृहागमनपर्यन्तं

१. अज्ञानादनादरेऽपि इति मुं. वि. पाठः.

इति **खल्वित्युक्तम्**. भगवत्सान्निध्येऽपि मोहार्थं **तस्येति**. बुद्धिरेव **तेषां** भ्रमात्, शिष्टं भगवत एवेति मननमात्रेणैव सर्वदोषपरिहारः. अनेन तास्वपि दोषारोपो निवारितः ॥३८॥

एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य उक्तां लीलामुपसंहरति **ब्रह्मरात्र** इति.

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ॥३९॥

अरुणोदयो **ब्रह्मरात्रं**, तस्मिन् **उपावृत्ते** सम्यक् जाते तदन्तर्यामितया प्रविष्टो भगवान् गृहे गन्तव्यमितीच्छामुत्पादितवान्. ततः भगवतानुज्ञाताः,

प्रकाशः

गोपाला रात्रिगानपरास्तेषां द्वितीयपक्षे निवेशो अन्येषां च पूर्वस्मिन्निति ज्ञेयम् ॥३८॥

लेखः

नासूयन्नित्यत्र. बुद्धिरेवेति, एता अस्मत्समीपमेव स्थिता इति **भ्रमं** सम्पाद्य **तेषां बुद्धिरेव** मायया मोहितेति शेषः. **शिष्टमिति**, स्त्र्यादिकं सर्वं भगवदीयमेवेति रमणे वस्तुतो दोषाभावान्मननमात्रेणैव तथेत्यर्थः. बुद्ध्या दोषारोपोऽपि सम्भवतीति सा न भगवदीयेति **शिष्टमित्युक्तम्** ॥३८॥

ब्रह्मरात्र इत्यत्र, **अनुमोदन**पदार्थमाहुः **इच्छामुत्पादितवान् ततोऽनुज्ञाता** इति ॥३९॥ त्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

योजना

तु स्वपार्श्वस्थाभिमानादसूयासम्भावनैव नास्तीति हार्दम्. **बुद्धिरेव तेषां भ्रमादित्यादि**, **भ्रमान्मायामोहजन्याद्** या **बुद्धिः** "एता अस्मन्निकटएव वर्तन्ते, भगवन्निकटे सर्वथा न गता" इत्याकारिका, सा तु **तेषां** गोपानां सम्बन्धिनी. **शिष्टं** सर्वं देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवाप्तगेहादिकं **भगवतएव** भगवदीयमेवेत्यर्थः. गोपीनां सर्वं भगवदीयमेवेति तन्मध्ये भर्तृत्वेन प्रसिद्धानां गोपानामपि निवेदितत्वादेतेषां भगवति दोषस्फूर्तिरिव महान् दोषः, स च **मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानित्य**नेन दोषारोपाभावोक्तेर्गतः; अतः सर्वदोषपरिहार इत्यर्थः. **अनेन तास्वपीति**, गोपानां निर्दोषत्वे निर्दुष्टसङ्गादेतासामपि दोषो निवारित इत्यर्थः. अन्यथा तत्संसर्गजदोषस्यैतास्वपि संक्रमः स्यात् ॥३८॥

यतो भगवान् मोक्षदाता. ताश्चेद् आसन्ध्यमन्तःस्मरणं करिष्यन्ति तदा मोक्षाधिकारिण्यो भविष्यन्तीति **वासुदेवेनानुमोदिताः**. यद्यपि तासामिच्छा न स्थिता, सर्वपरित्यागेन भगवद्भजनस्य कृतत्वात् किं गृहेण लोकैर्वेति, तथापि **गोप्य** इति विपरीतबुद्धिर्हठबुद्धिश्च तासां नास्तीति **स्वगृहान् ययुः**. तथापि तासां न गृहाः प्रियाः किन्तु **भगवानेव**. नापि संसारभयम्, यतो **भगवतः प्रियाः** ॥३९॥

मोक्षार्थमिदं चरित्रमिति ज्ञापयितुं एतदुपाख्यानश्रवणस्य फलमाह **विक्रीडितमिति**.

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोपशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥४०॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडावर्णनं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥

टिप्पणी

ब्रह्मरात्र इत्यत्र, **वासुदेव**पदतात्पर्यमाहुः **यतो भगवानि**त्यादि. दिवा विप्रयोगजार्तौ सत्यां दिनान्ते प्रियसंगमे य आनन्दो, न स सदा दर्शन इति सोऽत्र **मोक्षपदे**नोच्यते ॥३९॥

श्रुतिसिद्धरसात्मत्वं प्रकटीकृत्य भूतले ।
क्रीडन्मल्लोचने शश्वच्छिशिरीकुरुते प्रभुः ॥
॥ इति त्रिंशोऽध्यायः ॥

प्रकाशः

ब्रह्मरात्र इत्यत्र, पूर्वश्लोके 'दार'पदादत्र अन्यपूर्वाणामेव गृहगमनं न कुमारिकाणामिति शङ्कानिरासोऽपि टिप्पण्यां **दिवा विप्रयोगे**त्यादिनैव कृतो बोध्यः ॥३९॥

॥ इति श्रीपीताम्बरकृतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः तामसफलप्रकरणीयः ॥

योजना

ब्रह्मरात्र उपावृत्त इत्यस्य विवृतौ **मोक्षाधिकारिण्यो भविष्यन्ती**ति, **मोक्षपदार्थ**ष्टिप्पण्यां विवृतः ॥३९॥

व्रजवधूभिः सह भगवत इदं **विशेषण क्रीडितं श्रद्धान्वितो** भूत्वा सम्यक् कथ्यमान**मुपशृणुयात्** अथवा **वर्णयेत्**, श्रवणानन्तरमेव कीर्तनमित्यथशब्दः. **य** इति नात्र वर्णादिनियमः किन्तु यः कश्चन, भगवतो माहात्म्यश्रवणादेवमपि मोचयतीति. भक्तानां च सर्वथा प्रतिपत्तिश्रवणाच्च. **भगवति परां भक्तिमु**पगतः ततो भक्त्या अन्तःस्थिरीभूतया **हृदयस्य रोग**रूपं **काममाशु** शीघ्रमे**वापहिनोति**, यः पूर्वं हृदयबाधकत्वेन स्थितः शीघ्रमेव च बाधकर्ता, तमाश्वेव दूरीकरोति श्रवणमात्रेणैव. ततः पूर्ववासनया पुनरुद्गमे **अचिरेणैव धीरो** भवति. अत इदं साभिप्रायं श्रोतव्यमिति फलप्रकरणत्वात् फलमुक्तम् ॥४०॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभ-दीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

योजना

विक्रीडितमित्यस्य विवृतौ **किन्तु यः कश्चन** शृणुयाद् वर्णयेद् वा स उक्तं फलं प्राप्नोतीत्यर्थः. **भगवतो माहात्म्यश्रवणादेवमपि मोचयतीती**ति, **एवमपि** श्रवणमात्रेण वर्णनमात्रेणापि गुणान्तरराहित्येऽपि भगवान् **मोचयती**-त्यर्थः. **शीघ्रमेव च बाधकर्ते**ति, इह **हृद्रोगमाश्वपहिनोती**ति वाक्ये **आशु हृद्रोगमित्याशु**शब्दस्य पूर्वेण **हृद्रोग**पदेनान्वयं कृत्वा व्याख्यातं **शीघ्रमेव च बाधकर्ते**ति. **तमाश्वेव दूरीकरोतीति हृद्रोगमाश्वपहिनोती**ति वाक्ये **आश्वपहिनोतीत्याशु**पदस्य परे**णापहिनोतीति** पदेनान्वयं कृत्वा व्याख्यातम्. एव**माशु**पदस्य देहलीदीपन्यायेनोभयत्रान्वयः कृत इति बोद्धव्यम् ॥४०॥

शृङ्गाररस्थायिभावत्वाद् बालकृष्णस्वरूपवान्।
सएव रसतां प्राप्तो गोवर्धनधरः प्रभुः ॥

॥ इतिश्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्यवर-श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन दीक्षितलालूभट्टेन कृता दशमस्कन्धत्रिंशाध्यायसुबोधिनीयोजना सम्पूर्णा ॥

॥ इति त्रिंशोध्यायः ॥

॥ षष्ठः स्कन्धादितः एकत्रिंशोऽध्यायः ॥

एवं रूपप्रपञ्चस्य पञ्चधा रसवर्णनम् ।
निरूप्य नामलीलातो रसार्थमिदमुच्यते ॥(१)॥
एवमुद्धृतभक्तास्तु यद्यन्यं समुपासते ।
दुःखभाजो भवन्त्येव मुच्यन्ते हरिणैव तु ॥(२)॥

टिप्पणी

अथैकत्रिंशाध्यायं विवृण्वन्त उक्तलीलानन्तरमन्यभजनं कुतुकादपि व्रजवासिनामनुपपन्नमित्याशङ्क्य इदं प्रकरणं न सर्वथा पूर्वप्रकरणमध्यपातीति ज्ञापनाय पूर्वप्रकरणार्थमनूद्यैतदुक्तितात्पर्यमाहुः **नामलीलात** इत्यारभ्य **हरिणैव** **त्वित्यन्तेन**. **नामलीलातो** यो **रसस्तदर्थमन्यभजननिवृत्तिपूर्वकमिदं** प्रकरण**मुच्यत** इत्यर्थः. यथा रूपलीला स्वतन्त्रा तथा नामलीलापीति ज्ञापनाय भिन्नोपक्रमेणैतत्प्रकरणारम्भः कार्यः. तत्रान्यभजननिवृत्तिपूर्वकं भगवन्माहात्म्यज्ञानमङ्गं तदर्थं तथोच्यते. **एवमुद्धृतभक्ता** इति इन्द्रभजननिवृत्तिपूर्वकमित्यर्थः (१-२).

एतावान्परं विशेषो यद्रूपलीलारसानुभवे वैष्णवधर्माणामपि त्यागोऽङ्गं, नामलीलारसानुभवेऽन्यदेवताभजननिवृत्तिस्तथा, न तु विहितानां भगवद्धर्माणामपि, विधेरपि नामलीलामध्यपातित्वात्, मर्यादापुष्टिभेदेन तस्या द्विविध-

लेखः

एकत्रिंशे कारिकासु **एवमिति**, **रूपविस्तारस्य** सर्वत्र तत्तत्प्रकारेण स्थितस्वरूपस्य **रसः** स्वरूपानन्द इति यावत्, तस्य **वर्णनं** भक्तेषु विस्तारणं "आत्मने"त्यादि **पञ्चधा निरूप्येत्यर्थः** (१).

कारिकार्थः

एकत्रिंशाध्याये **एवं रुपप्रपञ्चस्येत्यादि**, **एवं** पञ्चभिरध्यायैः **रूपप्रपञ्चस्य पञ्चधा** "आत्मना प्रथमा लीले"त्यादिप्रकारेण **रसवर्णनं निरूप्य नामलीलातो** गानात्मकशब्दलीलातो यो **रसः** तदर्थमन्यभजननिवृत्तिपूर्वक**मिदं** प्रकरण**मुच्यत** इत्यर्थः (१).

एवमुद्धृतभक्ता इति, इन्द्रभजननिवृत्तिपूर्वकमुद्धृता इत्यर्थः. अतएव नन्दस्य अम्बिकाद्यन्यदेवता-भजनहेतुकः क्लेशः हरिणैव मोचनश्च (२).

एकत्रिंशे सर्वभावान्निवृत्तानां तु पूर्ववत् ।
गानेन रमणं चक्रे प्रमाणानन्दसिद्धये ॥(३)॥
बलभद्रेण सहितो वेदरूपेण सर्वथा ।
तद्दोषं नाशयामास हरिरित्युच्यते स्फुटम् ॥(४)॥

टिप्पणी

त्वान्मर्यादामिश्रपुष्टिमार्गीयाः पूर्वाध्याये कथ्यन्ते, शुद्धपुष्टिमार्गीया द्वितीये. मर्यादामार्गस्य सदोषत्वज्ञापनाय शङ्खचूडप्रसंगः.

लेखः

पूर्ववदिति, इन्द्रयागनिवृत्तिवदत्रापि धर्मान्तरेभ्यो **निवृत्तानां** भक्तानां **प्रमाणानन्दसिद्धये बलदेवसहितो रमणं चक्रे,** ततो मर्यादामिश्रणात् प्राप्तं **दोषं** सर्वप्रकारेण **नाशयामासेति** एकत्रिंश उच्यते इत्यन्वयः (३-४).

योजना

श्रीगिरिधारी करोतु कुशलानि. एकत्रिंशाध्यायार्थोक्तौ **प्रमाणानन्दसिद्धये** इति, **प्रमाणस्य** वेदरूपस्य बलदेवस्य सम्बन्धी य **आनन्दस्तस्य सिद्धये** इदं **रमणं** प्रभु**श्चक्र** इत्यन्वयः. युक्तं चैतत्, प्रमाणप्रधानतया पुरुषोत्तमं भजन्तीभ्यः श्रुतिरूपाभ्यो गोपिकाभ्यः प्रमाणरूप-बलदेवसहित-पुरुषोत्तम-रमणानन्दानुभव एव दातव्य इति तथैव बलदेवसहितो भगवान् रेमे इत्यर्थः. **बलभद्रेण सहितो वेदरूपेणेति**, "शब्दब्रह्म परंब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू" इति वाक्याद् वेदरूपताक्षरब्रह्मरूपता च ज्ञातव्या, "जगद्गुरुं सात्वतशास्त्र-विग्रहमि"तिवाक्येऽपि वेदरूपताया उक्तत्वात्, सात्वतशास्त्रस्य वेदादेर्विग्रहत्वेन कथनात् (३-४).

कारिकार्थः

पूर्ववदिति, इन्द्रयागनिवृत्तिवदत्रापि अन्य**भावाद्** देवतान्तरभजनात् **निवृत्तानां** भक्तानां **प्रमाणानन्दसिद्धये वेदा**त्मक-प्रमाण**रूप-बलदेवसहितो रमणं चक्रे**. ततो मर्यादामिश्रणात् प्राप्तं शंखचूडात्मकं **दोषं सर्वथा नाशयामासेति एकत्रिंशे उच्यते** इत्यर्थः. अत्र टिप्पण्यां— मर्यादापुष्टिभेदेन नामलीलायाः द्विविधत्वात् मर्यादामिश्रपुष्टिमार्गीयाः पूर्वाध्याये कथ्यन्ते, शुद्धपुष्टिमार्गीया द्वितीये. मर्यादामार्गस्य सदोषत्वज्ञापनाय शंखचूडप्रसंग इति (३-४).

शब्दतोऽप्यानन्दं निरूपयितुं प्रथमं गोकुलवासिनामन्यासक्तिं निवारयति **एकदे**ति विंशत्या.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः ।
अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकालयम् ॥१॥

लोकमान्येनाप्यन्यत्र गमनेऽनिष्टं भवतीति तेषां यात्राप्रसङ्गो निरूप्यते. **एकदा** शिवरात्रिसमये. प्रतिवर्षं न गच्छन्तीत्ये**कदे**त्युक्तम्. **देवयात्रा** हि नित्या, **गोपालाश्च** साधारणधर्म एवाभियुक्ता इति. तत्रापि धर्मबुद्धिः प्रासङ्गिकी, वस्तुतस्तु **जातकौतुकाः**. अतएव न पद्भ्यां गमनं किन्त्व**नोभिः** शकटैः. तत्रापि नाश्वयोजनं किन्तु **अनडुद्युक्तैः प्र**कर्षेण **ययुः** महता समारम्भेण गृहे पुरुषानभिनिवेश्य **अम्बिकालयं** मथुरातः पश्चिमे देशे अर्बुदाचलनिकटे स्थितं तीर्थविशेषं **ययुः** ॥१॥

तत्र गतानां पूजाप्रकारमाह **तत्र स्नात्वे**ति.

लेखः

एकदेत्यस्याभासे **आनन्दं निरूपयितुमि**ति "कदाचिदथ गोविन्द" इत्यादिनेति शेषः. **निवारयती**त्याहेति शेषः. व्याख्याने, एतेषामेवं बुद्धौ हेतुमाहुः **देवयात्रा ही**ति. अन्यधर्मस्य काम्यस्यैव त्यागो, न तु नित्यस्य. **हि** यत इयं **नित्या**ऽतस्तेषां तथा बुद्धिरिति कर्मनिष्ठो हेतुरुक्तः. गोपीनामेव प्रकरणेऽप्यत्र गोपालानामपि निरूपणं धर्मतः साम्येन प्रसङ्गादिति वदन्तः कर्तृनिष्ठमपि हेतुं समुच्चिन्वन्ति **गोपालाश्चे**ति. न तु मुख्यस्वामिनीवदसाधारणे प्रमेयधर्मेऽभियुक्ता इत्यर्थः. वस्तुतस्तु नित्यमपि देवान्तरसम्बन्धिकर्म शरणमार्गीयैस्त्यक्तव्यमेव. वैदिकमन्त्रोक्तानां देवानां तु "देवा नारायणाङ्गजा" इतिवाक्याद् भगवदवयवत्वं, न तु देवान्तरत्वम्. कर्मणोऽपि तदुक्तस्य भगवत्क्रियाशक्तिरूपत्वमेवेति निबन्धे व्यवस्थापितम्. अतो वैदिकं कर्म काम्यमेव विकृतत्वात्त्यक्तव्यम्. स्मार्तं तु देवान्तरसम्बन्धि उभयविधमपि, "सर्वधर्मानि"ति वाक्यात्. श्राद्धतीर्थस्नानदानादिकं "विष्णुः प्रीयतामि"ति सङ्कल्पेन कर्तव्यम्. यत्र विष्णुप्रीतिसङ्कल्पो न सम्भवति तच्छिवरात्र्यादिकं शरणमार्गीयैस्त्यक्तव्यमिति सिद्धान्तः. **मथुरात** इति, व्रजस्यापि मथुरामण्डलान्तर्गतत्वमिति भावः ॥२॥

तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं प्रभुम् ।
आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीं च नृपतेऽम्बिकाम् ॥२॥

सरस्वती तत्र प्रादुर्भूता, अतः **स्नात्वा** पशुपाशविमोक्षणार्थं स्वयं पशुपालका इति **पशूनामधिपतिं** पशुपालने फलदातारं **प्रभुं** सर्वदानसमर्थ**मर्हणैः** पूजाद्रव्यै**रानर्चुः**; न तु पामरवद् गमनमात्रम्. **देवीं च अम्बिकां** पार्वती**मानर्चुः, च**कारात्तदावरणदेवताः. **नृपते** इति सम्बोधनं यात्रायां तथाकरणे परिज्ञानाद्विश्वासार्थम् ॥२॥

पूजामुक्त्वा दानान्यप्याह **गाव** इति.

गावो हिरण्यं वासांसि मधुमध्वन्नमादृताः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददुः सर्वे देवो नः प्रीयतामिति ॥३॥

सर्वकाम्यान्येतानि दानानि– **हिरण्यं** सुवर्णं **वासांसि** नानाविधानि **मधु** च **मध्वन्नं च**. ग्राम्यारण्ययोः सिद्ध्यर्थं मधुमध्वन्नयोर्दानम्. गोभिः रुद्रः प्रीतो भवति, हिरण्येनाग्निः, सोऽपि रुद्रएव. वासांसि सर्वदैवत्यानि सोमदैवत्यानि च. उमया सहितः सोऽपि तेन प्रीतो भवति. एवं पञ्च दानानि **आदृताएव** चक्रुः. पात्रसम्पत्तिमाह **ब्राह्मणेभ्य** इति. **सर्व** इति सङ्कदोषोऽपि व्यावर्तितः. कामनां च व्यावर्तयति **देवो नः प्रीयतामिति, देवो** महादेवः, अथवा यएव देव इति साधारणं वचनं, **नो**ऽस्माकं प्रीतो भवत्विति, न त्वन्या काचित् कामना ॥३॥

एवं यात्रायां कृत्यमुक्त्वा नियमेन तीर्थस्थितिमाह **ऊषुरिति**.

ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य धृतव्रताः ।
रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः ॥४॥

सरस्वतीतीरएव अन्तःशुद्ध्यर्थं **जलमेव प्राश्य तां रजनीमूषुः**, न तु

लेखः

गावो हिरण्यमित्यत्र सोऽपि रुद्र इति. "देवासुराः संयत्ता आसन्नि"त्यत्र अग्नेरेव रोदनाद्रुद्रत्वमुक्तम् ॥३॥

योजना

गाव इत्यत्र **सोऽपि रुद्र** इति, अग्निरपि रुद्र एवेत्यर्थः, "यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमि"ति तैत्तिरीयाणां प्रथमाष्टके रोदनाद्धेतोरग्ने रुद्रत्वकथनात् ॥३॥

रजन्यां किञ्चित् कृतमिति. एतावान् धर्मः सिद्धः. अग्रिमानिष्टं निवर्तिष्यत इति **महाभागा** इत्यनेन द्योतितं श्रोतुः सन्देहाभावाय. **नन्दः सुनन्दकश्च** प्रधानभूतौ येषां, **नन्द** इति प्रधाननाम्ना वा सर्वे व्यपदिष्टाः. **सुनन्दक आदिर्येषामिति** सर्वेषामेव नन्दतुल्यता. भगवत्सम्बन्धादत्यानन्दयुक्तः **सुनन्दको** भवति, उपनन्दोऽन्यो वा; नन्दएव वा धर्मप्राधान्येन गृहीतः ॥४॥

एवं सर्वतो धर्मसम्पत्तियुक्तानां भगवद्भावे तिरोभूते निरोधस्य वक्तव्यात् शकटाक्षेपवत् सर्पेण नन्दग्रासमपि भगवान् कारितवानित्याह **कश्चिदिति**.

कश्चिन्महानहिस्तस्मिन् विपिनेऽतिबुभुक्षितः ।
यदृच्छयागतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत् ॥५॥

महानहिरजगरः, स हि क्षुधितएव तिष्ठति कदाचिदेवान्नं प्राप्नोति. तत्र दैवगत्या **तस्मिन् विपिने** आहाराभावाद् **अतिबुभुक्षितो** जातः. **यदृच्छयाकस्मिकविधिना** तेन नन्दः प्राप्तः. **यदृच्छयैव** नन्दसमीप**मागतः**. नन्दोऽपि दैवगत्या निद्राणो जातः, वस्तुतस्तु जाग्रता स्थातव्यम्. अतः **शयानं नन्दं** मुख्यमेव, **उरगः**, आगमने ज्ञातुमशक्यः, **अग्रसीत्** जग्रास ॥५॥

ततो यज्ञातं तदाह **स चुक्रोशेति**.

स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम् ।
सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय ॥६॥

कण्ठादधोभागेऽ**हिना ग्रस्तः** पूर्वं केवलं **चुक्रोश**, पश्चान्माहात्म्यं स्मृत्वा

टिप्पणी

रजनीं तां महाभागा इत्यत्र **अग्रिमानिष्टमिति**, सर्वथा परिग्रहो भाग्ये महत्त्वं, तद्वत्त्वादेतेषामन्यभजने दुःखसम्भवः, उपेक्षायां तु सुखमेव भवेदिति भावः ॥४॥

लेखः

ऊषुरित्यत्र एतावानिति. उपवासान्तः सर्वोऽपि **सिद्धः** तथापि **'महाभागा' इत्यनेन द्योतितमग्रिमानिष्टं** भगवता **निवर्तिष्यत** इति **श्रोतुः** शङ्काभावाय उक्तमिति शेषः. भाग्यमहत्त्वं टिप्पण्यां विवृतम्. **प्रधाननाम्ना वेति**, तदा नन्दाश्च ते सुनन्दकादयश्चेति विग्रहः. **नन्दएव वेति**, तदा नन्दश्चासौ सुनन्दकश्च तदादय इतिविग्रहः ॥४॥

"कृष्ण! कृष्ण!" इत्यादरेण भयाद्वा सम्बोधनं कृत्वा स्वानिष्टं निवेदयति **महानयं सर्पो मां ग्रसत** इति. **तातेति** सम्बोधनं स्नेहाद्वैक्लव्यात्. परिमोचने हेतुं वदन्नेव प्रार्थयते **प्रपन्नं परिमोचयेति** ॥६॥

ततो भगवन्मोचनात् पूर्वमेव अन्ये गोपालाः प्रतिक्रियार्थमुद्यता जाता इत्याह **तस्य चेति**.

तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालाः सहसोत्थिताः ।
ग्रस्तं च दृष्ट्वा विभ्रान्ताः सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः ॥७॥

नन्दस्य विज्ञतां बोधयितुमन्येषामविज्ञतां च, प्रार्थनाप्रतिक्रिययोर्निरूपणम्. **तस्य** नन्दस्य **आक्रन्दितं श्रुत्वा सहसैव** विचारमकृत्वैव भगवन्तमपृष्ट्वैव स्वयमेवो**त्थिताः** नन्दं **च ग्रस्तं दृष्ट्वा** विशेषेण **भ्रान्ताः** सन्तः शीतार्थं ज्वालितै**रुल्मुकैः सर्पं विव्यधुः**. अनेनोपायेन नन्दोऽपि म्रियेत, तथाप्यज्ञानाद्भगवति विद्यमाने यात्रावदिदमपि कृतवन्तः ॥७॥

तथाप्यनुपायत्वान्न फलितमित्याह **अलातैरिति**.

अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत् तमुरङ्गमः ।
तमस्पृशत् पदाभ्येत्य भगवान् सात्वतां पतिः ॥८॥

स हि भक्षयितुमेव जानाति, न त्यक्तुम्, अतो **नामुञ्चत्.** ततो यदुचितं तमुपायं भगवान् कृतवानित्याह **तमस्पृशदिति**, स्वय**मभ्येत्य पदा तमस्पृशत्**. तस्य हि कर्मक्षयः कर्तव्यः. स ज्ञानेन भक्त्या वा. ज्ञाने त्वधिकारिशरीरमपेक्ष्यते. भक्तिरप्यत्र प्रमेयलभ्यैव. अतस्तस्य भक्तिसिद्ध्यर्थं भगवदीयशरीरप्राप्त्यर्थं **पदा अस्पृशत्.** स्वयमागत्येति तस्यापि साधनापेक्षाभावाय. तस्य तथाकरणसामर्थ्यावश्यकत्वाय **सात्वतां पतिरिति**, वैष्णवानामयं पतिः, अतो वैष्णवहितार्थं तथा कृतवान् ॥८॥

ततो यज्ञातं तदाह **स वा** इति.

लेखः

तमस्पृशदित्यत्र. भक्तिरपीति, अतश्चरणस्पर्शो, नोचेत् श्रवणादिकमेव सम्पादयेदिति भावः. **तस्यापीति**, प्रमेयस्यापि प्रपत्त्यादिसाधनापेक्षाभाव उक्तः. चरणे तादृशसामर्थ्यस्थापने हेतुमाहुः **तस्य तथेति, तस्य** चरणस्योत्तमदेहकरणसामर्थ्यं भगवतो वैष्णवपतित्वात् तद्देहसम्पादनायावश्यकमित्यर्थः ॥८॥

स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः ।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥९॥

वै निश्चयेन **स सर्पवपुर्हित्वा विद्याधररूपं भेजे.** परं पूर्वस्माद्विशिष्टं, भगवदीयत्वात्. तदाह **विद्याधरैरर्चितमिति**, विद्याधराणां देवरूपो जातः. सर्वापकृष्टा सर्पयोनिः, सर्वोत्तमा भगवदीया –एवं चरणप्रभावः. तस्य सर्वाधमस्य सर्वोत्तमत्वप्रापणे प्रमेयबलमेव हेतुरित्याह **भगवत** इति. देहमात्रे उपपत्तिरुक्ता. तस्य लोके सर्वोत्तमत्वाय चरणं विशिनष्टि **श्रीमत्पादेति**, तस्य **स्पर्शेन हतमशुभं** यस्य. सर्ववपुःपरित्यागे पापनाशो हेतुः. गुणाधानेऽपि तत्स्पर्शएव हेतुः. यथायोग्यं पदार्थाभिनिवेशः कर्तव्यः. चरणरजएव सामग्रीसम्पादकम् ॥९॥

एवमुपकारमयुक्ते कृतवानिति शङ्कां वारयितुं तस्य भगवत्कृतोपकारज्ञानमप्यस्तीति ज्ञापयितुं भगवांस्तं पृच्छतीत्याह **तमपृच्छदिति.**

तमपृच्छद् हृषीकेशः प्रणतं समवस्थितम् ।
दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम् ॥१०॥

यद्यपि स्वयं तस्यान्तःकरणं सर्वमेव जानाति यतो **हृषीकेशः**, तथापि तत्र शास्त्रीयं सामर्थ्यं स्थापयितुं परिभाषणपूर्वकं तस्यान्तःकरणं बोधयतीत्याह **हृषीकेश** इति. तथाकरणे हेतुः **प्रणतमिति**. तर्हि पूर्वं कथमन्यथाकृतवानित्याशङ्क्याह **समवस्थितमिति**, पूर्वं तु न सम्यगवस्थितः इदानीं तु नम्रभावेन स्थित इति. आन्तरमप्यस्य स्वरूपं समीचीनमिति ज्ञापयितुं बहिःकान्तिं वर्णयति **दीप्यमानेन वपुषेति**, यथा भगवदीयस्य तेजोवच्छरीरं भवति तथा दीप्यमानेन वपुषा उपलक्षितः. उत्कृष्टयोनावपि भगवदीयत्वेऽपि तरतमभावोऽस्तीति कदाचित्तिर्यगादिरूपं स्त्रीरूपं वा प्राप्नुयादिति शङ्कां वारयितुमाह **पुरुषमिति**. तत्रापि सर्वगुणपूर्णतां ज्ञापयितुमाह **हेममालिनमिति**, महानेवालङ्कृतो भवतीति ॥१०॥

लेखः

तमपृच्छदित्यत्र शास्त्रीयमिति वचनद्वारेति भावः. **तर्हि पूर्वमिति**, पूर्वं प्रबोधनमकृत्वा सर्पदेहत्याजनरूपं मारणमेव कुतः कृतवानित्यर्थः. **तेजोवदिति** तुल्यार्थे 'वतिः', प्रकाशकत्वेन तुल्यता. **वपुषेति** सहार्थे तृतीया व्याख्याता ॥१०॥

प्रश्नमाह **को भवानिति.**

को भवान् परया लक्ष्म्या रोचतेऽद्भुतदर्शनः ।
कथं जुगुप्सितामेतां वनं वा प्रापितोऽवशः ॥११॥

क इति जातिनाम्नोः प्रश्नः. स्वभावतोऽप्यमहतः सहसैव साधने न महत्त्वमापद्यत इति भगवानपि तं वर्णयति **परया लक्ष्म्या रोचते भवानिति.** किञ्च देवादयः सर्वएव समागताः बहुधा दृष्टाः परं **भवानद्भुतदर्शनः,** अद्भुतं दर्शनं यस्येति नैवंविधः कश्चित्तेजस्वी दृष्टपूर्व इत्यर्थः. इदं पूर्वपुण्यनिचयव्यतिरेकेण न भवति, तस्मिंश्च सति **कथं जुगुप्सिता** योनिरिति? **अवश्यं** केनचित् **प्रापित** इति शापएव किञ्चित्कारणं भविष्यतीति तथोच्यते. तत्रापि **वनं** केन **वा प्रापित** इति ॥११॥

अयं पूर्वमपि सर्पएव स्थितः, भगवत्कृपया विद्याधरत्वं प्राप्त इति. पुनः सर्प एवायं जातः, अतः **सर्प उवाचेति.** स्वस्य पूर्ववृत्तान्तमाह **अहमिति** श्लोकद्वयेन.

॥ सर्प उवाच ॥

अहं विद्याधरः कश्चित् सुदर्शन इति श्रुतः ।
श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेनाचरन् दिशः ॥१२॥
ऋषीन् विरूपानाङ्गिरसः प्राहसं रूपदर्पितः ।
तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना ॥१३॥

विद्याधरा देवविशेषाः. **कश्चिदित्यप्रसिद्धः. सुदर्शन इति** वि**श्रुतः** प्रसिद्धः. अनेनैव वैष्णवनाम्ना अग्रे भगवत्कृपा जातेति ज्ञापयितुं वि**श्रुत**त्वकथनम्. तस्य देहकान्तिः धनम् अद्भुतसामर्थ्यं चेति पूर्वमपि गुणत्रयं स्थितमित्याह **श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेनेति. दिशः** दश आसमन्ता**च्चरन्,** सर्वत्राप्यप्रतिहतगतिः. एवं स्वरूपमुक्त्वा अपराधफले निरूपयति **ऋषीनिति.** अ**ङ्गिरस**गोत्रे उत्पन्ना **ऋषयः** अष्टावक्रवद् **विरूपाः** स्थिताः. स्वयं तु **रूपेण दर्पितः प्राहसं,** यथा बालः प्राकृतो हसति. पश्चात्

लेखः

को भवानित्यत्र महत्त्वमिति, इदं प्रथमान्तम्. **अमहत** इति सम्बन्धमात्रविवक्षया कर्मणि षष्ठी. तथा च **महत्त्वं** कर्तृ अमहान्तं पुरुषं **नापद्यते** न प्राप्नोति, तदनुगतं न भवतीत्यर्थः ॥११॥

तच्छापेन **इमां** सर्प**योनिं** प्राप्तः. सर्पयोनिप्राप्तौ विशेषहेतुमाह **प्रलब्धैरि**ति– **प्रलब्धा** वक्रोक्त्या वञ्चिताः उद्वेजिताः, स्वरूपतो निष्कारणमुद्वेजकः सर्पएव भवति, अत इमां योनिं प्राप्त इति. नन्वल्पेऽपराधे कथं महान् दण्डस्तैः कृत इत्याशङ्क्याह **स्वेन पाप्मने**ति, पूर्वं हि ब्रह्मवृत्तिरपहृता, अतस्तेन भाव्यमेव ऋषिभिः केवलं प्रकटितमित्यर्थः ॥१२-१३॥

एवमपराधशापौ निरूप्य तस्य वैष्णवत्वसिद्ध्यर्थं निर्मत्सरतामाह **शापो म**इति.

शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः ।
यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः ॥१४॥

पूर्वं विद्याधरत्वेन कदापि मुक्तिः स्याद्, अतोऽयं **शापोऽनुग्रहार्थएव** यद्यपि लोकेऽनिष्टरूपः तथापि **मे**ऽनुग्रहार्थएव जातः. यतस्ते करुणावन्तः; नहि करुणावतां शापोऽन्यथा भवति, तत्रापि प्रसिद्धानाम्. तदाह **तैः करुणात्मभिरि**ति. तस्यानुग्रहरूपत्वमाह **यदहं लोकगुरुणे**ति. ननु शापः पूर्वसिद्धः, स दोषात्मकएव, तेन कथमिष्टसिद्धिः? तत्राह **कृत** इति, अयं शापः **तैरे**वापूर्वं **कृतः.** भगवद्दर्शनं ऋषीणामनुग्रहाद् भवति, तदत्र शापादेव जातमिति तस्यानुग्रहत्वम्. किञ्च **लोकगुरुणा** त्रैलोक्यस्यैव ज्ञानोपदेशकर्त्रा **पादेन स्पृष्ट** इति, गुरुसेवया हि ज्ञानं सिध्यति. सा सेवा तदा पुष्टा भवतीति निश्चीयते यदि स्वयं पदा स्पृशति गुरुः. अतिविश्वस्तं प्रीतिमन्तमेव स्वयं पदा स्पृशति. तेनैवापराधः पूर्वपापमपि गतमित्याह **हताशुभ** इति, हतमशुभं यस्य ॥१४॥

एवं भगवच्चरणस्पर्शाभिनन्दनं कृत्वा तेनैव जातं फलं प्रार्थनामिषेण कीर्तयति **तं त्वाहमि**ति सार्धैस्त्रिभिः.

टिप्पणी

स्वेन पाप्मनेत्यत्र **पूर्वं ही**ति, ब्रह्मवृत्त्यपहारस्य सर्पयोनिफलकत्वादिति भावः ॥१३॥

लेखः

शापो मे इत्यत्र अपूर्वमिति, इदं क्रियाविशेषणम्. भगवद्दर्शनसाधकशापकरणमपूर्वमेव, पूर्वं न सिद्धमित्यर्थः ॥१४॥

तं त्वाहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम् ।
आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन् ॥१५॥
प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन् महापुरुष सत्पते ।
अनुजानीहि मां देव सर्वलोकेश्वरेश्वर ॥१६॥

आदौ फलानुज्ञां प्रार्थयति. **तं** सर्वफलदातारम्. तुशब्देन कर्मणापि फलमित्यादिपक्षं व्यावर्तयति **तं त्विति. त्वा** त्वां वा. पूर्वार्थे **आङ्**मध्ये, आसमन्ताद् **भवभीतानामिति**. ये केचन दुर्लङ्घ्यादपि संसाराद् भीताः तेषामपि भवान् भयं दूरीकीरोति [1]प्रपत्तिमात्रेणैव. भगवत्सेवार्थं हि संसारे उत्पाद्यन्ते. ते सर्वे संसारगतमायया विपरीताएव भवन्ति. तथापि 'कृष्ण तवास्मी'त्युक्तः सर्वमेव भयं दूरीकरोति. अतोऽस्माकमपि– वयं सापराधाः नन्दस्य ग्रासं कृतवन्तः– किं करिष्यतीति शङ्का निवर्तिता. अत **आपृच्छे** आसमन्तात् पृच्छामि सम्भाषणं करोमि, मध्ये समागतोऽप्युपद्रवो नष्ट इति. आगन्तुकोऽपि दोषो नास्ति, तदाह **शापनिर्मुक्त** इति. **पादस्पर्शादि**त्युभयत्र हेतुः. तथापि सहजपापस्य विद्यमानत्वात् कथं सम्भाषणयोग्यतेत्याशङ्क्याह **अमीवहन्निति, अमीवं** पापं **हन्तीति** ॥१५॥

तथाप्यन्यप्रेरणया दण्डं मा कुर्यादिति भीतः सन् शीघ्रं गमनं प्रार्थयन् पुनर्विज्ञापयति **प्रपन्नोऽस्मीति**, पुनः शरणागतः. शरणागतस्य सर्वे अपराधा निवृत्ता भवन्तीति. **महायोगिन्निति**, तव नैते पित्रादयः किन्त्वतियोगेन तथा विडम्बयसीति केऽपि त्वां न जानन्तीति ज्ञापयितुं महायोगित्वमुक्तम्. किञ्च

टिप्पणी

प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन्नित्यत्र तव नैते पित्रादय इत्यादि, सर्पत्वाद्धीनाधिकारित्वादेवं कथनमिति ज्ञेयम् ॥१६॥

लेखः

तं त्वाहमित्यत्र तवास्मीत्युक्त इति, **इति** मन्त्रेणो**क्तः** कृष्ण इत्यर्थः ॥१५॥

योजना

प्रपन्नोऽस्मीत्यस्य विवृतौ **तव नैते पित्रादय** इत्यस्य तात्पर्यं टिप्पण्यां स्फुटम् ॥१६॥

१. प्रतिपत्तीति पाठः.

अल्पएव क्षुद्रस्यापराधं मन्यते, त्वं तु **महापुरुषः**. किञ्च **सतां पतिः**, सन्तो हि तितिक्षवः, तेषां पतिः सुतराम्. अतः सर्वप्रकारेण मदपराधसहनं युक्तमिति भावः. अतएव **मामनुजानीहि** सेवकत्वेन जानीहि. **देवेति** सम्बोधनाद् देवयोनि-विद्याधर-पक्षपातो युक्तो न तु मानुषपक्षपात इति. ननु मदनुज्ञापितोऽपि कथं यमादिभिर्न पीडितो भविष्यसि, कालादयो हि मद्भक्तापराधे दण्डं करिष्यन्त्येवेति चेत्, तत्राह **सर्वलोकानां** ये **ईश्वराः** तेषामपि **त्वमीश्वर** इति. अतस्त्वत्कृपायां जातायां न कापि चिन्ता भविष्यतीति भावः ॥१६॥

ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात् ।
यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतृनात्मानमेव च ॥१७॥
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते ।

नन्वहमुदासीनः सर्वत्र, "न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय" इति, अतो निषिद्धाचरणे कालादयो बाधकाएवेति चेत्, तत्राह **ब्रह्मदण्डादिति**, भवद्दर्शनादेव ब्रह्मदण्डाद्विमोक्षः प्रत्यक्षसिद्धः. यद्यपि त्वमुदासीनः तथापि त्वद्धर्मा नोदासीनाः, अन्यथा **ते दर्शनादेव ब्रह्मदण्डाद्विमो**क्षो न स्यात्, तत्रापि **सद्यः**, तत्रापि **दर्शनादेव**. **अच्युतेति** सम्बोधनात्र भगवद्धर्माणां कादाचित्कत्वं, तेन ये निवर्तिताः ते निवर्तिताएव. ननु यावदुपयोगमेव निवर्ततां, कथं सर्वानिष्टनिवृत्तिरिति चेत्, तत्राह **यन्नामेति**, मम सर्वपापनिवृत्तौ न सन्देहः, **यस्य नामग्रहण**मात्रेणैव **श्रोतृनात्मानं च** निष्पापान् करोति. तत्रापि नाधिकारिविशेषः किन्तु सर्व**नेव, एवे**त्यनेन **आत्म**शब्दः जीवपरो ज्ञायते. न केवलं दैहिका दोषा निवर्तन्ते किन्त्वज्ञानप्रभृति सर्वमेव निवर्तते. **च**कारात् श्रोतृणामपि तथा समुच्चयार्थः. **सद्यः** शुद्धिरिति शुद्धिहेतूनां देशादीनां निरपेक्षतामाह. तत्रापि **भूयो** वारंवारमुच्चारयन्

लेखः

यन्नामेत्यत्र करोतीति वक्तेति शेषः. **श्रोतृणामिति**, आत्मानमिति शेषः. **तथेति** करोतीति शेषः. अतश्चकारः **समुच्चयार्थ** इत्यर्थः. तथा च वक्ता स्वजीवं श्रोतृन् तज्जीवांश्च निःपापान् करोतीत्यर्थः. वक्तुर्देहशुद्धिस्तु[१] कैमुत्येन सिद्धेत्याशयेनोक्तं **न केवलमित्यादि. तत्रापीति** स्पर्शेऽपीत्यर्थः.

१. सिद्धिः इति मुद्रितपाठस्य संशोधनं जो. पाठमनुसृत्य.

पुनातीति किं वक्तव्यम्! यत्र नाम्नएव एतादृशं माहात्म्यं तस्य स्वरूप-माहात्म्यं किं वक्तव्यमित्याह **तस्य पदा स्पृष्ट** इति. पादस्पर्शः सुतरां दुर्लभः, तत्रापि भगवत्कर्तृकः, तत्रापि चरणकर्तृकः. यतश्चरणे तादृशो रेणुः गङ्गादि-तीर्थानि अमृतरसो भक्ता इति सर्वसान्निध्याद् युक्तमेव सर्वदोषनिवर्तकत्वमिति **ह्यर्थः**. तत्रापि **तस्य ते** सर्वदोषनिवारणार्थमेवावतीर्णस्य ॥१७ $\frac{१}{२}$॥

भगवतो वक्तव्याभावात् तूष्णीम्भावेऽप्यङ्गीकारस्य सिद्धत्वाद्भगवन्त-मनुज्ञाप्य स्वयमेव गत इत्याह **इत्यनुज्ञाप्येति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवाद्य च ।
सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः ॥१८॥

यतो **दाशार्हः** सेव्यः, एवम्भावएव स्वामी सेव्यो भवतीति. सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं साधनमपि कृतवानित्याह **परिक्रम्येति, परिक्रम्य** प्रदक्षिणीकृत्य, सर्वपुरुषार्थास्तेन वेष्टिता इति तत्सिद्धिः स्वाधीना. **अभिवादनेन** स्वतन्त्रतया [१]स्वोपसर्जनत्वेन पुरुषार्थानाम् अत्याधिक्यं सूचितम्. **चकारात्** स्तुत्वा, भगवता च अनुज्ञातः, तथेत्युक्तो वा. "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इति न्यायेन सर्वपुरुषार्थंस्तस्मै दत्तवानिति वा. अतः **सुदर्शननामत्वाच्च दिवं यातः** विद्याधरलोकमेव गतः, **कृच्छ्रात्** सर्वदोषाद् यतो **मोचितः. नन्दश्च**

लेखः

भगवत्कर्तृक इति, **तस्येति** सम्बन्धषष्ठ्या समभिव्याहाराद्भगवत्कर्तृत्वं, न तु सेवककर्तृक इत्यर्थः. तथा च षष्ठ्या सम्बन्धकथनाद्भगवदवयवकर्तृक इत्यर्थः सम्पन्नः. अवयवविशेषः **पदेत्यनेनोक्तः. तत्रापीति** अवयवेष्वपीत्यर्थः. न तु स्वहस्तेन सेवकहस्तं धृत्वा चरणे स्थापनमित्यर्थः. चरणे विशेषमाहुः **यत** इति. **इति ह्यर्थ** इति, मूलस्थ**हि**शब्दस्यार्थ इत्यर्थः ॥१७ $\frac{१}{२}$॥

इत्यनुज्ञाप्येत्यत्र अभिवादनेनेति, आशीःप्राप्त्यर्थं नमनमभिवादनम्. तथा च नमनस्य क्रियारूपत्वात् पूर्वकाण्डरीत्या क्रियाङ्गभूतस्य स्वस्य "फलं च पुरुषार्थत्वादि"ति न्यायेन फलात् स्वतन्त्रता पुरुषार्थानां च स्वोपसर्जनत्वं सूचितम्. तेन पुरुषार्थानां स्वाधीनत्वात् स्वस्य अत्याधिक्यं सूचितमित्यर्थः ॥१८॥

---

१. स्वोपार्जनत्वेनेति पाठः.

तथा **कृच्छ्रान्मोचितः.** चकाराद् वैभवं च ज्ञातवान् ॥१८॥

ततस्ते गोपाः सर्वथा भगवत्परायणा जाता इत्याह **निशाम्येति.**

निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः ।
समाप्य तस्मिन्नियमं पुनर्व्रजं नृप[१] ययुस्तत्कथयन्त आदृताः ॥१९॥

कृष्णस्य तद्वैभवं निशाम्य ज्ञात्वा सर्वएव **व्रजौकसो विस्मितचेतसो** जाताः, अलौकिकसामर्थ्यस्य प्रकटितत्वात्. नात्र कृतिसाध्यं किञ्चिद् येन पूर्वेण गतार्थता स्यात्. अयं त्वनुभावरूपो वैभवो, अन्यथा पादस्पर्शो अलातहननापेक्षया सूक्ष्मत्वात् तेन कथं कार्यं स्यात्? **कृष्णस्ये**ति परमानन्दः स्वानुभवसिद्ध इति धर्म्युत्कर्षः. **आत्मन** एव अयं **वैभवो** न तु शक्तेः. अनेन स्वरूपमेव तथाविधमङ्गीकर्तव्यं यत्र क्रियाज्ञानादीनामभावः. **व्रजौकस** इति दृष्टप्रत्ययएव अतिभरः. अत्यन्तविश्वसिताः, अतः क्रियया विस्मिता अपि पुनरनुभावेनापि **विस्मितचेतसो** जाताः. **ततः तस्मिन्** भगवति **नियमं समाप्य पुनर्व्रजं ययुः.** तत् समारब्धं कर्म कृष्णएव निवेदितवन्तो, अन्यथा तेन बन्धः स्यात्. **पुनर्व्रजमेव ययुः;** तत्रैव सर्वसिद्धिरिति मनसाप्यन्यत्र गमनेच्छां न कृतवन्तः. **नृपे**ति सम्बोधनं विश्वासार्थं, दृष्टे हि राज्ञां विश्वास इति. **आदृताः** सन्तः **तदेव कथयन्त** इति चित्ते भगवदनुभावाभिनिवेश उक्तः ॥१९॥

टिप्पणी

तदात्मवैभवमित्यत्र **यत्र क्रियाज्ञानादीनामि**ति, तेषां प्रयोजनाभाव इत्यर्थः ॥१९॥

लेखः

निशाम्येत्यत्र **तद्वैभवमि**ति, अग्रे पुंस्त्वेन व्याख्यानात् स चासौ वैभवश्च तद्वैभवः, तमित्यर्थः. तथा **च** मूलेऽपि **तदात्मवैभवमि**ति कर्मधारयोऽभिप्रेतः. **वैभवपदस्य** भावार्थकस्य क्लीबत्वाग्रहे **वैभवपदं वै** निश्चयेन **भव** उद्भव इति समासेन साधनीयम्. **अयं त्विति**, [२]पूर्वलीलाप्रकारात् प्रकारान्तरेण पादस्पर्शः **अयं त्वनुभावरूपो वैभवो** निश्चितोद्भवरूप एवेत्यर्थः ॥१९॥

१. पुनर्नृप व्रजं ययुः इति पाठः कदाचित् स्यादिति प्रतीयते (सम्पा.)
२. कालियदमनादिरूपादित्यर्थः.

एवमनन्यभजनार्थं भगवदनुभावं निरूप्य शब्दब्रह्मानन्दं गोपिकाद्वारा सर्वेषु पूरयितुं पुनर्गोपिकाभिः सह शब्दात्मकेन बलभद्रेणापि सह क्रीडां निरूपयति **कदाचिदिति** त्रयोदशभिः.

कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः ।
विजह्रतुर्वने रात्र्यां मध्ये गोव्रजयोषिताम् ॥२०॥

इयं हि लीला कालप्रधाना, अतोऽत्र दैत्यानां बाधकत्वम्. बाधने भगवत्सामर्थ्येन तन्निराकरणे कृते शब्दस्यैव माहात्म्यं निरूपितं भवतीति

टिप्पणी

कदाचिदथ गोविन्द इत्यत्र **इयं हि लीले**त्यादि, तत्तत्कालएव कर्म-विधानान्नामलीला कालप्रधाना. स चोपाधिरूपत्वेन स्वयं क्षयिष्णुरन्यानपि कालयति, दैत्याश्च तादृशा इति तदनुगुणः कालो भवतीति कालप्रधाने मार्गे

लेखः

कदाचिदित्यस्याभासे **शब्दब्रह्मानन्दमि**ति, रूपात्मकं यद् ब्रह्म तत्संपादितो य आनन्दस्तत्पूरणं पञ्चाध्याय्या निरूपितम्, स्वरूपेणानन्दपूरण-मिति यावत्. अत्र वेदात्मकबलसाहित्यकथनेन शब्दब्रह्मसंपादितो य आनन्द-स्तं पूरयितुमित्यर्थः. अत्रापि "तद्द्वारा पुरुषे भवेदि"ति पूर्वोक्तन्यायोऽनु-संधातव्यः. तथा च **गोपिकाद्वारा सर्वेषु** पुरुषेष्वपि **पूरयितुमि**त्यर्थः. अत्र पूर्वोक्तगोपिकाभावात् **पुनःपदं क्रीडां निरूपयती**त्यनेनान्वेतीति ज्ञेयम्. व्याख्याने **इयं हीति** शब्दब्रह्मलीलेत्यर्थः. **बाधने** इति सतीति शेषः. **प्रामाण्यं**

योजना

कदाचिदथ गोविन्द इत्यत्र **इयं हि लीले**त्यादि, इह हि परोक्षवादेन शास्त्रार्थः शिक्ष्यते अध्यात्मरीत्येति बोध्यम्. वेदात्मकबलदेवसाहित्येन कृताया लीलायाः कालप्रधानत्वम्, "उदिते जुहोती"त्यादिविधीनां कालाधीन-त्वाद्. **अतोऽत्रे**त्यादि, यतो वेदलीला कालाधीना अतः कालोपासकानां दैत्यानां तत्रागमनम्, अतः शंखचूडस्यागमनम्. अतएव दैत्यावेशसम्भावनया कर्मणि रक्षोघ्नादिमन्त्राणामुपयोगः. **भगवत्सामर्थ्येने**त्यादि, वेदोक्तमन्त्रादि-पठनेन स्वाज्ञारूपवेदसत्यत्वबोधनाय भगवान्दैत्यान् निवार्य वेदोक्तानि कर्माणि निर्विघ्नानि करोति. तद्दैत्यनिवारणाय प्रकटीकृतं यत्सामर्थ्यं तेन दैत्यनिवारणे कृते **शब्दस्य** वेदोक्तमन्त्रस्यैव **माहात्म्यं** लोके प्रकटीभवति.

मणिदानमग्रजायैव. लौकिकालौकिकमाहात्म्ये ज्ञातएव वेदानां स्वतःप्रामाण्यं सिध्यति, अन्यथा भ्रान्तमीमांसकानामिव सर्वो वेद उत्प्रेक्षापरः स्यात्.

टिप्पणी

दैत्यानां बाधकत्वमावश्यकं, राजसे मार्गे तामसानां प्रभावस्योचितत्वाच्च. एवं सति तन्निवारणे भगवन्माहात्म्येन जातेऽपि तत्र नामलीलात्वस्यैव प्रयोजकत्वात्तन्माहात्म्यं नामलीलापर्यवसाय्येव भवतीत्यग्रजाय मणिदानेन ज्ञाप्यत इत्यर्थः. अतएव प्रकृते शिवरात्रि-रात्रि-निशामुखसंमाननान्युक्तानि. तत्र बाधनिवारणस्यावश्यकत्वायाहुः **लौकिकालौकिकेति**, **लौकिकं** शङ्खचूडवध-श्रवणारविन्दस्पर्शमात्रेण ब्रह्मशापजाहित्वस्यापि नाशोऽपूर्वरूपसम्पत्तिश्च**अलौकिकं ज्ञातएव** लौकिकैः प्रत्यक्षतया ज्ञातएवेत्यर्थः. विपरीते बाधकमाहु**रन्यथेति**, लौकिकालौकिकमाहात्म्याननुभवे फलश्रुतेर्यथाश्रुतार्थस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन तथोत्प्रेक्षापरत्वं कल्प्येत. यथा यजमानस्य बर्हिर्मुष्टिरूपत्वं प्रत्यक्षबाधितमिति "यजमानः प्रस्तर" इति वाक्यं यागोपयोगित्वेन उभयोस्तत्त्वेनोत्प्रेक्ष्यते यजमान इति कल्पयन्ति. वस्तुतस्तु लौकिकमानानुरोधेन वेदार्थबाधका भ्रान्ताएव. यतो लौकिकं मानमलौकिकार्थसमर्पणे न समर्थम् अतो यथाश्रुतार्थएव प्रामाण्यं श्रुतेर्मन्तव्यमिति भावः. **क्रियाशक्तिप्रधान** इति,

योजना

तथा च स्वसामर्थ्येन सर्वं कृत्वापि यशो वेदायैव ददातीत्यर्थः. प्रकृतेऽपि शंखचूडं निहत्य मणिर्बलदेवे स्थापित इति मणिं दृष्ट्वा लोका बलदेव-माहात्म्यमेव गायन्तीति वेदरूपाय बलदेवाय यशो दत्तमिति हार्दम्. **लौकिकालौकिकमाहात्म्ये ज्ञात** इत्यादि, वेदोक्तकर्मणा लौकिके पुत्रादिरूपे फले प्राप्ते लौकिकं माहात्म्यं वेदस्य ज्ञातं भवति. "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इत्यादिवाक्यै"र्बन्दिनस्तत्पराक्रमैरि"त्यादिवाक्यैश्च भगवद्गुणगानपरतां वेदस्यावगत्य परमार्थप्रापका वेदा इत्यलौकिकं माहात्म्यं ज्ञातं भवति. एवमुभयविधे **माहात्म्ये ज्ञाते वेदानां स्वतःप्रामाण्यं सिध्यति** प्रामाण्यं ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः. **अन्यथेत्यादि**, आधुनिका मीमांसका वेदोक्ते प्रमेये युक्तिविरोधं यत्र पश्यन्ति तत्रोत्प्रेक्षामात्रं मन्यमाना वेदार्थमन्यथा ब्रुवन्ति. ये तु वेदमहिमानमवगच्छन्ति ते तु विलक्षणसामर्थ्यं स्वीकृत्य युक्त्यगोचरतां मन्यमाना यथाश्रुतं लापयन्ति. तथा यदि महिमज्ञानं न स्यात्तदा स्वतःप्रामाण्यज्ञाना-

कदाचिदशीतकाले. **अथ** भिन्नोपक्रमेण, पूर्वोक्तगोपिकाव्यतिरिक्ताभिः सह क्रीडा. याः पूर्वं शास्त्रपरा लौकिकधर्मपराश्च स्थिताः तासामप्यनुभावदर्शनात् सर्वस्यापि तदधीनत्वज्ञानाद् भगवता बलभद्रेण च सह रमणार्थमिच्छा जाता. भगवांश्च **गोविन्द** इति तासामपीन्द्र इति क्रियाशक्तिप्रधानो रेमे.

टिप्पणी

इन्द्रत्वेन देवत्वात्तथेति भावः. **अनेन मध्यमाधिकारिणामि**ति, प्रमाणरूपबल-

लेखः

सिध्यतीति प्रामाण्यज्ञानमित्यर्थः. **याः पूर्वमि**ति, शास्त्रेऽनुचितमिदमिति ज्ञात्वा अप्रवृत्ताः **शास्त्रपराः**. पत्यादिभयेनाप्रवृत्ता **लौकिकधर्मपराः**. अधुनोभयोः प्रवृत्तौ क्रमेण हेतुद्वयमाहुः. **अनुभावदर्शनादे**तादृशमाहात्म्यवता रमणं नानुचितमिति ज्ञात्वा शास्त्रपराः प्रवृत्ताः. **सर्वस्य** पत्यादे**स्तदधीनत्वात्त**द्रमणे किं भयकरमिति ज्ञात्वा द्वितीयाः प्रवृत्ताः. ननु बलेन सह रमणेच्छायामनन्यत्वभङ्गाद्भगवान् कथं रेमे इत्यत आहुः **भगवांश्चे**ति, तासामपि स्वामी भवति अतो रेमे. परन्तु पूर्ववद्रमणेऽधिकाराभावात् तथानृत्यादिना अन्तःस्वधर्मस्थापनेन सप्तमाध्यायोक्त-गुणगानरूप-ज्ञानशक्ति-प्राधान्येन अन्तर्न रेमे

योजना

भावादुत्प्रेक्षादिदोषसम्बन्धं स्वीकुर्युरित्यर्थः. अतो वेदमहिमावश्यं बोधनीयः. प्रकृतेऽपि अग्रजाय मणिदानेन श्रीबलदेवस्य **ज्येष्ठभ्रातृत्वहेतुकपूज्यत्वरूपो** लौकिको महिमा दर्शितः, श्रीबलदेवेन दैत्यं हत्वा मणिरानीत इत्ययं देवेभ्योऽप्यधिकबलवानित्यलौकिकोऽपि महिमा प्रदर्शित इति ज्ञेयम्. **पूर्वोक्तगोपिकाव्यतिरिक्ताभिरि**ति पश्चाध्याय्यां निरूपिताभ्यो भगवदेकभोग्यगोपिकाभ्यो व्यतिरिक्ताभिरित्यर्थः. **याः पूर्वं शास्त्रपरा** इत्यारभ्य **बलभद्रेण सह रमणार्थमिच्छा जाते**त्यन्तम्. **याः शास्त्रपराः** शास्त्रे स्वविवाहितेतरभजनं निषिद्धमिति ज्ञात्वा भगवतोऽपि भजनं न कृतवत्यः, **या** वा **लौकिकधर्मपरा** लोके पतिपुत्रादिभ्यो विवाहितेतरभजने भयं भवतीति विमृश्य भगवतोऽपि भजनं न कुर्वन्ति, तादृश्यः **स्थितास्ता** अपि एतावता समयेन भगवतोऽनुभावं दृष्ट्वा सर्वं भगवदधीनमिति भगवद्भजने वैदिकं लौकिकं वा भयं चेद्भविष्यति तदा भगवान् सर्वानिष्टं दूरीकरिष्यतीति निश्चयेन भगवता सह बलदेवेन च सह रिरंसवो जाता इति भावः. **तासामपीन्द्र इति क्रियाशक्तिप्रधान**

रामश्च; तेनापि सह रमणे चित्तप्रसादार्थम**द्भुतो विक्रमः** पराक्रमो यस्येत्युक्तम्. **च**कारस्त्वावेशसमुच्चयार्थः. अनेन मध्यमाधिकारिणां वेदपरत्वं न दोषायेति निरूपितम्, अन्यथा प्रमाणपराणामनन्यभावो भज्येत. अद्भुतः पराक्रम इति केवलार्थपराणामेतस्योपयोगः सूचितः. अन्यथा इतरनिराकरणं स्वार्थनिरूपणं चेति भगवति वेदे वा द्विगुणा वृत्तिः स्यात्. अर्थवदेव

टिप्पणी

देवपराणामपि युगपदङ्गीकारेणेति भावः. अतएवैतादृशानामधिकारिणा-मनन्यत्वभङ्गोऽपि नेत्याहुः **अन्यथे**ति, आवेशाभाव इत्यर्थः. तेनैव तेषामङ्गीकारान्न तद्भङ्ग इति भावः. **अद्भुतविक्रम** इत्यस्य तात्पर्यान्तरमाहुः **केवलार्थपराणामि**ति, अत्रायमर्थः— अद्भुतं हि लौकिकोपपत्तिरहितं मनस उल्लासकं भवति. प्रकृते वेदरूपरामस्य विक्रमः क्रियाशक्तिफलरूपो विचित्रः स्वर्गादिस्तन्निरूपकस्य वेदस्य श्रुतितात्पर्याविदुषां यथाश्रुतार्थपराणामुपयोगः. वस्तुतस्तु 'स्वर्ग'शब्देन "यन्न दुःखेन सम्भिन्नमि"ति वाक्यादात्मसुखमेवोच्यत इति तत्त्वनिबन्धे विस्तृतं पितृचरणैरिति तात्पर्यविदन्यभजनराहित्येन प्रभुमेव भजेत्. तथा **च केवलार्थपराणामि**त्यस्य यथाश्रुत्यर्थपराणामित्यर्थो वेदपक्षे. भगवत्पक्षे तु स्वप्रयोजनपराणां, न तु निरुपधिभगवत्पराणामित्यर्थः. अत्र स्वरक्षा कामसुखं च स्वप्रयोजनम्. एवं सत्यधिकारिभेदेन भजनभेदात्फलभेदोऽपीति तदुपपत्त्यर्थमुभयरूपेण क्रीडेति भावः. विपरीते बाधकमाहुः **अन्यथे**ति,

लेखः

किन्तु इन्द्रत्वात् क्रियाशक्तिप्राधान्येन बहिरेवेत्यर्थः. **रामश्चे**ति रेमे इति शेषः. ननु भगवति विद्यमाने रामेण सह कथं रिरंसेत्यत आहुः **तेनापी**ति, सोऽप्यद्भुतविक्रमत्वाद्वेदरूपोऽतस्तत्क्रियापि भगवत्क्रियैवातस्तथेत्यर्थः. **चकार-स्त्वि**ति **तु**शब्देनावतारान्तरव्युदासः. **एतस्योपयोग** इति, वेदरूप**राम**विशेषण-त्वपक्षे **एतस्य** क्रियाप्रतिपादकस्य वेदस्येत्यर्थः. **गोविन्द**विशेषणत्वपक्षे **एतस्य**

योजना

इति, एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **अनेने**ति, वेदात्मकबलदेवसहितभगवद्रमण-कथनेनेत्यर्थः. **मध्यमाधिकारिणां वेदपरत्वमि**ति, प्रमाणपुरःसरं पुरुषोत्तमपराणां वेदपरत्वं न दोषाय किन्तूचितमेव, तेषां तथैव निरोधसिद्धेः. **केवलार्थपराणामिती**ति, एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **अन्यथे**ति, एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, **वेदे वे**त्यस्याप्यर्थः ॥२०॥

शब्दस्यापि लीलेति **वने रात्र्यामित्युक्तम्**. उभावपि **विजह्रतुः** उभयो रमणार्थम्. पूर्वगोपिकापेक्षया हीना इति **गोव्रजयोषितां मध्य** इत्युक्तं; गोप्राधान्यो **व्रजः**, तत्सम्बन्धिन्यो **योषित** इति ॥२०॥

तत्र शब्दप्राधान्यं निरूपयितुमाह **उपगीयमानौ ललितमिति.**

उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः ।
अलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजाम्बरौ ॥२१॥

सर्वाः स्त्रियः अन्तःस्नेहसम्बद्धा भगवतो गुणगानपरा जाताः. तासामाभ्यन्तरो बाह्यश्च भावो निरूपितः. एवं युक्ताभिः सह स्वस्य सर्वोत्कृष्टस्यैव भावो युक्त इति उभयोः षड्गुणान् निरूपयति **अलङ्कृतेति** सार्धैस्त्रिभिः. आदावलङ्कृतौ सर्वाभरणभूषितौ. शब्दे शिक्षादयः अर्थे देशादयश्चोत्कृष्टा अलङ्काराः. तदभावे तत्र रतिर्न स्यात्. ततः **अनुलिप्ताङ्गौ** चन्दनादिभिः, सद्वासनाव्यतिरेकेणोभयत्रापि रतिर्न स्यादिति. अङ्गेष्वपि सर्वेषु सद्वासनार्थ-

टिप्पणी

उभयरूपेणैतल्लीलाया अकरणे शङ्खचूडवधः स्त्रीणां स्वप्रयोजनसमर्पणं चेति कार्यद्वयमेकेनैव रूपेण न सम्भवतीति तद्रक्षार्थं रूपान्तरं प्रकटनीयं स्यादित्यर्थः. नामलीलायां शब्दप्राधान्यं मत्वा पक्षान्तरमाहुः **वेदे वेति**, यदि साधनरूपेण यथाश्रुतार्थपराणामर्थनिरूपणं फलरूपेण च तात्पर्यविदुषामितरनिराकरणं न कुर्यात्तदा "हिंसायां यदि राग स्याद्यज्ञ एव न चोदने"ति वाक्या"त्तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायत" इति वाक्याच्च यागादिविधीनां "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या" इति वाक्यस्य तदितरभक्षण-निषेधपरत्ववद् यागातिरिक्तकर्म-निषेधपरत्वमेव सिध्यति, न तु यागविधानपरत्वम्, अकरणे प्रत्यवायश्रवणाद् अवश्यकर्तव्यताकत्वविधानपरत्वं चेत्येकस्यैव विधेः स्वार्थपरत्वं स्वार्थातिरिक्तनिषेधपरत्वं चेति **द्विगुणा वृत्तिः स्यादित्यर्थः** ॥२०॥

लेखः

क्रियाशक्तिप्रधानस्य भगवत इत्यर्थः. **गोप्राधान्य** इति, गवां प्राधान्यं यत्र तादृश इत्यर्थः ॥२०॥

अलङ्कृतानुलिप्ताङ्गावित्यत्र, शिक्षादय इति षडङ्गानि वेदालङ्कारभूतानीत्यर्थः ॥२१॥

मङ्गपदम्. **स्रग्विणौ** मालायुक्तौ, कीर्तिरपि सहायत्वेनोभयत्राप्यपेक्ष्यत इति. **विरजेऽम्बरे** ययोरिति, सर्वदोषाभावः शुद्धा माया चापेक्ष्यत इति ॥२१॥

निशामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम् ।
मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ॥२२॥

कर्मणां रात्रिरेव प्रधानमिति, सन्ध्यायामेव सन्ध्याग्निहोत्रादिकमिति, **निशामुखस्य** सन्माननम्. तं कालं गुणवन्तं वर्णयति प्रकृतोपयोगाय **उदितोडुपतारक**मित्यादिना, **उदित उडुपः तारकाश्च** यस्मिन्. चन्द्रोदयः पर्वसूचकः. नक्षत्रोदयो मेघाभावसूचकः. प्रमाणं चन्द्रः, फलं नक्षत्राणीत्यपि. पुण्यो वायुः फलसूचक इति तं वर्णयति **कुमुदवायुना जुष्ट**मिति, कुमुदसम्बन्धी

टिप्पणी

विरजाम्बरावित्यत्र **शुद्धा माये**त्यादि, वेदमार्गे हि द्विधा प्रवृत्तिः— कर्मजडत्वेनैका, भगवदिच्छां ज्ञात्वा भगवत्परत्वेन चान्या. उभयत्रापि माया सहकारिणी. तत्र रजस्तमोयुक्ताऽऽद्ये, एतद्रहिता द्वितीय इति तथेति भावः ॥२१॥

उदितोडुपतारकमित्यत्र **प्रमाणं चन्द्र** इत्यादि, अत्रायं भावः— अत्र हि रामप्रभ्वोर्लीलोच्यते, तौ च प्रमाणफलरूपौ, सामग्र्यपि तद्रूपैवेत्युच्यते. तथा च रसप्रमापकत्वादिन्दुस्तथा. "सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणी"ति श्रुतेः सुकृतफलानुभव-सामयिक-तेजोरूपत्वाद् उडूनां तदुदयोक्त्या फलोदयो

लेखः

निशामुखमित्यत्र **पर्वसूचक** इति, निशामुखे चन्द्रोदयः पूर्णिमायामेव भवतीति तत्सूचक इत्यर्थः. कर्मणि दर्शपूर्णमासेष्टौ पूर्णिमैव मुख्येति भावः.

योजना

विरजाम्बरावित्यत्र **शुद्धा माया चे**ति, एतदर्थष्टिप्पण्यां विस्तृतः ॥२१॥

कर्मणां रात्रिरेवेत्यारभ्य **सन्मानन**मित्यन्तं, महारात्रे बुद्ध्वा "ब्रह्मणा सहाचान्तोऽध्वर्युः अग्ने नयेत्याग्नीध्रमभिमृशती"त्यादिवाक्यात् कर्मसु रात्रिरेव प्रधाना. किञ्च अग्निहोत्रकरणानन्तरं सायं दोहं दोहयतीत्यमवस्थायां रात्रौ दोह इतोऽपि रात्रेः प्राधान्यम्. सन्ध्यायां चाग्निहोत्रम् अतः सन्ध्याया अप्यादरणीयत्वम्. एवं रात्रेः सन्ध्यायाश्च प्राधान्यं वक्तुं **निशामुख**पदम्. तथा च निशाया निशामुखस्य च सन्माननं फलितम्. अन्यथा 'सन्ध्यां

वायुः शीतलो मन्दश्च भवति. **निशामुखस्य** विशेषणम्. उत्तमाधिकारिभिरपि सेवितमित्याह **मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टमिति**, **मल्लिकागन्धः** शोभनवासनारूपः, तेन च **मत्ता** इतरविस्मारकाः, तादृशा **अलयः** षट्पदत्वात् सर्वज्ञाः, तैः सेवितमिति. एवं त्रिधाकाल उत्तमो निरूपितः. तादृशं कालं **मानयन्तौ** समीचीनोऽयमिति स्तुवन्तौ. अनेनाङ्गेऽपि फलश्रुतिर्युक्तेति निरूपितम् ॥२२॥

जगतुः सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम् ।
तौ कल्पयन्तौ युगपत्स्वरमण्डलमूर्च्छितम् ॥२३॥

तदा **सर्वप्राणिनामेव मनःश्रवणयोः मङ्गलं जगतुः** गानं कृतवन्तौ. पर्यवसानोत्तमत्वान्मनोमङ्गलं, स्वरूपोत्तमत्वात् श्रवणमङ्गलमिति. तत्र गाने विशेषमाह **तौ कल्पयन्ताविति**, **युगपदेव स्वरमण्डलस्य** स्वरसमूहस्य **मूर्च्छितं** मूर्च्छनां **कल्पयन्तौ** इति द्वयोरेकमुखता निरूपिता. मूर्च्छनाव्यतिरेकेण न मनो लीनं भवति लयव्यतिरेकेण च सर्वात्मना तत्परता न भवतीति तथाकरणम् ॥२३॥

टिप्पणी

ज्ञाप्यत इति. **मत्तालिजुष्टमित्यत्र**, **षट्पदत्वादिति**, गत्यर्थशब्दानां ज्ञानार्थत्वाज्ज्ञानसाधनषट्कवत्त्वमत्र सूच्यते. तानि दर्शनरूपाण्येवेति सर्वज्ञत्वम् ॥२२॥

लेखः

इतरविस्मारका इति, झांकृतिश्रवणेनान्यस्यापि मदो भवतीति स्वझांकृत्या इतरस्यापि स्वरूपविस्मारका नादेतरपदार्थविस्मारकाः सर्वेषामेवेत्यर्थः ॥२२॥

तौ कल्पयन्तावित्यत्र, **द्वयोरेकमुखतेति** वेदार्थरूपयोर्बलप्रभ्वोरित्यर्थः ॥२३॥

योजना

मानयन्तावि'त्येव वदेत्. **उदितोडुपतारकमित्यस्य** विवृतौ **पर्वसूचक** इति पूर्णिमासूचक इत्यर्थः, **निशामुखं मानयन्तावित्युक्त्वा** चन्द्रोदयकथनान्निशामुखे चन्द्रोदयस्य पूर्णिमायामेव सत्त्वादित्यर्थः. **प्रमाणं चन्द्र** इति **फलं नक्षत्राण्यपीति**, एतदर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **अनेनाङ्गेऽपि फलश्रुतिरिति**, **तादृशं कालं मानयन्तौ** इत्यनेन कर्माङ्गभूतस्य कालस्य प्रशंसाबोधनेऽपि या पूर्वकाण्डे फलश्रुतिः सा युक्तैवेत्यर्थः, भगवतापि कालसन्मानस्य कृतत्वात् ॥२२॥

तौ कल्पयन्तावित्यत्र द्वयोरेकमुखतेति, **द्वयो**र्वेद-वेदप्रतिपाद्ययोर्बलदेवश्रीकृष्णचन्द्रयो**रेकमुखता** युगपत् स्वरसमूहमूर्च्छनाकल्पनेत्यर्थः ॥२३॥

ततस्तस्य फलमपि जातमित्याह **गोप्य** इति.

गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन् नृप ।
स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः ॥२४॥

तयोर्गीतं तादृशमाकर्ण्य **मूर्च्छिताः** सत्य आत्मानं **नाविदन्.** मूर्च्छायामपि वासना तिष्ठतीति **नाविदन्निति** तदभावायोक्तम्. **नृपेति** सम्बोधनं गीतरसाभिज्ञत्वाय. यो भावः सर्वथा न विस्मृतो भवति तं वर्णयति **स्रंसद्दुकूलमिति**, **दुकूलम**धोवस्त्रं तदप्यधः पततीव. **स्रस्ताः केशाः** तेषु **स्रज**श्च यासाम्. देहे आन्तं विस्मरणं निरूपितम् ॥२४॥

अवश्यं प्रमाणबले मार्गे दैत्योपद्रवो भवतीति तन्निरूपणार्थं लीलामुपसंहरति **एवं विक्रीडतोरिति.**

एवं विक्रीडतोः स्वैरं गायतोः सम्प्रमत्तवत् ।
शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात् ॥२५॥

स्वैरं यथा भवति तथा **विशेषेण क्रीडतोरिति**, मूर्च्छिताभिरिव प्रमत्ताभिरिव क्रीडा अत्यन्तं स्वच्छन्दा भवतीति. मध्ये क्रीडा मध्ये गानमिति द्वयं निरूपयति **क्रीडतोर्गायतोः** सतोरिति. स्त्रीभिः सह समानधर्मतासिद्ध्यर्थं **सम्प्रमत्तवदि**ति. आवेशावतारयोः आवेशदशायां तुल्यतेति ज्ञापयितुं द्वयोः सामान्येन निरूपणम्. **एवं** सर्वस्मिन्नेव विकले **शङ्खचूड**नामा कश्चिद् **धनदस्य** कुबेर**स्यानुचरः** स्त्रीकामो भगवन्तं प्राकृतं मत्वा स्वयं ता नेतुमागत इत्याह **शङ्खचूड** इति. शङ्खनिधिश्चूडायां वर्तत इति अनेन नारदस्यापि दोषः परिहृतः. यथा तौ पूर्वं धनमत्तौ एवमयमपि प्राप्तनिधिरिति सम्प्रमत्तः. **धनद** इति नाम्ना च सर्वैव सामग्री श्रीमदरूपा निरूपिता, यत्र धनं तत्रैव

लेखः

शङ्खचूड इत्यत्र **अनेनेति**, धनदानुचरस्यातिक्रमकथनेन तौ नलकूबरमणिग्रीवावप्येतादृशावेव भविष्यत इति ज्ञानेन देवयोनिशापदानरूपो भगवन्मनसि संभावितो नारदस्यापि दोषः परिहृतः. **अपि**शब्दाद्भगवतोऽपि एतन्मारणे न दोषः. ननु भगवदीयस्त्रीणां स्वीयत्वकरणं तन्मनसि कथं संभावितमित्याशङ्क्य दृष्टान्तसूचनार्थमाहुः **सर्वा एवेति**, श्रुतयोऽपि भगवदीयास्ताः पाषण्डिबुद्ध्या लौकिकपरत्वेन व्याख्यायन्ते तथैतदपीत्यर्थः ॥२५॥

॥ एकत्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

स्त्रिय उचिता इति. सर्वाएव श्रुतयो लौकिकाः कर्तव्या इति पाषण्डिनां बुद्धिः ॥२५॥

ततो यत् कृतवाँस्तदाह **तयोर्निरीक्षतोरि**ति.

तयोर्निरीक्षतो राजन् तन्नाथं प्रमदाजनम् ।

क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशङ्कितः ॥२६॥

राजन्निति सम्बोधनं शत्रूणां स्त्रीहरणं स्वाभाविकमिति तत्र सहजदोष इति ख्यापनार्थम्. **तावेव नाथौ** यस्य. **प्रमदाः** स्त्रीविशेषाः, तेषां **जनः** समूहः, सामान्यशब्दः समूहवाची भवतीति. विशेषपराश्चेन्न गच्छेयुरिति ज्ञापयितुं सामान्यवचनम्. **क्रोशन्तमि**ति तासामनिच्छा तस्य च भयाभावः सूचितः. **कालयामास** यथा कालः अप्रतिहतबलः सर्वानेव कालयति हरति तद्वदित्यर्थः. **उदीच्यां दिशी**ति स्वगृहे बलाधिक्याय. अतएव **अशङ्कितः**, किं करिष्यति भगवानिति ॥२६॥

ततो भगवद्भ्यां यत् कृतं तदाह **क्रोशन्तमि**ति.

क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम् ।

यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम् ॥२७॥

यदि ताः **कृष्णरामेत्याक्रो**शं न कुर्युः, तदा न निवारयेदपि, नहि भगवान् स्वतोऽन्यचित्तं निवारयति. तत्राप्यन्यस्य चेत्, न निवारयेत् किन्तु **स्वपरिग्रहं** स्वेन पूर्वमेव परिगृहीत इति **क्रोशन्तं स्वपरिग्रहं विलोक्य अन्वधावतामि**ति. **भ्रातरावि**त्युभयोः परिग्रहः उभाभ्यां रक्षणीय इति. **अनु**

योजना

शङ्खचूड इति ख्यात इत्यस्य विवृतौ **सर्वा एव श्रुतयो लौकिकाः कर्तव्या इति पाषण्डिनां बुद्धिरि**ति, यथा पाषण्डिनो भगवत्परानपि वेदान् लौकिकपरत्वेन व्याकुर्वन्ति, तथायं शंखचूडोऽपि भगवत्पराः श्रुतिरूपाः गोपिका अन्यत्र नेतुं वाञ्छतीति पाषण्डी भवतीत्यर्थः. तथा च "लोभक्रोधादयो दैत्या" इति कृष्णोपनिषत्सु भगवद्ध्यानां लोभादिदोषरूपता वर्णितेति तेषु दोषेषु अयं पाषण्डरूपः शंखचूड इति तात्पर्यम् ॥२५॥

विशेषपराश्चेदित्यादि, वेदवेदार्थरूप-बलदेवश्रीकृष्णचन्द्रोभयपराः अतो दैत्येन नीता गता, **विशेषपराः** पश्चाध्यायीस्थगोपिकावत् पुरुषोत्तमैकपराश्चेत्स्युः तदा **न गच्छेयुरि**त्यर्थः ॥२६॥

ग्रहणानन्तरमेवाधावताम् ॥२७॥

दूरे नीयमानाः दूरादेव आश्वासितवन्तावित्याह **मा भैष्टेत्यभयारावाविति.**

मा भैष्टेत्यभयारावौ शालहस्तौ तरस्विनौ ।
आसेदतुस्तं तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम् ॥२८॥

मा भैष्टेत्ययमारावो भयनिवर्तको भवति. **शालवृक्षौ हस्ते** ययोरिति महासामर्थ्यं दूरादेव प्रदर्शितं, न तु तयोः कश्चनोपयोगोऽस्ति. **तरस्विनौ** अतिवेगवन्तौ यथा मध्ये एकामपि गृहीत्वा न गच्छेत् न स्पृशेद्वेति शीघ्रमा**सेदतुः** निकटे गतौ **आसेधतु**र्निवारितवन्तौ वा. **तं** शङ्खचूडं **तरसा**ऽविचार्यैव. देवो मनुष्यापेक्षया महाबलो भवतीति विचारप्राप्तिः. **त्वरितं** पलायनार्थं, यतो **गुह्यकानां** यक्षाणां मध्येऽ**धमः**. आगमने यक्षत्वं प्रयोजकं, पलायनेऽधमत्वम् ॥२८॥

पूर्वं ताभिः सहितः शीघ्रं गच्छन् स्थितः, इदानीं स्वयमेव पलायितुं विचारितवानित्याह **स वीक्ष्येति.**

स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन् ।
विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया ॥२९॥

अनुप्राप्तौ भगवन्तौ **वीक्ष्य सो**ऽल्पबुद्धिः **स्त्रीजनं विसृज्य प्राद्रव**दिति सम्बन्धः. तस्य तथाकरणे या बुद्धिरासीत्, तामाह **कालमृत्यू इवोद्विजन्**निति, एकः **कालः** स्वस्य नाशसमयः अपरो मारक इति. एकोऽप्यनिवार्यः तत्रोभयोः किं वक्तव्यमिति पलायने **जीवितेच्छै**व हेतुः, सति जीवने भोग इति. ननु शरणं कुतो न गतो, जीवेत्[१], न तु पलायनं जीवनसाधनमिति चेत्, तत्राह **मूढ** इति, इममर्थं न जानातीति ॥२९॥

अनुपाये प्रवृत्तस्य न कार्यं सिध्यतीत्याह **तमन्वधावदिति.**

तमन्वधावद् गोविन्दो यत्र यत्र स धावति ।
जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः ॥३०॥

गोविन्द इति तेषां रक्षार्थं विनियोग आवश्यकः, स्वक्रियाया अन्यथेन्द्रत्वं न स्यादिति. रक्षा च दोषस्य मूलोच्छेदएव, न तु तस्मिन् कथमपि विद्यमाने. अतो **यत्र यत्रैव स** पलायते तत्रैव **तमन्वधावत्.** ननु दूरादपि

१. "शरणं गतो कुतो न जीवेद्" इति पाठः सम्भाव्यते (सम्पा.).

मारणे सम्भवति, भगवान् किमिति धावनं कृतवान्, तत्राह **जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नमिति**. दूरान्मारणे यक्षास्तदीयास्तं नयेयुः, अमारितश्च स्यात्. मणौ विद्यमाने मणिरिव शस्त्रैरप्यवध्यः. अतः स्वस्यैव गमनं, जीवानामवध्य इति. **स्त्रियो रक्षन् बलः** जातो, अन्यथा ततोऽन्यो हरेत्. तदीया हि बहवः ते घातयेयुरेव, अत एकेन रक्षितव्याः. **बल** इति बहूनामप्यागमने रक्षार्थमुक्तम्. **स्त्रियो** हि रक्षणीयाएव ॥३०॥

ततो भगवान् यत् कृतवाँस्तदाह **अविदूर इवेति**.

अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः ।
जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः ॥३१॥

कियद्धावनेनैव स प्राप्तो **अविदूरे** निकटएव. वस्तुतस्तु दूरे गतः परं कालविलम्बाभावाद् **अविदूर इवाभ्येत्य** निकटे गत्वा **तस्य शिरो जहार.** ननु पलायितवधो निषिद्धः, किमिति भगवान् क्लिष्टं कृतवानित्याशङ्क्याह **दुरात्मन** इति, स हि दुरात्मा वध्यएव. त्रयीद्विषो हि हन्यन्तएव. निमित्तं तु दारापहारित्वं जातमेव, अन्यथा पूर्वमेव हन्यात्. अधुना परित्यागे पुनरागच्छेत् केवलबलभद्रक्रीडायां वा समागत्योपद्रवं कुर्यात्. यतो दुष्टान्तःकरणो अतो वध्यएव. अत**स्तस्य शिर**एव ज्ञानशक्तिप्रधानं **मुष्टिनैव जहार.** न तु भेदनं कृतवान् किन्तु यथा राशेः सकाशात् मुष्टिना तन्दुला ह्रियन्ते तथा राशीभूतास्तस्यावयवा मुष्टिनैवाहृताः. यदैव स गोपिकाहरणार्थमुद्यमं कृतवान् तदैव संयोजका देवा अवयवेभ्यो निर्गताः, केवलं मणिप्रभावादवयवी स्थितः. भगवान् पुनः **चूडामणिसहितं** त**च्छिरो जहार.** स्वकर्मणैव विशकलित इति भगवान् अक्लिष्टकर्मैव. किञ्च **विभुः** समर्थः मणेरपि सामर्थ्यं दूरीकर्तुम् ॥३१॥

एवं कृते स हतो जात इत्याह **शङ्खचूडं निहत्येति**.

शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम् ।
अग्रजायाददत्प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषिताम् ॥३२॥

॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धपूर्वार्धे शङ्खचूडवधो नाम एकत्रिंशोऽध्यायः ॥

एवं प्रकारेण तस्य हननं, न तु प्रकारान्तरेण. तस्य मुक्तिनिराकरणार्थं **निहत्यैवेत्युक्तम्**. मृतद्रव्यं न ग्राह्यमित्यत आह **भास्वरमिति**, "अस्थानान्मण्युत्तममि"ति वाक्यात्. मणिग्रहणेन मणिगता देवता. ताः कामयतीति

पक्षे कामना सफला कृता. मणिग्रहणेन तस्य मुक्तिर्देयेति शङ्कां वारयितुं **अग्रजायाददत्**. तत्रैव स्थित्वा देवताया अप्युपभोगो भवत्विति **प्रीत्यैव अददत्**, न तु याचितः. स्त्रीणां प्रार्थनाभावायाह **पश्यन्तीनामिति**. **च**कारात् सर्वाभ्यः प्रदर्श्य तासां स्पर्शनान्तरं **योषितामन्येषां च** देवानां पश्यतामिति. प्रमाणसिद्ध्यर्थं यत् किञ्चित् करोति तत्सर्वं तदधिष्ठातर्येव प्रयच्छतीति ज्ञापितम्. प्रमाणबलमेवात्र मुख्यमिति न प्रमेयविचारेण कोऽप्यर्थः शङ्कनीयः ॥३२॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभ-दीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे एकत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

टिप्पणी

मणिमादाय भास्वरमित्यत्र, मणिग्रहणेन मणिगता देवतेति, गृहीतेति शेषः. तदधिष्ठानं विना भास्वरत्वाभावादन्यथा विशेषणं न वदेदिति भावः. **ताः कामयतीति पक्ष** इति बल इति शेषः. उपभोगायान्या अपि कामयत इति ज्ञापनाय बहुवचनम्. नन्वेवं चेद्देवतायाएव ग्रहणमुचितं न तु मणेरपीत्यत आहुः **तत्रैवेति**, मणिनियामकत्वलक्षणाधिकाररूपं देवतात्वं हि भगवद्दत्तं; तच्च तत्रैव स्थिताया भवति. तथा च **तत्रैव** मणावेव **स्थित्वा** या देवतात्वं भजते तस्या अपीत्यर्थः. **यत्किञ्चित्करोतीति**, यन्मार्गसम्बन्धि यत् करोति तत् तन्मार्गाधिष्ठातरि तथेत्यर्थः. प्रकृते प्रमाणमार्गसंबन्धि-फलात्मक-मण्याहरणं कृतवानिति तथेति भावः. तर्हि सर्वमूलत्वाद् भगवतस्तत्रैवास्य स्थापनमुचितं, प्रभुकरस्पृष्टस्य मुक्त्यभावश्चानुपपन्न इत्याशङ्क्याहुः **प्रमाणबलमेवेति** ॥३२॥

योजना

मणिग्रहणेन मणिगता देवतेत्यादेरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः. **देवताया अप्ययं भोग** इति, मणिगतदेवताया बलदेवकर्तृको भोग इत्यर्थः ॥३२॥

॥ इतिश्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्यवर-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरदीक्षितलालूभट्टेन कृता दशमस्कन्धैकत्रिंशाध्यायसुबोधिनीयोजना समाप्ता ॥

॥ इति एकत्रिंशोध्यायः ॥

॥ सप्तमः स्कन्धादितः द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

द्वात्रिंशेऽन्तर्गोपिकानां स्वानन्दं भगवान् हरिः ।
पूरयामास येनैव पूर्णानन्द इतीर्यते ॥(१)॥

टिप्पणी

द्वात्रिंशाध्यायार्थोक्तौ **द्वात्रिंशेऽन्तरि**त्यादि, यद्यप्यानन्दः सर्वत्रैवान्तरेवानुभूयते, तथापि बाह्यरमणे शरीरचेष्टयोरेव प्राधान्यात्स्वरूपस्य मूर्तत्वेन तदात्मकानन्दस्यापि तथात्वाच्छरीरेन्द्रियादिष्वपि स्वरूपतः स्थापितस्य मनसाऽनुभवो भवति. प्रकृते त्वन्तःसंगेन प्रकटेनानन्देन शरीरेन्द्रियादिषु बाह्यरमणेनेव धर्मा भवन्तीत्यभिप्रे**त्यान्तरि**त्युक्तम्. **स्वानन्दं पूरयामास इतीर्यत** इति सम्बन्धः. ननु धर्मिस्वरूप-विरहजदुःख-निवारणं धर्मरूपेण गुणगानेन कथं सम्भाव्यते, तत्रापि स्वरूपेणेवानन्दपूरणं चेत्यत आहुः **येनैवेति**, यथा स्वरूपं पूर्णानन्दात्मकं तथा नामलीलापीति सर्वमुपपद्यत इत्यर्थः. यद्वा. **येन** स्वरूपलक्षणेन हेतुना पूर्वं तथा कृतवान् तेनैवान्तःस्थितेनैव अत्युद्रेकेण मुखकमलद्वारा निर्गतेनाधुनापि तथा कृतवानित्यर्थः. एतदेव विवृत**मन्तःप्रविष्ट** इत्यादिना. यद्वा. यथा यथा स्वविषयिकां भक्तानामार्ति[१]

लेखः

द्वात्रिंशे टिप्पण्यामाद्यपक्षे **पूर्णानन्दः** रूपतो नामतश्चेति शेषः. द्वितीयपक्षे **येनैव** स्वरूपेण हेतुना पश्चाध्याय्यां **पूर्णानन्द** उक्त इति शेषः तेनैवाधुनापि **पूरयामासे**त्यर्थः. तृतीयपक्षे प्रयोजनं पूर्णानन्दत्वं तदनुसन्धानेन स्वानन्दपूरणहेतुरूपं गुणगानं नास्ति किन्तु भावस्वभावादतो भावसम्बन्धि किञ्चित् प्रयोजनं वक्तव्यमिति चेद्भावस्थैर्यमपि जायते. तथाच भावस्वभावात् तत्स्थैर्यार्थं गुणगानम्, इदं प्रयोजनं भावान्तःपात्येव, पश्चात्तेन गुणगानेन प्रयोजनद्वयमपि संपन्नमित्यर्थः. **स्वानन्दं पूरयामास** गुणगायनेनेति शेषः. गानस्य भावकार्यत्वात्तस्य च भगवद्रूपत्वा**द्भगवान् पूरयामासे**त्युक्तम्.

कारिकार्थः

द्वात्रिंशाध्याये **द्वात्रिंश** इत्यादि, **गोपिकानामन्तः**करणे **स्वानन्दं पूरयामासेति** अत्राध्याये **ईर्यते** गुणगानेनेति शेषः (१). स्वानन्दपूरणमेव

१. अत्र स्वतन्त्रटिप्पणी प्रथमपरिशिष्टे मुद्रिता.

अन्तःप्रविष्टो भगवान् मुखादुद्धृत्य कर्णयोः ।
पुनर्निवेश्यते सम्यक् तदा भवति सुस्थिरः ॥(२)॥
शब्दार्थयोर्मुख्यतात्र युग्माः श्लोकास्ततोऽत्र हि ।

टिप्पणी

पश्यति भगवांस्तथा तथा मुदितो भवतीति वस्तुस्थित्या दिवा विरहजार्तिपूर्णानां सायं मिलने यो रसो भगवतः स न दिवा संगमे सतीति च **येनैव** स्वानन्देन स्वयं **पूर्णानन्दो** ज्ञातो भक्तैस्तादृशं तं **पूरयामासे**त्यर्थः. यद्यपि गुणगानं भावस्वभावादेव भवति, न तु प्रयोजनानुसन्धानेन, तथापि पूर्वभावस्थैर्यमप्यनेन भवतीत्याहुः **अन्तःप्रविष्ट** इत्यनेन. पूर्वं या नादद्वारा सुधा प्रविष्टा, भावात्मकभगवदात्मिका "रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्नि"त्यत्र निरूपिता, सा पूर्वोक्तप्रकारैः बहिःफलानुभवपर्यन्तैः क्रमेण पुष्टा सती स्वविषयरूपं स्वपोषकं बहिःसम्बन्धमलभमाना तदर्थं स्वयं गुणगानरूपेण प्रकटाप्यलब्धविषया सती स्वप्राकट्यात् पूर्वम् अन्तःसाक्षात्प्रियप्राकट्यात् पुनस्तत्रैव स्वस्यान्यासां च श्रोत्रद्वारा प्रविष्टा तत्र स्वविषयं पोषकं प्राप्य सुस्थिरा जाता. तदेतदुक्त**मन्तःप्रविष्ट** इत्यादिना (१-२).

युग्मश्लोकैर्गाने हेतुमाहुः **शब्दार्थयोरि**ति, पूर्वं नादमात्रमनुभूतमिति नादप्राधान्येन "अक्षण्वतामि"त्यादिना गीतम्, अधुना स्वरूपानुभवोऽपि साक्षाद्वृत्त इत्युभयोरपि महारसरूपत्वज्ञापनाय द्वाभ्यां कथनमुभयोरप्येक-रूपत्वमिति ज्ञापनायैकवाक्यता चेत्यर्थः. संख्यातात्पर्यमाहुः **सर्वेष्वि**ति,

लेखः

स्वानन्दपूरणमेव भावस्थैर्यम्. तद्विवृण्वन्ति **अन्तःप्रविष्ट** इति. इदं स्वानन्दपूरणं गानान्ते "रेमिरेऽहस्सु" इत्यनेनोक्तम् (१-२).

कारिकार्थः

विवृण्वन्ति **अन्तःप्रविष्ट** इति. गुणगानेन **मुखादुद्धृत्य** गुणानुवादश्रवणेन **पुनः कर्णयोः** कर्णद्वारा **सम्यक्** यदा **निवेश्यते तदा** इत्यर्थः (२).

अत्र युग्मश्लोकैः गाने हेतुमाहुः **शब्दार्थयोर्मुख्यतात्रे**ति, **अत्रा**ध्याये नादात्मकस्य **शब्दस्य** तत्प्रतिपाद्य-भगवत्स्वरूपात्मक**स्यार्थस्य** च **मुख्यते**ति ज्ञापनाय **युग्माः श्लोकाः** इत्यर्थः. पूर्वं वेणुगीते नादमात्रानुभवः अत्रोभयोरनुभव इति द्वाभ्यां कथनम्. संख्यातात्पर्यमाहुः **सर्वेषु चैव मासेषु** इति. अत्र गुणगाने

सर्वेषु चैव मासेषु यत् करोत्युच्यते[१] हि तत् ॥(३)॥
अतोऽत्र मासयुग्मा हि प्रक्रमः फलमेव च ।
आद्यन्ते चापरं युग्मं त्रयोदश भवन्ति तत् ॥(४)॥

एवं भगवता सह रात्रौ क्रीडामुक्त्वा, दिने तासां संसारप्रवृत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य दिवसेषु भगवद्गुणवर्णनपरा जाता इति वदन्, गुणवर्णनाया आवश्यकत्वाय आरम्भे दुःखं पर्यवसाने सुखमिति निरूपयन्, प्रथमं प्रथमप्रवृत्तावपि गोपिकानां दिवसेषु परमं दुःखं जातमित्याह **गोप्य** इति.

टिप्पणी

निरूप्यते यत इति शेषः. अत्र हि वर्षे वर्षे यावतीं लीलां प्रभुः करोति तावती सर्वा लीला क्रमेण स्वामिनीभिर्गीता, न त्वेतावन्मात्रेति ज्ञापनाय पूर्णवर्षस्य द्वादशमासात्मकत्वात् माससमानसंख्याका युग्माः श्लोका उच्यन्त इत्याहुः **अतोऽत्रे**ति. किञ्च उपक्रमोपसंहाराभ्यां चैकं युग्मं भवति, तेनाधिमासेऽपि यत्करोति तदपि स्वामिनीभिर्गीयत इति ज्ञाप्यत इत्याशयेनाहुः **आद्यन्त** इति, समाहारोऽत्र. तत्र प्रतिपाद्यं रूपमाहुः **प्रक्रम** इति (३-४).

लेखः

गोप्य इत्यस्याभासे **प्रथममिति**, **इत्याहेत्यनेनास्यान्वयः**. **प्रथमे**ति, गानारम्भेऽपि दुःखं किमुत गानाभावे इति कैमुत्यार्थ**मपि**शब्दः. व्याख्याने,

कारिकार्थः

हि वर्षे वर्षे यावतीं लीलां प्रभुः करोति तावती सर्वा लीला क्रमेण स्वामिनीभिः गीता नत्वेतदध्याये यावत्युक्ता तावन्मात्रेति ज्ञापनाय पूर्णवर्षस्य द्वादशमासात्मकत्वात् माससमानसंख्याका युग्माः श्लोका उच्यन्त इत्याहुः **अतोऽत्र मासयुग्मा हीति**. माससमानसंख्याका युग्मा **मासयुग्मा** इति मध्यमपदलोपी समासः. किञ्च उपक्रमोपसंहाराभ्यां चैकं युग्मं भवति. तेन अधिमासेऽपि यत् करोति तदपि स्वामिनीभिः गीयते इति ज्ञाप्यते इत्याशयेनाहुः **आद्यन्ते चापरं युग्ममि**ति. आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तं, तस्मि**न्नाद्यन्त** इति विग्रहः. समाहारोऽत्र. तत्र प्रतिपाद्यं रूपमाहुः **प्रक्रम** इति. आद्यश्लोके गानोपक्रमो, अन्त्यश्लोके "तच्चित्तास्तन्मनस्का" इति **फलम्. त्रयोदश भवन्ति तदि**ति, अत्र **तदि**त्यव्ययं तस्मादित्यर्थे (३-४).

---

१. करोत्यच्युतेत्र (करोत्युच्यतेत्र?) तदिति पाठः.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः ।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥१॥

केवलपदात् पूर्वोक्ता ग्राह्याः. सदानन्दे **वनं** गते **तमन्वेव द्रुतं चित्तं** यासाम्. वस्त्वन्तरग्रहणाक्षमं चित्तं जातम्. **द्रुत**शब्दाद्विलय उक्तः. ततः सर्वतः प्रसृतं सूक्ष्मभावापन्नं सदानन्दस्य लीलां गृहीतवत्. अतः **कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो** जाताः. यथा स्वरूपं सदानन्दरूपं तथा तल्लीला अपीति तदात्मकत्वं च लीलानां ज्ञापयितुं पुनर्नामग्रहणं कृतम्, अन्यथा 'तत्'पदमेव वदेत्. तथा सति तत्सम्बन्धित्वमात्रं प्राप्येत न तूक्तरूपत्वम्. अवश्यं वाच्यं चैतद् यतः स्वरूपवियोगे तदतिरिक्तस्य न जीवनहेतुत्वं, ततो हीनत्वात्. ततो यथाकथञ्चिन्महता मानसदुः**खेन वासरान् निन्युः**. यदा पुनस्तच्चित्तं प्रकीर्णे भगवच्चरित्रे विलीनं सद् एकभावं प्राप्स्यति तदा पूर्णमनोरथा भविष्यन्ति. इदानीं सर्वा सामग्री विशकलितेति दुःखेन दिननयनम्. **वासर**पदाद् रात्र्यर्थं कथञ्चित् प्राणानां धारणं लक्ष्यते ॥१॥

सर्वोत्तमा हरेर्लीला वेणुनादपुरःसरा ।
हेतुः सर्वत्र वाच्येऽर्थे प्रथमेषु निरूप्यते ॥(५)॥
देव[१]स्त्रियस्तथा गावः सरितः पादपा लताः ।
पक्षिणश्च तथा मेघा ब्रह्माद्या गोपिकास्तथा ॥(६)॥

टिप्पणी

गोप्यः कृष्ण इत्यत्र, **केवलपदादिति**, "गोव्रजयोषितामि"तिवदपकर्ष-ज्ञापकधर्मानुक्तिपूर्वकं शुद्धभावज्ञापक**गोपी**पदाद् रासमण्डलमध्यस्थाएव उच्यन्ते, न तु पूर्वाध्यायोक्ता इत्यर्थः ॥१॥

लेखः

सूक्ष्मभावापन्नमिति, द्रुतत्वाद्विरलावयवमित्यर्थः. आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वेन विरलावयवत्वात्तादृशमेव चित्तं तद्ग्रहणे योग्यमिति भावः. **पूर्णमनोरथा** इति, **मनोरथो** भगवत्सम्बन्धविधायको[२] भावः **पूर्णो भविष्यत्या**न्तररमणं संपत्स्यते. तथा च पूर्वोक्तं गुणगानप्रयोजनं भावस्थैर्यं भविष्यतीत्यर्थः. **सामग्री**ति, तत्तदन्तःस्थिता सुधा **विशकलिता** तत्तदन्तःस्थितेत्यर्थः ॥१॥

---

१. दिव इति पाठः. २. सम्बन्धविषयकः इति जो. पाठः.

हरिण्यो देवगन्धर्वा द्विधा च भगवान् हरिः ।
उत्तरेषु निरूप्यन्ते रसज्ञा वेणुवादने ॥(७)॥
जानाति भगवानेव जानात्येव हरिः स्वयम् ।
अतोऽन्ते भगवानुक्तो वारद्वयमनन्यधीः ॥(८)॥
अनुभाव[१]स्तु नादस्य स्त्रीषु पूर्वमुदीर्यते ।

लेखः

जानातीति, अत्र वेणुवादनरसज्ञा उच्यन्ते. तत्र भगवति द्विविधोऽपि नियम उक्तः. इमं रसं **भगवानेव जानाति**, अतो यथायोग्यं दिनतापनिवृत्तिपूर्वकरसदानं भगवतैव कर्तुं शक्यं न तु चन्द्रादिना. अतः सुहृदाशिषो दित्सया स्वयमेवैतीत्यर्थः. अत्रैवकारेण चन्द्रादिव्यावृत्तिः. ननु बालकत्वात् कथमसाधारणीं लीलां ज्ञात्वा करिष्यतीत्याशङ्क्य "यदुपतिरि"ति श्लोक उक्तः. अतो **जानात्येव**, अत्रैवकारेण बालत्वेन संभावितस्याज्ञानस्य निवृत्तिः. **अत** उभयविधनियमार्थं **वारद्वयं भगवानुक्त** इत्यर्थः (८).

कारिकार्थः

वामबाहुकृतेत्यस्याभासे सर्वोत्तमेति, वेणुनादपुरःसरा हरेर्लीला युगलश्लोकानां मध्ये **सर्वत्र प्रथमेषु** श्लोकेषु **निरूप्यते.** कीदृशी लीलेत्याकांक्षायामाहुः **वाच्येऽर्थे हेतुरिति**, युगलद्वितीयश्लोकेषु **वाच्यो** योऽर्थः व्योमयानवनितामूर्छादिरूपः तत्र **हेतुभूते**त्यर्थः (५).

पादपा लताश्च एकश्लोकोक्ता एकविधा ज्ञेयाः. **देवस्त्र्यादयो देवगन्धर्वान्ता** दशविधा वेणुवादरसज्ञा दशयुगलनिरूपिता उक्ताः अन्त्ययुग्मद्वये तु भगवानेव उक्त इत्याहुः **द्विधा च भगवान्हरिः** इति. श्लोकद्वयोक्त इत्यर्थः. एते द्वादशविधा **वेणुवादने रसज्ञा उत्तरेषु** युग्मद्वितीयश्लोकेषु **निरूप्यन्ते** इत्यर्थः (६-७).

अन्त्ययुगलद्वयतात्पर्योक्तौ **जानाति भगवानेव जानात्येव हरिः स्वयमिति**. यतो **भगवानेव** एतद्रसं **जानाति अतः** कारणाद् **अन्ते** "उत्सवं श्रमरुचे"ति श्लोके "यदुपतिर्द्विरदराजविहार" इतिश्लोके च **वारद्वयं भगवानेवोक्तः.** अत्र **जानाति भगवानेव जानात्येव हरिः स्वयमि**ति वारद्वयोक्तिर्भगवतः श्लोकद्वयोक्तत्वबोधनाय, तत्र भगवत्त्व-तापहारकत्वबोधनाय **भगवत्पद-हरिपदे** (८).

१. अनुवादे इति पाठः.

त्रिविधासु ततः पुंसु ब्रह्मा गोपी तथा मृगी ॥(९)॥
त्रयोऽत्र त्रिविधाः प्रोक्ताः प्रकीर्णाः सकलाः सुराः ।
सर्व एवानभिज्ञा हि वस्तुसामर्थ्यसंयुताः ॥(१०)॥
एवं वेणुर्द्वादशधा फलतीति निरूपितः ॥

टिप्पणी

अन्त्ययुग्मद्वयतात्पर्योक्तौ **जानाति भगवानेवेति**, **ततः पुंस्विति** त्रिविधेष्विति शेषः. लतानां तरुमध्यपातित्वेन पुंस्वेव गणना कृता (८-९).

लेखः

अनुभावमाहुः **सर्व एवेति**, पूर्वं दशाप्येते नादरसानभिज्ञाः, पश्चान्नादश्रवणमात्रेण **वस्तुनो** यत्**सामर्थ्यं** मूर्च्छाद्युत्पादनं तत्**संयुता**स्तत्फलाधारा[1] जाताः. अयमनुभाव इत्यर्थः. अत्र हेत्वन्तराभावाद् नादानुभावएव अयमिति **हि**शब्दः. पूर्वं द्वादशैते **रसज्ञा** इत्युक्तम्. तत्र पूर्वं दश **रसानभिज्ञाः**[2] ततो नादानुभावेन किञ्चिद्रसज्ञा जाताः, द्विविधो भगवांस्तु सर्वथा रसज्ञ इति विभेदः. **द्वादशधेति**, दशयुग्मेषु मूर्च्छादिप्रकारेण, एकादशे तापहरणप्रकारेण, द्वादशेऽसाधारणलीलाप्रकारेणेति द्वादशधा ($१०\frac{१}{२}$).

कारिकार्थः

ततः पुंस्विति, त्रिविधेष्विति शेषः. पादपपक्षिमेघेष्वित्यर्थः. लतानां तरुमध्यपातित्वेन पुंस्स्वेव गणना कृता. **त्रयोऽपि त्रिविधाः प्रोक्ता** इति. त्रयाणां त्रयाणां **त्रय**स्त्रयो भेदा**स्त्रिविधाः** राजससात्त्विकतामसा इत्यर्थः. देवस्त्र्यादयस्त्रयो राजसाः पादपलतादयः सात्त्विकाः ब्रह्मगोपीमृगीभेदास्तामसा इति विवेचितं सुबोधिन्याम्. **प्रकीर्णा** इति उपदेवगणादय इत्यर्थः. अनुभावमाहुः **सर्वएवेति**, अत्र श्रीवल्लभगोस्वामिनः– "पूर्वं दशाप्येते नादरसानभिज्ञाः, पश्चान्नादश्रवणमात्रेण **वस्तुनो** यत् **सामर्थ्यं** मूर्छाद्युत्पादनं तत्**संयुता**स्तदाधाराः जाताः, अयमनुभाव इत्यर्थः. अत्र हेत्वन्तराभावात् नादानुभावएवायमिति **हि**शब्दः. पूर्वं द्वादशैते **रसज्ञा** इत्युक्तम्. तत्र दश पूर्वं **रसानभिज्ञाः** ततो नादानुभावेन किञ्चिद्रसज्ञा जाताः, द्विविधो भगवांस्तु सर्वथा रसज्ञ इति विभेदः" (९-१०).

॥ इति श्रीतामसप्रकरणीयकारिकाव्याख्या ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

१. तदाधारा इति जो. पाठः. २. दश पूर्वरसानभिज्ञा इति जो. पाठः.

तत्र प्रथमं स्त्रीप्राधान्याद् देवस्त्रियो मुख्या इति तासु वेणुनादप्रभावं वक्तुं येन प्रकारेण वेणुनाद उत्तिष्ठति तं प्रकारमाहुः **वामबाहुकृतवामकपोल** इति.

॥ **गोप्यः ऊचुः** ॥

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ॥२॥
व्योमयानवनिताः सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः ।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥३॥

यत्र मुकुन्दः अधरार्पितवेणुमीरयति तत्र तस्मिन् क्षणे **व्योमयानवनिताः कश्मलं ययुरि**ति सम्बन्धः. वेणुनादः पञ्चधा भवति– मुखस्य परितः समतया उपर्यधश्च धारणेन. तत्र स्त्रीणां कामोद्बोधकः वामपरावृत्तः, स्त्रीणां पुरुषाणां च दक्षिणः, देवानामुच्चैः, अधस्तिरश्चां; समतया सर्वेषामचेतनानां च. तत्र देवस्त्रीणां कामोद्बोधको वामपरावृत्त एवेति तथा निरूप्यते. मानुषभावाद्देवभावो महानिति मानुषनादेन देवस्त्रीणां भ्रमो न भविष्यतीत्याशङ्क्य "तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमि"ति वाक्याद् भ्रूविलासं नादे योजितवान्. तदाह **वामबाहौ कृतो** योजितो **वामकपोलो** येन, **वल्गिता भ्रूर्य**स्येति, भ्रूरत्र दक्षिणा, तथैवाभिनयभावात्. **वल्गिता** उच्चैर्गतियुक्ता. **अधरः** पूर्वं वर्णितः लोभात्मकः तत्र चेतस**मर्पितः** परमानन्दं न प्रयच्छति, काममेवोद्बोधयति. यतः श्रुत्वापि विरहजनितक्लेशमेव प्राप्नुवन्ति, न तु परमानन्दम्. तत्रापि क्रियाशक्तिः पुष्टा चेद् भवेत् तदा लुब्धादपि फलं

टिप्पणी

वल्गितभ्रुरित्यस्याभासे, मानुषभावादिति. मानुषभावमनतिक्रम्य लीलां

लेखः

वामेत्यनेन प्रकारान्तरव्यावृत्तिरुक्तेति व्यावर्त्यानां स्वरूपमाहुः **वेणुनाद** इति. **परित** इति दक्षिणवामभेदेन द्वयम्. व्यावृत्तौ हेतुमाहुः **तत्र स्त्रीणामि**त्यारभ्य **निरूप्यत** इत्यन्तेन. **प्राप्नुवन्ती**ति देवस्त्रिय इति शेषः. वादनार्थमधरे समर्पणमावश्यकम्, एवं सति वेणोर्लुब्धत्वात्तथा जातमित्यर्थः. **तत्रापी**ति लोभे समर्पणेऽपीत्यर्थः. तारनादे विशेषज्ञानादभिलाषः पूर्येतेति भावः. **लुब्धादपी**ति, लोभसम्बन्धाद्वेणोरपीत्यर्थः.

सिध्येत्, तदपि नास्तीत्याह **कोमलाङ्गुलिभिराश्रितो मार्गो** यस्य, आदौ मन्दप्रकारेणैव वेणुनादस्योचितत्वात्. **मार्गास्तस्य** रन्ध्राः, तेषां गाढभावेन निष्पीडने तारो नादो भवति, मध्यभावे मध्यमः, कोमले मन्द इति. **गोप्य** इति सम्बोधनं सर्वानुभवसाक्षिकमेतदिति ज्ञापयितुम्. **ईरणमत्र** वादनम्. प्रयोजनमाह **मुकुन्द** इति, वेणुनादेन शुद्धं चेद् जगत् तदा मोक्षं दास्यामीति.

एवं हितार्थेऽपि वेणुवादने ये मोक्षानधिकारिणः तेषां काम एव जात इत्याहुः **व्योमयानवनिता** इति. **व्योमयानाः** विमानयानाः सर्वे देवयोनयः तेषां **वनिताः**. अधिकारित्वात् स्त्रीत्वाद् भोग्यत्वाच्च न मुक्त्यधिकारिण्यः. **सिद्धैः** सहिता अपि, भगवद्व्यतिरिक्तं सर्वमेव दातुं समर्थाः[१]. स्वयमत्यन्तं गाने निपुणाः. आदौ वेणुनादं श्रुत्वा **विस्मिता** जाताः, ततोऽल्पकामोद्रेके **तद्वेणुनादमुपधार्य सलज्जा** जाताः, भर्तारो ज्ञास्यन्तीति. ततोऽत्यन्तमुद्रेके स्वात्मरक्षार्थं कामेन मरणशङ्कया **काममार्गणेभ्यः समर्पितं चित्तं** याभिस्तादृश्यो जाताः, यथा मारकाय मारणात् पूर्वं स्वयमेव समर्प्यते भीरुभिः. ततः कामेन पीडिताः **कश्मलं** मूर्च्छां **ययुः**. सा मूर्च्छा अत्यन्तविस्मारिकेत्याह **अपस्मृता नीवी** कटिवस्त्रं याभिरिति. एवं वेणुनादोऽत्यन्तं कामबोधक इत्यस्माकं मूर्च्छादौ किमाश्चर्यमिति भावः ॥२-३॥

टिप्पणी

करोतीति तथोक्तम्. **मुकुन्द**तात्पर्योक्तौ **वेणुनादेने**ति, परोक्षवादोऽत्र कृतो, विवक्षितार्थस्य गोप्यत्वात्. शुद्धिर्भगवद्भावान्यभावराहित्यं **मोक्षो** भजनानन्दानुभवः ॥२॥

लेखः

व्योमेत्यत्र, **तेषामि**ति विमानयानानामित्यर्थः. **सर्वमेवे**ति अणिमादिकमित्यर्थः, सिद्धानां तथा सामर्थ्यं स्पष्टमेव. **दातुं शक्ताः** किमुत स्वयमनुभवितुमित्यर्थः. **मार्गणेभ्य** इति, कामरूपो भगवान्, अङ्गुलयः शराः, "कुसुमशरशरप्रान्ता हि ते"त्यत्र तथोक्तेः. तथा च कथमयं नादो जायत इति गवेषणार्थमङ्गुलीषु चित्तं कृतवत्य इत्यर्थः. तेन किञ्चित् स्वास्थ्यं भवतीति भावः ॥२-३॥

१. शक्ता इति पाठः.

गवामपि वेणुनादेन तथा जातमिति वक्तुं प्रकारान्तरेण वेणुरवोद्गममाहुः **हन्त चित्रमिति.**

हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थिरविद्युत् ।
नन्दसूनुरयमार्तजनानां नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः ॥४॥
वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात् ।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ॥५॥

हे **अबलाः, इदमाश्चर्यं शृणुत— यर्हि नन्दसूनुः कूजितवेणुः** तर्हि **वृषा गावो दन्तदष्टकवला निद्रिता आसन्निति** सम्बन्धः. कामः पशुषु सजातीयएव, नोत्कृष्टे नापकृष्टे. अश्वतरे त्वन्यैव व्यवस्था. हीनेषु महतो रमणार्थं सम्बन्धोऽपि रसाभासजनकः. अतः सम्भोगलक्षणं कामं निराकृत्य पशुष्वत्यावश्यकं भक्ष्यं निरुणद्धि. पूर्वोक्तं वामबाहुकृतवामकपोलत्वमनुवर्तते, तत्रैवावान्तरभेदो वक्तव्यः. **हन्तेति** खेदे, यत्र गवामपि सर्वक्रियानिवृत्तिः तत्रास्माकं न निवर्तते इति **चित्रम्.** पूर्वापेक्षयाप्युत्कृष्टं; देवस्त्रियो हि पुरुषोत्तमे कामुक्यो भवन्त्येव, इदं त्वत्याश्चर्यमिति. **अबला** इति सम्बोधनं गत्वा दर्शनाभावाय. इदं मया प्रोच्यमानं **शृणुत.** अत्र गोपिका नवविधाः— गुणातीते प्रकारत्रयमिति कर्मज्ञानभक्तिभिः. वक्तृव्यवस्थैषा. प्रथमा राजस्यः, इयं राजसराजसी. अपेक्षितं पूर्वं सर्वमेवानुवर्तते सर्वत्र. आदौ

लेखः

हन्तेत्यत्र पशुष्विति, मनुष्याणामपि पशुत्वं श्रुतिसिद्धम्. देवानां तु मानुषीष्वपि प्रवृत्तिरिति भावः. **अन्यैवेति**, सर्गादावेव तथा सिद्धत्वात् सजातीयत्वमेवेत्यर्थः. एतेन तेषु भगवद्विषयकः कामो निषिद्धः. भगवति तद्विषयकं कामं निषेधन्ति **हीनेष्विति. निराकृत्येति**, अविद्यमानत्वात्तमनुद्बोध्य वेणुनादो भक्ष्यं निरुणद्धीति यथा पूर्वत्र सम्भोगरसानुभवो न जातः तथात्र भक्षणरसानुभवो न जात इत्यर्थः. **तत्रास्माकं न निवर्तत** इति, क्रियोद्बोध एव जायत इति खेद इत्यर्थः. **अत्रेति** आन्तररमणे इत्यर्थः. इहायमभिसन्धिः— बाह्यरमणे स्वरूपप्राधान्यं, तच्च षड्गुणमिति तदेकनिष्ठत्वादेता अपि षड्गुणरूपा निरूपिताः. आन्तररमणे भावप्राधान्यं, ते च सत्त्वादिदृष्टान्तैस्त्रावन्त इति तदेकनिष्ठत्वादेता अपि तथा निरूप्यत इति. **प्रथमा** इति तिस्र इति शेषः. **राजस्यः** रजोभेदभिन्ना इत्यर्थः. **इयमिति** तत्रेति शेषः, इयं

भगवतः स्वरूपं शृणुतेति तं चतुर्धा वर्णयति, **हारवद् हासो** यस्य, **उरसि स्थिरा विद्युद्** यस्य, **नन्दस्य** च **सूनुः**, **आर्तजनानां** सर्वेषामेव **नर्मदः**. तत्र हेतु**रयमिति**, अन्यथेदानीमग्रे प्रकटो न भवेत्. द्वितीये मुहूर्ते निर्गच्छन्तं वालक्ष्याह. तदा प्रतिमुहूर्तं युगलानि भवन्ति. सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तरेण द्वादशैव मुहूर्ता इति सोमोत्पत्तौ निर्णयः. अन्येषां हास्यं किर्मीरितं भवति रज्जुवत्, भगवतस्तु दन्तानां कान्त्या विभक्तो हासः मुक्ताहारवद् भवति, यथा रत्नैर्व्यवहिता मुक्ता इति. अनेन जगतः प्रपञ्चे मोहजनकत्वं स्थिरीकृतम्. स्नेहकलाभिर्माया विभक्तेति श्रुतार्थापत्तिरर्थनिरूपणे मूलं

टिप्पणी

हन्त चित्रमित्यत्र, **सोमोत्पत्तौ निर्णय** इति. तत्रामावास्यायां सोमस्य दिवा स्थितिस्थानमुक्तं, "त्रिमुहूर्तं वसेदर्के त्रिमुहूर्तं जले वसेत् त्रिमुहूर्तं वसेद्गोषु त्रिमुहूर्तं वनस्पताविति". एवं सति दिनस्य द्वादशमुहूर्तात्मकत्वात्प्रति-मुहूर्तं यां यां लीलां प्रभुः करोति सा सा लीलाऽत्र गीयत इति संख्यया ज्ञापितं भवति. लीलासहितो भगवान् हृदि प्रकट इति यदा यां लीलां प्रियः करोति तदैव सैव लीला स्वामिनीहृदयेषु स्फुरतीति नानुपपत्तिः काचित्. **हारहास** इत्यत्र, केवलमुक्ताहारतुल्यत्वे चित्रता नास्तीति **यथा रत्नैरि**त्युक्तम्. अधरप्रभाभिररुणत्वं दन्तानां सहजम्. हासविभागस्थैर्यसूचित-मर्थमाहुः **अनेनेति**, भगवत्स्नेहेन सर्वात्मना मायाद्यपगमः प्रमाणबलं, तत्स्थैर्यकृत्या तु तन्निराकरणं भवति. एवं सति स्नेहमायाकार्ययोः सहभावकरणेन भगवत्स्नेहवतोऽपि **जगतो** व्रजीयजीवरूपस्य **प्रपञ्चे** विषयरूपे तथात्वं तथेत्यर्थः. इदमप्येकं चित्रम्. एतादृशस्य सूचितस्यार्थस्योक्तौ **हन्तेति**

लेख

शुद्धराजसीत्यर्थः. तथा च पूर्वोक्ता राजससात्त्विकी, अग्रिमा राजसतामसीति ज्ञेयम्. **स्वरूपमिति** मया वर्णितमिति शेषः. **सर्वेषामेवेति**, न तु नन्दस्यैवे-त्यर्थः. **तत्रेति**, सर्वेषां सुखदत्वकथने प्राकट्यं साधकमित्यर्थः. **किर्मीरितमिति** एकरूपमित्यर्थः. तेषां दन्तेषु प्रभाऽभावान्न तैर्विभागः कर्तुं शक्यः. भगवतस्तु दन्तेषु माणिक्यदृष्टान्तस्योक्तत्वात् प्रभावत्त्वेन[1] तैर्हासविभागो भवतीति भावः. **मोहजनकत्वमिति** भगवत इति कर्तृषष्ठीति शेषः. श्रुतार्थापत्तिं

१. प्रभावत्त्वेन इति मुद्रितः पाठः जो.पाठमनुसृत्य संशोधितः.

सर्वत्र. यथा दृष्टे नानुपपत्तिः, दृष्टानुसारेणैव सर्वं व्यवस्थाप्यते, "नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम व्याघातादि"ति. लौकिकानामेषा व्यवस्था, सर्वथा दृष्टविरोधो नाङ्गीक्रियत इति. तथा वैदिकानां श्रुतिः. यावतैव बोध्यमानः पदार्थः स्थिरीभवति तावांस्तदनुगुण उच्यत इति सर्वत्रैवैषा व्यवस्था. न केवलं संसारे पुत्राद्यासक्तिमेव स्थिरीकरोति किन्तु धनासक्तिमपीत्याह **स्थिरा** लक्ष्मीर्यत्रेति. एवं प्रमाणबलनिराकरणार्थं द्वयं विधाय प्रमेयबलनिराकरणार्थं द्वयं कृतवा-

टिप्पणी

खेदोक्तिबीजं, भगवति रागवतामन्यत्रापि रागदर्शने भक्तानां खेदोत्पत्तेरावश्यकत्वात्. अन्यथा तु स्नेहेन सर्वत्यागे तैः सह लोके लीला न स्यादिति तथा कृतिरिति भावः. लोके नैवं हासः सम्भवतीत्यत्राप्यसम्भावना मा भवत्विति प्रमाणमुक्तं **श्रुतार्थापत्तिरि**त्यादिना, अग्रिमपदेऽप्येवमेव ज्ञेयम्. अचिरस्थायित्वधर्मसाम्येन **विद्युत्**पदेन धनं लक्ष्यते. यद्वा हारवद्भगवदुरस्येव हासस्थित्या विभागस्थैर्यसूचिता या प्रपञ्चविषयिण्यासक्तिस्तामपि स्वविषयिणीमेव करोति. एवं सति प्रपञ्चे प्रपञ्चविषयको यो मोहस्तस्य स्वविषयकत्वेन जनकत्वं स्थिरीकृतं स्वस्मिन्निति टीकार्थः सम्पद्यते. स्वमात्रविषयकासक्तिजनकत्वं लोकेऽप्यप्रसिद्धमिति चित्रतात्र. एवमेवाग्रेऽपि ज्ञेयम्. अस्मिन्पक्षे **हन्ते**ति हर्षे. अत्र न कस्यापि बलं प्रभवतीति ज्ञापनाय सम्बोधनम्. विशेषणयोर्मुख्यार्थोऽतिगोप्य इति पितृचरणैर्न लिखितः. अतएव स्वामिनीभिरपि गूढार्थज्ञानार्थं सावधानतया श्रोतव्यमित्याशये**नेदं शृणुते**त्युक्तम्. अस्माभिरप्यतएव न लिख्यते, तदनुग्रहवतां स्वतएव तत्स्फूर्तेः, अन्येषां तज्ज्ञानस्यानुचितत्वात्. भगवन्मात्रस्नेहवतोऽन्यधर्मनिवृत्तिः स्वाभाविकीति प्रमाणबलनिरासः ॥४॥

लेखः

दृष्टान्तेन व्युत्पादयन्ति **यथे**ति. **नाङ्गीक्रियत** इत्यन्तं लौकिकानां यथा तथा वैदिकानां श्रुतिरतोऽत्र तथा निरूप्यते इत्यर्थः. **यावतैवे**ति, **बोध्यमानो** हारहासत्वरूपः **पदार्थो** मोहजननपर्यन्ततात्पर्येण **स्थिरीभवति.** प्रयोजनाभावेऽत्र **हारहास**पदं न वदेदिति भावः. **तावन्**मोहजननपर्यन्तार्थो **हारहासपदानुगुण**-स्तदनुगत इत्यर्थः. **स्थिरीकरोती**ति टिप्पण्युक्तद्वितीयव्याख्यानपक्षे स्वस्मिन्निति शेषः. पूर्वं पुत्रादिषु स्थितामासक्तिं स्वस्मिन्नेव स्थिरीकरोतीत्यर्थः.

नित्याह यतोऽयमेव **नन्दस्य सूनुर्जातः आर्तानां** च स्वयमागत्य सुखं प्रयच्छति. परिदृश्यते च तथेति च प्रमाणम्. नहि महानेवं करोति. अतः इदमाश्चर्यम्. एतमेवार्थं प्रकटीकुर्वन् **कूजितवेणुर्भ**वति. अथवा पूर्वापेक्षया अधोवक्त्रलीलया वेणुर्वाद्यते. **हारवद्धासो** यस्मिन् **उरसि,** तस्य **स्थिरता** विभागस्थैर्यं चाश्चर्यम्. श्रीवत्सोऽप्यत्युत्कृष्ट इति शोभार्थं तस्य स्थिरत्ववर्णनम्. तादृशस्य नन्दसूनुत्वे स्नेहो वर्धते, तत्रापि स्वोपकारक इति. कूजितत्वं वादनविशेषधर्मः, सर्वेषामान्तरं प्राणधर्ममप्याकर्षति.

यत्र पशूनामपि प्राणादिधर्महारी तत्रान्येषां किं वक्तव्यमिति पशूनां निरूपयति. एकस्य तथात्वं हेत्वन्तरसिद्धमपि भवेद् अत उक्तं **वृन्दश** इति, समूहशः, यत्रैव वेणुनादः प्रविष्टः तेषां सर्वेषामित्यर्थः. **व्रजस्थिता वृषाः** ककुद्मिनो मत्ताः उत्सृष्टवृषा इव शकटादिनेतारः. ते व्रजसमीपएव तिष्ठन्तीति ग्राम्यपशूपलक्षणार्थं **व्रजपदम्. मृगा गाव**श्चारण्ये मिलिता भवन्ति. आरण्या ग्राम्याश्चैवं भवन्तीति ज्ञापनार्थं **मृगपदम्**. किं बहुना, सर्व एव पशवो **वेणुवाद्येन** कृत्वा **हृतचेतसो** भवन्ति. नापि भगवत्समीपगमने समर्थाः किन्तु **हृतचेतसो** दूरादेव भवन्ति. अनेन वेणुनादस्य स्वाभाविक एवायं धर्मो न तु भगवत्समीपकृत इति. **कवला**स्तृणरूपाः केवलं **दन्तैर्दष्टाः** न त्यागे न च भक्षणे समर्थाः. दन्तदंशमात्रेण प्रयत्नो निवृत्त इति नादस्येतरकार्यनिवर्तकत्वमुक्तम्. पूर्वक्रियाया अत्यावश्यकत्वाय **कवलपदम्.** देवस्त्रीवन्मूर्च्छानिवृत्त्यर्थमाह **धृतकर्णा** इति, अन्यत् सर्वं परित्यज्य कर्णमेव साधनं धृतवन्तः. ततो बाह्यान्निवृत्ता इत्याह **निद्रिता** इति. ततो नादेन

लेखः

धनासक्तिमिति, अत्रापि स्वस्मिन्निति शेषः. **तथेति च प्रमाणमिति च**कारेण पूर्वोक्तश्रुतार्थापत्तेः समुच्चयः. **अथवेति**, अस्मिन् पक्षे **हारहासे** इति सप्तम्यन्त**मुरसो** विशेषणम्. अस्मिन् पक्षे चित्रतां विवृण्वन्ति **तस्येति. वादनेति, वादनजनितो विशेषधर्मो** वेणुनिष्ठ इत्यर्थः.

वृन्दश इत्यत्र **अनेनेति, आरादिति** कथनेन वेणुनादस्य कार्यं, न तु भगवत्सामीप्यस्येत्युक्तमित्यर्थः. **इतरकार्येति**, कार्यमात्रनिवर्तकत्वे कर्ण-धारणमपि न कुर्युरिती**तरपदम्**; स्वोपयोगीतरकार्यनिवर्तकत्वमित्यर्थः. **पूर्वेति**, दन्तदंशानन्तरं वेणुनादः श्रुतः, ततोऽदनं कर्णधारणं च प्राप्तम्. तत्र दंशस्य पूर्वत्वात्तत्सम्बन्धिन्यदनक्रिया आवश्यकी. **कवलत्वेन** सिद्धत्वाद**त्यावश्यकी**त्यर्थः.

सर्वतो व्याप्ताः **लिखितं** गवादीनां **चित्रमिव** पश्चात्ते जाताः, स्थावरापेक्षयापि स्थिरा जाताः. पूर्वोक्तार्थादधिकोऽर्थ इति चित्रता ॥४-५॥

वेणुनादेन नदीनामतिजडानामपि स्पृहा जायत इति वक्तुं पुनर्वेणुनादं वर्णयन्ति **बर्हिण** इति.

बर्हिणः स्तबकधातुपलाशैर्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः ।
कर्हिचित् सबल आलि सगोपैर्गाः समाहृवयति यत्र मुकुन्दः ॥६॥
तर्हि भग्नगतयः सरितो वै तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम् ।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ॥७॥

आवेशो देववेशश्च पूर्वं निरूपितौ, लीलावेशोऽधुना निरूप्यते. निरन्तरक्रिया हि नदीनां, चेतनानां तु निद्रामूर्च्छादौ क्रियानिवृत्तिरपि दृष्टा, नदीनां तु न कदापि निवर्तते इति, तत्रापि महतीनाम्. बन्धोऽपि न तासां भवति. सापि वेणुनादेन निवृत्ता. **बर्हिणो** मयूरस्य **स्तबकाः** गुच्छकाः पिच्छगुच्छानि **धातवो** गैरिकादयः पत्राणि च. धातूनां वा पत्राकारेण लेखाः, कमलपत्राण्यपि आकारार्थं बध्यन्त इति. तैः कृत्वा **मल्लानां परिबर्हः** अलङ्करणं वेश इति यावत्. स्वयं **स्तबकादिभिः बद्धो** योऽयं **मल्लपरिबर्हः** तं **विडम्बयति. विडम्बो** वा **बद्धः**. अस्वाभाविकं विडम्बनमेव भवति नटमल्लवत्. अनेनायं नादो नृत्योपयोग्येव निरूपितः. तेन क्रियाशक्तिरुद्गता

लेखः

तथापि न जातेति नादस्य माहात्म्यमिति भावः. **पूर्वोक्तादिति**, देवस्त्रीणां कश्मलादित्यर्थः ॥४-५॥

बर्हिण इत्यस्याभासे **अतिजडानामिति**, **जडा** मूर्खाः पूर्वोक्ताः पशवः लीलाविशेषज्ञानरहिताः, ततोप्य**तिजडा नद्यो** यासां किञ्चिदपि न ज्ञानं, ताँसामपीत्यर्थः. व्याख्याने, **आवेशो देववेशश्चेति**, **आसमन्ताद्वेशः** सार्वदिक इत्यर्थः. स प्रथमयुगले उक्तः. **अवेश** इति पाठे अवस्थितिविशेषएव उक्तो, न तु वेश इत्यर्थः. **देववेशः** देवस्य क्रीडाकर्तुर्वेशो गोचारणार्थं निर्गमन-सामयिक इत्यर्थः, स द्वितीययुगले उक्तः. ***लीलावेशो*** नृत्यलीलासामयिको वेशः, सोऽत्र युगले निरूप्यत इत्यर्थः. **महतीनामिति**, सरन्तीति सरित इति यौगिकार्थेन गमनस्वभावत्वान्महत्त्वं सूचितमित्यर्थः. **अनेनेति**, नृत्यवेश-विडम्बकथनेन नृत्यसामयिकएव अयं न त्वन्यसामायिक इत्युक्तमित्यर्थः.

नादस्था निरूपिता नदीनामाकर्षे हेतुर्भवति. **कर्हिचिदिति** यदोत्साहः क्रियाशक्तौ. अतएव **सबलः** बलभद्रसहितः. **आलीति** सम्बोधनं गोप्यतयायमर्थो निरूपितो; अप्रतारणार्थं च. प्रायेणैषा तदा दर्शनार्थं गतवती स्नानादिव्याजेन. एवं सामग्रीं विधाय सोऽस्माकं भोक्ता वस्तुतो वा जातो वा, तादृशो **गोपैः सहितः**. अनेनात्र वैकुण्ठस्थितलीला सूचिता, अत्रापि लक्ष्मीरस्माभिः सहिता रात्रौ – गोपैः सहिता दिवसे तिष्ठतीति. अतएव सम्बोधनं रहस्यसूचकम्.

टिप्पणी

कर्हिचित् सबल आलीत्यत्र, गोप्यतयायमर्थ इति, एतेन कर्हिचिदेव सबलः, कर्हिचिदेव गोपैः सहित इत्यपि सम्बन्धो ज्ञाप्यते. तेन सदैकान्ते भोक्तैवेति **स** इत्यनेनोच्यते. **मुकुन्द** इत्यत्र, दर्शनसुखमात्रं मोक्षः, स्वरूपरसज्ञानं स्वरसस्थापनमिति ज्ञेयम् ॥६॥

लेखः

तेनेति नृत्यसमयकथनेनेत्यर्थः. नृत्ये तारएव नादो जायते, अतो अङ्गुलीरूपा **क्रियाशक्तिरुद्गता** गाढनिष्पीडनयुक्ता निरूपितेति भावः. **यदोत्साह** इति, नृत्ये यदोत्साहस्तदा बलसहितो भवतीति भावः. **निरूपित** इति, **सम्बोधनम्** एतदर्थमिति शेषः. प्रतिमुहूर्तं युगलानीति पक्षमाश्रित्याहुः **प्रायेणेति**. द्वितीययुगले निर्गमनमुक्तम्, इदं च तृतीयम्, अतो अधुना सर्वथा चित्तद्रवाभावात् किञ्चिज्ञातत्वाच्च **प्रायेणे**त्युक्तम्. "वनं याते द्रुतचेतस" इत्युक्तत्वादग्रे सर्वथा चित्तद्रवे स्वतएव लीलाग्रहणं भविष्यतीति भावः. सरित्प्रसङ्गोक्त्या तीरस्थो भगवानुक्तः, अत उक्तं **स्नानादीति**. **सामग्रीमिति**, कर्हिचिदेवान्यसाहित्यकथनेन सर्वदा एकान्तस्थित्या रमणसामग्री सूचितेति भावः. **जातो वेति**, भोगानन्तरं वा गा आह्वयती[1]त्यर्थः. **तादृश** इति, कर्हिचिदेव गोपैः सहितोऽपि भवतीत्यर्थः. **दिवसे** इति, दिवसे अन्तरङ्गगोपैः सह गच्छतीति भावः. **तदेति**, भोगानन्तरं बहिरङ्गगोपसहितो गा आह्वयतीत्यर्थः. कर्हिचिदेव बलगोपसहितः, सर्वदा त्वेकान्ते **भोक्तैव** एतादृशो **वस्तुतो** भगवान् भोगानन्तरं वा पूर्वार्धोक्तप्रकारकः सन् **गाः समाह्वयतीत्यन्वयः**. व्रजान्निर्गत्य तीरनिकुञ्जेषु रमणं यथेच्छं विधाय तदा

१. आकारयति इति जो. पाठः.

तदा **गाः समाह्वयति,** वेणुनादेनैव, प्रकरणित्वाद्. "वेणुनाह्वयती"त्यग्रे वक्ष्यति. वेणुतुल्यतया निरूपणार्थं वा वेणोरग्रहणम्. गवामाह्वाने हेतुः **मुकुन्द** इति, मोक्षो हि ताभ्यो देय इति स्वतस्तासां साधनाभावादाकार्य प्रयच्छति, स्वरसं वा तत्र स्थापयितुम्. उद्गता क्रियाशक्तिर्महदेव कर्म करोतीति गवामाकारणमुक्तम्.

तत्र योगार्थं ज्ञात्वा नद्योऽपि नित्यं गच्छन्तीति ताः स्थगिता जाता इत्याह **तर्हीति**. तत्क्षणमेव **भग्नगतयो** जाताः. नहि भगवदाज्ञा केनाप्युल्लङ्घ्या भवति. **सरित** इति प्रवाहैकस्वभावत्वं निरूपितम्. तासां वैष्णवत्वकामना. तासां हि समुद्रोऽधिपतिः. यथा भगवान् पतिर्भूयात् तदर्थं **तत्पदाम्बुजरजः स्पृहयती**र्जाताः. स्पृहयन्त्यः रजसः सम्बन्धार्थमुपायमाह **अनिलनीतमिति**, **अनिलेन** वायुना स्वार्थं **नीतम्.** तेन सह प्रत्यासत्तिः, जलार्थी सः. भगवदीया एव भगवत्सम्बन्धं प्राप्नुवन्तीति रजःकामना दूराभिप्राया. कामएव अत्रोद्देश्यो देवतात्वान्नदीनाम्. अतएवाग्रे कालिन्दी तथा भविष्यति. इदानीं तथाभावे

लेखः

पूर्ववेशस्यान्यथाभावान्नृत्यादिवेशं विधाय गाः कृतार्थीकुर्वन् वनं गच्छति सोऽत्रोक्तः. कालस्य भगवद्रूपत्वात्तदधीनत्वाच्च सर्वमुपपद्यते. तदा स्नानादिव्याजेन गता तादृशं दृष्टवती अन्तरङ्गत्वात्तत्पूर्वावस्थां च ज्ञातवती अत्रागत्य वर्णयतीति भावः. **उद्गता क्रियाशक्तिरि**ति तारनाद इत्यर्थः.

ननु नदीनामाह्वाने नद्यः स्थगिता भवन्ति, अतएव "वेणुनिनदाह्वान-सरले" इति वाक्यं, गवामाह्वाने नद्यः कथं स्थगिता इत्यत आहुः **योगार्थ-मिति**, " 'गच्छन्ती'ति गावः – 'सरन्ती'ति सरित" इति यौगिकार्थस्यैकत्वात् स्वस्मिन् 'गो'पदवाच्यत्वं ज्ञात्वा **गवामाह्वाने**ऽपि स्थगिता जाता इत्यर्थः.

तर्हीत्यत्र स्पृहयतीर्जाता इति, स्थगिताः सत्यो भगवत्सम्बन्धो भगवदीयदेहं विना न भवति, तादृशो देहश्चरणरजसा भवतीति भगव-त्सम्बन्धसिद्ध्यर्थं रजःस्पृहां कृतवत्य इत्यर्थः. **भगवदीयाएवेति**, चरणरजः-सम्पादितदेहा इत्यर्थः. **कामएवेति**, गोष्विव भक्ष्यलक्षणकाम-निवारणायैवकारः. पूर्वगीते "नद्य" इति श्लोके देवतात्वान्नदीभिः सह नान्या लीलेत्युक्तम्. अधुना त्विन्द्राभिषेकस्य जातत्वात् सम्भवत्येवेति भावः. **अतएवेति**, तथा कामवत्त्वादेवेत्यर्थः. आधिदैविकस्य भगवत्त्वेनानन्तरूपत्वादिदमपि राज-

भाग्यं नास्तीत्याह **अबहुपुण्या** इति, न बहु पुण्यं यासां, यथाशीघ्रमेव गोरूपत्वं, गोपालरूपत्वं दिवसे, रात्रौ स्त्रीरूपत्वमिति, पुण्यैर्विना समीहितार्थसिद्ध्यभावात्. कथं ज्ञायते तासामेवंभाव इति तत्राह **वयमिवे**ति, यथा वयम् अबहुपुण्याः, अन्यथा दिवसे गावो गोपा वा भवेम. अतः स्वदृष्टान्तेन ज्ञायते– स्पृहामेव कुर्वन्ति, न तु तासां कार्यं सिध्यतीति. किञ्च तासां सात्त्विकभावादपि हृद्गतो भावो लक्ष्यत इत्याहुः **प्रेमवेपितभुजा** इति, प्रेम्णैव भुजानां वेपनं न तु वायुवशात्. अतो विरहसन्तापयुक्ता इव लक्ष्यन्ते. किञ्च स्तम्भोऽपि जात इत्याहुः **स्तिमिताप** इति, **स्तिमिताः** स्तब्धा **आपो** यासाम्. एवं रजोभेदास्त्रिविधा निरूपिताः ॥६-७॥

सत्त्वभेदान् निरूपयितुं भगवन्तमपि तथा वर्णयन्ति **अनुचरैरि**ति त्रिभिः. लताविहङ्गमेघाः सात्त्विकाः, एते वेणुनादेन भक्तिपूर्णा जाताः. तत्र प्रथमं वृन्दावनस्था लतास्तरवश्च वैष्णवाः वेणुनादेन उद्गतप्रेमरसा जाता इति तदर्थं प्रकारान्तरेण वेणुनादमाह. तदर्थं प्रकारान्तरेण भगवानपि वर्णनीयः. स च भक्त्यनुसारेण लोकवेदानुसारेण च वर्णनीयः. तत्र भक्त्यनुसारेण प्रथममाह.

अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य आदिपूरुष इवाचलभूतिः ।
वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाह्वयति गाः स यदा हि ॥८॥
वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म ॥९॥

अनुचरैः सेवकैर्गोपैः **सम्यगनुवर्णितानि वीर्याणि** यस्य, **आदिपूरुष** इव पुरुषोत्तम इव च **अनुचरैर्वेदैः सम्यक्** सर्वोत्तमत्वेन **वर्णितानि** जगत्कर्तृत्वादीनि **वीर्याणि** यस्य. लोकानुसारेण माहात्म्यमाह सर्वोत्कृष्टं

लेखः

लीलास्थमेकं रूपं, मुख्यं तु यमुनाष्टकोक्तमिति ज्ञेयम्. वस्तुत ऐक्यात् "कृष्णातुर्यप्रियामि"ति तत्राप्युक्तम्. "सर्वाभेदादन्यत्रेमे" इति न्यायोऽनुसन्धातव्यः. **पुण्यैरि**ति, तादृशकृपाविषयत्व-हेतुभूतो भावविशेषः **पुण्य**पदेनोच्यते ॥६-७॥

अनुचरैरित्यस्याभासे. **सत्त्वभेदानि**ति सत्त्वप्रधानो भेदो येषां तान् लताविहंगममेघानित्यर्थः. **तथे**ति, तत्तदुपयोगिरूपनादवत्त्वेनेत्यर्थः. एतेन श्लोकत्रयाभास उक्तः. एतदाभासमाहुः **तत्रे**ति. (व्याख्याने!) **तथोक्त** इति

आदिपूरुष इवाचलभूतिरिति, **अचला** विभूतिर्लक्ष्मीर्यस्य. **अनुचरैः** सर्वैरेव देवादिभिस्तथोक्तः. लौकिकाः स्वव्यवहार्यत्वात् पुरुषोत्तमतुल्यतामेवाहुः. अतो दृष्टान्तभावः. भिन्नतया वर्णनायां हेतुमाह **वनचर** इति, वृन्दावनचरः सात्त्विकभावापन्नः सत्त्वभूमौ प्रतिष्ठित इति. **गिरितटेषु** गिरिप्रान्तेषु **चरन्तीः** विषमस्थानात् समदेशे पशुहिते स्वयं तत्रत्यो भूत्वा समाह्वयति, लौकिकत्वाभावाय **वेणुनैवाह्वयति.** वेणुद्वारा तत्र प्रविष्ट इति अग्रिमचरित्रेण ज्ञायते. अन्यथा वृक्षाणां तथात्वं न स्यात्. **स** इति येषु **वनप्रदेशेषु** रेमे, **यदैवाह्वयत्**, तदैव **मधुधाराः ससृजुः स्मेति** सम्बन्धः. **(हि!)** युक्तश्चायमर्थः, अन्यथा वेणुनादाभिज्ञता तत्र च स्वनामसङ्केतो न स्यात्. अतस्तद्द्वारा

टिप्पणी

वनचर इत्यत्र, **सात्विकभावापन्न** इति, वृन्दावनस्य रसोद्दीपकत्वेन स्तम्भादिसात्त्विकभावहेतुत्वात्तद्युक्त इत्यर्थः. आदिपुरुषस्य तद्रहितत्वेन श्रवणात्तस्माद् भेदेन वर्णनमुचितमिति भावः. **वनलतास्तरव** इत्यत्र,

लेखः

अचलविभूतित्वेनोक्त इत्यर्थः. **अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य** इति व्याख्याने भक्त्यनुसारः, **आदिपूरुष इवानुचरैः समनुवर्णितवीर्य** इति व्याख्याने वेदानुसारः, **आदिपूरुष इवाचलभूतिरिति** प्रकारेणा**नुचरैः समनुवर्णितवीर्य** इति व्याख्याने लोकानुसार इति विभागो ज्ञेयः. चतुर्थयुगले वृन्दावनप्रवेशः क्रमप्राप्तः, अतो **वनचर** इत्युक्तम्. पूर्वयुगले वनचरस्योक्तत्वात् सात्त्विकभावोऽपि जातस्तात्पर्यार्थत्वेनोक्तः. ***लौकिकत्वाभावायेति***, अन्यकृताह्वानसादृश्याभावायेत्यर्थः. **तत्र प्रविष्ट** इति तरुषु प्रविष्ट इत्यर्थः, **विष्णुं व्यञ्जयन्त्य** इत्युक्तत्वादिति भावः. **स इतीति**, **येषु** देशेषु **रेमे** तत्र स्थित इति शेषः. समीपनिकुञ्जस्थाः कृतार्थीकृत्य वनं प्रविष्टः सन् यत्र देशेषु पूर्वदिवसेषु रेमे तत्र सङ्केतस्थले स्थित्वा वेणुना गा आह्वयति. तेन नादेन तदन्तःस्थितदेवता उद्बुद्धा भवन्ति. अन्येऽपि सर्वे भगवदुपयोगि स्वस्वनिष्ठं रसं[१] प्रकटीकुर्वन्ति. ततो निबिडनिकुञ्जगतो रमत इति भावः. **स्वनामेति**, भगवानेकेनैव वेणुनादेन तेभ्यस्तेभ्यस्तत्तन्नाम गृहीत्वा स्वापेक्षितं ज्ञापयति. तथा चापेक्षितफलपुष्पाद्यप्रकटने प्रयोजनाभावात्तन्नाम न गृह्णीयादित्यर्थः.

१. मुद्रितपाठः "स्वस्वरसं निष्ठम्" इति, संशोधितस्तु जो. पाठमनुसृत्य (सम्पा).

भगवान् प्रविष्ट इत्यग्रेऽपि तथात्वं युक्तमेव.

वनस्था लताः अस्मन्निकटे भगवांश्चरति स्वकीयांश्चाकारयतीति ज्ञात्वा तेषां भोगसिद्ध्यर्थं स्वस्मिन् विद्यमानमानन्दं प्रकटितवत्यः. तथा **तरवश्च**. यथा स्त्रियः पुरुषाश्च भगवदीयाः भगवति भगवदीयेषु च समागतेषु आनन्दयुक्ता भवन्ति, भोगार्थं स्वकीयं च प्रयच्छन्ति, तद्वदेतेऽपि. नन्वयं धर्मो जङ्गमानां, न स्थावराणामिति चेत्, तत्राह **आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य** इति. चेतनेष्वेव भगवतः क्रियाज्ञानशक्त्योराविर्भावः. सच्चिदानन्दरूपता च क्रमेणाविर्भवति. एतत् सर्वं भगवति निविष्टे भवति, सोऽपि निविष्टश्चेत् प्रकटीभवति तदैवं युज्यत इति ते वृक्षादयः पञ्चधर्मयुक्ताः **आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव** जाताः. तत्र प्रथमं क्रियाशक्त्याविर्भावमाह **पुष्पफलाढ्या** इति. यत्र हि भगवान् निविशते तत्रावान्तरफलं परमफलं च भवति, अतः कार्याद् व्यञ्जयन्त्य इव जाताः. पुष्पाण्यवान्तरफलरूपाणि, परमफलानि तु फलानि, तैः सर्वैराढ्या जाताः. भगवदर्थं सदाधिक्यमाह **प्रणतभारविटपा** इति. भारेणापि नमनं सम्भवतीति तन्निरासायादौ प्रणतत्वमुक्तं, **प्रकर्षेण नताः भारेण विटपाः** शाखा येषाम्. **प्रेमहृष्टतनव** इति चिदुत्कर्षो ज्ञानरूपो निरूपितः. भक्ताएव हि प्रेम्णा हृष्टरोमाञ्चा भवन्ति. [१](पूर्वमहरितानामपि तदा हरितत्वं, पूर्वस्मात् स्थौल्यं प्रत्यवयवमुच्छूनत्वं प्रभाविशेषश्चात्र

टिप्पणी

पञ्चधर्मयुक्ता इति. "पश्यतैतान्महाभागानि"त्यादिनोक्ताश्चत्वारो भगवदीयत्वं चैकमिति तथा ॥८-९॥

लेखः

तद्द्वारेति वेणुद्वारेत्यर्थः. **अग्रेऽपीति**, पूर्वं पुष्पफलरूपानन्दप्रकटनमुक्तम्, अग्रेऽपि मधुधारारूपानन्दप्रकटनं युक्तमेवेत्यर्थः.

वनलता इत्यत्र. **क्रिशाशक्त्याविर्भावमिति**, फलपुष्पाणां लीलोपयोगित्वादिति भावः. **सदाधिक्यमिति**, सन्तो हरिं दृष्ट्वा नमन्तीति भावः. **भारेणेति** युक्ता इति शेषः, तथा च **प्रणता भारयुक्तविटपा** येषामिति विग्रहः. **भक्ता एव हीति**, ज्ञानोत्कर्षः पुरुषोत्तमज्ञानं, तद्भक्तस्यैव भवति "भक्त्या त्वनन्यये"ति वाक्यादिति भावः ॥८-९॥

१. ( ) चिह्नान्तर्गतं प्रभूणाम्.

प्रेमहृष्टतनुत्वम्. अपरं च, वेणुनादनिष्ठसुधास्वादवत्यः स्वामिन्य इति तद्धर्मं परिचिन्वन्ति ताएवेति तदुक्तावन्यविचाराक्षमत्वं युक्ततरमिति नाधिकं लेखनीयमत्र.) **मधुधाराः** स्वस्मिन् विद्यमानानन्दं भगवदर्थं बहिः प्रकटितवत्यः. एतत्सर्वपरिज्ञानमेव ज्ञानशक्तिः ॥८-९॥

पक्षिणामपि वेणुनादकार्यं जातमिति तत्रोपयोगिरूपं वेणुनादं च वर्णयन्ति **दर्शनीयतिलक** इति. यद्यपि पक्षिणो मुनयः, न तेषां गीतादिना भगवद्भावो भवति किन्तु स्वभावतएव, तथापि लोकदृष्ट्या कदाचिदन्यथाबुद्धिर्भवेत् अतो रूपनादाभ्यां तेषां भजनसिद्धिर्निरूप्यते. तत्र रूपं वर्णयति **दर्शनीयतिलक** इति.

दर्शनीयतिलको वनमाला-दिव्यगन्धतुलसी-मधुमत्तैः ।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमाद्रियन् यर्हि कूजितवेणुः ॥१०॥
सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य ।
हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥११॥

दर्शनीयानां मध्ये **तिलक**रूपोऽतिसुन्दरः. पक्षिणश्च रूपप्रधानाः रूपभेदविदः. किञ्च यो वेणुनादः स स्वहितकारी स्वकीयानामपराधमपि न मन्यते. तदाह **वनमाला-दिव्यगन्धतुलसी-मधुमत्तैः अलिकुलैः** कृत**मलघुगीतमपि आद्रियन्** आदरं कुर्वन्नेव **कूजितवेणुर्यतः.** यथैव भ्रमरा झङ्कारं कुर्वन्ति तथैव तन्नादमनुकुर्वन्नेव अनुरणनवदेव वेणुनादं करोति.

लेखः

दर्शनीयेत्यत्र. लोकदृष्ट्येति, सर्वदा भगवद्भाववत्त्वेऽपि **लोकस्य** विषयान्तरस्य **दृष्ट्या** दर्शनेनांशतोऽपि अन्यचित्तता भवेत्, रूपदर्शने तु नादस्य वा श्रवणे तु नांशतोऽप्यन्यचित्ततेत्यर्थः. पक्षिणां रूपप्रधानत्वे हेतुमाहुः **रूपभेदविद** इति. तृतीयस्कन्धे "ततः शब्दविदो वराः. रूपभेदविदस्तेभ्य" इत्यत्र 'रूपभेदवित्'पदेन पक्षिण उक्ता इति भावः. एतेन विशेषणेन रूपेण भजनसिद्धिरुक्ता. अग्रिमविशेषणान्नादेनापि भजनसिद्धिरित्याहुः **किञ्चेति**, अल्पादरकथनेनैतेषामादरः कैमुत्यसिद्ध इति प्रघट्टकार्थः. **स्वहितकारीति**, स्वेषां स्वकीयानां हितकारीत्यर्थः. भ्रमराणां नादप्रधानत्वान्नादसम्बन्धित्वम्. पक्षिणो नानाविधकूजनैरुपकुर्वन्तीति नादप्रधानाः. **अपराधमपि न मन्यत** इति, तदनुरणनरूपो भवतीत्यर्थः. कर्मणः स्वातन्त्र्यं सौकर्यात्.

पक्षिणां मध्ये **अलयो** हीना निकृष्टाश्च. तेषामपि **कुलानि** समूहाः नानाविधजातिभेदाः. तैरप्य**लघु** यथा भवति तथा **गीतम्.** तस्याप्यादरं कुर्वन्. तत्राप्यलयो **मत्ताः.** मदोऽपि येनानुचितः, नहि तुलसी पुष्पान्तरवन्माद-हेतुः. तत्रापि **दिव्यगन्धा.** तत्रापि भगवद्**वनमाला**गता. तेषामप्यादरं चेत् कुर्यात्, तदा सरोवरादिषु ये सरसा रसिकाः क्षीरनीरविवेकिनश्च तेषामादरं कथं न कुर्यादिति! **वनमालायाः** या **दिव्यगन्धतुलसी** तस्या मकरन्देन **मत्तैः.** किञ्च आदरोऽपि भ्रमराणां यथाभीष्टं भवति तथा. वनमालायां समागतान् भ्रमरान्न दूरीकरोति किन्तु ते यथा नोपद्रुता भवन्ति तथैवादरं करोति. अतो **यर्ह्येव** आदरं कुर्वन्नेव **कूजितवेणुः** तदैव **सरसि** विद्यमानाः जलवासिनः **सारसाः** सरसानां भक्तानां सम्बन्धिनो, **हंसाः** क्षीरनीरविवेकिनः ते च **विहङ्गा** उत्कृष्टगतियुक्ताः. पुरुषापेक्षया ते पुनर्भगवद्भजनाधिकारिण इति तान् विशिनष्टि **चारुगीतहृतचेतस** इति, **चारु** यथा भवति निःकामार्थं भगवद्गीतेनैव **हृतं** वशीकृतं **चित्तं** येषाम्. तदपि भजनं भक्तिमार्गानुसारेण न तु स्थानस्थितानामन्तर्यामिरूपे ज्ञानरूपे वा, तदाह **एत्य** आगत्य **हरिम् उप** समीपे सेवमाना जाताः. यतस्ते भगवदुक्ता मुनयः. भजने भ्रमराद्विशेषमाह **यतचित्ता** इति, **यतं** नियतं **चित्तं** येषां, चित्तनैयत्येन भगवद्भजनं मुख्यं न तु विक्षिप्तचित्ततया. किञ्च **हन्त** इति हर्षे, एतद्भाग्यमेतेषामेव भवतीति. बहिर्व्यापाररहिता भजने सर्वोत्तमाः. बहिर्व्यापारेषु च नेत्रे वाक् च

टिप्पणी

एत्येत्यस्याभासे, ज्ञानरूपे वेति, आत्मन्येव ब्रह्मत्वेन ज्ञात इत्यर्थः ॥११॥

लेखः

सरसीत्यत्र भक्तानां सम्बन्धिन इति, तथैव सङ्केताद्भक्तागमनसूचका इत्यर्थः. **क्षीरे**ति, आगतानां मध्ये तत्तद्भावं विविच्य भगवन्तं बोधयन्तीत्यर्थः. **निःकामार्थमि**ति, निःकामत्वसाधकं अभिलाषपूरकमिति यावत्. अत्र भजनस्य नादप्रधानत्वान्नादेनैव अभिलाषपूरणमिति पुरुषापेक्षया विशेषः. पुरुषाणां तु प्रत्युताधिकोऽभिलाषो जायत इति भावः. अत्र **पुरुषपदं** स्त्रीपुंससाधारणमिति ज्ञेयम्. **समीपे** इति आसत इति शेषः. **उपासन**पदार्थमाहुः **सेवमाना** इति. **किञ्चेत्यस्य मीलितदृशेत्य**नेनान्वयः. यतचित्तत्वं भ्रमराद्विशेषो मीलितदृक्त्वं धृतमौनत्वं च विशेष इत्यर्थः. **यस्यैतदि**ति, यस्यैवं भवति स

नियम्याः. यस्यैतद्द्वयं नियतं– वाक् नान्यं वदति चक्षुश्च नान्यत् पश्यति, तदाह **मीलितदृशो धृतमौना** इति. मीलिता दृग् येषाम्. धृतं मौनं व्रतं यैः. साम्प्रतमेते नादपराः, अतो दृष्ट्या अन्यचित्तता भविष्यतीति नेत्रनिमीलनम्. एवमेतेषां भाग्यं सात्त्विकत्वान्निरूपितवत्यः.

[१](अथवा. **दर्शनीयतिलक** इति, इदमत्राकूतम्, अतिरसिका एते मुनयः स्वस्य पुरुषत्वेन लीलायामनुपयोगं मत्वा, पक्षीभूय, विविधस्वकूजनैर्भगवतो भक्तानां च रसोद्दीपनं कुर्वन्तः, स्वकृतार्थतां मन्वानाः, [२]शब्दमेवाधिकमभीष्टं मन्यन्ते. अतः शब्दप्रधान-कीर्तिरूप-वनमालाधर्माणामेव अत्र उपयोग उच्यते. "यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद्गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाती"ति श्रुत्या कीर्तेर्गन्धसाम्येन निरूपणं कृतम्. **वनमालायाः** कीर्तिरूपत्वात् तन्निरूपकाणि गीतान्यावश्यकानि. तानि च तद्रसास्वादं विना न सम्भवन्त्यतो गुणातीतभक्तिरूप-वक्ष्यमाणरूप-**गन्धवती तुलसी,** तन्मध्वत्यलौकिकभक्तिरसात्मकमितरविस्मारकम्. अतो**ऽतिमत्ताः** स्वदेहाद्यनुसन्धानरहिता ईश्वरधर्माननुसन्धाना अपीति तन्निकट**एव अलघु गायन्ति.** वस्तुतस्त्विदमेव महत्तमं समाराधनं प्रभो**रलिभिः** क्रियते. अतएव प्रभो**रभित इष्टं** तदेव गीतम्. अपरं च 'चार्वा'दिपदानि विहाय **तत्र** भवनार्थकप्रत्ययवत्पदोक्त्या[३] भगवद्वनमालास्थ-तुलसीगन्धस्य दिविभवत्वस्य बाधितत्वादग्रे स्वामिनीषु व्रजदेवीत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाद् दिवुधातोः क्रीडावाचकत्वाच्च स्वामिनीभिः सह क्रीडाजनितोऽयं गन्ध इति समभिव्याहारादवगम्यते. एतेन यथा दिविभवोऽर्थो नेतरलोकस्थजनविषयः

लेखः

सर्वोत्तम इति शेषः. **सात्त्विकत्वादि**ति शुद्धसात्त्विकत्वादित्यर्थः. तथा च पूर्वोक्तानां तमोमिश्रसात्त्विकत्वमग्रिमाणां रजोमिश्रसात्त्विकत्वमिति विभागो ज्ञेयः.

द्वितीयव्याख्याने **तद्रसास्वादमि**ति, कीर्तिनिष्ठरसस्य माधुर्यस्यास्वाद इत्यर्थः. **गुणातीतेति, गुणातीतभक्तिनिरूपको** "मालया दयितगन्धतुलस्या" इत्यत्र भगवत्प्रियत्वेन वक्ष्यमाणरूपो यो **गन्धस्तद्वती**त्यर्थः. **अतोऽतिमत्ता** इति, तादृशान्मधुनोऽतिमत्ता इत्यर्थः. गन्धेऽन्यमपि विशेषमाहुः **अपरं चे**ति.

१. प्रभूणाम्. २. अदृष्टेति पाठः. ३. दिव्यपदोक्त्या (सम्पा.).

तथायमन्तरङ्गतमलीला-प्रपञ्चस्थभक्तैकगम्य इति ध्वन्यते. अतएव प्रभोरपि भावोद्बोधस्तेनासीदिति ज्ञापनाय **कूजनमु**क्तम्. किञ्च वनमालास्थपुष्प-मध्वनुक्त्वा तुलस्याएव तद्यदुक्तं– "दयितगन्धतुलस्या" इति वाक्याद्, "बाहुं प्रियांस" इत्युपक्रम्य "तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैरन्वीयमान" इति वाक्याच्च –तद्गन्धमध्वादिस्वरूपं प्रभुरेव वेत्तीति नान्यगम्यः स विशेषः. तद्धोक्तारोऽलयोऽपि न साधारणाः किन्त्वितरेभ्यो विजातीया अत्युत्तमा इति ज्ञापनार्थमेव **कुल**पदमुक्तम्. अतएव**अलि**पदमुक्तम्, 'अलं'शब्दो हि पूर्णतावाची तथा च तद्वा**नलिरि**त्यत्रोच्यते. रसो **न लीयते** न नश्यति यत्र येन वा सो**ऽलिरि**त्युच्यते. यद्यप्यत्र दीर्घः सम्भवति तथापि "दशहूतो ह वै नामैषः. तं वा एतं दशहूतं सन्तं 'दशहोते'त्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा" इति श्रुतिन्यायेन "परोक्षं च मम प्रियमि"ति भगवद्वाक्याच्च स्वप्रियार्थस्य गोपनं प्रभोः प्रियमिति ज्ञायते. प्रकृते च स्वान्तरङ्गरसपोषकता एतेषु गोप्येति परोक्षेण ह्रस्वान्तं पदं प्रभुः प्रकटितवान्. एवं सत्येत एवालयोऽन्ये तु भ्रमराएव. क्वचिदेतेष्वपि अन्यनामप्रयोगः तात्पर्यविशेषेणेति ज्ञेयम्. तारत्वं बहुत्वं चानुक्त्वा लघुत्वाभावएव य उक्तस्तेन तद्गीतरसभरं वोढुं नान्यः शक्तः प्रभुं विनेति ज्ञाप्यते. महत्त्वे इयत्ता नास्त्येवेत्यपि ज्ञापनाय तथोक्तिः. एवं सति तदादरं कथं न कुर्यात्! **यर्हीति** पदात् तद्गीतरसपान-परवशः चिरं तूष्णीमेव तिष्ठति, कदाचित्तद्रसभरेणैव **कूजितवेणु**र्भवतीति ज्ञाप्यते. अग्रे गीतोक्त्या पूर्वं तद्गीतोद्बुद्धभावेन स्वप्रियाणां भावोद्बोधनाय तथैवाकरोत्. ततो यदा पूर्णरसोऽभूत् तदा जगाविति ज्ञाप्यते. अतिसुन्दरत्वनिरूपणे **तिलक**त्वोक्त्या तद्यथा भाग्यस्थाने भाले तिष्ठति तथेदमपि स्वरूपं परमभाग्यवतीष्वेव तिष्ठतीति ध्वन्यते. अत्र कर्मधारयो ज्ञेयः, स्वामिनीनां हृदि प्रियातिरिक्ते दर्शनीयत्वास्फूर्तेः. अत्र यद्यप्युभयं मुख्यं, तथापि नादे विशेषो निरूप्यते. अन्यथा **मीलितदृ**क्त्वं नोच्येत. तत्र

लेखः

प्रभ्वेकवेद्यत्वमन्यमपि विशेषमाहुः **किञ्चे**ति. **यदुक्तमि**ति यस्मादुक्तमित्यर्थः. **तदि**ति तस्मादित्यर्थः. यस्मात्तुलस्याएव मधूक्तं तस्मात् **सः** मधुनिष्ठो **विशेषो नान्यगम्य** इत्यन्वयः. एवं प्रकारत्रयेण गन्धस्य मादकत्वमुक्तम् ॥१०-११॥

हेतुः **सरसि** विद्यमानैरेव तैर्वेणु**गीतं** श्रुतम्. तच्च **चारुत्वेन** मनोहरणैकस्वभावम्. अतो नादाधीनाएव निकटे समागताः. आदावेव नादहेतुभूतस्वरूपसौन्दर्य-निरूपणान्नादरसएव स्वरूपरसमप्यनुभवन्तीति ज्ञाप्यते. इदमप्यतिचित्रं यन्मत्तानां गीतानुरणनरूपेण गीतेन **यतचित्तत्वं** सर्वेन्द्रियवृत्तिनिरोधश्चेति. एतेषामियं गीतरसपानदशेत्येवंरूपतैवोपपद्यतेऽपि, एतज्जन्यत्वेनैतदुत्तरकालीनत्वान्नादस्य. अलिकुलानामपि तुलसीगन्धमधुपानदशा पक्षितुल्यैव, पश्चात्तत्स्वभाववशादुक्तरूपत्वं परमिति ज्ञायते. मुनित्वात् पक्षिणामग्रेऽप्यन्तरेव निरन्तरमेतद्रसमग्नतैवेति न मत्ततोक्ता. अथवा प्रभुरसस्वभावादनुक्तसिद्धेवाग्मिमा सेति नोक्ता. तदैतेषामप्यलिकुलवद्दशा भविष्यति. वस्तुतस्तु उक्तरूपरसमत्तालिकुलालघुगीतम् अभीष्टत्वेन अतिचित्तनैयत्येनैवानुभवन् प्रभुर्वेणुकूजनगाने करोतीति तच्छ्रवणे पक्षिणामपि तथात्वमेवोचिततरमावश्यकत्वादिति युक्तमुत्पश्यामः. तथाप्यादौ स्वरूपसौन्दर्यमेवोक्तमिति स्वस्य तद्दिदृक्षातिभरेण पक्षिणां तत्प्राप्तिदशायां तत्प्रतिबन्धस्मरणेन कश्चित् खेदोऽभूदिति **हन्तेत्युक्तम्**) ॥१०-११॥

मेघः सर्वहितकारी, तस्यापि वेणुनादजनितभावमाह पूर्ववत् **सहबल** इति द्वाभ्याम्.

सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः ।
हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥१२॥
महदतिक्रमणशङ्कितचेता मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः ।
सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभिश्छायया च विदधत्प्रतपत्रम् ॥१३॥

हे **व्रजदेव्यो** गोप्यो व्रजदेवतारूपाः, अनेन विश्वासो भविष्यतीति निरूपितम्. **यर्हि वेणुरवेण विश्वमुपरम्भति** पूरयति तर्हि **महदतिक्रमेण शङ्कितचेताः सुहृदं** भगवन्तमभ्यवर्षत् स्वदेहछायया च आतपत्रं विदधत् जातः. तद्वा कुर्वन् **अभ्यवर्षत्**. अयं नादो महाबलयुक्तो विश्वगतान्

लेखः

सहबल इत्यत्र **अनेनेति**. दिवुधातोः क्रीडार्थत्वाद् लीलास्थत्वसूचकदेवीपदेनानुभवसंवादाद् उपरम्भणकथने विश्वासो निरूपित इत्यर्थः. **महाबलेति**, तार इत्यर्थः. **उपरम्भण**पदार्थमाहुः **विश्वेति**, अत्र **विश्वशब्दो** नादश्रोतृसर्वपरः. तत्समये तेषां विषयान्तरस्य न स्फूर्तिः किन्तु नादएव

सर्वानिव धर्मान् दूरीकृत्य स्वयमेव पूर्णः. तदाभासरूपोऽपि मेघो धूमादिसमूहात्मा विश्वं भगवतैव कृतार्थीभूतमिति स्वयमुपचरितार्थोऽपि स्वजन्मसाफल्याय भगवन्तमेव ववर्ष. तत्र यादृशेन वेणुनादेनैतद्भवति तादृशकर्तारं भगवन्तं वर्णयति विशेषणचतुष्टयेन. अन्यथा उपरम्भणमर्थवादरूपं स्यात्. तत्र क्रियाशक्तिः सम्पूर्णेति वक्तुं **सहबलो** बलभद्रसहित इति उक्तं, सृष्टिकरणक्रियापेक्षयापीयं महती क्रियेति ज्ञापयितुम्. **स्रग्रूपो** योऽयम**वतंसः** कर्णाभरणं तत्र **विलासो** यस्येति लीला निरूपिता. माला कीर्तिमयी, दश दिशः श्रोत्रं, कीर्तिर्दिक्षु पूरिता यया सा भवत्येव सर्वोत्तमा. भगवत्कीर्तिप्रतिपादकं वा भागवतादिशास्त्रं सर्ववेदेष्वाभरणरूपं तत्र विलासयुक्ता तत्प्रतिपादिका च. एवं क्रियायाः स्वरूपतो गुणतश्च माहात्म्यं निरूपितम्. तस्याः

लेखः

अन्तर्बहिःपूर्ण इत्यर्थः. **आभासे**ति, नीलत्वाद्भगवदाभास इत्यर्थः. वर्णसाम्येऽप्याभासत्वे हेतुमाहुः **धूमादी**ति. **विश्वमि**ति, मेघस्य प्रयोजनं वृष्ट्यादिना तापनिवारणं, तापस्तु भगवतैव नादद्वारा स्वानन्दपूरणेन निवारितः. तथा चाभासत्वेन निकृष्टोऽपि सिद्धप्रयोजनोऽपि **स्वजन्मसाफल्याय** स्थितः सन् **ववर्ष, न** तु भगवतोऽपि तेन किञ्चित् प्रयोजनमिति भावः. **अर्थवादरूपमि**ति, भगवतो बालत्वेन तत्कृतोपरम्भणे वाच्योऽर्थो विरुध्येतेति तेन चित्ताक्षेपरूपः कश्चिद्गुणविशेषो लक्ष्यते इति गुणवादरूपोऽर्थवादः स्याद्, "विरोधे गुणवादः स्यादि"ति सिद्धान्तादिति भावः. **सृष्टी**ति, "अदीने"त्यत्रादीनत्वं सर्गः लीला विसर्ग इति सर्गानन्तरं लीलाया निरूपितत्वात् महत्त्वम्. **स्रग्रूप** इति पुष्पगुच्छरूप इत्यर्थः. महत्त्वं शास्त्ररीत्यापि व्युत्पादयन्ति **माले**ति. **दशे**ति, अवतंसः कर्णाभरणं, तत्र कर्णौ दिश इत्यर्थः. आभरणे **विलास**स्तस्य स्वस्थाने स्थापनम्. तथा च कीर्तिरूपदिगाभरणे विलासकथनेन कीर्तिरूपाभरणस्य दिक्षु स्थापनमुक्तम्. अत्रैतद्विशेषणकथनेन समभिव्याहारादुपरम्भणेन तथा करोतीत्यर्थो लभ्यते इत्याशयेनाहुः **यये**ति, उपरम्भणक्रिययेत्यर्थः. **भगवत्कीर्ती**ति, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रं, नभआभरणं शब्दस्तद्गुणत्वादिति भावः. तथा **चावतंस**पदेन भागवतशास्त्रमित्यर्थः. अस्मिन् पक्षे **स्रक्**प्रतिपादकोऽ**वतंस** इति विग्रहः. **विलासयुक्ते**ति, भगवतो विलासकथने तन्निष्ठस्योपरम्भणस्यापि विलास उक्तएवेति भावः. **तत्प्रतिपादिके**ति, तत्प्रतिपादकं यस्या इत्यर्थः.

सहकारिण्या इच्छाया माहात्म्यमाह स्वयं **जातहर्षः** सर्वमेव च **हर्षयन्निति**. एवं वेणुनादस्य कारणभूतक्रियोत्कर्षमुक्त्वा देशतोऽप्युत्कर्षमाह **क्षितिभृतः सानुष्विति**, सर्वाधारभूतां पृथिवीं ये बिभ्रति, तेषामप्युच्चस्थानेषु स नादो जायते इति कथं न विश्वं पूरयेत्! **रवः** अनुरणनमतिगम्भीरं **उपरम्भति** नादेन पूरयतीति मेघादप्यधिका क्रिया निरूपिता. तदैव **मेघो महतो** वासुदेवस्य उपरि गच्छन् भगव**दतिक्रमणे शङ्कितचित्तो** भूत्वा उपर्येव तिष्ठन् अग्रे गमनार्थमुद्यतः नीलमेघश्यामं विश्वजीवनं भगवन्तं स्वमित्रं ज्ञात्वा **सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभिः** पुष्परूपैः स्वबिन्दुभिः. अर्थात् पुष्पैः पूजितवान्. न केवलं पूजामेव कृतवान् किन्तु राज्यमपि दत्तवानित्याह **आतपत्रं दधदिति**. न केवलं राज्यमेव दत्तवान् किन्तु आत्मनिवेदनमपि कृतवानित्याह **छाययेति**. सूर्ये अधःस्थिते उपरिस्थितेन न छाया भवतीति पृथक् छायानिर्देशः ॥१२-१३॥

उत्तमांस्त्रिविधान् वक्तुं तेषामपि वेणुनादेन किञ्चिद् जातमिति वक्तुं वेणुनादं वर्णयति भगवन्तं च, **विविधगोपचरणेष्विति** युग्मत्रयेण. सन्देहो मोहः सर्वपरित्यागश्च ज्ञानिनां श्रुतीनामरण्यवासिनां वेणुनादेन कृतः. तत्र ये विश्वगुरवो ब्रह्मादयस्तेषामपि सन्देहार्थं भगवतो वेणुनादं वर्णयति **विविधेति**.

टिप्पणी

विदधत्रतपत्रमित्यस्याभासे, किन्तु राज्यमपीति, सुरभीकृतगोविन्दाभिषेकवदस्यापि स्वाधिपतित्वेनैव वरणमिति तथोक्तम् ॥१३॥

लेखः

स्वरूपतो गुणतश्चेति, स्वरूपं बलः कीर्तिपूरणं **गुणो माहात्म्यं** महत्त्वमित्यर्थः. अग्रे **इच्छाया माहात्म्यमाहेति**, "सुखधर्मस्तथेच्छा स्यात् किञ्चिदुद्गमएव स" इति वाक्यात् सुखधर्म इच्छा. अत्र **हर्षकथनेन** धर्मिणोऽप्युद्गम उक्त इति महत्त्वमुक्तम्. **अनुरणनमिति**, यथा नूतनगृहे प्रतिध्वनिर्जायते तथेत्यर्थः ॥१२-१३॥

विविधेत्यस्याभासे उत्तमानिति, याथात्म्यज्ञानाभावात्तामसत्वं, भक्तिमार्गे तु सः गुण एवे[१]त्युत्तमत्वम्. व्याख्याने **अनेनेति**, ब्रह्मणोऽज्ञानकथनेने-

१. सगुण एवेति मुद्रितपाठः जो.पाठमनुसृत्य संशोधितः.

विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः ॥१४॥
सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः।
कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥१५॥

लोके जायमानो अलौकिकप्रकारः सन्देहमुत्पादयति. ननु न तद्रूपमीश्वरे यन्न वेदे श्रुतमस्तीति सर्वविद्यास्थानानां ब्रह्मा अभिज्ञ इति कथं तस्य सन्देह इत्याशङ्क्याह **वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षा** इति, सुषिरभेदो वेणुः. तस्यापि प्रकाराः शास्त्रे निरूपिताः. ते ब्रह्मणा ज्ञायन्ते. एते तु प्रकाराः **उरुधानेकधा निजशिक्षाः** निजेनैव शिक्षा शिक्षणम् अभिव्यक्तिप्रकारा यासु. अनेन नादब्रह्म नित्यमिति निरूपितम्. तत्र क्रियाशक्तिः साधनमिति तस्य लौकिकत्वे कथं नादो अलौकिको भविष्यतीत्याशङ्क्य तस्याप्यलौकिकत्वायाह **विविधेषु गोपचरणेषु** गोपानां सञ्चारविशेषेषु **विदग्ध** इति– गोपसञ्चारा न वेदोक्ताः किन्तु लौकिकाः. ब्रह्माण्डान्तरस्थिता अपि भवन्ति. ते न लोकेऽन्यत्र प्रसिद्धाः नापि वेदे. भगवांस्तु सर्वत्रैव विदग्धो – अतोऽयं ब्रह्मा यं प्रकारं न जानाति तमेव प्रकारं कृतवान्. ननु ब्रह्मसृष्टावाविर्भूतः कथं ब्रह्मणोऽप्यज्ञातं करोतीति चेत्, तत्राह **तव सुत** इति, यशोदां प्रति वदन्ति स्त्रीमण्डले समागताम्. अतएवात्र न कामादिवार्ता, किन्तु अनिषिद्धएव उत्कर्षो निरूपितः. यथा तव पुत्रोऽपि सन् तव मनसाप्याकलयितुमशक्यं करोति, तथा ब्रह्मणोऽपि ब्रह्माण्डे जातः. **सतीति** सम्बोधनं विश्वासार्थम्. अज्ञाने हेतुमाहुः **अधरबिम्बे दत्तवेणुरिति**, लोभात्मकोऽधर इति पूर्वमुक्तम्, अतो न लोके प्रसिद्धः, तस्य रसो भगवता न दत्त इति. तत्रापि **बिम्बरूपः** सूर्यवत् प्रकाशकः. न हि प्रकाश्याः प्रकाशकस्वरूपं विदुः. तत्र च स वेणुः

लेखः

त्यर्थः. ततोऽपि पूर्वसिद्धत्वात्तस्याज्ञानमिति भावः. नूतनं त्वन्यज्ञानमपेक्ष्येति टिप्पण्यामुक्तमेव. **क्रियाशक्तिरिति** अङ्गुलिचालनादिरूपेत्यर्थः. **तस्येति** साधनस्येत्यर्थः. **ते** इति, द्वितीयब्रह्माण्डस्थिता अत्र लोके न प्रसिद्धाः, अयं ब्रह्मा त्वेतद्ब्रह्माण्डमात्रज्ञो, अतोऽत्र लोके प्रसिद्ध्यभावाद्वैदिकत्वाभावाच्च ब्रह्मणोऽज्ञानमित्यर्थः. **अनिषिद्ध** इति मात्रादिनिषेधाविषय इत्यर्थः. **न लोके प्रसिद्ध** इति अधर इति शेषः. तत्र हेतुं विवृण्वन्ति **तस्येति**, अधरस्य **रसो**

स्थापितः ततोऽप्युत्तमत्वख्यापनाय. **स्वरजातीः** षड्जादिस्वरजातिभेदान् **अनयत्** नूतनत्वेनोत्पादितवान् यर्हि, तदा तत्परिज्ञानार्थं त्रिगुणप्रधाना अपि देवाः कालत्रयेऽपि समागत्य. सोऽपि कालः आधिदैविक इति ख्यापयितुं **सवन**पदम्. **तं** वेणुनादं **सवनश उपधार्य. शक्रः** सात्त्विकः **शर्व**स्तामसः **परमेष्ठी** राजस इति ते **पुरोगमा** येषां देवानाम्, सर्वएव देवास्त्रिगुणात्मका भवन्ति. **कवयो** निपुणा अपि नादे. इन्द्रो हि त्रैलोक्याधिपतिः सर्वदा नादपरः. शर्वस्तु नादशास्त्रकर्ता. परमेष्ठी तयोरपि गुरुः, अतएव **परमेष्ठि**पदम्. तेषामन्यचित्तताभावायाह **आनतकन्धरचित्ता** इति, **आसमन्तान्नता कन्धरा** बाह्याभिनयार्थं **चित्तं** च येषाम्. ग्राहकं चित्तं, नमनमत्र सर्वतः; तेऽ**प्यनिश्चिततत्त्वा** जाताः. नाप्यौदासीन्येन कियत्कालं विचार्य अज्ञाने तूष्णीम्भूता इति मन्तव्यं, यतः **कश्मलं ययुः** चिन्तया मूर्च्छिताश्च जाताः. वेणुनादेन वा मोहिताः. अतएव आभासत्वपक्षोऽपि निराकृतो, अलौकिकरसोत्पादकत्वात् ॥१४-१५॥

अस्त्वन्येषां वार्ता, वेणुनादोऽस्माकमेवान्यथात्वं सम्पादयतीत्याहुर्द्वयेन पूर्ववत् **निजपदाब्जदलैरि**ति.

टिप्पणी

स्वरजातीरनयदित्यत्र, **नूतनत्वेने**ति, यद्यपि स्वरजातिप्रापकत्वमेव मूल उच्यते, **निजशिक्षा** इति विशेषणेनापूर्वत्वं च प्राप्यते न तु नूतनोत्पत्तिः, तथाप्यन्यज्ञानमपेक्ष्येदमुक्तमिति ज्ञेयम्. अतो **नादब्रह्म नित्यमि**ति पूर्वग्रन्था-विरोधोऽपि ॥१४॥

लेखः

भगवता कस्मैचिदपि **न दत्त** इत्यर्थः. **उत्तमत्वे**ति, अधरएव ज्ञातुमशक्यश्चेत् तत्र स्थापितः सुतरां तथा, तथा चाप्रमेयत्वख्यापनायेत्यर्थः. अयं सप्तमो युगलो, अतो मध्याह्नाभिप्रायेण **सवन**पदम्. **आभासत्वे**ति, अयं नादाभासो ग्राम्यो नादो अतो महतामप्रवृत्तिरिति पक्षो नादस्य मोहरूपकार्यकर्तृत्वा-न्निराकृतः. एवं सत्यज्ञाने हेतुमाहुः **अलौकिके**ति, अतोऽज्ञानं, न तु नादे न्यूनतेति भावः ॥१४-१५॥

अस्माकमेवेति अधररसाभिज्ञानामिति शेषः.

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र-नीरजाकृति[1]विचित्रललामैः ।
व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्यगतिरीरितवेणुः ॥१६॥
व्रजति तेन वयं सविलास-वीक्षणार्पितमनोभववेगाः ।
कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कबरं वसनं वा ॥१७॥

यर्हि **ईरितवेणुः** सन् **व्रजति** तदा **तेन** नादेन **कुजगतिं** स्थावरत्वं **गमिता वयं** गोप्यः सर्वाएव **कश्मलेन** मूर्च्छया **वसनं** परिहितं केशपाशं **वा न विदाम** इति सम्बन्धः. अयं वेणुनादोऽस्मदर्थमेव जायत इति तस्य चेष्टया अनुभवाच्च ज्ञायते. तत्र चेष्टा या गोकुलनिवासिनामेवार्थे जायते तया व्याप्तः कथमन्यकार्यं कुर्यात्! अतः प्रथमं भगवतो गोकुलहितकर्तृत्वमाहुः. **निजस्य** स्वस्यैव **यत्पदाब्जद्वयं** तस्य **दलैः** दशाङ्गुलीभिः तलभागैर्वा **व्रजभुवो** निरन्तरं पश्वाक्रमणेन जातव्यथायाः व्रजभूमेः **खुरैर्जातं तोदं शमयन्निति** शनैः शनैर्लीलया भगवद्गतिर्निरूपिता. क्षतांशः गतिविलासेन पादस्पर्शेन निराकृतः, आध्यात्मिकाद्यंशस्तु ध्वजादिना. तामसो भौतिको **ध्वजेन** निराक्रियते, राजस आध्यात्मिको **वज्रेण**, सात्त्विक आधिदैविको **नीरजाकृति**चिह्नेन. तान्येव **विचित्राणि ललामानि** पदेषु. तेन

लेखः

निजेत्यत्र, भगवत्कृतस्य तद्विचारितमेव प्रयोजनं सिध्यतीत्यस्मदर्थं तथा करणाभावेऽस्माकं नादरसानुभवो न स्यादित्याशयेनाहुः **अनुभवाच्चेति. गोकुलवासिनामिति**, भूमेस्तोदप्रशमनं तत्र तद्वासिभिः सह क्रीडार्थमेवेति भावः. **प्रथममिति**, गोगोपिकाहितात्[2] प्रथममित्यर्थः. **गोकुलेति**, गवां कुलानि यत्र तादृशस्थलस्येत्यर्थः. **तलभागैरिति, तलस्थितैर्भागैरंशैश्चरणाङ्गुली**भेदभिन्नैरित्यर्थः. **शनैः शनैरिति**, व्यथाशमनं तादृशगत्यैव भवतीति भावः. **क्षतांश** इति, समुदितस्य समुदितेन निराकरणं, तदंशानां तदंशैर्ध्वजादिभिरित्यर्थः. **तामस** इत्यादि, ध्वजस्य निर्भयतासूचनार्थकत्वाद्दैत्यानीककृतपीडासंभावनया जनितो दुःखांशस्तेन निराक्रियते. वज्रस्य पापपर्वतनिराकरणार्थकत्वात् पापसंभावनाजनितो दुःखांशस्तेन निराक्रियते. नीरजस्य सुखसेव्यतासूचनार्थकत्वात् सेवायां दुःखसंभावनया जनितो दुःखांशस्तेन निराक्रियत इत्यर्थः. **लौकिकालौकिकेति** दृष्टादृष्टप्रकारेणेत्यर्थः ॥१६-१७॥

१. नीरजाङ्कुशेति पाठः. २. गोगोपिकाभ्यः इति पाठः.

लौकिकालौकिकप्रकारेण व्रजभुवः खुरतोदप्रशमनम्. व्रजे तिस्रः प्रधानभूताः— भूमि गावो गोप्य इति. तत्र भूमेर्दुःखनिवृत्तिं गत्या निरूप्य, गत्या कृत्या च गवां दुःखं निवारयतीत्याह **वर्ष्मधुर्यगतिरि**ति, **वर्ष्मधुर्यो** महावृषभः ककुद्मी, स यथा लीलया मन्थरगतिः तथा गच्छन् गवामपि दुःखहारीव निरूपितः. **ईरितवेणुर्व्रजती**ति गोपिकानाम्. तदास्माकं वेणुनादेन जाते कामे स्थावरत्वमधिकं जातमित्याहुः **तेने**ति, स्वभावतएव वेणुनादेन जातः कामः, तत्रापि **सविलासवीक्षणेन अर्पितो मनोभववेगो** यासु. अतो वेगेन स्तम्भे जाते **कुजगतिं** वृक्षगतिं **गमिता** जाताः. तेषामन्तर्ज्ञानमस्तीति तदर्थमाहुः **न विदाम** इति. सुषुप्तावपि न जानन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **कश्मलेने**ति, **कश्मलेन** मूर्च्छया. स्त्रीणामत्यावश्यकं **वसन**ज्ञानं **कबर**ज्ञानं च. वेणुनादप्रस्तावे एवैतज्ञातमिति गतिदृष्ट्यादिभिरपि कृतमत्र निरूप्यते[१] ॥१६-१७॥

हरिणीनां वेणुनादेन यथा जातं तद्वक्तुं पूर्ववद्वेणुनादं वर्णयन्ति **मणिधर** इति **द्वाभ्याम्**[२].

मणिधरः क्वचिदागणयन् गा मालया दयितगन्धतुलस्याः ।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र ॥१८॥
क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः ।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः ॥१९॥

गवामाधिदैविकानि रूपाणि मणयः, तान् स्वस्मिन् बिभर्तीति **मणिधरः**. अभिज्ञानार्थं वा, स्वप्रियाणामभिज्ञापका मणयः. अतस्तैः **कदाचिद् गाः आसमनताद् गणयन्** जातः. अनेन ताः तद्रतधर्माश्च भगवत्येव प्रतिष्ठिता इति तासां संसाराभावः सूचितः. अतएव गोपिकानामपि. अत एव हरिणीनामपि. पशुत्वाविशेषाद् ग्राम्याणां चेदुद्धारको, विशेषत

लेखः

मणीत्यत्र **गवा**मिति, यद्विधानि गवां रूपाणि तत्तद्विधा मणयो वैजयन्त्यां स्थापिताः, अतो **मणय आधिदैविकानि** देवसम्बन्धीनि **गवां** स्वरूपाणीत्यर्थः. **अत** इति, गवाधिदैविकत्वादित्यर्थः. **ता** इति, आधिदैविक्यस्ता नीलत्वादितद्धर्माश्चेत्यर्थः. एवमेव द्वितीयपक्षेऽपीत्याशयेनाहुः **गोपिकानामि**ति. **अतएव हरिणीनामि**ति, गवाधिदैविकधारणादित्यर्थः. **नीलं रूपमि**त्यादि,

१-२. अत्र स्वतन्त्रटिप्पणी प्रथमपरिशिष्टे मुद्रिता.

आरण्यानां भविष्यतीति युक्ता कृष्णपरता. **मालया दयितगन्धतुलस्या** उपलक्षितः. यथा भगवतो नीलं रूपं प्रियं, स्पर्शः स्त्रीणां, शब्दो वेणोः, रसो नवनीतस्य, तथा गन्धस्तुलस्याः. तद्गतोत्तमता सात्त्विकानां केषाञ्चिदनुभवसिद्धा. तादृशी तुलसी, अतस्तस्या मालां बिभर्ति. अतो यदा वयमपि प्रिया भविष्यामः तदा अस्मानपि अस्मद्धर्मान् वा धारयिष्यतीति कृष्णसारस्त्रीणां प्रवृत्तिः. कृष्णसारस्तु वेदे नियुक्त इति भक्तौ तासां विनियोगार्थं प्रवृत्तिः. किञ्च **प्रणयिनो**ऽतिप्रेमवतो **अनुचरस्य** गोप**स्यांसे भुजं प्रक्षिपन्निति कदा** कदाचिद्, "आशंसायां भूतवच्चे"ति वा कदा अगायतेति मध्ये गानाशंसा. यथा गोपालस्य तथा स्नेहसेवाधर्मयोः सद्भावे एवं भविष्यतीति गोपिकानामिव हरिणीनामपि तथात्वाय स्नेहभजनम्. देहास्फुरणात् न विजातीयत्वेन कामाभावः. तदैव **क्वणितो** यो **वेणुः** आकस्मिकः शब्दविशेषो मनोहारी क्वणनात्मकः. स चेद्वेणोर्निर्गतः. तत्सम्बन्धादन्येऽपि शब्दाश्चित्तवञ्चका इति **रव**पदम्. शब्देन मृगाणां वशीकरणं सिद्धमेव. इदानीमेवोपयोगो भविष्यतीति प्रतीतिजननाद्वञ्चकत्वम्. अतो **रवेण वञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वसत कृष्ण**समीपे **आसत** उपविष्टा जाताः. यथा प्रायमुपविशति एवं कृष्णमनूपविष्टाः. ननु स्त्रियोऽन्यस्य कथमन्यस्य गृहेऽन्यस्य समीपे उपविष्टा इति? तत्राह **कृष्णस्य** कृष्णसारस्य **गृहिण्य** इति, कृष्ण इति तास्तस्य गृहिण्यो जाताः. वञ्चितचित्तत्वाद्वा रूपं

टिप्पणी

रववञ्चितचित्ता इत्यत्र, **इदानीमेवोपयोग** इत्यादिना प्रतीतिप्रकारकथनम्. **उपयोगो** नायिकावदुपभोग इति यावत्. वेणुनादस्यैतादृगनुभावो यदेतासामप्येवं भावस्तत्रान्यासां का वार्तेति भावः ॥१९॥

लेखः

आनन्दस्य नीलरूपत्वात्, स्त्रीवेण्वोश्च सुधाधारत्वान्नवनीतस्य पीयूषपातृगोदुग्धसारत्वात्तुलसीगन्धस्य च दिव्यत्वव्युत्पादनादिति भावः. **अतो यदे**ति, प्रियत्वेन हेतुना तुलसीमालाधारणादित्यर्थः. अत्रैव हेत्वन्तरं समुच्चिन्वन्ति **किञ्चे**ति. प्रणय्यंसे भुजप्रक्षेपादप्यस्माकं प्रणयित्वेऽस्मद्धारणमित्यर्थः. **एवं भविष्यती**ति, अस्मानस्मद्धर्मान्वा धारयिष्यतीत्यर्थः.

क्वणितेत्यत्र स चेदिति, रवस्यानुरणनरूपत्वात् पूर्वस्य चित्तवञ्चकत्वे

विस्मृत्य शब्दमात्राभिनिविष्टा जाताः. वेणुनादेन वा [१]सानुभावेन कृष्ण-सारेऽपि कृष्णमत्या कृष्णमेवान्वासत. ननु कृष्णसारेऽपि कृष्णभ्रमात् शब्दोऽपि वर्तत इति तं परित्यज्य कथमागता इत्यत आह **गुणगणार्णमिति**, कृष्णसारे एको द्वौ वा गुणौ. अतो यत्रैव भगवान् गच्छति तत्रैव त**मनुगत्य** सर्वा एव **हरिण्यो विमुक्तगृहाशा** जाताः गृहं गमिष्याम इत्याशामपि त्यक्तवत्यः. [२](सान्निध्येन भगवद्रसः पीत इति लब्धस्वादुभावाः **गोपिका इव** तदेकपरा जाताः. एतन्नयनेषु स्वप्रियानयनसादृश्यदर्शनेन यादृशेन भावेन ताः पश्यति तादृशेनैवैता अपि पश्यन्तीति एतासामपि तत्सजातीयभावोत्पत्तिः, तथैव वेणुक्वणनं च. अतएव अग्निबीजामृतबीजात्मकं **रवपदमुक्तम्**, यतस्तच्छ्रवणेऽत्यार्तिस्तत्तापशमनं च सम्पद्यते. अतः स्वदृष्टान्तोक्तिर्युक्ता) ॥१८-१९॥

एवं नवप्रकारेण वेणुनादं निरूप्य, गुणातीतप्रकारेण त्रिधा निरूपयन् वेणुनादेन भगवान् जगदेव वशीकृतवानित्याह **कुन्ददामेति** द्वाभ्याम्.

कुन्ददामकृतकौतुकवेशो गोपगोधनवृतो यमुनायाम् ।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो नर्मदः प्रणयिनां विजहार ॥२०॥
मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं मानयन् मलयजस्पर्शेन ।
बन्दिनस्तमुपदेवगणा ये वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥२१॥

यर्हि भगवान् **यमुनायां विजहार,** तत्रापि पूर्वोत्तरदशायामपेक्षितो वेणुनादः परिगृह्यते प्रकरणित्वात्, प्रकारविशेषाभावाच्च न पृथगुक्तः, तदा **उपदेवगणाः परिवव्रुरिति** सम्बन्धः. **यमुनायामिति** सामीप्यसप्तमी. अधिकरण-सप्तमी वा, घर्मे गवां गोपालानां च जले स्थितिः सम्भवति. तत्र विहारो

लेखः

उत्तरस्यापि तथात्वाय **रवपदमित्यर्थः. कृष्णमत्येति**; "सा सा सा से"ति प्रकारिकयेति भावः. तथापि भगवान् पूर्णगुणः, "आनन्दादयः प्रधानस्ये"ति न्यायादिति भावेनाहुः **नन्वित्यादि. गुणगणार्णमित्यत्र गुणानामार्णः** आसमन्तादृर्णं जलं यत्र समुद्र इत्यर्थः ॥१८-१९॥

कुन्देत्यस्याभासे जगदेवेति, "वायुर्वाव गोतम तत्सूत्रमि"त्यादिना वायोः सर्वमूलत्वकथनात् तस्य वश्यतया जगदेव वशीकृतं जातमिति भावः. व्याख्याने **पूर्वोत्तरेति**, कौतुकवेशकरणे विहारे चेत्यर्थः. **पुष्पालङ्कारा न**

१. रसानुभवेनेति पाठः. २. प्रभूणां स्वतंत्र.

गोपैः सह जलक्रीडा, गवां प्रक्षालनादिः. सर्वत्रोद्वेगशान्त्यर्थं वेणुनादः सहकारी. तदानीमनलङ्कृतत्वमाशङ्क्य अलङ्कारमाह **कुन्ददामे**ति, वस्त्राभरणाद्यलङ्कारा भविष्यन्त्येव, पुष्पालङ्कारा न भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तदेव निरूप्यते— **कुन्ददाम्ना कृतः कौतुकवेशो** यस्य. दामान्यनेकप्रकाराणि, तैस्तथा वेशो निर्मीयते यथा अत्यद्भुतो भवति. अत्र तु यथैव हास्यरस उत्पद्यते तथैव निर्मीयत इति. नन्वेतादृशीं प्राकृतलीलां भगवान् कथं कृतवानित्याशङ्कायामाहुः **नन्दसूनुस्तव वत्सो** इति, यया लीलया नन्दपुत्रो भवति तयैव लीलया प्राकृतलीलामपि सम्पादयति. **अनघ** इति सम्बोधनं क्रोधाभावाय विश्वासार्थं **च. तव** च **वत्सो** जातः. अनेन त्वं गोरूपेति सर्वगुप्तरसानभिज्ञत्वं सूचितम्. अन्यथा उलूखलबन्धनलीलां न कुर्यात्. मध्ये निर्दोषत्वेन सम्बोधनादुभयोर्निर्दोषत्वं ज्ञाप्यते. तादृश्या वत्सत्वेन भगवत्यपि तथा. पूर्णगुणत्वलक्षणमाधिक्यं चोच्यतेऽग्रिमविशेषणेन. किञ्च **प्रणयिनां नर्मदः**— ये केचन स्नेहयुक्ताः यथैव ते स्निग्धा भवन्ति तथैव लीलां करोतीति. अनेन सर्वत्रैव हेतुरुक्तः. यत्रैव

लेखः

भविष्यन्तीति, प्रातः शृंगारसमये धृता म्लानतयोत्तारिता भविष्यन्त्यतो न भविष्यन्तीत्यर्थः. **दाम्ना कृत** इति **कृत**पदेन पुष्पालङ्कारा अन्ये पुनर्धृता इत्युक्तम्. **दामान्यनेके**ति, अङ्गदादिप्रकाराणीत्यर्थः. **तथावेश** इति शृंगाररसोपयोगिवेश इत्यर्थः. **अत्र त्विति**, **कौतुक**पदाद्धास्यरसोपयोगी वेशोऽत्रोच्यते इत्यर्थः. **प्राकृतलीलामिति**, प्राकृतानां ग्राम्याणां लीलामित्यर्थः. **यया लीलये**ति द्वादशाध्याये "एवं निगूढात्मगतिरि"ति श्लोके विडम्बनार्थं गोपात्मजत्वं ग्राम्यलीला चेति निरूपितं; तथाच **यया** विडम्बन**लीलया** हेतुभूतयेत्यर्थः. **क्रोधाभावाये**ति, व्रजराजकुमारस्य गोप्रक्षालनादिकार्यकथने क्रोधोऽविश्वासश्च संभवति, अत इदं संबोधनमनघायास्तथा न भवतीति भावः. **तव चेति यया लीलये**ति पूर्वोक्तमनुवर्तते. **अन्यथेति**, गुप्तरसज्ञाने भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा तथा न कुर्यादित्यर्थः. **उभयोरि**ति नन्दयशोदयोरित्यर्थः. पूर्वविशेषणेन नन्द उक्तोऽग्रिमविशेषणे **तवे**त्यनेन यशोदोक्तेति ज्ञेयम्. **पूर्णगुणत्वे**ति, प्रणयिसुखदानं पुरुषोत्तमधर्मत्वात् पूर्णो गुण इति भावः. अयं तात्पर्यार्थ उक्तः, वाच्यार्थमाहुः **किञ्चे**ति, नन्दसूनुत्वं प्राकृतलीलायां हेतुरुक्तः, प्रणयिसुखदातृत्वं च हेतुरिति समुच्चयः. **सर्वत्रैवे**ति, नन्द-

लीलासक्त्या क्रीडा स विहारः. सोऽत्र जलक्रीडा नृत्यक्रीडा वेणुवादनक्रीडा च ज्ञेया. अन्यथा वाद्यादीनामुपयोगो न स्यात्. विद्यावन्तो हि वशीकर्तव्याः. तत्र विद्योत्पादको वायुः, देवाश्च तदाधारभूताः. तत्राप्युपदेवगणा बन्दिनश्च बहिर्विद्याप्रकटनपराः. अतोऽन्यापेक्षया तेषु विशेष उक्तः. प्रथमतः कारण-भूतं वायुं निरूपयन्ति— **मन्दो वायुः अनुकूलं** यथा भवति तथा **उपवातीति**. **अनुकूलं** कुलसमीपे हितं च, अनेन शैत्यं निरूपितम्. **मलयजस्पर्शेन** सहित इति सौरभ्यम्. अनेन दाक्षिणात्योऽयं वायुरिति निरूपितम्. भगवत्स्वरूपे दत्तेन वा मलयजेन सहभावादधिकशैत्यनिरूपकत्वेन अनुकूलत्वम्. मलयजस्पर्शः मलयजस्येव वा स्पर्शः. तथा सति तत्रत्यानां सर्वेषामेव भगवद्भावं सम्पादयिष्यतीति **मानयन्निति**, स्वकीयैस्त्रिभिर्गुणैः यथैव सन्माननं भवति तथैव वातीत्यतिवश्यता. **उपदेवगणाश्च** गन्धर्वादयश्च **बन्दिनः** कीर्तिनिरूपका जाताः. गायकाश्च सन्तः, **य** इति भगवदीयाः, **वाद्यगीत**पूजासाधनैः तामस-राजससात्त्विकैः सहिताः **परिवव्रुः** सर्वत्रैवापेक्षितं कृतवन्तः ॥२०-२१॥

लेखः

सूनुत्वेऽपीत्यर्थः. **अन्यथेति**, जलक्रीडामात्रकथने इत्यर्थः. **तत्रेति**. विद्यासाध्यत्वाद् गानस्यापि विद्यात्वम्. तथाच विद्यावत्सु **विद्योत्पादको** गानोत्पादक इत्यर्थः. मैत्र्युपनिषदि "मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतमि"त्यादिप्रकारेण शब्दोत्पत्तिनिरूपणात् सङ्गीतशास्त्रे च तथा निरूपणादिति भावः. **तदाधारभूता** इति गानाधारभूता गायका इत्यर्थः. **बहिर्विद्येति**, देवेष्वपि मध्ये एते बहिर्गत्वा सर्वत्र जीविकार्थं विद्यां प्रकटयन्तीत्यर्थः.

मन्देत्यत्र, प्रथमपक्षमाहुः **अनेनेत्यारभ्येति निरूपितमित्यन्तेन**. द्वितीयपक्षे **मलयजेत्यनेन**[1] शैत्यं सौरभ्यं च निरूपितमित्याहुः **भगवदिति**. अतो**ऽनुकूलत्वं** हितत्वमित्यर्थः. आद्यपक्षे मलयजसम्बन्धी स्पर्शो अतः सुरभिरित्यर्थः. द्वितीये तत्सदृशः स्पर्शो अतः शीतः सुरभिश्च वायुरित्यर्थः. **तथा सतीति**, आद्यपक्षे भगवतोऽपि भावोद्बोधको द्वितीये तत्रत्याना-मन्येषामेवेत्यर्थः. **गायकाश्चेति चकाराद्वादकाः** पूजकाश्च. वाद्यादिसाहित्यकथनेन तादृशाः सन्तः परिवव्रुरित्यर्थः संपन्न इत्यर्थः. एतदेव स्फुटयन्ति **वाद्येति** ॥२०-२१॥

१. इत्यनेनैव इति जो.पाठः.

एवं गुणातीते प्रकीर्णतां निरूप्य युगलद्वयेन केवलं भगवतएव चरित्रमाहुः **वत्सल** इति.

वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः ।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः ॥२२॥
उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक् ।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूरुडुराजः ॥२३॥

भगवान् यद् गोकुलं गोष्ठे समानयति तत् कृपया, अन्यथा एकस्यामपि लीलायां व्यापृता गावो मुच्येरन्; तथा गोपिकाः, परं कृपयैव भजनानन्दानुभवार्थं तथा करोति. अत्र हेतुः **यदगध्र** इति, **यद्** यस्मात् कारणाद् **अगं** पर्वतं **धारयती**ति, यदि भजनानन्दं न दद्यात् तदा गोवर्धनोद्धरणं न कुर्यात्. एतद्भगवन्माहात्म्यं सर्वजनीनमिति ज्ञापयितुमाह **पथि वृद्धैर्वन्द्यमानचरण** इति, **वृद्धाः** सर्वतो निपुणाः, बहुज्ञैरेव भगवान् सेव्यो भवति. अतः **कृत्स्नमेव गोधनमुपोह्य** ततः पृथक्कृत्य **उप** समीपे समाहृत्य वा. **दिनान्त** इति अग्रे वनस्थितेरयुक्तत्वात् लीलान्तरस्य च

टिप्पणी

वत्सलो व्रजगवामित्यत्र, गावो मुच्येरन्निति, एकैकेक्षणादिलीलारसस्य निरवधिमहारसत्वेनैकत्र निमग्ना नात्मानमपि जानीयुः किमुतान्यदित्यर्थः ॥२२॥

लेखः

गुणातीते इति, निरूप्ये गुणातीतप्रकारत्रये तद्विशेषं प्रकीर्णताप्रकारं निरूप्येत्यर्थः. अत्र भावभेदाद्वक्त्रीणां भेदः, स्वरूपतो भेदस्तु प्रायिक इति पूर्वमपि निरूपितमतो **निरूप्य आहुरिति** समानकर्तृकत्वमिति ज्ञेयम्.

वत्सल इत्यत्र वात्सल्यं विवृण्वन्ति **भगवानिति**. **व्रजगवामित्यत्र** विषयता षष्ठ्यर्थः, तथाच तद्विषयकवात्सल्ययुक्तो **व्रजस्य गवां** चोपरि **वत्सलः** प्रीत इत्यर्थः. **अन्यथेति** तादृशकृपाऽभावे इत्यर्थः. **व्रजपदस्य** गोपिकावाचकत्वाशयेनाहुः **तथा गोपिका** इति. **एतदिति** गोवर्धनधरणरूपं माहात्म्यमित्यर्थः. **तत** इति वनलीलातः पृथक्कृत्येत्यर्थः. **लीलान्तरस्येति**, निशि वने स्वामिनीभिः सह लीलायाश्चिकीर्षितत्वादित्यर्थः. **अस्य नादस्येति**. अग्रिमयुगले दिनतापमोचनं कार्यमित्यर्थः.

चिकीर्षितत्वात् **गीतवेणु**र्जातः, श्रमापनोदनार्थं व्रजस्थानां ज्ञापनार्थं च. अस्य नादस्याग्रे कार्यं वक्तव्यम्. गोपिकाएव कृतार्थाः करोतीति न किन्तु गोपानपीति ज्ञापयितुं तत्कृतस्तोत्रमाह **अनुगेडितकीर्तिरिति**, **अनुगैः** सेवकै**रीडिता कीर्तिर्**यस्य. अनेन रात्रौ तेषामपि गानमुक्तं भवति यथा दिवसे गोपिकानाम्. अन्यथा सर्वेषां निरोधो न भवेत्.

एतादृशस्य कार्यं स्वयमेव जानातीति स्वयमेव करोतीत्याहुः **उत्सवमिति**. **श्रमरुचा** व्रजस्थ**दृशाम् उत्सवमुन्नयन् आशिषो** दित्सया **एतीति** सम्बन्धः. **श्रम**युक्ता **रुक्** कान्तिः. भगवतः श्रमाभावपक्षे प्रदर्शनमात्रपरत्वम्. अस्ति श्रम इति सिद्धान्तः, "भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति" "एको देवो बहुधा निविष्टः" "यदा भारं तन्द्रयते स भर्तुं निधाय भारं पुनरस्तमेती"ति श्रुतेः, सर्वधर्माश्रयत्वाच्च, विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वादश्रान्तोऽपि. न तु केवलमश्रान्त एव. श्रमः सुखकारक इत्यपरे. तत्सम्बन्धिनी रुक् **श्रमरुक्**. सा नायकगता स्त्रीणां न हितकारिणी, तथाप्यस्माकं हितकारिण्येव जातेत्याहुः **दृशीनामुत्सवमुन्नयन्निति**, **दृशि**र्दर्शनम्. यदि भगवान् श्रान्तो न भवेत् तदा शीघ्रं गच्छेत्. तदा दृष्टीनां परमानन्दसन्ततिर्न स्यात्. **ऊर्ध्वं नयन्निति** संघाते दृष्टीनां य आनन्दः स्थितः यावान् तदपेक्षयाधिकं कृतवानित्यर्थः. भगवत्कीर्तेः सर्वपुरुषार्थदातृत्वाय प्रकारं वदन् श्रममुपपादयति **खुररजश्छुरितस्रगिति**, गो**खुररजोभिश्छुरिता** व्याप्ताः **स्रजो** माला यस्य. वायुवशादुद्गतो रेणुः न स्थिरो नापि नियतः, खुरजातस्तु तथा. खुराणामेव गोत्वात्

लेखः

उत्सवमित्यस्याभासे स्वयमेवेति, नतु नादेनेत्यर्थः. व्याख्याने **श्रमो** अश्रांतत्वात् **रुक्च**, अत उक्तं **श्रमयुक्ता रुगिति**. सुखात्मकत्वपक्षमाहुः **तत्संबन्धिनी रुगिति**. **दृष्टीनामिति**, दर्शनानां संबन्धिनी दर्शनजनिता **परमानन्दसंततिः** नेत्राणामिति शेषः. तथाच मूले **दृशीनां** संबन्धिनं नेत्राणा-**मुत्सवमित्यर्थः**. **भगवत्कीर्तेरिति**, कीर्तिरूपायां स्रजि पुरुषार्थानां वक्ष्यमाणत्वात् स्रजि पुरुषार्थस्थापनप्रकारेण तद्दानमित्यर्थः. मालायां पुरुषार्थस्थापनं पुरुषार्थलीलानुभवार्थं, तादृशलीलानुभवस्तु श्रमाभावे शीघ्रगमनान्न भवेदतः श्रमोऽस्तीत्युपपन्नमिति भावेन श्रमोपपादनमुक्तम्. **स्रजो माला** इति, "कुन्ददामे"त्यत्रानेकप्रकाराणामुक्तत्वाद् बहुवचनम्. **खुराणामेवेति**,

प्रकृतत्वाच्च न 'गो'ग्रहणं, "पशवो वा एकशफा" इत्यत्र तथा निर्णयात्. अनेन धर्मोऽयमिति निरूपितं, रजोऽर्थो, व्याप्तिः काम इति. आगमनस्य तु यत् कार्यं तदाहुः **सुहृदां** सर्वेषामेव सम्बन्धिना**माशिषः** सर्वाएव देया इति. उक्तं गोपिकाद्वारा सर्वेष्वानन्दप्रवेश इति. **एष** इति प्रदर्श्याहुः, यतः स्वस्मिन् लीला ज्ञापिता भवति. साधारण्येन सर्वेषां तापनाशकत्वाय भगवद्गतमसाधारणं धर्ममाहुः **देवकीजठरभूरुडुराज** इति, "अदितिर्देवकी अदितिर्द्यौरदीतिरन्तरिक्षमि"ति श्रुतेः अदित्यवतारत्वात् द्युरूपा सा. तस्यामवश्यं चन्द्रोदयोऽपेक्षितएव. सा पुनर्विशेषरूपं गृहीतवतीति चन्द्रोऽपि विशिष्टकार्यं करोति. लौकिकस्तापस्त्रिविधो भगवद्विरहजश्च. अयं त्रिविधमपि नाशयतीति पूर्वोक्तमानन्ददातृत्वमुपपादितम्. देवकीजठरे भवतीति **देवकीजठरभूः,** सएव **उडुराजो** जायते, यथा उदयाद्रौ. पतिस्तु नक्षत्राणामेव भवति. तथा देवक्यां जातः परं सुखदोऽस्माकमेव.

१(अथवा. एतास्तु भगवद्विरहेणार्ता इति स्वाभिलषितप्रकारेण तदङ्गसङ्गव्यतिरेकेण नैतासामुत्सवो भवतीत्यार्ताएव स्थिताः. परं **दृशीनां** दर्शनं मुख्यमिति तेनै**वोत्सवोन्नयनमु**च्यते. तथा च **आर्तानामस्माकं दृशीना-मिति** समासो ज्ञेयः. **आर्तशब्दस्य ह्रस्वोऽपि** छान्दसः(!?). नहि दृशीना-मेवार्तत्वमत्र विवक्षितं, प्रकारान्तरेणापि तत्स्वरूपरसास्वादवत्यः स्वामिन्य इति सर्वेन्द्रियाणामेवार्तत्वसम्भवात्. तदैव सर्वत्रोत्सवे पुनराशिषोऽनभीप्सि-तत्वेनाग्रे तद्दित्सोक्तिरप्यनुपपन्ना स्यात्. दृशीनामुत्सवो बहिरेव. अन्तरुत्सवस्य

लेखः

व्यावर्तकधर्मस्यैव शक्यत्वमत्त्वादिति भावः. **पशवो** वेति, तत्र शफानामेवासाधारणधर्मत्वं निर्णीतमित्यर्थः. **अनेने**ति गोत्वकथनेनेत्यर्थः. **अयं** खुर इत्यर्थः. **आगमनस्य त्विति**, पुरुषार्थत्रयं कीर्त्यङ्गत्वेन निरूपितमिति तद्व्युदासाय **तु**शब्दः. **यत्कार्यम्** आशीर्दानं मोक्षरूपमित्यर्थः. **स्वस्मिन् लीलेति** पुल्लिङ्गात् **स्वस्मिन्** भगवतीत्यर्थः. एतादृशः **एष** इति प्रदर्श्यते. **लौकिकस्ताप** इति घर्मजनित इत्यर्थः. **त्रिविध** इत्यस्याग्रिमेणान्वयः— आधिभौतिकादिभेदभिन्नो देहेन्द्रियात्मनिष्ठो **भगवद्विरहजस्त्रिविध** इत्यर्थः. **त्रिविधमपीति**, लौकिकश्चन्द्रो लौकिकमेव तापम्, अयं तु त्रिविधमपी**त्यपि**शब्दः.

१. प्रभूणां स्वतन्त्रः.

त्वधिकरणं मनः, तस्यातृप्तत्वान्न स इदानीं परमग्रे सम्भोगसामयिकदर्शने भविष्यतीति ज्ञापनाय**योर्ध्वमि**त्युक्तम्. यथा "गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेता" इत्यत्र दर्शनानन्तरमपि दृशां दिदृक्षितत्वम् एवमत्रापि ज्ञेयम्. अत एव **दृशीनामि**ति सम्बन्धषष्ठ्याप्युत्सवस्य तत्सम्बन्धित्वमेव प्राप्यते. तत्रापि भगवत्कर्तृकनयनोक्त्या तासां बहिरुत्सवोऽपि प्रियप्रापित इति तद्दर्शनस्वभावान्न स्वत इति बोध्यते. अतएव उत्सवकरणत्वं श्रमरुचोऽपि युज्यते, अन्यथा चिरादुत्कण्ठितानामासां प्रियतमागतश्रमनिरीक्षणेन अग्रिमरसप्रतिबन्धशङ्कया न उत्सवः स्यात् प्रत्युत पूर्वापेक्षयाधिकतरः खेदएव स्यात्. किञ्च "विनास्माभिरन्येन प्रियः श्रमापनोदनं न कारयति, वयमतः परं करिष्याम" इति श्रमरुचस्तथात्वं युक्तमेव. श्रमस्य कान्तित्वनिरूपणेनापि स्वमनोरथाप्रतिबन्धकत्वात्तथेति ध्वन्यते. श्रमोऽप्यन्यनायिकाविषयकश्चेत् कथं दृशामुत्सव इति चेत्, तथा नेत्याहुः **खुररजश्छुरितस्रगिति**, यद्यप्यन्यनायिकाविषयकः स्यात् तदा स्रजि तदङ्गरागएव स्यात्, न तु खुररजः. रजोऽप्यागमनसामयिकं चेत् सम्भवेदपि तथा, परं चिरकालीनमिति ज्ञापनाय **छुरित**त्वमुक्तम्, अल्पकालेन तथात्वस्यासम्भवात्. किञ्च तथा चेत् स्रगपि न स्यात्, क्रीडान्तरायत्वात्. अतो ज्ञायते **सुहृदामस्माकमाशिषो दित्सया एती**ति, **एती**त्यागमनक्रियायां कर्मानुक्त्यापि तथेति ज्ञाप्यते. अयं भावः– कर्तुरभीप्सिततमं कर्म भवति. तेनात्र **भगवत्कर्तृत्वात्** तदभीप्सिततमत्वम् अस्माकमेव नान्यस्य. अन्यथा "व्रजमेती"त्युक्तं भवेत्. यद्यपि सर्वेषामेव निरोधश्चिकीर्षितो भगवत इति, व्रजस्याप्यभीप्सितत्वं, तथाप्यभीप्सिततमत्वलक्षणोऽतिशयोऽस्मास्वेवेति तथोक्तम्. तन्निदर्शनमेवाहुः **एष** इति. अन्यथा कथमात्मानं प्रदर्शयेत्! दक्षिणनायकत्वेनान्तर्भाव-वैषम्याभावायाहुः **देवकीजठरभूरि**ति, सर्वथा निर्दुष्टा हि देवकी, तदुदरे प्रकटस्तथेत्यर्थः. तादृशस्य भवतीषु को विशेष इत्यत आहुः **उडुराज** इति, यथा चन्द्रः सर्वेषां तापहारको दूरादेव, परं पतित्वेनातिनिकटे नक्षत्राणामेव, तथायमपि सर्वेषां तथा दूरादेव, परं पतित्वेनास्माकमेव तथेति भूयान् विशेषः सम्पद्यते. स यथा नक्षत्रमण्डले तिष्ठंस्तैरेव राजमानः सर्वतापनिवर्तकः, तथायमप्यस्मन्मण्डले तिष्ठन्नस्माभिरेव राजमानस्तथेत्यु**डुराज**पदेन द्योत्यते.)

इदं सर्वं कार्यं वेणुनादसाध्यमिति प्रकरणितत्वात् ज्ञेयम् ॥२२-२३॥

साधारणीं लीलामुक्त्वा गोपिकास्वेव वेणुकृतां भगवतैव जनितां लीलामाह **मदेति**.

मदविघूर्णितलोचन ईषन्मानदः स्वसुहृदां वनमाली ।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या ॥२४॥
यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते ।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ॥२५॥

यदुपतिः मुदितवक्त्र उपयातीति. पूर्वोक्ताएव वेणुनादा अत्र ग्राह्याः. दश लीलाः पूर्वं निरूपिताः, ताः सर्वा अस्मदर्थमेवेति दशधा भगवन्तं विशेषयन्ति. एकएव भगवानुभयत्रेति युगलत्वेऽपि नात्यन्तं विभागः. सर्वत्रैव वेणुनादे रजोगुणो मुख्य इति सोऽस्मदर्थं फलित इत्याहुः **मदेन विघूर्णिते लोचने** यस्येति. **मदो**ऽत्र स्वानन्दस्थित्या पूर्णावबोधः. स ज्ञानमार्गएवेति

टिप्पणी

मदविघूर्णितेत्यत्र रजोगुणो मुख्य इति, उद्दीप्तो रसभाव इत्यर्थः, तस्मिन् सत्येव तत्करणात्. **मदविघूर्णितेत्यत्र मदो**ऽत्रेत्यारभ्यो**क्तमित्यन्तम्**. पूर्वानुभूतविविधनायिका-विविधविलासस्मृतिधारा-जनितानन्द-सन्दोहानुभवः **पूर्णावबोध** इत्युच्यते. स चेतरविस्मारक इति **मदरूपः**. सोऽधुना भवतीनामिव ममापि भवतीसम्बन्धस्मृत्यैव वनेऽपि मोदः, न त्वन्यनायिकाविषयिण्या

लेखः

तस्य गौणत्वसूचनायैवमुक्तम्. **प्रकरणितत्वादिति**, प्रकरणं संजातं यस्य तादृशत्वात्, वेणुनादस्येति शेषः ॥२३॥

मदेत्यत्र **पूर्वोक्ता एवेति**, वेणुनादेनान्यत्र कृतं कार्यं पूर्वमुक्तम्, गोपिकास्वेव कृतमत्रोच्यत इति विशेषः. **युगलत्वेऽपीति**, भिन्नयुगलत्वेऽपीत्यर्थः. **नात्यन्तेति**, "जानाति भगवानेव जानात्येव च हरिरि"त्येतावानेव विभाग इत्यर्थः. सर्वासां लीलानां गोपिकार्थत्वं व्युत्पादयन्ति **सर्वत्रैवेति**. **मुख्य** इति हेतुरिति शेषः. तथा च तद्धेतोरस्मदर्थं फलितत्वात्तत्कार्यमप्यस्मदर्थमेव, अन्येषां तु प्रासङ्गिकत्वमिति भावः. **अस्मदर्थं फलित** इति, अस्मद्विषयक-एवोद्दीप्तो रसभावो जात इत्यर्थः. **स्वानन्देति**, पूर्वानुभूतस्यानन्दस्य स्वस्मिन् स्थितेत्यर्थः. अत्र रजोगुणः पूर्णावबोधश्च एकएवेति ज्ञेयम्. **ज्ञानमार्गएवेति**

प्रकटयितुं सर्वविषयान् व्यावर्तयितुं **विघूर्णितलोचन**त्वमुक्तम्. अयं धर्मो भगवन्निष्ठो निरूपितः. स्वरूपस्थित्यर्थं तादृशोऽ**पीषन्मानदः** मानं प्रयच्छति सन्माननं करोति, तेनास्माकं गम्यो भवतीति ज्ञायते. **मानम**भिमानं वा रजोगुणप्राकट्यात् प्रयच्छति, खण्डयति वा ज्ञानप्राकट्यात्. प्रयच्छति **मानं द्यति** खण्डयति त्रिष्व**पीषदे**व तत्तत् कार्यम्. ननु पूर्णस्य भवतीष्वेवंकरणे

टिप्पणी

क्रिययापीति ज्ञापयितुं ज्ञानप्रापकनयनयोरेव मदः प्रदर्श्यते. ज्ञानमपि भवतीमात्रविषयकं न त्वन्यविषयकमपीति ज्ञापयितुं **विघूर्णित**त्वम्. तादृग्बहिःप्रसरद्रूपं न भवतीति तथा. प्रचुरप्रेमवतीनां तत्रापि दिवा क्लिष्टानां प्रियदर्शने तत्रैवात्मप्रवेशः स्यादिति तदभावायेषदेव मानं ददाति यावता पृथक्स्थितिर्भवतीत्याशयेनाहुः **स्वरूपस्थित्यर्थमि**त्यादि. यद्वा इयदवधि पृथक्स्थित इति ज्ञानेन माने सम्भवत्यपि ज्ञापितार्थज्ञानेनेषदेव मानो भवतीति तथा. अथवा उक्तज्ञापनेनेषदपि मानं द्यतीत्यर्थः. यद्वा प्रचुरस्मरभावएव मदस्तेन तथेति पूर्ववत्. यद्यप्येतादृशस्य स्वप्रियाभ्यः पूर्णमेव सम्माननं कर्तव्यं भवति, तथापि मध्येमार्गमन्येऽपि पश्यन्तीति तेषामनुचितत्वज्ञानं यावता न भवति तावदेव कृतवानि**तीषन्मानदः**. अत्र हेतुः कीर्तिमत्त्वमेव, अन्यथा तु लोका अन्यथा वदेयुरित्याशयेनोक्तं **वनमाली**ति. ईषत्त्वे हेतुमाहुः **त्रिष्वपी**ति, त्रिष्वपि पक्षेष्वित्यर्थः. ते सन्मानन-मान-मानखण्डनरूपाः. रूपेणाश्वस्तानां स्मितेक्षणादिना य आश्वासः स स्वल्प एव कार्यः सम्माननस्य. पृथक्स्वरूपस्थितिमात्रं मानस्य.

लेखः

लोचनयोरेवेत्यर्थः. **तेनास्माकमि**ति, गम्यत्वे सन्माननाहेतुः अधुनैव तदकरणे तस्या ईषत्त्वं हेतुरिति विभेदः. **रजोगुणे**ति, उद्दीप्तरसभावस्य प्राकट्यादित्यर्थः. मूले **ईषत्**पदात् **प्रयच्छती**त्यस्य ईषत् प्रयच्छति ईषत्करोतीति टिप्पण्यनुसारेणार्थः. अभिमानेषत्करणखण्डनयोर्हेतुमाहुः **ज्ञाने**ति, रजोगुणस्य ज्ञाने लोचनयोरेव प्राकट्यात् तेन तन्मात्रविषयकत्वं रजोगुणस्य बोधितमिति भावः. **स्वरूपस्थित्यर्थमि**त्यत्र टिप्पण्यां पक्षत्रयं सुबोधिनीस्थमेव विवृतम्. अन्ते **यद्वे**त्यनेन **पूर्णावबोध**पदस्यार्थान्तरमुक्तम्. **ईषन्मानद** इत्यस्यार्थस्य प्रथमपक्षे **यद्यपी**त्युक्त्वा योजितं सुबोधिन्यां **तादृशोऽपीत्य**पिशब्देनोक्तम्. अग्रे पक्षद्वये

इदं सर्वं कार्यं वेणुनादसाध्यमिति प्रकरणितत्वात् ज्ञेयम् ॥२२-२३॥

साधारणीं लीलामुक्त्वा गोपिकास्वेव वेणुकृतां भगवतैव जनितां लीलामाह **मदेति.**

मदविघूर्णितलोचन ईषन्मानदः स्वसुहृदां वनमाली ।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या ॥२४॥
यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते ।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ॥२५॥

यदुपतिः मुदितवक्त्र उपयातीति. पूर्वोक्ताएव वेणुनादा अत्र ग्राह्याः. दश लीलाः पूर्वं निरूपिताः, ताः सर्वा अस्मदर्थमेवेति दशधा भगवन्तं विशेषयन्ति. एकएव भगवानुभयत्रेति युगलत्वेऽपि नात्यन्तं विभागः. सर्वत्रैव वेणुनादे रजोगुणो मुख्य इति सोऽस्मदर्थं फलित इत्याहुः **मदेन विघूर्णिते लोचने** यस्येति. **मदो**ऽत्र स्वानन्दस्थित्या पूर्णावबोधः. स ज्ञानमार्गएवेति

टिप्पणी

मदविघूर्णितेत्यत्र रजोगुणो मुख्य इति, उद्दीप्तो रसभाव इत्यर्थः, तस्मिन् सत्येव तत्करणात्. **मदविघूर्णितेत्यत्र मदोऽत्रेत्यारभ्योक्तमित्यन्तम्.** पूर्वानुभूतविविधनायिका-विविधविलासस्मृतिधारा-जनितानन्द-सन्दोहानुभवः **पूर्णावबोध** इत्युच्यते. स चेतरविस्मारक इति **मद**रूपः. सोऽधुना भवतीनामिव ममापि भवतीसम्बन्धस्मृत्यैव वनेऽपि मोदः, न त्वन्यनायिकाविषयिण्या

लेखः

तस्य गौणत्वसूचनायैवमुक्तम्. **प्रकरणितत्वादिति**, प्रकरणं संजातं यस्य तादृशत्वात्, वेणुनादस्येति शेषः ॥२३॥

मदेत्यत्र पूर्वोक्ता एवेति, वेणुनादेनान्यत्र कृतं कार्यं पूर्वमुक्तम्, गोपिकास्वेव कृतमत्रोच्यत इति विशेषः. **युगलत्वेऽपीति**, भिन्नयुगलत्वेऽपीत्यर्थः. **नात्यन्तेति**, "जानाति भगवानेव जानात्येव च हरिरि"त्येतावानेव विभाग इत्यर्थः. सर्वासां लीलानां गोपिकार्थत्वं व्युत्पादयन्ति **सर्वत्रैवेति. मुख्य** इति हेतुरिति शेषः. तथा च तद्धेतोरस्मदर्थं फलितत्वात्तत्कार्यमप्यस्मदर्थमेव, अन्येषां तु प्रासङ्गिकत्वमिति भावः. **अस्मदर्थं फलित** इति, अस्मद्विषयक-एवोद्दीप्तो रसभावो जात इत्यर्थः. **स्वानन्देति**, पूर्वानुभूतस्यानन्दस्य स्वस्मिन् स्थितेत्यर्थः. अत्र रजोगुणः पूर्णावबोधश्च एकएवेति ज्ञेयम्. **ज्ञानमार्गएवेति**

प्रकटयितुं सर्वविषयान् व्यावर्तयितुं **विघूर्णितलोचन**त्वमुक्तम्. अयं धर्मो भगवन्निष्ठो निरूपितः. स्वरूपस्थित्यर्थं तादृशोऽ**पीषन्मानदः** मानं प्रयच्छति सन्माननं करोति, तेनास्माकं गम्यो भवतीति ज्ञायते. **मानम**भिमानं वा रजोगुणप्राकट्यात् प्रयच्छति, खण्डयति वा ज्ञानप्राकट्यात्. प्रयच्छति **मानं द्यति** खण्डयति त्रिष्व**पीषदे**व तत्तत् कार्यम्. ननु पूर्णस्य भवतीष्वेवंकरणे

टिप्पणी

क्रिययापीति ज्ञापयितुं ज्ञानप्रापकनयनयोरेव मदः प्रदर्श्यते. ज्ञानमपि भवतीमात्रविषयकं न त्वन्यविषयकमपीति ज्ञापयितुं **विघूर्णित**त्वम्. तादृग्बहिःप्रसरद्रूपं न भवतीति तथा. प्रचुरप्रेमवतीनां तत्रापि दिवा क्लिष्टानां प्रियदर्शने तत्रैवात्मप्रवेशः स्यादिति तदभावायेषदेव मानं ददाति यावता पृथक्स्थितिर्भवतीत्याशयेनाहुः **स्वरूपस्थित्यर्थमि**त्यादि. यद्वा इयदवधि पृथक्स्थित इति ज्ञानेन माने सम्भवत्यपि ज्ञापितार्थज्ञानेनेषदेव मानो भवतीति तथा. अथवा उक्तज्ञापनेनेषदपि मानं द्यतीत्यर्थः. यद्वा प्रचुरस्मरभावएव मदस्तेन तथेति पूर्ववत्. यद्यप्येतादृशस्य स्वप्रियाभ्यः पूर्णमेव सम्माननं कर्तव्यं भवति, तथापि मध्येमार्गमन्येऽपि पश्यन्तीति तेषामनुचितत्वज्ञानं यावता न भवति तावदेव कृतवानि**तीषन्मानदः**. अत्र हेतुः कीर्तिमत्त्वमेव, अन्यथा तु लोका अन्यथा वदेयुरित्याशयेनोक्तं **वनमाली**ति. ईषत्त्वे हेतुमाहुः **त्रिष्वपी**ति, त्रिष्वपि पक्षेष्वित्यर्थः. ते सन्मानन-मान-मानखण्डनरूपाः. रूपेणाश्वस्तानां स्मितेक्षणादिना य आश्वासः स स्वल्प एव कार्यः सम्माननस्य. पृथक्स्वरूपस्थितिमात्रं मानस्य.

लेखः

लोचनयोरेवेत्यर्थः. **तेनास्माकमि**ति, गम्यत्वे सन्माननाहेतुः अधुनैव तदकरणे तस्या ईषत्त्वं हेतुरिति विभेदः. **रजोगुणे**ति, उद्दीप्तरसभावस्य प्राकट्यादित्यर्थः. मूले **ईषत्**पदात् **प्रयच्छती**त्यस्य ईषत् प्रयच्छति ईषत्करोतीति टिप्पण्यनुसारेणार्थः. अभिमानेषत्करणखण्डनयोर्हेतुमाहुः **ज्ञाने**ति, रजोगुणस्य ज्ञाने लोचनयोरेव प्राकट्यात् तेन तन्मात्रविषयकत्वं रजोगुणस्य बोधितमिति भावः. **स्वरूपस्थित्यर्थमि**त्यत्र टिप्पण्यां पक्षत्रयं सुबोधिनीस्थमेव विवृतम्. अन्ते **यद्वे**त्यनेन **पूर्णावबोध**पदस्यार्थान्तरमुक्तम्. **ईषन्मानद** इत्यस्यार्थस्य प्रथमपक्षे **यद्यपी**त्युक्त्वा योजितं सुबोधिन्यां **तादृशोऽपी**त्यपिशब्देनोक्तम्. अग्रे पक्षद्वये

को हेतुस्तत्राहुः **स्वसुहृदामिति.** **स्वपदादसाधारण्यं**, तेन स्वस्यैव सुहृदस्ताः, महतोऽपि सुहृत्कार्यं कर्तव्यमिति. साधारणं कार्यमाह **वनमालीति**, कीर्तिमयीं वनमालां प्रकटयतीति. **बदरवत् पाण्डुवदन** इति, बदरोऽत्र फलवाचकः. स हि घर्मेण प्रतिक्षणं विसदृशीं कान्तिं करोति. तत्राप्यर्धपक्वः पाण्डुवर्णो भवति, अग्रे त्वारक्तः. तथेदानीमर्धरतः अग्रे त्वत्यन्तं रतो भविष्यतीति ईषन्मानदत्वाद्विशेषः. साधनं कीर्तिरिति मध्ये विशेषणान्तरम्. अथवा अत्र **पाण्डुशब्देन** आरक्तएव गुण उच्यते. तदा **वदनं** वक्त्रम् अधरामृतपानं लक्षितं भवति. वनवासिनां वा एतदुपभोग्यमिति वने गत्वा एतदुपभोग्यमिति सर्वाः ज्ञापयन्ति. ततोऽपि विशेषमाहुः **कनककुण्डललक्ष्म्या मृदुगण्डं मण्डयन्निति**, श्मश्रूद्गमाभावादानन्दनिधानत्वाच्च मृदुत्वं भोगार्थमुपपाद्यते,

टिप्पणी

पूर्णमानवतीनामशेषमानखण्डने सति प्रचुरप्रेमवत्त्वेन लोकाद्यनुरोधाभाववत्त्वात्तदैव स्वानुरूपं सर्वं कुर्युः, अतस्तत्खण्डनं तावदेव यावता तदा लोकविगीतं न भवति. **बदरपाण्डुवदनमित्यत्र**, **ईषन्मानदत्वादिति**, अग्रे पूर्णमानप्रद इति तस्माद्विशेष इत्यर्थः. **मृदुगण्डमित्यत्र**, **मृदुत्वं भोगार्थमिति** रसविशेषानुभवार्थमित्यर्थः. तदुक्तम् "अनङ्कुरितकूर्चकः शृतसितोपलाढ्यं पयस्ततोङ्कुरितकूर्चकः सलवणाम्बुतक्रं[1] पयः. ततः पलितकूर्चकः क्वथितगुग्गुलूद्वेगकृद् भवन्ति हरिणीदृशां सततमेव[2] भावास्त्रय" इति ॥२४॥

लेखः

विशेषणयोर्हेतुहेतुमद्भाव इति विशेषः. **साधारणं कार्यमिति**, मानदानजनितं कार्यमाश्वासादिकमसाधारणं स्वसुहृत्स्वेव प्रकटं, तस्येषद्भावजनितं **कार्यं** कीर्तिप्रकटनं **साधारणं** सर्वलोकेषु प्रकटमित्यर्थः. **ईषन्मानदत्वादिति**, अग्रेऽत्यन्तरतत्वं पूर्वस्माद् ईषन्मानदानाद् अभिमानेषत्करणाद् अभिमानेषत्खण्डनाच्च **विशेष** इत्यर्थः. **साधनमिति**, अधुना तादृशविशेषासम्पादने हेतुरित्यर्थः. **वक्त्रमिति** मुखमध्यमधरमित्यर्थः. **तदेति**, अधरस्यारक्तत्वादनुरागे सत्येव तत्स्थस्य अमृतस्य पानमिति **लक्षितं** ज्ञापितं **भवतीत्यर्थः**. **वनवासिनां वेति**, वदनस्य बदरसादृश्याद् बदरस्य च वनीयत्वादिति भावः. **ततोऽपि**

१. 'तक्रं पयः' इति मूलपाठः. 'तक्रोपमः' शोधितपाठः.
२. 'सततमेवे'ति मूलपाठः. 'प्रियतमेषु' इति शोधितपाठः.

गण्डएव रससमाप्तिरिति. **कनक**पदं वर्णान्तरज्ञापनार्थम्. उत्कृष्टेनापि परमानन्देनापि अस्मदर्थं कामरसएव उद्बोध्यत इति सर्वथास्मदर्थमेव भगवदागमनमिति निश्चीयते. अन्यथा शिरोभेदानस्मत्समक्षं न कुर्यादिति.

ननु यद्यपि महान् तथापि बाल इति नन्दसूनुरिति कथमसाधारणीं लीलां करिष्यतीत्याशङ्कां वारयन्ति **यदुपतिरि**ति, अयं यादवानां पतिः, ते हि बहुस्त्रीका भवन्ति. अमर्यादार्थं विशेषणान्तरमाहुः **द्विरदराजविहार** इति, महासुरते गजेन्द्र इव महान्, तेन विना न पूर्तिरिति. तदपेक्षयाप्यादौ पूर्वतापं दूरीकरिष्यतीत्याहुः **यामिनीपतिरिवे**ति, सम्पूर्णाया यामिन्या अयं पतिः, अतस्तद्व्रतानां विशेषेण सुखदः. नन्वहर्पतिरपि, कथमुच्यते **यामिनी-पतिरिवे**ति? तत्राहुः **एष** इति, सर्वालङ्कारभूतस्तत्र तिष्ठति, अधुना तु श्रान्त इव. **दिनान्ते एष यामिनीपतिरिव** चन्द्र इव दूरादेव तापनाशकः साम्प्रतम्,

टिप्पणी

यामिनीपतिरिवैष इत्यत्र, **नन्वहर्पतिरपी**ति, चन्द्रदृष्टान्तेन दिवा सुखदानं न प्राप्यते, तस्यातथात्वात्, भगवांस्तु दिवापि सुखं ददातीति कथमयं दृष्टान्तो युज्यत इत्यर्थः. अङ्गीकृत्योत्तरमाहुः **सर्वालंकारे**ति, **सर्वासा-मलंकारभूतो** वृन्दमध्ये **तिष्ठति** यस्ता विहाय स्थातुमशक्तः परस्परगुणानु-वादश्रवण-तद्भावानुभवजनितानन्द-समुद्रलहरीभिः आर्द्रार्द्रो रसपोषायाप्रकट इव दिवा यः स **एष** इत्यनेन प्रदर्श्यते. इतोऽप्यानन्दपोष इति ज्ञायते. यथान्यासां लीलानां परिज्ञानं भावबलात्, तथा स्थितेरपि. परन्तु कादा-चित्कमिदं ज्ञानम्, अन्यथा गानरसएव न स्यात्. तथा च दिवा निकटएव अप्रकटः सन् सुखयति प्रकारान्तरेण. दिनान्ते तु प्रकटः सन् दूरादेव चन्द्र

लेखः

विशेषमिति, स्वार्थं भगवदागमननिश्चयः स्वविषयकरजोगुणोद्दीपनेनोक्तः, शिरोभेदकथनेन ततोऽपि विशेषो निश्चये उक्त इत्यर्थः. **वर्णान्तरे**ति, गण्डस्य श्यामो वर्णः कनकस्य पीत इत्यर्थः. **उत्कृष्टेनापी**ति, भक्तिरूपगण्डे कनकश्रीयोजनादिति भावः. कनकस्य सर्वाभिलषितत्वात् कामरूपत्वम्. **शिरोभेदानिति**, गण्डयोः कुण्डलश्रीयोजनं शिरश्चालनेनैव भवतीति भावः ॥२४॥

यदुपतिरित्यत्र, **तदपेक्षये**ति, द्विरदराजेनायं धर्म इत्यर्थः. **विशेषेण सुखद** इति, तापं निवर्त्य सुखदातेत्यर्थः. **दिनान्ते** इत्यस्य **साम्प्रतमि**त्यनेनान्वयः.

अग्रे तु यामिनीपतिरिव. इममर्थं ज्ञापयतीति लक्ष्यते, यतो **मुदितवक्त्रः** प्रसन्नवदनो भूत्वा **उपयाति** समीपमागच्छति. अयं भावस्तासामेव हितकारीति पूर्वं साधारण्यमुक्तम्, उपसंहारे पुनराह **मोचयन् व्रजगवामिति. व्रजस्य गवां** च सम्पूर्णे **दिवसे** यावांस्तापः तं सर्वमेव **मोचयतीति** ॥२४-२५॥

टिप्पणी

इव तापनाशकः. **यामिनीपति**पदाद्यथाग्रे यामिनीं पूर्णां साक्षाद् भुङ्क्ते सः तथा प्रियोऽप्यस्मान् भोक्ष्यतीति ज्ञाप्यते. **मोचयन् व्रजगवामित्यत्र, गवां चेति** सद्यःप्रसूतानामिति शेषः. यद्वा यथा रात्रिजं विरहजं तापं दिवा स्वरूपनादादिभिर्गवां मोचयति, तथा व्रजस्थिताः सर्वे तदेकनाथत्वेन तदेकपोष्यत्वेन तदधीनप्राणादिधर्मत्वेन, यथा तद्देहप्राणादिरक्षार्थं दिवा ता वने नीयन्ते, तथा तदर्थं निशीति च गाव इवेति गोपदेन स्वामिन्यएव उच्यन्ते ॥२५॥

पितृपादाब्जकृपया निरोधविवृतिर्मया ।
स्फुटीकृता यथाशक्ति भक्तानां तुष्टये हरेः ॥१॥
अनेनैव प्रकारेण निरोधविवृतौ बुधैः ।
छेत्तव्यः संशय इति तं प्रदर्श्योपरम्यते ॥२॥
न हि व्रजवधूपदाम्बुजपरागरागं विना ।
मनागपि विचारणे भवति शक्तिरस्यास्त(तः!) ॥
मया चिरविचारहृद्गततदीयतात्पर्यमा-
श्रितेन लिखितं सदा गिरिवरेशपादाम्बुजम् ॥३॥
संशयपङ्ककलंकितहृदया गोविन्दविहृतिविवृतौ ।
ये ते श्रीविठ्ठलवाणीपाथोभिर्निर्मलाः सन्तु ॥४॥

॥ इति श्रीगोपीजनवल्लभचरणैकतान-श्रीविठ्ठलेश्वरदीक्षितविरचितो दशमस्कन्धप्रकरणद्वयविवृतिप्रकाशः समाप्तः ॥

लेखः

तथाच मूले **यामिनीपतिरिवेत्यस्य** पूर्वापरयोरन्वयः, **एष** इत्यस्यावृत्तिः— दिने एषः अप्रकटः सन् सुखदातेत्यर्थो, दिनान्ते यामिनीपतिरिव एषो दूरादेव तापनाशक इत्यर्थः. अग्रे तु यामिनीपतिसदृशः सन् द्विरदराजवद्विहारो यस्य तादृश इत्यर्थः. पूर्वयुगले चन्द्रदृष्टान्तस्योक्तत्वात् पुनरुक्तिमाशङ्क्याहुः

एवं निरोधं निरूप्य स्त्रीणामुपसंहरन् प्रकरणस्थानामेव तद्द्वारोपसंहरति **एवमिति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानुगायतीः ।
रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥२६॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

राजन्निति सम्बोधनं विश्वासार्थम्. **व्रजगता** अपि **स्त्रियः एवं** प्रकारेण **अहस्सु** भगवत्सम्बन्धरहितदशायामपि **कृष्णलीलाएव** आनुपूर्व्येण बहुकालानुवृत्त्यर्थ**मनुगायतीः** अनुक्रमेण गायतीः **रेमिरे.** स्वत आनन्दरूपा कीर्तिस्ताः प्रति जातेति तासां क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिश्च भगवन्निष्ठैव जातेत्याह **तन्मनस्काः तच्चित्ता** इति. चित्तं ज्ञानप्रधानं, मनः कर्मप्रधानमिति. एवं सर्वप्रकारेण प्रपञ्चविस्मृतिर्भगवदासक्तिश्च निरूपिता. नन्वेवं कथं तासां निरोधः फलित इति? तत्रोपपत्तिमाह **महोदया** इति, महानेवाभ्युदयो भाग्यराशिर्यासामिति सर्वं सुस्थम् ॥२६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां
श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे द्वात्रिंशाध्यायविवरणम्.

लेखः

अयं भाव इति. श्रमरुक्सहितः साधारण्येन सर्वेषां तापनाशक उक्तः, मुदितवक्त्रो विशेषत एतासामेवेति विभेदः ॥२५॥

प्रकरणस्थानामिति, एतासां मुख्यत्वादेतन्निरोधोपसंहारे सर्वेषामेव तामसानां निरोध उपसंहृतो जात इति भावः.

एवमित्यत्र स्वत आनन्दरूपेति, न तु फलदानद्वारेत्यर्थः ॥२६॥

॥ द्वात्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

॥ इति द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

॥ इति दशमपूर्वार्धतामसफलप्रकरणम् ॥

।। प्रथमं परिशिष्टम् ।।

।। स्वतन्त्रलेखाः ।।

।। श्रीमत्प्रभुचरणानां कारिका–स्वतन्त्रलेखौ ।।

।। भगवानपि ता रात्रीः"(भाग.१०।२६।१) इत्यत्र स्वतन्त्रकारिकाः ।।

प्रसीदन्तु सदा रासलीलारसपयोधिषु।।
निष्कलङ्ककलानाथीभवद्वाचोऽस्मदीश्वराः ।।१।।

श्रीगोपेश्वराणां कारिकाविवरणम्

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः फलप्रकरणीयं स्वहार्दम् अर्थविशेषम् उत्कटभगवद्भाववशात् प्रकटयितुकामाः श्रीमदाचार्यचरणातिशयित-वात्सल्यविलासायितस्य तदीयस्यैव रहस्यतमस्य एतदर्थस्य स्फुटीकरणं कदाचित् तदनभिमतं चेद् अनुचितम् इदमिति भावस्वभावादेव सम्भावयन्तः तेषां प्रसादं पूर्वं प्रार्थयन्तः प्रकरणाध्यायार्थं कियतीभिः कारिकाभिः विशदयन्ति **प्रसीदन्तु** इति, **अस्मदीश्वराः** अस्मत्प्रभवः श्रीमदाचार्यचरणाः **प्रसीदन्तु** प्रसन्नाः भवन्तु. तेनैव अस्माकं निष्प्रत्यूहम् अखिलाभीष्टसिद्धिः इति भावः. 'अस्मदीश्वर'त्वेन उक्त्या यैः अस्माकम् ऐश्वर्यं स्वतः कृपया साधनराहित्येऽपि स्वीकृतं, विविधफल-सम्पादनेन अस्मासु प्रकटीकृतं वा, ते स्वतएव निरस्तसमस्तप्रतिबन्धम् अस्मदभिमतं साधयिष्यन्ति इति सूच्यते. कीदृशाः पुनः अस्मदीश्वराः? **सदा** निरन्तरं **रासलीला**सम्बन्धी यो **रसो** भगवत्स्वरूपात्मकः शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तेषु प्रकटितः सर्वेन्द्रियास्वाद्यो मोक्षाधिक-भजनानन्दात्मा, तस्य आधारभूताः **पयोधयः** समुद्राः फलप्रकरणीयाः पञ्च सप्त वा अध्यायाः तेषु **निष्कलङ्को** यः **कलानाथः** पूर्णचन्द्रः तद्रूपाः भवन्ति वाग्विवृतिरूपाः येषां तादृशाः. तथाच यथा पूर्णः पीयूषभानुः

पयोधिषु प्रतिक्षणम् अधिकाधिक-विलक्षण-वीचि-निचयम् उदञ्चयति तथा श्रीमदाचार्यवर्यवागपि विवृतिरूपा एतेषु अध्यायेषु निरवधि-विविध-भाव-निवहम् इति भावः सूचितः. एतेन श्रीमदाचार्यचरणानाम् अत्यलौकिकः शुद्धपुष्टिमार्गीया-न्तरङ्गतम-लीलासम्बन्धि-बहुविधानन्तभावानुक्षणाविर्भावकत्वरूपः परमोत्कर्षः सूचितः. किञ्च श्रीमदाचार्यचरणवाचो रासलीलापयोधिषु 'निष्कलङ्ककलानाथी-भवन'त्वोक्त्या लोके यथा समुद्रोल्लासादिकार्यं चन्द्रेतरेण कदापि न सम्पद्यते; तथा एतत्समुद्रभावोल्लासादिकमपि श्रीमदाचार्य-चरण-प्रकटितैतद्-विवरण-रूपवाग्-व्यतिरिक्तेन कदापि न भवति इति ध्वन्यते. यद्वा रासलीलाएव, अगाधत्वाद् रसात्मकत्वाद्, रसपयोधयः तेषु तादृशाः अस्मदीश्वराः प्रसीदन्तु इति अर्थः. एतेन स्वप्रकाशनीयानां भावानां श्रीमदाचार्य-विरचित-विवरण-विचारणोचितोदञ्चित-चारुतरानिर्वचनीयानुभवैक-गोचर-फल-प्रकरणीय-भाव-निकराणां निर्विचिकित्ससिद्धिः तत्प्रसादमात्रपरतन्त्रेति तत्प्रेप्सुभिः कृतसुकृत-निकायैः श्रीमदाचार्यप्रकटित-शुद्धपुष्टिसम्प्रदायैकप्रविष्टैः तदर्थमेव सर्वत्यागेन प्रयतनीयम् इति उपदेशोऽपि स्वान्तरङ्गसेवकेषु ज्ञापितः ॥१॥

ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने ॥
लीला या युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते ॥२॥

प्रकरणार्थम् आहुः ब्रह्मानन्दाद् इति, भजनानन्द-तारतम्य-ज्ञापनेन रसविशेषास्वाद-ज्ञापनाय व्रजस्थभक्तानां पूर्वम् अनुभावितो यो ब्रह्मानन्दः तस्माद् अत्यधिक-भजनानन्द-दित्सया सम्यग् उद्धृत्य स्वस्वरूपात्मकं भजनानन्दं तत्र योजयितुं या लीला रासादिरूपा युज्यते युक्ता भवति, एतद्व्यतिरेकेण ब्रह्मानन्दवत् तद्दाने ततः उद्धृतेः व्यर्थता स्यात्, स्वानन्ददानार्थमेव तत्करणात्. रासलीलातिरिक्तप्रकारेणच एतद्दाने एतत्स्वरूपलाभस्यैव असम्भवेन एतद् दत्तमेव न भवेद्, अतः एतद्दानानुरूपैव सा लीला तामसप्रकरणस्य तुर्ये अन्तिमे फलप्रकरणे विशेषेण निरूप्यते इति अर्थः ॥२॥

सर्वसामर्थ्यवत्त्वेन यदीमं पूर्ववद् हरिः ॥
दद्यात् तदोद्धृतिर् व्यर्था भवेद् एतददानतः ॥३॥
यस्माद् एतादृगेवास्य रूपं नह्यन्यथाकृतिः ॥

देयस्य सम्भवत्येवम् अपेयात् तत्र देयता ॥४॥
अतोऽयमेव युक्तोऽत्र प्रकारो नापरो मतः ॥
स्त्रियएवहि तं पातुं शक्ता यस्मात् पुमान् हरिः ॥५॥
अतोहि भजनानन्दः स्त्रिषु सम्यग् विधार्यते ॥
अहर्निशं चातएव रेमेऽन्तर्बाह्यभेदतः ॥६॥

सर्व... इत्यारभ्य **मतः** इत्यन्तस्य अर्थः उक्तप्रायइति न उच्यते. ननु व्रजस्त्रीष्वेव भजनानन्ददानं प्रभोः किं निदानम् इत्यतः आहुः **स्त्रियएवहि** इति, यस्माद् हरिः सर्वदुःखहर्ता **पुमान्** पुरुषरूपः चिकीर्षितलीला-योग्यस्त्री-भोग्यत्वेन मूर्तौ रसात्मकएव गोकुलवृन्दावनादिषु प्रकटइति तत्रत्याः **स्त्रियः** सीमन्तिन्यएव पूर्वं **तं** तथाविधं रसात्मकं **पातुं** सर्वेन्द्रियैः आस्वादयितुं **शक्ताः** समर्थाः रसशास्त्रोक्त-वयोगुणविशेषादि-सम्पन्नाः, **अतः** तास्वेव **भजनानन्दः सम्यक्** सर्वप्रकारो **विधार्यते** इति अर्थः. **अहर्निशम्** इति, यतो रसात्मकस्य भगवतः स्वरूपानुभवे विविध-रसभाव-पोषकत्वादिना घोषभूषणभक्ताएव अनुरूपाः न अन्यइति तत्रैव रात्रिदिवं रमणं कृतवान् बाह्याभ्यन्तरभेदेन, नतु मनागपि व्यवधानेन तथा इति अर्थः ॥३-६॥

रसिकानुभवाद् वेद्यम् आन्तरन्तु महाफलम् ॥
अतः शब्दात्मिका लीला सर्वोत्कृष्टा निरूप्यते ॥७॥

तत्रापि बाह्यरमणापेक्षया **आन्तरं** रमणं प्रियविप्रयोग-सामयिकाननुभूतचरानिर्वचनीयानेक-भावनिचयात्मक-गुणगानरूपं **महाफलम्**. तस्य तथात्वं **रसिकानां** भगवत्स्वरूपात्मक-रसानुभव-विशेषाभिनिवेश-भाजां भक्तानाम् **अनुभवाद् वेद्यं** ज्ञेयं, नतु तदतिरिक्तमपि तत्र किञ्चिद् मानं वक्तुं शक्यम् इति अर्थः. तद् एतद् नामात्मक-भगवत्स्वरूप-भावात्मकरमणं दोषरहितं सप्तमाध्यायार्थः इत्यतः आहुः **अतः** इति ॥७॥

आदौ रूपेण रमणं पञ्चभिः प्रोच्यते बहिः ॥
आत्मना प्रथमा लीला मनसा च ततः परा ॥८॥
वाक्प्राणैस्तु तृतीया स्याद् इन्द्रियैस्तु ततः परा ॥

शारीरी पञ्चमी वाच्या ततो रूपं प्रतिष्ठितम्॥९॥

प्रथमं बाह्यरमणं रूपेण पञ्चात्मकेन कृतमिति पञ्चभिः अध्यायैः तद् उच्यते इति आहुः **आदौ** इति. पञ्चात्मकरूप-तत्तदंश-कृता लीला क्रमेण प्रत्येकसमुदायाभ्यां पञ्चभिः अध्यायैः निरूप्यते इति आहुः **आत्मना** इत्यादिना. एतदर्थस्तु निरोधविवृतिप्रकाशे श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैः उक्तएवेति न इह निरूप्यते॥८-९॥

यथेन्द्रियादिरूपत्वं शुद्धस्य ब्रह्मणस्तथा॥
आत्मादित्वमपि ज्ञेयं भक्तानुभवतस्तथा॥१०॥

ननु शुद्धब्रह्मरूपस्य भगवतः केवलानन्दत्वेन तत्र पृथगात्माद्यभावाद् **आत्मना** इत्यादिना उक्ता विचित्रा लीला कथं तत्र अवधारणीया ? इति चेत्, तत्र आहुः **यथा** इति. यथा "स यथा सैन्धवघनः", "आनन्दाद्ध्येव", "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "आनन्दमयोऽभ्यासाद्", "आह च तन्मात्रं", "केवलानुभवानन्दस्वरूप" इत्यादि-श्रुति-न्याय-पुराण-वाक्येभ्यो धर्मिग्राहकमानेभ्यः **शुद्धम्** आनन्दरूपमपि ब्रह्म "चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः", "मनोमयः प्राणशरीरः", "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः", "परास्य शक्तिर्विविधैव", "सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्" इत्यादि-श्रुति- स्मृति-वाक्येभ्यः चक्षुरादीरूपमपीति तथात्वं ज्ञायते. **भक्तानां** तत्सम्बन्धि-विविध-भावानुभावाच्च तथा. "यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, यस्य प्राणः शरीरं, यस्य वाक् शरीरं, यस्य चक्षुः शरीरं, यस्य श्रोत्रं शरीरं, यस्य मनः शरीरं, यस्य त्वक् शरीरम्" इत्याद्यनन्तरं "यस्यात्मा शरीरम्" इति वाजसनेयिशाखीयान्तर्यामिब्राह्मणश्रुतेः लीलामध्यपातिभक्त-तादृशानुभवात् च आत्मादिरूपमपि अस्तीति तथात्वं ज्ञेयम् इति अर्थः. तथाच "तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छद्", "एष ह्येवानन्दयाति", "फलमत उपपत्तेः", "व्रजस्योवाह वै हर्षम्", "आत्मारामोऽप्यरीरमद्" इत्यादिवाक्यार्थ-पर्यालोचनयारमणेच्छाप्रयुक्त-तदनुरूपस्वरूपाभिन्नात्मेन्द्रियादि-भावात्मकत्वं शुद्धब्रह्मण्येव निर्बाधमिति न पूर्वोक्तानेक-विचित्र-लीलावधारणानुपपत्तिः॥१०॥

स्वानन्ददानं षड्विंशे उच्यते साधनान्वितम्।।
वस्तुतस्तु [1]तदप्येतद्रूपमित्येव वक्ष्यते।।११।।

प्रथमाध्यायार्थम् आहुः स्वानन्ददानम् इति, स्वानन्ददानं स्वरूपानन्ददानं **साधनान्वितं** सर्वात्मभावसहितं **षड्विंशे** अध्याये **उच्यते** इति अर्थः. **वस्तुतस्तु** तदपि सर्वात्मभावरूपं साधनमपि भजनानन्दानुभवात्मक-फलरूपमेव एतन्मध्यपातित्वाद् इत्येव अग्रे **वक्ष्यते** इति अर्थः ।।११।।

नादेनहि रसोत्पत्तिर् उच्यते तत्र वीक्षणम्।।
रात्रीन्द्वोर्हेतुरित्युक्तं तेन श्लोकद्वयं तथा।।१२।।

ननु सर्वात्मभावनिरूपणस्य "दृष्ट्वा कुमुद्वन्तम्" इति श्लोकोक्त-वेणुकलगानानन्तरमेव सम्भवाद् इतः पूर्वं श्लोकद्वयं किमर्थम् उक्तम्? इत्यतः आहुः **नादेन** इति, **नादेन** भगवत्कृतेन वेणुनादेन **रसोत्पत्तिः** स्वामिनीनाम् उत्कटकामरसोदयः. तेन सर्वात्मभावाभिव्यक्तिः अभूत् परन्तु **तत्र** नादएव हेत्वन्वेषणे स्वामिनीसम्बन्धिनीनां **रात्रीणां** नक्षत्रेशस्य च **वीक्षणमेव हेतुरिति** तन्निरूपकश्लोकद्वयं पूर्वम् उक्तम् इति अर्थः ।।१२।।

नायकोद्भटभावेन्दू नायिकारसपोषकौ।।
इतोऽपि तौ तथाग्रे तु[2] स्पष्टमन्यत् कथावधिः।।१३।।

पूर्वश्लोकद्वयोक्तौ हेत्वन्तरमपि आहुः **नायक...** इति. अत्र स्वरूपात्मको रसः स्वामिनीभ्यः प्रभुणा देयइति तद्रसपोषकसम्पादनं स्वस्य आवश्यकम्. यावद् **नायकस्य उद्भटभावः इन्दुदयो** वा न भवति तावद् **नायिकानां** न तथा **रसपोषइति इतोऽपि** हेतोः **तौ** श्लोकौ पूर्वम् उक्तौ इति अर्थः. एतच्छ्लोकद्वयस्य **अग्रेतु अन्यत्कथावधिः** अन्तर्गृहगतकथापर्यन्तं सर्वात्मभावबोधकं **स्पष्टम्** असन्दिग्धं सर्वम् इति न तत्र किञ्चिद् वक्तव्यम् इति अर्थः ।।१३।।

१. साधनमपि इति अर्थः. २. रसोत्पादनं पोषणं च "संस्थापनाय धर्मस्य" इत्येवदधिः स्फुटम् इति अर्थः.

तथा-तथा रसोत्कर्षः स्नेहोत्कर्षो यथा-यथा ॥
तस्य व्यङ्ग्यत्वतोऽत्रैतद्व्यञ्जिका सा[१] कथा मता ॥१४॥

ननु सर्वात्मभाववत्सु दित्सितत्वात् स्वरूपानन्दस्य तदर्थमेव अग्रिमलीलाकरणाद् अन्तर्गृहगतानां सर्वात्मभावाभावेन तत्कथा किमर्थम् इह उक्ता इत्यत आहुः **तथा-तथा** इति, **यथा-यथा** येन-येन प्रकारेण भक्तानां **स्नेहोत्कर्षो** भावोद्रेको अभिव्यक्तो भवति **तथा-तथा** तेन-तेन प्रकारेण भगवतो भक्तानां **रसोत्कर्षो** रसस्य आस्वाद्यस्य उत्कर्षः उत्तरोत्तरभावाधिक्यं भवति. स्नेहोत्कर्षाभिव्यक्तिः च **तस्य व्यङ्ग्यत्वाद्** व्यञ्जकसापेक्षा इत्यत्र एतस्य स्नेहोत्कर्षस्य **व्यञ्जिका सा कथा** अन्तर्गृहकथा **मता** निश्चिता इति अर्थः ॥१४॥

कामोपाधिभवः स्नेहः सहजाद् न्यूनएव हि ॥
तद्वतीषु तथानन्दप्रदानं यत्र तत्र किम् ॥१५॥
वाच्यं सहजतद्भाववतीष्वित्येतया[२]वदत् ॥

कथम् अस्याः तद्व्यञ्जकता इत्यतः आहुः **कामोपाधिभवः** इति, अन्तर्गृहगतानां **स्नेहो** "जारबुद्ध्यापि सङ्गता" इत्युक्तत्वात् **कामोपाधिभवः** तत्प्रयुक्तइति लोकप्रसिद्धात् तादृशाद् अत्यधिकोऽपि **सहजाद्** अनुपाधिकात् सर्वात्मभावात् **न्यूनः** स्वल्प **एव हि** यतो अतः **तद्वतीषु** कामोपाधिक-सर्वाधिक-स्नेहवतीषु **तथा आनन्दप्रदानं** प्रतिबन्धनिराकरणपूर्वकम् अन्तःप्रवेश-नाश्लेषादिना स्वानन्दप्रदानं प्रभोरिति उभयत्र[३] **तत्र** निरुपधिसर्वात्मभाववतीषु तदधिक-सर्वेन्द्रियभोग्य-भजनानन्ददानं **किं वाच्यम्** इति कैमुतिकन्यायेन स्नेहोत्कर्षः स्वामिनीनाम् **एतया** कथया व्यज्यते **इति अवदद्** इति अर्थः ॥१५ १।२॥

एतदागतिमात्रेण यद्यङ्गीकारम् आचरेत् ॥१६॥
रसस्तदा न पुष्टः स्याद् अतस्तानि वचांसि हि ॥

१. "व्यत्यस्तवस्त्राभरणा..."इत्यन्ता इति अर्थः. २. अन्तर्गृहगतकथया इति अर्थः.
३. प्रभोरत्युभयत्र इति पाठः.

उभयोर्वचसाम् अत्र स्पष्टाहि रसरूपता ॥१७॥

ननु सर्वात्मभावपूर्वकत्वाद् अग्रिमरमणस्य स्वामिनीषु च तस्य सत्त्वाद् एतासां समागमनाव्यवहित-नैरन्तर्येण रमणं कथं न कृतवान्? स्वकर्तृकनिषेध-वाक्य-प्रियाकर्तृकप्रतिवाक्य-प्रयुक्तविलम्बेन यत् तद् अङ्गीकृतवान् तत् कुतः इत्यतः तत्तात्पर्यम् आहुः **एतदागतिमात्रेण** इति. यदि भगवान् **एतासाम् आगतिमात्रेण** आगमनेनैव **अङ्गीकारम्** अग्रिमरमणरूपम् **आचरेत्** कुर्यात् **तदा** भगवतः तत्प्रेयसीनां च **रसः पुष्टो** यादृशो रसशास्त्रे निरूपितः तादृशो **न** स्याद् आभासतां प्राप्नुयाद् अतो हेतोः **तानि वचांसि** प्रभोः स्वामिनीनां च "स्वागतम्" इत्यादीनि "मैवम् " इत्यादीनि च. **हि** युक्तो अयम् अर्थः, प्रिययोः परस्परं तथाविधवचनादिभिरेव विविधरसभावोदयस्य रसिकसिद्धान्तसिद्धत्वात्. किञ्च **उभयोः** प्रिययोः **वचसां रसरूपता अत्र** रमणे रसमध्यपातितया तदात्मकता निरोधविवृतौ **स्पष्टा** — भगवद्वाक्यानाम् आपाततो निषेधप्रत्यायकत्वेऽपि फलतः स्थितिनिरूपकतया स्वामिनीवाक्यानां च सम्यक् तत्पूर्वपक्षीकरणपूर्वक-स्वसिद्धान्तबोधकतया ॥१७॥

मानापनोदरूपत्वात् प्रियस्यापि प्रियावचः ॥
श्रोतुमिच्छा ततस् तादृग् वाक्यं पूर्वं हरिर् जगौ ॥१८॥

ननु प्रभो रसात्मकस्य सर्वदुःखहर्तुः तादृशभक्तेषु रसविरोधि तत्-क्षोभकवाक्यकथनम् अयुक्तम्! इति आशङ्क्य रसविशेषोद्गमार्थमेव स्वेप्सितपूरक-तद्वाक्यकथनमिति न रसविरोध-क्षोभाद्यनौचित्यावसरः इति आहुः **मानापनोदरूपत्वाद्** इति. **प्रियस्य** सर्वरसास्वादकस्य "मैवं विभो" इत्यादिरूप-विविध-भावानुभावकं स्वामिनी-तन्मान-विशेषापनोदकं **प्रियावचः श्रोतुम् इच्छा ततो** हेतोः तत्पूर्त्यर्थं तत्क्षोभक-वाक्यव्यतिरेकेण तद् न सिद्ध्यतीति **तादृग् वाक्यं पूर्वं हरिर् जगौ** इति अर्थः ॥१८॥

तदा रसाब्धिरुद्वेलः प्रतिवाक्यैः प्रियेऽभवत् ॥
अग्रे स्पष्टं[१] तदग्रेतु रसाधिक्यवशात् तथा[२] ॥१९॥

१. रसाधिक्यम् इति शेषः. २. मानादिः इति अर्थः.

रसाधिक्येन पुंभावो भवतीति यतो मतम्॥

तेन यद् आसीत् तद् आहुः **तदा** इति, यदा प्रभुः तादृशवाक्यानि उक्तवान् **तदा प्रिये स्थितएव रसाब्धिः** रससमुद्रः स्वामिनीविरचितः **प्रतिवाक्यैः** तदुत्तरेन्दुकरनिकरैरिव **उद्वेलो** अतिक्रान्तमर्यादो **अभवत्**. तेन रमणम् आचरत् तद् आहुः **अग्रे स्पष्टम्** इति. ननु रमणानन्तरम् अग्रे स्वामिनीनां मदमानादि यद् अगादि, तत् सर्वात्मभावे सति कथं सम्भवति इत्यत आहुः **तदग्रे**तु इति. प्रियेण आत्मप्राधान्येन लीलया अत्यन्तरसपूरणात् तदाधिक्यवशादेव **तथा** मदमानादिकम् अभूत्, तत् सर्वात्मभाववतएव **रसाधिक्येन** पुम्भावे **प्रोद्भूते भवति** इति आहुः **रसाधिक्येन** इति. स्पष्टार्थम् एतत्॥१९ १।२॥

> **यावन्तः प्रियभावास् ते सर्वेऽप्यत्र समागताः ॥२०॥**
> **इत्यपि ज्ञाप्यते भावः सोऽन्यथा न भवेत् तदा (था ?) ॥**
> **मानापनोदनं स्वस्य यथा युक्तं तथा कृतम्॥२१॥**

यावन्तः इति, यतो "रसाधिक्येन पुम्भावः" इति मतम् अतः प्रियेण एतासु तत्सम्पादनात् तस्य च प्रियस्वरूपात्मकत्वाद् अन्तःपूरणात् तत्र पुंभावे प्रकटे सति **यावन्तः प्रियभावाः ते सर्वेऽपि** अत्र स्वामिनीषु **समागताः** इत्यपि भावो ज्ञाप्यते. तेन मानो अभवद्, **अन्यथा** रसाधिक्यप्रयुक्तपुम्भावात् **तथा** प्रियरूपत्वाभावे **स** मानो **न भवेद्** इति अर्थः. ननु मानापनोदस्य प्रकारान्तरेणापि सम्भवात् तिरोधानेन तत् कुतः कृतवान् इति अतः आहुः **मानापनोदनम्** इति. प्रभोः आत्मप्राधान्येन लीलया रसाधिक्यतो मानोदय इति तदपनोदनमपि तत्प्राधान्येनैव कर्तुं युक्तमिति तस्य अन्तरेव सत्त्वात् तत्रैव प्रविश्य तेन प्रकारेण तत् कृतवानिति **स्वस्य** आत्मनः **यथा युक्तं तथा कृतम्** इति अर्थः॥२१॥

> **उपक्रमोपसंहारौ तत्त्वनिर्णायकौ मतौ॥**
> **"रेमे स्वयं" "सिषेवे" च "विक्रीडितम्" इति स्फुटम्॥**
> **अत्र "रन्तुं मनश्चक्र" इत्युपक्रमतः स्फुटम्॥२२॥**
> **उपसंहारतश्चैतन्मध्यपाति यदेव तत्॥२३॥**

तद्रूपम् इति मन्तव्यं पण्डितैर् ज्ञानकाण्डवत्॥

ननु अत्र प्रकरणे भजनानन्ददानानुरूपलीलैव निरूपयितुम् उचिता, तस्याएव तदर्थत्वस्य व्यवस्थापितत्वात्. तथाच मध्ये सर्वात्मभावादिनिरूपणस्य अर्थान्तरत्वप्रसञ्जकत्वं भवेद्. अतः तत्परिहारं वदन्तः प्रकरणार्थनिर्णयम् आहुः **उपक्रमोपसंहारौ** इति, उपक्रमोपसंहाराभ्यां यो अर्थः प्रतिपाद्यते सएव तत्त्वरूपइति सर्वत्र **तन्निर्णायकौ** तौ तान्त्रिकाणां **मतौ**. तेन मध्ये अर्थान्तरकथनेऽपि तदुभयानुरोधेन तत्त्वनिर्णयात् तदुपयुक्तार्थनिरूपणे अर्थान्तरत्वप्रसङ्गो न भवति इत्यत्र फलप्रकरणे "रन्तुं मनश्चक्रे" इति स्फुटं रमणस्य उपक्रमात्, "रेमे स्वयं स्वरतिः" इति "सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरत" इति "विक्रीडितम्" इति च स्फुटम्. तत्तद्-भेदविशिष्टस्य रमणस्यैव उपसंहारतः च तस्यैव प्रकरणार्थनिर्णयेन एतदुपयोगित्वेन **एतद्रमणमध्यपाति यदेव** सर्वात्मभावादि निरूपितं **तत् तद्रूपं** तत्तल्लीलारूपं **पण्डितैः** काण्डद्वयार्थनिर्णय-निपुणैः **ज्ञानकाण्डवत्** ज्ञानकाण्डे यथा ज्ञानोपयोगि-चित्तशुद्ध्यर्थम् आम्नातं नानाविधोपासनादि ज्ञानरूपमेव मन्वते; अतएव उपासनाकाण्डं न ज्ञानकाण्डात् पृथग् वदन्ति वेदान्तनयकोविदाः, तथा इदमपि मन्तव्यम् इति अर्थः. तेन सर्वात्मभावादिनिरूपणस्य न अर्थान्तरप्रसञ्जकत्वमिति सर्वम् अतिरमणीयम्॥२२-२३॥

श्रीवल्लभात्मजश्रीमद्-विठ्ठलेशाङ्घ्रिसेविना॥
गोपेश्वरेण लिखितम् आस्तामेतन्मुदे सताम्॥



॥ तासाम् आविरभूत् शौरिः (भाग.१०।२९।२) इत्यत्र॥

तासाम् आविरभूत् शौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥
(भाग.१०।२९।२)

अथवा तासाम् आविः तत्सम्बन्धिप्राकट्यं, तत्सजातीयस्त्रीवेशः इति यावत्. तथाच तेन वेशेन पूर्वम् अन्तर्हितः तासु स्थितो, अधुनापि तथा प्रकटो अभूद् इति अर्थः. यद्यपि ज्ञापनसमये न तत्प्रयोजनं तथापि इयदवधि भवतीनां मध्ये अहम् अनेन वेशेन स्थितः, परं न लक्षितइति तत्प्रदर्शनेन ज्ञापितम्. अतएव "कस्याः पदानि चैतानि" इत्यादिसमुत्प्रेक्षा, अन्यसम्बन्धदोषोऽपि न तदानीम् अस्फुरत्. अन्यथा खण्डितानामिव अधिकखेदेन तथोक्तिः स्यात्, नतु दृशां प्रीत्युत्फुल्लता. अतः तथा आविर्भावः इति लक्ष्यते. श्रीशुकोक्तिरपि तथा "सहसैव व्रजाङ्गना अतप्यन्" इति. यदि परस्परं मुखानि दृष्ट्वा विचारयेयुः तदा वैलक्षण्यात् स्वमण्डले तम् आलोक्य तापं न कुर्युः, परं न तथा कृतम् इति 'सहसे'ति पदाद् अवगम्यते. अग्रेच "पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तम्" इति भूतेषु तेषु भक्तेषु तज्जातीयवेशेन अन्तस्तन्मण्डले सन्तं रूपान्तरेण तन्मध्यपातिन्या कयाचित् सह तन्मण्डलाद् बहिःत्यागः सम्भवति, तद्व्यतिरेकेणापि कर्तुं समर्थत्वाद् इति आशङ्कच आह शौरिः इति. अत्र अयम् आशयः–यथा श्रीवसुदेवः स्वापेक्षितं प्रभुप्राकट्यं साधयितुं तदाधारभूतदेवकीसापेक्षतया शूरस्य पुत्रत्वेन तादृशोऽपि भूत्वा स्वधर्मं युद्धं परित्यज्य कंसस्य अग्रे दैन्यं प्रदर्शितवान्, अन्यथा भक्तदुःखाभावेन स्वापेक्षितासिद्धेः, तथा "रसो वै सः" इति श्रुतेः ईश्वरोऽपि स्वापेक्षितरसप्राकट्यार्थं तदाधार-रसापेक्षतया स्वधर्मम् ऐश्वर्यं परित्यज्य तदनुरोधम् अङ्गीकृतवान्, अन्यथा "रसमेव लब्ध्वानन्दी भवति" इति 'एव'कारेण रसरूपत्वेऽपि सति अन्यतो लाभाभावे रसवत्त्वं न सिध्येत्. अतो यथैव तासु रसः प्रकटो भवति तथाकरणेऽपि न ऐश्वर्यहानिः प्रत्युत रसभोक्तृत्वेन तत्सिद्धिरेवेति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. किञ्च यथा भक्तेषु लीलारसप्रकटनार्थं पूर्वं तद्विलक्षणचतुर्भुजरूपेण वसुदेवाद् आविर्भूतः, तद्दर्शनेन लीलाविरोधिमाहात्म्यज्ञानेन लीलारसासम्भवं मत्वा भक्तसजातीयप्राकृतभावम् अङ्गीकृत्य लीलारसं प्रकटितवान्, तथा अत्रापि पूर्वं नायिकासु लीलारसप्रकटनार्थं

तद्विलक्षणनायकरूपेण आविर्भूतः. तद्दर्शनज-लीलाविरोधि-मदमानात्मक-दोषेण रसासम्भवं मत्वा तत्सजातीय-नायिकाभावम् अङ्गीकृत्य लीलारसं प्रकटितवान् इति ज्ञापनाय शौरिपदम्. अथवा स्त्रीवेशेन तदलक्षित-स्थिति-कौशलं यथा सविषयत्वाद् रसशास्त्रविदः क्षत्रियस्य सम्भवति तथा न अन्यस्य इति ज्ञापनाय शौरिपदम्. तथाच दुष्टमारणलीलानुकरणं भगवद्भावापन्ननायिकानां सम्भवति, परं रससम्बन्धिलीलानुकरणं नायिकाभावापन्नभगवतएव सम्भवति. तत्रच आत्मानम् अज्ञापयित्वा कश्चिद् अनिर्वचनीयरसानुभवो भवतीति तथा कृतवान् इति भावो, अनिर्वचनीयत्वात् तल्लीलानुकरणं स्पष्टतया तथा न उक्तम्. ननु येन वेशेन पूर्वं तिरोहितः तेनैव वेशेन कथम् आविर्भूत इति आशङ्क्य आह **स्मयमानमुखाम्बुजः** इति. कपटवेशोहि हास्यसङ्कोचेन, यावद् मुखे रौक्ष्यं भवति तावदेव न लक्ष्यते इति भावः. ततः स्मितेन लक्षितः इति भावः. यथा सहस्रपत्रं कमलं प्रतिदलम् उपविष्टषट्पदानां रसपूरकं भवति, तथा अग्रे प्रतियुगलं प्रत्येकं च आविर्भूय तासां रसपूरकं श्रीमुखमपि इति ज्ञापयितुम् अम्बुजत्वोक्तिः. यद्वा **स्मयः** तासां गर्वः, तस्यापि **मानो** अहङ्कारो यस्मात्, तादृशं मुखाम्बुजं यस्य इति. शास्त्रमर्यादया न कदाचिद् अहङ्कारस्य भगवत्प्रापकत्वं जातम्, इदानीन्तु तद्वतीनां तासाम् आविरभूदिति तत्प्रापकत्वात् तस्यापि तदभिमानो अभूदिति स्मयमानत्वम्. सोऽपि भक्तावेव भवितुम् अर्हति तत्रापि रसरीत्या इति ज्ञापयितुं मुखाम्बुजे तदुक्तिः. यद्वा तासां "स्मयमानौ मुखाम्बुजे यस्य" इति, यथा सङ्गमदशायां भवतीनां हृदये स्मयमानौ अभूताम् तथा विप्रयोगेऽपि न मम हृदये किन्तु मुखे. तत्रापि तौ भवतीभ्यो निर्गतौ मत्सम्बन्धित्वाद् अन्यत्र गन्तुम् अशक्तौ मम हृदयेच भवदीयदोषरूपत्वात् स्थितिम् अलभमानौ भक्तेः स्वसम्बन्धिदोषसहिष्णुत्वात् मुखे तिष्ठत इति ज्ञापयन्निव तथा इति भावः. यद्वा "स्मयमानाः मुखे अम्बुजाः श्रमजलकणाः यस्य" इति, तेषां स्मयमानत्वम् ईषत्स्फुटत्वम्. तासामिव अन्वेषणादिपरिश्रमः स्वस्यापि जातः इति सूचयन्निव तथा इति भावः. अथच ताभिः अन्विष्यते, श्रमश्च प्रियेण अनुभूयते इति विरोधाभासं दर्शयन्तइव ते तथा जाताः. यद्वा "स्मयमाना मुखे अम्बुजा लक्ष्मीः यस्य" इति. यद्यपि तस्याः स्थानं वक्षः तथापि तत्र स्थितां मां दृष्ट्वा गोपिकासङ्गमप्रतिबन्धकतया अद्य प्रभुः निराकरिष्यति. मुखे स्थितान्तु दर्पणाभावात् न ज्ञास्यति इति

विचार्य तत्र स्थिता. अहं कियता साधनेन चरणरजोऽपि न प्राप्तवती, एतासाम् अनुरोधेन ईश्वरः कथं-कथं करोति इति सा हसन्ती जाता. परम् ईश्वरो ज्ञास्यति चेत् किं वा करिष्यतीति भयेन तज्ज्ञापनाय हासे मन्दता. अथच तासां विरहेण कार्श्य-वैवर्ण्यादीनाम् अङ्गान्तरेभ्यो निःसरन्ती शोभात्मिका सा. ततोऽपि निर्गमसमये तासां दर्शनेन तत्र स्थिरा जातेति हर्षेण तथा इति भावः. अथच मम वशे न जातः परं मत्सजातीयानान्तु वशे जातएवेति साम्प्रतं हृतस्वातन्त्र्यमिति तथा जाता इति भावः. यद्वा "स्मयमानः प्रकटायमानो मुखाम्बुजो मुखचन्द्रो यस्य" इति, यथा प्रावृषि घनेन पीडितः चन्द्रः शरदि घनाभावात् प्रकटो भवति तथा श्रीमुखमपि ताभ्योऽपि अधिकखेदादिव पूर्वं नीलनिचोलेन पीडितम्, आविर्भावसमये तदुद्घाटनात् प्रकटम् अभूद्. अन्यथा श्रीमुखस्य स्फुटीभावे वर्णे वैसादृश्यात् कान्तिविशेषात् च वेशपरिवर्तनमात्रेण तिरोधानासम्भवाद् इति भावः. यद्वा "स्मयमानमुखा अम्बुजा भूमिः यस्माद्" इति, "अदभ्यः पृथ्वी" इति श्रुतेः. अत्र इदम् आकूतं—गोपिकाकर्तृकरमणदशायामेव भूमेः समग्रतत्प्रियस्व-रूपसम्बन्धो भवति अन्यथातु चरणसम्बन्धमात्रम्. अतः तद्विरहे सापि विरहिता पूर्वं स्थिता. ततः प्रादुर्भावे जाते तारिव सापि हसन्ती जाता. यद्यपि भूमेः चरणकमलस्पर्शाद् अज्ञानसम्भवेन विरहाभावात् पूर्वं खेदो असम्भावितः तथापि पूर्णस्वरूपसम्बन्धाभावलक्षणो विरहो अस्तीति तथा उक्तम्. यद्वा "स्मयमानमुखो अम्बुजो यमुनानिलो यस्माद्" इति, विप्रयोगे रतिश्रमाभावेन स्वस्य अनुपयोगित्वाद् अधिकखेदहेतुत्वात् च स पूर्वं खिन्नः तदानीं तथा जातः इति भावः. यद्वा "स्मयमानमुखाः फुल्लकुसुमाः अम्बुजाः सरसवृन्दावनभूमेः जाताः वृक्षलतादयो यस्माद्" इति, पूर्वं स्वतले क्रीडाभावात् मालाकेशपाशाद्यर्थम् अनङ्गीकारात् च खिन्नाः तदानीं तथा जाताः इति भावः. यद्वा "स्मयमानमुखानि विकसितानि अम्बुजानि कुमुदानि कमलानि च यस्माद्" इति, पूर्वं शयानाद्यर्थम् अनङ्गीकाराच्च इदानीं तथा इति भावः. यद्वा "स्मयमान=मुखप्रकाशविशेषवान् अम्बुजः चन्द्रो यस्माद्" इति, सहि भगवतः तत्प्रियाणां च रसोद्दीपनार्थम् आविर्भूतः, तेन तद्विरहे रससम्बन्धि सर्वम् असमञ्जसं वीक्ष्य पूर्वम् अतथाभूतः तदानीं तथा जातः इति भावः. यद्वा "स्मयमानमुखाम्बुजाः भ्रमराः यस्माद्" इति, प्रभोः श्रीमुखमेव अम्बुजं रसात्मकं येषां ते तथा. अर्थात् तद्रसैकपातारः.

तथाच ''एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते'' इति प्रभुवाक्याद् निरन्तरं तत्सङ्गताएव ते तिष्ठन्तीति तद्विरहेण पूर्वम् अतथाभूताः तदानीं तथा जाताइति युक्तमेव इति भावः. एवम् उक्तरीत्या भगवद्विरहे यत्र रससम्बन्धिनामपि अन्यादृशत्वं जातं तत्र साक्षाद्रसानुभवकर्त्रीणां श्रीमद्व्रजरत्नप्रेयसीनां यद्-यद् जातं तत्तत् किम् आश्चर्यम् इति तात्पर्यसमुदायेन सूचितम्.

ननु तदनन्तरं तेनैव वेशेन स्थितः स्ववेशेन वा इति आशङ्क्य आह **पीताम्बरधर** इति. स्त्रीवेशसमये त्यक्तस्य पुनर्ग्रहणं **धर**पदेन उक्तम्. अन्यथा बहुव्रीहिणा तावान् अर्थः सिद्धएवेति **धर**पदं न वदेत्. यद्वा उक्तवेशसमये पीताम्बरं किं कृतम् इति आशङ्क्य क्वचिद् एकान्ते निकुञ्जे वृक्षक्रोडे वा धृतवान् इति आशयेन आह **पीताम्बरधरः** इति. यद्वा भवतीनां परिरम्भ-सम्भ्रम-समारम्भ-शोभितम् इदं वक्षो अन्या मा द्राक्षीदपीति तद्गोपनायैव तथा. यद्वा पीताम्बरस्य स्वरूपावरकत्वेन मायारूपत्वात् तस्यच बहिर्धारणोक्त्या अन्तःकापट्याभावो ध्वनितः, प्रश्नोत्तरपर्यन्तं तासाम् अन्तस् तद् अस्ति इति च. अन्यथा अग्रे ''भजतोऽनुभजन्त्येके'' इत्यादिप्रश्नं न कुर्युः. स्वस्यच तदभावं प्रश्नोत्तरे स्वयमेव वक्ष्यति ''न पारयेऽहम्'' इति वाक्येन. अन्यथा भवतीभिः अभिमानः कृतो, मयापि कृतः इति स्फुटमेव वदेत्, ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते'' इति ईश्वरस्वभावात्, नतु स्वस्य ऋणित्वम् अङ्गीकुर्याद्, अनियम्यत्वात्. तथा सति भगवतः तासु निरुपधि प्रेम, तस्यच एकरसत्वं नतु ईश्वरत्वात् कापट्यसम्भावनापि इति ज्ञापितम्. वस्तुतस्तु तासामपि न अन्तस् तत्सम्भावना, अग्रिम-रसोपयोगि-मानांशस्य स्थापितत्वात् प्रश्नकरणम्. अतएव ''ईषत्कुपिता'' इति वक्ष्यते. कोपः स्वाभाविको नतु प्रियकारितः. तथा चेत् 'कोपिता' इति वदेत्; परम्, ईश्वरे कापट्यं सम्भवतीति पीताम्बरस्य बहिर् धारणेन तदभावः उक्तः. ननु उक्तवेशग्रहणमपि तदानीमेव इति ज्ञायते, अन्यथा ''रेमे तया चात्मरतः'' इति पूर्वोक्तम् अन्यया सह रमणम् अनुपपन्नं स्यात्. अथ कथं न कापट्यम् ? इति चेत्, सत्यम्, अग्रे प्रत्येकम् आविर्भावस्य वक्ष्यमाणत्वाद् एकेन रूपेण अस्मत्स्वामिन्या सह रमणं कुर्वन्, इतरेण तथा वेशं कृत्वा तासु स्थितइति रूपद्वयोक्तेः अनुपपन्नत्वाद्, ''रेमे

तया च'' इति 'च'कारेण ताभिः सह उक्तवेशेन प्रकारान्तरीयरमणस्य उक्तत्वात् च न त्वदुक्तदूषणम् इति सर्वम् अवदातम्. यद्वा ''पीतं ताभिः ग्रस्तं, तदेकव्याप्तम् इति यावत्, तादृशम् अम्बरं हृदयावच्छिन्नम् आकाशं धरति'' इति तथा, परब्रह्मण एकरसत्वेन धर्मधर्मिणोः अभेदात् स्वरूपमिव हृदयमपि व्यापकम् इति वक्तुम् अम्बरपदोपादानम्. अन्यथा एकविषये लग्नं विषयान्तरे न गच्छतीति मनसो अनेकनायिकाव्याप्यता न स्यात्. तदपि तासां स्वविरहज-क्लेश-दर्शने यथाकथञ्चित् पुनः सञ्जिगमिषया धृतं तिष्ठतीति धरणोक्त्या व्यज्यते. ननु भगवान् अच्युतत्वात् स्त्रीरहितः कदाचिदपि न तिष्ठतीति अनुभवन्तीनां तासां मनसि लक्ष्म्या अस्मन्मध्यपातिन्या वा कयाचित् सह स्थित इति वितर्कः कथं न अभूद् इति आशङ्क्य आह स्रग्वी इति, कयाचित् सह स्थितौ तदङ्गसङ्गप्रतिबन्धकतया स्रगेव न तिष्ठति. स्थितापि विलक्षणा भवति. अतो न तथा इति भावः. किञ्च स्रजः कीर्तिरूपत्वेन तद्वत्तया गोपिकारमणसमये तदर्पितया स्रजा तत्सम्बन्धिनी कीर्तिः भवति, नतु अन्यथापि इति ज्ञापितम्. इतो हेतोरपि न तथा. अथच तासां विरहे स्वतापनिवृत्त्यर्थं तदर्पितामेव स्रजं हृदि यो बिभर्ति स कथम् अन्यथाकरोतीति भावः. अपिच यथा स्वयंवरे वरतनुः वरस्य कण्ठे स्रजम् अर्पयति तथा एताअपि प्रेमलक्षणां स्रजम् अर्पयामासुः. अतः तद्वान् कथम् अन्यथाकरोति? सापि न कण्ठमात्रे किन्तु बहिर् अन्तः चेति 'कण्ठ' पदानुक्तिः. तेन यथा एकया वृतो अन्ययापि व्रियते तदा सापत्न्यमिव न अत्र तद् इति सूचितम्. यत्र निकटम् आगतानां विप्रपत्नीनामपि तदशक्यं तत्र अन्यासां का वार्ता! इति भावः. ननु काममोहितः किं-किं न कुर्याद्! इति आशङ्क्य आह **साक्षान्मन्मथमन्मथः** इति, मन्मथोहि सर्वानेव मोहयति विषयद्वारा, नतु साक्षात् स्वयम्, अनङ्गत्वात्. भगवांस्तु प्रकटरसरूपत्वात् साक्षात् स्वयमेव तं मोहयति, कुतस्तराम् अस्य तत्कृतो मोहः इति भावः. किञ्च स्मितपीताम्बरयोः मोहकत्वेन तद्वत्त्वात् यथा-यथा यद्-यत् करोति तथा-तथा तत्-तत् सर्वम् उपपद्यतएव, ईश्वरत्वात्. अतो न अनुपपन्नं किञ्चिद् इति दिक्.

ननु ''भगवान् अलौकिकरीत्या तासां मानापनोदनार्थं बहिः तिरोभूय अन्तरे प्रकटः'' इति व्याख्यातम् आचार्यचरणैः, अतः तद्विरोधइव आभाति!

इति चेत्, न, तात्पर्यानवबोधात्. तथाहि बहिः तिरोधानपक्षेऽपि बहिः नास्ति इति न वक्तुं शक्यं, व्यापकत्वात्. तस्माद् ''आकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तम्'' इति शुकोक्तिरपि. अतः तासाम् अदर्शनमेव तिरोधानम्. तच्च माययैव वेशान्तरेणापि सम्भवतीति न उक्तविप्रतिपत्तिः. अथच फलप्रकरणेहि यथा पूर्वम् अलौकिकीषु रात्रिषु रमणम् अलौकिकरीत्या उक्तं तथा अग्रे लौकिकीषु रात्रिषु रमणं लौकिकरीत्यापि ''एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशा'' इत्यत्र निरूपयिष्यते. तस्माद् अलौकिकीनां रात्रीणां तदाधिभौतिकलौकिकीषु रात्रिषु स्थापनात् लीलानित्यत्वात् च युगपद् उभयत्र लीला सम्भवतीति एकदा प्रकारद्वयकथनम् उक्तविरोधं न अनुसरतीति सर्वम् अनवद्यम्.

प्रसीदतु मयि श्रीमत्कृष्णः प्राणप्रियोत्सवः।
येन भाति जगत् सत्यं विना येन न तत् तथा॥

इति श्रीमद्विठ्ठलेश्वरप्रभुकृतः ''तासाम् आविरभूद्'' इति
श्लोकोपरि लेखः सम्पूर्णः।



॥ श्रीहरिरायाणां स्वतन्त्रलेखाः ॥

॥ भगवानपि ता रात्री (सुबो.१०।२६।१) इत्यत्र ॥

किञ्च. सर्वात्मभावएव एतद्रसप्राप्तौ हेतुः इति ज्ञापयितुं सर्वात्मभावो अत्र पूर्वम् उच्यते. तच्च व्याख्याने स्फुटीभविष्यति. एतदभावेतु इतरसाधनवत्त्वेऽपि न एतत्प्राप्तिः इति ज्ञापयितुम् अन्तर्गृहगतकथा. हरिवचनान्यपि एतासु तद्भावप्राकट्यार्थमेव[१]. यत्र स्वरूपसङ्गविरोधि भगवद्वचनमपि न अङ्गीकृतं तत्र अन्यधर्माङ्गीकारे का शङ्का! इत्यपि ज्ञापितम्. अतएव धर्माद् धर्मी बलीयानिति ईश्वरवाक्याकरणेऽपि अदोषो अत्र. इतोऽपि हेतोः भगवदुक्तिः इति ज्ञेयम्. अन्यथा स्वामिन्यतिरिक्तेषु एतद्भावाभावाद् एतद्धृदिस्थस्य च अन्यावेद्यत्वाद् धर्मिमार्गो अप्रकटएव स्यात्. "कामभावेन आगतासु कामं पूरितवानिति किम् असाधारण्यम् अस्यां लीलायाम्" इति भ्रमनिवृत्तिरपि अतएव. यतः सर्वात्मभाववत्त्वेनैव भगवता अङ्गीकृताः, न स्त्रीत्वेन. अन्यथा भगवद्रिरंसायाः पूर्वमेव उक्तत्वाद् एतासां च तद्वत्त्वाद् मध्ये मर्यादोक्तिपूर्वक-गमनोक्तिः असम्भाविता स्यात्. तादृशयोः स्त्रीपुंसयोः विलम्बासहिष्णुत्वात् सर्वात्मभावाभावे यज्ञपत्नीवद् गमनमेव च स्यात्, सर्वत्यागपूर्वकागमनस्य अविशिष्टत्वात्. इदञ्च वाक्यविवरणे स्फुटीभविष्यति. कायिक-मानसिक-प्रपत्तौ सत्यामपि एतावत्पर्यन्तं वाचनिकी सा न आसीदिति सापि एवं सम्पन्ना. तेन "सर्वथा प्रपन्नेषु प्रसादः" इतिलक्षणः शास्त्रार्थोऽपि सम्पद्यते इति ज्ञेयम्. ननु इयं पुष्टिपुष्टिलीला उच्यते, यदि सर्वात्मभावलक्षण-साधनवत्स्वेव तद्दानं न तद्रहितेषु, तदा मर्यादैव सम्पद्यते इति चेद्, अत्र वदामः. सर्वात्मभावः साधनत्वेन न उच्यते किन्तु फलमध्यपात्येव इति. अतएव पूर्वं "मनश्चक्रे" इति उक्त्वा एतत्सर्वात्मभावो निरूपितः. अन्यथा भगवद्रिरंसोक्तेः पूर्वं तन्निरूपणं स्यात्. अतएव भगवतैव अयं भावः सम्पद्यते, न साधनैः इत्यपि ज्ञाप्यते, रिरंसाविषयेष्वेव तदुत्पत्तेः. अतएव यज्ञपत्नीषु न तदुत्पत्तिः, यतः परावृत्तिः तासाम्. ननु "आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः" इत्यादिना पूर्वमपि तन्निरूपणम् अस्त्येव! इति चेत्, सत्यम् अस्ति परन्तु तत्पूर्वमपि तद्विषयिणी रिरंसापि आसीद् इति बुध्यस्व. नच

१. अन्यथा "यत्पत्यपत्य..." इत्यादिवाक्यानुक्तौ स भावो न प्रकटीभवेद् इति भावः.

मानाभावः, "सर्वात्मभावो हेतुपूर्वकः कार्यत्वाद्" इति अनुमानेन सामान्यतो हेतुसिद्धावपि तस्य दृष्टस्य सर्वत्र साधारणत्वेन सर्वासु तदुत्पत्तिप्रसङ्गभिया वक्तुम् अशक्यत्वात्. कर्मजन्यत्वेन अदृष्टस्यापि वक्तुम् अशक्यत्वाद्. अन्यथानुपपत्त्याः अग्रे कण्ठोक्तत्वात् च हेत्वन्तरकल्पने गौरवात् च, तस्याएव तथात्वेन सिद्धेः. ननु एवं फलप्रकरणे तदुक्तिः व्यर्था! इति चेत्, न, यथा व्रतवरदानप्रस्तावे स्वामिनीषु अन्तः सर्वात्मभावं निरूप्यापि 'रंस्यथ' इति वचनाद् भविष्यत्वेन तदा फलोन्मुखत्वाभावात् सर्वात्मभावस्य गृहगमनम् आज्ञया 'अभवद्' इति उक्तम्. अत्रतु आज्ञायां सत्यामपि फलोन्मुखत्वाद् यादृशं स्वकार्यम् अस्ति तादृशं स भावः कृतवानिति न तथा उक्तम्. एवमेव रिंसायाअपि फलोन्मुखत्वाद् अधुना तादृशत्वज्ञापनार्थमेव अत्र[१] तदुक्तिः.

अत्रादौ भगवतकृतोद्यमेनैव भजनानन्दः प्राप्यो न अन्यथा इति ज्ञापयितुं तद्दानार्थं भगवदुद्यमम् आह **भगवानपि** इति. पूर्वाध्याये मर्यादामार्गीयैकादशीव्रतसम्बन्धि-रात्रिप्रसङ्गज-भगवदैश्वर्यदर्शनादिना भक्तानां भगवतः परमोत्कर्षदिदृक्षा आसीद् इति उक्तं, साधनप्रकरणत्वात्. इहतु पुष्टिमार्गीयव्रतसम्बन्धि-रात्रिदर्शनेन भगवतोऽपि रिंसा जाता इति अपिशब्देन उच्यते. भक्तानाम् अयंहि परमोत्कर्षो यत् पुरुषोत्तमेन समं रमणं, साम्यभावेन[२] तथाकृतिः, स्वस्मिन् आधिक्यज्ञानेनापि कदाचित् कृतिः तदनुसारेणैव भगवत्कृतिरपि इति. नहि ईश्वरेण समं भक्तैः साम्यं कर्तुं शक्यम्. पूर्णालौकिकवीर्यवता समं च न पराक्रमः कर्तुं शक्यः, अल्पवीर्यवत्त्वेन तस्य स्वानिष्टहेतुत्वात्. नामकीर्तनस्मरणादिमात्रेण दैहिकधर्मनिवर्तकत्वादिरूपय-शस्वता समं साक्षात्कृतसम्बन्धेऽपि उत्तरोत्तरं रसाधिक्यप्रकटनं च अशक्यम्. सर्वगुणरूपश्रीमता समं तद्विस्मारणपूर्वकं रमणं च अशक्यम्. ततो न्यूनगुणत्वे तद्विस्मारकत्वासम्भवात्. लोकेच तदधिकगुणस्यैव असम्भवात्. पूर्णसर्वरसज्ञान-वता अतथाभूतस्य रमणं च तथा, रसाभासहेतुत्वात्. पूर्णवैराग्यवति विषयत्वेन स्वरागजनकत्वं च अशक्यम्, अतो भक्ताः कथम् इदं सम्पादयिष्यन्तीति एतल्लक्षणपरमोत्कर्षं भक्तानां द्रष्टुं मनः कृतवान् इति **'भगवच्'**छब्देन उच्यते. यथा पूर्वं भगवता व्यापिवैकुण्ठैश्वर्यप्रदर्शनेन तन्मनोरथः

१. भवदुक्तेः इति पाठः. २. सामान्येन इति पाठः.

साधितः तथा पूर्वोक्तं सर्वं भक्तैः सम्पत्स्यतइति परमोत्कर्षदर्शनमपि सेत्स्यति. अतएव "न पारयेहम्" इति प्रियवचनम्. अपरञ्च, द्वितीयस्य असामर्थ्यं दृष्ट्वा दयया पूर्णः स्वसामर्थ्यं यथा महान् न प्रकटीकरोति तथा अत्रापि हरिणा कृतं भविष्यति इति आशङ्क्य पूर्णतत्प्राकट्यस्य का वार्ता यत्र अन्यसहायमपि प्रकटीकृतवान् इति आह **योगमायाम्** इति. अत्र 'योगमाया' इति उपलक्षणं, तेन अन्याअपि सर्वाः पूर्णाः शक्तयः प्रकटीकृताः एतदर्थे इति उक्तं भवति. **भगवानपि** (इति!), "भगवानपि[१] विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्" इत्यादिना पूर्वं भक्तार्थं सा आज्ञप्तेति, भक्त[२]पक्षपातिनीत्वेन तदनुगुणमेव करिष्यतीति न(एवम्!) आशङ्कनीयं, यतः ताम् आश्रितः. नहि आश्रितपक्षपातः त्यक्तुं शक्यः, सुतरां स्वस्वामिनः तथात्वे. भक्तपक्षपातं दूरीकृत्य स्वानुगुणत्वं न अभिप्रेतं भगवतः. तथा सति पूर्ववत् 'समादिशद्' इत्येव उक्तं स्यात् किन्तु तत्पक्षपातम् अनपहायैव मत्कार्यानुगुणा भवतु इति ज्ञापनाय **आश्रितपदम्**. अतएव योगमायैव उक्ता, मुख्यत्वाद् अस्याः कैमुतिकन्यायेनैव अन्यासाम् एतत्कार्यानुगुणत्वसिद्धेः. एवञ्च सति भक्तिमार्गप्राबल्यमेव निरूपितं भवति. भगवता तादृशएव मार्गो अयं कृतइति न शङ्का काचित्. एतादृशत्वाभावे भक्तिमार्गत्वाभावएव इति सारम्. यथा पूर्वं सङ्कल्पसमानाधिकरणं फलं तथा अत्रापीति आत्मनेपदेन कर्तृगामिक्रियाफल-बोधकेन उच्यते. अतएव 'अरीरमद्'-'रेमे'-'स्वयम्' इत्यादिना भगवतः स्वातन्त्र्यम् उच्यते रमणे. यत्रापि नायिकाधीनत्वोक्तिः तत्र अधिकः प्रिये रसः इति तथात्वं न क्षतम्. यथा गोवर्द्धनोद्धरणादिना पूर्वम् उत्कर्षज्ञानस्नेह-भगवद्दर्शनवत्त्वेऽपि अतीन्द्रियैश्वर्यादिमद्-वरुणदास्यदर्शनादिना औत्सुक्यविशेषः तथा अत्रापि पूर्वमपि सर्वज्ञत्वेन रात्रिदर्शनवत्त्वेऽपि उद्दीपनविभावयुक्तानां तासां दर्शनम् उक्तरूपम् इति ज्ञापनाय रात्रिविशेषणम्. ननु रात्रिवद् विशेषणस्यापि नित्यत्वाद् अधुना को विशेषः इति चेद्!, अत्र इदं प्रतिभाति — सर्वासां लीलानां नित्यत्वेऽपि यथा पौर्वापर्यम् उच्यते तथा आविर्भावतः, तथा विशेषणविशिष्टानां तासाम् अधुनैव आविर्भावतः तथा इति. एतेनापि फलप्रकरणे तदुक्तिः व्यर्था इति शङ्का निरस्ता ज्ञेया, विशिष्टानां तासां पूर्वम् अनाविर्भावाद्, उक्तरीत्या शङ्कायाएव असम्भवश्च.

१. भगवानपि इति द्वितीयवारं नास्ति. २. भक्ति...इति पाठः.

यद्वा. स्वरूपात्मकं भजनानन्दं पूर्णं दातुं भगवतः इच्छां निरूपयन् तत्सामग्र्युत्कर्षमपि आह भगवानपि इति. उत्कृष्टस्यहि न अपकृष्टे मनो भवति. तत्र सर्वेश्वरस्य न काचिद् न्यूनता अस्ति येन आधुनिकं किञ्चिद् दृष्ट्वा सज्जेत. तत्रापि अलौकिकवीर्यवतो अन्याधीनत्वम् असम्भवि, निरवद्यलीलावत्त्वेनहि यशस्वत्त्वम्. एतच्च खण्डितादिभावहेतुत्वेन अतथाभूतं लोकइति न कर्तुं योग्यम्. तद्वतः सदा श्रीमत्त्वेन तस्याः च सर्वोत्कृष्टत्वेन अन्यत्र रमणेच्छापि असम्भाविता. ज्ञानवत्त्वेन स्वात्मत्वेनैव सर्वं जानातीति दूरतरो अयं तत्र रसः. वैराग्यवतः तथात्वं स्पष्टम्. यद्यपि एवंभूतः स्वयं तथापि स्वामिनीसम्बन्धिनी रात्रीः दृष्ट्वा तथा चक्रे इति अर्थः. तेन स्वरूपविस्मारकत्वम् उक्तं भवति. यत्र उक्तरूपस्य भगवतोऽपि रम्योद्दीपिकाः एताः तत्र इतो अधिकः कः उत्कर्षो वाच्यः! यत्सम्बन्धित्वेन रात्रीणाम् एवंरूपत्वं तत्र तासां रसोद्दीपकत्वं किं वाच्यम् इति भावः. एतासां सर्वात्मभाववन्मात्र-रमणार्थमेव सृष्टौ आविर्भावाद् वरदानेन फलोन्मुखीकरणात्[१] स्वामिनीसम्बन्धित्वेन[२] भगवद्रमणस्य रात्रिस्वरूपमध्यपातित्वात् ताः इति पदेन उक्तधर्मवत्त्वपरामर्शात्. स्वरूपतः उत्कर्षम् उक्त्वा सम्बन्धिपदार्थतोऽपि उत्कर्षम् आह शरद... इति. रमणंहि जलस्थलभेदेन द्विविधम्. आद्ये शीतं जलकालुष्यं च बाधकं, द्वितीये च औष्ण्यम्. शरदि तदुभयाभावः. उपरि नैर्मल्यज-गगनशोभा, पङ्काद्यभावज-भूशोभा, पङ्कजत्रिगुणानिलशोभा च भवतीति रसानुगुणत्वं 'शरत्'पदेन उक्तम्. लतादिसत्त्वाधीनत्वेन पुष्पशोभायाः कादाचित्कत्वम् आशङ्क्य रसोद्दीपकत्वेन सैव निरूपिता. ऋतुहेतुकानां तेषां सौगन्ध्यरूप-विशेषवत्त्वेन उद्दीपकत्वविशेषः इति तथा उक्तम्. इदन्तु उपलक्षणम्. रूपगन्धशब्दैः[३] शय्यामालाशोभाः[४] अनेकधा पुष्पाणां रसोद्दीपकत्वं प्रसिद्धमिति तानि उक्तानि. शृंगाररसैकप्रधान-वसन्तर्तुसम्बन्धिमल्लिकोक्त्या रसोद्दीपिका यावती सामग्री सर्वा तावत्येव च शरदा सम्पादिता इति ज्ञाप्यते. मधुरत्वे सति उद्भटामोदवत्त्वेन गुप्तागुप्तरसोद्दीपिका मल्लिकेति सैव उक्ता. स्वीयत्वाभावात् तथा उत्कृष्टता न भविष्यति इति आशङ्काभावाय तद्वाची उद् इति उपसर्गः उक्तः. स्त्रीणामेव अत्र प्रमोदः प्रवेशः च इति ज्ञापनाय स्त्रीलिङ्गस्यैव प्रयोगो न 'पुष्प'पददानम्, उत्फुल्लत्वोक्तिः च. रात्रिविशेषणत्वेनैव

१. -करण इति पाठः. २. -त्वेन इति नास्ति अन्यादर्शे. ३. पुष्पामोदमत्तभ्रमरशब्दो रसोद्बोधकः. ४. शोभा इति नास्ति अन्यादर्शे.

उक्त्या पुष्पवतीत्वं धर्मो रात्रिषु लक्ष्यते. अतएववर्णनप्रस्तावे गवादिपुष्पधर्महेतुत्वं शरदो निरूपितम्. तथा सति तादृशीनां तासां दर्शनेन भगवतो भावोत्पत्तिः युक्तैव इति भावः. अन्यथा इन्दुवत् पुष्पाण्यपि स्वतन्त्रतया उक्तानि स्युः. यथा एतद्धर्मवती स्त्री स्वतो अनुरक्ता भवति तथैव सम्पादयति च यथा प्रियः स्वस्मिन् अनुरक्तो भवति, तथा एताअपि इति ज्ञाप्यते. एतासामपि देवतारूपत्वेन सर्वम् उपपद्यते, सर्वासाम् एकदा दर्शनात्[१]. अतएव नित्यत्वमपि ज्ञेयम्. पूर्वं हेमन्तर्तौ रात्रिमात्रोक्त्या अत्रच शरदुक्त्या[२] तासु[३] शरदो नित्यत्वं ज्ञाप्यते. तेन अत्र सदा शारदीत्वं सिध्यति. एवं सति हेमन्तेऽपि दर्शनेनापि तन्नित्यत्वम् आयाति. एकदा दर्शनेऽपि क्रमेणैव तासु रमणं ज्ञेयम्, "रजन्येषा" इति भगवद्वचनात्. यद्यपि सदैव इदमित्थतया भगवत्स्वरूपं न ज्ञातुं शक्यं तथापि यादृशं स्वरूपसौन्दर्यम् ऐश्वर्यादिकं वा अधुना प्रकटितवान् तादृशं तद् दृष्टमपि न ज्ञातुं शक्यं ममापि, किं पुनः अदृष्टाश्रुतपूर्वम् इति ज्ञापनाय स्वज्ञानाविषयत्वेन इदानीन्तनं स्वरूपं स्वस्य परोक्षमिव इति ज्ञापयितुं 'लिट्'प्रयोगं कृतवान्. प्रत्यक्षविषयस्यैव अपरोक्षत्वेन तद्विपरीतस्यैव परोक्षत्वं वक्तुम् उचितम्. अतएव "न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव" इत्यादिश्रुतिष्वपि तथा प्रयोगः. रिंसाविशिष्टस्य मनसः करणं ज्ञेयम्. विविधभाववैशिष्ट्यं मनसएवेति रमणे मनएव प्रधानम्. अत्र 'इच्छां चक्रे' इति अनुक्त्वा मनःकरणोक्त्या च आधुनिकी सर्वा सामग्री न पूर्वतनसदृशी किन्तु इदम्प्रथमतया सर्वविलक्षणा कृता इति ज्ञाप्यते. तेन रमणेऽपि तथात्वं सिध्यति. पूर्णशृङ्गाररसभोक्तुः मध्यस्थसख्यभावे विविधभावविशिष्टनायिकानां भोगो रसमर्यादया न सम्भवतीति ताम् आह **योगमायाम्** इति. गाढमानवतीमपि चाटुवचनैः सर्वं विस्मारयित्वा समानेतुं शक्तेति योगार्थमेव या माया व्यामोहिका, नतु प्रपञ्चव्यामोहहेतुः, ताम् आश्रितः इति अर्थः. अयं रसः एतादृशएवेति सर्वम् उपपद्यते. यद्यपि स्वरूपेणैव वशीकृताः सन्ति तथापि उक्तदशादिषु तस्याः उपयोगः इति कादाचित्कत्वज्ञापनाय उपसर्गः. यद्वा पुष्टिप्रकरणे तदनुसारेणैव सर्वं व्याख्येयम्. तथाहि – विरुद्धधर्माश्रयत्वंहि श्रुतिसिद्धम्. तथाच मर्यादामार्गीय-'भग'शब्दार्थवत्त्वं पूर्वम् उक्तमेव लीलायाम् इति प्रकरणात्

१. देवतारूपत्वे हेतुः. २. शरदुक्त्या. ३. तत्पदेन पूर्वोक्तधर्मान् परामृश्य शारदीत्वबोधनात् न हैमनीत्वभ्रमः.

पुष्टिमार्गीय-'भग'शब्दार्थवान् अपि रन्तुं मनश्चक्रे इति समुच्चयार्थो अपिशब्दः. कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थोहि ईश्वरः. नहि अन्यो जानन्नेव अजानन् भवति पूर्णकामो अपूर्णकामो वा इत्यादि. तेन इदम् अचिन्त्यम् ऐश्वर्यं यद् रसशास्त्रोक्तरीत्या रमणं पूर्णब्रह्मत्वं च. संयोगे एकैकेक्षण-वेणुवादन-भाषणादि-रसाब्धौ निमग्नानां ततः पृथक्करणं, ततः पूर्वोक्तद्वितीयतृतीयाब्धिषु मज्जनं च न अन्यशक्यम् अतो अलौकिकं वीर्यं भगवतो येन तथा करोति. अन्यथा एकस्यामेव लीलायां लीनानां द्वितीया सा अननुभूतैव तिष्ठेत्. विप्रयोगे च पूर्वदत्तरसस्य स्वान्तःस्थत्वेन तद्वीर्यवशाद् जीवनं सम्पद्यते. अन्यथा तस्य सर्वाधिकबलवत्त्वात् सर्वोपमर्दित्वेन क्षणमपि स्थितिः न भवेत्. आर्तानाम् आर्तिनिराकरणे नादेयस्वामृतरसदानेन च यशस्वित्वम्. भूषणभूषणाङ्गस्यापि "व्यरोचताधिकं तात" इत्यादिवाक्योक्तेः तथात्वं श्रीमत्त्वम्. प्रियाविप्रयोगे सखीवचनैः प्रबोधाद् ज्ञानवत्त्वम्. प्रियासु च अस्याम् अवस्थायाम् एवं कृतम् एवं भविष्यति इति ज्ञात्वा तथा करोतीति च तथा. एतदतिरिक्ते रागाभावाद् वैराग्यवत्त्वम्. योगपदेन कर्मयोग-ज्ञानयोग-विहितभक्तियोगाः उच्यन्ते. मायापदेन व्यामोहनस्वभावा शक्तिः उच्यते. तथाच पूर्वोक्तैः पूर्वोक्तेषु वा सर्वमोहिका तथा इति अर्थः.

इह अयम् अभिसन्धिः–श्रीगोकुलनाथस्यैव हि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वम्, अन्येषां तत्सम्बन्धात् तथात्वम् इति "एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति" इत्यादिश्रुतिभिः "नूनं दैवेन निहता ये चाच्युतकथासुधां हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः" इत्यादिभिः अन्यविषयकश्रवणादिनिन्दापूर्वकं हरिविषयकतत्स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वोक्त्या कैमुतिकन्यायेनापि अवगम्यते. एवं सति आद्ययोः पुरुषोत्तमाविषयत्वात् तन्निन्दावाक्यैः च तन्मार्गीयाणां मोहो अवगम्यते. तृतीये साक्षाद् हरिसङ्गं विनापि श्रवणादिभिरेव स्वास्थ्यात् स्वकृतार्थताभिमानात् च तथा इति गम्यते. तादृशानामपि एवंरूपो मोहो अन्तरङ्गशक्तेरेव शक्यो न अन्यस्याः. "विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेमुया" इत्यादिवाक्यैः शक्तीनां तत्तत्कार्यकरणे दासीवद् व्यापारत्वमेव, नतु प्रभुः तत्सङ्गतो भवति. तथा सति पूर्वस्वभावहानिप्रसङ्गः[१] स्यात्, भगवत्सङ्गमस्य तादृक्स्वभावत्वात्[२]. अधुनाच पुष्टिमार्गीयो धर्ममार्गः प्रकटनीयः. सच तदमोहनेन

१. शक्तेर्मोहकत्वं गच्छेत्. २. भगवत्सङ्गमस्य मोहकत्वनिवर्तकत्वात्.

भवतीति तत्स्वभावनिवृत्त्यर्थं[1] तत्सङ्गतो जातः. अतएव स्वामिनीनाम् एवंभावः. सर्वथा पूर्वस्वभावनिवृत्त्यभिप्रायेण तथाकरणे सर्वेषां तथात्वं स्यादिति तदभावाय साक्षाद् अनुगृहीतेष्वेव तथात्वाभिप्रायेण सङ्गतः इति ज्ञापनाय उपसर्गः. सङ्गमे वाच्ये यदाश्रितत्वकथनं तस्यायं भावः — भगवतोहि अयं मार्गः सर्वथा गोपनीयएव. लोके न क्वचिदपि अस्य प्राकट्यम् एतदतिरिक्तेषु भगवदभिमतम्. आश्रितोहि आश्रयधर्मप्राधान्येन तिष्ठति. आश्रयरूपायाः तस्याः उक्तरीत्या सर्वामोहनत्वधर्मवत्त्वेन तदनुरोधमपि सहतइति उक्ततात्पर्यकोपसर्गात् स्वप्रियास्वेव तत्प्राकट्यकरणं नान्येषु. आश्रयानुरोधाद् आधुनिकेष्वपि कतिपयेषु भाग्यवत्सु तथात्वम् इति ज्ञापितं भवति. यद्वा मनसां चक्रं मनश्चक्रं, मनःसमूहम् इति यावत्. तत्र रन्तुं योगमायाम् उपाश्रितो जातः इति योजना. अत्र अयं भावो — नायिकाभेदेन भाववैलक्षण्याद् नैकविधं सर्वासां मनइति यत्र यथाकृते मनोनुरञ्जनं भवति तत्र तथा सम्पादनेन स्वासक्तिसाधिका सेति ताम् आश्रितो जातो, नतु स्वैश्वर्यबलेन तथा कृतवानिति, तथा सति रसस्वरूपहानिः इति भावः. अतएव लीलाप्रारम्भे ईश्वरभावेन लीलां कृतवानिति "योगमायां समादिशद्" इति उक्तम्. इहतु तदाश्रयणं, तेन अन्तरङ्गत्वं तस्याः ज्ञाप्यते. अतएव 'समूह'वाचिपदान्तरसत्त्वेऽपि चक्रपदोपादानम्. यतः चक्रं न समगति किन्तु परिभ्रमणशीलम्. तेन अत्रापि तथात्वं ज्ञाप्यते. अतएव पूर्वं तथा प्रपन्नाअपि अग्रे मानवत्यो जाताः. अथवा चक्रं मण्डलाकारं भवतीति चक्रपदेन मण्डलं व्यज्यते. तेन रासमण्डले रन्तुम्[2] इति ज्ञापकं चक्रपदं ज्ञेयम्. अत्र योगमायाश्रितत्वोक्तेः इदमपि आकूतं — पूर्वहि भगवत्त्वेन प्रादुर्भावं विनापि तद्भयनिवर्तनसमर्थोऽपि विश्वात्मत्वेन विश्वस्य सर्वस्य उद्धारकत्वात् प्राकट्यं विना तदसम्भवाद् भक्तदुःखनिवृत्तिमपि लीलामृतदानेन करिष्यन् तत्सर्वसम्पादनाय विलम्बासहिष्णुः तां समादिशद् इति "भगवानपि विश्वात्मा" इति श्लोके निरूपितम्. इहतु रसरीतिम् अनुसृत्य लीलां करोतीति आलम्बनविभावसम्बन्धिनीनां तत्रापि उद्दीपनविभावयुक्तानां तासां दर्शनेन उद्दीप्तभाववत्त्वेन विलम्बासहिष्णुः भगवान् तथोति गर्भवद् गुप्ततया तदानयनं, रतियोग्यस्थानसज्जीकरणं, तत्कृत्वा पूर्वस्माद् वैलक्षण्यज्ञानाभावाय पूर्वं तत्र स्वयं स्थित्वा, भगवदागमनमपि सम्पाद्य, तद्रोपनार्थं स्वयं बहिरागत्य अन्येषां स्वानुभावेन वाचा च व्यामोहनम्,

१. विलज्जमानतानिवृत्त्यर्थम् इति अर्थः. २. मनो रन्तुम् इति अर्थः.

ततो अखिलभक्तदुःखदूरीकरणम्. भक्तेषु भगवत्सङ्गमज्ञापकज्ञानेऽपि गृहे तद्विचाराभावः, स्वामिनीवृन्दे तत्समानयनेन भगवत्सन्तोषश्च इति एतत्सर्वकरणं पूर्वसदृशं[१] ज्ञाप्यते. आज्ञायान्तु तावन्मात्रकरणं आग्रयेण च सर्वं तदधीनमेव इत्यपि. तेन प्रभोः व्यासङ्गाभावेन पूर्णरसता बोधिता भवति. अतएव अन्तेऽपि एतस्याः परामर्शः कृतो "मोहितास्तस्य मायया" इति. एवंकरणे "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति स्वप्रतिज्ञैव हेतुः, यतः एताः वैदिक-लौकिक-मर्यादां हित्वा प्रपन्नाः, "नात्मागाराणि सस्मरुः" इति वाक्यात्; प्रातर् दर्शनावश्यंभावसद्भावेऽपि क्षणमात्रविलम्बासहिष्णुतया वने विचयनेन च अनिर्वचनीयभावाः अतिक्रान्तस्त्रीस्वभावाः च. एतत् सर्वं हेत्वन्तर्गर्भेण ताः इति विशेषणेन ज्ञाप्यते इति शास्त्रविदः. प्रभौ यथा यावद् उच्यते तत् सर्वम् उपपद्यतएव[२] परन्तु "रसो वै स" इत्यादिश्रुतेः तद्रूपस्य तस्य तथात्वमेवेति युक्तैव तथोक्तिः, अन्यथा ब्रह्मत्वमेव न स्याद् इति विचारकाणां हृदयम्. नच पूर्वम् अतथाभूतस्य विभावादिभिः तथात्वमिति अस्वरसमिति तादृक्स्वभावोक्तेः सकाशाद् उक्तरीतिमत्त्वं साधीय इति वाच्यम्, एवंभावस्य रसस्वरूपान्तर्भावेनैव प्राप्तेः, एतादृशस्यैव तस्य नित्यत्वात्. यद्वा, रात्रीणाम् उक्तन्यायेन स्वतो धर्मतः च रसोद्दीपकत्वात् तद्दर्शनेन तथात्वेन प्रियाप्राप्तिं विना मनः स्थिरं न जातमिति तासां च परिजन-जनित-निरोधसम्भवेन अधुना अग्रेच अनागमनशङ्काभावाय यथा तान् व्यामोहयित्वा ताः समानयति, तदन्वेषणपराणां च अनेन यथा न आगमनं भवति, तथा सम्पादनसमर्था योगमायेति स्वयम् ऐश्वर्यवीर्यलक्ष्म्यादिगुणवानपि ता रात्रीः वीक्ष्य रन्तुं मनः चक्रे इति योगमायाम्[३] उपाश्रितो जात इति आह भगवानपि इति. स्वामिनीनां पूर्वमेव रन्तुं मन आसीत्, तेन प्रभुप्राप्त्यर्थं कात्यायिनीम् आश्रिता जाताः. अधुनातु ता रात्रीः वीक्ष्य भगवानपि रन्तुं मनः चक्रे, इति योगमायाम् आश्रितो जातः तत्प्राप्त्यर्थमिति वा समुच्चयार्थो अपिशब्दः. नायकस्य उद्दीपकविभाववशात् सामान्यतो रिरंसोत्पत्तिः चेत् तदा नायिकाविशेषास्फूर्त्या यथाकथञ्चिद् रमणमात्रेण तत्पूर्तिः स्यात्. तथा सति उत्तमनायकत्वं प्रभौ स्वामिनीनां च असाधारण्येन यो रसविशेषः तदनुभवः च न स्याद् इति तदभावाय उद्दीपनविभावत्वेन वक्ष्यमाणा रात्रयो

१. विलम्बनिवारककार्यसङ्ग्राम् इति अर्थः. २. एव इति नास्ति एकस्मिन् आदर्शे.
३. ताम् इति पाठः.

नायिका-विशेषमात्र-विषयक-भावोद्दीपिका-एव, नतु सामान्यत इति ज्ञापनाय **ताः** इति विशेषणम्. *यथा-यथा* मनसि भगवदतिरिक्तानारोहः तथा-तथा उत्तमाधिकारः, तदनुसारेणैव प्राकट्यातिशयोऽपि. स्वामिनीनान्तु सर्वात्मभावव-त्त्वेन परमकाष्ठापन्नोत्तमाधिकारवत्त्वात् तदर्थं मूलभूतं यद् "रसो वै स" इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यं रूपम्, तत्प्राकट्यमेव जातमिति ज्ञाप्यते. एवं सति यादृशा धर्मा अत्र उच्यन्ते तादृशधर्मवदेव पुरुषोत्तमस्वरूपमिति मन्तव्यम्. [१](तथाच **वीक्ष्य मनः चक्रे** इति कथनाद् ईक्षणस्य मनश्चक्रीभावे हेतुत्वम् अवगम्यते. सर्वज्ञत्वेन सदा सर्वविषयकापरोक्षज्ञानवत्त्वेऽपि एतत्कार्याभावाद् अधुना कश्चिद् विशेषो वाच्यः ईक्षणे. सच रसरीत्या नायकभावपूर्वकत्वमेव, अयमेव विउपसर्गेण उच्यते. अनेवंभावे विभावादीनां भावोत्पादकत्वादर्शनात् तथा मन्तव्यमिति दिक्. यद्यपि वरदानकालेऽपि "मयेमा रंस्यथ क्षपा"इति वाक्यात् तद्भाववतएव तद्दर्शनम् आयाति तथापि वरदानम् ईश्वरभावेनैवेति न तदा नायकभावः शङ्कनीयः, 'रंस्यथ' इति प्रयोगात् च. वरदेयपदार्थत्वेन परं तदुद्देशः). एवं भगवति भावोत्पत्तिम् उक्त्वा उक्तन्यायेन मनःप्रभृति सर्वम् अपूर्वमिति रसस्वाभाव्यात् स्वयं सखीम् आश्रितइति पारतन्त्र्यमिव अङ्गीकृतवानिति अग्रिमकार्ये शैथिल्यं माभूदिति उद्भटभावात्मकपोषणेन स्वतन्त्रतयापि अग्रिमकार्योपयोगि-सर्वकरणसामर्थ्यजनकत्वेन तदधिष्ठातृदेवइव इन्दुः तदा उदितो जात इति आह **तदोडुराजः** इति. अतएव अग्रे "दृष्ट्वा जगौ" इति वक्ष्यते. अत्र इदं प्रतिभाति– न अत्र चन्द्रोदयमात्रं वाच्यम्, अग्रिमदर्शनोक्त्यैव तत्प्राप्तेः तत्रोक्तधर्मैरेव उद्दीपकत्वादेरपि प्राप्तेः एतच्छ्लोकवैयर्थ्यापातात्; किन्तु, चन्द्रोदयव्याजेन अत्रत्यसर्वसामग्रीस्वरूपं निरूप्यते. अतः आह **तदा** इति. न अयं ज्योतिश्चक्रभ्रमिवशाद् उदितः किन्तु यदैव रन्तुं मनः प्रकटं कृतवान् तत्रापि शरत्पदात् प्रकाशवति देशे काले च रन्तुम्, अभिसारिकारमणेच्छायान्तु न उदीयादेव, तथाच तदेकसम्बन्धित्वाद् अयम् इन्दुः तदैव उदगात्. तेन न अयं भचक्रगो, मनःप्रादुर्भावाग्रिम-क्षणनियतोदय-वत्त्वात्, निर्दोषपूर्णगुण-भगवन्मनः-सम्बन्धित्वात् च सदा स पूर्णो निःकलङ्को अस्तमयरहितः क्रीडोपरतौ

१. ( ) चिह्नान्तर्गताः फक्किकाः अन्यपुस्तके ४९६तमे दशमपंक्तौ "भगवद्वचनाद्" इत्यनन्तरं दृश्यन्ते, न अत्र, तथापि प्राचीनतमादर्शे एताः अत्रैव दृष्टाइति अस्माभिः अत्रैव निवेशिताः इति. पूर्वापरसम्बन्धविचारतोऽपि एतासाम् अत्रैव निवेशनं युक्तमिति प्रतिभाति.

तिरोभाववान् इति ज्ञेयम्. अतएव एतत्प्रकाशाभाववतो वनाद् निवृत्तिं वक्ष्यति, तदभाववतो लीलानुपयोगित्वात्. एवं सति स्वामिनीमनांस्येव अत्र उडुरूपाणीति तदनुरञ्जकत्वात् तद्राजः. एतेन स्वामिनीनां मनांस्यपि न लौकिकानि इति ज्ञापितम्. अतएव 'इन्द्रादि'नामानि विहाय इदम् उक्तम्. तत्रापि 'उडुप' पदं त्यक्त्वा एतन्मनोनियामकत्वमपि अस्यैव इति ज्ञापनाय तद्राजपदम्. प्रियसङ्गमनिश्चये सत्येव चन्द्रः सुखदइति तद्रिंसायां तदावश्यकत्वात् तथेति तदा पूर्वोक्तोडूनां सुखदो यः स तथा इत्यपि ध्वनिः. तदा तास्वेव रात्रिषु यानि उडूनीव उडूनि स्फुरद्रूपाणि, अन्यदातु अप्रकाशमानानीव तेषामेव तथा इत्यपि ज्ञेयम्. यद्वा, अस्मिन् रसे नायिकाप्राधान्याद् भक्त्यतिशयवत्त्वेनापि तदधीनं भगवन्मनइति तत्सम्बन्धिचन्द्रस्य सुतरां तथात्वम्, यतः तन्मनस्तोषार्थमेव अस्य उदयः स्थितिः गतिः चेति, प्रवर्तकनिवर्तकत्वेऽपि तन्मनसामेव आयाति. तथाच उक्तरीत्या तदा उडवो राजानो यस्य स तथा इति अर्थः. छान्दसो अत्र 'टच्'. वस्तुतस्तु "व्यरोचतैणाङ्कइवोडुभिर्वृत" इत्यत्र उडुसादृश्यं वक्ष्यतीति 'उडु'शब्देन पूर्वोक्तरीत्या तदा 'उडु'शब्देन वा स्वामिन्यएव उच्यन्ते. तथाच रसमर्यादाम् अनतिक्रामन् रसं ददातीति चन्द्रैकसाध्यम् उच्यमानं कार्यं कुर्वन् उक्ततद्राजः स्वयमेव इन्दुरूप उदगाद् इति अर्थः. अतएव अस्य अस्मिन् समये स्थितिः लीलादर्शनं च उपपद्यते. एवमेव अत्रत्यं सर्वम् इति दिक्. स्थितस्यैव प्राकट्यंहि उदयः. तथाच मनसः करणम् उक्तेन्दौ एतन्निरूपणेन भगवद्रमणसामग्री सर्वा नित्यत्वेन सिद्धैव अस्ति, न कारणम् अपेक्षते, किन्तु तदिच्छामात्रम्. तेन तत्प्राकट्ये स्वयमेव सर्वतः प्रकटा भवति इति ज्ञाप्यते. मनःकरणं यथा तथा पूर्वम् उक्तम्. प्राच्या ककुभो मुखमिव मुखं प्रसन्नत्वेन रसोद्दीपकं मध्यभागम् इति यावत्. तत्स्वकरैः किरणैः अरुणेन गुणेन विशेषेण लिम्पन्निति चन्द्रकृत्युक्त्या यत्र रागरहितायामपि तत्सम्पादकः तत्र किं वाच्यं तद्वतीषु इति कैमुतिकन्यायः सूचितः. लेपनोक्त्या स्नेहस्य सान्द्रत्वं सूच्यते. तत्त्वंच सर्वाधिकत्वम्. अन्यानपनोद्यत्वं विशेषः. यथा पुरुषान्तरकृत-स्वप्रियाविषयक-स्पर्शादिदर्शनस्य उद्भटभावोद्बोधकत्वं तथा आधुनिकदिग्दर्शनस्यापि इति वक्तुम् एतावद् उक्तम्. अन्यथा "प्राचीम् अरुणां कुर्वन्" इत्येतावदेव वदेत्, न वदेदेव वा, उदयस्वाभाव्यादेव तत्प्राप्तेः. एवं सति पूर्वोक्तन्यायेन चन्द्रोदयोक्तिवद् इयमपि इति ज्ञायते. तथाच यथा भगवन्मनःसम्बन्धित्वं चन्द्रेण लौकिकत्वं तथा

तच्छोत्रसम्बन्धित्वं प्राच्या इति ज्ञायते, उक्तश्रुतार्थापत्तेः. अतएव अग्रे चन्द्रकिरणस्थानीयैः स्वामिनीवचनशुश्रूषया रचितवचनहेतुकैः तदुत्तरैः तद्भावात्मकतद्वचनरूपैः प्रियस्य श्रवणानन्दो वक्ष्यते.

॥ तदोडुराजः (सुबो.१०।२६।२) इत्यत्र ॥

पूर्णएव स इत्यादि, अत्र अयं भावः : अत्रत्या अखिलसामग्री रसात्मिका रसलीलामात्रोपयोगिनी रसात्मकेन अनेनैव रूपेण प्रकटिता, न साधारणजगत्कारणरूपेण इति बोधयितुं मनआरभ्य चन्द्रान्तानां सर्वेषामेव रसोद्दीपकपदार्थानाम् अधुनैव अपूर्वप्रादुर्भावः उच्यते. तत्र 'स्थालीपुलाक'न्यायेन चन्द्रस्वरूपम् आहुः **पूर्णएव स** इत्यादिना, अस्य अयम् अर्थो : भगवता पूर्वं मनः सर्वविषयकं सद् अपूर्णमपि अधुना पूर्णमेव प्रकटितं, केवलस्वामिनीमात्रविषयकत्वाद् अंशतोऽपि अन्यत्र अभावात्. अतएव "नाहं तेभ्यो मनागपि" इत्यादिवाक्यानि. ततः चन्द्रोऽपि रेतोरूपत्वात् तच्छक्त्याधायकत्वात् तदधिष्ठानात् तादृशएव केवलैतन्मात्रोपयोगी प्रकटो जातः. न कदापि अन्यविषयको भवतीति **एवकारः**. लौकिकस्तु विधुः आधिभौतिको विराड्रूपभगवन्मनोरूपोऽपि सर्वविषयकत्वाद् न तथेति ततो वैलक्षण्यम्. वैलक्षण्यान्तरम् आहुः **निष्कलङ्कः** इति. यथा लौकिकविधुः व्यभिचाराद् दक्षशापजन्याखिल-लोकापकीर्ति-कारण-कलङ्कयुक्तः तथा रसिकजन-निरूपणीय-रसासक्तिविरह-जन्यापकीर्ति-युतत्वाभावाद् अयं न तथा. अन्यदपि वैलक्षण्यम् आहुः आविर्भावतिरोभाव-हेतुवैलक्षण्याभ्यां **मनस्येव** इति. यथा भौतिकस्य इन्दोः कालाधीनाविर्भावः, स्वकालएव तस्य उदयात्, न तथा अस्य, भगवन्मनोमात्रोदयहेतुकोदयवत्त्वाद्[१] इति अर्थः. एतेन लीलासामग्रीमात्रएव इयं व्यवस्था इति निरूपितम्. अतएव नित्यत्वमपि. लीलासामग्री न कालत्रयसत्तारूपे(पा!) कालातीतत्वात्[२], किन्तु स्वरूपएव विद्यमानत्वेन स्वरूपनित्यत्ववदेव इति ज्ञेयम्. एतेन यथा स्वरूपं भक्तेषु तथा लीला तत्सामग्री च सर्वा तेष्वेव इत्यपि[३] बोद्धव्यम्. अनेन स्थितिरपि

१. उदयत्वाद् इति मुं.वि.पाठः. २. कालान्तत्वाद् इति मुं.वि.पाठः. ३. अपि इत्यधिकं मुं.वि.पाठानुसारेण.

विलक्षणा बोध्या. एवम् उत्पत्तिस्थितिभ्यां वैलक्षण्यं निरूप्य उपरमतोऽपि वैलक्षण्यं निरूप्यते. तत्र अयं पूर्वः पक्षः : ननु व्रजस्थानाम् अनुभूतमहाफलानामपि भगवदाज्ञातो "वासुदेवानुमोदिता" इतिवाक्याद् अनिच्छयापि गृहागतौ क्रीडोपरतिः दिवा दृश्यतइति कथं न कालाधीनत्वं कथंवा नित्यत्वमपि इति आशङ्क्य आहुः **क्रीडायाम्** इति, **क्रीडायां** लीलायां दिवा गुणगाने आन्तररमणार्थम् उप समीपे रतायाम् अन्तःप्रविष्टायां तत्सम्बन्धित्वात् तस्यापि अन्तःप्रवेशे उपरतिः इति अर्थः. एतेन बहिःप्राकट्ये लीलायाः तत्सम्बन्धिपदार्थानामपि बहिराविर्भावः इति भावः[1] सूचितः. अत्र आविर्भावतिरोभावावेव तन्नित्यत्वनिर्वाहकौ इति विद्वन्मण्डने प्रभूक्तम् अनुसन्धेयम्. एतेन बहिःक्रीडोपरतौ शृङ्गारोत्तर-रसदित्सैव कारणम् इति बोद्धव्यम्. एवम् उपरतिकारणवैलक्षण्यादपि वैलक्षण्यं निरूपितम्. ननु एवं बहिर् अदृश्यत्वे अस्तमितत्वम् आयास्यति ?! इति चेत्, तत्र आहुः **न अस्तमय** इति. येषां दृश्यः तेषान्तु दृश्यएव, तदिच्छया, बहिर्दृष्ट्यां तद्दृष्ट्या वा अन्येषान्तु सर्वदैव अदृश्यइति लौकिकविधुवद् अदृश्यत्वरूपास्तमितत्वाभावाद् न अस्तमयः इति अर्थः. एतेन भगवन्मनः तज्जनितो भावो वीर्यं च एतत् सर्वं स्वामिनीमात्रविषयकम् इति उक्तम्. अतएव तासु व्रजेन्द्रदिक्स्थितासु विधोः अस्य तत्रैव उदयः. ततः क्रमेण तासां भगवन्निकटागतौ एतस्यापि आगतिः, भगवता सह संयुज्य स्थितासु मध्याकाशएव स्थितिः. तत्रापि रसावष्टम्भार्थम्[2] उपरिदेशएव. ततो लीलाविशिष्टप्रभौ आन्तररमणार्थं तासु प्रविष्टे लीलासामग्रीत्वात् तस्यापि प्रवेशो, नतु अन्यदिश्यपि तस्य गतिः. यथा श्रीमद्यमुनायाः लीलामात्रोपयोगिन्याः लीलास्थलएव स्थितिः तथा अस्यापि इति अर्थः. अत्र आकाशस्तु रसात्मकलीलाश्रयभूतः स्वामिनीहृदयाकाशएव यत्र एतन्मनोनक्षत्रस्थितिः. सएव लीलायां बहिःप्रादुर्भावितायां बहिर् भवति — तस्याम् अन्तःस्थितायाम् अन्तर्भवतीति तस्मिन्नेव एतन्मनोनक्षत्राधिप-तेः भगवन्मनश्चन्द्रस्यापि आविर्भाव इति अलम् अतिप्रसङ्गेन इति दिक्.

दीने मयि दयां कुर्वद् दासे भावविबोधनम्॥
स्वमात्रशरणे रक्षां[3] कृष्णास्यं मस्तकेऽस्तु मे॥

---

१. इति भावः इति मुं.वि.पाठे अधिकं, मुद्रितपाठे नोपलभ्यते. २. -अवष्टम्भभावार्थम् इति मुद्रितपाठः. मुं.वि.पाठः गृहीतः. ३. रक्ष त्वत्पादाब्जम् इति पाठः.

॥ तदोडुराजः (सुबो.१०।२६।२) इत्यत्र ॥

सा दिग् देवानाम् इति, अत्र अयम् आशयः : प्राच्याः दिशः इन्द्रो देवता अधिपतिः च उक्तः. इदानीं तम् इन्द्रं श्रीगोवर्धनोद्धरणेन निर्जित्य स्वयं तैः अभिषिक्तः इन्द्रो जातः. इन्द्रश्च देवानामेव भवति, (न!) मनुष्याणां, "यथेन्द्रो देवानाम्" इति श्रुतेः. अतो व्रजवासिनां देवत्वमपि सम्पन्नमिति या दिग् देवानां व्रजवासिनां जगत्पूज्यानाम् अलौकिकानाम् अखिलफलसाधकानां भगवत्पक्षपातिनां तस्याः दिशः इन्द्रो भगवानेव देवता पूज्यो अधिपतिः भोक्ता इति यथाधिकारं कार्यकरणात्. साम्प्रतन्तु भोक्ता, "रन्तुं मनश्चक्रे" इति वाक्यात्. अतो भगवान् तत्सम्बन्धिन्यां दिश्यपि स्वेरेतोरूपम् अलौकिकगूढभावोत्पादकं चन्द्रं प्रकटितवानिति तद्दिक्सम्बन्धिनीष्वपि तादृशभावं मनः उत्पादयिष्यति भगवतः इति ज्ञेयम्. एतेन ताः यत्र सन्ति सा दिगपि चेत् भगवन्मनःसम्बद्धा तत्र तासां तत्सम्बद्धत्वे किम् आश्चर्यम् इति भावः. किञ्च स्वामिन्योहि श्रीगोवर्धनसमीपवर्तियमुनोत्तरभागीय-वृन्दावनस्थितस्य प्राच्यामेव स्थिताइति तत्रैव भगवन्मनः इदानीम् अस्तीति तत्पोषकत्वेन अयं चन्द्रोऽपि तत्रैव उदितः. यदा ताः अत्र आगत्य अलौकिकाखिल-सामग्रीविशिष्ट-नित्यलीलायां स्थिता भवेयुः तदा चन्द्रोऽपि मध्याकाशे स्थितः तदुपर्येव स्थितः स्वकार्यं साधयिष्यति इति अर्थः. ननु किम् आकाशस्वरूपम् अत्र इति चेद्, भगवत्स्वरूपमेव इति बुध्यस्व, "ब्रह्मैव सगुणं बभौ" इति वाक्ये तथा निरूपणात्. एवं सति प्रभुहृदयमेव आधिदैविकरूपेण बहिर्निःसृतमिति स्वाधिष्ठानोपर्येव तिष्ठति. तच्च अधिष्ठानं यदा यत्र भवति तदा तदुपर्येव तिष्ठति, श्येनवत्. तथाच तच्चलने चलति, तत्स्थैर्ये स्थिरीभवतीति अधुना स्वामिन्यागमनेन भगवतो हृदयं स्वस्थाने मध्याकाशे समागतमिति तस्यापि मध्याकाशएव स्थितिः, एतस्य अग्रे गमनाभावात् चन्द्रस्यापि गमनाभाव इति भावः. **क्रीडायाम् उपरतायाम्** इति तस्याम् अन्तःस्थितायाम् एतस्यापि तत्रैव स्थितिः इति ज्ञेयम्. अतएव एतल्लीलामात्रसम्बन्धित्वाद् एतद्विधोः न अन्यत्र गमनम् इति आशयेन उक्तं न अस्तमयसम्भावना इति भावः ॥

॥ चर्षण्यो अत्र परिभ्रमणशक्तयः (सुबो.१०।२६।२) इत्यत्र॥

श्रीहरिर्जयतितराम्. तत्कृपया इदं प्रतिभाति : पूर्वश्लोके तत्सम्बन्धिरात्रिदर्शनेन भगवन्मनसः तन्मात्रविषयक-चक्रीभावोक्त्या तादृशमनसः स्वविषयक-स्वनिकटानयनसामर्थ्यरूपाः शक्तयः **चर्षणीशब्दवाच्याः** परिभ्रमणरूपाः सर्वासु प्रविष्टाः, भगवन्मनःसामर्थ्येनैव तन्निकटागतिसम्भवात्. तथापि न अत्र ईश्वरमर्यादया प्रभुः किञ्चित् करोति किन्तु "योगमायामुपाश्रित" इति वाक्याद् रसमर्यादयैव. तथाच न केवलमनोमात्रसामर्थ्येन विनैव उद्दीपनविभाव-चन्द्रोदयगानादिभिः तदानयनं भवतीति प्रभुसम्बन्धनिश्चयाभावेन स्वकार्यासिद्ध्या भवत्येव शोकः. सच भगवन्मनोनियामक-भावपोषकोदितालौकिक-चन्द्रदर्शनेन प्रभुमनसः सर्वथा आकारणादिकार्यकर्तृत्व-निश्चयेन गानात् पूर्वमेव निवृत्तः. अतएव एतदुभयात् पूर्वं सकलस्वामिनीमध्ये क्वापि न ताः **परमानन्दसम्बन्धिन्यो जाताः** भगवत्सम्बन्धिन्यो जाताः. इदानीन्तु ताः स्वामिनीष्वेव सन्ति. तासां भगवत्सङ्गेन परमानन्दसम्बन्धे ताअपि कार्यसिद्धौ भगवन्निकटम् आगताइति एतासामपि परमानन्दसम्बन्धो जातः. तद् उक्तं **चर्षणीनां शुचो हरन् स उदगाद्** इत्यनेन. **चर्षणीसहितानाम्** इति एवं व्याख्यायां तच्छब्दार्थानुपपत्तिरूपा अरुचिस्तु टिप्पण्यामेव प्रभुभिः उक्ता. परं भगवन्निकटानयनलक्षणे कार्ये सम्पन्नेऽपि पुनः तत्साहित्यकथने उपपत्तिम् आहुः **चर्षणीसहितानामेव** इति. परमानन्दोहि रासलीलायां वाच्यः. तत्रच भ्रमणं प्रतीयते, तत् न तासां स्वसामर्थ्यात् किन्तु प्रभुमनःशक्तिभिरेव सर्वत्र प्रविष्टाभिरिति, एतल्लीलायाः नित्यत्वेन सर्वदैव तच्छक्तिसाहित्यम् अभिप्रेत्य तथा उक्तम् आचार्यैः इति दिक्.

आचार्यचरणोदञ्चच्चञ्चरीकचयश्चिरम्।
चरीकुर्वन् अनुचरीं....................[१]॥

---

१. त्रुटितएव अयं श्लोकः मुं.वि.पाठे अधिकः उपलभ्यते.

॥ श्रीगोविन्दापहृतात्मानः (सुबो.१०।२६।८) इत्यत्र॥*

निवारणं हि इत्यादि, तत्र अयम् अर्थः प्रतिभाति : ननु साधनप्रकरणे "याताबला" इति भगवद्वाक्यात् ततो निवृत्तिरिव कथम् एतासां पत्यादिवाक्याद् न निवृत्तिः ? इति आशङ्क्य आहुः **निवारणं हि श्रौत्रम्** इत्यादि, पत्यादिकृतनिवारणंहि **श्रौत्रं** श्रवणेन्द्रियग्राह्यं, शब्दात्मकत्वाद्, न साक्षाद् अन्तःकरणग्राह्यं, नहि भगवानिव ते अन्तःकरणे प्रविश्य साक्षात् तद् निवारयितुं शक्ताः, जीवत्वेन तत्प्रवेशायोग्यत्वात्. श्रवणन्तु मनःसंयुक्तमेव स्वकार्यं करोति, न केवलं, "अस्मरन्तो नैव कञ्चन शृणुयुः यदा वाव ते स्मरेयुः अथ शृणुयुः" (छान्दो.उप.७।१३।१) (इति!), तस्य इदानीं हृतत्वेन मनःसंयोगाभावात् न केवलश्रवणेन्द्रियेण तद्वाक्यश्रवणं जातमिति न तासां निवृत्तिः स्वतो जाता इति अर्थः. ननु तेऽपि निवारणावसरे बाधकत्वेनापि मनसि समागताइति तत्सम्बन्धित्वात्, तदा "याताबला"इतिवाक्येन भगवतइव, कथं तेषां न निवर्तकत्वम् इति आशङ्क्य आहुः **अन्तःकरणारूढाश्च पुरुषाः** इति, ते तदानीम् अन्तःकरणे बाधकत्वेन स्फूर्तौ नौकायामिव आरूढाएव न (अन्तःकरणं!) तदधीनमेव. अतो न आरूढतामात्रेण तेषां ततो निवर्तकत्वम्. नहि नौकारूढाः वाङ्मात्रेण प्रवाहवेगाद् अभिधावतीं नौकां निवर्तयितुं शक्नुवन्ति. अतो अन्तःकरणस्थितावपि न तेषां निवर्तकत्वम् इति भावः. **पुरुषाः** इत्यनेन स्त्रीणाम् अत्र अप्रतिबन्धकतया हृदयानारूढत्वं सूचितम्. ननु एवं भगवतोऽपि अन्तःकरणारूढस्य पुरा कथं निवर्तकत्वं साम्प्रतं वा आरूढतामात्रेण प्रवर्तकत्वम्? इति आशङ्क्य आहुः **प्रवर्तकश्च भगवान्** इति, नहि भगवान् अन्तःकरणे आरूढः किन्तु जलप्रवाहे नौकेव भगवति तद् आरूढं, **गोविन्दापहृत...**इत्यनेन तदपहरणोक्तेः. अतो जलप्रवाहइव नौकायाः भगवान् अन्तःकरणस्य **प्रवर्तकः** स्वबलेन स्वाभिमततदेशप्रापकः. '**च**'काराद् "वासुदेवानुमोदिता" (भाग.१०।३-०।३९) इति वाक्यात् स्वेच्छया परावृत्तवाहाइव निवर्तकश्चेति तदधीनतया निष्प्रत्यूहम् अधुना प्रवृत्तिः सम्पन्नाः, अग्रे निवृत्तिरपि भविष्यति इति भावः. एतदेवच अग्रे स्फुटीकृतम् अस्मदाचार्यचरणैः **नहि नौका प्रवाहवेगाद्** इत्यनेन ग्रन्थेन. तदर्थस्तु : नौकास्थानीयः स्वामिनीमनः, पराधीनप्रवृत्तिमत्त्वात्, प्रवाहवेगस्थानीयो भावात्मको भगवानेव. आरूढस्थानीयाः पुरुषाः पत्यादयो,

निवर्तकं तद्वाक्यम्. अतो अन्तःकरणस्य पाथःप्रवाहपतितनौकायाइव न आरूढवाक्यसदृशपत्यादिवाक्यात् निवृत्तिः जाता इत्येवं बोध्यम्॥

निजाचार्य-कृपामात्र-बलाद् इदमुदीरितम्।
अवबुध्य बुधाः सन्तु सततं छिन्नसंशयाः॥
स्वदासार्थसमुद्भूतो भक्तिभावविभावितः।
हरिदासाय दास्यं च ददातु वदनानलः॥
वृन्दावनविधोर्वाचोऽधीश्वरो वल्लभाह्वया।
वृतानां स्वेन दैवानां स्वान्तर्वर्वति सर्वदा॥

॥ **कामं क्रोधम्** (सुबो.१०।२६।१५) इत्यत्र॥

श्रीहरिः. **सख्यं तेष्वेव** इति, सख्येहि परस्परम् उभयोः भावनया हृदयस्थितत्वं प्रयोजकत्वम्. अन्यथा एककरेण तालिकापतनासिद्धिवत् सख्यासिद्धेः. तच्च "मयि ते तेषु चाप्यहम्" इति वाक्याद् भगवतो भक्तेष्वेवेति तत्सख्यस्य तत्रैव सिद्धिः इति अर्थः. एवं सति कामादिभिः साधनैः फलसिद्धौ न ज्ञानभक्त्योः फलसाधकत्वेन उपयोगः इति भावः. ननु भगवानेव आविर्भूतः फलं साधयति, "फलमत उपपत्तेः" इति न्यायात्. तत्र ज्ञानं भक्तिः भगवदिच्छा चेति त्रयमेव तदाविर्भावे कारणम् उक्तमिति आविर्भावकसाधनाभावे अनाविर्भावात् कथं मुक्तिः इति आशङ्क्य आहुः **तेषाम्** इति, तेषां कामादीनां मर्यादया भावनाविषयस्य उत्कटभावनया प्रत्यक्षत्वमिति लौकिकमर्यादया स्वतन्त्रो ज्ञानभक्तिनिरपेक्षो यः आविर्भावः; अथवा, तदुभयसम्पादिताविर्भावभिन्नो वा, मनसएव चक्षुरादिप्रवेशेन तत्र साक्षात्कारहेतुत्वात्. तादृशस्य कामादिभिः भावनायां नियतत्वेन न तत्र आविर्भावार्थं ज्ञानभक्त्योः उपयोगः इति भावः. ज्ञानिनां भक्तानां च ज्ञाने भक्तौ वा भिन्नएव आविर्भावः. अन्यथा स्तुतिकृत्यवसरे भीष्मस्य भावनया हृदि प्रकटेऽपि भगवति पुरःस्थिते इति वाक्याद् अवतीर्णे सर्वेन्द्रियविषये फलसिद्धिः न उक्ता स्याद् अतो भक्तौ ज्ञाने वा भिन्नएव आविर्भावः, कामादिहेतुकभावनामात्रे भिन्नएवेति न अनुपपत्तिः काचित्.

॥ अथवा मदभिस्नेहाद् (सुबो.१०।२६।२३) इत्यत्र॥

श्रीमत्स्वामिने नमः. **निरुक्तो भावः** इति, अत्र भगवता सर्वात्मभावस्य फलरूपत्वं प्रतिपाद्यते. तस्य फलान्तरसाधकत्वे साधनत्वेन फलरूपत्वं न स्यात्. भगवांश्च फलरूपो, अलौकिकभावस्य[१] अतथात्वे भगवद्रूपता न स्यात्. अन्यथातु लौकिकानां स्वपत्यादिविषयकभावस्येव लौकिकतुल्यत्वेन भगवति भानात् तद्भावस्यापि[२] लौकिकत्वमेव, यथा अन्तर्गृहगतानाम्. स भावो न सर्वात्मभावलभ्यं भावात्मकं फलं साधयतीति भगवता **निरुक्तो** यो अभितः[३] स्नेहः सर्वात्मभावो भगवद्विषयकः पुष्टिमार्गविचारेण **गुणात्मकः** स्वरूपमात्रफलसाधकत्वात्, मर्यादामार्गविचारेण **दोषात्मको** वा, विहितधर्मविरुद्धत्वाद्, उभयविधोऽपि न तत्फलं भावातिरिक्तं प्रयच्छति, स्वस्य लौकिकत्वापादकत्वाद्. अतो[४] न मत्तः फलाकाङ्क्षा कर्तव्या, स्नेहएव निरन्तरं कर्तव्यइति तस्य गृहेऽपि सम्भवाद् गेहे गन्तव्यम् इति गमनपक्षे भगवत्तात्पर्यम् इति भावः. **अतः** इति, यतः तत्स्वरूपं भवतीभिः न ज्ञायते, अन्यथा न फलाकाङ्क्षां कुर्युः, अतो मया सिद्धान्तरूपोऽपि भगवद्भावः तत्स्वरूपकथनार्थं पूर्वपक्षत्वेन **अनूद्यते** इति अर्थः. स्थितिपक्षेतु सर्वात्मभावेन वशीकृता आगताइति न आगमनम् अनुपपन्नम्. अन्यथा अन्तर्गृहगतानामिव प्रतिबन्धः स्याद्. अतो निवृत्तः प्रतिबन्धो न पुनर्गृहगमनेन सम्पादनीयो, अत्रैव स्थेयम्, इति भावः. किञ्च **मम मत्सम्बन्धिनएव जन्तवः प्रीयन्ते,** मम परमानन्दरूपत्वात्. अन्येषां "पतिसुतादिभिरार्तिदैः" इति वाक्याद् दुःखदत्वेन तत्सम्बन्धिनो न प्रीयन्तइति प्रीत्यभीप्सुत्वे अत्रैव स्थेयम् इत्यपि स्थितिपक्षे तात्पर्यं ज्ञेयम्.

॥ मैवं विभोऽर्हति (सुबो.१०।२६।३१) इत्यस्य व्याख्याने॥

श्रीकृष्णाय नमः. **एतच्च भजनं न विषयवद्** इति, एतद् अस्माभिः क्रियमाणं, प्रार्थ्यमानम्. चकारात् लोके प्रकटीक्रियमाणं च. **भजनं न**

---

१. -भावस्यापि तथात्वे भगवद्रूपता अन्यथा इति मुं.वि.पाठान्तरम्. २. भावनात् तदुभयस्यापि इति मुद्रितपाठः. ३. अभिमतः इति मुद्रितपाठः. ४. लौकिकाभाववतो न मत्तः इति मुद्रितपाठः.

विषयवत् न विषयसम्बन्धि, अस्मत्क्रियमाणभजने प्रार्थ्यमाने च विषयसम्बन्धाभावाद्, अस्माकं तत्त्यागेन आगतत्वाद्, भगवतः च इन्द्रियविषयत्वाभावात्. **किन्तु प्रकारान्तरेण** कामप्रकारातिरिक्तप्रकारेण केवलरसरीत्या, **इति विशेषतो वक्तुम् अशक्ता** विविच्य कथने स्वाधिक्यनिरूपणतो अभिमानसम्भवेन सर्वात्मभावबाधसम्भवात्, प्रभोश्च "अस्मदधीनो भूत्वा भजस्व" इति कथने नीरसत्वसम्भवाद्. अतः परम् अतिनिपुणाः रसरीतिवित्तमाः स्वामिन्यो दृष्टान्तेन स्वभजन-प्रभुभजन-स्वरूपं निरूपयन्ति **देवो यथा** इत्यादिना, **देवो यथा भजते** उपासकाधीनः सन् तदभिलषितं साधयति, न स्वमहत्त्वं[1] अनुसन्धत्ते, **यथा** वा **आदिपुरुषः** पुरुषोत्तमः स्वचरणे ज्ञानिनः, स्वस्मिन् च भक्तान्, प्रवेशयन् **भजते** स्वानन्दं ददाति, **तथा त्वया** कर्तव्यम् इति भावः. स्वभजनेऽपि एतदेव दृष्टान्तद्वयम्. **यथा देवः** पूज्यो अलौकिकः पत्यादिभ्योऽपि[2] मुख्यो, न भजने दोषावहः, सर्वसेव्यः; तथा, अस्माकं भवान्[3]. न जारइव अन्यासां, सेव्यः. अतः तथा अस्मान् **भजस्व** नतु कामिवत् काममात्रं पूरय किन्तु अस्मदभिलषितस्वानन्दं देहि इति अर्थः. किञ्च **यथा आदिपुरुषः** पुरुषोत्तमः फलरूपो, नतु तत् साधनं, निष्काममनोरथविषयः; तथा, अस्माकं **भवानिति**. स यथा सर्वकामरहितेभ्यो ज्ञातः सेवितः च स्वरूपमेव आनन्दरूपं ददाति, न अन्यत्[4]; तथा, त्वयापि तदेव देयम् इति भावः. एतदेव दृष्टान्तद्वयं स्वभजने निर्दोषत्वं मर्यादारीत्यापि बोधयति इति आहुः **नहि** ... इति, लौकिकपतिव्रतानामपि न देवभजनेन[5] व्यभिचारः. नहि देवभजनकर्त्र्यः पत्या परित्यज्यन्ते, नवा तासां नरकः; प्रत्युत, पत्यादिभिः अन्यैः च विशेषतो सम्मान्यन्तइति कुतो अस्माकं तद् दोषावहं भविष्यति! इति भावः. किञ्च **आदिपुरुषः** च अस्माकं **भवान्**, प्रथमतः त्वयैव परिगृहीतत्वात्, "कल्पं सारस्वतं प्राप्य" इति वाक्यात्. अतः कदाचिद् अस्माकं दुःसङ्गदोषाद् वैदिकधर्मनिष्ठतया वा त्वदनङ्गीकारो लौकिककुलटानामिव उचितो नतु तासां स्वपतिप्राप्तौ[6] तदभजनमिव त्वदभजनम्. इतःपर्यन्तं त्वदप्राप्त्यैव अन्यभजनं बहिरङ्गधर्मनिष्ठतया कृतं त्वत्प्राप्तौ कथं तद् विधेयम्? इति भावः. अथवा

१. तस्य महत्त्वम् इति मुद्रितपाठः. २. लौकिकपत्यादिभ्योऽपि इति मुद्रितपाठः. ३. भगवान् इति मुद्रितपाठः. ४. अन्यथा इति मुद्रितपाठः. ५. तद्देवभजने इति मुद्रितपाठः. ६. सम्पत्तिप्राप्तौ इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धः.

लोकरीत्यापि भ्रष्टा जारपरिग्रहे, ततः तस्यैव परित्यागो ननु आदिपुरुषस्येति तदेव दोषावहं, न त्वद्भजनं; प्रत्युत तत्तद्दोषानिवर्तकमपि इति भावः. किञ्च पुरुषोत्तमत्वानङ्गीकृतावपि अनया रीत्या भवान् आदिपुरुषइति, स यथा इतरभजनं न सहते, ज्ञातेऽपि तस्मिन् कुप्यति, कुतः तत्र प्रेरणम्![१] त्वयापि तथैव कार्यं, न वयम् अन्यत्र प्रेषणीयाः इति लोकरीत्यापि स्वामिबोधनम् इति भावः. इदन्तु उपपत्तिरूपं लोकरीत्या उक्तं, वस्तुतस्तु इदम् अस्माकं शृणु इति आशयेन दृष्टान्तम् आहुः **यथा मुमुक्षून्** इति, यथा मुमुक्षवो गृहे अनासक्ताः हेयबुद्धयो निर्लेपाः विरक्ताः सर्वभोगविवर्जिताः नाममात्रेण साधनदशायां तत्र स्थिताः, भक्तिमार्गीयत्वात्, वस्तुतः संन्यासिनएव, तथा वयमिति अस्मान् विचार्य, यथा तान् आत्मीयान् कुरुषे, स्वसेवकत्वेन स्थापयसि, "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्" इति न्यायात्, पुनः तेषाम् आत्मत्वेन स्फुरसि, बहिःसंवेदनं नाशयसि, ततो हृदयस्थितो बहिर् आविर्भवसि, ततः स्वानन्दं तेभ्यः प्रयच्छसि, न पुनः पूर्वावस्थां सम्पादयसि, तमेव स्वदत्तम् आनन्दं उत्तरोत्तरं पोषयसि, तथा अस्मासु विधेयम्! इति भावः.

फलत्वेन स्वभावैकविचारं सर्वथा सदा।
स्वामिन्यः कृपया दासे कुर्वन्त्वाचार्यचेतसि॥

॥ **यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलम्** (सुबो.१०।२६।३६)इत्यत्र॥*

श्रीहरिः. ननु पूर्वं कथं स्थिताः गोपगृहेषु भवत्यः? इदानीमेव कथम् अशक्तिः अन्यसमक्षस्थितौ! इति आशङ्क्य आहुः **शक्त्यभावः** इत्यादि, अत्र अयं भावः : पूर्वं गोकुले स्थिताः, तत्रच बाललीलायां चौर्यादिषु भगवत्सम्बन्धेऽपि "भगवान् अस्मद्गृहे समायास्यति चौर्येण"-इति गृहएव स्थिताः. स्वसमर्पणीय-नवनीतादि-साधकतया पत्यादिषु न विरुद्धबुद्धिरिति तत्समक्षमपि स्थितिः. तदानीं गृहस्थित्या अस्मद्गृहे तत्र भगवान् आयातीति स्वभावएव स्थितो, न केवलभगवद्भावो. यत्प्रभृति वृन्दावने समागताः, वृन्दावनञ्च "यद् देवकीसुतपादाम्बुजलब्धलक्ष्मि" इति वाक्यात्. **पादतलम्** इति तत्स्पर्शे वनेएव भगवान् दशरसप्रादुर्भावेन क्रीडतीति

१. प्रेषणम् इति मुद्रितपाठः.

व्याजादिना तत्रैव गन्तव्यं, न गृहे स्थातव्यं गृहस्थाश्च तत्र गमने बाधका इत्यतएव गूढाभिसरणम्. ततः केवलभावप्राकट्ये वृन्दावनएव ...दिलीला "निशामुखेषु" इति वाक्याद् भगवदर्थार्षा(!)दिभिसरणेन भगवत्सम्बन्धस्य जातत्वात् लक्ष्मीवद् अनन्यत्वे स्फुरिते अन्येषु बाधकत्वस्य स्फूर्तिः जातेति तत्समक्षम् इदानीं स्थातुं न शक्नुमः. यथा देहादिभावप्राकट्यएव व्याघ्राद्यग्रे स्थित्यशक्तिः न ज्ञानिनामिव तन्निवृत्तिः; तथा, पूर्वं तथा भगवत्सम्बन्धाभावेन गोपेषु सहजविरागाद् न भगवदीयत्वेन देहाद्यध्यासः स्थितइति न बाधकत्वबुद्धिः अभूत्. इदानीन्तु वृन्दावने त्वत्सम्बन्धात् सा जातेति तत्र स्थातुम् अशक्तिरिति स्वामिनीनां निगूढाशयो अवगन्तव्यः. अतएव "अभिरमिता..." इति उक्तं वृन्दावनात्मक-पादतलस्पर्शोत्तरमेव. एतेन त्यागाभावेऽपि तथारमणकर्तुः त्यागोत्तरं कथम् एवं कथनम् इति सूचितम्. तां(तस्यै!) रमायाः सुखं तनैव दत्तम् इति व्रजे तस्याः चरणतलसम्बन्धेनैव सुखम्—अस्माकन्तु "अभिरमिता..."इत्युक्तस्वरूपेणापि. अतएव उक्तम् अग्रे सर्वदैव स्वप्ने त्वत्सम्बन्धम् इति सर्वदा. एवं सति सापि वैकुण्ठे भवन्तं विना स्थातुम् अशक्तेति भगवत्स्थानं वैकुण्ठं विहाय यत्र भगवान्—तत्र तिष्ठतीति, स्वरूपसम्बन्धिन्यो वयं कथम् अन्यगृहेषु स्थातुं शक्नुमः! इति भावो ज्ञापितः इति ज्ञेयम्.

॥ क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न (सुबो.कारि.१०।२६।४२।१७) इत्यत्र॥

श्रीवल्लभाधीशांघ्रिसरसिजेभ्यो नमः. ननु अत्र भगवतः कामलीला निरूप्यते सा अनुपपन्ना, कामस्य प्राकृतशरीराधारत्वनियमेन भगवति तादृशतद्वत्त्वापातात्. नच न अयं नियमो, मोक्षदशायाम् आधिदैविकदेहवतो जीवस्यापि "यदा सर्वे प्रलीयन्ते" इति श्रुत्या तन्निवृत्तिश्रवणात्. "सोऽश्नुते सर्वान्" इति भगवति प्रविष्टानां तेन सह स्वरूपात्मकतदनुभवएव. अन्यथा अन्तर्गृहगतानां गोपीनां कामः प्रतिबन्धको न उच्येत. नच अप्राकृतविग्रहे अप्राकृतः स इति वाच्यं, स्वरूपातिरिक्तस्य तथाविधस्य तस्य अप्रसिद्धेः. नच एवमपि वक्तुं शक्यं नास्त्येव सइति, तदनुकूलक्रियायाः सत्त्वाद्

इति आशङ्क्य समादधते—

क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते॥१७॥
तासां कामस्य सम्पूर्तिर् निष्कामेनेति तास् तथा॥

क्रिया सर्वापि इति, भगवतो "रसो वै स" इति श्रुत्या "साक्षान्मन्मथमन्मथः" इत्युक्तेः च रसात्मकत्वाद्. अत्र भगवति **क्रिया सर्वापि सैव** या रसशास्त्रे रसाविर्भूतिहेतुत्वेन प्रसिद्धा नृत्यबन्धादिरूपा. रसस्यच स्वक्रियाभिव्यक्तस्यैव प्रकटत्वाद् भगवानपि स्वं रूपं प्रकटयितुं स्वस्य रसात्मकतां च बोधयितुम् एवं लीलां करोतीति क्रियापि तथैव इति अर्थः. अतएव उक्तं श्रीमदाचार्यैः पञ्चमाध्याये "रसात्मकस्तु यः कामः" इत्यादि, **रसात्मकः** इत्यनेन स्वस्वरूपात्मकः उक्तः. सतु गूढएव स्त्रीभावत्वादिति तदुद्बोधार्थमेव नृत्यबन्धादिप्राकट्यम् इति अर्थः. एतदेवच उक्तं "वृन्दावनं सखि" इत्यस्य आभासविवृतौ प्रभुभिरपि "लीलैव परिचायिका" इति, तत्तद्रसात्मकस्य स्वरूपस्य सा-सा लीलैव परिचयसम्पादिका इति अर्थः[1]. **सर्वा** इति पदम् अखिलतद्वत्त्वेन लोकवैलक्षण्यबोधनाय[2]—नहि लोके क्वचिदपि तथाविध-सकल-क्रियावत्त्वम् उपलभ्यते[3] **अपि**शब्दः सरसतासिद्धये उत्कृष्टापकृष्ट-समस्त-तत्सत्त्वबोधनाय. एवकारो अत्र एतदन्यतद-सत्त्वज्ञापनाय[4]. अंशतोऽपि अन्यक्रियासत्त्वे रसात्मकता न स्यात्. एवं सति भगवतो या काचित् लीला **सा सर्वापि** तत्तद्रसात्मक-स्वरूपाविर्भूतिहेतु-मूलक्रियारूपैव[5] इति मन्तव्यम्. अन्यथा पुरुषोत्तमस्य प्राकृतानुकरणं लीलायां[6] बाध्येत. वस्तुतस्तु [7]भ्रममात्रम् अन्येषां[7] न तत् प्राकृतानुकरणं भगवतः[8] किन्तु रसात्मनः तदभिव्यञ्जकक्रियाविशिष्टं[9] रूपमेव तथा इति अर्थः. ननु एवंविधक्रियावत्त्वे भगवतो लोके सा कामवत्ससमानाधिकरणा दृष्टेति अत्रापि कामसिद्धौ पूर्वोक्तदूषणापातः इति आहुः **परं कामः** इति, सन्तु ताएव क्रियाः, तथापि न दोषो, अजन्यत्वात् तासाम्. नहि भगवत्स्वरूपे

१. भावः इति **मुं.वि.**पाठः. २. वैलक्षण्याय इति मुद्रितपाठः. ३. उपलक्ष्यते इति मुद्रितपाठः. ४. अवगमाय इति **मुं.वि.**पाठः. ५. -स्वस्वरूपात्मकाविर्भावाय इति मुद्रितपाठः. ६. लीलायाम् इत्यधिकं **मुं.**वि.पाठानुसारेण. ७. इत्यधिकं **मुं.**वि.पाठे. ८. इत्यधिकं **मुं.**वि.पाठे. ९. तद्रसस्य विशिष्टम् इति मुद्रितपाठः.

आनन्दमात्रे अन्यद् अस्ति किञ्चित्. तत्स्वस्वरूपमेव भक्तभावम् उपलभ्य तथा-तथा भवतीति सिद्धान्तस्य "विनानुवादं नच तन्मनीषितम्" इत्यत्र निरूपणात्. व्यासैरपि अभिहितम् "आह च तन्मात्रम्" इति. ननु कथम् अजन्यत्वं तल्लीलानाम्! इति आशङ्क्य तद् उपपादयन्ति कामो अत्र न विद्यते इति, लोके तद्धेतुत्वेन अभिमतः कामो अत्र न विद्यते, प्रभोरेव तद्रूपत्वात्, "साक्षान्मन्मथमन्मथः" इति वाक्यात्. नहि भगवतो 'विग्रहे-कामः' — 'विग्रहः-कामः' इतितु सुवचम्. एतेन हेत्वभावेन अजन्यतया तत्क्रियाणां नित्यत्वम् अलौकिकत्वं स्वरूपात्मकत्वं च समर्थितम्. एवं[1] विधलीलाकरणेऽपि भगवतो निष्कामत्वम् अप्राकृतत्वं च उक्तम्. अतएव कामाभावादेव न लौकिककामुकवत् सापेक्षता भगवतः प्रत्युत मानः च. गीतगोविन्दाद्युक्तप्रकारेण लौकिकीषु रात्रिषु रमणे सापेक्षता च तद्रसस्वरूपस्य तथात्वबोधनाय. तत्र[2] लौकिकत्वंहि लोकनिर्वचनीयत्वं नतु लोकसिद्धत्वम्, लोके रसस्यैव अभावात्. "दर्शयन् कामिनां दैन्यम्" इत्यत्र तथा निरूपणात्. लोकानान्तु महाराजलीलानुकरणे बालानां तदभिमानइव सरसताभिमानमात्रम् इति निगर्वः. ननु भक्तानान्तु कामसत्त्वेन सकामत्वं प्राकृतत्वं च दुष्परिहरमिति तत्सम्बन्धेन भगवतो लीलायाः चापि[3] तथात्वं सिध्येद् इति आशङ्क्य आहुः तासां कामस्य इति, तासां स्वामिनीनां यः कामः सोऽपि स्वरूपात्मकएव, न लौकिको, यतो निष्कामेन आधेयतासम्बन्धेन कामाभाववता सम्यक् सर्वभावेन तस्य पूर्तिः इति. प्रतिमायां स्वरूपस्थित्या तत्त्वमिव तास्वपि स्वरूपात्मककामस्थित्या तद्रूपत्वमिति ताः स्वामिन्योऽपि तथा भगवानिव अप्राकृतविग्रहाः निष्कामाः च इति तथाभूतासु रमणाद्[4] न अंशतोऽपि लीलायाः स्वरूपस्य च प्राकृतत्वशङ्का इति अर्थः. अतएव दृश्यन्ते अत्र सर्वत्र तथाविधान्येव तासां वचांसि "सन्त्यज्य सर्वविषयान्" इत्यादीनि. नहि कामिन्य एवं वदन्ति किन्तु भक्ताएव. नवा भगवतो अन्यः सर्वथा निरपेक्षो भवति, वैराग्याभावात्[5]. [6]द्वितीयाध्योक्तसापेक्षतातु स्वामिनीभावे भगवतो विप्रयोगरसाविर्भात्[6] तद्धर्माविर्भावरूपा इति भावः.

१.एतेनैव विविधलीला- इति मुं.वि.पाठः. २. इत्यधिकं मुं.वि.पाठे.३. अपि इत्यधिकं मुं.वि.पाठे. ४. रमणे इति मुं.वि.पाठः. ५. इत्यधिकं मुं.वि.पाठे. ६. द्वितीयाध्यायीयसापेक्षतातु भगवतइव उत्तररसप्राकट्ये इति मुद्रितपाठः.

ननु एवमपि भक्तानाम् अलौकिककामवत्त्वे किं प्रमाणम्? भगवतः परमकृपालोः अन्यथाकर्तुमपि समर्थत्वेन तदर्थं प्राकृतविग्रहं कामं च स्वीकृत्य प्राकृतमपि तदीयं तं पूरयेद् इति आशङ्क्य आहुः —

कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटम्॥१८॥
कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यान्न संशयः॥

कामेन इति, **कामेन** आधेयरूपेण स्वरूपभिन्नेन **पूरितः** प्राकृतः **कामः संसारं** पुत्रपौत्रादिसम्पत्त्या विशेषाहन्ताममतात्मकं **जनयेत्** नतु तद्भावरूपं केवलं दास्यम् इति अर्थः[१], [२]"न जातु कामः कामानाम्" इति वाक्यात्. कामादेव हि संसारो "नवा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रियाः भवन्ति" इत्यादिश्रुतेः[२] **कामाभावेन** कामस्य आधेयस्य अभावो यत्र तादृशेन स्वरूपात्मकेन[३] **पूर्णस्तु** कामो **निष्कामः** आधेयकामरहितः स्वरूपात्मकएव **स्यात्** [४]**न** प्राकृतः **तेन** तत्पूरणासम्भवाद् इति भावः.[४] अतएव तादृशकामवतीनां यथा-यथा अग्रे भगवतो विशेषलीला तथा-तथा दृश्यते अत्यन्तनिरपेक्षतैव. यतो भगवतोऽपि अग्रे निरपेक्षाः जाताः, स्वतन्त्रभक्त्यैव स्थितत्वात्[५]. यदि लौकिकएव कामः स्यात् तदा नैवं स्याद् इति स्वरूपात्मककामवत्यएव एताः इति सर्वम् अनवद्यम्.

ननु एवं भगवतो भक्तानां च निष्कामत्वे रसशास्त्रमर्यादा भज्येत, कामवतोरेव तत्र तथाभावनिरूपणाद् इति आशङ्क्य आहुः —

अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च॥१९॥
अत एतच्छ्रुतौ लोको निष्कामः सर्वथा भवेत्॥

अतो न कापि इति, यतो भगवानेव कामः स्वस्वरूपमेव विग्रहरूपेण कामरूपेण च आविर्भाव्य भक्तेषु च स्वस्वरूपं प्रतिष्ठाप्य प्रसादरूपशक्तिप्रवेशेन स्त्रीभावं दत्त्वा स्वस्वरूपस्य च तत्सम्बन्धित्वं विधाय स्वस्वरूपात्मिकाभिः

१. तदभावम् इति मुद्रितपाठः. २. एतत्संख्यांकितोऽशः मुं.वि.पाठे अधिकः. ३. स्वरूपेण इति मुद्रितपाठः. ४. इत्यधिकं मुं.वि.पाठे. ५. स्थिताः इति मुद्रितपाठः.

सह रमतइति अतो रसमर्यादा निष्कामत्वात् मोक्षफलापि सा न भग्ना इति अर्थः. अतः एतच्छ्रुतौ इति, यतो न इयं कामलीला अपितु स्वरूपानन्ददानलक्षणा सा, अतः अतएव लीलाश्रवणेनैव[1] लोकः साधारणोऽपि निष्कामएव सर्वथा सर्वप्रकारेण भवेत्.

ननु एवम् अप्राकृतत्वम् अविदुषां काव्यादिश्रवणइव एतच्छ्रवणेऽपि कामोद्बोधएव स्याद् इति आशङ्क्य आहुः —

भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते॥२०॥
अतः कामस्य नोद्बोधः ततः शुकवचः स्फुटम्॥

भगवच्चरितम् इति, यतः सर्वमेव भगवतः परमकाष्ठापन्नस्य चरितम्, अतो निष्काममेव भागवते ईर्यते कथ्यते, "अभयमिच्छता" इति वाक्यात् तच्छ्रवणादौ तेषामेव अधिकारित्वनिरूपणात्. प्रभोः निष्कामतायाः पूर्वं प्रतिपादितत्वात् [2]चरित्रेऽपि तथात्वस्य औचित्याद्[2] नहि भगवान् परमकाष्ठापन्नः शरीरं गृह्णाति नवा कामं नवा तच्चेष्टां, यतो ज्ञानिनोऽपि न तत् परिगृह्णन्ति[3], तस्मात् भगवतः चरितं निष्काममेव स्वरूपानन्ददानरूपमेवेति साधारणानामपि ज्ञानसम्भवाद् एतच्छ्रवणे क्व कामोद्बोधसम्भावना, प्रत्युत अप्राकृतत्वनिष्कामत्वादिज्ञानं च तत्स्वरूपे लीलायां च सेत्स्यति इति अर्थः. अतएव शुकोऽपि [4]फलत्वेनैव लीलाश्रवणस्य कामाभावमेव "कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोति" इति वाक्येनहि आहेति तद्वाक्यमपि तथा स्फुटम्[4] इति सर्वम् अनवद्यम्.

श्रीमदाचार्यदासेन हरिदासेन रूपितः।
अर्थः स्वाचार्यवाक्यानां स एवेशः[5] प्रसीदतु॥
[6]कारिका श्रीमदाचार्यैः क्रिया सर्वेति योदिता।
फलप्रकरणे दासो हरेर्व्याख्यातवान् हि ताम्॥[6]

॥इति श्रीहरिदासविरचित स्वाचार्यकारिकाशयविवरणम्॥

१. एतच्छ्रवणेन वेदान्तश्रवणेनैव इति मुद्रितपाठः. २. इत्यधिकं मुं.वि.पाठे. ३. तत् त्यजन्ति इति मुद्रितपाठः. ४. प्रवृत्तः परित्यज्य ज्ञाननिष्ठां, प्राह च "कामं हृद्रोगम्" इति प्रकरणान्ते स्फुटम् एवं वाक्यम् इति मुद्रिते पाठान्तरम् ५. एवेषः इति पाठः इति आद्यसम्पादकीया पादटिप्पणी. ६. एतत्संख्यांकितोंऽशः मुं.वि.पाठे अधिकः.

॥ तत्रैवान्तरधीयत (सुबो.१०।२६।४८) इत्यत्र॥

श्रीहरिः. **यूथमध्ये वा** इति, अत्र एवकारेण यत्र यूथेऽपि सौभगमदमानौ दृष्टौ तत्र तथा कृतवान् अतः कस्याश्चिन् मदमानयोः अभावेन यूथबहिर्भावे प्राकट्येनापि स्थितिरिति गम्यते. अतएव "यां गोपीमनयत् कृष्णः" इति सङ्गच्छते. सजातीयभावेनहि यूथो, तद्बहिर्भावस्तु तद्विजातीयभावेन, साम्प्रतं सौभगमदेनैव सर्वासाम् एकजातीयत्वम्. अतो यत्र स नाभूत् तत्र प्राकट्येनापि स्थितिरिति "यां गोपीमनयद्" इत्यनेन उक्तम्. ननु तत्र मदानुत्पत्तौ किं कारणम्? इति चेत्, तदाकाङ्क्षायाः अपूरणाद् इति बुध्यस्व. तत्र समुदायरमणमेव अभूदिति तत्र रमणाकाङ्क्षैव स्थितेति न स्वस्मिन् पूर्णत्वमाननम् अतो मदाभावेन प्रशमनीयाभावात् न तत्र अन्तर्धानम्. ननु पश्चात् कथं मानोत्पत्तिः? सम्बन्धस्य तुल्यत्वेऽपि प्रकारविशेषाकाङ्क्षापूरणाद् इति अवेहि. अतएव आचार्यैः तत्र 'गोपी'पदेन मुग्धभावः उक्तो, न प्रौढभावः, अत्रतु "एवं व्रजस्त्रियः"इतिवाक्यात् स्त्रीत्वेन प्रौढभावः उक्तः. अतः प्रौढानामेव सङ्कोचाभावेन समुदायरमणे स्वमनोरथपूर्तिः, मुग्धायास्तु अप्रौढयाद् अग्रे यत्नासम्भवेन समुदायरमणे स्वमनोरथापूर्तिरिति प्रत्येकरमणाकाङ्क्षैव स्थितेति तदपूरणे मदाभावः उचितः इति भावः. किञ्च मानोहि द्विविधः : प्रियसम्बन्धि-परमानन्दप्राप्ति-जनिततृप्त्या निरपेक्षत्वेन, स्वस्मिन् अतिशयित-प्रियकृपावत्त्वज्ञानेन च. तत्र सर्वासु रसशास्त्रीयाखिलक्रियाभिः रसात्मकाखिलप्र-भुधर्मविशेन भगवतइव निरपेक्षत्वात् तत्सम्भवः. अतएव "भुवि स्त्रीणां मध्ये आत्मानं पूर्णं मेनिरे मानिन्यश्च जाताः" इति उक्तम्. तस्यान्तु "हित्वा गोपीः" इति वाक्यात् स्वस्मिन् कृपातिशयसत्त्वज्ञानेन तदुत्पत्तिः. प्रभुस्तु उभयविधोऽपि स सर्वात्मभावविरोधी इति ज्ञापयितुम् उभयविधमपि तं दूरीकृतवान् इति वक्तुं "यां गोपीमनयद्" इति उक्तम् इति भावः.

कृपा मयि स्वाचार्याणां साधनाभाववत्यपि।
यादृशी तामहं नैव जाने जीवस्वभावतः॥
समर्था सा कृपात्वेन मामज्ञमपि सर्वथा।
सामर्थ्यमपि सम्पाद्य स्वात्मानं ज्ञापयिष्यति॥

॥ तद् विष्णोः परमं पदम्... (सुबो.१०।२७।२४) इत्यत्र ॥*

...इति न अस्माभिः अत्र विस्तरणीयः. तथापि तदध्ययनम् आधुनिकानां सर्वेषां दुर्घटमिति ततएव तमेव अर्थं संक्षेपतो (सा!)अनुक्रमं वदामः. तथाहि — हे भगवान्, तेतव "तेतावनिसुप्तिङ्पदग्रहलिङ्गनराणाम्" ( ) इति अनुशासनात् लिङ्गव्यत्ययः. **धामानि** क्रीडास्थानानि गमध्ये प्राप्तुं कामयामहे. तानि कानि? इति आकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिम् उद्घाटयति **यत्र** श्रीगोकुले **भूरिशृङ्गाः** दीर्घशृङ्गाः गावो वसन्तीति शेषः. अथवा आरण्य-ग्राम्य-पशूपलक्षणार्थं भूरिशृङ्गाः बहुशृङ्गाः रुरुप्रभृतयो मृगाः गावः च तथा. कीदृशाः **अयासः?** शुभाः शोभावहाः शोभाधायिकाः इति यावत्. 'तस्य' इति शेषः. **अत्र** स्थाने भूमौ. तथापि स्वस्य तादृग्भाग्याभावात् दृग्गोचराः न भवन्तीति खेदेन आह **इति** आह श्रुतिः. **तद्** लोकवेदप्रसिद्धं **उरगायस्य** उरुकीर्तिभगवतो **विष्णोः** व्यापकस्य. अतएव भूरेः बहुरूपस्य रासोत्सवादौ तथाप्राकट्यात्. तत् श्रीगोकुलं **परमं-पदं** स्थानं वैकुण्ठपदं तस्मादपि अधिकम्. **परमं-पदं** प्रकृतिकालाद्यतीतत्वेनापि, वैकुण्ठाद्यपेक्षया अतिप्रियत्वेनापि परमं, तादृशपदम् **अवभाति** प्रकाशते. अत्र स्वयं नित्या श्रुतिः **इव(ह!) भवति** इति वदन्ती स्वभानविषयस्य श्रीगोकुलस्यापि नित्यत्वमेव ब्रूते. अन्येषाम् अनवभानपक्षेऽपि वर्तमानप्रयोगतो विषयस्यापि तत्त्वमेव आयाति इति भावः. एतदनन्तरमेव **च विष्णोः कर्माणि** इति पठ्यते. तथाच पूर्वस्मिन् मन्त्रे "यत्र भूरिशृङ्गाः अयास तत् तस्य परमं पदम्" इति उक्ता. तत्र तदनन्तरकृता **विष्णोः कर्माणि** यशोदास्तनपान-पूतनासुपयःपान-रिंगणादीनि पश्यत. 'यूयम्' इति शेषः. **यतः** कर्मभ्यो हेतुभूतेभ्यो व्रतानि कात्यायन्यर्चनादीनि सान्निध्याद् विष्णुरेव **पस्पशे** स्पृष्टवान्. अयं भावः — तत्फलत्वेन तत्कर्त्रीषु आविर्भूय तासु सर्वां लीलां कृतवानिति " 'स्पश'बाधनस्पर्शनयोः" (पाणि.धा.पा.९१२) इति धातो लिटि रूपम्. यद्वा अयं धातुः उभयार्थकः, तानिलोकमर्यादाव्रतानि पातिव्रत्यादीनि बबाधे. अयम् अर्थो : वेदमर्यादात्याजकानां कर्मणां सदोषत्वशङ्कापरिहाराय **यतः** इति अव्ययप्रयोगः, तथाच एतत्कर्मणाम् अविकृतत्वम् उक्तम्. किञ्च स्वव्रतानि आत्मारामत्व-पूर्णकामत्वादीनि नियमरूपाणि बबाधे. अस्मिन् अर्थे 'नञ्'प्रश्लेषे व्रतानि स्पृष्टवान् इत्यपि अर्थो युज्यते. तदा तानि कर्माणि

गोपीभिः सह रमणरूपाणि पश्यत इति उपदेशः. अत्र कश्चन अर्थविशेषः तत्रैव उपपादितइति ततएव स परिभावनीयो विस्तरभयतो न अत्र वितन्यते. **इन्द्रस्य युजो योगो अनुकूलः सखा.** अयम् आशयः : प्रभुणा इन्द्रयागभङ्गे कृते बहुबलाहकासाधारणवर्षेण इन्द्रेण तद्द्रोहे कृतेऽपि समर्थोऽपि तद्धेतुक-तन्मदमेव दूरीकृतवान्, नतु तं तदधिकारं वा दूरीकृतवान् इति तथा. तदनन्तरम् इन्द्राभिषेक-'गोविन्द'-नामधारणादिभिः तत्समानधर्मा अतः तथा. एवं निरूप्य **तत् पूर्वोक्तं विष्णोः स्थानं परमपदं सूरयो** विद्वांसः, तत्त्वञ्च शब्दब्रह्म-परब्रह्मस्वरूपवित्त्वम्. तत्र परब्रह्मावबोधस्तु भक्त्यैव इति सिद्धान्तो, "भक्त्या मामभिजानाति, भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" इत्यादिवाक्यैः. **सूरयोभक्ताएव** किन्तु अत्र आह **तदुरुगायस्य** इति **सूरयः सदा पश्यन्ति** इति वाक्यैकवाक्यतायां भूमौ परमं पदं भक्ताएव सदा पश्यन्ति इति अर्थो अवसीयते. एवञ्च कानन-कालिन्दी-तत्पुलिन-गिरिवर-गह्वराद्यात्मत्वेन उद्भुतरूपवद् महत् च. ततश्च चाक्षुषं द्रव्यात्मकं च तत् परमं पदं कथं, भक्तैकदृश्यमेव, न साधारणगोचरम्! इति आकाङ्क्षायां दृष्टान्तम् आह **दिविव चक्षुरातम्** इति, **दिवि**स्वर्गो यथा आसमन्ताद् **ततं** व्याप्तं, "यन्न दुःखेन संभिन्नम्" इति वाक्यात्. सुखैकसाधनतद्रूपं तत्पदार्थं तत्रस्थानामेव **चक्षुः** पश्यति नान्येषां तथा एतल्लीलामध्यवर्तिनामेव दृश्यम् इति अर्थः.

।। जयति तेऽधिकं जन्मना व्रज (सुबो.१०।२८।१) इत्यत्र।।

श्रीहरिः. तृतीये अध्याये "**जयति तेऽधिकं जन्मना व्रज**" इत्यादिवाक्यवक्तृनिर्णये : पूर्वं वाक्यचतुष्टयेन सपूर्वाः उक्ताः, ततः तच्चतुष्टयेन असपूर्वाः उच्यन्ते. तत्र तद्वाक्येषु विवरणग्रन्थानुसारेण संग्रहकारिकोक्तः पाठक्रमो न विवक्षितः इति ज्ञेयम्. तत्र "**विरचिताभयम्**" इत्यनेन केवलसात्त्विक्यो निरूपिताः, तत्र धाष्टर्चस्य स्पष्टनिरूपणाद्यभावात्. "**व्रजजनार्तिहन्**" इत्यनेन धाष्टर्चात् तामस्यः उक्ताः. "**प्रणतदेहिनाम्**" इत्यनेन किञ्चिद् व्यक्ततया निरूपणाद् राजस्यः. "**मधुरया**" इत्यनेन सकलस्वामिन्यर्थे प्रार्थनात् स्वदासीत्वनिरूपणात् च गुणातीताः उच्यन्तइति अन्यपूर्वावद् अत्रापि क्रमो ज्ञेयः इति अर्थः. गुणातीतभावस्य कामरसाभिनिविष्टानां

प्रथमम् अनुदयाद् इति सर्वत्र पश्चात् तन्निरूपणे तात्पर्यं ज्ञेयम्.

॥ सुरतनाथ ते (सुबो.१०।२८।२) इत्यत्र॥*

सुरतं संभोगः इत्यादेः अयम् अर्थः : रतं लौकिक-'भोग'-शब्दवाच्यम्. तत्तु सृष्टिम् आरभ्य प्रवर्तते. तत्र (न!) भगवदाज्ञापेक्षा, सृष्टिसमानयोगक्षेमत्वात् तस्य. एवं सति सुष्ठु अलौकिकं शोभनरूपं यद् रतं तत् 'सम्यग्भोग'शब्दवाच्यं, तद् अस्मास्वेव त्वदाज्ञापेक्षया इति यावत्, त्वयैव प्रवर्तते. यतो जगत्, लौकिकं, गच्छति=नश्यत्येव नतु स्थिरम्. अतो अत्यलौकिकस्वरूपानन्दरूपं तत्र प्रकटीभवितुं न अर्हति. एतादृशस्य तस्य भवानेव **नाथः** प्रवर्तको रक्षकः च. एवं सति (स!) रसः चेत् त्वय्येव निरुद्धः तिष्ठेत्, तदातु अलौकि(क)कामतः प्रतिबन्ध(न्धा!)निवृत्तिः. अतएव अग्रे "विखनसार्थित..." इति वक्ष्यते. कामो भगवदीयो, मनसः पूर्वरूपत्वाद्, वाच्यः उत्तररूपत्वाद् "मनश्चक्रे" इति उक्तम्.

॥ अन्तःस्थितो...वाग्-निर्गमस्तथा (सुबो.कारि.१०।२८।२) इत्यत्र॥*

"जगौ कलं वामदृशां मनोहरं" "ता दृष्ट्वान्तिकम्" इत्यादिकं वाग्रूपम् अलौकिकभावात्मकत्वात् तासामपि आज्ञारूपत्वम् इति आशयः. तैरेव वचनैः प्रतिबन्धनिवृत्तिरपि.

॥ न खलु गोपिकानन्दनो भवान् (सुबो.१०।२८।४) इत्यत्र॥

भगवतो नन्दसूनुत्व... इत्यादि. तत्र अयम् आशयो–अत्र पद्ये गुणातीतभावाः स्वामिन्यो वक्त्र्यः उच्यन्ते. सच भावः केवलभगवत्स्वरूपएव उच्यते, "मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्" इति वाक्यात्. तस्मिन् सति भगवत्स्वरूपं वस्तुतो यादृशं तादृशमेव भासते भावविषयत्वेन, नतु स्वभावाधीनाविर्भवनम्.

तदानीमेव तथाविर्भूतं तथाच 'गोपिकानन्दन' इति निषेधार्थम् अनुवादेऽपि स्वामिनीतात्पर्यविषयतया तेन पदेन नन्दसूनुरेव वाच्यो, भगवति स्वतो गोपिकानन्दनत्वाभावाद् नन्दएव लीलार्थम् आविर्भावावसरे पुत्रत्वबुद्धेः उत्पादितत्वात्. ततएव जन्मोत्सवकरणं तथा बुद्ध्या, "स्वपुत्रस्योदयाय च" इति वाक्यात्. अतएव "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" इति भगवत्कृत्यनुवादकं शुकवचः. स्वज्ञानानुसारेण अनुवादे भगवल्लीलावक्तृत्वं शुकस्य न स्यात्, भगवत्कृतलीलोपयोगिपुत्रत्वबुद्धेः अननुवादात्. यशोदापुत्रत्वन्तु प्रभौ स्वामिनी-भावविषयत्वेन, "गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम्" इति वाक्येन तासां तथाविध-भगवद्भाव-निरूपणात्. नन्दसुतत्वन्तु द्रोणदत्तात्मभूवरसार्थक-त्वाय भगवता स्वयमेव प्रकटितं, अवतारस्य अलौकिकरीत्यैव सम्पत्तिः इति ज्ञापनाय च. अन्यथा मातुः पुत्रत्वेन जनने लौकिक्येव रीतिः स्यात्. अतएव आचार्यैः "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" इति ग्रन्थसन्दर्भे "पितुः पुत्रो, अतो नन्दो जातकर्म कारयामासेति सम्बन्ध" इति उक्तम्. लौकिकरीत्या जननन्तु न भगवति पुरुषोत्तमे सम्भावितम्, अलौकिकत्वात्. तादृशेहि प्राकट्यस्यैव 'जन्म'शब्दवाच्यत्वात्. अतएव उक्तं "नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा" इति. अतो मायावेष्टितस्यैव यशोदायां भगवतः स्थितिरिति तस्याएव ततः साक्षाद् जन्म, भगवांस्तु आवृतएव जातो, मायागमनपर्यन्तं च तथैव स्थितइति न यशोदायाः जननसमये भगवति सुतत्वबुद्धिः. अनावृतप्राकट्यन्तु पश्चाद् आवरकगमनोत्तरमिति पुत्रत्वं नन्दभावविषयत्वेनैव. अन्यथा श्रीनन्दस्येव मातॄणामपि आत्मजबुद्धिः उच्येत. तत्रतु "जातं परम् अबुध्यत" इति वाक्यात् सामान्यतो जननज्ञानं नतु भगवद्विषयकम्. अन्यथा भगवति साक्षाद् आविर्भूते तद्भावे च सति निद्रारूपं मायाकार्यं कथम् उपपद्येत? देवक्यान्तु प्रद्युम्नांशेनापि पुत्रत्वं, प्रकृतेतु मायावरणात् न तथा. व्यूहानामपि अत्र अप्राकट्यात्. तत्कार्यस्यापि वंशसम्बन्धस्य अत्र अचिकीर्षितत्वात्. अतएव उक्तं विवृतौ प्रभुभिः "पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहएव मायया सह जातः" इति, जननस्य मायापर्यवसायित्वबोधनायैव तत्सहभावोक्तिः. अतएव "निरीक्ष्यमाणेऽजननी ह्यतिष्ठताम्" इत्यत्र 'नञ्'प्रश्लेषेण व्याख्यानं कृतम्. नन्देतु "नन्दः स्वपुत्रम् आदाय" इत्यत्र भगवति पुत्रभावएव उदितः. तत्रापि 'स्व'पदेन स्वसम्बन्धएव भावः, अतो न यशोदासम्बन्धः इति निरूपितम्. ननु "तन्मातरौ निजसुतौ"

इत्यत्र मात्रोः स्वसुतत्वभावानुवादः कथम् उपपद्यते? इति चेत्, न तत्र तदानीमेव बालीलाभिः भगवता निरोधार्थं पुत्रभावोत्पादनात्. अन्यथा पुत्रभावस्य सार्वदिकत्वे तत्र दुःखजनककृतिरूपम् अग्रे बन्धनं न कुर्यात्. नहि पुत्रे जनन्यः एवं कुर्वन्ति. ननु तदा पुत्रभावाभावे "स्वार्भकस्य कृतागसः" इति शुकोक्तिः न घटते! इति चेत्, न, तदा मातृचरणेषु भगवति प्राकृतइव पुत्रबुद्धिरिति अन्यथाबुद्धिनिरूपणार्थमेव तथा उक्तत्वात्. अन्यथा अग्रे भगवति पुत्रत्वाभावबोधक-दामापरिच्छेद्यत्वादि-ब्रह्मधर्मान् शुको न वदेत्. अतएव दामबन्धनानन्तरं यशोदायाः भगवति स्नेहकला निवृत्तेति निरूपितम् आचार्यैः. पूर्वमपि जननाभावेन सहजस्नेहो न स्थितइति कलात्वकथनम्. सापि बाललीलया निरोधार्थं भगवता उत्पादितैव. सिद्धे साधारणनिरोधे प्रयोजनाभावात् तन्निवर्तनम्. "शृण्वन्त्यशृण्यवाप्राक्षीद्" इत्यत्र समाधानं "गुणानां माहात्म्यम्" इति आचार्यैः उक्तमेव, अन्यथा सहजत्वे स्नेहस्य कथं निवृत्तिः स्यात्? स्वामिनीनामिव व्यसनभावएव उदियात्. सच मुख्यरस-लीलाङ्गीकृतावेव सम्पद्यते इति भावः. अतो लीलाभिः आगन्तुकः पुत्रभावो यशोदायाः. नन्वेतु प्रादुर्भावरसोत्पन्नत्वेन स्थायिभावात् सहजएव. अतएव "अहं ममासौ पतिरेष मे सुतः" इति सुतत्वबुद्धेः कुमतित्वेन गणनं श्रीयशोदायाः. श्रीनन्दादीनाम् तत्परिचायकन्तु तत्र बन्धनमोचनम्. "विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह" इति वाक्यात्. अतएव श्रीनन्दस्यैव अग्रे श्रीमदुद्धवं प्रति, स्वव्यसनभावबोधकानि "स्मरतां कृष्णवीर्याणि" इत्यादिवचनानि. सर्वज्ञगर्गेणापि "तस्माद् नन्दात्मजोऽयं ते" इति निःसंशयम् अभिहितम्. "अयं वै रोहिणीपुत्रः" इत्यत्र निश्चयवाचकाव्ययप्रयोगेन भगवति यशोदापुत्रत्वे सन्देहएव उक्तः, लीलया पुत्रत्वदर्शनात्–स्वसार्वज्ञ्येन मायावृतप्रादुर्भावस्य स्फुटकरणात् च संशयोत्पत्तेः. अतएव न भगवति 'रौहिणेयः' इतिवद् 'याशोदेयः' इति मातृसम्बन्धेन नामापि, गर्गेण अप्रकटितत्वात्. 'नन्दात्मज' इतितु "तस्मात् नन्दात्मजः" इति वाक्याद् भवत्येव नाम. स्वामिनीभावविषयत्वेन यशोदासुतत्वं, देवकीसुतत्ववत्. 'देवकीजठरभूः' इतिवत् "तव सुत" इति उक्तेः. अतएव "गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम्" इति वाक्ये शुकेनापि तद्भावविषयत्वेनैव भगवति तथात्वम् उक्तम्. तस्माद् नन्दसूनुरेव वस्तुतो भगवान् इति निर्गुणभावापन्नायाः स्वामिन्याः तात्पर्यम्. गोपिकानन्दनत्वोक्तिस्तु श्रवणकर्त्रीणां

भावः तथैवेति तद्भावम् आदाय ताः प्रति निषेधार्थं तथा अनुवादाय इति स्वामिनीतात्पर्यम् आदाय विवृतौ आचार्यचरणैः भगवतो नन्दसूनुत्वम् इति अभिहितम्. एतत्तात्पर्यविद्भिः तदीयैः अत्र निःसंशयैः भाव्यम् इति दिक्.

प्रसीदन्तु निजाचार्या मयि निःसाधने स्वतः।
स्वकीये (हरि!)दासे तु स्वसम्बन्धिकृपालवः॥

॥ प्रणतदेहिनां पापकर्षणम् (सुबो.१०।२८।११) इत्यत्र॥

श्रीकृष्णाय नमः. ननु प्रणतानां कथं पापम् उपपद्यते? इति चेत्, मैवं, स्वधर्ममाहात्म्यं लोके प्रकटयितुं स्वधर्माविर्भावं कृत्वापिभ[1] दोषं नाशयति, न धर्मेणैव, तथेच्छावत्त्वात्. अतएव "दुःसह..." इत्यारभ्य "धुताशुभाः" इति उक्तम्. भोगं विना पापनाशः प्रमेयबलेन भवतीति तत्तन्नाशात् पूर्वम् अपेक्षितम्. प्रभुणा सम्बन्धाभावाद् न ततः तथा, अतः स्वधर्मलक्षणप्रमेयबलेन तान् उद्दिधीर्षुः तथा करोतीति न अनुपपन्नं किञ्चित्. शास्त्रार्थं ज्ञात्वा मनसा शरणं गताः प्रणताः. देहाभिमानित्वाद् हीनाधिकारेऽपि सति तावत्साधनं सम्पादयसि येन पदाम्बुजं प्रकटीकृत्य तादृशस्य दुःखदत्वाद् विहारात्मकं पापं तथा करोतीति न जीवकृतसाधनम् अपेक्षते. स्वतएव सर्वं करोतीति अत्रापि तथैव कार्यम् इति भावः.

यद्वा, अत्र द्वन्द्वो ज्ञेयः. सर्वत्यागपूर्वकं केवलं तदधीनत्वं नतेः प्रकर्षः. तत्र आद्यस्य विरहएव 'पाप'शब्दवाच्यो, दुःखदत्वात्. निषिद्धकर्मकृतिजंहि पापं, तद् अत्र मानरूपम्. तादृशां दुःखम् उचितं भवति परं त्वं कर्षणैकस्वभावइति तथा. द्वितीयस्य कर्मजं, तच्च श्रवणकीर्तनस्मरणादिभिः कर्षति.

यद्वा, कर्मधारयो ज्ञेयः. प्रकर्षेण नतिः सर्वात्मभावः, तस्मिन् सति प्रभौ समर्पणार्थं देहो अभिमानादिः. एतादृशानां प्रियस्वरूपातिरिक्तस्य

१. सरासे तु इति पाठः संदिग्धः. २. दोषं न नाशयति, धर्मेणैवेति पाठः.

सङ्गप्रतिबन्धकत्वेन तथात्वं मन्यते इति तथा. अतएव ''विश्वतो भयाद्' इति उक्तम्. भगवद्गुणानां पुण्यरूपत्वं च वक्ष्यते ''जगुः कृतानि पुण्यानि'' इति. हृच्छयस्य सपदि दुःखदत्वेन तथात्वं मन्यते. तेन तत्प्रार्थनं, यद्यपि सङ्गोपयोगी, तथापि सङ्गप्रतिबन्धकमानहेतुत्वेन हेयः.

यद्वा, प्रणतो देहएव येषां, नतु अन्तःकरणादिरपि, तेषामपि तथा इति अर्थः.

यद्वा, प्रणतदेहिनां सम्बन्धिनो, नतु स्वयं प्रणताः, तादृशानामपि तथा इति अर्थः. एतेन साक्षात् परम्परयापि अनिष्टनिवर्तकत्वम् उक्तं भवति. अपरञ्च अङ्गीकृतपालने तव युक्तायुक्तविचारं न पश्यामो, यतः तृणचराणामपि अनुगम्. तज्जीवनं तृणैरेव, तानिच अमार्गेऽपि भवन्ति, स्वानुरोधेन न तान् वारयसि किन्तु ते स्वभक्ष्यं यत्रैव पश्यन्ति तत्रैव अविचारं गच्छन्ति मुञ्जाटव्यामिव, तदनु स्वयमपि गच्छसि तदधीनः सन्. एतेन अस्मज्जीवनहेतुः त्वत्पदाम्बुजं, तस्य मकरन्दो मादकइति तेनैव मानरूपोन्मार्गगमनेऽपि न उपेक्षा उचिता, यतो वयम् अङ्गीकृताः. नोचेद् जीवनमेव न सम्पत्स्यतइति अतिक्लिष्टा वयम् इति उक्तं भवति. एतेन त्वयैव इयं रीतिः प्रकटीकृतेति न अन्ततो अस्मद्दोषः इति ज्ञापितं भवति. अन्यथा कृष्णमुखनिर्गत-वेणुगीतपीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पूर्वं पीत्वा अतिसुखितानां लोके लौकिकत्वेन परिदृश्यमानेषु वस्तुतस्तु अलौकिकेषु तृणेषु उक्तपीयूषातुल्येषु तेषां प्रवृत्तिः कथं स्याद् यदि भवान् स्वलीलाविशेषार्थं तथा-तथा तान् न प्रवर्तयेत्! वस्तुतस्तु उक्तरूपाणां तेषां तृणे रुच्युत्पत्त्यर्थं त्वदनुगमनम्. तेन भक्तिरसपोषितानि तृणानि भवन्तीति तेषां तत्र रुचिः भवति. तादृशीषु अस्मासु स्थापने अस्माकमपि अभीष्टदं पालकं च तद् भविष्यति स्वस्वभावाद् इति भावः. अपरञ्च श्रियः स्थानं तदिति तज्जातीयासु अस्मास्वेव स्थापयितुम् उचितम्. किञ्च तस्याअपि नायिकात्वाद् रसपोषकसामयिकएव सम्बन्धो अभीष्टो, नतु तृणसंचारः. क्रमेण एतद्विशेषणद्वयोक्त्या इदम् एवं ज्ञाप्यते. अत्र स्वयं साक्षात्सम्बन्धसमयम् अलभमाना श्रीः विचारितवती, प्रभुः पशून् आतृप्ति चारयित्वा सायं व्रजं नीत्वा निशि स्वप्रियाभिः क्रीडिष्यत्येव, तदा तत्सम्बन्धेन रमणमिव

ममापि भविष्यतीति श्रियो दूरपर्यन्ते हृदयम्. तदनुगत्वेन रजसा श्रमेण च सौन्दर्याभावशङ्कापि निरस्ता द्वितीयेन. तेन यथा-यथा चारणं तथा-तथा शोभातिशयः उक्तो भवति.

अथवा तृणचरानुगमने स्नेहभरेण कण्टकादिस्पर्शशङ्कया स्वयं सूक्ष्मरूपेण चरणाम्बुजतले स्थित्वा तत्सम्बन्धं वारयतीति तदा श्रीनिकेतनं भवतीति तथा उक्तम्.

अपरञ्च यदि स्वेच्छया स्वयं नयेत् पशून्, तदा अग्रे विषपानात्मकानिष्टसम्बन्धो न स्यात्; किन्तु, ते स्वेच्छया गच्छन्ति. प्रभुः तदनु तदधीनः सन् गच्छतीति अग्रे अनिष्टसम्बन्धे तन्निवारणाय अम्बुजत्वेन अतिसुकुमारमपि पदम् अतिक्रूरेऽपि तत्र अर्पयसि. तदाहि व्रजवासिस्नेहपरीक्षायां सम्पन्नायाम् अतिसन्तोषात् तद्द्वारा सा सम्पन्नेति, तस्मिन् सन्तुष्टः तच्छिरस्सु ब्रह्मादिदुर्लभरजस्काभ्यां पदाभ्याम् अनृत्यत्. अल्पकालमात्रं तथा नृत्यमात्रं न कृतवान् किन्तु तद्विभुभयं सार्वदिकं निवारितवान्. गरुडः सदा तच्छिरस्सु पदाम्बुजं पश्यतीति. अतएव अर्पणम् उक्तं न स्पर्शमात्रम्. अस्मत्परीक्षायाः पूर्वमेव सम्पन्नत्वात् दुःखदनिवारणमेव कार्यम्. स शयानो अन्तः चोरवद् बाधते. पदाम्बुजसम्बन्धेन अस्मद्द्वारा सोऽपि तापरहितः सन् अस्मानपि न तापयिष्यति इति भावः. 'तापयति' इति तस्मिन्नपि तापो लक्ष्यते. क्रूरे तप्ते वा स्थापितं न विकृतं भवतीति ज्ञापनाय ते इति, त्वं यतो अविकृतः. सर्वात्मना त्वत्परान् स्वार्थपरान् सहजदोषदुष्टानपि कृपयसीति अस्मास्वपि स्वतो दोषरहितासु कृपा कार्या इति भावः.

अपरञ्च विपरीतरसे पूर्वविशेषणवतीनाम् अतिभारेण अतिश्लेषसम्भवे तदा स्वोद्वेजकत्वेन तदिव वेणीरूपं कर्षति. "त्वाम् अहं जेष्यामि" इति जिगीषावचनेन मनसो वचसः च नतत्वाभावाद् देहमात्रम् उक्तं, पुंल्लिङ्गप्रयोगः च. तद्भावप्राधान्यात् तृणचरेषु [इहैव अन्योऽपि लेखः श्रीहरिरायाणां : तृणचरेषु इत्यत्र अयं भावः – भगवान्हि गवां सङ्गे गच्छन् तृणानि भक्तिरसामृतयुतानि चरणसम्बन्धेन विधाय तन्निष्पादित-तन्निष्टं दुग्धादिरसं स्वभोग्यं विदधाति तथा अत्र स्वभोग्यो यो रसः, पुरुषत्वेन तत्सम्पादकं यद् रसाधिक्यं,

तत्सम्पादकं चरणमिति तथा चरणे(तथाचरणे) सम्बन्धे भगवद्भोग्यपुरु(षत्वेन)सम्बन्धो अस्मासु भविष्यति इति भावः] स्वभोग्यरससम्पादकम्. गवां तद्भक्षणेन तृणचरत्वम्. उक्तरूपाणान्तु लीलोपयोगिशाड्वलप्रदेशगमनेन तथात्वम्. अथवा तृणं सर्वतो लघु, तद्वत् चरन्तीति तदा चलनातिलाघवेन रसातिशयात् पुनः तत्प्राकट्यार्थं प्रेरयन् पृष्ठतः तद् व्यापारयतीति तदनुगत्वम्. निःसहनिपतनेन अग्रिमं विशेषणम्. ततश्च अग्रिमविशेषणेन "विविधबन्धेषु नृत्यदिव ते पदाम्बुजं तथा कुरु" इति हार्दो व्यञ्जितो अर्थः.

मयेदमुक्तं युक्तं वाऽयुक्तं नैव विचारितम्।
तत् क्षमतां प्रियायुक्तश्रीकृष्णोऽस्मत्कुलेश्वरः॥

॥ तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् (सुबो.१०।२८।११) इत्यत्र ॥

श्रीकृष्णाय नमः. **पाल्यानां चर्म च न परिधेयम्** इत्यत्र. ननु भूम्याद्यनुग्रहाय पादुकापरिधानाभावेन चरणयोः अवसादः किमिति सम्पाद्यते? यद्यपि पादुकापरिधानेन चरणभूम्योः मध्ये अन्तरालसम्भवात् व्यवहितस्यापि तस्य अस्पर्शात् तदनुग्रहासिद्धिः तथापि व्यवधायकान्तरेण तत्सिद्धेः. श्रीकुङ्कुमलिप्तपदस्पर्शेऽपि तथासुखस्य हृदये स्वानुभवसिद्धत्वात्. अतः किमिति अवसादं प्राप्येत? इति पदे तदभावार्थं तदनुग्रहार्थं च चर्मादिकमेव न कुतः परिधीयते अस्मद्धृदयकठिनताम् अवगत्य कुङ्कुममिव इति आशङ्क्य आहुः **पाल्यानां चर्म च** इति, तेहि गवादयो "अजा गावो महिष्यश्च" इति वाक्यात् सर्वभावेन पाल्याः. तच्च जीवतामेव घटते इति तच्चर्मपरिधाने ते मृत्योः अपालिताएव स्युः. अतो न तत् परिधेयम्. अन्येषान्तु चर्मणः चरणसम्बन्धायोग्यत्वमेवेति अपरिधानमेव इति अर्थः. किञ्च चर्मणश्च चरणसम्बन्धे भक्तिरसालोडित-तृणभक्षणजनित-परमानन्दाभावेन तदंशे अपालितत्वं स्यादिति पाल्यानां तत्परिधानम् अनुचितम् इति भावः. अतएव "तृणचरानुगम्" इत्यत्र 'तृणचर'पदं ताभिः उक्तम् इति दिक्.

॥ ''दिनपरिक्षये...'' इत्यस्य आभासे (सुबो.१०।२८।१२) इत्यत्र॥*

अयम् आशयः : इतः षड्भिः श्लोकैः अन्यपूर्वाः निरूप्यन्ते. ताः पतिमत्यइति तन्निरोधेन स्वतोवा तत्संकोचेन दिवा बहिर् गत्वा द्रष्टुम् अशक्ताः. कुमारिकास्तु, **चतस्रः** इति, प्रतिबन्धाभावात् गन्तुमपि शक्ताइति तासां वने दर्शनादिना दिवापि कामः उदेति. सपूर्वास्तु दिवा वियोगमात्रेण गुणपरतया विस्मृतकामभावाइति सन्ध्यायां प्रभुरेव आयाति तदा निशि संयोगम् अपनुद्य गुणपरतां निवार्य कामम् उद्बोधयतीति तथा उक्तम् इति अर्थः. एवं निरूपणे अस्याः राजसतामसीत्वं सिद्धम्. यद्यपि संग्रहकारिकायां तामसीत्वमात्रम् उक्तं तथापि कामनिरूपणात् तस्यच भावकृतित्वनिरूपणेन उपालम्भदानात् च उभयविधभाववत्त्वम् आयातीति तथा उक्तम्. तदनन्तरं **ततः** इति, अन्यपूर्वाणाम् अनन्यपूर्वावद् अहर्निशकामाभावात् सन्ध्यायाम् आगतेन भगवता पुनः कामभावोत्पादने ततः कामोत्पत्त्यनन्तरम् आविर्भूताभ्यां रजोगुण-सत्त्वगुणाभ्यां बन्धप्रार्थनाधरामृतप्रार्थने भविष्यतइति पूर्वम् अनेन तमोगुणनिरूपकेण वाक्येन कामनिरूपणम्. पश्चात् **'प्रणतकामदं'** — **'सुरतवर्धनम्'** इति रजोगुण-सत्त्वगुण-निरूपकाभ्यां श्लोकाभ्याम् अन्यपूर्वाणां प्रार्थनाद्वयं निरूपितम्. अनन्यपूर्वाणान्तु दिवा निश्यपि कामसत्त्वेन तन्निरूपणाभावेनैव **'प्रणतदेहिनां'** — **'मधुरया'** इति श्लोकाभ्यां तथा प्रार्थनाद्वयं निरूपितम् इति भावः. कामस्य नित्यत्वम् अत्र दिवा रात्रौ सत्त्वं ज्ञेयम्. ननु मुखप्रदर्शनमात्रेण कथं कामोत्पत्तिः कारणकलापाभावाद् इति आशङ्क्य आहुः **रजोगुणस्य** इति, सन्ध्याहि रजोगुणकालः, कामिनीनां गृहकार्यादिषु विक्षेपजनकत्वात्. अतो रजोगुणेन उत्पन्नेन तत्कारणेन कामोत्पत्तिः इति अर्थः. ननु साधनकाले कामरूपतत्फलोदयम् इति आशङ्क्य आहुः **कामस्य च** इति, कामोहि प्रियसम्बन्धाभिलाषरूपः तस्य तदानीमेव जननाद् इति भावः. एतेन सा न फलकालयोः एकत्वाद् अविलम्बो न तदानीन्तन-मुखदर्शनकामजनकत्वम् इति सूचितम्.

॥ ''तासामाविरभूद्'' इत्यस्य आभासे (सुबो.१०।२९।२)॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्णएव जातः इत्यस्यां विवृतौ अयम् आशयः इति तत्कृपयैव प्रतिभाति : तथाहि भगवतो रूपेऽपि

त्रैविध्यम् अस्ति नाम-रूप-रसभेदेन. तत्र नामात्मकं वेदात्मकम्. शब्दब्रह्मणो, अनन्तमूर्तित्वाद्, अनन्तभेदवत्त्वम्. तथाहि निःश्वासात्मकस्य एकस्य वेदस्य अनन्तशाखाभेदेन अनन्तमूर्तित्वं मूलसाम्यं च, प्रकारभेदेऽपि वेदत्वात्. यथावा रूपात्मकस्य वैकुण्ठवासिनो अवतरणे अवतारभेदेन अनन्तमूर्तित्वं सर्वावतारसाम्यं च. तथा स्थायिभावात्मकस्यापि भगवतो भक्तहृदयगतभावभेदेन अनन्तमूर्तित्वं भावत्वेन साम्यं च. प्रकारमात्रे परं भेदो, यथा अवताररूपेषु मत्स्यत्वादिप्रकाराः. एवं सति स्वामिनीषु ये भावाः तद्रूपेण रसात्मको भगवानेवेति पूर्वं मानभावेन आविर्भवन् ब्रह्मा जातः. ततो निजरक्षार्थं गुणगानहेतुभूतभावेन आविर्भवन् विष्णुः. ततो रोदनात्मकः सन् सर्वनिरासकत्वेन प्रलयकर्ता रुद्रो जातः. तदनन्तरं परमदैन्येन सन्तुष्टः स्वसत्तां स्वानन्दं च भक्तेषु प्रकटीकृत्य सदानन्दः कृष्णएव जातः इति अर्थः.

अत्र अयम् अभिसन्धिः — सत्ता द्विविधा : जीवसत्ता भगवत्सत्ता वा. तत्र जीवसत्ता परिच्छिन्ना, अपरिच्छिन्नातु सा भगवतः. अतएव जीवः एकत्र विद्यमानः, तत्र सन्नेव, परत्र न इति निगद्यते, भगवांस्तु न तथा. एवं सति पूर्वं तेषु स्वसत्तैव स्थिता, न प्रभोः. अतएव भगवतइव तासां न सर्वत्र आविर्भावादौ सामर्थ्यम्. इदानीम् आनन्दस्यापि अतिदुःखेन तिरोधानाद् भगवानेव सरसो यशस्वी कृपया आविर्भूय स्वसत्तां स्वानन्दं च एतेषु स्थापितवानिति सदानन्दप्रकटनेन कृष्णएव जातइति. एवकारेण एतद्रूपप्राकट्ये पूर्वरूपाणां ब्रह्मादीनां तिरोधानं गम्यते, मानभावादीनां तिरोधानाद् इति उक्तम्. तथाच एतासाम् अतः परं भगवद्रूपत्वम् आनन्दमात्रत्वं सर्वत्र विद्यमानत्वं भक्त्याविर्भाव्यत्वं भगवदभिन्नत्वं सदातत्सहितत्वं च मन्तव्यम्. अतएव व्याकृतौ अस्मदाचार्यैः उक्तं "तासां मध्यएव भगवान् आविर्भूतः" इति. तदर्थस्तु यथा काष्ठान्तर्गतो अग्निः स्वाच्छादकं दूरीकृत्य प्रकटो भवति; काष्ठं च स्वस्वरूपभूतं करोति, तदाकारं च यथास्थितं स्थापयति, तथा भगवानपि एतदन्तःस्थितः कृपया स्वाच्छादक-माया-जवनिकां दूरीकृत्य तासु स्वयमेव प्रकटः, शरीरेन्द्रियादिकं तासामेव इति. एतेन अतः परम् आविर्भूत-भगवत्स्वरूपात्मिकाः एताः इति निरूपिताः. अतएव एतन्मात्रसेवया भगवत्सेवा कृता भवति. एवमेव अस्मदाचार्येषु तदात्मजेष्वपि बोद्धव्यम्. आगमनन्तु पूर्वरूपेण येन रमारमणम्. आविर्भावस्तु एतद्भावस्य तदुत्तरं

तद्रूपम् अधिष्ठानं प्राप्य पुनः मिश्ररूपत्वसिद्ध्या तथा रमणं, पश्चात् भ्रमरगीतप्रसङ्गे केवलस्थितिः इति दिक्.

श्रीमत्स्वाचार्यदासेन दीनदीनेन ह्वतः ॥
भावः प्रकाशितस्तेन सन्तु ते मयि वत्सलाः ॥

॥ ताभिर्विधूतशोकाभिः (सुबो.१०।२९।१०) इत्यत्र ॥

श्रीहरिः. अन्यथा स्वार्थमेव तिरोधानं स्याद् इति. अत्र अयम् आशयो – अत्रहि स्वामिनीनाम् अप्राकृतत्वं निरूप्यते, भगवति तत्सम्बन्धज-प्राकृतत्वशङ्कापरिहाराय तत्सम्बन्धयोग्यत्वाय च. तच्च अप्राकृतत्वं ब्रह्मभूतत्वएव सम्भवति. तच्च पुनः शोकाद्यभावेन तल्लक्षणभूतेन ज्ञेयम्. "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति" इति वाक्यात्. एवं सति स्वामिनीनां सांसारिकशोकस्य असम्भवेन प्रभुरेव तदर्थं तिरोभूय दर्शनम् अदत्वा स्वविरहे शोकम् उत्पाद्य पश्चात् प्रादुर्भूय तद् निवार्य विधूतशोकत्वेन ब्रह्मभूततया तासाम् अप्राकृतत्वं ज्ञापितवान्. अन्यथा साधारणजगति क्रीडार्थं स्वस्य तत्र प्रवेशरूपस्वतिरोधानवद् अत्रापि कृतं तद् इति स्यात्. तथाच इतरसाधारण्येन प्रत्युत प्राकृतत्वमेव स्वामिनीषु स्याद् इति न पूर्वोक्तशङ्कोद्धारः. स्वार्थतिरोधानन्तु "स नैव व्यरमद्" इति श्रुत्यैव उक्तमिति श्रुतिः उपन्यस्ता. प्रकृतेतु तासाम् आनन्ददानार्थमेव तत्र प्रवेशो न स्वक्रीडार्थम्, अतएव 'वृतः' इति उक्तम्. नहि जगति प्रविष्टो बहिर् आविर्भूय तेन वृतो भवति, नवा तत्सम्बन्धेन स्वशोभां वा सर्वतो अधिकां प्रकटयति. एवं सति अत्र शोकतदभावयोः विलक्षणत्वाद् अत्र अप्राकृतत्वबोधार्थमेव प्रभुणा एवं कृतम् इति अस्मदाचार्यचरणतात्पर्यम् अवगन्तव्यम् अव्यग्रैः तदीयदासानुदासैः इति संक्षेपः.

॥ ''स्वैरुत्तरीयैः'' इत्यस्य विवरणे (सुबो.टिप्प.१०।२९।१३) इत्यत्र॥*

श्रीहरिः. **स्वैरुत्तरीयैः** इत्यस्य विवरणे **येषां जलेऽपि न आर्द्रता** इत्यत्र टिप्पण्यां **जलक्रीडानन्तरम् आर्द्रता न तिष्ठति इति अर्थः** इति. तत्र तत्कृपयैव अयम् आशयः इति प्रतिभाति : एतानि वसनानि, प्रभुणा स्वामिनीसाक्षात्सम्बन्धकृतिव्याकुलतरेण, तान्येव तद्भावनया कामभावेन काममयानीति तत्परिधानमात्रेणैव तथा भगवद्विषयक-कामोदयः. यथा क्षणमपि प्रभुसम्बन्धम् अन्तरा स्थातुमेव न शक्यते. तद्भावेच वह्नेः सम्बन्धतः परितापोदयः. तथाच यावत्पर्यन्तं जले भगवता सह क्रीडनं तावद् आर्द्रता. वसनानां परितापानुदयात् आर्द्र-वसन-संलग्न-सुन्दरतराङ्ग-सन्दर्शन-समुदयाद् उद्भटभावनिमत्तमनसा हरिणा निजाङ्गसङ्गेन शामनात् च. यदा ततो निःसृताः भगवतो भिन्ना भवति तदा तत्क्षणमेवोदित-कामाग्निज-तापेन शुष्कता भवति इति अर्थः. अतएव उक्तम् आचार्यचरणैः व्रतचर्याध्याये ''अतएव जलक्रीडादिषु वस्त्रोत्तारण-परिधाने न अपेक्षिते'' इति, वसनानां कामोदयहेतुत्वं च प्रियसम्बन्धित्वेन, यथा अन्यासां दृष्ट्यादिना तत्सम्बद्धानाम् इति दिक्.

॥॥ **कुण्डलैर्गण्डलोलैः** (सुबो.१०।३०।८) इत्यत्र॥

श्रीहरिः. **गण्डेहि** इति, भगवन्मुखारविन्देहि भक्तिरूपे द्विविधो रसः : केवलः काममिश्रितः च. तत्र गण्डे केवलः, कामोदयाभावेऽपि केवलसौन्दर्यदर्शनमात्रेण वक्त्रसंयोगेन पेयत्वात्. अतएव बाललीलादिषु एतासां मात्रादीनामपि तथाकरणम् उपपद्यते. तथाच प्रभोः नृत्यसमये स्वामिनीकपोलयोः कुण्डलकान्तिप्रकाशितयोः सौन्दर्यविशेषाभिव्यक्त्या तथा कृतिः भवतीति तदर्थमेव कुण्डलाभ्यां तत्स्थलप्रकाशनम् इति भावः. कामलीलायाः अग्रे वक्तव्यत्वाद् इदानीं न लोभस्थरसग्रहणमिति न तत्प्रकाशनं, नृत्यमध्ये तथाकरणानुपपत्तेः. लोभात्मकेहि कामसहितो भक्तिरसः, तदुदयेनैव तत्पानसम्भवात्. ननु स्वामिनीवद् बाह्वादिष्वेव प्रभोरपि तथाकृतिः अस्त्विति कुण्डलप्रकाशोऽपि तस्यैव आस्ताम्! इति चेत्, तत्र आहुः **गण्डएव**

इति, **''स्विद्यन् मुख्य''** इत्यनेन अन्तर्गतस्य सर्वत्र स्थितरसस्य तत्रैव प्राकट्यनिरूपणेन पानसम्भवात्. रसस्य सम्यक् स्पष्टतया तत्रैव यतः आप्तिः प्राप्तिरिति पानार्थं तत्रैव प्रकाशनम् इति अर्थः. यद्वा पेयोहि अत्र स्नेहरसः, तस्य तत्रैव समाप्तिः, हृदयाद् उत्पन्नस्य मुखएव पर्यवसानं, स्नेहरसाभिनिविष्टानां मुखदर्शनमात्रेणैव सकलमनोरथपूर्तेः. तथाच कामोदयहेतुभूतनृत्ये पूर्वं तदनुदयात् स्नेहमात्रवत्त्वेन तत्रैव तद्रसपानमिति तदानीं कुण्डलाभ्यामपि भगवदर्थं तत्स्थलप्रकाशनम् इति सुष्ठूक्तम् आचार्यैः **गण्डएव** इत्यादीति सर्वम् अनवद्यम्.

॥ अतः परं राधादामोदरवद् (सुबो.१०।३०।१६) इत्यत्र ॥

श्रीहरिः. इदं विचार्यते : अग्रे ''एवं परिष्वङ्ग'' इत्यादिना समुदायरमणं निरूप्य ''कृत्वा तावन्तम्'' इत्यनेन प्रत्येकरमणं निरूप्यते; तच्च तादृक्प्रकारेण रसोद्बोधे भवति. तत्र रसोद्बोधकन्तु नृत्यमेव. तदपि प्रत्येकम् अपेक्षितम्, अन्यथा प्रत्येकरमणोपयोगि-प्रत्येकरसानुद्बोधे तन्न स्यात्. अतो अत्र प्रत्येकनृत्यं निरूप्यते. नृत्येहि केवलभावात्मको अभिनीयमानो रसो, रमणेतु क्रियया सर्वेन्द्रियैः अनुभूयमानः. अतएव ''यं मन्येरन्'' इति उक्तम्. तथाच ''पादन्यासैः'' इत्यनेन स्वामिनीनां गाढनृत्यम् उक्तं, यत्र अन्यस्फूर्त्यभावः, तदुत्तरं भगवत्स्फूर्तिसहितं मध्यनृत्यम् उक्तम्. तत्र नटानां सामाजिकसन्तोषोत्पादनवद् भगवत्सन्तोषोत्पादनम्. तत्र प्रयोजनं स्वविषयकभावोत्पादनार्थं तथाभावेन प्रत्येकं गानं च. ततः ''काचिद्'' इति षड्भिः भगवद्गुणैः भगवद्धर्मावेशेन गानादिकम् उक्तम्. ततः सर्वासां गानरसावेशेन शास्त्रमर्यादापूर्वकनृत्यपरित्यागेन भावेनैव विहारो मुख्यलीलाभिनयनरूपः, तदुत्तरं तत्परित्यागेन भावेनैव केवलं स्वरूपं परिगृह्य युग्मनृत्यं प्रत्येकरसोद्बोधाय, तत् ''कर्णोत्पल...'' इत्यादिना निरूप्यते. तत्र अयं प्रकारो : यस्य भगवतः स्वनिकटवर्तित्वेन माननं तस्य अधुना स्वसम्बन्धित्वेन. तथाच राधादामोदरौ यथा सर्वथा एकीभूतौ आलम्बनद्वयरूपत्वेन एकरसात्मकत्वात्, तथा स्वामिन्यः सर्वाअपि भावेन भगवता एकीभूताः सत्यो नृत्यं चक्रुः. तच्च नृत्यं यथा लोके मण्डलनृत्ये हस्तं विहाय आलिङ्गिताः प्रत्येकं नृत्यन्ति, तथैव मण्डलम् अनुवर्तयन्ति

हस्तैः असम्बद्धाः, तथा स्वामिन्योऽपि भावेन हस्तपरित्यागेन भगवन्तम् आलिङ्गच नृत्यन्तीति तथाभूतम्. तथाच हस्तपरित्यागेन मुख्यमण्डलाभावेऽपि मण्डलानुवर्तमाना रासगोष्ठचेवेति **गोष्ठीमात्रम् उक्तम्** इति उक्तम् आचार्यैः. गोष्ठीहि यथा नृत्यार्थम् एकीभूतानां नृत्यारम्भात् पूर्वं भवति, तथा अत्रापि पूर्वनृत्यपरित्यागाद् भगवता सम्बद्धानां भावनया लीलानुकरणे नर्तनात् नृत्यगोष्ठचेव. एवं सति अत्र गाढनृत्ये स्वामिनीनां भगवतः च विनियोगाद् "नृत्यन्त्य उच्चैर्जगुः" "नृत्यती गायति" इत्यत्रैव गानसम्भवो, नवा "समं मुकुन्देन" इत्यत्रेव भगवतोऽपि. गन्धर्वपतीनान्तु मुख्यलीलानुकरणस्य अयोग्यतया दर्शनाभावादेव न तदुपयोगिगानं किन्तु स्वामिनीकेशपाशस्थित-स्रग्विस्रंसने तत उद्गानस्य भ्रमरस्येव गानं गुञ्जारवरूपम्. एकवचनन्तु सर्वैः एकरूपतया गानसूचकम्. अथवा प्रत्येकनृत्ये प्रत्येकम् एकैकस्य तस्य गानसूचकम्. इदञ्च गाढनृत्यमिति तत्र कर्णयोः उत्पलस्थापने तदपातनम् अशक्यमिति तत्कर्तृत्वार्थं "कर्णोत्पल..." इत्यादि उक्तम्. मुखसरसिजसम्बन्धि-मकरन्दसदृशस्वेदकणिका-शोभोक्तिरपि श्रमाभावसूचिका, अतएव "कृष्णाभिम-र्शमुदिता" इत्यत्र श्रीहस्तमात्रसम्बन्धेन श्रमाभावे सम्पूर्णस्वरूपसम्बन्धे क्व तत्सम्भावनेति कैमुतिकन्यायबोधनाय. तथाच एवं नृत्येन प्रत्येकरसोद्बोधे प्रत्येकरमणम् अग्रे निष्प्रत्यूहम् उपपद्यते, अन्यथा समुदायनृत्येन समुदायरसोद्बोधे तथा रमणमेव स्यात्, तत्प्रकारकरमणे तथा रसोद्बोधस्य कारणत्वात्. एवं सति सर्वप्रकारकरसोद्बोधेन सर्वप्रकारकरमणम् अग्रे सकारणं सेत्स्यतीति तदर्थं तद् नृत्यं भिन्नप्रकारेण निरूपितमिति तत्स्वरूपम् अस्मदाचार्यैः अतिगूढतया अतः परं राधादामोदरवद् इत्यनेन दृष्टान्तेन उक्तम् इति दिक्.

॥ भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् (सुबो.१०।३०।१६) इत्यत्र ॥

अथवा गायकास्तु भ्रमरा निरूपिताः, तेच मकरन्दार्थिनः, सच पुष्पेष्वेव तिष्ठति, तानिच वियुक्तानि तद्रहितानि भवन्तीति स्वनृत्यानुरूपगानकर-णाद् अतिप्रसन्नाः तेभ्यः स्रजएव दत्तवत्यः. अन्यथा रसार्थं स्वकेशेषु शोभाहेतुत्वेन धृतानां तासाम् उपेक्षा न भवेत्. तेन भ्रमराणां गाननैपुण्यं प्रभुप्रियाणां च तदभिज्ञत्वं च ध्वन्यते. भ्रमराश्च भ्रमर्यश्च इति एकशेषः.

तेन स्त्रीपुरुषभेदात् ज्ञाने द्वैविध्यम् उक्तं भवति. किञ्च तत्र शोभार्थम् अर्पिताः स्रजोऽपि वैचित्र्यहेतुभूताः बहवः सन्ति, तन्मध्यस्था एकैका स्रग् एताभिः तेभ्यो दत्ताः. तथा सति अग्रिमरसार्थं तत्र शोभासम्पत्तिरपि इति ज्ञापयितुं 'केशपाश'पदं विहाय 'केश'पदोक्तिः. नच अल्पदानेन औदार्यगुणहानिः, अलीनां भक्तत्वेन प्रभुरसोपयोगि-वस्तुनो अनभिलषितत्वात् स्वकृतगानजनिततोषख्यापकैकस्रग्दाने शोभाप्रतिबन्धाभावेन तत्प्रसादत्वेन च तद्ग्रहणस्य उचितत्वात् तावतैव मनोरथपूर्तेः. नच गानप्रतिबन्धकत्वेन स्रजाम् अनुपयोगात् किं तद्दानेन इति वाच्यं, रासगोष्ठीतो यत्र गानानवसरे तेषां भक्तत्वेन पुष्पान्तरापेक्षया प्रभूपभुक्तस्वगुणलब्धस्रजामेव उपजीवनं युक्तमिति उपपत्तेः. नच, प्रभूपभुक्तत्वज्ञानं तेषाम् अत्र कथम्? इति, शङ्कनीयं, यत्र-यत्र व्रजकनकलताधर-पिपासुप्रियतम-करगृहीताकृष्ट-केशपाशेषु स्रजां त्रुटिः ततस्ततः स्रंसनमपीति तेषाम् अनुभ्रमणे तथा उपलम्भात्. अग्रेऽपि तदुपभुक्तस्रजः सम्बन्धित्वमेव तेषाम् "अङ्गसङ्गघृष्टस्रजः स्वकुचकुङ्कुमरञ्जिताः या गन्धर्वपालिभिः" इत्यत्र प्रकाशयिष्येत, अन्यथा तत्र स्रजो विशेषणद्वयानुपपत्तेः. एतासां सर्वस्रजां दाने अभिप्रेतेऽपि हस्तयोः मण्डलव्यापृतत्वेन ताभ्यां दानम् अशक्यम्. अतः उक्तप्रकारक-केशशैथिल्ये जाते यासां स्रजां स्रंसनम् अभूत् ताएव उपेक्षाकरणाद् दत्ताः, शेषाणाम् अतथात्वात् स्थितिरिति हेतोः न तदौदार्यहानिप्रसङ्गः. किञ्च **रासगोष्ठी** नृत्यसमाजः, तत्रच अवश्यं गायकापेक्षा, गायकत्वञ्च नृत्यकर्तृत्वात् तासाम् अनुपपन्नम्. देवानाम् अन्येषां पुरुषाणां स्त्रीणां च तत्र प्रवेशानधिकारादेव तत् तथा. भ्रमराणां पुरुषत्वेऽपि बलवत्प्रयोजनानुरोधात् विजातीयत्वात् च विरोधाभावात् तथात्वम् उपपद्यते. अतएव **रासगोष्ठीपदम्**. अतिरहस्यलीलान्तरेतु तेषामपि प्रयोजनाभावाद् अप्रवेशो अनुक्तसिद्धएव. वस्तुतस्तु रासे भगवता समं मण्डलाकारेण परितो भ्रमन्तीनां तासां नृत्यम् उच्यते. तथा सति नृत्योपयोगिगायकत्वं तत्सङ्गे परिभ्रमतामेव वाच्यम्, अन्येषां स्वल्पचलनेऽपि गानं न सम्भवति परिभ्रमतामेव, स्वरतानतालादिभङ्गप्रसङ्गात्. भ्रमराणान्तु तथास्वभाववत्त्वे विशेषतः तदानीमेव गायकत्वं युक्तमिति 'भ्रमर'पदोक्त्या व्यज्यते. तेषां तद्रससमाजानुकूलभाववत्त्वाय **भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम्** इति समस्तं पदम् उक्तम्. अतएव पुरुषत्वेऽपि तेषाम् अत्यन्तरङ्गत्वेन निरन्तरं स्वसान्निध्यं प्रभुरपि आह. "प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्" इति किमतो अधिकविस्तरेण!

॥ कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य (सुबो.१०।३०।१९) इत्यत्र॥*

श्रीहरिः.इदं विचार्यते : भगवान् हि "रसो वै सः"-"यदेषः आकाश आनन्दो न स्याद्" इति श्रुतिभिः रसात्मकानन्दरूपो, रसः च शृङ्गारः. सच संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः. तत्र संयोगात्मकः क्रियाभिव्यङ्ग्यः, सएव 'कामानन्दः' इति उच्यते. यत्र क्रियां विनैव स 'केवलानुभवानन्दः' इति उच्यते. विप्रयोगस्तु भावमात्रेण अनुभूयमानः, सएव 'केवलानुभवानन्दः' इति उभयविधानन्दात्मकस्वरूप-स्वामिनीनामेव अनुभवविषयः इति लोके ज्ञापयितुं गानद्वारा एतद्रसम् अनुभावयितुं च लीलाम् उभयविधाम् अत्र प्रकटितवान्. तत्र लीलाद्वयेऽपि रात्र्यो भिन्नाः अलौकिक्यो लौकिक्यः च. तत्र अलौकिक्यः पूर्णचन्द्रप्राकट्येन पूर्णिमारूपाः, भगवन्मनोरेतोरूपस्य तत्र चन्द्रस्य अलौकिक्यो लौकिकचन्द्राप्रकाश्यत्वेन अखिलतिथिरूपा. सर्वदा पूर्णत्वेन वृद्धिक्षयाभावात् सर्वदा एकरूपत्वेन निरन्तरमेव सा लीला न रतान्तः. अतएव विप्रयोगे भावानुभवस्यैव सार्वदिकत्वम् उच्यते, अग्रे आत्यन्तिकविप्रयोगदानात्. संयोगानुभवस्यतु तत्सिद्ध्यर्थकत्वेन परिमितकालसत्त्वमेव, अतो अत्र रतान्तो वाच्यः. सच भगवत्स्वरूपे वक्तुम् अशक्यः, सर्वस्य स्वरूपात्मकत्वेन अंशतः च्युतौ पूर्णत्वबोधकश्रुतिविरोधापातात्. तदकथने कामरसात्मकत्वहानिरिति तत्समाधानाय अस्मिन् श्लोके यथा पूर्णत्वं कामरसात्मकत्वं च सम्पद्यते तथा परोक्षरीत्या शुकैः श्रीमदाचार्यैः च विवृतौ निरूप्यते. अत्र अयम् आशयः : आकाशे देवस्त्रियः चन्द्रः च वर्तते. "अनोसां दर्शनं पश्यन्ति सूर्यस्य देवाः" इति श्रुतेः दिव्यदृष्टिः भगवता दत्तेति भगवच्चक्षुभिः भगवदीयक्रीडां पश्यन्तीति भगवता तादृक्चक्षुर्दानेन वरणं नायंदतः(?), "दिव्यं ददामि ते चक्षुर्" इतिवत्. अतः तासां दर्शनं, परं दूरस्थतयैव, लीलाप्रवेशे अयोग्यत्वाद् अर्जुनवत्, स्त्रीत्वाद् वा दर्शनस्य दोषावहत्वाभावाद् दर्शनं दोषानावहत्वं च दासीनामिव. चन्द्रस्यतु विक्रीडितदर्शनं भगवद्रेतोरूपत्वात् स्वामिनीदेहस्य भगवन्मनोघटितत्वात् च, परं दूरस्थतयैव, रेतोरूपस्य नैकट्ये लीलासम्भवाद्, अल्पेनैव रसपरिसमाप्तेः. "सोमः प्रथमो विविदे" इति श्रुत्युपन्यासस्तु "तदोडुराज"इत्यनेन भगवल्लाभात् पूर्वमेव प्रभोः मनोरूपस्य चन्द्रस्य स्वामिनीलाभनिरूपणाय तथापि देवस्त्रीणामिव तस्य चन्द्रस्य अतल्लीलादर्शनं क्षयहेतुत्वात् हितकारि न भवतीति निरूपणार्थं

शशाङ्कत्वम् उक्तम्. यतो लौकिकरात्रिसम्बन्धिलीलासम्बन्धीति वृद्धिक्षयशीलः अतः तथालीलादर्शने अंशतः क्षयसम्भवात् तथा उक्तम्. लीलायान्तु तद्दर्शनेऽपि न काचित् क्षतिः. तत आकाशादेव तस्य अंशतः क्षयो, न भगवत्स्वरूपस्थितस्य, भगवतः पूर्णकामत्वात्. तत्र अविद्यमानस्य आध्यात्मिकस्य अंशतः क्षये ततः पुत्राद्युत्पत्तिः च स्यात्. तथाच "आत्मन्यवरुद्धसौरत" इत्यग्रे उच्यमानं विरुध्यते. एवं सति यथा देवस्त्रीणाम् अलौकिकलीलादर्शनेन मोहः कामार्दितत्वं च तत्र स्थितानामेव, न स्वामिनीषु प्रवेशो, अयोग्यत्वात्. ...:सवलनरूपं तत्रैव तथापि वीर्यरूपस्य सामर्थ्यम्. (यत्साम!)र्थ्यकृतलीलादर्शनाद् न्मे..मेन प्रवेशमनोरथेन क्रीडा दूरस्थिस्य ततएव अंशतः च्युतिः न भगवत्स्थितस्य इति भावः. एतेन आकाशस्थितएव ...नात् स्वामिनः. लौकिकरात्रिरमणानुकूलम-नोनक्षत्र..क्षीणेन स्वामिनीषु भगवति स्थिराः तथा जातइति निरू(पि)तएव अग्रे वक्ष्यति **ससत्यकाम** इति. ननु लौकिकचन्द्रस्तु स्वांशैः निर्वर्त्स्यतइति पूर्णकामत्वम् अखण्डितत्वं च भगवति ...रमंत्र अलौकिकरात्रिष्वपि लीलायाः क्रियमाणत्वात्. (तत्र लौ)किकचन्द्रस्य पूर्णत्वेन ततो निवृत्त्यभावात् लीलायां कथं ..स्वम् उपपादनीयम्? इति चेत्, त(न्न) 'च'कारसूचितस्य तस्यापि कामार्दितत्वकथनात्. तत्रच कामार्दितत्वं देवस्त्रीणामिव ... यथा तासां न स्वामिनीषु प्रवेशो व्याकुलतया तदर्थं पल... .तथा एतस्यापि. अतएव उक्तम् आचार्यैः "भगवति निवेशनार्थं यत्नं कृतवान्" इति. तथाच यथा लोके रासान्ते मनोव्याकुलता जायते तथा भगवतोऽपि तत्काले जातेति अलौकिकप्रकारेणालौकिकरमणेऽपि तथासुखसम्पत्तिरिति आचार्यचरणा-नाम् आनंद...त्यादिनिरूपणा... रपगतसंशयैः भवति... दिक्.

॥ सोम्भस्यलम् (सुबो.१०।३०।२४) इत्यत्र ॥ *

श्रीकृष्णाय नमः. **पूर्वं तासाम्** इत्यादि. अत्र अयं भावः : अध्यायचतु-ष्टयोक्तलीलायां यद्यपि भगवत्स्पर्शः स्थितएव तथापि "आत्मारामोप्यरीरमद्" — "आत्मारामोप्यखण्डितः" इत्यादिवाक्यैः तासाम् इच्छया भगवता एतावत्पर्यन्तं रमणं कृतं ननु स्वेच्छया*. तथा सति तदैव रसान्तः स्यात्. अतएव उक्तं रसशास्त्रे "वानरं चपलं ध्यायेत् वृक्षशाखावलम्बिनम्" इति. अधुनातु यावत्स्वसामर्थ्यं प्रकटीकृत्य स्वेच्छया ताः स्पृष्टाः इति लोकरसरीतिम् अनुभवतः

कामाभावात् तदंशानिवृत्तेः सुरतान्तो जातः. अतएव आचार्यैः एतदध्यायार्थ-निरूपककारिकायां "स्वानन्दार्थमितीर्यते" इति उक्तम्. तदनन्तरं लौकिकसरूप-भावे समुद्भूते यथा आत्मारामत्वमर्यादा भग्नाः तथा देशकालमर्यादापि भग्ना इति अर्थः. **देशो** रसानुभवदेशः **कालो** रसावष्टम्भकालः; उभयोः इति अर्थः. अतएव श्रमलीलापि आविष्कृताः. तन्निवारणाय जलक्रीडार्थं जलप्रवेशः इति अर्थः.

॥ एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशा (सुबो.१०।३०।२६) इत्यत्र॥

ता एवं रेमे इति, लौकिकीः निशा एवं कामलीलायां चन्द्रप्रवेशेन क्रीडया तदंशनिवर्तनप्रकारेण रेमे इति अर्थः. **पूर्वोक्तप्रकारस्तु** इति, नृत्यादिना केवलरसात्मकाति-गूढभाव-प्रकटीकरणेन. भावात्मकरमणन्तु केनापि गृहगमना-दिनापि न विरुध्यते, सर्वदा हृदि गृहे परोक्षेऽपि तदनुभवात्. नाटचेहि रसोदयभावेनैव सर्वानुभवसम्पत्तेः. अतएव "आन्तरन्तु महाफलम्" इत्यस्य टिप्पण्यां "ये अन्तर्भावविशेषाः उत्पद्यन्ते, न ते समागमेऽपि" इति उक्तं प्रभुचरणैः. **एवं रमणे** इति, नित्यलीलाश्रयभूतासु स्वामिनीषु कामलीलया रमणे इति अर्थः. **स सत्यकाम** इति, सत्यः कामो यासां यस्य वा इति बहुव्रीहिसमासेन तासु भगवति च सत्यकामसत्त्वेन तथा रमणेऽपि नित्यलीलात्वाक्षतेः. एषापि लीला भगवतो नित्यैव परम् इयान् विशेषो यद् अत्र बहिःप्राकटचपूर्वक-तादृक्क्रियाभिव्यङ्ग्यत्वं तत्र भावमात्राभिव्यङ्ग्य-त्वम् इति. कामलीलया रमणहेतुं प्रकारान्तरेण उपपादयन्ति **स तथा प्रार्थितो वा** इति. "पतिं मे कुरु" इत्यादिना कामलीलानुभवहेतुत्वेन प्रभुः पूर्वं ताभिः प्रार्थितः, "कामिनीभावमासाद्य" इति श्रुतिरूपाभिरपि. अतएव उक्तं "लब्धकामाः कुमारिकाः" "एवं भगवतः कृष्णाद् लब्धकामाः" इत्यादि. तथाच तत्प्रार्थनमेव प्रभोः कामलीलाकरणे हेतुः इति भावः. **एवमपि क्रीडायाम्** इति, चन्द्रांशुनिवर्तनप्रकारेण क्रीडायामपि इति अर्थः. **सत्यएव** इति, निवृत्तानामपि चन्द्रांशानां भगवत्येव स्थितत्वाद् इति भावः. अतएव अग्रे वक्ष्यति "आत्मन्यवरुद्धसौरत" इति. सत्यत्वमेव आहुः

ननु क्षीणो असद्विषयको वा जातः इति, क्षयेहि सत्यत्वं न सिध्यति, संसारस्येव. प्रकृतेतु कामस्य द्रवणे तदंशानिवर्तनेऽपि भगवत्येव स्थित्या न क्षीणत्वम् इति अर्थः. यथा एकस्मिन्नेव पात्रे स्थितस्य नवनीतस्य घर्मादिना द्रवीभूय तत्रैव स्थितौ न क्षीणता एवम् उच्यते तथा अत्रापि इति भावः. ननु अत्र नैसर्गिकसुखाय सहस्रवणं वाच्यं, तथा सति इतरत्रैव तत्सम्बन्धः आवश्यकइति कथम् अक्षीणत्वं पूर्वोक्तरीत्या वाच्यमिति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **असद्विषयको वा जातः** इति. स्वामिनीषु तत्प्रवेशेऽपि लौकिककामइव अयम् असद्विषयको न जातः, तत्रापि भगवतकामस्यैव सत्त्वात्. तत्र पूर्णे सद्विषयकत्वमेव तस्य. अतएव उक्तम् आचार्यचरणैः "तासां कामस्य सम्पूर्तिः निष्कामेनेति तास्तथा" इति. प्रभुणापि अभिहितं "न मय्यावेशितधियाम्" इत्यादि. अतएव तथाकरणेऽपि न ततः पुत्राद्युत्पत्तिः. एतदेव पूर्वम् उदितम् आचार्यैः "कामाभावेन पूर्णस्तु" इत्यादिना.

अथ तासु लौकिककामसत्त्वेऽपि न क्षतिः सर्वथा भगवत्परत्वेन तत्कामस्य दग्धबीजत्वाद् इति अभिप्रेत्य आहुः विशेषणार्थम् **अनुरता अबलागणा यस्य** इति. अत्रहि त्रयो गणाः — श्रुतिरूपाणाम् अन्तर्गृहगतानां कुमारिकाणां च. तेषां सर्वेषामेव सर्वथा प्रपन्नत्वं समानो धर्मः. सच सर्वभावेन शरणागतत्वम्. तेषु सर्वेष्वेव अनुरतत्वम्. तत्र श्रुतिरूपगणे अनुरतत्वं भगवद्रतत्वानन्तरं रतत्वम्. अतएव उक्तं "त्वयाभिरमिता" इति. अन्तर्गृहगतगणे लक्ष्मीवद् नित्यसम्बद्धत्वमेव. कुमारिकागणे पूर्वधर्मसत्त्वेऽपि स्वेनैव, ननु भगवता विवाहितत्वम्. तथाच सर्वेषां भगवत्परत्वात् सर्वभावेन न लौकिककामसत्त्वेऽपि शङ्का कापि इति भावः. ननु एवं सति कामलीलोत्तरं "इभराडिव भिन्नसेतुः" इति गजदृष्टान्तकथनेन मर्यादाभङ्गकरणं न युज्यते. नहि शास्त्रोक्त-देशकाल-मर्यादाभङ्गे कामरसः तथा अनुभूयते. तद्भङ्गस्तु गजदृष्टान्तेन तथाविधस्पर्शात् स्वामिनीनां कामनिवर्तनेन अभिहितः. नहि कामनिवृत्तौ तच्छास्त्रोदित-देशकाल-मर्यादा (न) तिष्ठति; तदभावे वा तथा रमणं सम्भवति. निवृत्तकामानां तद्देशे तावत्कालं प्रभुणा सह स्थितेः इति आशङ्क्य आहुः **अग्रे मर्यादाभङ्गः** इति, कामलीलायामेव अग्रे मर्यादाभङ्गः काममर्यादाभङ्गो रसपोषाय, न सर्वथा कामनिवृत्तये, उन्मर्यादभोगस्य रसपोषकत्वात्. तदेव उक्तं **तदुक्तम्** इत्यादिना. अन्यथा कामनिवृत्तौ

एतल्लीलायाः नित्यत्वं न भवेत्. यद्यपि एवं सम्भवति समाहितिः तथापि स्वामिनीषु न लौकिकः कामः स्थापितः, तथा सति संयोगरसेच्छा उदियाद्; देयः च अत्र आत्यन्तिकवियोगः. तत्रच कामो गूढः स्थायी भावो, अतएव मोक्षपर्यवसायी, नित्यसुखानुभूतिहेतुत्वात्. ततश्च स्वरूपमात्रप्राप्तिः. अतएव उक्तं "ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम्" इति. फलमपि अतएव एतल्लीलाश्रवणस्य लौकिककामनिवृत्तिः. तथाच "सत्यएव कामः स्थापितः" इति उक्तम् अतिरमणीयम् आचार्यैः इति न अनुपपत्तिः काचित्.

॥ देवस्त्रियः (सुबो.१०।३२।२-३) इत्यत्र ॥

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः. ननु देवस्त्रीणामपि वेणुनादेन विस्मयोत्पत्तिपूर्वकं कामोद्रेकात्, मूर्छया विस्मृतनीवीत्वात्, तासु भगवद्रससम्बन्धाभावाद्, इयं दशा रसाभासदशा; इति निश्चीयते यथा, तथा "निजपदाब्जदलैः" इति युगले व्रजसीमन्तिनीनामपि वेणुनादात् नीवीकबरविस्मृतिरपि उच्यते इति कथं न देवस्त्रीतुल्यत्वम्? इति चेत्, तत्र वदामः–यद्यपि देवस्त्रीणां मूर्छया नीव्यनुसन्धानाभावः उच्यते, तस्य भगवद्भावाजन्यत्वात् केवलकामभावजन्यत्वेन, रसाभासत्वं नतु रसात्मकत्वम्. ननु वेणुनादश्रवणानन्तरभावित्वात् तदवस्थायाः कथं न भगवद्भावजन्यत्वं? सत्यं, यत्र-यत्र वेणुनादजनितं कार्यम् उच्यते तत्र-तत्र तदनुगुणं भगवत्स्वरूपम् उच्यते. अत्र यदि अयं वेणुनादः एतासां भावोत्पादनहेतुः स्यात् तदा स्वरूपस्यापि तद्भावोत्पत्त्यनुगुणत्वमपि उच्येत. अत्रतु भगवतः प्रवेशत्वनिरूपणात् स्वरूपस्य न नादानुगुणत्वमिति न भगवद्भावहेतुत्वं नादस्य. एतासां भगवद्भावाजन्यत्वे हेत्वन्तरमपि आह **विस्मिता** इति. नादश्रवणं तासां विस्मयोत्पादकमेव जातं न भगवद्भावोत्पादकम्. विस्मयस्य सर्वविस्मारकत्वेन वस्तुस्वरूपाज्ञानात् लौकिककामजनकत्वमेव, नतु अलौकिकभगवद्भावात्मक-तज्जनकत्वम्. अतएव लौकिकः कामो अतिप्राचुर्येण अस्मान् मारयिष्यतीति भयेन दयया स यथा न मारयेत् तदर्थं स्वयमेव समर्पितचित्ताः जाताः. यदि अयं भावो भगवद्भावात्मको अलौकिकः स्यात् तदा भगवत्प्राप्त्यर्थमेव यत्नं कुर्युः, नतु स्वरक्षार्थं काममार्गणेषु चित्तं समर्पयेयुः. तस्माद् इयं दशा एतासां लौकिकभावजन्यैव न भगवद्भावजन्येति

महदेव वैलक्षण्यम्. व्रजसीमन्तिनीषु तु वसनकबराननुसन्धाने हेतुत्वेन युगलारम्भएव स्वरूप-नादयोः तद्धेतुत्वेनैव उपक्रान्तत्वाद्, अग्रिमश्लोके च भगवत्कृत-गतिविलास-सहितेक्षणयोः मनोभववेगहेतुत्वेन उक्तत्वाद्, अत्रच एतद्रसभावस्य 'मनोभव'पदोक्त्या अस्य भावस्य अलौकिकभगवद्भावात्मकत्वात् तद्वेगजनित-वसनकबराननुसन्धानस्यापि भगवद्भाववेगजन्यत्वात् तत्कृतदशाया-अपि अलौकिकभगवद्रसाभावजन्यत्वात् रसात्मकमेव नतु रसाभासहेतुत्वम्. देवस्त्रीणान्तु भगवद्भावरहित-केवललौकिककामजन्यत्वात् भगवदनुपयोगित्वात् रसाभासहेतुत्वमेव न रसात्मकत्वम् इति सर्वम् अनवद्यम्. शुभमस्तु.

॥ ननु यथा...आर्तिं पश्यति (सुबो.टिप्प.१०।३२।०) इत्यत्र॥

ननु यथा-यथा भक्तानां स्वविषयकम् आर्तिं पश्यति तथा-तथा मुदितो भवति इति वस्तुस्थितिः इत्यत्र, यद्यपि परमकृपालोः भगवतः तथास्वभावकथनम् अनुचितं तथापि तथोक्तेः अयम् आशयः : भगवतो भक्तेषु परमानुरागात् परोक्षे तद्धृदये स्वस्वरूपप्रकटनेन गुणगानश्रवणानन्दानुभवेच्छा. साच तदा आर्त्यैव पूर्यतइति तादृशानन्दविशेषेण मुदितो भवतीति तथास्वभावः इति अर्थः.

॥ मणिधरः क्वचिदागणयन् गाः (सुबो.१०।३२।१८) इत्यत्र॥

श्रीहरिः. अथवा यथा स्वस्य भगवद्विप्रयोगे तत्स्वरूप-गुण-लीला-गानानुभवैः यथाकथञ्चित् कालनिर्वाहः तथा भगवतोऽपि स्वविप्रयोगे यथाकथञ्चित् कालनिर्वाहक-स्वसम्बन्धि-धर्माविष्कारहेतुभूत-पदार्थान् आहुः **मणिधरः** इति, भगवान् मणीन् धारयति, तेषां स्वरूपं गवाम् आधिदैविकरूपत्वेन निरूपितम्. कदाचित् तैः गाः गणयति इति हेतुना यद् निरूपितं तद् वस्तुस्वरूपगोपनार्थम्. वस्तुतस्तु तेषां स्वरूपम् अन्यदेव. यथा कौस्तुभस्वरूपं जीवतत्त्वं तथा एतन्मणीनामपि एतद्भक्तस्वरूपतत्त्वज्ञापकत्वात् एतद्भक्तस्वरूप-तत्त्वरूपत्वम्. इदं तत्त्वरूपत्वम् तद्भक्तगणनया ज्ञाप्यते. ननु एतद्भक्तगणनायाः

अनुक्तत्वात् कथम् तद्गणना ज्ञायते? इति चेत्, तत्र आहुः **क्वचिदागणयन् गाः** इत्यनेन. भक्तगणनायाएव मुख्यत्वं नतु गोगणनायाः. अन्यथा 'क्वचित्'पदं न वदेयुः. अतएव क्वचिदेव गाः गणयति, सदा ताएव गणयति इति उक्तं भवति. अयम् एकः कालनिर्वाहहेतुधर्मो निरूपितो भगवतः. तस्यच व्यभिचारिभावत्वात् चिरकालस्थायित्वेन सर्वथा कालानिर्वाहात् ततोऽपि अधिकम् अनुभावकं कालनिर्वाहकम् आहुः **मालया दयितगन्धतुलस्याः** इति. दयितगन्धायाः तुलस्याः मालया उपलक्षितः. ननु सर्वपुष्पापेक्षया तुलसीमालायाएव दयितत्वे को हेतुः? तत्र हेतुम् आहुः. अत्र मालास्थतुलसीगन्धस्य 'दयित'त्वोक्त्या एतन्मालायाः साक्षाद् व्रजसीमन्तिन्यङ्ग-सङ्ग-सम्बन्धिलीला-सम्बन्धित्वम् उच्यते. लीलायां तदङ्गसम्बन्धि-कमलगन्धस्य तत्कुचकुङ्कुमगन्धस्य च मालायां सत्त्वात् सात्त्विकभावजनितस्वेदेन तत्कुङ्कुमलेपयुक्तत्वात् तद्गन्धग्रहणेन तत्सम्बन्धि-सर्वलीलानुसन्धानेन तदा तल्लीलात्मकत्वात् प्रभोः तद्गन्धस्य दयितत्वम् उक्तम्. तेन चिरकालम् तद्रसावेशात् कियत्कालनिर्वाहः सूचितः. तथापि एतद्भावस्य व्यभिचारिभावत्वात् पुनः बाह्यानुसन्धाने तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण स्थातुम् अशक्त्या तल्लीलानुकरणेनापि कियत्कालगमनं ज्ञापयन्ति **प्रणयिनः** इति, प्रणयित्वात् तल्लीलानुकरणयोग्यत्वम्. तस्य प्रणयिनो अत्यन्तस्नेहवत्त्वात् भगवतोऽपि तस्मिन् स्नेहवल्लीलानुकरणयो-ग्यत्वं ज्ञाप्यते. अनुचरत्वेन भगवदिच्छानुसारि भगवत्करणाविरोधित्वं ज्ञाप्यते. तेन तद्भावपूर्त्यर्थम् अंसे भुजस्थापनं तद्भावापत्त्या वेणुगानं चेति अस्य गानस्य आकस्मिकत्वं, यतः तद्भावापत्त्या उत्पन्नम्. अतएव तस्य क्वणनात्मकत्वम् उक्तं पूर्वनिरूपितनादवैलक्षण्याय. वैलक्षण्यञ्च तन्नादकार्याद् अध्यवसीयतइति तत्कार्यस्यापि पूर्वनाद-जात-कार्य-वैलक्षण्यं हरिणीषु आह **वेणुरववञ्चितचित्ता** इति, रवपदेन तस्य नादस्य अग्न्यमृतबीजरूपत्वं ज्ञापितम्. तेन हरिणीनां नादश्रवणमात्रेण भगवद्विषयकार्तिजनकत्वम् अग्निरूपत्वम्. भगवतैव तदार्तिशमनज्ञानवत्त्वम् अमृतबीजकार्यम्. तेन उभयकार्यकर्तृत्वाद् नादस्य तदुभयरूपत्वम्. ननु कथम् अस्या आर्तेः भगवद्विषयकत्वमेव? इति चेत्, तत्र आहुः **कृष्णमन्वसत** इति, यदि भगवद्विषयिण्येव आर्तिः न स्याद्, भगवतैव तच्छान्तिज्ञानं न स्यात्, तदा भगवन्निकटे गत्वा न उपविष्टाः भवेयुः. आसां स्वस्मिन् हरिणीत्वज्ञानस्य विद्यमानत्वाद् भगवति च स्वसजातीयत्वज्ञानाभावात् कथं तद्विषयिणी आर्तिः भगवतैव च तच्छान्तिज्ञानम्?

इति चेत्, तत्र आहुः **वञ्चितचित्ताः** इति, रवेण तासां वञ्चितचित्तत्वं यतो जातं, ततएव तदुभयस्फूर्तिः. वञ्चनञ्च स्वस्मिन् स्वजातिभावास्फूर्त्या रसयोग्यनायिकाभावेन च. तेनच भगवति स्वसजातीयत्वस्फूर्तिः इति तन्निकटोपवेशनम्. उपवेशनञ्च फलम् अननुभूय उत्थानरहितम्, इदमेव चित्तवञ्चनम्. ननु भर्तृषु विद्यमानेषु कथं तान् विहाय भगवत्समीपोपवेशनम्? इति चेत्, तत्र आहुः **कृष्णगृहिण्यः** इति, यद्यपि भर्तृसन्निधानम् अस्ति तथापि स्वस्मिन् भर्तृजातिविजातीयनायिकाभावस्फूर्त्या भगवति च स्वसजातीयभावस्फूर्त्या स्वस्मिन् भगवद्भोग्यत्वज्ञानेन कृष्णगृहिणीत्वस्फूर्तिरिति कृष्णसमीपएव उपवेशनम्. ततएव भगवति गुणगणार्णवस्फूर्तिरपि. **अनुगत्य** इति कथनात् पूर्वभावदाढर्चाद् भगवतः स्थलान्तरगतावपि स्वयमपि तत्र गत्वा तद्भावापन्नाएव उपविशन्ति इति ज्ञापितम्. ननु कथम् एतासु पूर्वोक्ता एतावती योग्यता? इति चेत्, तत्र आहुः **हरिण्यः** इति, एतास्तु भगवता पूर्वं स्वस्मिन् रसभावजनकत्वेन स्तुताः "कुर्वन्ति गोप्यइव ते प्रियमीक्षणेन" इति. 'गोप्यइव' इति कथनाद् एतदीक्षणेन तत्सजातीयत्वेन व्रजसीमन्तिनीक्षणस्मरणात् स्वहृदये तदीयसर्वभावाविर्भावात् तासु कृपाविशेषः सूच्यते इति तासां पूर्वोक्तसर्वभावयोग्यता 'हरिणी'पदेन ज्ञाप्यते. अतएव स्वसजातीयत्वम् उक्तं **गोपिकाइव** इति. अतएव अन्योऽपि सजातीयो धर्म उक्तः **विमुक्तगृहाशा** इति, यथा फलप्रकरणे गृहगमनाज्ञप्तौ "प्राणा विसृज्य वसतीः" इति गृहगमनाशापरित्यागपूर्वकं स्वयं भगवन्निकटे स्थिताः, अधुना तथैव एतासां स्थितिरिति **विमुक्तगृहाशा** इति उक्तम्. ननु तादृग्भाववत्त्वेऽपि कथं वञ्चितचित्तत्वम्? इति चेद्, यद्यपि अस्य भावस्य वेणुनादद्वारा जनितत्वात् तस्य च रवात्मकत्वात्, पूर्वं 'रे'फस्य अग्निबीजत्वाद् आर्तिजनकत्वं ततएव भगवत्समीपगमनं, पश्चाद् अमृतबीजत्वाद् 'व'कारस्य पश्चात्कृतवेणुनादस्य अमृतरूपत्वेन तदार्तिशमनम्. तत्र आर्तिशमनप्रकारो - निकटोपविष्टानां स्वरूपदर्शनात्. पश्चात्कृतवेणुनादस्य श्रोत्रद्वारा अन्तःप्रवेशसमये नादद्वारा स्वरूपस्यापि अन्तःप्रवेशात् तस्य च अन्तरेव सम्बन्धानुभवज्ञानाद् आर्तिशमनं यद्यपि तासां तथापि स्वामिनीनां साक्षात्स्वरूपसम्बन्धएव आर्तिशमनमिति तत्प्रकारकार्तिशमनं वस्तुतो वञ्चनमेवेति तथा उक्तम् इति भावः.

इति श्रीमद्-हरिरायचरण-विरचिताः दशमतामस-फलप्रकरणे यावदुपलब्धाः स्वतन्त्रलेखाः

॥ मैवं विभोऽर्हति भवान् (सुबो.१०।२६।३१) इत्यत्र॥

श्रीकृष्णाय नमः. एतच्च भजनं न विषयवद् इत्यत्र अयम् अर्थो : यथा विषयभोगे कामिनीं भुक्त्वा उपपतिः त्यजति, तथा भगवानपि वदेत् "मयापि एवमेव भजनं कार्यम्" इति आशयं प्रभोः परिहर्तुं भजनप्रकारं च शिक्षयितुं देवो यथा इत्यादिदृष्टान्तम् उक्तवत्यः. तदर्थस्तु–यथा देवः स्वातिरिक्तभजनम् असोढ्वा, तद् निवर्त्य, स्वभजनं सम्पाद्य भजते, तथा अस्मान् परिगृह्य अन्यभजननिवृत्तिपूर्वकं स्वभजनसम्पन्नाः कुरु, नतु स्वतएव निवृत्तान्यभजना अन्यभजने प्रवर्तयसि इति उचितम्. ननु मद्भजनेन भवतीनां पातिव्रत्यभङ्गः स्याद् इति स्वाम्याशङ्कातु भजने दोषाभावप्रतिपादकाभ्याम् आदिपुरुष-देव पदाभ्यां दृष्टान्तप्रकारेण निरस्ता वेदितव्या॥

॥ इति श्रीरघुनाथात्मज-श्रीदेवकीनन्दनकृतम्॥

॥ षोडशगोपिकासंख्यातात्पर्यवर्णनम्॥

(पत्रद्वयं नोपलब्धम्)...श. भगवता नीयमानस्वतन्त्रनिर्गुणायाअपि पूर्वोक्तगोपिकाभावदृष्टान्तेन भावे चातुर्विध्यात् चतस्रः तद्भावसजातीयाः बोध्याः. अतएव तस्याअपि पूर्वोक्ताभ्यो वैशिष्ट्यं तद्भावसजातीयत्वं च बोधयितुं तस्याअपि दोषोत्पत्तिः उक्ता "सा च मेने तदात्मानम्" इत्यादौ मूले. ननु तस्याः सदोषत्वेऽपि तद्भावसजातीयत्वेन ततो भिन्नत्रिविधगोपिकाकल्पने किं मानम्? इति चेद्, उच्यते–"स्वयं त्वयुक्तकरणात् प्रकृत्याद्यधिकारिणः बुद्धिं स्म नाशयामासुः साप्यन्येवाभवत्तत" इति सुबोधिनीस्था अत्रत्यकारिकैव मानम् अस्त्येव. अत्र अन्येव इति दृष्टान्तेन पूर्वोक्तगोपिकायाः यावन्तो भावभेदाः ते अत्रापि अभिप्रेताइति तस्याः स्वसहिताः चत्वारो भेदाः इति ज्ञेयम्. एवं सति सगुणनिर्गुणभेदेन षोडश भवन्ति. तद् एतद् उक्तं षोडशगोपिकानाम् इति. एवं भगवत्यपि अष्टसंख्यातात्पर्यं सुबोधिनीतो अवगन्तव्यम्. तथाहि "इति विक्लवितं तासाम्" इत्यत्र "षड्गुणैश्वर्यभावेन षोढा रेमे हरिः स्वयम् स्वरूपेणापि शृङ्गारो द्विविधोऽपि निरूपितः" इत्यत्र

अष्टविधत्वं भगवति साधितम्. तथाच **षोडशगोपिकानाम् अष्ट कृष्णा भवन्ति इति** सूपपन्नम्.

ननु गोपिकागीते प्रत्येकसमुदायाभ्याम् एकोनविंशतिभेदाः सिद्धाइति कथम् अत्र षोडशविधत्वम्? इति चेत्, मैवं, गोपिकागीतेहि तासां प्रकारत्रयेण एकोनविंशतिभेदाः सन्ति. तत्र प्रथमं सगुणा नव अन्यपूर्वाः, सगुणा नव अनन्यपूर्वाः, एतद्द्वयोः समुदायः चेति एकोनविंशतिः. तदेव उक्तं "श्रीकृष्णगोपिकाः तत्र द्विविधा नवधा गुणैः समुदायेन भिन्नाः वा गतगर्वाः असाधनाः" इत्यनेन. द्वितीयपक्षे सगुणनिर्गुणभेदेन एकोनविंशतिः. तदपि "एकोनविंशतिविधा गोप्यः" इत्यारभ्य "नास्तीत्येकोनविंशतिः" इत्यन्तेन उक्तम्. तृतीयपक्षे "अथवा प्रार्थनाद्या याः सप्तान्ते द्विविधा पुनः चतुर्थ्यस्तु समास्तत्र तत एकोनविंशतिः" इत्यनेन उक्तम्. अत्रापि परस्परं विरोधम् आशङ्क्य परिहरन्ति "तत्तद्वाक्यानुसारेण तासां भावो निरूप्यते अन्यथा अनेकता स्तोत्रे प्रकारैः न उपयुज्यते" इति. तथाच यथा भावानाम् अत्र व्यभिचारित्वाद् अनेकधात्वमिति न परस्परं विरोधः तथा क्रीडायां भावानां स्थायित्वात् षोडशत्वमेव इति भावः. नच रसशास्त्रे व्यभिचारिभावाः स्थायिभावाः च एकैकस्याएव पर्यायेण भवन्ति, अत्रतु अनेकनिष्ठत्वात् कथं तद्दृष्टान्तेन अविरोधः? इति शङ्क्यं, तत्र तथा नियमाभावात् तत्तद्भावविशिष्ट-नानोदाहरणानाम् उक्तत्वात् च. किञ्च श्रीभागवतोक्तलीलानाम् अत्यलौकिकत्वात् तत्प्रकारबोधनं सङ्क्षेपेण उच्यते नतु सामस्त्येनेति न तद्विरोधः इति अर्थः. इदमेव उक्तं "इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा" इति मूले, सुबोधिन्यां च "अस्माभिः एकः प्रकारः उक्तः, तास्तु चित्रधा विलापयुक्ताः जाताः" इति. एवं संयोगरसेऽपि "एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशा" इति मूले, सुबोधिन्यां च "शशाङ्कांशुभिः चन्द्रकिरणैः अलौकिकैः याः विराजिताः निशाः ताः एवं रेमे, पूर्वोक्तप्रकारस्तु सर्वदा लीलारूपः, स केनापि न विरुध्यते" इति. तथाच एकैकस्याः एकैकभावनिरूपणं श्रीभागवतइति न रसशास्त्रविरोधः इति अर्थः.

नच "काचित् कराम्बुजं शौरेः" इत्यत्र पूर्वम् अनेकविधाअपि भगवति आविर्भूते सप्तधाएव जाताइति सप्तविधात्वमेव क्रीडायामपि अङ्गीकार्यम्

इति वाच्यं, तासां तदानीं भगवदावेशेन भगवद्रूपत्वबोधनार्थं सप्तधात्वस्य विवक्षितत्वात्. अतएव अत्र हेतुः सुबोधिन्याम् उक्तः "एको भगवान् सर्वार्थे प्रकटीभूतः" इति. भगवदावेशोऽपि क्रीडायोग्यत्वार्थम् आवश्यकः. तद् उक्तं "प्रदीपवदावेशः तथाहि दर्शयति" इति सूत्रभाष्यइति ततो अवधेयम्. आनन्दमयाधिकरणेऽपि द्वितीयवर्णके "अथ इदं विचार्यते" इत्यारभ्य "उक्तप्रकारकप्रवेशाद् आश्रयाणामपि तत्तदात्मकत्वम् इति उच्यते" इत्यन्तेन उक्तः. तथाच अयं प्रवेशः प्रतिगोपिकां ज्ञेयः. तत्रापि ऐश्वर्यादिधर्मप्राधान्येन प्रवेशः, स्वरूपेण च. तथाच भगवतः सप्तविधत्वात् तासामपि सप्तविधत्वम्. अतएव (गोप्यः) स्त्रियोऽपि अनुकृत्यधिकरणन्यायेन सप्तविधाएव. तदेव उक्तं "स्त्रीरत्नैः" इत्यत्र "स्वभावतः स्त्रियः त्रिविधाः लोकभेदेन. तत्रापि मानुषीषु जातिभेदाः चत्वारः पद्मिन्यादयः इति. तासामपि प्रत्येकं वासनाभेदाः चतुर्दश अश्वप्रकृत्यादयः. तेच रसशास्त्रेभ्यो अवगन्तव्या." एतासां सर्वासामपि भगवद्भोग्यत्वम् अस्त्येव. उक्तञ्च भ्रमरगीते ताभिरेव "दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रिय" इत्यनेन, एतत्सुबोधिन्यां च व्याख्यातम्. इदं प्रसिद्धिम् आदाय व्याख्यातम्. एतन्मूलमपि अनुकृत्यधिकरणन्यायेन वाच्यमिति न प्रत्यवस्थातव्यम्. तथाच "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" इति सूत्रभाष्योक्तप्रकारेण भगवत्साम्येन सप्तानां तासां मर्यादापुष्टिभेदेन भगवतइव वासनाभेदेन चतुर्दशानामपि भावा भिन्नाएव वाच्याः. तेच सगुणनिर्गुणदृष्टान्तेन षोडशइति तत्तद्भावविशिष्टाः षोडश गोपिकाः भवन्ति इति उक्तं षोडश गोपिकानाम् इति. ननु भगवतो गुणैः स्वरूपेण च सप्तविधत्वम् उक्तमिति अत्र अष्टविधत्वं कथम्? इति चेत्, मैवम्, पूर्वं "स्वरूपेणापि शृङ्गारो द्विविधोऽपि निरूपितः" इति उक्तत्वात्. ननु तत्र विप्रयोगसम्बन्धितत्स्वरूपेण सह अष्टविधत्वम्, अत्रतु संयोगइति कथं तत्स्वरूपम् अत्र? इति चेत्, मैवम्, अत्रापि स्वसन्मुखस्थित-गोपिकाकण्ठालिङ्गित-भगवत्स्वरूपादर्शनेन उभयरसस्य अनुभवात्. एवञ्च सति नित्यलीलात्वम् उभयलीलायाअपि सिध्यतीति विवक्षितत्वात्. इदमेव "स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा" इति श्रुतितात्पर्ये भाष्ये सिद्धम्. ननु अभेदवादानुरोधाद् एकस्य भगवतः एतावत्त्वं वक्तव्यं, तत्तु दृष्टान्ताभावात् कथम् अङ्गीकार्यम्? इति चेद, उच्यते, गुणसाम्यावस्थायाः प्रकृतेः गुणकार्याभावात् निर्गुणत्वम्, पुनः तस्याएव गुणवैषम्ये सगुणत्वं त्रित्वं च, तेषां परस्परं मिश्रितत्वे नवविधत्वं, तेषां

केवलत्वे तत्तन्निर्गुणत्वं गुणसाम्यदशायामपि प्रकृतेः स्वभावतः तादृशकार्यकर्तृत्वं च भगवच्छक्तित्वाद् अङ्गीकार्यमेव. तस्याश्च भगवत्सम्बन्धि-सच्चिदानन्दमूलरूपत्वाङ्गीकारस्य द्वितीयसुबोधिन्यां सिद्धत्वात्. तेषां सच्चिदानन्दानां यथा प्रत्येकसमुदायाभ्यां चतूरूपत्वं, तेषाञ्च आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकमूलभेदेन प्रत्येकम् अक्षर (काल-कर्म-स्वभाव) वत् चतूरूपत्वात् षोडशत्वम्, एवं तन्मूलभूतायाः प्रकृतेः षोडशत्वमिति दृष्टान्तसद्भावात् पूर्वोक्तं सुस्थमेव.

नच अत्र काचन कल्पना सम्भवति. नृसिंहोत्तरतापनीयश्रुतौ ॐकारम् उपक्रम्य, तस्य पादचतुष्टयम् उक्त्वा, तेषां प्रत्येकसमुदायाभ्यां भेदचतुष्टयम् उक्त्वा, आनन्दामृतरूपं प्रणवं षोडशान्ते इतिवद् अत्रापि षोडशत्वं श्रुतिसिद्धमेव. प्रकृतेरपि एतन्मूलत्वबोधनम् अत्रैव अग्रे श्रुतौ "न ह्यस्ति द्वैतसिद्धिः, आत्मैव सिद्धो अद्वितीयो मायया ह्यन्यदिव, स वा एष आत्मा परएव एषैव सर्वम्" इति उपक्रम्य, "तस्माद् आत्मनएव त्रैविध्यं सर्वत्र" इत्यन्तेन तथात्वं बोधितम् इति एतत् सर्वम् अस्मद्गुरुचरणकृत-'शिवतत्त्वविवेक'दूषणे 'प्रहस्ता'ख्ये ग्रन्थे द्रष्टव्यम् इति अलं प्रसङ्गानुप्रसक्त्या.

एवञ्च एतासां भगवतः च अभेदोऽपि तादात्म्यरूपः सिध्यति. अतएव श्रुतावपि "तस्मान्न भिन्ना एतास्तु आभिर्भिन्नो नवै प्रभुः" इति उक्तम्. भ्रमरगीतेऽपि "भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचिद् आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात् स्वभावतः" इति भगवद्वाक्ये तादात्म्यबोधकम् आत्मत्वादि-हेतुचतुष्टयम् उक्तम्. एवं "कृत्वा तावन्तमात्मानम्" इत्यत्र समसंख्यायामपि "आनन्दामृतरूपं प्रणवं षोडशान्ते" इत्यत्र प्रणवस्येव भगवतः षोडशत्वं ज्ञेयम्. विप्रयोगे संयोगे च "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा" इति श्रुत्युक्तरीत्या भक्तानां भगवतः च अनेकरूपत्वेन तेषां च अभेदेन रससम्भवात् न प्रत्यवस्थातव्यम् इति. एतासां षोडशसहस्रसंख्यापि, रसशास्त्रे उत्तमस्त्रीणां सहस्रं भेदाः सन्ति इत्यत्रापि प्रत्येकं षोडशविधानां सहस्रभेदवत्त्वात् षोडशसहस्रत्वमपि रसार्थमेवेति तासां सजातीयानां मण्डलानि इति ज्ञेयम्.

इति श्रीपुरुषोत्तमजीचरणान्तेवासि-तुलजारामकृतं
रासमण्डलस्थित-षोडशगोपिकासंख्यातात्पर्यवर्णनम्।

।। सुबोधिनी-योजनायाः पार्श्वटिप्पणी ।।

(मुंबईविद्यापीठग्रन्थागारीयपाठे उपलभ्यमाना)

सुबो.कारि.१०।२६।१(१) : युज्यते योग्या भवति. तुर्ये फलप्रकरणे.

सुबो.कारि.१०।२६।१(२) : लौकिकस्त्रीषु परकीयासु अन्यविहिहितासु. **संसिद्धः** भजनानन्दो रसः. **योग्यता** ब्रह्मानन्दानुभवेन योग्यता. तद्द्वारा यज्ञपत्नीमिव तद्द्वारा. **योग्यता** इति, अर्धांगतः अनुभूतब्रह्मानन्दत्वाद् इति अर्थः.

सुबो.कारि.१०।२६।१(३) : विधार्यते स्थाप्यते.

सुबो.कारि.१०।२६।१(४) : ततः पुमान् तासु इति अन्वयः, शक्तः इति शेषः. **पुमान्** श्रीकृष्णः. **तं पातुम्** इति, रसरूपं पुरुषं हरिम् इति अर्थः.

सुबो.कारि.१०।२६।१(५) : शब्दात्मिका गानात्मिका. **निर्दुष्टा** युगलगीते मानादिरहिता.

सुबो.कारि.१०।२६।१(६) : रूपप्रपञ्चस्य हरेः रूपविस्तारस्य.

सुबो.कारि.१०।२६।१(९) : सोऽन्तःकरणसम्बन्धी इति, **स** आत्मा यदा अन्तःकरणसम्बन्धी जातः तदा तिरोधानं कृतम्.

सुबो.आभा.१०।२६।१ : प्रथमम् इति पञ्चप्रकारमध्ये आत्मना इति अर्थः. **तासु** रत्यर्थं रात्रिषु रमणार्थम्.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।१ : कामपितामहम् इति, कामजनकः संकल्पः तज्जनकम् इति अर्थः. **प्रच्युतः स्याद्** कृष्णः इति शेषः. **यथा प्रमाणे** इति वेदे प्रकरणे इति शेषः. **बलभद्रो** वेदो. **योगमायायाः** इति, अत्र उपयोगः इति शेषः, योगमायायाः अत्र उपयोगः कार्यः. **प्रमाणं** शास्त्रम्. **अन्यत्र** बलदेवे. **भक्तिमार्गश्च** मर्यादाभक्तिमार्गश्च. **विततौ** विस्तृतौ.

सुबो.आभा.१०।२६।२ : अनिधिष्ठितं मनः इति शेषः.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।२ : तस्य आविर्भावः इति चन्द्रस्य.

उपरतायां समाप्तायां, उपरतिः समाप्तिः. मुच्येत मुक्तिं प्राप्नोति. ततः मुक्तिसकाशात्. तासां चर्षणीनाम्. तदानीन्तना अवतारसामयिकाः. तस्मिन् उदिते इति, चर्षणीनां तन्मनःशक्तिरूपत्वात् तन्मनश्चन्द्रे उदिते. चर्षणीनां भर्तरि चन्द्रे (उदिते सति!) परमानन्दानुभवो अवश्यमेव. मुखसम्मार्जनम् इति अरुणरागेण शोधनम्. अन्धकारनिवृत्त्यादिश्च इति, चकारेण तापहारकत्वम्. द्वयमपि इति, 'अपि'शब्दात् "शुचो हरन्" इत्यस्यैव मुख्यत्वं द्योतितम्. तदेकसाध्यं चन्द्रैकसाध्यम्.

सुबो.आभा.१०।२६।३ : तद्देवतायाः चन्द्रदेवतायाः. संकल्पोत्पत्त्यर्थं गोपीषु इति शेषः. शब्दयोनित्वं कारणत्वम्. तद्दर्शनेन चन्द्रदर्शनेन. मूलश्लोके : तत्कोमल-इति चन्द्रकोमल-. कमलम् अव्यक्तमधुरम्. वामदृशाम् इति, वामाः सुन्दराः दृशो यासां ताः.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।३ : पृथिव्याम् इति 'कु'इत्यस्य अर्थः. रसदोग्धृत्वं रसोत्पादकत्वम्. पाल्यमानत्वं गोः. गायन्तं पुरुषम्. यदि व्यक्तमधुरम् इत्यादि, व्यक्तमधुरगीतं 'बर्हापीड...'श्लोकवत् स्वरूपगुणलीलानुभवेन अभिरमणसम्पादकं तत्रैव स्थितानां भवेद् इति अर्थः.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।४ : आह्वानं सदृशम् इति, "आह्वयते अनेन" इति आह्वानं, गानम् इति यावद्, उभयश्रुतमपि गानं सदृशमेव इति अर्थः. अङ्गं प्रक्रान्तं तु नाशयति. ताः गोप्यः. अनेन कान्तपदेन. तासां कुमारिकाणाम्. ताः स्त्रियो कुण्डलपदेन सूचिताः. ताटङ्कयोरिति, ताटङ्कं तालपत्रनिर्मितं कर्णभूषणम्.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।५ : जातिकुललोकधर्मपराः इत्यत्र 'धर्म'-पदं त्रिष्वपि अनुषज्यते. तथाहि जातिधर्मः कुलधर्मः लोकधर्मः इति अर्थः. तत्र दुग्धस्य उत्पत्तिस्थितिप्रलयान् इति. उत्पत्तिकर्त्र्यो = "दुहन्त्यः..." इति राजसराजस्यः. स्थितिकर्त्र्यः = "पयोधिश्रित्य..." इत्यत्र उक्ताः सात्त्विकराजस्यः. प्रलयकर्त्र्यः = "संयावमनुद्वास्य" इत्यत्र उक्ताः तामसराजस्यः.

सुबो.योज.१०।२६।६ : पतिशुश्रूषणस्य...नाशकत्वाद् इत्यादि.

किञ्च अन्ननाशश्च अत्र भगवत्सम्बन्धे प्रतिबन्धकत्वं (ज्ञात्वा!). अतएव अग्रे पत्यादीनां त्यागः. एवञ्च भगवद्विमुखानां न ग्रहणं— पितुः त्यागः प्रह्लादेन, बन्धोः विभीषणेन, मातुः भरतेन, गुरोः बलिना. गोपिकाभिः स्व-स्वपतयः त्यक्ताः.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।७ : शरीरसेवातः इत्यादि. शरीरसेवाकर्त्र्यः तामसी, गोसेवाकर्त्र्यो राजसी, पतिसेवाकर्त्र्यः सात्त्विकी. "अञ्जन्त्यः..." इत्यत्र निर्गुणत्वं स्पष्टमेव. **तद्धर्माणां** त्रपादिनाम्.

सुबो.आभा.१०।२६।८ : हेतुम् आह इति वारणे इति अर्थः.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।८ : विन्नां विवाहिताम्. **प्रवर्तकश्च** इति गोप्यन्तःकरणस्य इति शेषः. **अन्तःकरणारूढाः** तद्वश्याः इति अर्थः. अन्तःकरणवशाः प्राणिनो भवन्ति. **भयं** पत्यादिना. **स्वधर्मो** मर्यादामार्गीयः.

सुबो.आभा.१०।२६।९ : पूर्वमेव भक्तियुक्ताः इति, साधनदशाया-मेव भक्तिः, फलदशायां जारत्वबुद्धिः.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।९ : स्वयम् अभिसारिका इति, अभिसरति गच्छति जारनिकटे सा अभिसारिका.

सुबो.आभा.१०।२६।१० : सान्निध्याभावाद् बहिःप्राकट्याभावा-त्.: आश्लेषः **इति, आलिङ्गनेन निर्वृत्या परमसुखेन इति भावः.**

सुबो.व्याख्या.१०।२६।११ : वियोजकपापाभावाद् इति, विप्रयोग-कृतपापरूप-प्रतिबन्धाभावात् **न विप्रयोगं** प्राप्ताः. **प्रारब्धकर्मनिर्वाणं, निर्वाणं** निर्मितम् (नाश्यं!). **तत्र प्रविष्टाः** इति देहे स्वगेहे वा. तदा भगवत्सङ्गे सति. **तयोः** अज्ञानान्यथाज्ञानयोः.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।१२ : अतिमृत्युं मोक्षं, **अयनाय** मोक्षाय. **तत्रैव पुनः** मुक्तिसाधनविचारएव. **अभ्येति** प्राप्नोति. **तत्रैव मुक्तेः कारणम्.**

द्वयोः ज्ञानभक्त्योः. **सगुणा** इति, **'गुण'**शब्देन उपाधिः. **गुणप्रवाहस्य** देहधारणस्य.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।१३ : शास्त्रद्वयम् उपासनाकाण्डं ज्ञानकाण्डं च.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।१४ : अभिव्यक्तः प्रकटः. **अन्यथापि भवति** इति, "यदा यदा हि" इति वाक्येन अंशावतारेणापि भवति इति भावः. **ज्ञापयितुम्** इति, ज्ञापयितुं **'नृप!'** इति सम्बोधनम् इति अन्वयः. **स्वार्थं गमनाभावे** व्यापिवैकुण्ठाद् इति शेषः.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।१५ : नात्र उपयोगः इति प्राकट्ये. **तेषां** शास्त्रोक्तधर्माणाम्. **एकस्यतु उभयत्वे** इति, एकस्यैव आविर्भावस्य उभयरूपत्वे साध्यसाधनरूपत्वे. **'वा' इति अनादरे** इति, कामादिमध्ये यः कश्चिद् इति भावः. **अन्ते या** इत्यादि, कामाद्युपाधिना भजने कृते **अन्ते** समये देवान्तरभावविषयिणी **या मतिः सा गतिः** तत्तद्देवसायुज्यप्राप्तिरेव अन्यशेषताम् आपद्यते इति अर्थः. कामदेवरूपं वा प्राप्नुयात्, काममतेः सर्वत्र सत्त्वात्. **जगदेव तदात्मकं स्फुरति** इति "प्रासादे सा दिशि-दिशि च सा" इतिवत्. **तादृशी भावनां** तन्मयतारूपाम्. **पूर्वप्रपञ्चविलयो** भगवद्भावनास-काशाद् इति शेषः. **तेषां** कामादीनाम्.

(सुबोधिन्यां द्वितीयव्याख्याने)

सुबो.व्याख्या.१०।२६।१२ : संवादार्थम् इति, यदा शुद्धसत्त्वाविर्भा-वः तदैव ज्ञानोदयः इति महताम् अनुभवो अस्तीति **संवादएव अर्थः** प्रयोजनं **'मुने!'** इति सम्बोधनस्य. **अयञ्च रसः** इति, श्रीकृष्णो रसरूपः. **तादृशशरीरनाशे** भगवत्सम्बन्धेन सगुणदेहनाशे. **निजपतिभजनम्** इति, श्रीकृष्णः पतिः.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।१३ : तादृशप्रपत्तेः जारत्वादिप्रपत्तेः. तद्वि-

रुद्ध- मोक्षविरुद्ध-. **तादृशं फलम्** इति विहितसर्वभावसाध्यम्. **दित्सितं** दातुम् इष्टम्. **सएव भावः** सर्वात्मभावः. **पूर्वोक्तानां** कृष्णसमीपागतानाम्. **भावोऽपि** इति, '**अपि**'शब्दाद् देहादीनामपि. **निगर्वः** अभिप्रायविशेषः. **पराहताः** दूरीकृताः. **गोप्यत्वात् स्पष्टं न उक्तवान्** इति, गुणातीतदेह-प्राप्तिपूर्वक-रमणस्य गोप्यत्वात् स्पष्टं न उक्तम्. '**गुणमय**'**पदवैयर्थ्यम्** इति, 'गुणमय'पदेन सगुणत्वं, रासस्थानां सर्वासां निर्गुणत्वज्ञापनाय.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।१४ : तासां रासस्थानाम्. **तस्य** सगुणस्य. **सगुणत्वप्रसञ्जकत्वात् च** इति, **प्रापकत्वाद्** इति भावः. **एवं सति** लीलायाः मुक्तिप्रतिबन्धकत्वे सति. **तथा उच्यते** इति निर्गुणदेहप्राप्तिः. **प्रयोजनमपि इदमेव** इति, लीलायाः मुक्तिसाधकत्वमेव इति अर्थः.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।१५ : पूर्वोक्तदोषप्रसञ्जकत्वम् इति जारबुद्धिरूपदोष-. **इदं हि** इति लीलायां सगुणप्रवेशो नास्तीति. **स्वानुरूपमेव** इति सेवमानाय.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।१६ : अजे इति मूले भागवते, अत्र **अन्तर्हृदि** अन्तर्गृहगत-गोपिकान्तर्हृदि. **तत्र सन्नेव** अन्तर्गृहगत-गोपिकान्तर्हृदि सन्नेव इति अर्थः. **तदभावार्थम्** आह विस्मयाभावार्थम् आह. तदभावाय आह विस्मयाभावाय आह. **तादृश्येव** स्वरूपानन्दरूपैव. **वर्तमानप्रयोगं** 'विमुच्यते' इति. **ननु एतद्वैपरीत्यमपि** इति, **रासमण्डलस्थाः सगुणाः** — अन्तर्गृहगताः निर्गुणाः इति वैपरीत्यम्. **एताअपि** अन्तर्गृहगताअपि.

(इति द्वितीयव्याख्यानटिप्पणी)

सुबो.व्याख्या.१०।२६।२१ : वनं तामसम् इति, पूर्वं घोरत्वप्रतिपादनेन तत्त्वम्. किञ्च वनस्य क्रूरत्वेन घोरसत्त्वनिषेवितत्वेनापि तत्त्वम्. किञ्च वृन्दावनस्य दैत्यसम्बन्धित्वात् तत्त्वम्. वनं पुण्यमतीव चक्रतुः. "वृन्दावनं सखिभुवो वितनोति कीर्तिम्" इत्यत्र च प्रतिपादनात् तामसत्वम्. किञ्च तामसराजसानां गणनात् तत्साहचर्यं पुष्पाणाम्. चन्द्रकिरणस्य च गणनार्थताम्.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।३१ : आदिपुरुषः इति, "सएव वासुदेवो यः पुरुषः प्रोच्यते बुधैः" इति वाक्यात्. **नतु अभजनम्** इति, भजनम्

उचितमेव इति अर्थः.

सुबो.योज.१०।२६।४० : आत्मत्वेन ऐक्येऽपि इति इन्द्रमहेन्द्रयोः इति शेषः. **गुणादयस्तु** इति, इन्द्रमहेन्द्रावस्थायां गुणादयः. **अङ्गीक्रियतइति, इति** हेतोः. **उपनिषदां** गोपीनाम्. **प्रमाणबले वस्तुविचारो नास्ति** इति, भगवति परपुरुषत्वखण्डनविचारो वस्तुविचारो अत्र ज्ञेयः.

सुबो.योज.१०।२६।४२ : पूर्वं मेलनम् इति प्रथमम्(का. १५). **स्वगतद्वैतम्** इति, **एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म** इति "आनन्दमात्रकरपाद...स्वगतभेदविवर्जितमात्मा", "...त्रिविध-" इतिवा पाठः.

सुबो.योज.१०।२६।४८ : गोपिकाहृदयेषु इति, अतएव "तिरोधानदशायाम्" इति व्याख्यातं टिप्पण्याम्. **प्रभोः क्रीडा** इति "सौंदर्यं निजहृद्गतं प्रकटितम्" इत्यादिरूपा.

सुबो.व्याख्या.१०।२६।४८ : यूथमध्ये वा इति, "तासामाविरभूद्" इतिवत् स्त्रियेषु इति यावत्.

सुबो.योज.१०।२६।४८ : चतुर्थाध्याय इति "पद्मजार्चितम्" इत्यत्र.

सुबो.योज.१०।२७।१(१) : समयविशेष- इति, यौवनाद्युदीपकऋतुमाल्यालङ्कारैः इति भावः.

सुबो.व्याख्या.१०।२७।१ : सिंहाः विरहरूपसिंहाः. **कालः** विरहसामयिकः कालः.

सुबो.व्याख्या.१०।२७।२ : यथोत्तानके इति, यथा बन्धाः मुख्याः तेषु यः उत्तानकादयो अवान्तरभेदाः तत्र-तत्र ग्राम्यानां रमणार्थम् उत्तानादिः.

सुबो.कारि.१०।२७।४४(१३) : द्विविधा अन्यपूर्वाऽनन्यपूर्वाभेदेन द्विविधा. **नवधा पुनः** प्रत्येकं राजस्यादिभेदेन नवधा इति अर्थः.

सुबो.योज.१०।२९।२ : तत्र आगमनम् इति, प्रभोः आगमनं नास्ति इति.

सुबो.योज.१०।२९।१६ : द्वितीयो भजनकर्तुः प्रतियोगी अभजनकर्ता अस्ति इति शेषः. *अयम् अस्मान्* इति, गायकं प्रति आह यथा — गानेन शब्देन आनन्दितः तथा 'राज्ञः'शब्देनैव आनन्दितो द्रव्यादिकं किमर्थं देयम् अतो गच्छताम्.

सुबो.योज.१०।२९।१७ : अपेक्षया इति, यदि अन्यं कार्यं तस्माद् सौहार्दकर्ता अपेक्षेत इति अर्थः, सौहार्दस्य एकस्य करणेनैव सिद्धत्वात्. **सौहार्दवान् भवति** इति, मिथो भजनवान् एतादृशो भवति.

सुबो.योज.१०।२९।१९ : तस्य भुक्तवतः. आप्तकामे इति, कामो भोजनं, स आप्तः प्राप्तः. **उभयथा वैयर्थ्यम्** इति, एवञ्च आप्तकामस्य आत्मारामस्य च भजनं व्यर्थम्. **प्रवर्तमानस्य धर्म** इति भोजनं कारयितुं प्रवर्तमानस्य धर्मः.

सुबो.योज.१०।२९।२० : द्वितीये पक्षे इति, स्नेहाद् भजनं गोपिकानां भगवति भजने अस्तु. **प्रतिभजनावश्यकत्वानर्हा** इति, प्रतिभजनं भगवद्भजनं तदनर्हा अयोग्या इति यावत्. **विचार्यः** व्यवहारे. **परित्यागस्तु अनुचितएव** इति, परित्यागे करिष्यमाणे प्रथमतएव प्रवृत्तिः किमर्थं कृता इति भावः. **सख्यमात्रेण** इति, 'सख्य'पदतात्पर्यं "नाहं तु सख्यो भजतो..." अतः 'सख्य'पदोक्तिः. **असम्भवाद्** इति, कामाभावात् कामानाया अभावाद् इति भावः. सुबोधिन्याम् **अल्पफलदानाद्** इति प्रासादात् प्रेक्षते इतिवत् ल्यब्लोपे पञ्चमी. **तावता** इति कालेन॥२०॥

सुबो.योज.१०।३०।०(३) : स्वरूपाभिन्नानन्दरूपत्वाद् इति वैष्णवत्वात्. तच्च प्रकाशे स्पष्टम्.

सुबो.योज.१०।३०।२ : चाभ्यधादित्यत्र इति, इतिश्लोके साधनप्रक-

रणे. तत्सम्बन्धी- गोकुलसम्बन्धी ॥२॥

सुबो.योज.१०।३०।३ : दर्शनं तथैव एकस्यैव. **परितः स्थितानामेव** इति, अतएव ''हैमानाम्...'' इति बहुवचनं, ''मारकतो यथा'' इति एकवचनम् ॥३॥

सुबो.योज.१०।३०।८ : चारीकरण- इति चालनम् ॥४॥

सुबो.योज.१०।३०।१० : केन कं विजानीयाद् इति अद्वयत्वात्. **कृष्णाद्वैतस्फूर्तिः** इति, शुद्धेन श्रीकृष्णेन सह अद्वैतं शुद्धाद्वैतम्. **व्रजसीमन्तिनीकृतनादो** अत्र **'उपनिषत्'**पदवाच्यः इति श्रुतिरूपात्वात्. **ऐश्वर्यम् एतस्याः** इति, **'मुकुन्देन'** इति तृतीयया अप्राधान्यात्. **रूपयतः** प्रकाशयतः ॥१०॥

सुबो.व्याख्या.१०।३०।१३ : कुण्डले ज्ञानशक्तिः इति, अतः इयं ज्ञानरूपा. **तेन** स्नेहेन ॥१३॥

सुबो.योज.१०।३०।२२ : चम्पककोरक- इति -कलिका. **कोरक-वर्तिन्यः** मध्यगाः ॥२२॥

सुबो.१०।३०।२३ : तन्मर्यादा आत्मारामत्वमर्यादा ॥२३॥

सुबो.१०।३०।३२ : अन्यो साधारणजीवः ॥३२॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीवेणुगीते श्रीसुबोधिन्यनुसारि-समग्रदशमस्कन्धार्थनिरूपणम्

[१]यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि (वे.गी.श्लो.१०) इत्यत्र जन्मप्रकरणार्थो ज्ञेयः : "स्वस्य स्वच्छन्दसम्बन्धार्थं 'देवकीसुत' प्रयोगः. नन्दगोपसम्बन्धिनी सा. देवक्याः प्रसूतिमात्रं नतु अन्यदिति 'सुत'पदम्" (सुबो.१०।१८।१०) इति वचनेन निरूपितः.

[२]नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेशं दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् (वे.गी.श्लो.११) इत्यत्र प्रमाणप्रकरणीयबाललीलार्थो ज्ञेयः : "नन्दमपि आनन्दयति इति 'नन्दनन्दनो' भक्तोद्धारार्थमेव ब्रह्मवाक्यात् प्रवृत्तो..." (सुबो.१०।१८।११) "दाम उदरे यस्य" इति भगवतो गोपिकाधीनत्वं सूचितम्" (सुबो.१०।१८।९) वचनाभ्यां निरूपितः.

[३][क]पशूननुविवेशयतो वयस्यैः, वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षं... विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां... (वे.-गी.श्लो.७-८) [ख]प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्कृष्णेक्षणास्तदुदितं... आरुह्य ये द्रुमभुजान्...(वे.गी.श्लो.१४) [ग]दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सह रामगोपैः सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् (वे.गी.श्लो.१६) इत्यत्र प्रमेयप्रकरणीय-गोचारणलीलार्थो ज्ञेयः : [क]"वयस्यैः सह वनं पशुन् निवेशयतो रामकृष्णयोः वक्त्रम् एकं यैः वा निपीतम् इति" (सुबो.१०।१८।७). एतादृशौ उभावपि पशुपालगोष्ठ्यां विरेजतुः. [ख]"तेहि मुनयो मननशीलाः जानन्ति — 'अत्र भगवान् आविर्भविष्यति'; अतएव अस्मिन् वने कृष्णेक्षणाः... भगवन्तं पश्यन्तएव तदुदितं कलवेणुगीतं द्रुमभुजान् आरुह्य शृण्वन्ति" (सुबो.१०।१८।१४). "[१]मधुपतिः [२]गाः चारयन् [३]वेणुं चुकुज : [१]वसन्ताधिपतिः सरसः शृङ्गारात्मा, [२]धर्मं कुर्वन् क्रियाज्ञानशक्तिसहितो, [३]देवतोद्बोधनाय वेणुनादं कृतवान् (सुबो.१०।१८।२) इति वचनेभ्यो निरूपितः.

[४] हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः (वे.-गी.श्लो.१८) इत्यत्र साधनप्रकरणीयगोवर्द्धनलीलार्थो ज्ञेयो : "अग्निकुमाराणामपि अतएव स्त्रीत्वम्... अतएव अग्रे आधिदैविकीं स्त्रियं प्रार्थयिष्यन्ति" (सुबो.१०।१८।५) "गावो अनुभाविकाः, गोपालाः सेवकाः, शक्तीनां निर्भयत्वाय एते देवाः साक्षिणः..." (सुबो.१०।१८।१), "'गोविन्द'पदं गवां हृदये आविर्भावार्थं, यतो अयं तेषामेव इन्द्रः" (सुबो.१०।१८।१०), "अयम् अद्रिः गोवर्द्धनो हरिदासानां मध्ये वर्यः... किञ्च सात्त्विको अयं गुणातीतो वा. कन्दमूलानि भक्ष्याणि. कन्दाः भर्जनसापेक्षाः, मूलानितु तथैव भक्ष्याणि...", "यदि अस्माभिरपि गोवर्द्धने स्थितं स्यात् तदा अस्माकमपि तथा इति" (सुबो.१०।१८।१८) इति वचनेभ्यो निरूपितः.

[५] वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्ति... गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यम्(वे.गी.श्लो.१०) कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवचारुवेशं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम् **(वे.गी.श्लो.१२)** इत्यत्र फलप्रकरणीयरासादिलीलार्थो ज्ञेयः : "**इत्थम्भूता या शरत् तया स्वच्छं जलं यस्मिन् वृन्दावने तादृशम् अच्युतो न्यविशत्.** अत्रापि पूर्ववद् आधिदैविकीभिः शक्तिभिः लीला वक्तव्या. तत्र नायकोत्कर्षार्थम् अच्युतः... रमणं जलस्थलभेदेन द्विविधम्. निर्भरमणे च वायोः अपेक्षा, जलक्रीडायान्तु नैर्मल्यं शीताभावः च... पद्माकराणां सुष्ठु यो गन्धः शैत्यसहितः तद्वान् सुगन्धी... गन्धत्वेनैव मान्द्यम् उक्तम्. एतावदेव क्रीडायाम् अपेक्षितम्" (सुबो.१०।१८।१), "देवतोद्बोधनाय वेणुनादं कृतवान्...विभावादीन् निरूपयति कुसुमिता याः वनराजयः... केवलशृङ्गारार्थमेव कूजनं कृतवान्... ताभिः सह रमणे कामिनीकामोद्बोधत्वात् कूजितस्य, व्रजस्त्रियोऽपि उद्बुद्धकामाः जाताः... वेणुगीतं स्मरोदयम्, उद्दीपनविभावत्वाद् नादस्य..., " (सुबो.१०।१८।२-३), "भगवतोऽपि उद्बुद्धरसात्मकत्वं... भगवतो वपुः उभयविधं... नटवद् वरवद् इति... शृङ्गारस्तु संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः... तादृशस्तु रसो गुप्तएव रसत्वम् आपद्यतइति पीताम्बरम्... मायाहि सा... कीर्तिमयीं वनमालां वैजयन्तीं च मालां बिभ्रत्... रूपेण वशीकृत्य अधरामृतं पाययन् स्वच्छन्दतां सम्पादयति" (सुबो.१०।१८।५-६) इति वचनेभ्यो निरूपितः.

[६] अक्षण्वतां फलमिदं...रंगे यथा नटवरो... इत्यत्र मथुरालीलार्थो ज्ञेयः : "परं ज्ञात्वा पाने महान् रसइति, भगवतो अग्रे (=भ्रमरगीते) ज्ञानोपदेशनिर्बन्धः" (सुबो.१०।१८।५) इति वचनेन निरूपितः.

[७] "पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लीम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्" (भाग.१०।१८।१७) तद्वत् महिष्यादीनाम् इति द्वारिकालीलार्थो ज्ञेयः. "तदंशानां (=महिष्यादीनामित्यर्थः इति टिप्पणी) क्रमेण" (सुबो.१०।१८।५) इति वचनेन निरूपितः.



श्रीगोपीगीते श्रीसुबोधिन्यनुसारि सर्वव्रजलीलार्थनिरूपणम्

[१]जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि (गो.गी. : १) इत्यत्र जन्मप्रकरणार्थो ज्ञेयः.

[२]विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले (गो.गी. : ४) इत्यत्रापि जन्मप्रकरणार्थो ज्ञेयः.

[३]व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते व्रजिन हन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् (गो.गी. : १८) इत्यत्र प्रमाणप्रकरणलीलार्थो ज्ञेयः.

[४]विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते शरणमीयूषां संसृतेर्भयाद् (गो.गी. : ५) इत्यत्र प्रमाणप्रकरणबाललीलार्थो ज्ञेयः.

[५]विष-जलाप्ययाद्- (गो.गी. : ३) इत्यत्र पूतनामोक्षलीलार्थः.

[६]व्यालराक्षसाद् (गो.गी. : ३) इत्यत्र प्रमाणप्रकरणस्थ-शकट-तृणावर्त-बकादि-वधलीलार्थो ज्ञेयः.

[७]श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततम् (गो.गी. : ९) इत्यत्र नामकरणलीलार्थो ज्ञेयः.

[८]न खलु गोपिकानन्दनो भवान् (गो.गी. : ४) इत्यत्र दामोदरलीलार्थो ज्ञेयः.

[९]चलसि यद् व्रजात् चारयन् पशून् (गो.गी. : ११) इत्यत्र गोचारणलीलार्थो ज्ञेयः.

[१०]विषजलाप्ययाद् (गो.गी. : ३), फणिफणार्पितम् (गो.गी. : ७) इत्यत्र कालियदमनलीलार्थो ज्ञेयः.

[११]वर्षमारुताद् वैद्युतानलाद् (गो.गी. : ३) इत्यत्र गोवर्धनलीलार्थो ज्ञेयः.

[१२]दिनपरिक्षये... घनरजस्वलं(गोपीगीत : १२), कुटिलकुन्तलं, श्रीमुखं च ते (गो.गी. : १५) इत्यत्र गोचारणलीलार्थो ज्ञेयः.

[१३]सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्, इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर तेऽधरामृतम् (गो.गी. : १४) इत्यत्र वेणुगीतनिरूपितलीलार्थो ज्ञेयः.

[१४]मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया (गो.गी. : ८) इत्यत्र व्रतचर्यालीलार्थो ज्ञेयः.

[१५]विरचिताभयं करसरोरुहम् (गो.गी. : ५) इत्यत्र गोवर्धनधारण-लीलार्थो ज्ञेयः.

[१६]शरदुदाशये... सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका (गो.गी. : २), पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान् अतिविलङ्घ्य तेन्त्यच्युतागताः (गो.गी. : - १६), प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलं रहसि संविदो या हृदिस्पृशः (गो.गी. : १०) बृहदुरश्रियो वीक्ष्य धाम ते (गो.गी. : १७), वीर योषिताम् (गो.गी. : ६) इत्यत्र रासादिलीलार्थो ज्ञेयः.

[१७]तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितम् (गो.गी. : ९)

इत्यत्र युगलगीतनिरूपितलीलार्थो ज्ञेयः.

श्रीमद् दामोदर गुरोः कृपया स्फुरितं हृदि।
जतिपुरास्थो *गोविन्दः कोविदोऽवर्णयत् स्फुटम्॥

---

*गोस्वामितिलकायितश्रीगोवर्धनलालात्मजश्रीदामोदरलालसेवकाः तेषां मुखादेव नित्यं सुबोधिनीकथाश्रवणपरायणाः च एते पूर्वं भगवतः श्रीगोवर्धनधरप्रभोः भोगसामग्रीसम्पादने नियुक्ताः 'गोपीलालजी सांचोरा' इति नाम्ना प्रसिद्धाः अभूवन्. पश्चात् प्रपञ्चविरक्तिपूर्वकभगवदैकानुरक्ताः सन् जतिपुराग्रामे नित्यं सुबोधिनीमननोपदेशपरायणाः भूत्वा न्यवसन् इति श्रूयते.



॥ गोपीगीतवक्त्रीस्वभावभेददीपिका ॥
(श्रीमगनलालशास्त्रीकृता)

प्रथमप्रस्तरः

स्वभाव	अनन्यपूर्वा	अन्यपूर्वा
सात्त्विकसात्त्विकी	श्लो. ५	३
सात्त्विकतामसी	६	२
सात्त्विकराजसी	७	१
निर्गुणा	८	४
राजससात्त्विकी	९	१४
राजसतामसी	१०	१२
राजसराजसी	११	१३
तामससात्त्विकी	१८	१५
तामसराजसी	१९	१७
तामसतामसी	-	१६

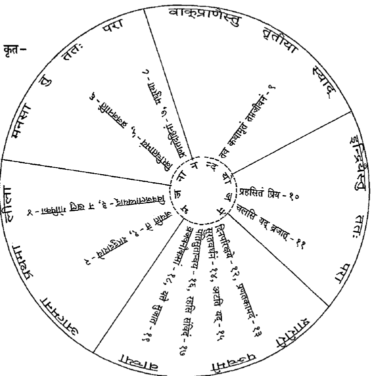
अथवा

द्वितीयप्रस्तरः

स्वभाव	अनन्यपूर्वा	अन्यपूर्वा
सगुणा	१४	१९
	१३	१८
	८	१७
	७	१६
	६	१५
	५	१२
	३	११
	२	१०
	१	९
निर्गुणा उभया	४	४

श्रीमोहनलाल गुलाबचन्द जरीवाला कृत–

श्री टिप्पण्यनुसारी गोपीगीत प्रारूप



ततो रूपं प्रतिष्ठितम्

॥ द्वितीयं परिशिष्टम् ॥

आद्यसम्पादकानां प्रस्तावना

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीसुबोधिनी।

(दशम-पूर्वार्ध-तामस-फल-प्रकरणम्।)

(अध्यायाः २६-३२.)

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीता।

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतलेखसमेता।

श्रीकङ्करपल्लीस्थतृतीयपीठाधीश्वरनित्यलीलास्थश्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तम-
चरणस्मरणार्थं 'तद्गृहसेवक सद्व्रत वैष्णव हरिजीवनदास पुरुषो-
त्तमदास' इत्यनेन सांप्रदायिकसाहित्यसमुद्धारार्थं निर्दिष्ट-
द्रव्यसंग्रहतो 'भृगुपुरस्थ मूलचन्द्र तुलसीदास
तेलीवाला, बी.ए., एलूएल्. बी., वकील
हाइ कोर्ट' 'सुरतिस्थ धैर्यलाल व्रजदास
सांकलीया, बी.ए., एलूएल्. बी.,
वकील हाइ कोर्ट' इत्येताभ्यां
संशोध्य 'निर्णयसागर'
मुद्रणालये मुद्रयित्वा
प्रकटीकृता।

श्रीवल्लभाब्दाः ४४५. संवत् १९८०.

मूल्यं रूप्यकत्रयम्।

EDITORS' NOTE

Śrimad Bhāgavata is the fruit of Veda Kalpavriksha, and Tāmasa Phala Prakaraṇa which is now published is the best portion of it. All Vaishnavas like it the most. The reason is plain. For removing the pain of separation, Para Brahman Himself comes down into the world, and being रसो वै सः, gives आनन्द to souls devoted to Him in various ways. The culminating point is reached in रासपञ्चाध्यायी in which His contact or Leela with His souls is described in five different ways आत्मा, मनस्, प्राण, इन्द्रिय and शरीर. In the last chapter of Geeta, it is stated that after one becomes ब्रह्मभूत, he gets the भक्ति of कृष्ण. This भक्ति or भजनानंद is therefore a stage reached after ब्रह्मभाव and is superior to it. To be continuously enjoying the bliss of रसो वै सः is the final goal of life, and in the last chapter of this Prakaraṇa, an idea is given as to how the souls of Gopikās were always engrossed in God. All this cannot be fully understood unless the reader has a clear grasp of the meaning of Śrimad Bhāgavata as explained by Śrimad Vallabhāchārya, who calls himself वाक्पति वैश्वानर, who came here to explain the meaning by the command of God. It was our desire to write a long introduction explaining how रसो वै सः manifests Himself to His souls, but we have been obliged for various reasons to leave it for some future occasion. We were able to collect six good manuscripts, the best of which we got from Mr. Mohanlal of Sankheda. It is a very well-preserved and extremely correct mss. written in Samvat 1703. It was originally written for Śri Vithalrāiji the grandson of Śri Giridharji, the first son of Śri Vitthalesha, the second son of Śri Vallabhāchārya himself. In this mss. the portions of Śri Vitthalesha incorporated into Subodhini have been bracketed. We have also bracketed these portions and drawn the attention of readers to them. The second mss. was one on which notes have been written by Tuljārām Bhatta, a pupil of Śri Purushottamaji. The mss. is a very correct one, and we got it from Śri Vrajaratnaji of Surat. The third mss. was obtained from the late Mr. Tansukhrām M. Tripāthi. One mss. of Kākā Śri Vallabhaji was received from Broach. We have tried to settle the text of the Ślokas of Śri Bhāgavata according to Śri Vallabhāchārya. A translation in Gujarāti of the Bhāgavata verses is given. Śri Vallabhaji's Lekh is also printed. We have added portions of Nibandha, and incorporated all available Svatantra Lekhas on various portions of Subodhini. Full details of all these are given in sanskrit preface. We have already published Śri Goswāmiji's Tippaṇi, and Śri Purushottamaji's Prakāśa on this portion. The reader has now before him all available literature on this most important portion except योजना, and we are very glad that we have been able to help him so far. Indexes of Ślokas and Kārikās have also been given and quotations traced to their sources as far as we could. The funds for this publication have been supplied by the Trustees of the late Harjivandās Purushottamdās– a very pious Vaishnava of Dhandhukā– in pursuance of the directions in his will, and we are glad to note that this most important work, carried thro' the press with great care and devotion, will be available to the Vaishnava public, at cost price or even less, and thereby they will get its full benefit, and thus this publication will be able to render help for the revival of learning in our Sampradāya.

This work is inscribed to the memory of the late Śri Purushottamaji Maharaja of Kānkroli, the guru of the testator. The first edition ot this work was also published with the help of the funds of Seth Harijivandās Trust in memory of Śri Bālakrishanalālji Mahārāja of Kānkroli.

With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Lord Śri Krishna.

श्रीकृष्णाय नमः ।

प्रस्तावना ।

श्रीमत्याः सुबोधिन्या दशम-उत्तरार्ध-राजस-साधन-प्रकरणस्य प्रकाशनं श्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीगोवर्धनलालचरणद्रव्यसाहाय्येन कृतम्. तत्र श्रीवल्लभकृतलेखो मुद्रितः. तामेव पद्धतिमनुसृत्य दशम-पूर्वार्ध-तामस-फल-प्रकरण-श्रीसुबोधिन्या मुद्रणं 'भगवद्धर्मपरायण सद्व्रत धन्धुकानिवासि हरिजीवनदास पुरुषोत्तमदास' इत्यस्य साम्प्रदायिकसाहित्यसमुद्धरणार्थं निर्दिष्टद्रव्यसङ्ग्रहतस्तद्गुरुचरणनित्यलीलास्थश्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तममहाराजचरणस्मरणार्थं तद्द्रव्यसङ्ग्रहव्यवस्थापकाभ्यां वितीर्णद्रव्यसाहाय्येनास्माभिः क्रियते. अत्रापि श्रीवल्लभकृतलेखो मुद्रितः.

एतत्प्रकरणमुद्रणे श्रीमदाचार्याणां श्रीमत्प्रभुचरणानां वा मूलपुस्तकं तु नैव दृष्टम्. तामससाधनश्रीसुबोधिनीपुस्तकं तादृशं प्राचीनं श्रीमद्गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाणां मन्दिरे सेवायां विराजते. एतत्प्रकरणस्य पाठादिनिर्णये श्रीमत्प्रभुचरणप्रपौत्राणां श्रीदामोदरात्मजश्रीविठ्ठलरायाणां पुस्तकं बहु साहाय्यमकरोत्. अत्यन्तं शुद्धमेतत्पुस्तकं प्राचीनं च. महानुभावैः श्रीविठ्ठलरायैरेतत्पुस्तकं बहुवारं वाचितमिति प्रतिभाति. विरामास्तैरेवास्मिन् पुस्तके निर्दिष्टाः. मूलश्लोकस्य विवरणं यत्र समाप्तं भवति, तदपि सूक्ष्मेक्षिकयात्र निर्दिष्टम्. अन्योपि विशेषोऽस्माभिरस्मिन् पुस्तके दृष्टः. श्रीमदाचार्यकृतश्रीसुबोधिन्या विचारणावसरे श्रीमत्प्रभुचरणैः क्वचित् स्वतन्त्रटिप्पणं व्याख्यानं वा निजपुस्तकोपरि लिखितम्. कालेन एतदेव टिप्पणं व्याख्यानं वा यद्यपि श्रीमत्प्रभुचरणैः स्वतन्त्रतया लिखितम्, तथापि लेखकदोषाद्वा श्रद्धाधिक्याद्वा आचार्यप्रभ्वोस्तारतम्यं नास्तीति माननाद्वा श्रीमदाचार्यलिखितमूलश्रीसुबोधिन्यामन्तर्गतमभूत्. एतत्स्वतन्त्रलिखनं व्याख्यानं वा टीकाकारैः श्रीसुबोधिनीत्वेन स्वीक्रियते. एतावत्पर्यन्तं तथैव प्रचलति. तथापि सूक्ष्मदृष्ट्या विचारकाणां तु श्रीमत्प्रभुचरणलेखनरीतिः श्रीमदाचार्यलेखनरीतितो विलक्षणा प्रतिभात्येव. एतादृशं वैलक्षण्यं श्रीमत्पुरुषोत्तमैर्दृष्टम्. तथैव ज्ञापितं च तैर्यथावसरं निजग्रन्थेषु. श्रीमत्पुरुषोत्तमानामयं निर्देशः काल्पनिको नैवासीत्. लेखनरीतिः श्रीमत्प्रभूणां भिन्ना वर्तत इति ज्ञात्वा श्रीपुरुषोत्तमैः श्रीमत्प्रभुभिर्निजहस्ताक्षरलिखितस्वतन्त्राणां सङ्ग्रहार्थं प्रयत्नः कृतो दृश्यते. श्रीमत्प्रभुचरणश्रीहस्ताक्षरलिखितानि स्वतन्त्रलिखनानि स्वयं सम्पादितानि निजमन्दिरे सेवायां तैः रक्षितानि. प्रयत्ने कृतेपि सर्वेपि स्वतन्त्राः

श्रीमत्प्रभुचरणानां निजश्रीहस्ताक्षरलिखिताः श्रीपुरुषोत्तमैर्लब्धा इति तु नैव प्रतिभाति. तस्माद्वा प्रसङ्गाभावाद्वा श्रीपुरुषोत्तमैः दशमश्रीसुबोधिनीप्रकाशे प्रभूणां सर्वेपि स्वतन्त्रा नैव निर्दिष्टाः. अतः प्रश्न उपस्थितः कथमेतत् सम्पादनीयमिति. अस्मत्कल्पनया कृतमेतत्नैव प्रामाणिकं भवेत्. तथापि प्रभुचरणकृपयैतदपि साङ्गोपाङ्गं सम्पन्नम्. यतः श्रीविठ्ठलरायाणां पुस्तके सर्वेपि प्रभूणां स्वतन्त्राः ( ) चिह्नान्तर्गतत्वेन निर्दिष्टाः. एतेन एवमपि भाति यदेतत्पुस्तकं मूलपुस्तकत एव लिपीकृतं स्यादिति. एतत्पुस्तकाधारेणैव श्रीमत्प्रभुचरणानां सुबोधिन्यामन्तर्गताः सर्वेपि स्वतन्त्रा अस्माभिः ( )चिह्नान्तर्गतत्वेन निर्दिष्टा इति. एतत्पुस्तकमस्माभिः संखेडास्थभगवद्धर्मपरायणमोहनलालसकाशादुपलब्धम्. एतत्पुस्तकं तेनापि श्रीगोकुले दर्भावतीस्थमोहनलालचुनीलालद्वारा विक्रयेण प्राप्तम्. सम्वत् १७०३ वर्षे पौषवदिप्रतिपदि रविवासरे लिखितमेतदिति.

द्वितीयं पुस्तकं श्रीविठ्ठलरायसूनुश्रीवल्लभानाम्. इदं सम्वत् १७१४ वर्षे लिखितम्. भृगुपुरस्थश्रीगोकुलनाथचरणसेवापरायणनवनीतलालसकाशादुपलब्धम्. इदमपि प्रायः शुद्धम्. तृतीयं सम्वत् १७०७ वर्षे लिखितम्. इदं सद्गततनसुखरामत्रिपाठीसकाशादुपलब्धम्. इदमपि प्राचीनम्. अस्मिन् मूलश्लोका वर्तन्ते. चतुर्थं श्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजरत्नानाम्. इदमपि प्राचीनम्. अस्मिन् पुस्तके क्वचित् स्वतन्त्रं टिप्पणमपि लिखितं दृश्यते. श्रीहस्ताक्षरसाम्येन श्रीपुरुषोत्तमानामन्तेवासितुलजारामभट्टेन लिखितमेतत्स्यादिति प्रतिभाति. एतट्टिप्पणमस्माभिः मुद्रणे संगृहीतम्. अस्मिन् मूलश्लोकाः सन्ति. पञ्चमं श्रीव्रजरत्नानाम्. पञ्चाध्यायीपरिमितम्. एतदपि प्राचीनं प्रायःशुद्धं च.

षष्ठं मोहमयीस्थश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोकुलनाथानाम्. प्रायः प्रभूणां सर्वेषां स्वतन्त्राणां सङ्ग्रहोऽत्र कृतो दृश्यते. इदमपि प्राचीनं प्रायः शुद्धं च.

सप्तमं नित्यस्वरूपब्रह्मचारिणा श्रीवृन्दावने मुद्रितम्. अष्टमं भगवदीयमनोमोहनदासशास्त्रिवसन्तरामाभ्यां राजनगरे मुद्रितम्. नवमं हस्तलिखितं शुद्धं प्राचीनं च 'भट्टछन्नुलालाजी' इत्येतेषाम्. मुद्रणे सम्पन्ने तत्प्राप्तम्.

एतदष्टपुस्तकाधारेण तामसफलश्रीसुबोधिनीस्थाः पाठा निर्णीता अस्माभिः. मूलश्लोकास्तु श्रीसुबोधिन्यनुसारेण योजिताः. गुर्जरभाषान्तरं मूलश्लोकानां श्रीसुबोधिन्यनुसारेण योजितम्. मूलश्लोकस्य टिप्पणरूपेण मुद्रितम्.

श्रीमद्वल्लभकृतलेखः पुस्तकचतुष्टयाधारेण शोधितः. पुस्तकद्वयं पं.गट्टूलालाजीसंङ्ग्रहस्थम्. उभयमपि प्राचीनं प्रायः शुद्धम्. तृतीयं श्रीरणछोडलालानाम्, शास्त्रिहरिकृष्णेन दत्तम्. एतदपि प्राचीनं शुद्धं च. चतुर्थं च नटपुरस्थवैष्णवत्रिभुवनदासस्य. एवं पुस्तकचतुष्टयाधारेण यथामति

संशोध्य मुद्रितोऽस्माभिः.

उत्तरार्ध-राजस-साधन-प्रकरणवदत्रापि श्रीमदाचार्यकृतैतत्प्रकरणस्य निबन्धो मुद्रितः. श्रीपुरुषोत्तमकृततद्योजनापि संगृहीता. श्रीघनश्यामभट्टकृतैतत्प्रकरणार्थः श्रीगोकुलरायकृतैतत्प्रकरणाध्यायार्थश्च मुद्रितौ. श्रीमदाचार्यकृतपुरुषोत्तमनामसहस्रात एतत्प्रकरणीयनामानि संगृहीतानि. त्रिविधनामावलीतोपि एतत्प्रकरणीयनामानि सङ्कलितानि. श्रीमदाचार्यकृतैतत्प्रकरणीयानुक्रमणिका च निवेशिता. अस्मिन् प्रकरणे बहूनि स्वतन्त्रानि टिप्पणानि व्याख्यानानि च. श्रीटिप्पणीमुद्रणावसरे मिलिताः प्रभूणां स्वतन्त्रलेखा अस्माभिस्तत्रैव संगृहीताः. अवशिष्टाश्च अद्ययावत् यावन्तोऽस्माभिरुपलब्धास्ते सर्वेपि संगृहीताः. अत्र प्रकीर्णव्याख्यानानि प्रायः श्रीहरिधनचरणकृतानि. तान्यपि संगृहीतानि. एतेषां व्याख्यानानां दर्शनेनास्माकमिदं स्फुरति. यद्यपि श्रीहरिरायैराद्यन्तं समग्रं व्याख्यानं श्रीसुबोधिन्या न कृतम्, तथापि तैस्तत्र तत्र विषमस्थलेषु स्वतन्त्रं व्याख्यानं लिखितम्. एतादृशानि बहूनि संगृहीतान्यस्माभिरत्र, तथापि नैवावशिष्टं किमपि व्याख्यानं श्रीहरिरायाणामिति तु वक्तुं नैव शक्यते. यदि सर्वेषां श्रीहरिरायाणां प्रकीर्णटिप्पणानां सङ्ग्रहः क्रियेत, तदा विजिज्ञासूनां यादृशं दर्शनं श्रीसुबोधिन्याः श्रीहरिरायाणामभूत्, तज्ज्ञातं भविष्यति. सम्प्रदायस्य भावनादृष्ट्या विचारकाणामेतत्कर्तव्यमावश्यकमेव. द्वितीयपीठाधीश्वरश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोपेश्वराणामिदमतीवावश्यकम्. श्रीरघुनाथात्मजश्रीदेवकीनन्दनानां "एतच्च भजनं न विषयवदि"त्यत्र स्वतन्त्रं टिप्पणमेकमेव प्राप्तम्. तदप्यत्र संगृहीतम्. एतेषां श्रीदेवकीनन्दनानामपि बहूनि एतादृशानि व्याख्यानानि स्युरिति मन्यामहे. तत्पीठाधिष्ठितश्रीमद्गोस्वामिश्रीवल्लभैरेतानि संगृह्य रक्षणीयानि. श्रीगोकुलनाथानामपि स्वतन्त्रटिप्पणानि सङ्ग्राह्याणि. श्रीमत्प्रभूणां स्वतन्त्रलेखा अस्माभिरत्र संगृहीताः, तथाप्यधुना नावशिष्यते कोपीति तु नैव वक्तुं शक्यम्. कस्यचिद्भगवदीयस्य हरिकृष्णपाहाडस्य 'भजत' इत्यत्रोपलब्धा प्रकीर्णदीपिकापि मुद्रिता. श्रीपुरुषोत्तमानामन्तेवासितुलजारामकृतं रासस्थषोडशगोपिकासङ्ख्यातात्पर्यवर्णनमपि मुद्रितम्. अत्राद्यं पत्रद्वयं तु लुप्तम्. एतेषां स्वतन्त्राणां मुद्रणं नैवास्मत्सन्तोषप्रदम्. क्वचिदेकमेव पुस्तकं मिलितम्, तदपि नैव शुद्धम्. एतच्छोधनार्थं साम्प्रदायिकाः प्रयत्नं कुर्वन्त्विति प्रार्थयामहे.. अस्मिन् सङ्ग्रहे पं.गट्टूलालाजीसंस्थाया उपकारस्त्वविस्मरणीयः. श्रीरणछोडलालानां तदाश्रितशास्त्रिहरिकृष्णस्यापि तथैवोपकृतिः. मग्नलालशास्त्रिभिः भट्टबलभद्रशर्मभिरपि बहूपकृतम्.

ग्रन्थान्ते श्रीसुबोधिनीस्थकारिकाणां मूलश्लोकानां चानुक्रमौ निवेशितौ.

तौ चास्मदीयेन 'नटवरलाल धीरजलाल साङ्कलीया' इत्यनेन सम्पादितौ. एतत्प्रकरणे श्रीमदाचार्यैरुपन्यस्तानां वाक्यानां सूचिपत्रमपि यावच्छक्यं सम्पाद्य निवेशितमस्माभिः.

एतद्ग्रन्थस्य साहित्यदानेन पूर्णत्वसम्पादकानामुपरिनिर्दिष्टानामाचार्यवंश्य-गोस्वामिबालकानां साम्प्रदायिकविदुषां द्रव्यसाहाय्यसम्पादकानां भगवदीयानां चोपकारं मुक्तकण्ठेन उद्घोषयामः. तेषां कृपयैवैतत्प्रकरणं सर्वाङ्गसम्पन्नमभूदिति. विस्तरस्तु वेणुनादे द्रष्टव्यः.

श्रीसुबोधिनीप्रणेतृणां श्रीमदाचार्यश्रीमद्वल्लभाधीशचरणानामैतिह्यं तु साम्प्रदायिकानां सुविदितमेवेति नेह विस्तरः. श्रीसुबोधिनीलेखकाराणां विषये किमप्यस्माभिः राजस-साधन-प्रकरणे लिखितम्. तदनन्तरं शास्त्रिनन्दकिशोरैः श्रीपुरुषोत्तमकृतश्रीवल्लभानां मतस्योपन्यासो जन्मप्रकरणप्रकाशे दर्शितः. स उपन्यासस्त्वेवम्. 'यथानेवंविद'इत्यत्र एकपदमिति. वेदनं वित्. भावे क्विप् . . . इत्यर्थ इति श्रीवल्लभः. तन्ममापि सम्मतमिति' १०-४-२०.. प्राचीनतमप्रकाशपुस्तकेषु 'श्रीवल्लभ' इति दृश्यते. प्रसिद्धश्रीवल्लभकृतलेखेऽयं भागोऽक्षरश उपलभ्यते. एतेन श्रीवल्लभानां श्रीसुबोधिनीलेखप्रणेतृत्वं सुष्ठु निश्चीयते. श्रीपुरुषोत्तमैः प्रायः सर्वेषामेव निजपूर्वजानामुपन्यासो निजग्रन्थेषु कृतो दृश्यते. 'इति श्रीद्वारकेश्वराः' 'इति श्रीदेवकीनन्दनाः' 'इति श्रीकल्याणरायाः' 'चचा श्रीगोपेशाः' 'श्रीगोकुलनाथाः' 'श्रीहरिरायाः' 'श्रीव्रजराजाः' इत्येवं सर्वत्रोपन्यस्तपूर्वजस्य बहुवचनेनोपन्यासः कृतः. अत्र तु श्रीसुबोधिनीलेखकाराणां 'श्रीवल्लभ' इत्येकवचनेनोपन्यासः कृतः. एतेन श्रीवल्लभानां श्रीपुरुषोत्तमेभ्योऽर्वाचीनत्वं सूच्यते. श्रीवल्लभाः श्रीपुरुषोत्तमानां प्रीतिपात्रमासन्निति तदन्तिमदानपत्रे तत्कृतसम्मत्यानुमीयते. इदं दानपत्रं वेणुनादे मुद्रितमेव. एतादृशानां महानुभावानां श्रीवल्लभानामुपन्यासः श्रीपुरुषोत्तमैरेकवचनेन क्रियते, तेन तेषां श्रीपुरुषोत्तमेभ्यः कनीयस्त्वं तत्प्रीतिपात्रत्वं च सूच्यते. अन्यथा सर्वत्र बहुवचनेन पूर्वजानामुपन्यासकर्तृभिः श्रीपुरुषोत्तमैः कथमत्रैवैकवचनेन श्रीवल्लभानामेवैवमुपन्यासः कृत इति सम्यङ्मनसि नायाति. निजपूर्वजानां श्रीवल्लभानां श्रीपुरुषोत्तमैरेव एकवचनेनोपन्यासः कृत इत्यपि नैव सुवचम्. यतो दृष्टेषु पूर्वजमतोपन्यासेषु सर्वत्र तैर्बहुवचनमेव प्रयुक्तम्. अतः यः कोपि श्रीवल्लभः श्रीपुरुषोत्तमात्कनीयान् तन्मित्रं चासीत्, स एव श्रीसुबोधिनीलेखस्य प्रणेतेति सम्भवति. तादृशश्च सम्प्रदाये एक एव श्रीरघुनाथवंश्यः श्रीविट्ठलेशात्मजः श्रीवल्लभ आसीत्. अतोऽयमेव श्रीवल्लभः श्रीसुबोधिनीलेखप्रणेतेति सुष्ठु निश्चीयते. एतेन कल्पपादपे निर्भयरामोक्तं समर्थितं भवति. निर्भयरामोपि 'अयमेव श्रीवल्लभः श्रीसुबोधिन्या

व्याख्याते'ति तत्र प्रतिपादयति. प्राप्येषु बहुषु लेखपुस्तकेषु दृश्यमाना 'श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृत'इतीतिश्रीरप्येवं समर्थिता भवति. मन्यामहे च श्रीपुरुषोत्तमैः प्रथमसुबोधिनीतः प्रकाश आरब्धः, श्रीवल्लभैश्च दशमसुबोधिनीत इति. एतेन दशमप्रकाशे श्रीपुरुषोत्तमकृतः श्रीवल्लभमतोपन्यासः सुष्ठु सङ्गच्छते. इमे श्रीवल्लभाः श्रीमत्प्रभुचरणपञ्चमपुत्रश्रीरघुनाथतश्चतुर्थीं सङ्ख्यां विभूषयन्तः सम्वत् १७२९ वर्षे कार्तिककृष्णद्वादश्यां प्रादुर्भूताः. श्रीविठ्ठलरायाणां कनीयांसः सूनवः. षोडशग्रन्थोपरि तेषां विवरणानि सुबोधिन्यनुसारीणि दृश्यन्ते. एतैर्वर्षस्य विभागत्रयं कृतम्. प्रथमे विभागे श्रीगोकुलेन्दुं सेवमानाः श्रीगोकुले श्रीकाम्यवने वा व्यरीरजन्. द्वितीये कदम्बखण्डचां निवसन्तो ग्रन्थान् विवरणानि चायुयुजन्. तृतीये च सदुपदेशैर्जीवानुद्धर्तुं भारतवर्षं पर्यटन्तः तत्सेवां स्वीकृतवन्तः. श्रीगोपीनाथदीक्षितवंश्यश्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथानामेते गुरव आसन्निति तत्कृताणुभाष्यप्रभामङ्गलश्लोकतोऽवगम्यते. एतेषां प्राचीनं चित्रं चतुर्थपञ्चमपीठाधीश्वरश्रीवल्लभानां सङ्ग्रहे वर्तत इति तच्छिव्यकार्यवाहकसद्व्रतवैष्णवगिरिधरदासतो ज्ञातम्. तत्प्राप्त्यर्थं महाराजान् वयं विज्ञापितवन्तः. तथाप्युत्तरं नोपलब्धम्. अतस्तच्चित्रनिवेशनार्थमस्मदीयो मनोरथोऽधुना नैव सफलः. श्रीमन्महाराजानां कृपायां सत्यां सोपि प्रभुकृपया कदाचित् सफलो भविष्यतीति मन्यामहे इति.

तामस-फल-श्रीसुबोधिनी-साधनेषु श्रीमत्प्रभुचरणकृतटिप्पणी तु मुद्रितैवास्माभिः. श्रीपुरुषोत्तमकृततत्प्रकाशोऽपि प्रकाशितः. उभयमपि श्रीहस्ताक्षरपुस्तकतः संशोध्य मुद्रितमस्माभिः. अधुनावशिष्यते लालूभट्टकृतैतत्प्रकरणयोजना, निर्भयरामभट्टकृतकारिकार्थश्च. तत्र योजनायाः भट्टबलभद्रशर्मदत्ततन्मूलपुस्तकतः संशोधनं कृतम्. यथावकाशं तामपि प्रकाशयिष्यामः. निर्भयरामकृतकारिकार्थश्च श्रीटिप्पणीप्रकाशलेखानां कारिकाव्याख्यानसङ्ग्रहरूपो वर्तते. सोऽपि श्रीसुबोधिनीकारिकापाठकर्तॄणामत्यन्तमुपकरोति. ततश्च तन्मुद्रणमपि साम्प्रदायिकानां हितावहमिति. प्रथमद्वितीयमूलसुबोधिन्या मुद्रणं तु यथातथा बलभद्रशर्मभिः कृतमेव. तृतीयसुबोधिनीमुद्रणं श्रीनाथद्वारे सुदर्शनयन्त्रालये आरब्धम्. श्रीरणछोडलालैः दशमपूर्वार्धसुबोधिनीमुद्रणं सर्वाङ्गसमेतं प्रतिज्ञातम्. तस्यारम्भोत्सवोऽपि जातः, मुद्रणं तु सम्पन्नं कदा भविष्यतीति भगवानेव जानाति.

भगवतो रसात्मकत्वम्, रसनिष्पत्तिप्रकारः, तत्प्रणाडी, तन्निर्दोषत्वं, परमफलत्वं, इत्येतत्सर्वप्रतिपादकोपोद्घातस्यात्रैव निवेशनार्थमस्मन्मनोरथ आसीत्. तथापि प्रतिबन्धानां बाहुल्यात् भगवदावेशस्य तिरोधानात्स्वल्पत्वाद्वाधुना तदाग्रहोऽस्माभिस्त्यक्तः. श्रीमत्प्रभुचरणकृपया सोपि कदाचित् फलिष्यतीति.

एवं यथाशक्तिः सर्वाङ्गसम्पन्नत्वमस्य प्रकरणस्य सम्पादयितुं प्रयासः कृतः. एतेन कस्यचिदपि भगवदीयस्य तामसफलप्रकरणावगाहने किमपि सौकर्यं भविष्यतीति विचारेण परमप्रेम्णा परिश्रमेण च सिद्धमेतत्प्रकरणं श्रीसुबोधिन्याः श्रीमत्प्रभुचरणकमलेषु समर्पयाम इति. श्रीकृष्णार्पणमस्तु.

मुम्बई सम्वत् १९८० दोलोत्सवः।

मूलचन्द्र तेलीवाला.
धीरजलाल साङ्कलिया.

श्रीकृष्णाय नमः ।

दशम-तामस-फल-प्रकरणश्रीसुबोधिनीयोजना।

बागरोदीश्रीभाणेजभट्टसुतदीक्षितश्रीलालूभट्टकृता।

'भृगुपुरस्थ मूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला, बी.ए., एल्.एल्. बी.,
वकील हाइ कोर्ट' 'पाटणस्थ वाडीलाल नगीनदास शाह,
बी.ए., एल्.एल्. बी., वकील हाइ कोर्ट' इत्येताभ्यां
संशोध्य 'गुजराती न्यूस' मुद्रणालये
मुद्रयित्वा प्रकटीकृता।

श्रीवल्लभाब्दाः ४४७. संवत् १९८१.

मूल्यमर्धमुद्रिका।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

निवेदनम्

श्रीमद्भागवत-दशम-पूर्वार्ध-तामस-फल-प्रकरण-श्रीसुबोधिनी-मुद्रणं त्वितः पूर्वमस्माभिः कृतमेव. तत्साधनेषु टिप्पणीप्रकाशलेखाश्चापि प्रकटिताः. तत्रावशिष्टा बागरोदीदीक्षितश्रीलालूभट्टकृता योजनाधुना प्रकाश्यते. श्रीभाणेजभट्ट-सुतेत्यनेन लालूभट्टा न गोस्वामिजामातरः, अपि तु तत्पुत्रा इति कल्याणशास्त्रिणः. दशमतामसफलश्रीसुबोधिनीयोजनापुस्तकं निजवाचनार्थं संपादितमतीवस्वच्छाक्ष-रैर्लिखितं मोहमयीस्थश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोकुलनाथमहाराजचरणैर्दत्तम्. एतत्पुस्तकं ग्रन्थप्रणेतुर्मूलग्रन्थतो लिपीकृतम्. अस्माभिरपि 'प्रेसकॉपि'पुस्तकमेतत्पुस्तकत एव लिपीकृतम्. पण्डितवर्यबलभद्रशर्मकृपया च तदीयमूलपुस्तकेन पूर्वं मुद्रणावसरे च संवादितम्. एतन्मुद्रणव्ययोऽस्मत्सुहृद्वरेण 'वाडीलाल नगीनदास शाह बी. ए. एल् एल्. बी. वकील हाइकोर्ट' इत्यनेन दत्तः. इदं मूलपुस्तकं संवत् १८०३ श्रावणवदी नवम्यां लिखितम्. अस्यां योजनायां बहुषु स्थलेषु 'इति टिप्पण्यां स्पष्ट'मिति लिखितमिति. तत्रास्मन्मुद्रिता श्रीमती टिप्पणी द्रष्टव्या विशेषजिज्ञासुभिरिति. द्वात्रिंशाध्याययोजना तु नोपलब्धास्माभि-रिति. 'प्रेसकॉपि'पुस्तकं 'द्वारकादास वल्लभदास' इत्यनेन लिखितम्. योजनापि तामसफलसुबोधिन्या अवगाहने किमपि सौकर्यं कस्यचिदपि भगवदीयस्य संपादयिष्यतीति विचारेण परमप्रेम्णा शोधितमेतत्पुस्तकं श्रीमत्प्रभुचरणकमलेषु समर्पयाम इति.

श्रीरामजयन्ती १९८१.
मुम्बई. मूलचन्द्र तेलीवाला।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

रासपञ्चाध्यायीप्रकाशः ।

दशमतामसफलप्रकरणश्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः ।

श्रीमत्पीताम्बरप्रणीतः ।

स च
धैर्यलाल व्रजदास सांकळीआ, बी. ए., एलूएलू. बी.,
एडवोकेट, इत्यनेन
मुम्बापुर्यां 'निर्णयसागर' मुद्रणालये
मुद्रयित्वा प्रकटीकृतः ।

श्रीवल्लभाब्दाः ४७४. संवत् २००८.

मूल्यमेकामुद्रिका ।

શ્રીકૃષ્ણાય નમઃ ।

પ્રસ્તાવના

શ્રીમદ્‌ભાગવતના દશમસ્કંધના તામસ ફલપ્રકરણના શ્રીસુબોધિનીજી તથા શ્રીટિપ્પણીજીનો પ્રકાશ મુદ્રિત કરી, પ્રસિદ્ધ કરી, ભગવદીયોની સેવામાં નિવેદન કરતાં અમને બહુજ આનન્દ થાય છે. આ ગ્રન્થના પ્રયોજક દશદિગન્તવિજયી શ્રીમત્પુરુષોત્તમજી જ છે અને આપશ્રીએ આ ગ્રન્થના કર્તા તરીકે પ્રસિદ્ધિ નિજ પિતૃચરણ શ્રીપીતાંબરજીની ઇચ્છી છે એમ મંગલાચરણના શ્લોકથી સુસ્પષ્ટ છે. તદનુસાર આ ગ્રન્થ અમે પણ શ્રીપીતાંબરજીના નામથી જ પ્રસિદ્ધ કરવાનું ઉચિત ધાર્યું છે. હાલના સમયમાં જેમ અર્પણપત્રિકાઓથી માન્યોને ગ્રન્થો નિવેદન થાય છે, તેમ શ્રીપુરુષોત્તમજીએ સ્વપિતૃચરણનું કર્તા તરીકે નામ યોજીને જ આ ગ્રન્થ નિજ પિતૃચરણ શ્રીપીતાંબરજીને નિવેદન કર્યો છે. શ્રીપુરુષોત્તમજીએ આ પ્રકારે માત્ર નિજ પિતૃચરણના નામથી ગ્રન્થ યોજ્યા છે, એટલું જ નહિ, પરન્તુ નિજ સર્વ માન્યોના નામથી ગ્રન્થો યોજીને તે તે ગ્રન્થો તેઓને નિવેદન કર્યા છે. નિજ ગુરુચરણ શ્રીમદ્‌ગોસ્વામિશ્રીકૃષ્ણચન્દ્રજીને ભાવપ્રકાશિકા બ્રહ્મસૂત્રવૃત્તિ તન્નામથી યોજીને નિવેદન કરી છે. પૂર્વમીમાંસાભાવાર્થપાદભાષ્યટીકા નિજ પિતામહ શ્રીયદુપતિજીના નામથી યોજીને તેઓશ્રીને નિવેદન કરી છે. નિજ પિતૃવ્યચરણ શ્રીવ્રજરાજજીકૃત ગીતામૃતતરંગિણીટીકાનો આરંભક ઉપોદ્ઘાત તે જ પ્રકારે યોજ્યો છે, અને શાસ્ત્રાર્થ નિબન્ધનો આવરણભંગ, પુષ્ટિપ્રવાહમર્યાદાટીકા, તથા દશમશ્રીસુબોધિનીજીનો પ્રકાશ નિજ પિતૃચરણ શ્રીપીતાંબરજીના નામથી યોજ્યા છે. શ્રીપુરુષોત્તમજીએ આ ગ્રન્થો પોતાનાં માન્યોનાં નામથી યોજ્યા છે છતાં તે તે કૃતિ પોતાની જ છે તે ગુપ્ત રાખ્યું નથી. તેથી એઓશ્રીનો પણ આશય માત્ર નિવેદન પૂરતો જ છે એમ લાગે છે. વસ્તુતઃ આ ગ્રન્થોના કર્તા તો શ્રીપુરુષોત્તમજી પોતે જ છે એમાં તો સ્વલ્પ પણ સંદેહ નથી. અત્ર મુદ્રિત થતો રાસપંચાધ્યાયી પ્રકાશ શ્રીપુરુષોત્તમજીના નિજ શ્રીહસ્તાક્ષરનો લખેલો પ્રભુકૃપાથી અમને બે,એક વર્ષ ઉપર પ્રાપ્ત થયો, તે ઉપરથી સહજ જણાઈ આવે છે કે આપશ્રી જ એના મૂલ લેખક છે. શ્રીપીતાંબરજીકૃત એમ પ્રસિદ્ધિ આપને ઇષ્ટ છે. આ મૂલ ગ્રન્થ ઉપરથી મુદ્રણ કરતાં અમને ઘણો જ આનન્દ થયો. અમારૂં સૌભાગ્ય અમને સ્ફુરે છે કે પ્રાચીન ગ્રન્થોના મુદ્રણમાં અમને ઘણી વાર મૂલ ગ્રન્થો ગ્રન્થકારના શ્રીહસ્તાક્ષરમાં જ લખેલા મળે છે. શ્રીટિપ્પણીજી, તથા ષોડશ ગ્રન્થોની ટીકાઓમાં આમ ઘણીવાર થયું હતું. આમાં જેટલો પરિશ્રમ માનુષ સ્વભાવને સુલભ હતો તેટલો અમે કર્યો છે, છતાં આમાં દોષ નહિ જ હોય એમ અમારાથી કહી શકાય નહિ, કારણ કે તેમ કહેવામાં અમારૂં જીવત્વ જ દૂર થઈ જાય છે, અને ભક્તિમાર્ગમાં તો તે મહા અનર્થરૂપ થઈ પડે, પરન્તુ એટલું કથન આવશ્યક છે કે આ ગ્રન્થના મુદ્રણમાં પ્રમાદ ન થાય એમ ખાસ પ્રયત્ન કર્યો છે. બીજી ખેદની

વાત એ કે આ મૂલ પ્રતિ પણ રાસપંચાધ્યાયીપર્યન્તની છે. શંખચૂડવધ અને યુગલગીત એ બે અધ્યાયનો પ્રકાશ અમને દૃષ્ટિગોચર ક્યાંહિ પણ થયો નથી. એટલે ફલ પ્રકરણના પ્રકાશમાં આ બે અધ્યાય ન્યૂન છે. શ્રીહસ્તાક્ષરની પ્રતિનું અન્તિમ પત્ર અર્ધ લખેલું છે, અને તેમાં ઇતિશ્રી પણ નથી, એટલે કદાચિત્ શ્રીપુરુષોત્તમજીને તેટલો ભાગ પૂર્ણ કરવાનું અવશિષ્ટ પણ રહ્યું હોય એમ સંભવિત છે. ગુજરાતી પત્રના ભૂતપૂર્વ અધિપતિ ઇચ્છારામના પુત્ર રા. નટવરલાલ દેસાઇએ અમને તે પ્રેસના સંગ્રહમાંથી આ ગ્રન્થની એક પ્રતિ આપી છે. આ પ્રતિના મૂલ માલિક કાશીસ્થ શ્રીગિરિધરજી મહારાજના આશ્રિત શાસ્ત્રી રામકૃષ્ણભટ્ટજી છે. તે પ્રતિમાં પણ મૂલ પ્રતિમાં વિદ્યમાન જ ભાગ છે. છેલ્લા બે અધ્યાયનો પ્રકાશ નથી. ફલ પ્રકરણના અર્થગાંભીર્ય અવગાહન કરવાને શ્રીટિપ્પણીજી અને શ્રીસુબોધિની તથા શ્રીટિપ્પણીજીના સમગ્ર અર્થની ભાવના કરવાને પ્રકાશ અત્યન્ત ઉપયોગી છે એમાં અમને લેશ પણ સંશય નથી.

આ ગ્રન્થમાં ક્વચિત્ મુદ્રિત કરેલાં ટિપ્પણ રામકૃષ્ણભટ્ટજીની પ્રતિમાંથી ઉદ્ધૃત કરેલાં છે, પરન્તુ તે પ્રતિના પાઠો ઘણે સ્થલે મૂલ પ્રતિની સાથે સરખાવતાં અશુદ્ધ માલૂમ પડ્યા હતા. અર્થાત્ એ ટિપ્પણ ક્વચિત્ અશુદ્ધ પાઠના આધારે યોજાયેલા હોવાથી સર્વથા વિશ્વસનીય ગણી નજ શકાય. માટે વાચકોએ ઉક્ત ટિપ્પણના આધારે મૂલપ્રકાશ યોજવામાં વિવેક વાપરવો. ખાસ કરીને ૨૯ અધ્યાયના ભજનવિષયક પ્રશ્નોત્તર શ્લોકોના પ્રકાશમાં રામકૃષ્ણભટ્ટજીની પ્રતિમાં ઘણી ત્રુટિ તથા અશુદ્ધિઓ હતી અને તેથી ટિપ્પણ પણ અવિશ્વસનીય થયું.

આ ગ્રન્થનો મુદ્રણ-ખર્ચ અમને ભગવદ્ધર્મપરાયણ રા. રા. હરખલાલ હરિદાસ ભગત તરફથી મળ્યો છે. તેઓની ઇચ્છાથી પંચમ પીઠાધીશ્વર નિત્યલીલાસ્થ શ્રીમદ્ગોસ્વામિશ્રીદેવકીનન્દનજીના સ્મરણાર્થ આ ગ્રન્થનું પ્રાકટ્ય છે. આ ગ્રન્થના વેચાણમાંથી જે દ્રવ્ય પ્રાપ્ત થશે તેનો અન્ય આવા ગ્રન્થોના મુદ્રણમાં અને શ્રીમદ્દેવકીનન્દનસ્મારક માલામાં વિનિયોગ થશે.

શ્રીસુબોધિનીજી અને શ્રીટિપ્પણીજીના વરેણ્ય આશયો સ્ફુરાવવામાં આ ગ્રન્થ કોઈ પણ આચાર્યચરણૈકનિષ્ઠ મહાનુભાવી ભગવદીયને સહાયક થશે એ વિચારથી જ અમારા પરિશ્રમની કૃતકૃત્યતા માનીએ છીએ, અને તે આશયો અમને પણ સ્ફુરો એમ દીન પ્રાર્થના સાથે આ ગ્રન્થ શ્રીમત્પ્રભુચરણકમલમાં સમર્પીએ છીએ.

આશ્વિન શુક્લ, રાસોત્સવ
સંવત્ ૧૯૭૭, મુંબઈ.

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા.
ધીરજલાલ સાંકળીયા.

દ્વિતીય આવૃત્તિની પ્રસ્તાવના

વૃદ્ધાવસ્થાની નબળાઈમાં, ચક્ષુ અને કર્ણની શક્તિ અત્યંત ક્ષીણ થયા છતાં, આ પ્રાકટ્યકાર્ય પ્રભુ ઈચ્છાથીજ થઈ શક્યું છે. શ્રીટિપ્પણીજી થોડા માસપર પ્રકટ થયા પછી તેને માટે વૈષ્ણવોએ આપેલા દ્રવ્યમાંથી જ આ કાર્ય ઘણે અંશે થઈ શક્યું છે. પ્રુફ શોધવાનું કામ પરમ ભગવદીય ભાઈ વાડીલાલ નગીનદાસ શાહ, મંગળદાસ મોહનલાલ, ગં. સ્વ. અમૃત બેન, રમણભાઈ મણિલાલ વગેરે વૈષ્ણવોએ કર્યું છે, તે સર્વનો હું ઉપકાર માનું છું. શ્રી ગટ્ટૂલાલજીની સંસ્થા તરફથી શ્રી પુરુષોત્તમજીના હસ્તાક્ષરનો ગ્રંથ આ આવૃત્તિ સમયે સરખાવવા તથા પ્રુફ શોધવા આપવા માટે સંસ્થાના કાર્યવાહકોનો પણ ઉપકાર સ્વીકારું છું. ઘણા વિઘ્નો આવ્યા છતાં આ કાર્ય પૂર્ણ થવાથી અત્યાનંદથી શ્રીકૃષ્ણચન્દ્રના ચરણકમલમાં સમર્પણ કરું છું.

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

રાસપૂર્ણિમા
સં. ૨૦૦૮

ધીરજલાલ વ્રજદાસ સાંકળીયા
ના સર્વ વૈષ્ણવોને પ્રણામ

॥ तृतीयं परिशिष्टम् ॥

। एतत्प्रकरणस्थ-कारिकाणाम् अकारादिवर्णानुक्रमः।

। एतत्प्रकरणस्थ-मूलश्लोकानाम् अकारादिवर्णानुक्रमः ।

॥ उपन्यस्तवाक्यानां सूचिपत्रम् ॥

१. मयेमा रंस्यथ क्षपाः – भा. १९।२२।२७.
२. सा दिग् देवानाम्.
३. तस्माद् गायन्तं स्त्रियः कामयन्ते.
४. व्यत्यासो मार्गगतौ.
५. रक्षेत् कन्यां पिता – याज्ञ.स्मृ. १।८५.
६. प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य – न्यायः म.भा. ३।२।४९, पं.त. २।१५७.
७. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति – श्वे.उ. ६।१५.
८. भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति.
९. ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठः – भा. ३।३२।३२.
१०. भक्त्या मामभिजानाति – भ.गी. १८।५५.
११. एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् – पू.मी.न्यायः ४।३।५.
१२. अन्ते या मतिः सा गतिः – न्यायः.
१३. स्वमूर्त्या- – भा. ११।१।६-७.
१४. सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम् – भ.गी. १४।१७.
१५. ये यथा मां प्रपद्यन्ते – भ.गी. ४।११.
१६. गोप्यः कामात् – भा. ७।१।३०.
१७. सर्वरसः – छा.उ. ३।१४।२.
१८. नाहमात्मानमाशासे – भा. ९।४।६४.
१९. कृषिर्भूवाचकः – गो.ता.उ.
२०. अहन्यापृतं निशि शयानम् – भा. २।७।३१.
२१. ता मन्मनस्काः – भा. १०।४३।४.
२२. एताः परं तनुभृतः – भा. १०।४४।५८.
२३. नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः – भा.३।४।३१.
२४. इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः – भा. १०।६।३०.
२५. सात्त्विकं सुखमात्मोत्थम् – भा. ११।२५।२९.
२६. भजेदपतितं पतिम् – भा. ७।११।२८.
२७. काममयश्चायं पुरुषः – बृ.उ. ४।४।५.
२८. ये यथा मां प्रपद्यन्ते – भ.गी. ४।११.
२९. एष ह्येवानन्दयाति – तै.उ. २।७.
३०. स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि – ब्र.सू. ४।४।१६.
३१. द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीयः – पू.मी.न्याय – ६।३।३८.

३२. भवाय नाशाय – भा. ५।१।१३.
३३. तच्चात्मने प्रतिमुखस्य – भा. ७।९।११.
३४. यतो यतो निवर्तेत – भा. ११।२१।१८.
३५. आशाबन्धो हृदयं रुणद्धि – पूर्वमेघ १०.
३६. तवांघ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः – भा. १०।१३।३६.
३७. संवत्सरस्य परस्तादग्नये – आपस्तम्बश्रौतसूत्रम् ९।३।१५.
३८. रतिं गजएव जानाति – वात्स्यायनः.
३९. रत्यां विमर्दे गजः – वात्स्यायनः.
४०. रसाधिक्ये स्त्रियः पुरुषत्वमापद्यन्ते – वात्स्यायनः.
४१. अश्वो रूपं कृत्वा यदश्वत्थेऽतिष्ठः – तै.ब्रा. १।२।१।५.
४२. पशुना वै देवाः स प्लक्षोऽभवत् – तै.सं. ६।३।१०.
४३. प्रलम्बो निहतोऽनेन – भा. १०।४०।३०.
४४. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः – तै.सं. १।३।६.
४५. कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाः – पूर्वमेघ ७.
४६. सालावृकाणां हृदयान्येता – ऋग्वेदः १०।९५।१५.
४७. न दुःखं पञ्चभिः सह – न्यायः.
४८. सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः – तर्कभाषा ३७.
४९. आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत् – भा. १।१५।१५.
५०. हासो जनोन्मादकरी च माया – भा. २।१।३१.
५१. भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् – भा. १०।४४।२१.
५२. स नैव व्यरमत्, तस्मादेकाकी न रमते – बृ.उ. १।४।१.
५३. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह – तै.उ. २।९.
५४. तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि – बृ.उ. ३।९।२६.
५५. अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः – भ.गी. १५।१८.
५६. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति – कठ.उ. २।१५.
५७. सर्ववेदान्तप्रत्ययम् – ब्र.सू. ३।३।१.
५८. सम्भोजनी नाम पिशाचभिक्षा – आपस्तम्बधर्मसूत्रम्.
५९. तदा मे विचिकीर्षितो भवति – भा. ११।२९।३४.
६०. सर्वधर्मान् परित्यज्य – भ.गी. १८।६६.
६१. अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवः – कृष्णकर्णामृतम् २।३७.
६२. परमा वा एषा वाग् या दुन्दुभौ – तै.ब्रा. १।३।६।२.
६३. अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो बलीयान् – पूर्वमीमांसान्यायः ६।३।३९.
६४. शक्तिभिः सहितोऽधिकां शोभां प्राप्नोति.
६५. यत्रोपविशते रागः – सङ्गीतरत्नाकरः ३।१८८.

६६. सम्मुष्णन् नवनीतम् — कृष्णकर्णामृतम्.
६७. रसो वै सः — तै.उ. २।७.
६८. सोमः प्रथमः.
६९. नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु — भा. १०।१९।४.
७०. अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिः — न्यायः.
७१. शास्त्राणां विषयस्तावद् यावन्मन्दरसाः — कामसूत्रम् २।२।३२.
७२. धर्मसंस्थापनाय च.
७३. न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम — न्यायः.
७४. तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यम् — भा. ३।१२।३१.
७५. यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय — भा. ३।१२।३१.
७६. परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत् — तै.सं. १।६।९.
७७. ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् — बृ.उ. १।४।१९.
७८. स आत्मानमेवावैत् — बृ.उ. १।४।१०.
७९. अयं हि परमो धर्मः — याज्ञ.स्मृ. १।८.
८०. यद्यदाचरति श्रेष्ठः — भ.गी. ३।२१.
८१. न स्त्री न षण्ढो न पुमान् — भा. ८।३।२४.
८२. न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः — भ.गी.९।२९.
८३. अस्थानान्मणिरुत्तमः.
८४. तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम् — भा. २।१।३०.
८५. यथा वृक्षस्य दूराद् गन्धो वाति — तै.आ. १०।९.
८६. दशहूतो ह वै नामैषः — तै.ब्रा. २।३।११।१.
८७. परोक्षप्रिया इव हि देवाः — तै.ब्रा. ३।२।८.
८८. परोक्षं च मम प्रियम् — भा. ११।२१।३५.
८९. आशंसायां भूतवच्च — पाणिनिसूत्रम् ३।३।१३२.
९०. भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति पुनरस्तमेति — तै.आ. ३।१४।१.
९१. पशवो वा एकशफाः.
९२. अदितिर्देवकी — ऋग्वेद १।८९।१०.
९३. गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः — भा. १०।१२।४२.
९४. कर्तुरीप्सिततमं कर्म — पाणिनिसूत्रम् १।४।४९.
९५. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् — तै.आ. १।१३।६.
९६. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य — विष्णुपुराण ६।५।७४.



॥ चतुर्थं परिशिष्टम् ॥

दशमस्कन्ध–तामसप्रमाणप्रकरण–शोधपत्रम् (अवशिष्ट)

(श्रीप्रमाणप्रकरणसुबोधिनीके प्रकाशनके पश्चात् हमें प्रमाणप्रकरणसुबोधिनीका एक शोधपत्र सामयिक 'अनुग्रह'के सं. १९९७के ११वे (भाद्रपदमासके) अंकमें प्राप्त हुआ था, जिसे हमने प्रमेय-साधनप्रकरणसुबोधिनीके परिशिष्टमें दिया था. यह शोधपत्र अपूर्ण है और इसके बादके आश्विन एवं कार्तिक मासके अंकोंमें इसका शेष भाग छपा था. गो.श्रीदेवकीनन्दनजी (गोकुल)ने अपने संग्रहमेंसे यह अवशिष्ट शोधपत्र हमें उपलब्ध करानेका सहयोग दिया है एतदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं. पाठकोंसे निवेदन है कि वे अपनी प्रमाणप्रकरणसुबोधिनीकी प्रतिमें यहां छपे इस शोधपत्रके शेषभागके अनुसार संशोधन कर लें. हमारी इस असावधानीका हमें खेद है. –सम्पादक).

મુંબઈમાં શ્રીગોકુલાધીશજીના મંદિરમાં માધવભટ્ટ કાશ્મીરીનું લિખિત અને શ્રીમહાપ્રભુજી તથા શ્રીગુસાંઈજીના હસ્તાક્ષરથી કોઈ કોઈ સ્થલે સુધારેલું **તામસપ્રમાણપ્રકરણ** બિરાજે છે. મારા પરમ મિત્ર શાસ્ત્રી મગનલાલ ગણપતિરામે લીલાસ્થ ગોસ્વામી શ્રીઅનિરુદ્ધલાલજીની સહાયથી ચૈત્ર સુ. ૧૦ થી ૧૫, સં. ૧૯૮૪માં પોતાની પ્રતિ તેની સાથે સરખાવી સુધારી લીધી હતી, અને આષાઢ મહિનામાં પોતાની સુધારેલી પ્રતિ મને કૃપા કરી આપી હતી, તે પરથી મેં મારી પ્રતિ આષાઢ સુ. ૯ સુધીમાં સુધારી હતી. સાંપ્રદાયિક વિદ્વાનોને પોતાની પ્રતિઓ તે પ્રમાણે સુધારવાની તક મળે, તે માટે તે સુધારા અહીં આપ્યા છે. ધ્યાનમાં રાખવાનું એટલું છે કે આ અસલ પ્રતિ પ્રમાણે સુધારેલા પાઠો લેતાં વિવેક કરવાનો છે, કે જેવી કોઈક વાર માધવભટ્ટથી થયેલી ભૂલો પાછળથી સુધરી હોય, તે પાછી આવી જાય નહિ. શ્રીટિપ્પણીજી શ્રીગુસાંઈજીના હસ્તાક્ષરની ટિપ્પણી સાથે સરખાવી સુધારા શ્રીટિપ્પણીજીમાં પાછળ આપતાં આ બાબત અમે સ્પષ્ટ કરી છે.

ધીરજલાલ વ્ર. સાંકળીઆ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		अनुग्रहः संवत् १९९७	आश्विन, अंक १२
११०	७	यद्यत् करोति तदेव -मू.पा.	यानि यानि चरितानि करोति तानि
१११	१	कर्ण्य-	कर्ण-
१११	२	चकारात्	चकारान्
१११	६	सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकं सर्व-	सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकसर्व-
११२	१	संसारेण	संसारे
११२	२	नामधौर्त्यादि -मू.पा.	नामचौर्यादि
११२	८	तथापि बाल्ये	तथातिबाल्ये

११३	३-४	**समवेतानां योषितां**	समवेतानां मिलितानां योषितां
११४	२	**नन्दस्य पत्नीति**	मूलपाठे नास्ति
११४	५	अन्यथा	मूलपाठे नास्ति
११४	९	कृतं	मूलपाठे नास्ति
११५	१	चतुर्विधा	चतुर्धा
११५	१४	(पूजयन्ती)	मूले नास्ति. मग्न.शास्त्री +
११७	७	-वूर्ध्वघर्षणेन	-वूर्ध्वं घर्षणेन
११७	९	क्रियाबुद्धिः	क्रीडाबुद्धिः
११८	१	स्वनियोगावश्यकत्व-	स्वविनियोगावश्यकत्व-
११८	३	पूतनास्तनपानसमये	पूतनास्तनसमये
		अनुग्रहः संवत् १९९८	**कार्तिक, अंक १**
११८	५	तासु	तेषु - मू.पा.
११९	१३-१४	तथैवारक्त-	तथैव रक्त-
१२०	४	भाराक्रान्तमनो चालयितुं	भाराक्रान्तमनश्चालयितुं
१२१	१	-स्थानमप्यस्तीति	स्थानमस्यास्तीति
१२१	४	भगवत्यभिनिविष्टा	भगवति निविष्टा
१२२	३	कर्म	कर्मेति - मू.पा.
१२२	७	भिन्नतया	भिन्नाभिन्नतया
१२२	१४	ज्ञानवन्तोऽपि	ज्ञानवन्तो - मू.पा.
१२३	७	अन्यैस्तु	अन्ये तु
१२३	१४	न तेषां बुद्धिः	तेषां न बुद्धिः
१२५	३	बालग्रहादिस्तत्र	बालग्रहादिरत्र
१२६	१०	अविकृतब्रह्मस्वरूपा	अविकृतस्वरूपा
१२८	११	औषधयो	औषधयो
१३४	८	स्नेहादि	स्नेहादिकं
१३५	७	भविष्यतीति	भविष्यति
१३७	४	मायारूपस्य भगवन्-	मायारूपभगवन्-
१३९	७	भगवद्दर्शनमाह	भगवददर्शनमाह
१४०	२	तत्र गोपिकायां	तत्र प्रथमं गोपिकायां
१४०	७	वर्षासु	वर्षायां
१४०	१३	गतेतिविवेका-	गते विवेका-
१४१	१८	त्यज्यत	त्यजत
१४३	६	भवति	मूले नास्ति
१४७	५	अस्माभिरस्त्वलौकिक-	अस्माभिस्त्वलौकिक-
१५०	१०	भगवतोर्थान्	भगवतः सोर्थान्
१५१	१२	तद्दुहितरो नद्यः	तद्दुहितृर्नद्यः
१५२	७	तस्माज्जज्जृम्भमानाद्	तस्माज्जन्यमानाद्

✻ ✻ ✻